Chapter एक

यदुवंश को शाप

इस अध्याय में यदुवंश के विनाश का संकेत मिलता है, जो लोहे के मूसल की उत्पत्ति के कारण हुआ। इस वृत्तान्त को सुनकर भौतिक जगत से विरक्त होने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने बड़ी ही पटुता से कौरवों तथा पाण्डवों के बीच कुरुक्षेत्र युद्ध रचाया और बहुत हद तक पृथ्वी के भार को दूर किया। किन्तु भगवान्, जो कि अचिन्त्य प्रभावशाली हैं, इतने पर भी सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि अजेय यदुवंश का अस्तित्व बना हुआ था। वे यदुवंश का विनाश चाह रहे थे, जिससे वे इस धरा–धाम की अपनी लीलाएँ समाप्त करके स्वधाम वापस जा सकें। उन्होंने ब्राह्मण–सभा द्वारा दिये गये शाप के बहाने, अपने पूरे वंश को इस पृथ्वी से उठा लिया।

श्रीकृष्ण की इच्छानुसार द्वारका के निकट पिण्डारक नामक पवित्र स्थल पर नारद, विश्वामित्र इत्यादि अनेक महर्षियों की सभा एकत्र हुई, जहाँ यदुवंशी तरुण बालक खिलवाड़ करते हुए पहुँचे। इन्होंने साम्ब को एक आसन्न प्रसवा स्त्री का वेश धारण कराकर ऋषियों से साम्ब के तथाकथित गर्भ के फलित होने के विषय में पूछा। ऋषियों ने इन हास–परिहास करने वाले बालकों को शाप दे दिया कि यह स्त्री ऐसे मूसल को जन्म देगी, जो उनके कुल का विनाश करेगा। इन यदुवंशी बालकों ने शाप से भयभीत होकर तुरन्त ही साम्ब के पेट पर से वस्त्रों को उठाकर देखा, तो सचमुच ही उन्हें एक मूसल दिखा। वे तेजी से यदुओं के राजा उग्रसेन की सभा में पहुँचे और जो कुछ हुआ था, उसकी जानकारी दी। ब्राह्मणों के शाप से डरकर यदुराज उग्रसेन ने उस मूसल को चूर्ण चूर्ण कराकर समुद्र में फिकवा दिया। समुद्र में एक मछली ने लोहे के बचे एक टुकड़े को निगल लिया और चूर्ण के शेष टुकड़े लहरों से समुद्र तट पर जा लगे, जहाँ नरकुलों का एक कुँज बन गया। मछुआरों ने इस मछली को पकड़ा और जरा नामक बहेलिए ने मछली के पेट से निकले लोहे के टुकड़े से एक तीर बनाया। यद्यपि परमात्मा श्रीकृष्ण समझ गये थे कि क्या हो रहा है, किन्तु इसके निराकरण के लिए, उन्होंने कुछ भी नहीं करना चाहा, प्रत्युत काल रूप में, उन्होंने इन घटनाओं को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

श्रीशुक उवाच
कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः ।
भुवोऽवतारयद्भारं जविष्ठं जनयन्कलिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुक ने कहा; कृत्वा—सम्पन्न करने के बाद; दैत्य—असुरों का; वधम्—वध; कृष्णः—भगवान् कृष्ण ने; स-रामः—बलराम समेत; यदुभिः—यदुओं द्वारा; वृतः—घिरे हुए; भुवः—पृथ्वी के; अवतारयत्—कम कर दिया; भारम्—भार को; जविष्ठम्—हिंसा कराने वाले; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; कलिम्—कलह की स्थिति।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् श्रीकृष्ण ने बलराम से मिलकर तथा यदुवंशियो से घिरे रह कर अनेक असुरों का वध किया। तत्पश्चात्, पृथ्वी का और भार हटाने के लिए भगवान् ने कुरुक्षेत्र के उस महान् युद्ध की योजना की, जो कुरुओं तथा पाण्डवों के बीच सहसा हिंसा के रूप में भड़क उठा।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* का ग्यारहवाँ स्कंध भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दसवें स्कंध में सम्पन्न लीलाओं का सन्दर्भ देते हुए प्रारम्भ होता है। दसवें स्कंध के प्रारम्भ में इस बात का वर्णन हुआ है कि जब आसुरी शासकों द्वारा पृथ्वी पर अत्यधिक भार हो गया, तो भूमि-रूप साक्षात् पृथ्वी आँखों में आँसू भर कर ब्रह्माजी के पास गई और अपने उद्धार की याचना की। ब्रह्माजी तुरन्त ही देवताओं को साथ लेकर क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में भगवान् से मिलने गये। सारे देवता क्षीर सागर के तट पर आदरपूर्वक प्रतीक्षा करने लगे, तभी भगवान् ने ब्रह्मा के माध्यम से यह घोषित कराया कि वे शीघ्र ही पृथ्वी पर अवतरित होंगे और देवताओं को चाहिए कि उनकी लीलाओं में सहयोग देने के लिए स्वयं भी जन्म लें। इस तरह कृष्ण के आविर्भाव के समय से ही यह पता था कि वे पृथ्वी से असुरों को हटाने के लिए अवतार लेंगे।

जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने *भगवद्गीता* (१६.६) की टीका में कहा है, जो लोग शास्त्रों के आदेशों का पालन करने के लिए राजी हो जाते हैं, वे देवता कहलाते हैं और जो लोग वैदिक शास्त्रों के आदेशों का उल्लंघन करते हैं, वे असुर कहलाते हैं। ब्रह्माण्ड में वैदिक वाङ्मय को इसलिए प्रस्तुत किया जाता रहा कि बद्धजीवों का मार्गदर्शन हो सके, क्योंकि वे भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों में फँसे रहकर जन्म-मृत्यु के निरन्तर चक्र में घूमते रहते हैं। वैदिक आदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करके हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं की सहज ही पूर्ति कर सकते हैं और उसी के साथ भगवद्धाम वापस जाने का मार्ग भी प्रशस्त कर सकते हैं। इस तरह हम *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे वैदिक ग्रंथों में प्रस्तुत

भगवान् के उपदेशों का पालन करने मात्र से भगवद्धाम में आनन्द तथा ज्ञान से युक्त नित्य जीवन–लाभ कर सकते हैं। किन्तु असुरगण भगवान् की सत्ता तथा उनके उपदेशों को कम करके देखते हैं या उनकी हँसी उड़ाते हैं। चूँकि ये असुर भगवान् की सार्वभौम सत्ता से ईर्ष्या करते हैं, अत: वे भगवान् की श्वास से निकले वैदिक शास्त्रों की महत्ता को घटाते रहते हैं। ये असुर अपनी सनक के अनुसार समाज की स्थापना करते हैं और उन पवित्र जीवों के लिए जो ईश्वर की इच्छा का अनुसरण करना चाहते हैं, अव्यवस्था तथा कष्ट उत्पन्न करते हैं।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब पृथ्वी पर इस तरह के अव्यवस्थित अधार्मिक समाजों का प्राधान्य होता है, तो वे इस असन्तुलन को ठीक करने के लिए स्वयं अवतरित होते हैं। इस प्रकार कृष्ण ने अपने दिव्य बाल्यकाल से ही, उन शक्तिशाली असुरों का योजनाबद्ध संहार किया, जो पृथ्वी के लिए असह्य भार बने हुए थे। श्रीकृष्ण की सहायता उनके भाई बलराम करते थे और वे भी भगवान् थे। यद्यपि ईश्वर एक हैं, किन्तु वे तुरन्त अनेक रूपों में आनंद लेने के लिए अपना विस्तार कर सकते हैं। यही उनकी सर्वव्यापकता है। ऐसा प्रथम विस्तार बलराम या बलदेव के रूप में हुआ। बलराम ने कई कुख्यात असुरों का वध किया, जिनमें धेनुकासुर, द्विविद एवं ईर्ष्यालु रुक्मी मुख्य हैं। कृष्ण के साथ यदुवंश के अनेक सदस्य भी रहते थे, जिनमें से अनेक, तो देवता थे, जो भगवान् की सहायता करने के लिए अवतरित हुए थे।

किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यह उद्‌घाटन किया है कि यद्यपि भगवान् की सहायता करने के लिए अनेक देवताओं ने यदुवंश में जन्म ले रखा था, तो भी यदुवंश के कुछ सदस्य कृष्ण के प्रति शत्रुभाव रखते थे। संसारी दृष्टि के कारण, वे अपने को कृष्ण के ही समान स्तर पर मानते थे। भगवान् के कुल में जन्म लेने के कारण, उनमें अचिन्त्य शक्ति थी, इसीलिए वे कृष्ण के परमपद को ठीक से नहीं समझ पाये। वे यह भूल गये कि कृष्ण भगवान् हैं, अत: वे पृथ्वी के लिए गुरु भार बन गये, जिसके फलस्वरूप कृष्ण को उन्हें इस पृथ्वी से हटाना पड़ा। एक लोकप्रिय कहावत है कि ''मान घटे नित घर के जाये।'' अपने ही वंश के ईर्ष्यालु सदस्यों का विनाश करने के लिए भगवान् ने उनमें झगड़ा करा दिया। इसके लिए उन्होंने नारद तथा अन्य मुनियों द्वारा कार्ष्णों अर्थात् अपने ही परिवार वाले के विरुद्ध क्रोध प्रदर्शित करने की व्यवस्था की। यद्यपि इस बन्धुघाती युद्ध में कृष्ण के

प्रति भक्ति रखने वाले अनेक व्यक्ति मारे गये, किन्तु कृष्ण ने उन्हें उनके आदि अर्थात् देवताओं के पदों पर वापस भेज दिया। *भगवद्गीता* में भगवान् की प्रतिज्ञा है कि वे अपने भक्तों की सदैव रक्षा करते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की अपनी टीका में पूरे ग्यारहवें स्कन्ध का सारांश दे दिया है, जो इस प्रकार है। अध्याय एक में *मौषल लीला* का शुभारम्भ है, जो कि यदुवंश के विनाश की भूमिका है, दूसरे अध्याय से पाँचवें अध्याय तक नौ योगेन्द्रों तथा राजा निमि के बीच हुई वार्ता दी गई है, छठे अध्याय में ब्रह्मा, शिव तथा स्वर्ग के अन्य वासियों द्वारा की गई स्तुतियाँ हैं, सातवें अध्याय से लेकर उन्तीसवें अध्याय तक कृष्ण तथा उद्धव के बीच हुई वार्ता है, जो *उद्धव-गीता* के नाम से जानी जाती है, तीसवें अध्याय में इस धरा से यदुवंश का विनाश और अन्तिम अध्याय में भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने का वर्णन मिलता है।

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नैर्
दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान्निरहरत्क्षितिभारमीशः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ये—वे जो; कोपिताः—क्रुद्ध थे; सु-बहु—बारम्बार; पाण्डु-सुताः—पाण्डु के पुत्र; सपत्नैः—अपने शत्रुओं द्वारा; दुः-द्यूत—कपटपूर्ण जुआ खेलने से; हेलन—अपमान; कच-ग्रहण—(द्रौपदी के) केश का खींचा जाना; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा; तान्—उन (पाण्डवों) को; कृत्वा—बनाकर; निमित्तम्—कारण; इतर-इतरतः—एक दूसरे के आमने-सामने; समेतान्—एकत्र हुए; हत्वा—मार करके; नृपान्—राजाओं को; निरहरत्—सदैव के लिए हटा दिया; क्षिति—पृथ्वी के; भारम्—भार को; ईशः—परमेश्वर ने।

चूँकि पाण्डुपुत्र अपने शत्रुओं के अनेकानेक अपराधों से यथा कपटपूर्ण जुआ खेलने, बचनों द्वारा अपमान, द्रौपदी के केशकर्षण तथा अन्य अनेक क्रूर अत्याचारों से क्रुद्ध थे, इसलिए परमेश्वर ने उन पाण्डवों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए कारण-रूप में उपयोग किया। भगवान् कृष्ण ने कुरुक्षेत्र युद्ध के बहाने पृथ्वी पर भार बन रहे सारे राजाओं को अपनी अपनी सेनाओं समेत युद्धभूमि में दोनों ओर से एकत्र कराने की व्यवस्था की और जब भगवान् ने उन्हें युद्ध के माध्यम से मार डाला, तो पृथ्वी का भार हलका हो गया।

तात्पर्य : पाण्डवगण बारम्बार दुर्योधन तथा दुःशासन जैसे शत्रुओं द्वारा सताये जा रहे थे। निर्दोष युवा राजकुमारों के रूप में पाण्डवों का कोई शत्रु न था, किन्तु दुर्योधन अपने असहाय चचेरे भाइयों के

विरुद्ध निरन्तर षडयंत्र करता रहता था। पाण्डवों को लाक्षागृह में भेजा गया, जो बाद में जल कर राख हो गया, उन्हें विष दिया गया और उनकी सती साध्वी पत्नी द्रौपदी के केशों को खींचकर उसे नंगी करने के प्रयास द्वारा खुला अपमान किया गया। इन सारे संकटों में भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों की निरंतर रक्षा करते रहे, क्योंकि वे पूर्णरूपेण उनकी शरण में थे और उनका भगवान् के सिवाय कोई दूसरा आश्रय नहीं था।

इस श्लोक में *इतरेतरत:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व कृष्ण ने पूतना, केशी, अघासुर तथा कंस जैसे अनेक असुरों का वध कर डाला था। अब कृष्ण बच रहे अपवित्र लोगों का वध करके पृथ्वी का भार हटाने का अपना मन्तव्य पूरा करना चाह रहे थे। किन्तु जैसाकि यहाँ पर बतलाया गया है *कृत्वा निमित्तम्* भगवान् ने अपने हाथों से उनका वध नहीं किया, अपितु अर्जुन तथा अन्य पाण्डव स्वभक्तों को इन अपवित्र राजाओं को मारने के लिए शक्ति प्रदान की। इस तरह अपने निकटतम अंशरूप बलराम द्वारा कार्य कराकर और पांडवों जैसे शुद्ध भक्तों को शक्ति प्रदान करके धर्म की पुन:स्थापना करते हुए तथा संसार को असुरों से विहीन करते हुए *युगावतार* लीला का प्रदर्शन किया। यद्यपि कुरुक्षेत्र युद्ध का सामान्य उद्देश्य असुरों का संहार करना था, किन्तु कृष्ण की व्यवस्था से कुछ महान् भक्त यथा भीष्म कृष्ण के प्रति शत्रुवत् प्रतीत हो रहे थे। किन्तु जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.९.३९)के प्रथम स्कंध में *हतागता: स्वरूपम्* शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है, अनेक महान् भक्तों ने कृष्ण के साथ शत्रु का-सा व्यवहार किया और कृष्ण द्वारा मारे जाने पर, वे अपने मूल दिव्य शरीरों सहित तुरन्त वैकुण्ठ लोक चले गये। चूँकि ईश्वर सर्वोच्च हैं, अत: वध द्वारा वे पृथ्वी से असुरों को हटाने के साथ साथ अपने शुद्ध भक्तों को प्रोत्साहित भी करते हैं।

भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद्यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भू-भार—पृथ्वी के भार स्वरूप; राज—राजाओं की; पृतनाः—सेनाएँ; यदुभिः—यदुओं द्वारा; निरस्य—हटाकर; गुप्तैः—रक्षित; स्व-बहुभिः—अपनी भुजाओं द्वारा; अचिन्तयत्—उन्होंने विचार किया; अप्रमेयः—अगाध भगवान्; मन्ये—मैं सोचता हूँ; अवनेः—पृथ्वी के; ननु—कोई कह सकता है; गतः—चले जाने पर; अपि—लेकिन; अगतम्—न गया हुआ; हि—

निस्सन्देह; भारम्—भार; यत्—क्योंकि; यादवम्—यदु के; कुलम्—कुल को; अहो—ओह; अविषह्यम्—असह्य; आस्ते—रहता है।

भगवान् ने अपने बाहुओं द्वारा संरक्षित यदुवंश का प्रयोग उन राजाओं का सफाया करने के लिए किया, जो अपनी सेनाओं सहित इस पृथ्वी के लिए भार बने हुए थे। तत्पश्चात् अगाध भगवान् ने मन ही मन सोचा, ''भले ही कोई यह कहे कि अब पृथ्वी का भार समाप्त हो गया है, किन्तु मेरे मत से यह अब भी दूर नहीं हुआ, क्योंकि अब भी यादव-वंश बचा हुआ है, जिसकी शक्ति पृथ्वी के लिए असहनीय है।''

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टिप्पणी की है कि यद्यपि सामान्य लोग यह सोच सकते हैं कि असुरों का वध तथा धर्म की पुनर्स्थापना करके भगवान् ने पृथ्वी का भार हटा दिया था, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं पता लगा लिया था कि उनके अपने ही परिवार के सदस्यों के अधार्मिक कार्यों से और भी खतरा था। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि यदि किसी न्यायप्रिय राजा का अपना शत्रु निर्दोष है, तो वह उसे दण्ड देने से मना कर सकता है, किन्तु यदि उसका अपना पुत्र दण्डनीय हो, तो वह उसे दण्ड देगा। इस प्रकार यद्यपि लोक-दृष्टि में भगवान् के वंशज सदैव पूज्य थे, किन्तु भगवान् ने पता लगा लिया था कि यदुवंश के कुछ लोग उनकी घनिष्ठता प्राप्त करके उनकी इच्छा की परवाह नहीं करते हैं। चूँकि भगवान् के सम्बन्धी होने के कारण ऐसे सनकी यदुवंशी लोग मनमाना कार्य कर सकते थे, अतएव वे विश्व के लिए महान् संकट उत्पन्न करेंगे और मूर्ख व्यक्ति ऐसे मनमाने आचरण को कृष्ण की इच्छा मान बैठेंगे। इस तरह भगवान् जिनकी इच्छाएँ अचिन्त्य हैं, यदुवंश के लापरवाह एवं अपमानजनक सदस्यों का संहार करने की आवश्यकता पर विचार करने लगे।

सामान्य लोगों की दृष्टि में भगवान् ने द्वारका तथा मथुरा में अपनी लीलाओं के द्वारा तथा कुरुक्षेत्र के युद्ध में सारे असुरों का वध कर दिया था और अब पृथ्वी अपने भार से मुक्त हो चुकी थी। तो भी अपने ही परिवार के गर्वित सदस्यों के शेष भार से पृथ्वी को मुक्त कराने के लिए उनके बीच बंधुघाती कलह कराकर, उन्हें पृथ्वी से दूर हटा दिया। इस तरह उन्होंने पृथ्वी से अपने तिरोधान का रास्ता तैयार कर दिया।

श्रीधर स्वामी ने इंगित किया है कि *बाहुभि:* शब्द बहुवचन में यह दिखाने के लिए प्रयुक्त हुआ है कि भगवान् ने यदुवंश का विनाश अपने चतुर्भुजी रूप से किया। कृष्ण का आदि गोविन्द रूप द्विभुजी है, किन्तु भगवान् ने चतुर्भुजी नारायण के स्वांश रूप द्वारा इस पृथ्वी के सारे असुरों का संहार किया और अन्त में अपने ही परिवार के भारस्वरूप सदस्यों का सफाया किया। यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि यदुवंश के कुछ सदस्य भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हो गये थे, तो फिर उन्होंने पृथ्वी से अपने हटाये जाने की भगवान् की योजना का विरोध क्यों नहीं किया? इसीलिए *अप्रमेय:* शब्द का प्रयोग हुआ है, जो इस बात का सूचक है कि कोई भी मनुष्य यहाँ तक कि भगवान् के परिवार वाले भी उनकी इच्छा को पूरी तरह समझ पाने में असमर्थ होते हैं।

श्रील जीव गोस्वामी ने यदुवंश के विनाश का अन्य कारण दिया है। वे इस बात पर बल देते हैं कि भगवान् के कार्यों को कभी भी सामान्य भौतिक कार्य नहीं समझना चाहिए। न ही भगवान् के संगियों को सामान्य व्यक्ति। यद्यपि भगवान् कृष्ण इस जगत में कुछ काल के लिए अवतरित होते हैं और फिर चले जाते हैं, किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि वे अपने संगियों सहित श्री गोकुल, मथुरा तथा द्वारका जैसे विविध धामों में नित्य स्थित रहते हैं। यदुवंश के सदस्य भगवान् के नित्य संगी हैं, अतएव भगवान् से विलग होना उन्हें सह्य नहीं है। चूँकि कृष्ण अपनी पार्थिव लीलाएँ समाप्त करने वाले थे, अत: यदि वे यदुवंशियों को इस धरा पर छोड़ जाते, तो वे उनकी अनुपस्थिति से इतने क्षुब्ध हो उठते कि सारी पृथ्वी को रौंदकर विनष्ट कर डालते। इसीलिए कृष्ण ने अपने अन्तर्धान होने से पहले यदुवंश के अन्तर्धान हो जाने की व्यवस्था पूरी की।

श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदुवंशियों को अधार्मिक नहीं माना जाना चाहिए। वैष्णव आचार्यों ने उल्लेख किया है कि यदुवंश के अन्तर्धान होने की कथा बद्धजीवों को भवबन्धन से मुक्ति पाने में सहायक बनाने के लिए है। तीनों लोकों में यदुवंश के समान शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यशाली कोई नहीं था। भगवान् असीम ऐश्वर्य—सौन्दर्य, शक्ति, ज्ञान, यश इत्यादि—के स्वामी हैं और यदुवंश के सदस्य भी भगवान् के निजी संगी होने के कारण अचिन्त्य ऐश्वर्य से युक्त थे। अतएव जब हम देखते हैं कि बन्धुघाती युद्ध ने किस तरह यदुवंशियों को उनकी सारी पार्थिव सम्पत्ति तथा उनके प्राणों तक से विहीन कर दिया, तो हम यह समझ सकते हैं कि इस भौतिक जगत में कोई भी

स्थायी पद नहीं है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि यदुवंश के सदस्य कृष्ण के नित्य संगी थे और तुरन्त ही अन्य लोक को स्थानान्तरित कर दिये, गये जहाँ भगवान् प्रकट होने जा रहे थे, किन्तु बन्धुघाती युद्ध से उनका सहसा अन्तर्धान होना बद्धजीवों को यह बतलाने के लिए है कि यह संसार नश्वर है। इसलिए यदुवंश के कुछ सदस्यों का कृष्ण के प्रति विमुख होने या शत्रुता को उनकी अधार्मिकता के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। यह सम्पूर्ण परिस्थिति बद्धजीवों को पाठ पढ़ाने की भगवान् कृष्ण की योजना थी। इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी ने *भागवत* से अनेक श्लोक उद्धृत करते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि यदुवंश के सदस्यों ने अनेक पुण्यकर्मों एवं भगवान् कृष्ण के विचार में पूर्ण निमग्नता के कारण ही भगवान् के परिवार में जन्म लिया था। वस्तुत: यह कहा जाता है कि वे कृष्ण का चिन्तन करने के कारण सोते, चलते, बैठते तथा बोलते हुए अपने आप को स्मरण रख पाने में असमर्थ थे।

श्रीमद्भागवत (१.१५-३३) के प्रथम स्कंध में श्रील प्रभुपाद ने यदुवंश के लोप होने पर निम्नवत् टीका की है, ''सूर्य का अस्त होना सूर्य के अन्त का द्योतक नहीं है। इसका अर्थ है कि सूर्य हमारी दृष्टि से ओझल है। इसी तरह किसी विशेष लोक या ब्रह्माण्ड में भगवान् के मिशन के अन्त का यही अभिप्राय है कि वे हमारी दृष्टि से ओझल रहते हैं। यदुवंश के अन्त का भी यह अर्थ नहीं है कि उसका विनाश हो गया। वह भगवान् के साथ ही हमारी दृष्टि से ओझल हो गया।''

नैवान्यत: परिभवोऽस्य भवेत्कथञ्चिन्
मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।
अन्त: कलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निश्चय ही; अन्यत:—अन्य कारण से; परिभव:—हार; अस्य—इस (वंश) की; भवेत्—हो सकती है; कथञ्चित्—किसी भी तरह से; मत्-संश्रयस्य—मेरे शरणागत की; विभव—अपनी शक्ति के; उन्नहनस्य—असीम; नित्यम्—सदैव; अन्त:—भीतर; कलिम्—कलह; यदु-कुलस्य—यदुवंश का; विधाय—प्रोत्साहित करके; वेणु-स्तम्बस्य—बाँस के कुंज की; वह्निम्—आग; इव—मानो; शान्तिम्—शान्ति; उपैमि—प्राप्त करूँगा; धाम—अपना निजी नित्य वासस्थान।

भगवान् कृष्ण ने सोचा, ''इस यदुवंश के सदस्य सदैव मेरे पूरी तरह से शरणागत रहे हैं और इनका ऐश्वर्य असीम है, अत: कोई भी बाहरी ताकत इस वंश को पराजित नहीं कर पाई। किन्तु यदि मैं इस वंश के भीतर कलह को प्रोत्साहित करूँ, तो वह कलह बाँस के कुंज में घर्षण से

उत्पन्न अग्नि की तरह कार्य करेगा। तब मैं अपना असली मन्तव्य प्राप्त करके अपने नित्य धाम को लौट सकूँगा।''

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यदुवंश के सदस्यों के लोप की व्यवस्था करना चाहते हुए भी स्वयं उनका उस तरह वध नहीं कर सकते थे, जिस तरह उन्होंने अनेक असुरों को मारा था, क्योंकि यदुवंश उनका अपना वंश था। तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि कृष्ण ने अन्यों के द्वारा उनके वध किये जाने की व्यवस्था क्यों नहीं की? इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है *नैवान्यत: परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चित्*—चूँकि यदुवंश उनका अपना वंश था, इसलिए ब्रह्माण्ड का कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि देवता भी, उसका संहार करने में समर्थ नहीं थे। वास्तव में, जैसाकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर संकेत करते हैं, इस ब्रह्माण्ड के भीतर यदुवंश के सदस्यों का कोई अपमान भी नहीं कर सकता था, उन्हें हराने या मारने की बात तो दूर रही। इसका कारण *मत्संश्रयस्य* शब्दों द्वारा दिया गया है। यदुवंशियों ने कृष्ण की पूर्ण शरण ले रखी थी, अतएव उन्हें सदैव भगवान् का निजी संरक्षण प्राप्त था। कहा गया है—*मारे कृष्ण राखे के, राखे कृष्ण मारे के*—यदि कृष्ण किसी की रक्षा करते हैं, तो उसे कोई नहीं मार सकता और यदि कृष्ण मारना चाहते हैं, तो उसे कोई बचा नहीं सकता। कृष्ण ने पहले से अपने सारे संगियों तथा देवताओं से पृथ्वी में प्रकट होने के लिए अनुरोध कर रखा था, जिससे उनकी लीलाओं में वे सहायक बन सकें। अब जबकि इस विशेष लोक में उनकी लीलाओं का अन्त होने जा रहा था और वे लीलाएँ किसी अन्य ब्रह्माण्ड के अन्य किसी लोक में स्थानान्तरित होने जा रही थीं, तो कृष्ण अपने सारे संगियों को इस धरा से हटा देना चाहते थे जिससे उनकी अनुपस्थिति में वे भार न बन सकें। चूँकि भगवान् का अपना ही वंश होने तथा अपनी ही सेना होने से शक्तिशाली यदुवंश संभवत: किसी के द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता था, इसलिए कृष्ण ने उसमें आन्तरिक कलह करायी, जिस तरह बाँस के जंगल में वायु बाँसों को परस्पर घर्षित करके अग्नि उत्पन्न कर देती है, जिससे सारा जंगल भस्म हो जाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने संकेत किया है कि यदुवंश के साहसिक कार्यों को सुनकर सामान्य लोग यह सोच सकते हैं कि यदुवंश के वीर भी कृष्ण की ही तरह पूजनीय हैं या स्वतंत्र नियन्ता हैं। दूसरे शब्दों में, मायावाद-दर्शन से दूषित लोग यदुवंश को कृष्ण जैसे पद पर स्थित समझ सकते हैं।

इसलिए यह स्थापित करने के लिए कि सर्वाधिक शक्तिमान जीव तक कभी भी न तो भगवान् के समान हो सकता है, न उनसे आगे जा सकता है, कृष्ण ने यदुवंश के विनाश की व्यवस्था की।

एवं व्यवसितो राजन्सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।
शापव्याजेन विप्राणां सञ्जह्रे स्वकुलं विभुः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; **व्यवसितः**—निश्चय करते हुए; **राजन्**—हे राजा; **सत्य-सङ्कल्पः**—जिसकी इच्छा सदैव सच सिद्ध है; **ईश्वरः**—भगवान् ने; **शाप-व्याजेन**—शाप के बहाने; **विप्राणाम्**—ब्राह्मणों के; **सञ्जह्रे**—समेट लिया; **स्व-कुलम्**—अपने वंश को; **विभुः**—सर्वशक्तिमान।

हे राजा परीक्षित, जब परम शक्तिशाली भगवान् ने, जिनकी इच्छा सदैव पूरी होकर रहती है, इस प्रकार अपने मन में निश्चय कर लिया, तो उन्होंने ब्राह्मणों की सभा द्वारा दिये गये शाप के बहाने अपने परिवार को समेट लिया।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने इस श्लोक पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका की है। वे कहते हैं कि चूँकि भगवान् कृष्णचन्द्र के मनोभाव सदैव पूर्ण होते हैं, इसलिए पूरे विश्व के लाभ को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा शाप के बहाने अपने वंश का विनाश कर डाला। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्री चैतन्य महाप्रभु की लीलाओं से साम्य दिखलाया है, जो कि साक्षात् कृष्ण हैं और अपने ही भक्त के रूप में प्रकट हुए थे।

श्री चैतन्य महाप्रभु अपने प्रथम स्वांश नित्यानन्द प्रभु एवं अद्वैत प्रभु के साथ साथ प्रकट हुए। ये तीनों—चैतन्य महाप्रभु, नित्यानन्द प्रभु तथा अद्वैत प्रभु वैष्णव आचार्यों द्वारा *विष्णुतत्त्व* अर्थात् भगवान् के संपूर्ण पद की कोटि में परिगणित होते हैं। इन तीनों प्रभुओं ने अनुभव किया कि भविष्य में इनके वीर्यज वंशज अवांछित मान्यता प्राप्त कर लेंगे और गर्वित होने से वास्तविक वैष्णव-गुरुओं अथवा भगवान् के प्रतिनिधियों के विरुद्ध शोचनीय अपराध करेंगे।

जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*ममैवांशः*), प्रत्येक जीव परमेश्वर का भिन्नांश है। मूलतः प्रत्येक जीव ईश्वर का पुत्र है, किन्तु अपनी लीलाएँ करने के लिए भगवान् कतिपय अतियोग्य जीवों को चुनकर उन्हें अपने सम्बन्धियों के रूप में जन्म लेने देते हैं। किन्तु ऐसे वंशज जो भगवान् के निजी परिवार के सदस्य के रूप में प्रकट होते हैं, अपने पद से निस्सन्देह गर्वित हो सकते हैं और सामान्य जनों से मिलने वाले महान् सम्मान का दुरुपयोग कर सकते हैं। इस तरह ऐसे लोग कृत्रिम रूप से

अनुचित सम्मान पाने के कारण उन लोगों को आध्यात्मिक प्रगति के पथ से भगवान् के प्रतिनिधि रूप शुद्ध भक्तों की शरण में जाने से दूसरी ओर मोड़ सकते हैं। *भगवद्गीता* के बारहवें अध्याय के अन्तिम आठ श्लोकों में भगवान् द्वारा उन भक्तों का वर्णन किया गया है, जिन्हें *आचार्य* का कार्य करने की अनुमति दी गई है। दूसरे शब्दों में, मात्र भगवान् कृष्ण के वंश में जन्म लेने से गुरु बनने की पात्रता प्राप्त नहीं होती, क्योंकि *भगवद्गीता* के अनुसार *पिताहमस्य जगतः*—हर जीव भगवान् के परिवार का सदस्य है। *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं *समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्तिन प्रियः*—मैं हर एक पर समभाव रखता हूँ, कोई न तो मेरा शत्रु है, न विशिष्ट मित्र है। यदि भगवान् का कोई विशेष परिवार है, जैसे कि यदुवंश, तो ऐसे परिवार की विशेष योजना बद्धजीवों को आकर्षित करने के लिए भगवान् की लीलाओं के कारण ही है। जब कृष्ण अवतरित होते हैं, तो वे सामान्य व्यक्ति की तरह कार्य करते हैं, जिससे जीव उनकी लीलाओं के प्रति आकृष्ट हों। इसलिए कृष्ण ऐसा कार्य करते थे, मानो यदुवंश उनका निजी परिवार हो, जबकि तथ्य यह है कि प्रत्येक जीव उनके परिवार का सदस्य है।

किन्तु सामान्य लोग आध्यात्मिक ज्ञान के उच्च सिद्धान्तों को न समझ पाने के कारण प्रामाणिक गुरु की योग्यताओं को आसानी से भूल जाते हैं और बजाय इसके वे भगवान् के तथाकथित परिवार में उत्पन्न लोगों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कोई सन्तान न छोड़कर आध्यात्मिक प्रबुद्धता के मार्ग के इस अवरोध से अपने को बचाया। यद्यपि महाप्रभु के दो विवाह हुए, किन्तु वे निःसन्तान थे। भगवान् स्वरूप नित्यानन्द प्रभु ने भी अपने पुत्र श्री वीरभद्र के असली पुत्रों को स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार अद्वैत आचार्य ने अच्युतानन्द तथा दो अन्य पुत्रों के अतिरिक्त अन्य पुत्रों से रिश्ता तोड़ लिया था। अद्वैत आचार्य के अत्यन्त आज्ञाकारी पुत्र अच्युतानन्द के कोई सन्तान न थी और शेष छह पुत्रों में से तीन पुत्र भक्ति के मार्ग से च्युत हो गये थे, इसलिए उन्हें परित्यक्त पुत्र माना जाता है। दूसरे शब्दों में, चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव से तथाकथित वीर्यज परिवार (सन्तान) की परम्परा चलाकर संभ्रान्ति पैदा करने की सुविधा नहीं मिली। जो व्यक्ति वैदिक प्रमाण से परम सत्य को समझता है, उसे चाहिए कि स्मार्तों द्वारा वीर्यज परम्परा को मान्यता प्रदान न करे।

अन्य आचार्यों ने भी अपने ही परिवारों में इस बात को करके दिखाया है। हमारे प्रिय गुरु श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद जो *श्रीमद्भागवतम्* के इस ग्रंथमाला के महान् भाष्यकार हैं, शुद्ध भक्तों के

परिवार में जन्मे थे और उनमें बाल्यकाल से ही शुद्ध भक्ति के लक्षण प्रकट थे। अन्त में श्रील प्रभुपाद पाश्चात्य देशों में आये और उन्होंने विश्व-भर में कृष्णभावनामृत आन्दोलन को स्थापित करने में अद्वितीय आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन किया। कुछ ही वर्षों में उन्होंने वैदिक दर्शन के पचास से अधिक बहुत खण्डों का अनुवाद किया। अपने व्यावहारिक कार्यों से वे भगवान् के सर्वाधिक शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधि जाने जाते हैं। फिर भी उनके अपने परिवार के ही सदस्य, कृष्ण-भक्त होते हुए भी भक्ति के आदर्श मानदण्ड को प्राप्त नहीं कर सके, अत: इस्कॉन के सदस्यों ने उन पर ध्यान नहीं दिया। इस्कॉन के सदस्यों की सहज प्रवृत्ति श्रील प्रभुपाद के परिवार के सदस्यों के प्रति सम्मान एवं पूजा की होगी। किन्तु कृष्ण की व्यवस्था के फलस्वरूप ये सदस्य शुद्ध भक्ति के धरातल पर नहीं हैं, अत: इस्कॉन के सदस्य उन पर कोई ध्यान नहीं देते, अपितु उन उच्च वैष्णवों की पूजा करते हैं, जिनमें वैष्णवों के गुण होते हैं, चाहे वे कहीं भी जन्मे हों। दूसरे शब्दों में, सम्मानित व्यक्ति बनने के लिए जन्म कोई योग्यता नहीं है, भले ही वह भगवान् के ही परिवार में, या कि आचार्य के परिवार में क्यों न जन्मा हो; किसी सामान्य धनी या विद्वत् परविार का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

भारत में *नित्यानन्द वंश* नामक जाति के लोग हैं, जो अपने को नित्यानन्द का प्रत्यक्ष वंशज मानते हैं, अतएव भक्ति में सर्वोच्च सम्मानित पद का अधिकारी बताते हैं। इस सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* में लिखा है, ‘‘मध्य युग में श्री चैतन्य महाप्रभु के महान् संगी नित्यानन्द के तिरोधान के बाद पुरोहितों के एक वर्ग ने अपने को नित्यानन्द के वंशज होने का दावा किया और अपने को *गोस्वामी* जाति का नाम दिया। उन्होंने यह भी दावा किया कि भक्ति करने और उसका प्रसार करने का अधिकार एकमात्र इसी जाति को है, जो *नित्यानन्द वंश* कहलाती है। इस तरह कुछ समय तक वे अपनी बनावटी शक्ति दिखलाते रहे, जब तक कि गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के शक्तिशाली आचार्य श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने उनके इस विचार को ध्वस्त नहीं कर दिया। कुछ समय तक विकट संघर्ष चला, किन्तु इसमें सफलता मिली और अब यह अच्छी तरह से स्थापित हो चुका है कि भक्ति किसी जातिविशेष के लोगों तक ही सीमित नहीं है। यही नहीं, जो कोई भी भक्ति में लगा है, वह पहले से ही उच्च जाति का ब्राह्मण है। इस तरह इस आन्दोलन के लिए श्रील भक्तिसिद्धान्त

सरस्वती ठाकुर का संघर्ष सफल हुआ है। उन्हीं के बल के आधार पर पर आज ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग का कोई भी व्यक्ति गौड़ीय वैष्णव बन सकता है।''

दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक ज्ञान का सार यह है कि प्रत्येक जीव, चाहे वह आज जिस पद पर भी हो मूलतः भगवान् का दास है और भगवान् का यही मिशन है कि इन पतित जीवों का उद्धार किया जाय। कोई भी जीव जो भगवान् के या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि के चरणकमलों पर फिर से शरण लेना चाहता है, उसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, वह भक्तियोग के विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करने से शुद्ध हो सकता है और उच्च कोटि के ब्राह्मण की तरह कर्म कर सकता है। तो भी, भगवान् के वंशज अपने को अपने पूर्वज के चरित्र तथा पद का उत्तराधिकारी माने रहते हैं। इस तरह भगवान् जो कि सम्पूर्ण विश्व के तथा विशेष रूप से अपने भक्तों के शुभचिन्तक हैं अपने वंशजों की विवेक शक्ति को इस तरह विमोहित करते हैं कि ये वंशज पथभ्रष्ट प्रतीत होने लगते हैं और भगवान् का प्रतिनिधि बनना अर्थात् कृष्ण की इच्छा पर आत्मसमर्पण प्रधान रह जाता है।

स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् ।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ॥ ६ ॥
आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वरः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

स्व-मूर्त्या—अपने ही स्वरूप से; लोक—सारे जगतों के; लावण्य—सौन्दर्य; निर्मुक्त्या—खींच लेने वाले; लोचनम्—नेत्रों को; नृणाम्—मनुष्यों के; गीर्भिः—उसके शब्दों से; ताः स्मरताम्—उनका स्मरण करने वालों के; चित्तम्—मन को; पदैः—अपने चरणों से; तान् ईक्षताम्—उन्हें देखने वालों के; क्रियाः—शारीरिक कार्य (चलना, फिरना इत्यादि).); आच्छिद्य—आकर्षित करके; कीर्तिम्—उसकी कीर्ति को; सु-श्लोकाम्—सर्वश्रेष्ठ श्लोकों द्वारा प्रशंसित; वितत्य—प्रसार करके; हि—निश्चय ही; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; नु—निस्सन्देह; कौ—पृथ्वी पर; तमः—अज्ञान; अनया—उस (कीर्ति) द्वारा; तरिष्यन्ति—लोग पार कर जाते हैं; इति—इस प्रकार सोचकर; अगात्—प्राप्त किया; स्वम् पदम्—अपना इच्छित स्थान; ईश्वरः—भगवान् ने।

भगवान् कृष्ण समस्त सौन्दर्य के आगार हैं। सारी सुन्दर वस्तुएँ उन्हीं से निकलती हैं और उनका स्वरूप इतना आकर्षक है कि वह अन्य सारी वस्तुओं से आँखों को हटा देता है, अतः जो उनकी तुलना में सौन्दर्यविहीन प्रतीत होती हैं। जब भगवान् कृष्ण इस पृथ्वी पर थे, तो वे सबों के नेत्रों को आकर्षित कर लेते थे। जब कृष्ण बोलते थे, तो उनके शब्द उन सबों के मन को आकृष्ट कर लेते थे, जो उनका स्मरण करते थे। लोग कृष्ण के चरणचापों को देखकर आकृष्ट हो जाते थे और अपने शारीरिक कार्यों को वे उनके अनुयायी बनकर उन्हें ही अर्पित करने की

इच्छा करने लगते थे। इस तरह कृष्ण ने आसानी से अपनी कीर्ति का विस्तार कर लिया था, जिसका गायन अत्यन्त वदान्य एवं अनिवार्य वैदिक श्लोकों के रूप में विश्व-भर में किया जाता है। भगवान् कृष्ण मानते थे कि इस कीर्ति का श्रवण तथा कीर्तन करने से ही भविष्य में जन्म लेने वाले बद्धजीव अज्ञान के अंधकार को पार कर सकेंगे। इस व्यवस्था से तुष्ट होकर वे अपने इच्छित गन्तव्य के लिए विदा हो गये।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार ये दोनों श्लोक यह इंगित करते हैं कि जिन उद्देश्यों के लिए भगवान् कृष्ण ने अवतार लिया था, उन्हें पूरा प्राप्त कर लेने के बाद, वे अपने आध्यात्मिक जगत में लौट गये। इस भौतिक जगत में लोगों में सुन्दर वस्तु को देखने की लालसा होना स्वाभाविक है। किन्तु भौतिकतावादी जीवन में हमारी चेतना प्रकृति के तीनों गुणों से दूषित हो जाती है, जिससे हम सौन्दर्य तथा आनन्द प्रदान करने वाली भौतिक वस्तुओं के लिए लालायित रहते हैं। इन्द्रियतृप्ति की भौतिकतावादी विधि अधूरी है, क्योंकि प्रकृति के नियम हमें भौतिक जीवन में सुखी या तुष्ट नहीं रहने देते। स्वभावत: जीव परमेश्वर का नित्य दास है और वह भगवान् के असीम सौन्दर्य एवं आनन्द को सराहने के निमित्त है। भगवान् कृष्ण परम सत्य हैं और समस्त सौन्दर्य तथा आनन्द के आगार हैं। कृष्ण की सेवा करके हम भी उनके सौन्दर्य तथा आनन्द के सागर के भागी बन सकते हैं। इस तरह सुन्दर वस्तुओं को देखने तथा जीवन का भोग करने की हमारी इच्छा पूरी तरह संतुष्ट हो सकेगी। उदाहरण के रूप में, हाथ भोजन का स्वतंत्र रूप से भोग नहीं कर सकता, किन्तु आमाशय को भोजन प्रदान करके अप्रत्यक्षत: उसे आत्मसात् कर सकता है। इसी तरह कृष्ण की सेवा करके भगवान् का अंश-स्वरूप-जीव असीम सुख प्राप्त कर सकता है।

अचिन्त्य भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने असली रूप को प्रदर्शित करके जीवों को, अपने रूप के सिवा सौन्दर्य के दूसरे रूपों की व्यर्थ तलाश करने से मुक्त कर दिया है, क्योंकि उनका रूप समस्त सुन्दर वस्तुओं का स्रोत है। इससे उनके चरणकमलों के दर्शन मात्र से भाग्यशाली जीव, कर्मियों के अपवित्र प्रयासों—अपनी इन्द्रियतृप्ति के ही लिए स्थूल आनन्द की खोजों और भगवत्भक्ति से अपने कार्यकलापों पर परदा डालने के अभ्यास के बीच अन्तर कर सकता है। यद्यपि दार्शनिकगण ईश्वर के स्वभाव के बारे में निरन्तर अनुमान लगाते रहते हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण ने अपने असली दिव्य रूप

तथा कर्मों को प्रदर्शित करके अपने विषय में अनुमान की भ्रान्तियों से जीव को मुक्त कर दिया। ऊपर से कृष्ण के रूप, वचन तथा कार्य सामान्य बद्धजीवों जैसे लगते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि भगवान् तथा जीवों के कार्यों की यह ऊपरी समानता भगवान् द्वारा दी गई दयामय छूट है, जिससे बद्धजीव उनके प्रति आकृष्ट हों और आनन्द तथा ज्ञान के शाश्वत जीवन हेतु भगवद्धाम वापस जाने के योग्य बन सकें। जीवों की समझ में आने योग्य अपने ही आध्यात्मिक स्वरूप तथा धाम को उन्हें दिखलाकर, भगवान् कृष्ण ने उनकी मिथ्या भोगवादी प्रवृत्ति को भगाकर, अपने प्रति दीर्घकालीन उपेक्षा को दूर किया। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, यदि कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण के पद को भगवान् के रूप में समझ लेता है, तो वह भौतिक माया के पाश में पुन: नहीं आता। ऐसे पतन को तभी बचाया जा सकता है, जब कोई व्यक्ति प्रामाणिक वैदिक ग्रंथों से भगवान् के अद्वितीय दिव्य रूप तथा सौन्दर्य के विषय में निरन्तर श्रवण करे।

जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४२-४३) में बतलाया गया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य विपश्चित: ।

वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन: ॥

कामात्मान: स्वर्ग परा जन्म कर्मफल प्रदाम् ।

क्रियाविशेष बहुलां भागैश्वर्यगतिं प्रति ॥

''अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारिक शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध सकाम कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रियतृप्ति तथा ऐश्वर्यमय जीवन की अभिलाषा के कारण ही वे ऐसा कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।''

दूसरी ओर, वैदिक वाङ्मय के कुछ अंश बद्धजीव को भौतिक इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने और साथ ही उसे वैदिक आदेशों का पालन करने के लिए धीरे धीरे अनुकूल बनाने के लिए हैं। वेदों के वे अंश, जो नियमित इन्द्रियतृप्ति के लिए सकाम कर्म की संस्तुति करते हैं स्वयं में घातक हैं, क्योंकि जो जीव इन कार्यों में लग जाता है, वह प्रदत्त भौतिक भोगों में आसानी से फँस जाता है और वेदों के चरम प्रयोजन की उपेक्षा करने लगता है। वैदिक वाङ्मय का चरम उद्देश्य जीव को उसकी मूल चेतना तक

वापस लाना है, जिसमें वह भगवान् के नित्य दास की तरह कार्य करता है। भगवान् की सेवा करके जीव भगवद्धाम में उनके सान्निध्य में असीम आध्यत्मिक आनन्द का भोग कर सकता है। अतएव, जो व्यक्ति सच्चे दिल से कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ने का इच्छुक हो, उसे भगवान् की शुद्ध भक्ति से सम्बन्धित वैदिक साहित्य का श्रवण करना चाहिए। उसे कृष्णभावनामृत में आगे बढ़े हुए लोगों से सुनना चाहिए और ऐसी व्याख्याओं से बचना चाहिए, जो भोगेच्छाओं को उद्दीप्त करें।

जब क्षुद्र जीव अन्ततः इस जगत के क्षणिक कार्यकलापों एवं भगवान् त्रिविक्रम, कृष्ण, के दिव्य कार्यकलापों में अन्तर करने में समर्थ होता है, तो वह भगवान् की भक्ति में लग जाता है और अपने हृदय से भौतिकवाद के श्याम आवरण को हटा देता है। तब उसे इन्द्रियतृप्ति की कोई इच्छा नहीं होती, जिसे पाप तथा पुण्य के दो शीर्षकों के अन्तर्गत भोगा जाता है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि इस जगत में लोगों को पापी या पुण्यात्मा माना जाता है, किन्तु भौतिक धरातल पर पाप तथा पुण्य दोनों ही निजी तृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। यदि मनुष्य यह समझ ले कि उसका असली सुख कृष्ण को आनन्द प्रदान करने में निहित है, तो भगवान् कृष्ण ऐसे भाग्यशाली जीव को अपने धाम ले जाते हैं, जो गोलोक वृन्दावन कहलाता है। भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भगवान् सर्वप्रथम निष्ठावान् व्यक्ति को अपनी लीलाएँ सुनने का अवसर प्रदान करते हैं। जब भक्त ऐसी कथाओं के प्रति स्वेच्छा से आकृष्ट होने लगता है, तो वे इस जगत में प्रकट होने वाली अपनी आध्यात्मिक लीलाओं में उसे भाग लेने का अवसर प्रदान करते हैं। किसी एक ब्रह्माण्ड में हो रही भगवान् की लीलाओं में भाग लेने से जीव भौतिक जगत से पूरी तरह विरक्त हो जाता है और अन्त में भगवान् उसे दिव्य आकाश में अपने निजी धाम ले जाते हैं।

मूर्ख लोग भगवान् द्वारा प्रदत्त इस तात्विक लाभ को नहीं समझ पाते, किन्तु भगवान् कृष्ण ऐसे मूर्खों को नश्वर जगत के मिथ्या भोग में लीन होने से बचाकर, उन्हीं के लाभ के लिए कार्य करते हैं। वे उन्हें अपने अनुपम दिव्य सौन्दर्य, दिव्य वाणी तथा दिव्य कार्यकलाप दिखलाकर ऐसा करते हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने इंगित किया है कि *तमोऽनया तरिष्यन्ति* यह सूचित करता है कि यद्यपि भगवान् कृष्ण ५,००० वर्ष पूर्व अवतीर्ण हुए थे, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् के कार्यों, रूप तथा शब्दों को सुनता और उनका कीर्तन करता है, उसे वैसा ही लाभ प्राप्त होगा, जैसाकि कृष्ण के उन समसामयिकों को,

जिन्होंने इनका साक्षात् अनुभव किया था। दूसरे शब्दों में, वह भी भौतिक जगत के अंधकार को पार कर जायेगा और भगवद्धाम को प्राप्त होगा। इस प्रकार श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि सारे जीवों को ऐसा उस्थ गन्तव्य उपलब्ध हो सकता है, तो भगवान् के निजी संगी यादवों को वह अवश्य ही प्राप्त हुआ होगा।

इस श्लोक में कहा गया है कि कृष्ण, अपने सौन्दर्य से, उन्हें देखने वालों की दृष्टि को चुरा लेते थे। कृष्ण की बोलचाल इतनी आकर्षक थी कि उन्हें सुनने वाले अवाक् रह जाते थे। चूँकि न बोलने वाले प्राय: बहरे भी होते हैं, अतएव भगवान् के शब्द सुनने वालों के कानों को भी चुरा लेते थे, क्योंकि वे भगवान् की वाणी के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सुनने में रुचि नहीं लेते थे। अपने पदचापों का सौन्दर्य दिखलाकर कृष्ण, उन लोगों की भौतिक कार्य करने की शक्ति को हर लेते थे, जो उन्हें देखते थे। इस तरह इस जगत में अपने प्राकट्य से कृष्ण ने मानव जाति की इन्द्रियों को हर लिया। दूसरे शब्दों में उन्होंने लोगों को अंधा, गूँगा, बहरा, उन्मत्त तथा अन्यथा अशक्त बना दिया। इसीलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर प्रश्न करते हैं, ''जब उन्होंने लोगों की हर वस्तु छीन ली तो उन्हें दयालु कौन कहेगा? वे तो एक चोर हैं।'' इस तरह अप्रत्यक्ष रूप में वे भगवान् के सौन्दर्य की सर्वाधिक प्रशंसा करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह भी इंगित करते हैं कि यद्यपि कृष्ण ने असुरों का नाश करके उन्हें मुक्ति प्रदान की, किन्तु जो लोग उनके प्रति आकृष्ट थे उन्हें उन्होंने शुद्ध भगवत्प्रेम प्रदान दिया और उन्हें अपने सौन्दर्य-सागर में निमग्न कर दिया। इस तरह कृष्ण उस व्यक्ति के सदृश नहीं है, जो बिना सोचे-विचारे दान देता है। और कृष्ण इतने दयालु हैं कि उन्होंने न केवल पृथ्वी के निवासियों को ही सर्वोच्च वर दिया, अपितु व्यासदेव जैसे महान् सन्त-पुरुषों को सुन्दर काव्यमय श्लोकों में अपनी लीलाओं को वर्णन करने की शक्ति प्रदान की। इस तरह भविष्य में इस पृथ्वी पर उत्पन्न लोग उस कीर्ति-रूपी नौका से जन्म-मृत्यु के सागर को सरलता से पार कर सकेंगे। वस्तुत: आज हममें से, जो लोग श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद की कृपा से *श्रीमद्भागवत* के भक्तिवेदान्त तात्पर्य के पारदर्शी माध्यम से कृष्ण की महिमा का आनन्द लूट रहे हैं, वे कृष्ण-कृपा के भाग्यशाली प्राप्तकर्ता हैं, क्योंकि कृष्ण आगे उत्पन्न होने वालों पर भी दयालु हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अमरकोश* से उद्धरण देते हुए यह भी कहा है *पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्म्यङ्घ्रि वस्तुषु* इसमें *पदम्* की संभव परिभाषाएँ इस प्रकार हो सकती हैं, ''जो निश्चित किया जा चुका है,'' ''उद्धार का स्थान,'' ''लक्ष्मी,'' ''पाँव'' अथवा ''वस्तु''। इस तरह वे *पदम्* का अर्थ *व्यवसित* भी देते हैं अर्थात् वह जो निश्चित हो चुका है। दूसरे शब्दों में *अगात् स्वं पदम् ईश्वरः*—यह कथन न केवल यह बतलाता है कि कृष्ण अपने धाम गये, अपितु यह भी कि कृष्ण ने अपने संकल्प को साकार किया। यदि हम यह कहते हैं कि कृष्ण अपने नित्य धाम लौट गये, तो इसका अर्थ यह होता है कि इसके पूर्व कृष्ण अपने धाम से अनुपस्थित थे और अब लौट रहे हैं। इसलिए विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह इंगित करते हैं कि सामान्य भाव में यह कहना सही नहीं है कि कृष्ण ''अपने धाम वापस गये।'' *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार भगवान् कृष्ण वैकुण्ठ-लोक में अपने धाम में सदैव उपस्थित रहते हैं। फिर भी अपनी अहैतुकी कृपा से समय-समय पर वे अपने को भौतिक जगत में भी प्रकट करते हैं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर सर्वव्यापक हैं। वे हमारे समक्ष उपस्थित होने पर भी, उसी समय अपने धाम में रहते हैं। सामान्य आत्मा अर्थात् जीव परमात्मा की तरह सर्वव्यापक नहीं है, इसलिए भौतिक जगत में अपनी उपस्थिति के कारण जीव आध्यात्मिक जगत से अनुपस्थित रहता है। वस्तुतः हम आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठ से अपनी अनुपस्थिति के कारण कष्ट पाते हैं। किन्तु भगवान् सर्वव्यापक हैं, इसीलिए विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अगात् स्वं पदम्* शब्दों से यह अर्थ निकाला है कि कृष्ण ने जो इच्छा की, उन्हें वही प्राप्त हुआ। भगवान् सर्वव्यापक हैं और अपनी पूर्ण इच्छाओं को पूरा करने में स्वतंत्र हैं। इस जगत में उनके प्राकट्य तथा अन्तर्धान की तुलना सामान्य भौतिक कार्यों से कभी नहीं की जानी चाहिए।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *श्रीमद्भागवत* (३.२.७) के तृतीय स्कन्ध के प्रारम्भ में वर्णित उद्धव के कथन को उद्धृत किया है, जिसमें उद्धव ने कृष्ण के तिरोधान की तुलना सूर्यास्त से की है। इस श्लोक के तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद ने लिखा है, ''सूर्य से कृष्ण की तुलना अत्यन्त उपयुक्त है। सूर्य के अस्त होते ही अंधकार स्वयमेव छा जाता है। किन्तु सामान्य लोग जिस अंधकार का अनुभव करते हैं, उससे न तो सूर्योदय के समय, न ही सूर्यास्त के समय, सूर्य प्रभावित होता है। कृष्ण का प्राकट्य तथा लोप सूर्य के ही समान हैं।'' वे असंख्य ब्रह्माण्डों में प्रकट और लोप होते रहते हैं और जब तक वे

किसी एक ब्रह्माण्ड में रहते हैं, तब तक उसमें दिव्य प्रकाश रहता है, किन्तु वे जिस लोक से चले जाते हैं, उसमें अंधकार छा जाता है। तो भी उनकी लीलाएँ सदा सदा चलने वाली हैं। भगवान् किसी न किसी ब्रह्माण्ड में सदैव उपस्थित रहते हैं, जिस तरह सूर्य पूर्वी या पश्चिमी गोलार्द्ध में से किसी में सदा उपस्थित रहता है। सूर्य सदैव ही भारत या अमेरिका में उपस्थित रहता है, किन्तु जब सूर्य भारत में रहता है, तो अमरीकी भूभाग में अंधकार रहता है और जब सूर्य अमेरिका में रहता है, तो भारतीय गोलार्द्ध अंधकार में रहता है।''

श्रील जीव गोस्वामी ने ग्यारहवें स्कंध के अन्त से एक श्लोक उद्धृत किया है, जिससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् का धाम उन्हीं की तरह शाश्वत है ''हे महाराज! समुद्र तुरन्त ही द्वारका को निगल गया और अपने साथ भगवान् के निजी धाम को, जिसे उन्होंने त्याग दिया था, बहा ले गया। भगवान् मधुसूदन सदैव द्वारका में उपस्थित रहते हैं, जिसके स्मरण मात्र से हर प्रतिकूल वस्तु नष्ट हो जाती है। यह शुभ स्थानों में सर्वाधिक शुभ है।'' (भागवत ११.३१.२३-२४) जिस तरह रात्रि द्वारा सूर्य निगला जाता प्रतीत होता है, उसी तरह कृष्ण अथवा उनका धाम या उनका वंश भी लुप्त होता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में भगवान् तथा उनका साज-सामान—धाम तथा वंश—उसी तरह नित्य हैं, जिस तरह सूर्य सदैव आकाश में रहता है। इस सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''जिस प्रकार सूर्य प्रात:काल उदय होता है और क्रमश: सिर के ऊपर जाकर पुन: एक गोलार्ध में अस्त होता है और उसी समय दूसरे में उदय होता है, उसी तरह एक ब्रह्माण्ड में से भगवान् कृष्ण का लोप एवं साथ साथ अन्य लोक में उनकी विभिन्न लीलाओं का शुभारम्भ होता है। ज्योंही एक लीला समाप्त होती है, यह दूसरे ब्रह्माण्ड में प्रकट होती है। इस तरह उनकी नित्य लीला बिना अन्त के चलती रहती है।''

श्रीराजोवाच
ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम् ।
विप्रशाप: कथमभूद्वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; ब्रह्मण्यानाम्—ब्राह्मणों के प्रति आदर-भाव रखने वालों का; वदान्यानाम्—दान देने वालों का; नित्यम्—सदैव; वृद्ध-उपसेविनाम्—वृद्धजनों की सेवा करने वालों का; विप्र-शाप:—ब्राह्मणों का शाप; कथम्—कैसे; अभूत्—घटित हुआ; वृष्णीनाम्—वृष्णियों का; कृष्ण-चेतसाम्—कृष्ण के विचार में मग्न मन वालों का।

राजा परीक्षित ने पूछा : ब्राह्मणों ने उन वृष्णियों को कैसे शाप दिया, जो ब्राह्मणों के प्रति सदैव आदर-भाव रखते थे, दानी थे और वृद्ध तथा सम्मानित पुरुषों की सेवा करते थे तथा जिनके मन सदैव कृष्ण के विचारों में पूरी तरह लीन रहते थे?

तात्पर्य : सामान्यतया ब्राह्मण लोग उन व्यक्तियों से रुष्ट हो जाते हैं, जो ब्राह्मण जाति का अनादर करते हैं, जो दानी नहीं हैं और जो वृद्ध सम्मान्य व्यक्तियों की सेवा करने से मुकरते हैं। किन्तु वृष्णिजन ऐसे न थे, इसीलिए राजा परीक्षित ने उन्हें *ब्राह्मण्यानाम्* अर्थात् ब्राह्मण संस्कृति के निष्ठावान अनुयायी कहा है। यही नहीं, यदि ब्राह्मण लोग क्रुद्ध भी हो गये हों, तो वे कृष्ण के ही परिवार वालों को क्यों शाप देने लगे? चूँकि ब्राह्मण विद्वान थे, इसलिए वे यह जानते रहे होंगे कि भगवान् के निजी संगियों का विरोध करना अपराध होगा। यदुवंश को विशेष रूप से यहाँ पर *वृष्णीनाम* तथा *कृष्णचेतसाम्* कहा गया है। दूसरे शब्दों में, वे कृष्ण के निजी लोग थे और वे सदैव कृष्ण के चिन्तन में लीन रहते थे। इसलिए यदि किसी कारण से ब्राह्मणों ने उन्हें शाप दे भी दिया, तो वह शाप किस तरह प्रभाव डालता? परीक्षित महाराज के ये ही प्रश्न हैं।

यद्यपि इस श्लोक में वृष्णियों को *कृष्णचेतसाम्* अर्थात् सदैव कृष्ण-चिन्तन में लीन कहा गया है, किन्तु यह स्पष्ट संकेत है कि कृष्ण चाहते थे कि ब्राह्मण क्रुद्ध हों और यदुवंश को शाप दें। भगवान् अपने वंश को पृथ्वी से हटाना चाहते थे, इसीलिए कृष्ण के परिवार के छोकरों ने अप्रचलित पापपूर्ण आचरण प्रदर्शित किया।

इस घटना से यह समझना चाहिए कि जब कोई मनुष्य विष्णु के भक्तों से ईर्ष्या करता है और उनका मजाक उड़ाता है, तो उसकी *ब्रह्मण्यता* अर्थात् उच्च आध्यात्मिक योग्यता के साथ साथ श्रीकृष्ण के प्रति उसका सम्मान भी विनष्ट हो जाता है। सम्मान्य व्यक्तियों तथा असली ब्राह्मणों के निरादर तथा उपहास से सारे सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। यदि भगवान् के भक्तों के प्रति शिष्टाचार भंग होता है, तो भगवान् अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों तक से भी क्रुद्ध हो जाते हैं और जो उनके भक्तों का विरोध करते हैं, उनका विनाश करा देते हैं। यदि मूर्ख लोग कृष्ण के परिवार वालों के वेश में वैष्णवों के प्रति शत्रुता व्यक्त करते हैं, तो ऐसे अपराधी लोग कृष्ण-वंश की सन्तानें नहीं कहे जा सकते। यही भगवान् की सबसे बड़ी समता है।

यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम ।
कथमेकात्मनां भेद एतत्सर्वं वदस्व मे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्-निमित्तः—जिस कारण से उत्पन्न; सः—वह; वै—निस्सन्देह; शापः—शाप; यादृशः—किस तरह का; द्विज-सत्-तम—हे द्विजश्रेष्ठ; कथम्—कैसे; एक-आत्मनाम्—एक आत्मा (श्रीकृष्ण) में हिस्सा बँटाने वालों का; भेदः—मतभेद; एतत्—यह; सर्वम्—समस्त; वदस्व—कृपया बतायें; मे—मुझको।

राजा परीक्षित पूछते रहे : इस शाप का क्या उद्देश्य था? हे द्विजश्रेष्ठ, यह किस तरह का था? और यदुओं में, जो एक ही जीवनलक्ष्य भागी थे, ऐसा मतभेद क्योंकर उत्पन्न हुआ? कृपया, मुझे ये सारी बातें बतलायें।

तात्पर्य : *एकात्मनाम्* का अर्थ है कि सारे यदु एक ही मत रखते थे—अर्थात् भगवान् कृष्ण ही उनके जीवन के लक्ष्य थे। इसलिए परीक्षित महाराज को यदुवंशियों में ऐसे विध्वंसक कलह का कोई स्पष्ट कारण नहीं दिख रहा था और वे वास्तविक कारण जानने के लिए उत्सुक थे।

श्रीबादरायणिरुवाच
बिभ्रद्वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन्भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—बादरायण-पुत्र शुकदेव गोस्वामी ने कहा; बिभ्रत्—धारण करते हुए; वपुः—दैवी शरीर; सकल—समस्त; सुन्दर—सुन्दर वस्तुओं का; सन्निवेशम्—मिश्रण; कर्म—कार्यकलाप; आचरन्—करते हुए; भुवि—पृथ्वी पर; सु-मङ्गलम्—अत्यन्त शुभ; आप्त-कामः—समस्त इच्छाएँ तुष्ट होने से; आस्थाय—निवास करके; धाम—अपने धाम (द्वारका) में; रममाणः—रमण करते हुए; उदार-कीर्तिः—अत्यन्त उदार कीर्ति वाले; संहर्तुम्—विनष्ट करने के लिए; ऐच्छत—इच्छा की; कुलम्—अपने वंश का; स्थित—वहाँ रहते हुए; कृत्य—अपने कार्य का; शेषः—कुछ भाग।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : समस्त सुन्दर वस्तुओं के सं मिश्रणरूप अपने शरीर को धारण करने वाले भगवान् ने पृथ्वी पर रहते हुए अत्यन्त शुभ कार्यों को कर्तव्यपरायणता के साथ सम्पन्न किया, यद्यपि वे बिना किसी प्रयास के अपनी सारी इच्छाएँ पहले ही पूरी कर चुके थे। अपने धाम में रहते हुए तथा जीवन का आनन्द उठाते हुए अब भगवान् ने, जिनका महिमा-गायन स्वयं उदार है, अपने वंश का संहार करना चाहा, क्योंकि अब भी उन्हें कुछ थोड़ा-सा कर्म करना शेष था।

तात्पर्य : इस श्लोक में महाराज परीक्षित के इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि यदुवंश के शक्तिशाली सदस्यों को ब्राह्मणों द्वारा कैसे शाप दिया गया और उन्होंने अपने आपको किस तरह बंधुघाती युद्ध में विनष्ट कर दिया। *संहर्तुम् ऐच्छत कुलम्* शब्दों से यह स्पष्ट है कि भगवान् कृष्ण स्वयं ही अपने वंश को समेट लेना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने ब्राह्मणों को अपना अभिकर्ता बनाया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यहाँ पर टिप्पणी करते हैं कि श्रीकृष्ण अपना अपार सौन्दर्य तथा अपने रूप, लीला तथा आनन्द के पराक्रम, पृथ्वी के हर निवासी को प्रदर्शित कर चुके थे। इस तरह असुरों का वध करने, भक्तों को बचाने तथा धर्म की पुनर्स्थापना करने के हेतु लिया गया उनका अवतार पूरी तरह सफल हो चुका था। जब भगवान् कृष्ण ने देखा कि उनका मन्तव्य पूरा हो चुका है और हर काम पूरी तरह से सम्पन्न हो चुका है, तो वे वृष्णियों समेत अपने दिव्य धाम वापस जाने के लिए इच्छुक हो उठे। इस तरह भगवान् ने स्वयं ही यदुवंश को ब्राह्मणों द्वारा शापित कराने की व्यवस्था की।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *आप्तकाम:* का अर्थ यह है कि कृष्ण सदैव आत्मतुष्ट रहते हैं, तो भी अपनी दिव्य लीलाएँ सम्पन्न करने के लिए उन्होंने अपने ही वंश के विनाश की व्यवस्था की, जिसके तीन कारण थे उन देवताओं को पुन: स्वर्ग में स्थापित करना, जिन्होंने उनकी सहायता करने के लिए यदुवंश में जन्म लिया था, अपने विष्णुतत्त्वों को उनके धामों में यथा वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप तथा बदरिकाश्रम में पुन: स्थापित करना तथा अपने को अपने नित्य संगियों समेत संसार की दृष्टि से ओझल कर देना।

इस प्रसंग में भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने यदुवंश के विनाश के विषय में कई महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। वे कहते हैं कि अनेक तथाकथित धार्मिक पुरुषों ने नाम कीर्तन के प्रति द्वितीय अपराध करके अर्थात् *विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधी:*—दूसरे जीव को सभी ईश्वरों के ईश्वर भगवान् विष्णु के समान मान करके अपने को पतित बनाया है। जो व्यक्ति मायावाद दर्शन के निर्विशेषवाद के चंगुल में आ जाता है, वह झूठे ही सोचने लगता है कि भगवान् की बहिरंगा भौतिक शक्ति उनकी अन्तरंगा दिव्य शक्ति के तुल्य है। इस तरह वह सामान्य जीव को भगवान् के तुल्य बतलाने लगता है और कृष्ण को *माया* का दूसरा पक्ष मानता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण भ्रान्त धारणा है, क्योंकि इससे ईश्वर को यथारूप समझने का अवसर हाथ से चला जाता है।

जो लोग जीवन की इस मायावादी धारणा की ओर झुकाव रखते हैं, वे निश्चित रूप से यदुवंश के सदस्यों को सभी तरह से कृष्ण के समान मानेंगे और कृष्ण के भावी वंशजों को कृष्ण के समान ही पूजेंगे। इस तरह पृथ्वी पर यदुवंश का निरन्तर अस्तित्व आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग में बहुत बड़ा रोड़ा और पृथ्वी पर गुरु भार बन जायेगा। इसलिए विष्णु को विष्णु के वंश के समान बताने के अपराध के खतरे से संसार को बचाने के लिए ही भगवान् ने यदुवंश को कुचल डालने का निश्चय किया।

भगवान् कृष्ण अपने भक्तों पर सदैव वत्सल रहते हैं, किन्तु जब भगवान् कृष्ण के वंशज ही उनके शत्रु या तटस्थ बन जाते हैं और वे भगवान् के शुद्ध भक्तों को प्यार नहीं करते अथवा उनके दासों से मैत्री नहीं करते, तो भगवान् के ऐसे तथाकथित पारिवारिक जन उनकी इच्छा में अवरोधक बनते हैं। इस तरह इस बात का खतरा बना रहता है कि अज्ञानी जीव उनके ऐसे शत्रुओं की पूजा करने लगे और कृष्ण के घनिष्ठ संगियों के रूप में उनका आदर करे। उदाहरणार्थ, कंस को भगवान् कृष्ण का मामा मानकर उसे कृष्ण का आज्ञाकारी दास समझना पूर्णरूपेण त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष होगा। ऐसी भ्रान्ति से ही भगवान् के विरोधियों को उनका घनिष्ठ संगी स्वीकार किया जा सकता है और कृष्ण के प्रति शत्रुभाव रखने वालों को उनके कुल में उत्पन्न शरणागत अधीन व्यक्ति माना जा सकता है। यदुवंश के विनाश का उद्देश्य मायावदियों के मिथ्या तर्क का उन्मूलन करना था, जो हर वस्तु को सभी प्रकार से एक-सा मानना चाहते हैं और यह अनुचित तर्क रखते हैं कि कृष्ण-भक्तों के शत्रु कृष्ण के पारिवारिक सदस्य हो सकते हैं।

कर्मानि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि
गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा ।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे
पिण्डारकं समगमन्मुनयो निसृष्टाः ॥ ११ ॥
विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—सकाम कर्मों को; पुण्य—पुण्य; निवहानि—प्रदान करने वाले; सु-मङ्गलानि—अत्यन्त मंगलकारी; गायत्—(जिसके विषय में) कीर्तन करते हुए; जगत्—सारे संसार के लिए; कलि—वर्तमान पतित युग; मल—अशुद्धियाँ; अपहराणि—हरण करने वाले; कृत्वा—सम्पन्न करके; काल-आत्मना—जो कालस्वरूप है, उसके द्वारा; निवसता—निवास करते हुए; यदु-देव—यदुओं के स्वामी (वसुदेव) के; गेहे—घर में; पिण्डारकम्—पिण्डारक नामक तीर्थस्थान में; समगमन्—वे गये; मुनयः—मुनिगण; निसृष्टाः—विदा कर दिये जाने पर; विश्वामित्रः असितः कण्वः—विश्वामित्र, असित तथा कण्व;

दुर्वासाः भृगुः अङ्गिराः—दुर्वासा, भृगु तथा अंगिरा; कश्यपः वामदेवः अत्रिः—कश्यप, वामदेव तथा अत्रि; वसिष्ठः नारद-आदयः—वसिष्ठ, नारद इत्यादि।

एक बार विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अंगिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि तथा वसिष्ठ मुनियों ने नारद तथा अन्यों के साथ मिलकर प्रचुर पुण्य प्रदान करने वाला, परम सुख लाने वाला तथा मात्र उच्चारण करने से समस्त जगत के कलियुग के पापों को दूर करने वाला एक सकाम अनुष्ठान किया। इन मुनियों ने इस अनुष्ठान को कृष्ण के पिता एवं यदुओं के अग्रणी वसुदेव के घर में सम्पन्न किया। जब उस समय वसुदेव के घर में कालरूप में निवास कर रहे कृष्ण उत्सव की समाप्ति होने पर मुनियों को आदरपूर्वक विदा कर चुके, तो वे मुनि पिण्डारक नामक पवित्र तीर्थस्थान चले गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ब्राह्मण-शाप की कहानी कहते हैं, जो भगवान् की इच्छा से यदुवंश को दिया गया। श्रीधर स्वामी के अनुसार कुछ धार्मिक अनुष्ठानों से, यथा अश्वमेध यज्ञ से पुण्य-फल उत्पन्न होते हैं। दूसरी ओर, अपनी सन्तान के लालन-पालन जैसे कार्यकलापों से वर्तमानकाल में तुरन्त आनन्द मिलता है, जबकि प्रायश्चित्त के रूप में किये गये अनुष्ठान पापों को दूर भगाते हैं। किन्तु श्लोक ११ में जिन धार्मिक कार्यों का उल्लेख हुआ है और जिन्हें *कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमंगलानि गायज्जगत्कलिमलापहराणि* शब्दों द्वारा सूचित किया गया है, वे सभी प्रकार से पवित्र थे। वे प्रचुर पुण्य एवं प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले थे और इतने शक्तिशाली थे कि इन अनुष्ठानों के महिमा गान से ही कलियुग के सारे पाप दूर हो जाते थे।

ऐसे शुभ धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करने के लिए वसुदेव के घर में बुलाये गये मुनियों को समुचित भेंटें देकर तुष्ट किया गया और फिर कृष्ण द्वारा उन्हें पिण्डारक के लिए विदा कर दिया गया, जो अरब सागर में गुजरात के समुद्री तट से लगभग दो मील दूरी पर स्थित है। आज भी इसका प्रचलित नाम पिण्डारक ही है।

यहाँ पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कृष्ण को *कालात्मना* अर्थात् काल का रूप या परमात्मा कहा गया है। *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् कृष्ण अर्जुन के समक्ष कुरुक्षेत्र के युद्ध में भारस्वरूप राजाओं तथा सेनाओं का संहार करने के लिए कालरूप में प्रकट होते हैं। इसी प्रकार *कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे*—कृष्ण अपने पिता वसुदेव के घर में काल के रूप में निवास कर रहे

थे। इस प्रकार यह सूचित कर रहे थे कि उनकी इच्छानुसार उनके वंश के विनाश का समय निकट आ रहा था।

क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः ।
उपसङ्गृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत् ॥ १३ ॥
ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम् ।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा ॥ १४ ॥
प्रष्टुं विलज्जती साक्षात्प्रब्रूतामोघदर्शनाः ।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किं स्वित्सञ्जनयिष्यति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

क्रीडन्तः—खेलते हुए; तान्—उन (मुनियों) को; उपव्रज्य—पास जाकर; कुमाराः—छोटे बालकों ने; यदु-नन्दनाः—यदुवंश के पुत्र; उपसङ्गृह्य—मुनियों के चरणों को पकड़ कर; पप्रच्छुः—पूछा; अविनीताः—विनीत नहीं, उद्दंड; विनीत-वत्—विनीत की तरह बनते हुए; ते—वे; वेषयित्वा—वेश बनाकर; स्त्री-वेषैः—स्त्री के वस्त्र तथा आभूषण पहन कर; साम्बम् जाम्बवती-सुतम्—जाम्बवती के पुत्र साम्ब को; एषा—यह स्त्री; पृच्छति—पूछ रही है; वः—तुमसे; विप्राः—हे विद्वान ब्राह्मणो; अन्तर्वत्नी—गर्भवती; असित-ईक्षना—श्याम नेत्रों वाली; प्रष्टुम्—पूछने के लिए; विलज्जती—शरमाई हुई; साक्षात्—प्रत्यक्ष अपने आप; प्रब्रूत—कृपया बोलें; अमोघ-दर्शनाः—आप, जिनकी दृष्टि कभी मोहित नहीं होती; प्रसोष्यन्ती—तुरन्त ही जन्म देने वाली; पुत्र-कामा—तथा पुत्र-लाभ की इच्छुक; किम् स्वित्—किसको (पुत्र या पुत्री); सञ्जनयिष्यति—जन्म देगी।.

उस तीर्थस्थान में यदुवंश के तरुण बालक जाम्बवती के पुत्र, साम्ब को स्त्री के वेश में ले आये थे। उन बालकों ने खिलवाड़ करते हुए वहाँ पर एकत्र महामुनियों के पास पहुँच कर उनके चरण पकड़ लिए और बनावटी विनयशीलता से उद्दंडतापूर्वक उनसे पूछा, ''हे विद्वान ब्राह्मणो, यह श्याम नेत्रों वाली गर्भिणी स्त्री आप लोगों से कुछ पूछना चाहती है। वह अपने विषय में पूछने में अत्यधिक लजा रही है। वह शीघ्र ही बच्चे को जन्म देने वाली है और पुत्र प्राप्त करने के लिए अत्यन्त इच्छुक है। चूँकि आप सभी अच्युत दृष्टि वाले महामुनि हैं, अतः कृपा करके हमें बतायें कि इसकी सन्तान बालिका होगी या बालक।''

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने निम्नलिखित टीका की है—''नारद इत्यादि मुनि ब्राह्मण थे और भगवद्भक्त थे, अतः उनके प्रति यदुवंशी बालकों का उद्दण्ड व्यवहार भगवान् कृष्ण के मार्ग से विचलन का द्योतक था। इसी तरह, यद्यपि *प्राकृत सहजिया* अपने को कृष्ण का घनिष्ठ संगी मानते हैं, किन्तु ऐसे झूठे भक्तों को समाप्त करने के लिए परम दयालु भगवान् का संकल्प पूर्णतया उचित है। ऐसे धूर्त कभी भी कृष्ण की असली सेवा नहीं करते। *यदुकुमारों* का छल ''ऊपर से विनीत'' कहा गया है,

जिसका तात्पर्य यह है कि वे कुमार विनीत नहीं थे। इसलिए भगवान् के परिवार द्वारा वैष्णवों का उपहास किये जाने से भगवद्भक्तों के प्रति महान् अपराध हुआ।''

ऐसी ही घटना श्री चैतन्य महाप्रभु की लीलाओं के समय घटी, जब उनकी माता ने श्री अद्वैत आचार्य का अपमान किया। श्री चैतन्य महाप्रभु ने महान् वैष्णव के प्रति किये इस अपराध को स्वयं सुधारा और इस तरह महाप्रभु ने अपनी उदारता सिद्ध की। यदुवंश के विनाश की कृष्ण-लीला भी उनके भक्तों के प्रति दया का प्रदर्शन थी।

यदुकुमारों ने ब्राह्मणों, वैष्णवों तथा ऋषियों को इन्द्रियतृप्ति के भौतिक ज्ञान से मूर्खों की तरह विहीन मानकर ही जाम्बवती-पुत्र साम्ब को स्त्री का वेश धारण कराकर सन्त-सभा का मजाक उड़ाना चाहा था। भगवान् कृष्ण ने यह पाठ पढ़ाना चाहा कि महान् भगवद्भक्तों के प्रति अपने संगी साम्ब द्वारा किया गया ऐसा अपराध यदुवंश के विनाश का कारण बनेगा, जो कि उनकी लीला का ही अंग होगा।

आधुनिक काल में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी ऐसा ही दुर्व्यवहार दिखलायी पड़ा। अवैध व्यक्ति अपने अनुयायियों को स्त्री का वेश प्रदान करने का छल चालू कर चुके हैं। यह कार्य कृष्ण के प्रति एक प्रकार का अपराध माना जाता है। कृष्णभक्ति को इस तरह सस्ता बनाने एवं उसका मजाक उड़ाने का ऐसा प्रयास वास्तव में असली वैष्णवों के प्रति द्वेष के कारण है, क्योंकि ये वैष्णव वैदिक वाङ्मय के विधि-विधानों के अनुसार श्रद्धापूर्वक भक्ति में लगे रहते हैं। इस प्रकार रूप गोस्वामी ने कहा है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादि पञ्चरात्रविधिं विना।

ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।

''यदि कोई भगवान् के प्रति अपनी अत्यधिक भक्ति दिखाना चाहता है, किन्तु यदि उसकी भक्ति-विधि श्रुति, स्मृति, पुराणों तथा नारद पञ्चरात्र जैसे शास्त्रों के आदर्श नियमों का उल्लंघन करती है, तो उसका तथाकथित भगवत्प्रेम लोगों को आध्यात्मिक प्रगति के शुभ मार्ग से हटाकर, केवल समाज में विघ्न उत्पन्न करेगा।'' (भक्तिरसामृतसिंधु १.२.१०१) *कृष्णलीला* में पुरुष द्वारा किसी स्त्री के वस्त्र निकाल लेने का मन्तव्य इस तथ्य की ओर संकेत करना था। ऐसा कर्म कृष्ण-भक्तों को ठगने तथा उनका मजाक उड़ाने के समान है। साम्ब भगवान् का निजी संगी था। किन्तु भावी संकट, जो कि श्री

चैतन्य महाप्रभु के सड़े-गले अनुयायियों द्वारा कलियुग में उत्पन्न होना था, उसका अग्रदूत बनकर साम्ब ने जीवों की सहायता करने के लिए उपदेशात्मक लीला प्रदर्शित की, जिससे वे भक्ति के सही मार्ग पर चल सकें।

इन बालकों ने मुनियों से कहा, ''हे ऋषियो, हे ब्राह्मणो, हे नारद तथा अन्य महापुरुषो! क्या आप लोग यह बता सकते हैं कि इस गर्भवती स्त्री के गर्भ से पुत्र उत्पन्न होगा या पुत्री?'' शुद्ध वैष्णवों को इस तरह सम्बोधित करके उन्होंने आधुनिक युग में *सखीभेक* की उस प्रथा चलाने वाले वंचक सम्प्रदायों का पूर्वानुमान कर लिया था, जिसमें पुरुषों को गोपियों की सखियों की तरह वस्त्र पहनाये जाते हैं। यह अवैध कार्य भगवान् के शुद्ध भक्तों का अपमान एवं उपहास स्वरूप है।

अनेक छद्म योगी जो यह सोचते हैं कि वे मोक्ष के मंच पर उच्च कोटि की भक्ति वितरण करते हैं, केवल उन व्यक्तियों को ''शुद्ध भक्त'' का पद प्रदान करने का प्रयास करते हैं, जो *मधुररति* (आध्यात्मिक जगत में भगवान् का माधुर्य प्रेम) के दिव्य आस्वाद से पूर्णतया अनजान होते हैं। यद्यपि वे यह जानते हैं कि सामान्य जनता भगवान् के मुक्त संगियों का अनुकरण करने के लिए अयोग्य हैं, किन्तु वे सामान्य व्यक्तियों को अश्रुओं, द्रवित हृदय तथा रोमांच जैसे आध्यात्मिक सिद्धि के अलंकारों से सज्जित कर देते हैं। इस तरह से कपटी योगी ऐसी विधि चला देते हैं, जिससे संसार भ्रमित होता है। चूँकि श्री चैतन्य महाप्रभु समझ चुके थे कि ऐसे छद्म योगियों या कुयोगियों के द्वारा उत्पन्न महान् संकट का पूर्वानुमान कर पाना कलियुग में असम्भव है, इसलिए उन्होंने उनमें कामोत्तेजक वस्तुओं के प्रति अविवेकपूर्ण इच्छाओं की छूत लगा दी, जिससे सामान्य व्यक्ति ऐसे छद्म योगियों को शुद्ध भक्ति के पथ से भटके हुए समझकर पहचान सकें।

यदुवंश के बालकों द्वारा, जिन्होंने साम्ब को स्त्री वेश में प्रस्तुत किया था, ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का उपहास करके तथा उसके परिणाम स्वरूप यदुवंश का विनाश से अन्ततः अन्तिम रूप से *सहजिया सम्प्रदायों* की व्यर्थता को प्रकट कर दिया हैं।

श्रील जीव गोस्वामी ने पुष्टि की है कि यदुवंश के छोकरों द्वारा प्रदर्शित विनयशीलता का अभाव स्वयं भगवान् के द्वारा की गई व्यवस्था थी। दूसरे शब्दों में, यदुवंश के सदस्य अन्ततोगत्वा भगवान्

कृष्ण के संगी हैं और भगवान् की उपदेशात्मक लीला में सहायक बनने के लिए ही, उन्होंने अनैतिक प्रतीत होने वाले ढंग से आचरण किया।

एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप ।
जनयिष्यति वो मन्दा मुषलं कुलनाशनम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रलब्धाः—धोखा दिये गये; मुन्ययः—मुनिगण; तान्—उन बालकों से; ऊचुः—बोले; कुपिताः—क्रुद्ध; नृप—हे राजा परीक्षित; जनयिष्यति—वह जन्म देगी; वः—तुम्हारे लिए; मन्दाः—रे मूर्खो; मुषलम्—मूसल को; कुल-नाशनम्—वंश का नाश करने वाले।

हे राजन्, धोखे से इस तरह उपहास का पात्र बनाये गये मुनि क्रुद्ध हो गये और उन्होंने बालकों से कहा, ''मूर्खो! वह तुम्हारे लिए लोहे का एक मूसल जनेगी, जो तुम्हारे समस्त कुल का विनाश करेगा।''

तात्पर्य : बद्धजीव में चार दोष पाये जाते हैं। ये हैं *भ्रम* (गलती करने की प्रवृत्ति), *प्रमाद* (माया), *करणापाटव* (अपूर्ण इन्द्रियाँ) तथा *विप्रलिप्सा* (धोखा देने की प्रवृत्ति)। किन्तु शुद्ध भगवद्भक्तों में ये दोष नहीं पाये जाते। फिर भी भगवान् कृष्ण ने अपने ही परिवार, यदुवंश के बालकों में मनुष्य की घातक निम्न लालसाओं को प्रकट होने की व्यवस्था की। इसलिए यादव बालकों ने छद्म भक्ति-सम्प्रदाय वालों के कार्यकलापों का अनुकरण किया।

अपने तिरोधान के पूर्व ही कृष्ण ने चाहा कि मुनिगण यदुवंश के बालकों पर क्रुद्ध हों, जिससे उन्हें यह शिक्षा मिल जाय कि वैष्णवों को मूर्ख, अज्ञानी या संसारी नहीं समझा जा सकता और इस तरह उनके परिवार वालों का मिथ्या अहंकार कम हो सके। कभी कभी दिग्भ्रमित लोग छद्म भक्तों की भूमिका अदा करके शुद्ध भक्ति की वास्तविक विधि तथा उसका प्रचार कर रहे शुद्ध भक्तों को कलंकित करते हैं। ऐसे मूर्ख छद्म भक्त सोचते हैं कि भगवान् के संदेश के वास्तविक प्रचार के प्रति उनका द्वेष या घृणा ही *भक्ति* है, किन्तु वास्तव में यह उनके लिए तथा उनके अभागे अनुयायियों के लिए मुसीबत का कारण बनती है। शुद्ध भक्ति के प्रचारक छद्म भक्तों के कुत्सित प्रयासों का पर्दाफाश कर देते हैं। इसी तरह नारद इत्यादि मुनियों ने, जो कि उच्च कोटि के भगवद्भक्त थे, यदुवंश के बालकों को मोहग्रस्त मूर्ख कहकर सम्बोधित किया और उन्हें बतलाया कि ''इस छद्म गर्भ के भीतर या साधु के छद्म वेश के भीतर से एक मूसल जन्म लेगा, जो तुम्हारे वंश के विनाश का कारण होगा।''

विशेषकर भारत में और अब तो पाश्चात्य देशों में भी दूषित इन्द्रिय भोग-कर्ताओं का एक वर्ग है, जो अपने को गौड़ीय वैष्णव भी कहते हैं और प्रेमभक्ति की सर्वोच्च दशा प्रदर्शित करने का स्वांग भरते हैं। वे घोषित करते हैं कि वे भक्ति की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हैं और वृन्दावन में प्रदर्शित *माधुर्य लीला* के अन्तरंग कार्यों से ही उनका सरोकार है। कभी कभी वे गोपियों का वेश भी बनाते हैं और आदर्श नियमों का पालन किये बिना कृष्ण की लीलाओं में प्रवेश करने का झूठा प्रदर्शन करते हैं। *प्रेमभक्ति* के नाम पर वे कभी कभी शुद्ध कृष्ण-भक्तों के विरुद्ध घोर अपराध करते हैं। साम्ब के तथाकथित गर्भ से लोहे के मूसल के जन्म की इस घटना से स्वयं भगवान् ने ऐसी छद्म भक्ति के घातक प्रभावों की शिक्षा दी।

तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम् ।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन्मुषलं खल्वयस्मयम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तत्—वह; श्रुत्वा—सुनकर; ते—वे; अति-सन्त्रस्ताः—अत्यन्त भयभीत; विमुच्य—उघाड़ कर, खोल कर; सहसा—झटपट; उदरम्—पेट को; साम्बस्य—साम्ब के; ददृशुः—उन्होंने देखा; तस्मिन्—उसके भीतर; मुषलम्—मूसल; खलु—निस्सन्देह; अयः-मयम्—लोहे का बना हुआ।

मुनियों का शाप सुनकर भयभीत बालकों ने झटपट साम्ब के पेट से कपड़े हटवाये और सचमुच उन्होंने देखा कि उसके भीतर एक लोहे का मूसल था।

तात्पर्य : नारद इत्यादि वैष्णवों के शब्दों को सुनकर यदु-बालकों ने साम्ब के पेट के ऊपर पड़े हुए वस्त्रों को हटा दिया। इस तरह धोखा देकर वैष्णवों के प्रति, उन्होंने जो अपराध किया था, उसका फल उन्हें मिल गया। वहाँ उनके वंश को विनष्ट करने वाला सचमुच का मूसल था। यह उदाहरण दिखलाता है कि दूषित समाज में छद्म का मूसल भक्तों के समाज में पाई जाने वाली शान्ति कभी नहीं ला सकता। इसके विपरीत, छद्म समस्त भक्तिविहीन कार्यों एवं छद्म भक्तों के मनमाने सिद्धान्तों को ध्वस्त करता है। यदुकुल के बालक अपनी उच्च स्थिति को उलटने के विषय में सतर्क थे और यह सोच रहे थे कि जब तक वे अपनी चाल को छिपा रखेंगे, तब तक अन्य लोग ऐसी शिष्ट धोखेधड़ी को पहचान नहीं पायेंगे। इतने पर भी वे भगवान् के भक्तों के विरुद्ध अपने घोर अपराध के फलों से अपने वंश को बचा सकने में असमर्थ थे।

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः ।
इति विह्वलिता गेहानादाय मुषलं ययुः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; कृतम्—किया गया; मन्द-भाग्यैः—अभागों द्वारा; नः—हमारे द्वारा; किम्—क्या; वदिष्यन्ति—कहेंगे; नः—हमसे; जनाः—परिवार वाले; इति—इस प्रकार कहते हुए; विह्वलिताः—विह्वल; गेहान्—अपने घरों को; आदाय—लेकर; मुषलम्—मूसल को; ययुः—चले गये।

यदुवंश के तरुण लोगों ने कहा : "ओह! यह हमने क्या कर डाला? हम कितने अभागे हैं! हमारे परिवार वाले हमसे क्या कहेंगे?" ऐसा कहते हुए तथा अतीव विक्षुब्ध होकर, वे अपने साथ उस मूसल को लेकर अपने घरों को लौट गये।

तच्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः ।
राज्ञ आवेदयां चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह मूसल; च—तथा; उपनीय—लाकर; सदसि—सभा में; परिम्लान—पूरी तरह कुम्हलाया; मुख—उनके मुखों की; श्रीयः—सुन्दरता; राज्ञे—राजा से; आवेदयाम् चक्रुः—सूचित किया; सर्व-यादव—सभी यादवों की; सन्निधौ—उपस्थिति में।

वे यदु-बालक, जिनके मुख की कान्ति पूरी तरह फीकी पड़ चुकी थी, उस मूसल को राज-सभा में ले आये और समस्त यादवों की उपस्थिति में उन्होंने राजा उग्रसेन से, जो कुछ घटना घटी थी, कह सुनाई।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि *राज्ञे* शब्द राजा उग्रसेन के लिए आया है, श्रीकृष्ण के लिए नहीं। वे लड़के शर्म तथा भय के कारण भगवान् कृष्ण के पास नहीं गये।

श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुषलं नृप ।
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; अमोघम्—व्यर्थ न जाने वाला; विप्र-शापम्—ब्राह्मणों के शाप को; दृष्ट्वा—देखकर; च—तथा; मुषलम्—मूसल को; नृप—हे राजा; विस्मिताः—चकित; भय—भय से; सन्त्रस्ताः—किंकर्तव्यविमूढ़; बभूवुः—हो गये; द्वारका-ओकसः—द्वारका के निवासी।

हे राजा परीक्षित, जब द्वारकावासियों ने ब्राह्मणों के अमोघ शाप को सुना और मूसल को देखा, तो वे भय से विस्मित तथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये।

तच्चूर्णयित्वा मुषलं यदुराजः स आहुकः ।
समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसको; चूर्णयित्वा—चूरे-चूरे कराकर; मुषलम्—मूसल को; यदु-राजः—यदुओं के राजा ने; सः—उस; आहुकः—आहुक (उग्रसेन) ने; समुद्र—समुद्र के; सलिले—जल में; प्रास्यत्—फेंक दिया; लोहम्—लोहे के; च—तथा; अस्य—मूसल के; अवशेषितम्—अवशिष्ट, बचे हुए।

मूसल को चूरे-चूरे में तुड़वा कर यदुओं के राजा आहुक (उग्रसेन) ने स्वयं उन खण्डों को तथा शेष बचे लोहे के टुकड़े को समुद्र के जल में फेंक दिया।

तात्पर्य : राजा उग्रसेन ने सोचा, ''साम्ब तथा अन्यों को शर्म या भय का अनुभव नहीं होना चाहिए।'' अतएव श्रीकृष्ण से सलाह किये बिना ही उसने मूसल के टुकड़े करके तथा बचे हुए लोहे के छोटे टुकड़े को नगण्य मानते हुए, उन्हें समुद्र में फेंकने का आदेश दे दिया।

कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः ।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन्किलैरकाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कश्चित्—किसी; मत्स्यः—मछली ने; अग्रसीत्—निगल गई; लोहम्—लोहे को; चूर्णानि—चूरा; तरलैः—लहरों से; ततः—उस स्थान से; उह्यमानानि—ले जाया जाकर; वेलायाम्—तट पर; लग्नानि—चिपके हुए; आसन्—हो गये; किलु—निस्सन्देह; एरकाः—नरकट (विशेष प्रकार कि तूक्ष्ण धार वाली घास)।

किसी मछली ने वह लोहे का टुकड़ा निगल लिया और लोहे के शेष खण्ड लहरों द्वारा किनारे पर लग गये, जहाँ पर वे ऊँचे तीक्ष्ण नरकटों के रूप में उग आये।

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे ।
तस्योदरगतं लोहं स शल्ये लुब्धकोऽकरोत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मत्स्यः—मछली; गृहीतः—पकड़ी जाकर; मत्स्य-घ्नैः—मछुआरों द्वारा; जालेन—जाल से; अन्यैः सह—अन्य मछलियों के साथ; अर्णवे—समुद्र के भीतर; तस्य—मछली के; उदर-गतम्—पेट में गये हुए; लोहम्—लोहे के खण्ड को; सः—उस (जरा) ने; शल्ये—अपने तीर में; लुब्धकः—शिकारी ने; अकरोत्—लगा लिया।

यह मछली अन्य मछलियों के साथ समुद्र में मछुवारे के जाल में पकड़ ली गई। इस मछली के पेट में स्थित लोहे के टुकड़े को जरा नामक शिकारी ले गया, जिसने उसे अपने तीर की नोक में लगा लिया।

भगवान्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा ।
कर्तुं नैच्छद्विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥ २४॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; ज्ञात—जानते हुए; सर्व-अर्थः—हर बात का अर्थ; ईश्वरः—पर्याप्त समर्थ; अपि—यद्यपि; तत्-अन्यथा—अन्यथा; कर्तुम्—करने के लिए; न ऐच्छत्—नहीं चाहा; विप्र-शापम्—ब्राह्मण के शाप को; काल-रूपी—काल के रूप में प्रकट; अन्वमोदत—प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति दे दी।

इन सारी घटनाओं की महत्ता को पूर्णतया जानते हुए ब्राह्मणों के शाप को पलट सकने में समर्थ होते हुए भी भगवान् ने ऐसा करना नहीं चाहा। प्रत्युत, काल के रूप में उन्होंने खुशी खुशी इन घटनाओं को स्वीकृति दे दी।

तात्पर्य : सामान्य लोगों को आश्चर्य हो सकता है, या वे मोहग्रस्त हो सकते हैं कि भगवान् ने हँसी-खुशी से अपने वंश के शापित होने तथा विनष्ट होने की स्वीकृति क्यों प्रदान कर दी। यहाँ पर प्रयुक्त *अन्वमोदत* शब्द किसी वस्तु में प्रसन्नता व्यक्त करने या सहमति प्रदान करने का सूचक है। *कालरूपी* शब्द भी प्रयुक्त हुआ है अर्थात् काल के रूप में कृष्ण ने प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मण-शाप की स्वीकृति दे दी। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद ने टीका की है कि भगवान् कृष्णचन्द्र ने शाप को अक्षत रखना चाहा, जिससे धर्म के असली नियमों का पालन हो सके एवं कृष्ण-वंश के धोखेबाज सदस्यों द्वारा किया गया अशोभनीय अपराध नष्ट हो सके। *भगवद्गीता* में स्पष्ट बतलाया गया है कि भगवान् के भौतिक संसार में अवतरित होने का एकमात्र उद्देश्य धर्म के मौलिक नियमों की पुनर्स्थापना करना है, जिनके द्वारा प्रकृति के नियमों से गहन दुख पा रहे बद्धजीव भगवान् कृष्ण के नित्यमुक्त दास के रूप में अपनी मूल स्थिति को फिर से प्राप्त कर सकें। इस भौतिक जगत में जीव इस कामना से आता है कि वह प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जमा सके, यद्यपि जीव स्वामी न होकर नित्यदास होता है। अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए सम्पूर्ण जगत का उपभोग करने की इस विकृत प्रवृत्ति के कारण ही जीव आध्यात्मिक जीवन के सिद्धान्तों को विकृत करने के लिए सन्नद्ध दिखता है, जिससे धार्मिक नियम, उसकी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के अनुकूल बन जाय। किन्तु धर्म का उद्देश्य, तो भगवान् के नियमों का पालन करते हुए उन्हें प्रसन्न करना है। इसीलिए भगवान् कृष्ण समय समय पर अपने चरणकमलों की भक्ति की सही विधि को पुनरुज्जीवित करने के लिए स्वयं आते हैं। *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् कृष्ण ने पृथ्वी पर अपनी अधिकांश लीलाएँ समाप्त कर ली थीं और अब वे अपने प्रस्थान की अन्तिम तैयारी कर रहे थे। इसलिए वे इस युग के जीवों के लिए स्पष्ट उपदेश छोड़ जाना चाहते थे कि तथाकथित धार्मिक व्यक्ति भले ही वह इतना उच्च हो कि उन्हीं के कुल में उत्पन्न हो भगवान् के शुद्ध भक्तों यथा नारद मुनि को दिये जाने वाले आदर तथा सम्मान का

उल्लंघन नहीं कर सकता। कृष्ण के शुद्ध भक्त की सेवा करने का सिद्धान्त आध्यात्मिक प्रगति के लिए इतना आवश्यक है कि भगवान् ने कलियुग के बद्धजीवों को यह बात बतलाने के लिए अपने समूचे वंश के विनाश की अचिन्त्य लीला सम्पन्न की।

श्रीमद्‌भागवतम् में उन संकटों की ओर इशारा किया गया है, जो भगवान् के लोप होने के बाद आयेंगे। ऐसे ही संकट श्री चैतन्य महाप्रभु के तिरोधान के बाद आए थे, क्योंकि गौड़ीय वैष्णव उन्हें साक्षात् कृष्ण मानते थे। *भागवतम्* अपनी विविध शिक्षाओं द्वारा धोखाधड़ी वाले उस छद्म धर्म को निकाल फेंकने के लिए कहती है, जो भगवान् के प्रस्थान के बाद मानव समाज में प्रचलित हो जाता है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपनी वदान्य लीलाओं द्वारा दक्षिण भारत से उन अप–सम्प्रदायों के झूठे सिद्धान्तों को, अथवा उन छद्म भक्तों की तथाकथित शिष्य–परंपरा को उखाड़ फेंका था, जिन्होंने बौद्धों तथा जैनों के नास्तिकतावादी सिद्धान्तों को ग्रहण करके अपने को प्रभावशाली बना रखा था। इस तरह महाप्रभु ने समूचे भारत को कृष्ण–भक्ति की ओर उन्मुख किया, जिससे चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायियों के विस्तृत प्रचार के कारण भगवद्‌भक्ति के अतिरिक्त इस विश्व में वार्ता का कोई अन्य विषय ही न रह पाये। त्रिदण्डिपाद प्रबोधानन्द सरस्वती ने अपने श्लोक *स्त्रीपुत्रादिकथां जहुर्विषयिन:* में इस तथ्य को विस्तार से लिखा है।

श्री नरहरि सरकार ठाकुर ने अपनी पुस्तक *कृष्णभजनामृत* में श्री चैतन्य महाप्रभु का अनुसरण करने का दावा करने वाले ग्यारह छद्म शिष्य परम्पराओं के गौरांगनागरी वादियों, सखीभेक वादियों इत्यादि के अनुचित कथनों को सुधारा है। ये अवैध व्यक्ति धर्म के बहाने धोखाधड़ी करते हैं और भगवान् की शुद्ध पूजा या *कथा* के नाम पर अपनी धोखेबाजी का विज्ञापन करते हैं। जिस तरह कृष्ण ने अपने ही परिवार को विनष्ट करने के लिए भीषण संघर्ष छेड़ दिया था, उसी तरह श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने प्रस्थान के बाद नाना प्रकार के मायावाद तथा कर्मवाद दर्शनों से सारे संसार को आप्लावित करा दिया। उन्होंने ऐसा इसलिए किया, जिससे ग्यारह अपसम्प्रदायों अथवा अवैध शिष्य–परंपराओं से सम्बद्ध लोग तथा अनेक अन्य अपसम्प्रदाय, जो भविष्य में पैदा हों, विनष्ट हो जाँय और वे श्री चैतन्य महाप्रभु के भक्त न कहला पायें। उसीके साथ साथ महाप्रभु ने अपने अनुयायियों को इन धोखेबाजों की

छद्म भक्ति से पृथक् रखने की भी व्यवस्था की। गौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु के भक्तगण भगवान् कृष्ण की लीलाओं में महाप्रभु की लीलाओं के रहस्य को ढूँढ़ सकते हैं। भगवान् के दिव्य शरीर की लीलाओं को सामान्य संसारी विधि से नहीं समझा जा सकता। यही इस अध्याय का सार है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''यदुवंश को शाप'' नामक पहले अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

नौ योगेन्द्रों से महाराज निमि की भेंट

इस अध्याय में नारद मुनि महाराज निमि तथा नौ योगेन्द्रों के बीच हुई वार्ता को श्रद्धालु तथा जिज्ञासु वसुदेव को सुनाकर भागवत धर्म की शिक्षा देते हैं।

भगवान् कृष्ण का दर्शन पाने के लिए परम इच्छुक देवर्षि नारद प्राय: द्वारका में ही रहते थे। पूर्वकाल में वसुदेव ने भगवान् की माया से मोहित होकर पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से भगवान् अनन्त की पूजा की थी, किन्तु मुक्ति के लिए पूजा करने से चूक गये थे।

एक बार नारद मुनि वसुदेव के घर पधारे। वसुदेव ने उचित आदर देकर उनकी पूजा की, उनका सादर सत्कार किया और उस शुद्ध भक्ति के विषय में सुनाने के लिए उनसे प्रार्थना की, जो सभी प्रकार के भयों से मुक्त करने वाली है। नारद ने वसुदेव की स्थिर मति की प्रशंसा की और विदेह-राज निमि तथा ऋषभदेव के पुत्र, नौ योगेन्द्रों के मध्य हुई वार्ता का पुराना इतिहास कह सुनाया।

स्वायंभुव मनु का पुत्र प्रियव्रत था। उसका पुत्र आग्निध्र था, जिसका पुत्र नाभि हुआ। नाभि के पुत्र रूप, वासुदेव के स्वांश रूप में, ऋषभदेव ने अवतार लिया। ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें से सबसे ज्येष्ठ पुत्र भरत था, जो नारायण का परम भक्त था, जिसके नाम पर यह पृथ्वी, भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके पूर्व वह अजनाभवर्ष कहलाती थी। ऋषभदेव के अन्य नौ पुत्र *नव योगेन्द्र* कहलाते थे—ये थे कवि, हविर्, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन। वे आत्मज्ञान में निपुण थे और अपने लक्ष्य में स्थिर थे तथा सिद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। ऋषभदेव के अन्य नौ पुत्रों ने क्षत्रिय धर्म स्वीकार किया और नवद्वीपों के स्वामी हुए, जिनसे मिलकर

भारतवर्ष बना था। उनके अन्य ८१ पुत्र श्रुतियों में पारंगत ब्राह्मण बने, जिन्होंने सकाम यज्ञ के मार्ग का प्रचार किया।

ये नौ योगेन्द्र बिना किसी बाधा के इच्छानुसार कहीं भी आ-जा सकते थे। ये भगवान् मधुसूदन के प्रत्यक्ष पार्षद थे और ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए मुक्तभाव से विचरण करते थे। मानव शरीर किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है, तो भी यह अतीव दुर्लभ उपलब्धि है। इससे भी दुर्लभ है इस मानव शरीर के होते हुए भगवान् के वैकुण्ठवासी विश्वस्त भक्तों की संगति। ऐसे सन्त-पुरुषों की संगति, चाहे क्षण के भी भिन्नांश के लिए क्यों न हो, जीव को सारे लाभ प्रदान करने वाली है। इसलिए राजा निमि ने नवों योगेन्द्रों को समुचित आसन प्रदान किया, उनकी पूजा की, उन्हें विनीत होकर नमस्कार किया और उनसे प्रसन्नतापूर्वक *भागवत धर्म* के विषय में पूछा। भागवत धर्म या शुद्ध भगवद्भक्ति आत्मा के लिए एकमात्र परम सौभाग्य है। ऐसी सेवा से प्रसन्न होकर भगवान् भक्त को आत्मसमर्पण कर देते हैं।

राजा के प्रश्न का उत्तर देने के लिए नौ योगेन्द्रों में से कवि इस प्रकार बोला, ‘‘प्रगति के वे साधन, जिनका वर्णन स्वयं भगवान् ने किया है और जिनके द्वारा मूर्खों को भी पूर्ण आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है, *भागवत धर्म* कहलाते हैं। यह भागवत् धर्म अच्युत भगवान् के चरणकमलों की सेवा के रूप में प्रकट होने वाला है और जीव के सारे भय का उन्मूलन करता है। इस भागवत धर्म का पालन करने पर यदि कोई व्यक्ति दोनों आँखें मूंद कर भी दौड़े, तो वह लड़खड़ायेगा नहीं और गिरेगा भी नहीं। मनुष्य अपने शरीर, मन, वचन, बुद्धि, चेतना, इन्द्रियों एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति इत्यादि से जो भी करता है, वह सब भगवान् नारायण को अर्पित किया जाना चाहिए। जो लोग भगवान् के चरणकमलों से प्रीति नहीं करते वे माया के वशीभूत हो जाते हैं। वे ईश्वर के स्वरूप को भूल जाते हैं और अपने को नश्वर शरीर मानने से माया के पाश में फँस जाते हैं। भौतिक आकर्षण के फेर में आकर वे अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं। इसलिए उनके लिए सबसे अच्छी बात यही है कि वे योग्य गुरु को अपना जीवन अर्पित कर दें और पूर्ण भक्ति के साथ माया के परम नियन्ता भगवान् की पूजा करें। जिस प्रकार भोजन करने से धीरे धीरे भूख बुझती है और हर कौर से सन्तोष मिलता है, उसी तरह शरणागत भक्त को कृष्ण के

अतिरिक्त अन्य प्रत्येक वस्तु से विरक्ति होने लगती है, भगवान् का साकार अनुभव होता है और साथ साथ भगवत्प्रेम का आस्वादन मिलता है।''

इसके बाद हविर् ने प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कोटि के भक्तों के लक्षण बतलाये। ''जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक भगवान् विष्णु के अर्चाविग्रह की नियमित पूजा करता है, किन्तु वैष्णवों के प्रति तथा विष्णु से सम्बन्धित वस्तुओं में अनुरक्ति नहीं रखता, वह भौतिकतावादी भक्त है। जो व्यक्ति भगवान् से प्रेम करता है, भगवद्भक्तों से मैत्री रखता है, अज्ञानियों पर दया दिखाता है और विष्णु तथा वैष्णवों के शत्रुओं के प्रति उदासीनता बरतता है, वह मध्यम भक्त है। और जो भक्त हर वस्तु में भगवान् की उपस्थिति देखता है और हर वस्तु को भगवान् के भीतर देखता है, वह सर्वोच्च भक्त है।'' प्रथम कोटि के भक्त का वर्णन आठ श्लोकों में हुआ है, जिनके अन्त में कहा गया है कि ऐसा प्रथम कोटि का भक्त भगवान् को सदैव प्रेम के बन्धन से अपने हृदय में बाँधे रखता है। भगवान् हरि ऐसे भक्त के हृदय से कभी दूर नहीं जाते।

श्रीशुक उवाच
गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुक ने कहा; गोविन्द—भगवान् गोविन्द की; भुज—बाहुओं से; गुप्तायाम्—सुरक्षित; द्वारवत्याम्—द्वारवती राजधानी में; कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ; अवात्सीत्—रह रहे; नारदः—नारद मुनि; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; कृष्ण-उपासन—कृष्ण की पूजा में लगे रहने की; लालसः—लालसा से।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे कुरुश्रेष्ठ, भगवान् कृष्ण की पूजा में संलग्न रहने के लिए उत्सुक नारद मुनि कुछ काल तक द्वारका में रहते रहे, जिसकी रक्षा गोविन्द सदैव अपनी बाहुओं से करते थे।

तात्पर्य : इस स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में नारद मुनि जिज्ञासु वसुदेव से *भागवत धर्म* की व्याख्या कर रहे हैं। नारद मुनि राजा निमि तथा जायन्तेय के मध्य हुई वार्ता का उद्धरण देते हैं। जीव गोस्वामी के अनुसार *अभीक्ष्णम्* शब्द सूचित करता है कि यद्यपि भगवान् कृष्ण नारद को प्रायः इधर-उधर विभिन्न लीलाओं के लिए, यथा संसार का समाचार जानने के लिए भेजते रहते थे, किन्तु नारद मुनि द्वारका में रहने के लिए लगातार लौट आते थे। *कृष्णोपासन लालसः* शब्द सूचित करते हैं कि नारद

भगवान् कृष्ण के निकट रहकर उनकी पूजा करते रहने के लिए परम उत्सुक रहते थे। दक्ष के शाप के कारण नारद को किसी स्थान में लगातार रहने की अनुमति नहीं है। किन्तु श्रीधर स्वामी ने संकेत किया है *न तस्यां शापादे: प्रभाव:*—द्वारका में शापों या अन्य ऐसी बुराइयों का कोई प्रभाव नहीं होता है, क्योंकि द्वारका भगवान् का धाम है और सदैव उनकी भुजाओं से रक्षित रहता है जैसाकि *गोविन्द-भुज-गुप्तायाम्* शब्दों से प्रकट है। बद्धजीव माया के साम्राज्य के अन्तर्गत प्रकृति के क्रूर नियमों के विरुद्ध यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से संघर्ष करते रहते हैं। किन्तु यदि इन्हीं बद्धजीवों को भगवान् की पुरी में द्वारका, मथुरा या वृन्दावन में प्रवेश करने का सौभाग्य मिलता है और वे भगवान् कृष्ण के सर्वशक्तिमान बाहुओं के प्रत्यक्ष संरक्षण में रहते हैं, तो वे असली जीवन के असीम आनन्द का अनुभव करेंगे, जो नित्य है और ईश्वर की निजी संगति में रहने के निमित्त है।

को नु राजन्निन्द्रियवान्मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्सन्देह; राजन्—हे राजा; इन्द्रिय-वान्—इन्द्रियों से युक्त; मुकुन्द-चरण-अम्बुजम्—भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों को; न भजेत्—नहीं पूजेगा; सर्वतः-मृत्युः—सभी ओर से मृत्यु का सामना करते हुए; उपाश्यम्—पूज्य; अमर-उत्तमैः—सर्वश्रेष्ठ मुक्त पुरुषों द्वारा।

हे राजन्, इस भौतिक जगत में बद्धजीवों को जीवन के पग-पग पर मृत्यु का सामना करना पड़ता है। इसलिए बद्धजीवों में ऐसा कौन होगा, जो बड़े से बड़े मुक्त पुरुष के लिए भी पूज्य भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की सेवा नहीं करेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *इन्द्रियवान्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है "इन्द्रियों से युक्त"। यद्यपि हम भौतिक जगत के भीतर बद्ध हैं, किन्तु भगवान् की कृपा से हमें मनुष्य शरीर मिला हुआ है, जिसमें विभिन्न इन्द्रियाँ होती हैं यथा, आँखें, कान, जीभ, नाक तथा त्वचा। सामान्यतया बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति के लिए इन इन्द्रियों का उपयोग भौतिक प्रकृति का शोषण करने के मिथ्या प्रयास में करते हैं। किन्तु हमारी भौतिक इन्द्रियाँ तथा उनके विषय क्षणिक हैं और माया द्वारा प्रदत्त इन क्षणिक विषयों से युक्त अपनी क्षणिक इन्द्रियों को तुष्ट करने के प्रयास में शान्त या सुखी रह पाना सम्भव नहीं है। वस्तुत: भौतिक इन्द्रियों को तुष्ट करने के हमारे अथक प्रयास अनिवार्य रूप से विपरीत परिणाम अर्थात् भौतिक कष्ट लाने वाले होते हैं। पुरुष स्त्री द्वारा आकृष्ट होता है। कामवासना जागृत होने से वह उसके साथ

विवाह कर लेता है और शीघ्र ही उसका परिवार बन जाता है, जिसे अधिकाधिक लालन-पालन करने की आवश्यकता होती है। इस तरह उसका निर्दोष तथा सरल जीवन समाप्त हो जाता है और वह अपने जीवन का अधिकांश अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने में गधे की तरह कठिन श्रम करते हुए व्यतीत करता है। *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कन्ध में भगवान् कपिल स्पष्ट बतलाते हैं कि आजीवन अथक कार्य करने के बावजूद परिवार के लोग पिता से असन्तुष्ट रहते हैं और जब थका-मांदा पिता वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, तो परिवार के चिढ़े हुए सदस्य उससे उसी तरह व्यवहार करते हैं, जिस तरह किसान अपने बूढ़े तथा अनुपयोगी बैल से करता है। कभी कभी पुत्रगण अपने पिता के धन को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करने के सपने देखते हैं और चुपके-चुपके उसके मरने की बाट जोहते हैं। आजकल लोग वृद्ध माता-पिता की शुश्रूषा करने के कष्ट से चिढ़ते हैं, अतएव उन्हें ऐसे संस्थानों में भेज देते हैं, जहाँ वे अपने तथाकथित प्रियजनों के लिए जीवन-भर कठोर श्रम करते रहने पर भी अकेले उपेक्षित मर जाते हैं। इंगलैड के एक डाक्टर का कष्ट-रहित-मृत्यु का सुझाव है कि जो वृद्ध व्यक्ति कार्य न कर सकें, उन्हें दवा देकर मार डाला जाय।

आजकल कुछ लोग भौतिक इन्द्रियतृप्ति की इच्छा करते हुए पारिवारिक जीवन की असुविधा से बचने की आशा से स्त्रियों के साथ "मुक्त" यौन सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं, जिससे विवाह की मुसीबत न उठानी पड़े। जन्म निरोध तथा गर्भपात द्वारा वे बच्चों के पालन-पोषण की झंझट से मुक्त हो लेते हैं। इस तरह बिना किसी भौतिक रुकावट के वे भौतिक इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लूटने की आशा करते हैं। किन्तु प्रकृति के नियमों के द्वारा ऐसे व्यक्ति भगवान् के प्रति अपने असली कर्तव्य से बचने एवं अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यों को बिना किसी विचार के हिंसा तथा कष्ट पहुँचाने के कारण पाप के जाल में बंध जाते हैं। अपवित्र कार्यों के जाल में बँधकर वे अपनी मूल शुद्ध चेतना से दूर होते जाते हैं और धीरे धीरे प्रकृति के नियमों को समझने की सारी शक्ति गँवा बैठते हैं। इसीलिए यहाँ पर *सर्वतोमृत्युः* कहा गया है। मृत्यु सहसा प्रकट होती है, जिससे ऐसे आश्वस्त इन्द्रियभोक्ता चौंक पड़ते हैं और मृत्यु उनके तथाकथित सारे भौतिक सुख के कार्यक्रमों को विनष्ट कर देती है। प्रायः ऐसे लोगों को भयानक रोग लग जाते हैं और उन्हें अकथनीय कष्ट भोगना पड़ता है, जिसका अन्त मृत्यु के साथ होता है। यदि कोई शुभेच्छु उनसे इन तथ्यों का संकेत करता है और उन्हें असलियत बताने का प्रयास

करता है, तो वे नाराज होकर उस पर धार्मिक मनचला या निराशावादी होने का दोषारोपण करते हैं। इस तरह से प्रकृति के नियमों की तनिक भी परवाह नहीं करते, जब तक कि ये नियम उसे ध्वस्त नहीं कर देते और उन्हें निराधार आशा के लोक से बाहर नहीं निकाल फेंकते। पापमय फलों के अत्यधिक संचयन के फलस्वरूप कर्म के नियमों द्वारा उन्हें महान् कष्ट भोगना पड़ता है। जीवन की निम्न योनियों में गिर कर वे स्थूल इन्द्रियों के परे सारी वस्तुओं की समस्त जागरूकता खो देते हैं।

कभी कभी जीव भौतिकतावादी इन्द्रियतृप्ति के दुखद प्रभाव को समझ पाता है। भौतिकतावादी जीवन की वेदना तथा कष्ट से हताश होकर तथा उच्चतर जीवन से अनजान होकर वह नव–बौद्ध दर्शन को ग्रहण करके तथाकथित शून्यवाद की शरण ढूँढ़ता है। किन्तु भगवान् के साम्राज्य में वास्तविक शून्य नहीं है। शून्य से तदाकार होने की इच्छा भौतिक पीड़ा के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है। यह ब्रह्म की कोई बोधगम्य धारणा नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि मेरे पाँव में असह्य पीड़ा हो और वह ठीक न की जा सके, तो अन्ततोगत्वा मैं अपना पाँव कटाने के लिए तैयार हो जाऊँ। किन्तु पीड़ा को हटाना और अपने पाँव को बनाये रखना अधिक उत्तम होगा। इसी तरह हम मिथ्या अहंकारवश सोचते हैं, ''मैं सर्वेसर्वा हूँ। मैं सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हूँ। मेरे बराबर कोई बुद्धिमान नहीं।'' इस तरह सोचते हुए हम निरन्तर कष्ट पाते हैं और गहन चिन्ता का अनुभव करते हैं। किन्तु ज्योंही हम अपने को कृष्ण का क्षुद्र नित्य दास स्वीकार करके अहंकार को हटा देते हैं, त्योंही हमारा अहंकार हमें महान् आनन्द प्रदान करता है।

वैकुण्ठ के स्वामी श्रीकृष्ण सदैव दिव्य आनन्द में निमग्न रहते हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं। भौतिकतावादी भोग में डूबे लोग सर्वव्यापक मृत्यु के नियमों से बँधे हैं, किन्तु यदि हम भगवान् की सेवा करने का प्रयास करें, तो हम तुरन्त उनकी *ह्लादिनी शक्ति* से जुड़ जाते हैं। यदि हम कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधि, गुरु, के मार्गदर्शन में उनकी सेवा करें, तो हमें भौतिक कष्ट से तुरन्त छुटकारा मिल सकता है। तब हम शून्य के पीछे नहीं दौड़े, अपितु भगवान् की सेवा में असीम आध्यात्मिक आनन्द का आस्वाद अनुभव करेंगे।

सर्वतोमृत्युः यह भी सूचित करता है कि जन्म तथा मृत्यु ब्रह्माण्ड के प्रत्येक लोक में हैं। अतएव हमारे ये तथाकथित अन्तरिक्ष यात्रा तथा विश्वचेतना व्यर्थ हैं, क्योंकि मौलिक जगत में कहीं भी नित्य जीवन नहीं है। अन्त में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सेवा में लगने की व्यर्थता को समझना

और नित्य तथा आनन्दमय की सेवा करना बुद्धि का सर्वोच्च विकास है। यद्यपि हमारी वर्तमान बुद्धि संकुचित है और प्रकृति के नियमों द्वारा बद्ध है, किन्तु नश्वर तथा व्यर्थ एवं नित्य तथा असली के मध्य भेद करना सीख कर भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके अपने लिए असीम सौभाग्य की सृष्टि कर सकते हैं।

तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् ।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एकदा—एक बार; तु—तथा; देव-ऋषिम्—देवताओं के बीच ऋषि, नारद को; वसुदेवः—कृष्ण के पिता वसुदेव ने; गृह-आगतम्—अपने घर पर आये हुए; अर्चितम्—सामग्री द्वारा पूजन किया; सुखम् आसीनम्—सुखपूर्वक बैठे हुए; अभिवाद्य—आदरपूर्वक सत्कार करके; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

एक दिन देवर्षि नारद वसुदेव के घर आये। उनकी उपयुक्त सामग्री से पूजा करके, सुखपूर्वक बिठाने तथा सादर प्रणाम करने के बाद वसुदेव इस प्रकार बोले।

श्रीवसुदेव उवाच
भगवन्भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् ।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने कहा; भगवन्—हे प्रभु; भवतः—आपका; यात्रा—आगमन; स्वस्तये—लाभ के लिए; सर्व-देहिनाम्—समस्त देहधारी प्राणियों के; कृपणानाम्—अत्यन्त दुखियारों के; यथा—जिस तरह; पित्रोः—पिता का; उत्तम-श्लोक—उत्तम श्लोकों से जिनकी प्रशंसा की जाती है, ऐसे भगवान्; वर्त्मनाम्—जो मार्ग पर स्थित हैं, उनके।

श्री वसुदेव ने कहा : हे प्रभु, जिस तरह पिता का आगमन उसके बच्चों के लिए लाभप्रद होता है, उसी तरह आपका आगमन सारे जीवों के लाभ के लिए है। आप उनमें से जो अत्यन्त दुखियारे हैं तथा साथ ही साथ वे जो उत्तमश्लोक भगवान् के पथ पर अग्रसर हैं, उनकी विशेष रूप से सहायता करते हैं।

तात्पर्य : वसुदेव यहाँ पर नारद मुनि की महिमा का वर्णन करते हैं। *कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्* पद महत्त्वपूर्ण है। *कृपणानाम्* द्योतक है अत्यन्त दीन-दुखियारों का तथा *उत्तमश्लोकवर्त्मनाम्* उन अत्यन्त भाग्यशालियों का जो कृष्णभावनामृत के मार्ग में अग्रसर हैं। श्रीधर स्वामी ने कहा है *तथा भगवद्रूपस्य भवतो यात्रा सर्वदेहिनां स्वस्तय इति। भगवद्रूपस्य* शब्द बताता है कि नारद मुनि भगवान् के अंश हैं, इसलिए उनके कार्य सारे जीवों के लिए अत्यन्त कल्याणप्रद हैं।

श्रीमद्‌भागवत के प्रथम स्कंध में नारद मुनि को भगवत्कृपा का मूर्तरूप बतलाया गया है। वहीं यह कहा गया है कि नारद को कृष्णभक्ति की कला का उपदेश देने की विशेष शक्ति प्रदत्त है। नारद मुनि बद्धजीवों को यह उपदेश देने में विशेष समर्थ हैं कि वे किस तरह अपने वर्तमान कार्यों को, अपने वर्तमान जीवन में किसी प्रकार का व्यतिक्रम उत्पन्न किये बिना ही, कृष्ण-भक्ति के साथ साथ सम्पन्न करें।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने *कृपण* शब्द की परिभाषा *बृहदाराण्यक उपनिषद* से (३.९.१०) उद्धरण देते हुए दी है। *एतद् अक्षरं गार्गि अविदित्वासमाल्लोकात् प्रैति स कृपणः*—हे गर्गाचार्य की पुत्री! जो व्यक्ति अच्युत ब्रह्म के विषय में कुछ जाने बिना ही इस संसार से चला जाता है, वह कृपण या कंजूस है। दूसरे शब्दों में, हमें मनुष्य-जीवन इसलिए प्रदान किया जाता है कि हम भगवान् के साथ अपने नित्य आनन्दमय सम्बन्ध को समझ सकें। जैसाकि इसी अध्याय के दूसरे श्लोक में *इन्द्रियवान्* शब्द द्वारा सूचित है मनुष्य-शरीर विशेष रूप से इसलिए मिला है कि हम भगवान् कृष्ण की सेवा कर सकें। यह मानव-शरीर सबसे बड़ा सौभाग्य है, क्योंकि मनुष्य की अत्यन्त विकसित बुद्धि, उस परम सत्य कृष्ण को समझ पाने में सक्षम बनाती है। यदि हम ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को नहीं समझ सकते, तो हमें न तो इस वर्तमान जीवन का कोई लाभ मिल पायेगा, न ही हम अन्यों को लाभ दे पायेंगे। जो व्यक्ति विशाल खजाना पा जाने पर उसका उपयोग न तो अपने लिए करता है, न अन्यों के सुख के लिए समर्पित करता है, वह कृपण या कंजूस कहलाता है। इसलिए ऐसा व्यक्ति जो यह समझे बिना कि वह ईश्वर का दास है इस संसार से चला जाता है, कृपण या कंजूस कहलाता है।

यह श्लोक बतलाता है कि नारद मुनि कृष्ण-भक्ति में इतने शक्तिसम्पन्न हैं कि वे कंजूस मूढ़ों या धूर्तों तक को उनके मोह से उबार सकते हैं, जिस तरह कोई दयालु पिता अपने बच्चे को जगाकर दुखदायी डरावने सपने से बचा लेता है। हमारा वर्तमान भौतिकतावादी जीवन एक दुखद स्वप्न के तुल्य है, जिससे नारद जैसे महात्मा ही हमें जगा सकते हैं। नारद मुनि इतने शक्तिशाली हैं कि पहले से कृष्ण-भक्ति में अग्रसर लोग भी उनके उपदेशों को जो *श्रीमद्‌भागवतम्* के ग्यारहवें स्कंध में यहाँ दिये जाएँगे, सुनकर अपनी आध्यात्मिक स्थिति को आगे बढ़ा सकते हैं। इसीलिए श्री नारद समस्त जीवों के

गुरु तथा पिता हैं। ये सारे जीव मूलत: भगवद्भक्त हैं, किन्तु सम्प्रति मनुष्यों, पशुओं इत्यादि के भौतिक शरीरों में भौतिक जगत का कृत्रिम रूप से भोग करने का प्रयास कर रहे हैं।

भूतानां देवचरितं दु:खाय च सुखाय च ।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—जीवों के; देव-चरितम्—देवताओं के कार्यकलाप; दु:खाय—दुख के लिए; च—भी; सुखाय—सुख में; च—तथा; सुखाय—सुख में; एव—केवल; हि—निस्सन्देह; साधूनाम्—सन्तों के; त्वादृशाम्—तुम्हारे समान; अच्युत—अच्युत भगवान्; आत्मनाम्—जिन्हें अपनी आत्मा के ही समान स्वीकार कर रखा है।

देवताओं के कार्यकलापों से जीवों को दुख तथा सुख दोनों प्राप्त होते हैं, किन्तु अच्युत भगवान् को अपनी आत्मा मानने वाले, आप जैसे महान् सन्तों के कार्यों से समस्त प्राणियों को केवल सुख ही प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि नारद मुनि जैसे शुद्ध भगवद्भक्तों को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर शासन करने के लिए परमेश्वर द्वारा शक्तिप्रदत्त जीवों अर्थात् देवताओं से भी बढ़कर मानना चाहिए। *भगवद्गीता* (३.१२) में कहा गया है :

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता: ।

तैर्दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स: ॥

"जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले विभिन्न देवता यज्ञ सम्पन्न होने पर प्रसन्न होकर तुम्हारी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। किन्तु जो इन उपहारों को बदले में देवताओं को अर्पित किये बिना भोगता है, वह निश्चित रूप से चोर है।" इस सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद ने देवताओं के विषय में यह टिप्पणी की है, "देवतागण सांसारिक कार्यों के लिए अधिकार-प्राप्त प्रशासक हैं। प्रत्येक जीव के शरीर तथा आत्मा का पालन करने के लिए आवश्यक वायु, प्रकाश, जल तथा अन्य सारे वरदान देवताओं के अधिकार में हैं, जो भगवान् के शरीर के विभिन्न भागों में असंख्य सहायकों के रूप में स्थित हैं। उनकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता मनुष्यों द्वारा सम्पन्न किये गये यज्ञों पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में, भगवान् की व्यवस्था के अनुसार, भौतिक सम्पन्नता देवताओं की प्रसन्नता पर निर्भर करती है। यदि देवतागण यज्ञ न करने से या उन्हें अनुचित ढंग से करने के कारण असन्तुष्ट रहते हैं, तो उन्हें मनुष्यों को विविध प्रकार के कष्ट प्रदान करने का अधिकार प्राप्त रहता है। सामान्यतया यह कष्ट

भौतिक आवश्यकताओं की अत्यधिक या अपर्याप्त आपूर्ति के रूप में होता है। उदाहरणार्थ, जीवन के लिए सूर्य की धूप आवश्यक है, किन्तु यदि सूर्य की उष्मा अत्यधिक या कम रहे तो हमें कष्ट होता है। अत्यधिक या अपर्याप्त वर्षा भी कष्ट का कारण बन जाती है। इस तरह यज्ञ की सम्पन्नता के अनुसार ही देवतागण मनुष्यों को सुख या दुख प्रदान करते हैं।

किन्तु जैसाकि यहाँ पर कहा गया है, नारद मुनि जैसे महान् सन्त-पुरुष (साधु) सदैव समस्त जीवों पर दयालु रहते हैं—

तितिक्षव: कारुणिका: सुहृद: सर्वदेहिनाम्।

अजातशत्रव: शान्त: साधव: साधुभूषणा: ॥

''साधु के लक्षण हैं कि वह सहिष्णु, दयालु तथा समस्त जीवों का मित्र होता है, उसका कोई शत्रु नहीं होता, वह प्रशान्त होता है, वह शास्त्रों का पालन करता है और उसके सारे लक्षण उदात्त होते हैं।'' (भागवत ३.२५.२१) श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका करते हुए *साधु* का चित्रण इस प्रकार किया है, ''*साधु* का जिस तरह ऊपर वर्णन हुआ है, वह भगवान् का भक्त होता है। अत: उसका मुख्य कार्य लोगों में भगवान् की भक्ति जगाना है। यह उसकी दया है। वह जानता है कि भगवान् की भक्ति के बिना मनुष्य-जीवन चौपट हो जाता है। भक्त संसार-भर में भ्रमण करके द्वार-द्वार जाकर उपदेश देता है कि ''कृष्ण-भक्त बनो, अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को ही पूरा करने में अपना जीवन नष्ट न करो। यह मानव-जीवन आत्म-साक्षात्कार या कृष्ण-भक्ति के लिए है।'' ये ही *साधु* के उपदेश हैं। वह अपने मोक्ष से सन्तुष्ट नहीं होता। वह सदैव अन्यों के विषय में सोचता रहता है। वह समस्त पतितात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु होता है। अत: उसका एक गुण है *कारुणिका* अर्थात् पतितात्माओं के प्रति करुणा या दया। उपदेश कार्य करते हुए उसे अनेक विरोधी तत्त्वों का सामना करना पड़ता है, अत: साधु या भगवद्भक्त को अत्यन्त सहिष्णु होना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति उसके साथ दुर्व्यवहार कर सकता है, क्योंकि बद्धजीव भक्ति के दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध नहीं होते। उन्हें यह पसन्द नहीं आता। यही उनका रोग है। साधु को भक्ति की महत्ता समझाने का अप्रशंसित कार्य करना होता है। कभी कभी भक्तों के ऊपर हिंसात्मक प्रहार भी होते हैं, जैसे कि जीसस क्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ा दिया गया। हरिदास ठाकुर को बाइस बाजारों में बेंत से पीटा गया और श्री चैतत्य महाप्रभु के प्रमुख सहायक

नित्यानन्द पर जगाई–मधाई ने विकट प्रहार किया। तो भी वे सब सहिष्णु बने रहे, क्योंकि उन्हें पतितों का उद्धार जो करना था। साधु का एक गुण यह है कि वह अत्याधिक सहिष्णु तथा पतितों के प्रति दयालु होता है। वह दयालु इसलिए होता है, क्योंकि वह समस्त जीवों का शुभचिन्तक है। वह न केवल मानव समाज का शुभचिन्तक होता है, अपितु पशु समाज का भी। यहाँ पर *सर्व–देहिनाम्* कहा गया है, जो उन समस्त जीवों का सूचक है, जिन्हें भौतिक शरीर मिले हुए हैं। न केवल मनुष्यों को भौतिक शरीर प्राप्त है, अपितु अन्य जीवों को भी, यथा कुत्तों, बिल्लियों को भी भौतिक शरीर प्राप्त हैं। भगवद्भक्त प्रत्येक जीव के प्रति दयालु होता है, चाहे वह कुत्ता हो या बिल्ली, वृक्ष हो या अन्य कुछ। वह समस्त जीवों के साथ ऐसा व्यवहार करते हैं, जिससे अन्तत: वे इस भवबन्धन से मोक्ष पा सकें। भगवान् चैतन्य के एक शिष्य शिवानन्द सेन ने एक कुत्ते के साथ आध्यात्मिकता का व्यवहार करके उसे मोक्ष दिलाया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें साधु की संगति से कुत्ते को मोक्ष प्राप्त हो सका, क्योंकि साधु समस्त जीवों के हितार्थ परोपकार में लगा रहता है। किसी से शत्रुता न रखने पर भी यह संसार इतना कृतघ्न है कि साधु के भी अनेक शत्रु बन जाते हैं।

एक शत्रु तथा मित्र में क्या अन्तर है? यह आचरण का अन्तर है। साधु सारे बद्धजीवों को भव–बन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए ही सबों के साथ आचरण करता है, अत: वह बद्धजीवों को मोक्ष दिलाने वाला सबसे बड़ा मित्र है। साधु शान्त होता है और शान्तिपूर्वक शास्त्रीय नियमों का पालन करता है और साथ ही साथ भगवद्भक्त होता है। जो वास्तव में शास्त्रीय नियमों का पालन करता है, उसे भगवद्भक्त होना चाहिए, क्योंकि सारे शास्त्रों का यही आदेश है कि भगवान् के आदेशों का पालन किया जाय। अत: *साधु* का अर्थ है शास्त्रों के आदेशों का पालन करने वाला तथा भगवान् का भक्त। भक्त में ये सारे गुण पाये जाते हैं। भक्त में देवताओं के सारे गुण विकसित होते हैं, किन्तु अभक्त में चाहे वह विद्या की दृष्टि से कितना ही योग्य क्यों न हो, दिव्य साक्षात्कार के मापदण्ड के अनुसार वास्तविक सद्गुणों या लक्षणों का अभाव रहता है।''

इसीलिए वसुदेव ने नारद मुनि के लिए *साधु* शब्द का प्रयोग किया है, जो यह बताता है कि भगवद्भक्त का पद देवताओं के पद से भी बढ़कर है।

भजन्ति ये यथा देवान्देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भजन्ति—पूजते हैं; ये—जो; यथा—जिस तरह; देवान्—देवताओं को; देवाः—देवतागण; अपि—भी; तथा एव—उसी तरह से; तान्—उनको; छाया—छाया में; इव—मानो; कर्म—भौतिक कर्म तथा उसके फल का; सचिवाः—अनुचर; साधवः—साधुगण; दीन-वत्सलाः—पतितों पर दयालु।

जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे भेंट (उपहार) के अनुसार देवताओं से वैसा ही फल पाते हैं। देवतागण कर्म के उसी तरह अनुचर हैं, जिस तरह मनुष्य की छाया मनुष्य की अनुचर है, किन्तु साधुगण सचमुच ही पतितों पर दयालु होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ *छायेव कर्मसचिवाः* पद महत्त्वपूर्ण है। शरीर की छाया शरीर की गतियों का अनुसरण करती है। छाया में वह शक्ति नहीं होती कि शरीर की गति से भिन्न प्रकार की गति कर सके। इसी प्रकार यह कथन है—*भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्*—देवतागण जीवों को जो फल देते हैं, वह जीवों के कर्मों के अनुसार होते हैं। देवतागण भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त होते हैं कि जीव को सुख तथा दुख प्रदान करने में वे जीव के कर्म का पूरी तरह से अनुसरण करें। जिस प्रकार छाया स्वतंत्र होकर गति नहीं कर सकती, उसी तरह देवता भी स्वतंत्र रूप से किसी जीव को दण्ड या पुरस्कार नहीं दे सकते। यद्यपि देवतागण पृथ्वी के मनुष्यों की तुलना में लाखों गुना शक्तिशाली होते हैं, किन्तु अन्ततः वे ईश्वर के क्षुद्र दास की तरह होते हैं, जिन्हें ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं की तरह कार्य करने की ईश्वर अनुमति देते हैं। *श्रीमद्भागवत* के चौथे स्कन्ध में भगवान् के शक्त्यावतार पृथु महाराज कहते हैं कि यदि देवतागण भगवान् के नियमों से विपथ होते हैं, तो वे भी ईश्वर द्वारा दण्ड के भागी बनते हैं। दूसरी ओर, नारद मुनि जैसे भगवद्भक्त अपने शक्तिशाली प्रचार-कार्य द्वारा जीव को अपना सकाम कर्म तथा मानसिक चिन्तन छोड़ने के लिए तथा भगवान् की शरण में जाने के लिए फुसलाकर जीव के *कर्म* में बाधा डाल सकते हैं। इस संसार में मनुष्य अज्ञान के पाश के अन्तर्गत कठिन श्रम करता है। किन्तु यदि वह शुद्ध भगवद्भक्त की संगति से जागृत हो जाता है, तो वह ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी वास्तविक स्थिति को समझ सकता है। ऐसी सेवा करके वह भवबन्धन को तथा अपने पूर्वकर्मों के फल को नष्ट कर देता है और शरणागत के रूप में उसे भगवान् की सेवा में असीम आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में *ब्रह्म-संहिता* का (५.५४) कहना है—

यस्त्विन्द्रगोपमथवेन्द्रमहो स्वकर्म-

बन्धानुरूपफलभाजनमातनोति ।

कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजां

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो भक्तों के समस्त सकाम कार्यों की जड़ को जला डालते हैं। जो कर्म के पथ पर चलते हैं, वे उन्हें उनके द्वारा पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के अनुसार निष्पक्ष भाव से कर्म का फल भोगने देते हैं, चाहे वह देवताओं का राजा इन्द्र हो या इन्द्रगोप नामक क्षुद्र कीट।'' देवतागण तक कर्म के नियमों से बँधे रहते हैं, किन्तु भगवान् का शुद्ध भक्त भौतिक भोग की इच्छा का पूरी तरह परित्याग करके कर्म के सभी चिह्नों को सफलतापूर्वक जलाकर क्षार कर डालता है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है कि जब तक मनुष्य भगवान् की भक्ति में शरणागत जीव की तरह संलग्न नहीं होता, तब तक उसे *निष्काम*—समस्त निजी इच्छाओं से मुक्त नहीं माना जा सकता। कभी कभी भौतिकतावादी व्यक्ति दान या परोपकार में लग कर अपने को निष्काम कर्ता मानता है। इसी प्रकार भगवान् के निर्विशेष ब्रह्म पक्ष में तदाकार होने के चरम लक्ष्य से मानसिक चिन्तन करने वाले भी अपने को निष्काम या कामनारहित विज्ञापित करते हैं। किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार ऐसे *कर्मी* तथा *ज्ञानी* अपने तथाकथित ''निष्काम भाव'' में लगे रहने पर भी वास्तव में कामवासनाओं के दास होते हैं। दूसरे शब्दों में, वे ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी स्थिति को सम्यक रीति से नहीं समझ पाते। परोपकारी कर्मी मिथ्या ही अपने को मानवता का सर्वश्रेष्ठ मित्र मानता है, यद्यपि वह अन्यों को वास्तविक लाभ दिला पाने में असमर्थ होता है, क्योंकि वह संसार के क्षणिक उन्माद के परे आनन्द तथा ज्ञान के नित्य जीवन से अनजान रहता है। इसी तरह यद्यपि ज्ञानी अपने को गर्व से ईश्वर घोषित करता है और अन्यों को भी ईश्वर बनने का न्यौता देता है, किन्तु वह यह बताने से कतराता रहता है कि ये तथाकथित ईश्वर किस तरह प्रकृति के नियमों से बँधे होते हैं। वास्तव में ईश्वर बनने का प्रयास ईश-प्रेम पर आधारित न होकर ईश्वर जैसा ही पद ग्रहण करने की इच्छा पर आधारित होता है। दूसरे शब्दों में, सभी तरह से ब्रह्म तुल्य बनने की इच्छा दूसरी तरह की एक भौतिकतावादी इच्छा है। इसीलिए कर्मी तथा ज्ञानीजन अपनी स्वयं की इच्छाओं को पूरा करने

के कुत्रिम प्रयत्नों में अपनी असंतुष्टि के कारण पतितात्माओं पर वास्तविक दया नहीं दिखला सकते, क्योंकि वे अपनी इच्छाओं को पूरा करने के कृत्रिम प्रयासों में लगे रहते हैं तथा तुष्ट नहीं हो पाते। इस सन्दर्भ में श्री मध्वाचार्य ने *उद्दाम संहिता* से यह उद्धरण दिया है—

सुखम् इच्छन्ति भूतानां प्रायो दुःखासहा नृणाम्।

तथापि तेभ्यः प्रवरा देवा एव हरेः प्रियाः॥

''ऋषिगण समस्त प्राणियों के लिए सुख की कामना करते हैं और मनुष्यों के दुख को सहने में लगभग सदा असमर्थ होते हैं। तो भी देवतागण श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे भगवान् हरि को अत्यन्त प्रिय हैं।'' यद्यपि श्रील मध्वाचार्य ने देवताओं को दयालु ऋषियों की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान किया है, किन्तु श्रील जीव गोस्वामी ने कहा है *साधुवस्तु न कर्मानुगताः* साधुगण देवताओं से श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि वे बद्धजीवों के पुण्य या पापमय कार्यों का विचार किये बिना दयालु होते हैं। मध्वाचार्य तथा श्रील जीव गोस्वामी के इस ऊपरी मतभेद का निपटारा भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने किया है। वे यह इंगित करते हैं कि श्रील मध्वाचार्य के कथन में *ऋषि* शब्द कर्मियों तथा ज्ञानियों में से तथाकथित साधुओं का सूचक है। सामान्य कर्मी तथा ज्ञानीजन अपने को नैतिकता तथा परोपकार के शिखर पर मानते हैं। किन्तु भगवान् के चरम पद से अनजान होने के कारण वे देवताओं के तुल्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि देवतागण भगवद्भक्त होते हैं और इस तथ्य से अवगत होते हैं कि सारे जीव भगवान् के नित्य दास हैं। किन्तु ऐसे देवता भी नारद जैसे शुद्ध भक्तों के तुलनीय नहीं हैं। ऐसे शुद्ध भक्तों को पुण्यात्मा तथा पापी जीवों को जीवन की चरम सिद्धि प्रदान करने का अधिकार प्राप्त रहता है—जीवों को ऐसे शुद्ध भक्तों के आदेशों का केवल पालन करना होता है।

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान्भागवतांस्तव ।
यान्श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात् ॥ ७॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; **तथा अपि**—इतने पर भी (यद्यपि आपके दर्शनों से ही मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ); **पृच्छामः**—मैं पूछ रहा हूँ; **धर्मान्**—धार्मिक कर्तव्यों को; **भागवतान्**—जो विशेष रुप से भगवान् को प्रसन्न करने के निमित्त हैं; **तव**—तुमसे; **यान्**—जिन्हें; **श्रुत्वा**—सुनकर; **श्रद्धया**—श्रद्धापूर्वक; **मर्त्यः**—जिसका मरण निश्चित है; **मुच्यते**—छूट जाता है; **सर्वतः**—समस्त; **भयात्**—भय से।

हे ब्राह्मण, यद्यपि मैं आपके दर्शन मात्र से सन्तुष्ट हूँ, तो भी आपसे मैं उन कर्तव्यों के विषय में पूछना चाहता हूँ, जो भगवान् को आनन्द प्रदान करने वाले हैं। जो भी मर्त्य प्राणी इनके विषय में श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है, वह समस्त प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार नारद मुनि वसुदेव को उपदेश देने में हिचकिचा रहे होंगे, क्योंकि कृष्ण के पिता होने से वे वसुदेव के उच्च पद का सहज आदर कर रहे थे। नारद ने सोचा होगा कि वसुदेव पहले से कृष्णभावनामृत में दक्ष हैं, अतएव उन्हें भक्ति की विधि का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए, नारद की सम्भावित हिचक को भाँपकर ही, वसुदेव ने नारद से कृष्ण-भक्ति के विषय में उपदेश देने का विशेष अनुरोध किया। यह शुद्ध भक्त का लक्षण है। कृष्ण का शुद्ध भक्त कभी भी अपने को उच्च नहीं मानता, अपितु वह विनीत भाव से अनुभव करता है कि उसकी भक्ति अत्यन्त अपूर्ण है। किन्तु किसी तरह भगवान् कृष्ण अपनी अहैतुकी कृपावश, ऐसी अपूर्ण सेवा को स्वीकार कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु ने *शिक्षाष्टक* (३) में कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

''अपने को सड़क के तृण से भी तुच्छ मानते हुए, मनुष्य मन की विनीत अवस्था में भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन कर सकता है। उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित होना चाहिए, और अन्यों को सभी प्रकार से सम्मान देने के लिए तैयार रहना चाहिए।'' इस भौतिक जगत में बद्धजीव अपने तथाकथित वंश को लेकर मिथ्या गर्वित रहते हैं। यह गर्व मिथ्या है क्योंकि इस भौतिक जगत में जिसने भी जन्म लिया है, वह पतित अवस्था में होता है, भले ही वह कितनी ही अच्छी स्थिति में क्यों न हो। किन्तु वसुदेव, निश्चित ही पतित नहीं थे, क्योंकि उनका जन्म कृष्ण के परिवार में हुआ था। चूँकि वे कृष्ण के पिता थे, अतएव उनका पद अत्युच्च था, किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण वे कृष्ण के साथ विशिष्ट सम्बन्ध होने पर भी गर्वित नहीं थे। विपरीत इसके, अपने को आध्यात्मिक ज्ञान में न्यून मानकर, उन्होंने कृष्णभावनामृत के महान् उपदेशक नारद मुनि के आगमन का लाभ उठाने की दृष्टि से, तुरन्त ही उनसे भक्ति के विषय में जिज्ञासा प्रकट की। कृष्ण के

शुद्ध भक्त की यह अतुलनीय विनम्रता निर्विशेषवादी की उस मिथ्या विनम्रता से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जो ऊपर से विनीत साधु-व्यक्ति का आचरण करते हुए ईश्वर के समतुल्य बनने की इच्छा रखता है।

भयम् की उत्पत्ति कृष्ण से नहीं, अपितु किसी अन्य वस्तु को देखने से होती है (*द्वितीयाभिनिवेशत:*)। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है (*जन्माद्यस्य यत:*) तथा *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*अहं सर्वस्य प्रभव:, वसुदेव: सर्वमिति—*) प्रत्येक वस्तु वास्तव में भगवान् से ही उदभूत होती है। कृष्ण प्रत्येक जीव के शुभैषी मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। यदि जीव भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने का दिग्भ्रमित प्रयास छोड़ देता है और भगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है, तो निस्सन्देह, उसे कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध का दृढ़ विश्वास हो जाता है। शरणागत व्यक्ति वास्तव में अनुभव करता है कि कृष्ण उसके शुभैषी मित्र हैं, और चूँकि वह मित्र सारे जगत का परम नियन्ता होता है, अतएव भय का कोई कारण नहीं रहता। धनी पुरुष का पुत्र अपने पिता की जागीर में दौरा करते समय आश्वस्त रहता है। इसी तरह अधिकारप्रदत्त सरकारी प्रतिनिधि अपने कर्तव्य को सम्पन्न करने में आश्वस्त रहता है। इसी प्रकार, कृष्ण का भक्त भी, भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में आश्वस्त रहता है, क्योंकि वह हर क्षण समझता रहता है कि समग्र भौतिक तथा आध्यात्मिक सृष्टि उसके उदार स्वामी के नियंत्रण में है। किन्तु अभक्त व्यक्ति, कृष्ण के पद को नहीं मानता और वह उसे कृष्ण से भिन्न रूप में कल्पना करता है। उदाहरणार्थ, यदि सरकारी सेवक सोचता है कि कोई ऐसी खतरनाक अड़चन आन पड़ी है, जिसे सरकारी शक्ति से वश में नहीं किया जा सकता, तो वह भयभीत हो उठता है। यदि कोई बच्चा यह सोचता है कि ऐसी भी कोई शक्ति है, जिसे उसका पिता नहीं दबा सकता, तो वह भयभीत हो जाता है। इसी तरह से, क्योंकि हम कृत्रिम रूप से यह सोचते हैं कि इस जगत में कुछ बातें ऐसी हैं, जो शुभेच्छु भगवान् के पूर्ण नियंत्रण में नहीं हैं, हम भयभीत हो उठते हैं। द्वितीय वस्तु की (कृष्ण के अतिरिक्त) ऐसी धारणा *द्वितीयाभिनिवेश* कहलाती है, जो तुरन्त ही *भयम्* का वातावरण उत्पन्न कर देती है। कृष्ण *अभयंकर* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे अपने भक्त के हृदय के सारे भय को विनष्ट कर देते हैं।

कभी कभी अनेक वर्षों तक निर्विशेषवादी चिन्तन तथा भौतिकतावादी, जीवन के भोग के पश्चात् किंकर्तव्यविमूढ़ हुए तथाकथित विद्वान भयभीत तथा चिन्तातुर हो उठते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त

सरस्वती ऐसे विचलित दार्शनिकों की तुलना *छान्दोग्य उपनिषद्* में वर्णित बद्ध गिद्ध से करते हैं। ऐसे चिन्तक भय से मुक्ति की कामना करते हुए दुर्भाग्य से काल्पनिक मोक्ष (*विमुक्तमानिन:*) को गढ़ लेते हैं और निर्विशेष या शून्य की शरण लेने का प्रयास करते हैं। किन्तु *भागवत* (१०.२.३२) में कहा गया है *आरुह्य कृच्छ्रेण परंपदं तत: । पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय:* क्योंकि ऐसे चिन्तक भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को नकारने की अपनी मूल त्रुटि को ठीक नहीं कर पाये हैं, अत: वे अपनी मनगढंत मुक्ति से नीचे गिरकर भयभीत अवस्था में रहते जाते हैं। किन्तु, वसुदेव कृष्ण की भक्ति के विषय में अधिकाधिक सुनने के लिए खुले तौर पर उत्सुक हैं, इसीलिए कहते हैं *यान् श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात्*—कृष्ण की शुद्ध भक्ति के विषय में केवल श्रवण करने से बद्धजीव सभी प्रकार के भय से मुक्त हो सकता है और यह दिव्य स्वतंत्रता निश्चय ही नित्य है।

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम् ।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; किल—निस्सन्देह; पुर—बहुत काल पूर्व; अनन्तम्—भगवान्, जो अनन्त हैं; प्रजा-अर्थ:—सन्तान की कामना करते हुए; भुवि—पृथ्वी पर; मुक्ति-दम्—मुक्ति देने वाले, भगवान्; अपूजयम्—मैंने पूजा की; न मोक्षाय—मुक्ति के लिए नहीं; मोहित:—मोहग्रस्त; देव-मायया—भगवान् की माया द्वारा।

इस पृथ्वी पर मैंने अपने पूर्वजन्म में मुक्तिप्रदाता भगवान् अनन्त की पूजा तो की, किन्तु मैं सन्तान का इच्छुक था, अतएव मैंने उनकी पूजा मुक्ति के लिए नहीं की थी। इस तरह मैं भगवान् की माया से मोहग्रस्त था।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार *किल* (जिसका अर्थ "निस्सन्देह यह सत्य है," "यह कहा जाता है" या कि "जैसा विदित है" होता है) शब्द सूचित करता है कि वसुदेव उन शब्दों को स्मरण कर रहे थे, जिन्हें भगवान् ने उनसे अपने विष्णु के चतुर्भुजी रूप में कंस के बन्दीगृह में प्रकट होकर कहा था। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि वसुदेव की चिन्ता से, जो कि इस श्लोक में *अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया* शब्दों से व्यक्त होती है, यह पता चलता है कि यदुवंश को पिण्डारक में ब्राह्मणों ने जो शाप दिया था, उसे वसुदेव ने सुन रखा था और इससे वे समझ सकते थे कि भगवान् का इस संसार से तिरोधान आसन्न है। वसुदेव समझ गये कि इस ब्रह्माण्ड में भगवान् की व्यक्त लीलाओं

की इति होने वाली है, इसलिए अब वे पश्चात्ताप कर रहे थे कि उन्होंने कृष्ण की पूजा करने के सुअवसर का लाभ सीधे भगवद्धाम वापस जाने के लिए क्यों नहीं उठाया।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वसुदेव ने भगवान् के लिए *मुक्तिदम्* शब्द का प्रयोग किया है। *मुक्तिदम्* तथा मुकुन्द पर्यायवाची हैं, जिनके अर्थ हैं जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति दिलाने वाला। वैदिक वाङ्मय में कहा गया है कि देवता तक जन्म-मृत्यु के चक्र से बँधे हैं, यद्यपि पार्थिव गणना से उनकी आयु कल्पनातीत दीर्घ है। सर्वशक्तिमान ईश्वर ही बद्धजीव को उसके पूर्व पापों के फल से मुक्त कर सकते हैं और वे ही आनन्द तथा ज्ञान से युक्त नित्य जीवन प्रदान करने वाले हैं।

वसुदेव को पश्चाताप हो रहा था कि उन्होंने भगवान् कृष्ण से भगवद्धाम जाकर वैकुण्ठ में उनकी सेवा करने की चाह के बजाय कृष्ण को अपने पुत्र रुप में पाने की इच्छा व्यक्त की थी। *श्रीमद्भागवतम्* के दसवें स्कन्ध की इस घटना पर टीका करते हुए श्रील प्रभुपाद ने बलपूर्वक कहा है कि हमें भगवान् को पुत्र रूप में इस पृथ्वी पर लाने का प्रयास न करके भगवद्धाम वापस जाने की इच्छा करनी चाहिए। न ही हम वसुदेव तथा देवकी के समान हजारों दिव्य वर्षों तक कठिन तपस्या का कृत्रिम रूप से अनुकरण कर सकते हैं, जिसे उन्होंने सुतपा तथा पृश्नि के रूप में अपने पूर्वजन्म में किया था। इसी सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''यदि हम भगवान् को इसी भौतिक जगत में अपने बीच देखना चाहते हैं, तो इसके लिए महान् तपस्या की आवश्यकता होगी। किन्तु यदि हम कृष्ण के पास लौट जाना चाहते हैं (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*), तो हमें उन्हें केवल जानने और उनसे प्रेम करने की आवश्यकता होगी। केवल प्रेम द्वारा ही हम भगवद्धाम वापस जा सकते हैं।'' श्रील प्रभुपाद आगे बतलाते हैं कि चैतन्य महाप्रभु मुक्त-भाव से कृष्ण-प्रेम का वर देते हैं, जिससे मनुष्य हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करके कृष्ण के धाम वापस जा सकता है। इस युग में यह कीर्तन-विधि कठिन तपस्या करने के कृत्रिम प्रयासों से कहीं अधिक प्रभावशाली है। श्रील प्रभुपाद अन्त में लिखते हैं, ''अतएव, किसी को हजारों वर्षों तक कठिन तपस्या करने की आवश्यकता नहीं है। उसे केवल इतना ही सीखना होगा कि कृष्ण से कैसे प्रेम किया जाय और उनकी सेवा में कैसे सदैव व्यस्त रहा जाय (*सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः*)। तब मनुष्य आसानी से भगवद्धाम वापस जा सकता है। भगवान् को किसी भौतिक प्रयोजन के लिए यथा पुत्र प्राप्ति आदि के लिए यहाँ लाने की अपेक्षा, यदि

हम भगवद्धाम वापस जाय, तो भगवान् से हमारा असली सम्बन्ध प्रकट होगा और हम शाश्वत रूप से अपने नित्य सम्बन्ध में लगे रहेंगे। हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से हम धीरे धीरे परम पुरुष के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को विकसित करते हैं और *स्वरूपसिद्धि* प्राप्त कर सकते हैं। हमें इस वर का लाभ उठाकर भगवद्धाम वापस जाना चाहिए।" (भागवत १०.३.३८ तात्पर्य)

यद्यपि वसुदेव तथा देवकी ने चाहा था कि कृष्ण उनके पुत्र बनें, किन्तु यह समझना होगा कि ऐसे भी भक्त हैं, जो कृष्ण से शाश्वत प्रेम करते हैं। जैसाकि भगवान् ने स्वयं कहा है (भागवत १०.३.३९) *मोहितौ देवमायया*—भगवान् के शुद्ध भक्त वसुदेव तथा देवकी उनकी अन्तरंगा शक्ति से प्रच्छन्न थे। *श्रीमद्भागवतम्* के चौथे स्कन्ध (४.१.२०) में अत्रि मुनि ने भगवान् से प्रार्थना की *प्रजां आत्मसमां मह्यं प्रयच्छतु*—कृपया मुझे अपने ही समान पुत्र प्रदान करने के लिए प्रसन्न हों। अत्रि मुनि ने कहा कि उन्हें भगवान् के *समान* ही पुत्र चाहिए, अतएव वे शुद्ध भक्त नहीं थे, क्योंकि वे भौतिक इच्छा की पूर्ति चाहते थे। यदि उन्होंने भगवान् को ही अपने पुत्र रूप में चाहा होता, तो वे भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त रहते, क्योंकि उन्होंने तब परम सत्य को पाने की इच्छा की होती, किन्तु उन्होंने उन जैसा पुत्र चाहा, इसलिए उनकी इच्छा भौतिक थी। फलतः अत्रि मुनि की गणना शुद्ध भक्तों में नहीं की जा सकती। किन्तु वसुदेव तथा देवकी ने भगवान् को ही चाहा था, अतएव वे भगवान् के शुद्ध भक्त थे। इसलिए इस श्लोक में वसुदेव के कथन *अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया* का यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति ने वसुदेव को मोह लिया, जिससे उन्होंने कृष्ण को अपने पुत्र रूप में चाहा। इससे भगवान् को अपने प्रिय भक्तों के पुत्र रूप में प्रकट होने का मार्ग प्रशस्त हो सका।

यथा विचित्रव्यसनाद्भवद्भिर्विश्वतोभयात् ।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिससे; **विचित्र-व्यसनात्**—विभिन्न खतरों से पूर्ण; **भवद्भिः**—आपके ही कारण से; **विश्वतः-भयात्**—(इस जगत से) जो प्रत्येक ओर से भयावह है; **मुच्येम**—मुक्त हो सकूँ; **हि**—निस्सन्देह; **अञ्जसा**—आसानी से; **एव**—भी; **अद्धा**—प्रत्यक्षतः; **तथा**—इस तरह; **नः**—हमको; **शाधि**—कृपया आदेश दें; **सु-व्रत**—हे अपने व्रत के सच्चे।

हे प्रभु, आप सदैव अपने व्रत पर खरे उतरते हैं। कृपया मुझे स्पष्ट आदेश दें, जिससे आपकी दया से मैं अपने को इस संसार से आसानी से मुक्त कर सकूँ, जो अनेक संकटों से पूर्ण है और हमें सदैव भय से बाँधे रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *मुच्येम* शब्द सार्थक है। पिछले श्लोक में वसुदेव ने कहा है कि चूँकि वे भगवान् की माया से मोहग्रस्त थे, अतएव भगवान् से मुक्ति का वर नहीं प्राप्त कर सके। इसलिए अब वे भगवान् के शुद्ध भक्त से कह रहे हैं और आश्वस्त हैं कि भगवद्भक्त की कृपा से उन्हें भवबन्धन से निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त हो सकेगा।

इस सन्दर्भ में *अञ्जसा* (सरलतापूर्वक) तथा *अद्धा* (प्रत्यक्षत:) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि मूर्ख लोग भगवान् के शुद्ध भक्त को गुरु रूप में स्वीकार किये बिना, भगवान् के समक्ष बड़े गर्व से कूद-फाँदकर पहुँच जाना चाहते हैं, किन्तु जो आत्मज्ञान के अनुभवी हैं, वे जानते हैं कि शुद्ध भक्त के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करके तथा सेवा करके भगवान् से सीधा सम्पर्क प्राप्त किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* (११.१७.२७) में भगवान् कृष्ण ने कहा है *आचार्यं मां विजानीयान् नावमन्येत कर्हिचित्।* इस तरह मनुष्य को यह समझना होगा कि कृष्ण का शुद्ध भक्त भगवान् जैसे ही आध्यात्मिक स्तर को प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शुद्ध भक्त भी ईश्वर होता है, बल्कि भगवान् के साथ घनिष्ठ प्रेममय सम्बन्ध के कारण वह भगवान् को आत्मवत् स्वीकार्य होता है। दूसरे शब्दों में, कृष्ण सदैव अपने शुद्ध भक्त के हृदय में रहते हैं और शुद्ध भक्त सदैव कृष्ण के हृदय में वास करते हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण शाश्वत भगवान् हैं और अद्वितीय हैं, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्त को पूजित होते देखकर अधिक प्रसन्न होते हैं। इसीलिए वे कहते हैं *आचार्यं मां विजानीयात्।* मनुष्य को चाहिए कि वैष्णव-आचार्य को वही सम्मान प्रदान करे, जो वह भगवान् को प्रदान करता है। इसलिए ज्योंही कोई व्यक्ति वैष्णव-गुरु को प्रसन्न कर लेता है, त्योंही वह कृष्ण को प्रसन्न कर लेता है और आध्यात्मिक प्रगति करने लगता है। *अञ्जसा* शब्द का अर्थ है कि यह प्रामाणिक विधि ही आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करने की सरलतम विधि है। और चूँकि शुद्ध भक्त पारदर्शी माध्यम है, इसलिए *अद्धा* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे यह सूचित होता है कि शुद्ध भक्तों के प्रति की गई सेवा प्रत्यक्ष रीति से कृष्ण के चरणकमलों

तक पहुँचती है, जबकि प्रामाणिक गुरु को छोड़कर मनमाने ढंग से की गई कृष्ण की सेवा स्वीकार नहीं होती और व्यर्थ जाती है।

जो सचमुच ही सर्वोच्च सिद्धि चाहते हैं, जो कि कृष्ण के नित्य आनन्दमय धाम वापस जाने में है, उन्हें चाहिए कि इन दो श्लोकों में श्री वसुदेव ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसका ध्यान से अध्ययन करें। वे यह इंगित करते हैं कि यद्यपि भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा करने से मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु नारद जैसे कृष्ण के शुद्ध भक्त तथा उच्च वैष्णव संत के एक क्षण के सान्निध्य से जीवन में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *विश्वतोभयात्* शब्द सूचित करता है कि वसुदेव ब्राह्मणों के शाप से अत्यन्त भयभीत थे। जिस तरह वैष्णवों की पूजा करके मनुष्य पूर्ण (सिद्ध) बन सकता है, उसी तरह उन्हें अप्रसन्न करने पर दुर्भाग्य भी प्राप्त कर सकता है। इसलिए पिण्डारक तीर्थ में ब्राह्मणों द्वारा दिये गये शाप से वसुदेव अत्यधिक भयभीत थे।

श्रीशुक उवाच
राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता ।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; राजन्—हे राजा; एवम्—इस प्रकार; कृत-प्रश्नः—पूछे जाने के बाद; वसुदेवेन—वसुदेव द्वारा; धीमता—बुद्धिमान; प्रीतः—प्रसन्न; तम्—उनसे; आह—बोला; देव-ऋषिः—देवताओं में ऋषि; हरेः—भगवान् हरि के; संस्मारितः—स्मरण कराने वाले; गुणैः—गुणों के द्वारा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, देवर्षि नारद अत्यन्त बुद्धिमान वसुदेव के प्रश्नों से अतीव प्रसन्न हुए। चूँकि वे प्रश्न भगवान् के दिव्य गुणों का स्मरण कराने वाले थे, अतएव उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आया। अतः नारद ने वसुदेव को इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीनारद उवाच
सम्यगेतद्व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ।
यत्पृच्छसे भागवतान्धर्मांस्त्वं विश्वभावनान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; सम्यक्—सही सही; एतत्—यह; व्यवसितम्—निश्चय, संकल्प; भवता—आपके द्वारा; सात्वत-ऋषभ—हे सात्वत वंश के सर्वश्रेष्ठ; यत्—चूँकि; पृच्छसे—पूछ रहे हो; भागवतान् धर्मान्—भगवान् के प्रति कर्तव्यों को; त्वम्—तुम; विश्व-भावनान्—समस्त विश्व को शुद्ध (पवित्र) कर सकने वाले।

श्री नारद ने कहा : हे सात्वत-श्रेष्ठ, तुमने ठीक ही भगवान् के प्रति जीव के शाश्वत कर्तव्य के विषय में मुझसे पूछा है। भगवान् के प्रति ऐसी भक्ति इतनी शक्तिशाली होती है कि इसके करने से सारा विश्व पवित्र हो सकता है।

तात्पर्य : द्वितीय स्कन्ध के प्रथम श्लोक में ऐसी ही बात श्री शुकदेव गोस्वामी ने कही थी, जब उन्होंने परीक्षित महाराज को कृष्ण के विषय में जिज्ञासा करने के लिए बधाई दी थी।

वरीयान् एष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप।

आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः॥

"हे राजन्! आपका प्रश्न इतना श्रेष्ठ है कि यह सभी प्रकार के लोगों के लिए लाभप्रद है। इस प्रश्न का उत्तर सुनने योग्य है और इसका अनुमोदन सारे अध्यात्मवादियों ने किया है।"

इसी प्रकार श्रील सूत गोस्वामी ने नैमिषारण्य के जिज्ञासु मुनियों को निम्नलिखित शब्दों में बधाई दी—

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्।

यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति॥

"हे मुनियो! आप लोगों ने मुझसे बहुत अच्छा प्रश्न पूछा है। आपके प्रश्न श्रेष्ठता-युक्त हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से है, अतएव वे विश्व के कल्याण से सम्बन्धित हैं। केवल इस तरह के प्रश्नों से आत्मा पूरी तरह तुष्ट हो सकता है।" (भागवत १.२.५)

अब नारद वसुदेव द्वारा पूछी गई भक्ति-विधि के विषय में उत्तर देंगे। आगे चलकर इस वार्ता के अन्त में वसुदेव के त्रुटिपूर्ण मनोभावों के उत्तर देंगे।

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्रुतः—सुना हुआ; अनुपठितः—बाद में सुनाया गया; ध्यातः—ध्यान किया हुआ; आदृतः—श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया गया; वा—अथवा; अनुमोदितः—अन्यों द्वारा किये जाने पर प्रशंसित; सद्यः—तुरन्त; पुनाति—पवित्र कर देता है; सत्-धर्मः—शुद्ध भक्ति; देव—देवताओं को; विश्व—तथा ब्रह्माण्ड को; द्रुहः—घृणा से भरे हुए; अपि हि—भी।.

भगवान् के प्रति की गई शुद्ध भक्ति आध्यात्मिक रूप से इतनी प्रबल होती है कि ऐसी दिव्य सेवा के विषय में मात्र सुनने, सुनकर इसकी महिमा का गायन करने, इसका ध्यान करने,

आदरपूर्वक तथा श्रद्धापूर्वक इसे स्वीकार करने या अन्यों की भक्ति की प्रशंसा करने से, वे मनुष्य भी तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं, जो देवताओं से तथा अन्य सारे जीवों से घृणा करते हैं।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है कि *सद्धर्म* शब्द *भागवत-धर्म* का द्योतक है। श्रीधर स्वामी ने भी इसकी पुष्टि की है। *भागवत धर्म* आध्यात्मिक दृष्टि से इतना प्रबल होता है कि ऐसे लोग भी, जो सांसारिक मापदण्ड से कई तरह से पापपूर्ण आचरण में फँस जाते हैं, इस श्लोक में वर्णित किसी भी विधि को ग्रहण करने से सरलतापूर्वक पवित्र बनाये जा सकते हैं। सामान्य पुण्य प्रथा में, मनुष्य अपनी सेवा के बदले कुछ न कुछ प्राप्त करने की आशा से ईश्वर की पूजा करता है। इसी प्रकार निर्विशेषवादी अपनी मुक्ति के लिए आकांक्षा करता है और ऐसी इच्छा करते हुए यह सोचता रहता है कि वह ईश्वर के तुल्य बन जायेगा। किन्तु *भागवत धर्म* में ऐसी अशुद्धि नहीं पाई जाती। भागवत धर्म ऐसी भगवद्भक्ति है, जिसमें एकमात्र लक्ष्य ईश्वर की तुष्टि रहती है। यदि कोई व्यक्ति इस विधि को ठुकरा कर श्रवण करना, शिक्षा देना या अन्य विधि पर ध्यान करना चाहता है, तो शुद्धि का अवसर तुरन्त हाथ से निकल जाता है।

न तो सामान्य भौतिकतावादी योग-विधियाँ, जो योगशक्ति प्राप्त करने के लिए होती हैं, न ही चिन्तन पर आधारित निर्विशेष विधियाँ इतनी शक्तिसम्पन्न होती हैं कि वे पापपूर्ण आचरण में गिरे हुओं को तुरन्त ही शुद्ध कर दें। *सद्धर्म* या *भागवत धर्म* इस मामले में अद्वितीय हैं कि सबसे अधिक पतितात्मा भी कृष्ण के या उनके शुद्ध भक्त के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके सर्वोच्च सिद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है। चैतन्य महाप्रभु के उपदेश-कार्य में, विशेषकर जगाई तथा माधाई नामक पापी भाइयों के मामले में इसका विशद प्रदर्शन हुआ है।

त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम्हारे द्वारा; **परम**—सर्वाधिक; **कल्याणः**—आनन्दपूर्ण; **पुण्य**—अत्यन्त पवित्र; **श्रवण**—सुनना; **कीर्तनः**—तथा कीर्तन (किसके विषय में); **स्मारितः**—स्मरण कराया गया; **भगवान्**—भगवान्; **अद्य**—आज; **देवः नारायणः**—भगवान् नारायण; **मम**—मेरे।

आपने आज मुझे अपने प्रभु, परम आनन्दमय भगवान् नारायण का स्मरण करा दिया। परमेश्वर इतने कल्याणमय हैं कि जो कोई भी उनका श्रवण एवं कीर्तन करता है, वह पूरी तरह से पवित्र बन जाता है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने कहा है *नारायणस्तादृशधर्मे मदीय गुरुरूपो नारायणर्षिः।* इस श्लोक में *नारायण* शब्द नारायण ऋषि के अवतार का द्योतक है, जिन्होंने इस धर्म में नारद के गुरु की भूमिका निभाई। श्रील जीव गोस्वामी ने यह भी संकेत किया है *स्मारितइति कृष्णोपासनावेशेन तस्यापि विस्मरणात्। स्मारित* शब्द का अर्थ है "उसका स्मरण हो आता है"। यह शब्द सूचित करता है कि कृष्ण की पूजा में लीन होने से नारद नर-नारायण को भूल गये थे। दूसरे शब्दों में, यदि भक्ति में गहन व्यस्तता किसी व्यक्ति को कभी-कभी भगवान् का विस्मरण करा देती है, तो कृष्ण की व्यवस्था से ऐसे निष्ठावान सेवक को फिर से भगवान् का स्मरण कराया जायेगा।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥ १४॥

शब्दार्थ

अत्र अपि—इस मामले (भागवत धर्म का वर्णन करने) में; उदाहरन्ति—उदाहरण दिया जाता है; इमम्—यह; इतिहासम्—ऐतिहासिक वृत्तान्त; पुरातनम्—प्राचीन; आर्षभाणाम्—ऋषभ-पुत्रों का; च—तथा; संवादम्—वार्ता; विदेहस्य—विदेह के राजा जनक से; महा-आत्मनः—विशाल हृदय वाला आत्मा।.

भगवान् की भक्तिमय सेवा की व्याख्या करने के लिए मुनियों ने महात्मा राजा विदेह तथा ऋषभ-पुत्रों के मध्य हुई वार्ता का प्राचीन इतिहास सुनाया है।

तात्पर्य : यहाँ पर *इतिहासम् पुरातनम्* "प्राचीन ऐतिहासिक वृतांत" शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *श्रीमद्भागवत निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्*—अर्थात वैदिक ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष का पका हुआ फल। *भागवत* के पृष्ठों में हमें भगवान् तथा बद्धजीवों के मोक्ष से सम्बन्धित वास्तविक ऐतिहासिक कथाएँ मिलती हैं। ये ऐतिहासिक विवरण न तो गल्प हैं, न पौराणिक कथाएँ, अपितु भगवान् तथा उनके भक्तों के अद्भुत कार्यकलापों का वर्णन करते हैं, जो इस निम्न युग के आगमन के पूर्ववर्ती युगों में घटित हुईं। यद्यपि संसारी विद्वानों ने *भागवत* को पौराणिक कथाकृति या अर्वाचीनकृति के रूप में अंकित करने का प्रयास किया है, लेकिन वास्तविक तथ्य यह है कि *श्रीमद्भागवत* पूर्ण-दिव्य वाङ्मय है, जिसमें भौतिक एवं दिव्य लोकों में, न केवल इस ब्रह्माण्ड की समूची स्थिति का वर्णन हुआ है, अपितु

इस ब्रह्माण्ड से परे स्थित ब्रह्माण्ड का भी वर्णन हुआ है। यदि कोई व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करे, तो वह अत्यन्त विद्वान आध्यात्मवेत्ता बन सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते हैं कि सारे पुण्यात्मा *श्रीमद्भागवत* सुनकर उच्च कोटि के विद्वान बनें और तब सारे विश्व में भगवान् की महिमा का वैज्ञानिक ढंग से प्रचार करें। यह अनिवार्य है कि हम नव-योगेन्द्रों तथा राजा विदेह के मध्य हुई वार्ताओं जैसी ऐतिहासिक कथाएँ पूर्ण श्रद्धा तथा विनयपूर्वक सुनें। तब जैसाकि इस अध्याय के श्लोक १२ में कहा गया है, यदि हमारा पूर्वजन्म घृणित कार्यों से पूर्ण भी रहा हो, तो हम *श्रीमद्भागवत* के श्रवण मात्र से भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों जैसे दिव्य पद को प्राप्त हो सकेंगे। यह *भागवत* इतिहास की अद्वितीय शक्ति है, जो उन व्यर्थ के संसारी ऐतिहासिक विवरणों के सर्वथा विपरीत है, जिनसे अन्ततः कोई उद्देश्य पूरा नहीं होता। यद्यपि संसारी इतिहासकार अपने कार्य के औचित्य की पुष्टि इस दलील से करते हैं कि हमें इतिहास से शिक्षा मिलती है, किन्तु हम स्पष्ट देख सकते हैं कि आज संसार की स्थिति इतनी तेजी से बिगड़ रही है कि असह्य संघर्ष तथा अव्यवस्था फैली हुई है और तथाकथित इतिहासकार विवश होकर देख रहे हैं। किन्तु जिन *भागवत*-इतिहासकारों ने *श्रीमद्भागवत* का श्रद्धापूर्वक श्रवण किया है, वे शान्त तथा आनन्दमय संसार की पुनर्प्राप्ति के लिए सम्यक तथा जीवन्त उपदेश दे सकते हैं। इसलिए जो लोग इतिहास के द्वारा अपने बौद्धिक जीवन को सम्पन्न बनाना चाहते हैं, उन्हें *श्रीमद्भागवत* की ऐतिहासिक कथाएँ पढ़नी चाहिए। इससे उनके बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता प्राप्त हो सकेगी।

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिरृषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रतः—महाराज प्रियव्रत; नाम—नामक; सुतः—पुत्र; मनोः स्वायम्भुवस्य—स्वायम्भुव मनु का; यः—जो; तस्य—उसका; आग्नीध्रः—आग्नीध्र (पुत्र था); ततः—उससे (आग्नीध्र से); नाभिः—राजा नाभि; ऋषभः—भगवान् ऋषभदेव; तत्-सुतः—उसका पुत्र; स्मृतः—स्मरण किया जाता है।

स्वायम्भुव मनु को महाराज प्रियव्रत नामक पुत्र हुआ और प्रियव्रत के पुत्रों में से आग्नीध्र था, जिससे नाभि उत्पन्न हुआ। नाभि का पुत्र ऋषभदेव कहलाया।

तात्पर्य : इस श्लोक में ऋषभदेव के पुत्रों की वंशावली की पृष्ठ-भूमि दी हुई है।

**तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्ब्रह्मपारगम् ॥ १६ ॥**

शब्दार्थ

तम्—उसे; आहुः—कहते हैं; वासुदेव-अंशम्—भगवान् वासुदेव का अंश; मोक्ष-धर्म—मोक्ष प्राप्त करने की विधि; विवक्षया—शिक्षा देने की इच्छा से; अवतीर्णम्—इस संसार में प्रकट हुआ; सुत—पुत्र; शतम्—एक सौ; तस्य—उसके; आसीत्—थे; ब्रह्म—वेदों के; पार-गम्—पूर्णतया आत्मसात करने वाले।

श्री ऋषभदेव को भगवान् वासुदेव का अंश माना जाता है। उन्होंने इस जगत में उन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रसार करने के लिए अवतार लिया था, जिनसे जीवों को चरम मोक्ष प्राप्त होता है। उनके एक सौ पुत्र थे, वे सभी वैदिक ज्ञान में पारंगत थे।

**तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥ १७ ॥**

शब्दार्थ

तेषाम्—उनमें से; वै—दरअसल; भरतः—भरत; ज्येष्ठः—सबसे बड़ा; नारायण-परायणः—भगवान् नारायण का भक्त; विख्यातम्—प्रसिद्ध है; वर्षम्—लोक; एतत्—यह; यत्-नाम्ना—जिसके नाम पर; भारतम्—भारतवर्ष; अद्भुतम्—अद्भुत।

भगवान् ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों में से सबसे ज्येष्ठ भरत थे, जो भगवान् नारायण के प्रति पूर्णतया समर्पित थे। भरत की ख्याति के कारण ही यह लोक अब महान् भारतवर्ष के नाम से विख्यात है।

**स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम् ।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जनृभिस्त्रिभिः ॥ १८ ॥**

शब्दार्थ

सः—वह; भुक्त—भोगे गये; भोगाम्—आनन्दों को; त्यक्त्वा—त्याग कर; इमाम्—इस (पृथ्वी) के; निर्गतः—घर छोड़कर; तपसा—तपस्या से; हरिम्—भगवान् हरि को; उपासीनः—पूजा करके; तत्-पदवीम्—उसका गन्तव्य; लेभे—प्राप्त किया; वै—निस्सन्देह; जन्मभिः—जन्मों में; त्रिभिः—तीन।

राजा भरत ने सारे भौतिक आनन्द को क्षणिक तथा व्यर्थ मानते हुए इस जगत का परित्याग कर दिया। अपनी सुन्दर युवा पत्नी तथा परिवार को छोड़कर उन्होंने कठोर तपस्या द्वारा भगवान् की पूजा की और तीन जन्मों के बाद भगवद्धाम प्राप्त किया।

तात्पर्य : भरत के तीन जन्मों तक राजा के रूप में, मृग के रूप में तथा उच्च परमहंस भक्त के रूप में पूर्ण विवरण *श्रीमद्भागवत* के पाँचवें स्कन्ध में दिया हुआ है।

तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः ।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन (ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों) में से; नव—नौ; नव-द्वीप—नौ द्वीपों के (जिनमें भारतवर्ष बना है); पतयः—स्वामी; अस्य—इस वर्ष के; समन्ततः—इसे पूरी तरह से समेटते हुए; कर्म-तन्त्र—सकाम वैदिक यज्ञों के मार्ग के; प्रणेतारः—प्रणेता, प्रारम्भ करने वाले; एकाशीतिः—इक्यासी; द्वि-जातयः—द्विज ब्राह्मण।

ऋषभदेव के शेष पुत्रों में से नौ पुत्र भारतवर्ष के नौ द्वीपों के शासक बने। और उन्होंने इस लोक पर पूर्ण आधिपत्य जमाया। शेष इक्यासी पुत्र द्विज ब्राह्मण बन गये और उन्होंने सकाम यज्ञों (कर्मकाण्ड) के वैदिक मार्ग का शुभारम्भ करने में सहायता की।

तात्पर्य : ऋषभदेव के नौ पुत्रों द्वारा जिन नौ द्वीपों पर शासन चलाया गया वे जम्बूद्वीप के नौ *वर्ष* थे—ये हैं भारत, किन्नर, हरि, कुरु, हिरण्मय, रम्यक, इलावृत, भद्राश्व तथा केतुमाल।

नवाभवन्महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः ।
श्रमणा वातरसना आत्मविद्याविशारदाः ॥ २० ॥
कविर्हविरन्तरीक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

नव—नौ; अभवन्—थे; महा-भागाः—अत्यन्त भाग्यवान; मुनयः—मुनि; हि—निस्सन्देह; अर्थ-शंसिनः—परब्रह्म की व्याख्या करने में लगे हुए; श्रमणाः—इस तरह महान् प्रयास करते हुए; वात-रसनाः—वायु ओढ़े हुए (नंगे); आत्म-विद्या—आध्यात्मिक विज्ञान में; विशारदाः—विद्वान; कविः हविः अन्तरीक्षः—कवि, हविर्, तथा अन्तरीक्ष; प्रबुद्धः पिप्पलायनः—प्रबुद्ध तथा पिप्पलायन; आविर्होत्रः—आविर्होत्र; अथ—भी; द्रुमिलः—द्रुमिल; चमसः करभाजनः—चमस तथा करभाजन।

ऋषभदेव के शेष नौ पुत्र अत्यन्त भाग्यशाली मुनि थे, जिन्होंने परम सत्य के ज्ञान का विस्तार करने के लिए घोर परिश्रम किया। वे नंगे रहकर इधर-उधर विचरण करते थे और आध्यात्मिक विज्ञान में अतीव दक्ष थे। इनके नाम थे—कवि, हविर्, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन।

तात्पर्य : विदेहराज निमि ने ऋषभदेव के साधु-पुत्रों, नौ योगेन्द्रों से निम्नलिखित नौ प्रश्न पूछे थे (१) सर्वोच्च शुभ क्या है? (२.३०); (२) धर्म, स्वभाव, आचार, वाक्य तथा भागवत के लक्षण क्या हैं? (२.४४); (३) भगवान् विष्णु की बहिरंगा शक्ति क्या है? (३.१); (४) इस माया से कैसे विलग हुआ जा सकता है? (३.१७); (५) ब्रह्म की असली पहचान क्या है? (३.३४); (६) कर्म के तीन प्रकार अर्थात् सकाम कर्म के फल-भोग पर आधारित कर्म, भगवान् को अर्पित कर्म तथा नैष्कर्म्य

कौन-कौन से हैं? (३.४१); (७) ईश्वर के विभिन्न अवतारों की कौन-कौन सी लीलाएँ हैं? (४.१); (८) भगवान् के विरोधी तथा भक्ति से विहीन (दूसरे शब्दों में अभक्त का)? का गन्तव्य क्या है (५.१); तथा (९) चारों युगावतारों के वर्ण, रूप तथा नाम क्या हैं और उनके पूजन की विधि क्या है? (५.१९)

इन प्रश्नों के दिव्य उत्तर महान् भक्तों कवि, हविर्, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन द्वारा दिये गये। इन नवो परमहंसों ने बारी-बारी से नवों प्रश्नों के उत्तर दिये, जो निम्नलिखित श्लोकों में प्राप्त हैं(१) २.३३-४३, (२) २.४५-५५, (३) ३.३-१६, (४) ३.१८-३३, (५) ३.३५-४०, (६) ३.४३-५५, (७) ४.२-२३, (८) ५.२-१८ तथा (९) ५.२०-४२।

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन्महीम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ते एते—ये (नवों योगेन्द्र); भगवत्—भगवान् के; रूपम्—रूप; विश्वम्—समस्त ब्रह्माण्ड को; सत्-असत्-आत्मकम्—स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों से युक्त; आत्मनः—आत्मा से; अव्यतिरेकेण—अभिन्न; पश्यन्तः—देखते हुए; व्यचरन्—घूमते थे; महीम्—पृथ्वी पर।

ये मुनि, समस्त ब्रह्माण्ड को इसके सारे स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों सहित, भगवान् के प्राकट्य के रूप में तथा आत्मा से अभिन्न देखते हुए पृथ्वी पर विचरण करते थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में तथा इसके आगे वाले श्लोक में स्पष्ट दिखलाया गया है कि ऋषभदेव के नौ साधु-सदृश पुत्र, जो *नव-योगेन्द्र* नाम से विख्यात थे, *पारमहंस्यचरितम्* नामक आध्यात्मिक सिद्धि की उच्चतम अवस्था में स्थित थे अर्थात् परमहंस के लक्षणों से युक्त थे। दूसरे शब्दों में, वे सब शुद्ध भगवद्भक्त थे। श्रीधर स्वामी तथा जीव गोस्वामी के अनुसार *आत्मनोऽव्यतिरेकेण* शब्द सूचित करते हैं कि नव-योगेन्द्र ब्रह्माण्ड को अपने से तथा साथ साथ परमात्मा, भगवान् कृष्ण से अभिन्न देखते थे। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इसके अतिरिक्त यह टीका की है *आत्मन: परमात्मन: सकाशाद् अव्यतिरेकेण, विश्वस्य तच्छक्तिमयत्वाद् इति भाव:* "*आत्मन:* परमात्मा का सूचक है। यह ब्रह्माण्ड भगवान् या परमात्मा से अभिन्न है, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उन्हीं की शक्ति से बना हुआ है।"

यद्यपि यहाँ पर उल्लेख हुआ है कि ब्रह्माण्ड जीव तथा भगवान् दोनों से अभिन्न है, किन्तु किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि जीव या परमेश्वर भौतिक है। वैदिक नीति कहती है *असंगो ह्ययं पुरुष:* जीव तथा भगवान् को इस भौतिक जगत से कोई सरोकार नहीं है। यही नहीं, *भगवद्गीता* कहती है कि आठ सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्वों से युक्त सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से भगवान् की *भिन्ना प्रकृति* या *अपरा प्रकृति*—पृथक्, निकृष्ट शक्ति—बनती है। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा है कि उन्होंने ईश-लोक में अपना नित्य धाम स्थापित किया है, जहाँ जीवन नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है और ईश्वर का अंशरूप जीव भी नित्य है (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*)। यही नहीं, भगवान् के इस नित्यलोक में एक बार पहुँचकर जीव इस नश्वर जगत में फिर कभी नहीं लौटता (*यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम*)।

इसलिए यह पूछा जा सकता है कि जीव तथा भगवान् को भौतिक जगत से अभिन्न क्यों कहा गया है? इस प्रश्न का बहुत ही सुन्दर उत्तर नारद मुनि द्वारा *श्रीमद्भागवत्* के प्रथम स्कन्ध में दिया गया है। (१.५.२०) *इदं हि विश्वं भगवान् इवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा:* ''भगवान् स्वयं ही यह विश्व हैं, फिर भी वे इससे पृथक् हैं। उन्हीं से ही यह विश्व उद्भूत हुआ है, उन्हीं पर टिका है और प्रलय के बाद उन्हीं में प्रवेश करता है।'' नारद के इस कथन पर टीका करते हुए श्रील प्रभुपाद ने इस नाजुक दार्शनिक विन्दु की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है ''शुद्ध भक्त के लिए मुकुन्द या भगवान् श्रीकृष्ण की धारणा सगुण तथा निर्गुण दोनों है। निराकार विश्वस्थिति भी मुकुन्द है, क्योंकि यह मुकुन्द की शक्ति का ही प्राकट्य है। उदाहरणार्थ, वृक्ष अपने में पूर्ण इकाई है, लेकिन पत्तियाँ तथा शाखाएँ वृक्ष के अंश (अंग) स्वरूप हैं। वे भी वृक्ष हैं, लेकिन वृक्ष स्वयं न तो पत्तियाँ है, न शाखाएँ। वेदों का यह कथन कि समस्त दृश्य जगत ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह बताता है कि चूँकि प्रत्येक वस्तु परब्रह्म से उद्भूत है, अतएव उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार अंगरूप हाथ तथा पाँव शरीर कहलाते हैं, लेकिन पूर्ण इकाई के रूप में शरीर न तो हाथ है, न पाँव। भगवान् तो दिव्य सच्चिदानन्द रूप हैं, अतएव भगवान् की शक्ति की सृष्टि भी अंशत: सच्चिदानन्द स्वरूप प्रतीत होती है।

वैदिक कथन के अनुसार भगवान् स्वभावत: पूर्ण शक्तिमान हैं और इस प्रकार उनकी परम शक्तियाँ सदैव पूर्ण तथा उनसे अभिन्न होती हैं। आध्यात्मिक तथा भौतिक आकाश एवं इन दोनों की सामग्रियाँ

भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों की अभिव्यक्तियाँ हैं। बहिरंगा शक्ति अपेक्षतया निकृष्ट है और अन्तरंगा शक्ति श्रेष्ठ (परा) है। यह पराशक्ति जीवनी शक्ति है अतएव यह पूर्णतया (भगवान् से) अभिन्न है, लेकिन बहिरंगा शक्ति निष्क्रिय होने के कारण केवल अंशत: अभिन्न है। किन्तु ये दोनों ही शक्तियाँ न तो समस्त शक्तियों के जनक भगवान् के समान हैं, न उनसे बढ़कर हैं। ऐसी शक्तियाँ सदैव उनके अधीन होती हैं, जिस प्रकार कि विद्युत् शक्ति, चाहे वह कितनी ही बलशाली क्यों न हो, सदैव इंजीनियर के वश में होती है।

''मनुष्य तथा अन्य प्राणी उन्हीं भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से उत्पन्न हैं। इस प्रकार जीव भी भगवान् से अभिन्न हैं। किन्तु वह कभी भी न तो भगवान् के तुल्य है और न उनसे बढ़कर।''

श्रील प्रभुपाद ने यहाँ यह स्पष्ट बतलाया है कि विराट जगत तथा जीव दोनों परमेश्वर से उद्भूत हैं—जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में तथा *श्रीमद्भागवत* के इस प्रारम्भिक कथन *जन्माद्यस्य यत:*—परब्रह्म वह है, जिससे हर वस्तु उद्भूत है—से पुष्टि होती है। इसी प्रकार *ईशोपनिषद्* का कथन है—

ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

परमेश्वर *पूर्ण* हैं और चूँकि यह जगत उनकी शक्ति का प्राकट्य है, इसलिए यह भी *पूर्ण* प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में चूँकि यह भौतिक जगत भगवान् से उद्भूत है, अत: यह उनसे अभिन्न है, ठीक वैसे ही जैसे कि सूर्य की किरणें सूर्य-मण्डल से अभिन्न हैं, जो उन किरणों का उद्गम स्रोत है। इसी प्रकार सारे जीव भी, जो कि भगवान् की पराशक्ति के अंश हैं, कृष्ण से अभिन्न हैं, यद्यपि यह अभिन्नता गुणात्मक है, मात्रात्मक नहीं। अंगूठी और कंगन जैसे स्वर्ण आभूषणों में पाया जाने वाला स्वर्ण खान में पाये जाने वाले स्वर्ण से गुणात्मक रीति से अभिन्न है, किन्तु खान में पाया जाने वाला स्वर्ण मात्रा की दृष्टि से कंगन अथवा अंगूठी में पाये जाने वाले स्वर्ण की तुच्छ मात्रा से कहीं श्रेष्ठ होता है। इसी प्रकार, यद्यपि हम गुणात्मक दृष्टि से ईश्वर के ही समरूप हैं, किन्तु उनकी असीम शक्ति से उद्भूत होने से हम मात्रा की दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म तथा भगवान् की परम शक्ति के नित्य अधीन हैं। इसीलिए भगवान् *विभु* अर्थात् असीम शक्तिमान कहलाते हैं और हम *अणु* अर्थात् सूक्ष्म तथा आश्रित होते हैं। इसकी और अधिक पुष्टि वैदिक वाङ्मय के इस कथन से होती है *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम/एको बहूनां यो*

विदधाति कामान् (कठ उपनिषद् २.२.१३)। ऐसे असंख्य नित्य जीव हैं, जो परम एकाकी आत्मा, परमेश्वर पर सनातन रुप से तथा पूर्णरूपेण अधीन हैं। यह अधीनता भौतिक जगत द्वारा उत्पन्न माया नहीं, जैसाकि निर्विशेषवादी बतलाते हैं, प्रत्युत यह सनातन सम्बन्ध है जिसमें भगवान् सदैव श्रेष्ठ रहते हैं और हम सदैव तुच्छ। भगवान् नित्य स्वतंत्र हैं और हम नित्य अधीन। भगवान् अपने में नित्य चरम हैं और हम उनके नित्य सम्बन्धी हैं।

यद्यपि भगवान् अन्य किसी जीव से या सभी जीवों को मिला करके अतीव महान् हैं, किन्तु हर जीव भगवान् से गुणात्मक रूप से अभिन्न है क्योंकि सारे जीव उनके अंश रूप हैं (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*) इस प्रकार, एक तरह से, जीव भौतिक जगत से भिन्न नहीं है, जो भगवान् की कनिष्ठा शक्ति है। जीव तथा भौतिक-प्रकृति दोनों ही *प्रकृति* हैं या *परम पुरुष* के स्त्रीवाचक आश्रित अंश हैं। अन्तर इतना ही है कि जीव भगवान् की श्रेष्ठ शक्ति है, क्योंकि जीव भगवान् की ही तरह चेतन तथा सनातन है, जबकि भौतिक शक्ति भगवान् की निकृष्ट शक्ति हैं, जो चेतना रहित तथा नित्य-स्वरूप से रहित है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने जोर देते हुए कहा है कि परम वस्तु तो एक है और वह परमात्मा कहलाती है। जब किसी को परमात्मा का थोड़ा भी दर्शन मिल जाता है, तो उसकी जीवन की जानकारी *आत्म-दर्शन* या आत्म-साक्षात्कार कहलाती है। जब इस आंशिक जानकारी का अभाव होता है, तो उसका अस्तित्व *अनात्म-दर्शन*—या अपने विषय में अज्ञान कहलाता है। आत्मा से परमात्मा का अन्तर जाने बिना परमात्मा के आंशिक दर्शन में जीव को अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि का गर्व हो सकता है, वह मनोरथ में बह सकता है और अपने को सभी प्रकार से ईश्वर के तुल्य मान सकता है। किन्तु *अनात्म-दर्शन* या भौतिक अज्ञान को प्राप्त जीव यह अनुभव करता है कि वह परमेश्वर से पूर्णतया भिन्न है और चूँकि हर व्यक्ति इस जगत में अपने में ही रुचि लेता है, इसलिए जीव यह सोचकर कि ईश्वर उससे सर्वथा भिन्न है, और उसमें तथा ईश्वर में विशेष सम्बन्ध नहीं है, ईश्वर को भूल जाता है। इस तरह निर्विशेष अध्यात्मवादी ईश्वर तथा जीव के एकत्व पर ही बल देते हैं, जबकि सामान्य भौतिकतावादीजन ईश्वर तथा जीव के अन्तर पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट बतलाया है कि परब्रह्म एक-साथ—एक तथा भिन्न है (*अचिन्त्य भेदाभेद*

तत्त्व)। वस्तुत: हम ईश्वर से शाश्वत रूप से भिन्न हैं। चूँकि ईश्वर तथा जीव शाश्वत रूप से पृथक्-पृथक् जीव हैं, अतएव उनमें नित्य सम्बन्ध की सम्भावना रहती हैं। और चूँकि हर जीव गुणात्मक रूप से परमेश्वर से अभिन्न है, अतएव यह सम्बन्ध हर जीव के लिए चरम सत्य का सार है। *चैतन्य चरितामृत* (मध्य २०.१०८) में कहा गया है *जीवेर स्वरूप' हय—कृष्णेर नित्यदास'* प्रत्येक जीव का परम आवश्यक स्वरूप ईश्वर के सेवक रूप में भगवान् से उसका सम्बन्ध है।

यदि कोई यह समझ ले कि वह भगवान् का नित्य दास है, तो वह यह सही ढंग से समझ सकता है कि जीव तथा भौतिक जगत दोनों ही कृष्ण से अभिन्न हैं, क्योंकि वे उनसे अद्‌भुत हैं, अतएव वे एक दूसरे से भी अभिन्न हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने कहा है, ''यह भौतिक जगत एकसाथ भेदाभेद तत्त्व की अभिव्यक्ति है और परमेश्वर का स्वरूप है। इस प्रकार नश्वर, क्षणिक एवं सदैव परिवर्तनशील भौतिक जगत वैकुण्ठ से अर्थात नित्य जगत से भिन्न है।''

इस श्लोक में ध्यान देने की बात है कि *सद्-असद्-आत्मकम्* शब्द भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुओं के द्योतक नहीं हैं। यह जगत *सत्* तथा *असत्* अर्थात् सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक वस्तुओं से बना हुआ बतलाया जाता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ''व्यक्त जगत के भीतर अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था अव्यक्त कहलाती है और व्यक्त जगत के परे जो जगत है, वह 'दिव्य' कहलाता है। व्यक्त को घेरने वाले आवरणों के भीतर, काल के क्षेत्र में, जगत की वह अवस्था होती है, जिसका अनुभव नियामक देवों द्वारा होता है। इसी अवस्था में कारण (*असत्*) तथा कार्य (*सत्*) विद्यमान रहते हैं। ब्रह्माण्ड जो कि तीसरा *तत्त्व* या वास्तविकता है और जो कि भगवान् का स्वरूप है, उसमें एक परम सत्य का किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न कर पाना असम्भव है।'' दूसरे शब्दों में, यद्यपि अज्ञानी भौतिकतावादी वैज्ञानिक यह पता लगाने के लिए जोरदार खोज कर सकते हैं कि वह कौन-सा सिद्धान्त है, जो ईश्वर के अस्तित्व का निषेध कर सके, किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती स्पष्ट कहते हैं कि यह ब्रह्माण्ड भगवान् से उद्‌भूत होने के कारण आध्यात्मिक दृष्टि से उनसे अभिन्न है, किन्तु इस जगत के भीतर कहीं भी ऐसा भौतिक सिद्धान्त नहीं पाया जा सकता, जो भगवान् की सर्वोच्चता का निषेध कर सके। वास्तव में, आध्यत्मिक आकाश के साथ साथ यह सम्पूर्ण जगत, भगवान् कृष्ण की असीम

महिमा के शाश्वत प्रमाण के रूप में विद्यमान है। इस ज्ञान के साथ नवों योगेन्द्र दिव्य आनन्द के साथ पृथ्वी में इधर-उधर विचरण कर रहे थे।

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अव्याहत—बिना रोक-टोक के; इष्ट-गतयः—इच्छानुसार घूमते हुए; सुर—देवताओं के; सिद्ध—पूर्ण योगी; साध्य—साध्यगण; गन्धर्व—स्वर्ग के गवैये; यक्ष—कुवेर के संगी; नर—मनुष्य; किन्नर—छोटे देवता, जो इच्छानुसार अपना रूप बदल सकते हैं; नाग—तथा सर्प; लोकान्—लोकों में; मुक्ताः—स्वतंत्र, मुक्त; चरन्ति—विचरण करते हैं; मुनि—मुनियों के; चारण—गवैये; भूत-नाथ—शिवजी के भूत-प्रेत अनुयायीगण; विद्याधर—विद्याधरगण; द्विज—ब्राह्मण; गवाम्—तथा गायों के; भुवनानि—लोकों को; कामम्—जिसे भी वे चाहते हैं।

नवों योगेन्द्र मुक्तात्माएँ हैं, जो देवताओं, सिद्धों, साध्यों, गन्धर्वों, यक्षों, मानवों तथा किन्नरों एवं सर्पों के लोकों में मुक्त भाव से विचरण करते हैं। उनके मुक्त विचरण को कोई संसारी शक्ति रोक नहीं सकती और वे अपनी इच्छानुसार मुनियों, देवदूतों, शिवजी के भूत-प्रेत अनुयायियों, विद्याधरों, ब्राह्मणों तथा गौवों के लोकों में विचरण कर सकते हैं।

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया ।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एकदा—एक बार; निमेः—राजा निमि के; सत्रम्—सोम यज्ञ में; उपजग्मुः—पहुँचे; यदृच्छया—इच्छानुसार; वितायमानम्—ले जाये जाकर; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; अजनाभे—अजनाभ (भारतवर्ष का प्राचीन नाम) में; महा-आत्मनः—महात्मा के।

एक बार वे अजनाभ में (पृथ्वी का पूर्ववर्ती नाम) महाराजा निमि के यज्ञ में पहुँचे, जो महर्षियों की देखरेख में सम्पन्न किया जा रहा था।

तान्दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशान्महाभागवतान्नृप ।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; सूर्य—सूर्य; सङ्काशान्—तेज में स्पर्धा कर रहे; महा-भागवतान्—भगवान् के शुद्ध भक्तों को; नृप—हे राजा (वसुदेव); यजमानः—यज्ञ सम्पन्न करने वाला (निमि महाराज); अग्नयः—अग्नियाँ; विप्राः—ब्राह्मणगण; सर्वे—सभी लोग; एव—भी; उपतस्थिरे—सम्मान में खड़े हो गये।

हे राजन्, तेज में सूर्य की बराबरी करने वाले उन भगवद्भक्तों को देखकर वहाँ पर उपस्थित सबके सब—यज्ञ सम्पन्न करने वाले, ब्राह्मण तथा यज्ञ की अग्नियाँ भी—सम्मान में उठकर खड़े हो गये।

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान् ।
प्रीतः सम्पूजयां चक्रे आसनस्थान्यथार्हतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

विदेहः—निमि महाराज; तान्—उनको; अभिप्रेत्य—पहचान कर; नारायण-परायणान्—भक्तों को, जिनके एकमात्र लक्ष्य नारायण थे; प्रीतः—प्रसन्न; सम्पूजयाम् चक्रे—पूरी तरह से उनकी पूजा की; आसन-स्थान्—बैठाये गये; यथा-अर्हतः—जो जिस योग्य था।

राजा विदेह (निमि) समझ गये कि नवों मुनि भगवान् के परम भक्त थे। इसलिए उनके शुभ आगमन से अत्याधिक प्रफुल्लित होकर उन्होंने उन्हें उचित आसन प्रदान किया और उचित ढंग से पूजा की, जिस तरह कोई भगवान् की पूजा करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *यथार्हतः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इसका अर्थ *यथोचितम्* अर्थात् ''उचित शिष्टाचार के अनुसार'' है। यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि नवों योगेन्द्र *नारायण-परायण* थे अर्थात् भगवान् नारायण या कृष्ण के परम भक्त थे। अतएव *यथार्हतः* शब्द सूचित करता है कि राजा ने नवों मुनियों की पूजा आदर्श वैष्णव शिष्टाचार के अनुसार की। परम वैष्णवों की पूजा के लिए शिष्टाचार को विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रै* शब्दों द्वारा व्यक्त किया है इसका अर्थ है कि भगवान् का पूर्णतया शरणागत होने से उच्चस्थ वैष्णव को भगवान् की इच्छा का पारदर्शी माध्यम मान लेना चाहिए। *चैतन्य चरितामृत* में यह कहा गया है कि भगवान् के शुद्ध भक्तों की एक क्षण की भी संगति मिलने से जीवन की सारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसलिए जैसाकि *प्रीतः* शब्द से सूचित होता है, राजा निमि मुनियों के शुभागमन से अति प्रमुदित थे, अतएव उन्होंने उनकी उसी तरह पूजा की, जिस तरह भगवान् की पूजा की जाती है।

यद्यपि निर्विशेषवादी दार्शनिक यह दावा करते हैं कि प्रत्येक जीव ईश्वर के तुल्य है, किन्तु वे निष्ठुरता से अपने तथाकथित गुरुओं के विचारों की उपेक्षा करते हुए ब्रह्म के विषय में स्वतंत्र चिन्तन करते हैं और अपने तथाकथित गुरुओं की निर्विशेष सनकों के विरुद्ध अपने मनमाने विचार रखते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि मायावादी निर्विशेषवादी दावा करते हैं कि हर कोई ईश्वर हैं, किन्तु भगवान् के

शाश्वत रूप तथा लीलाओं की सत्यता को ठुकराकर वे अन्ततः भगवान् के प्रति अपराधमूलक प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। इस तरह वे दुर्बुद्धि के कारण समस्त जीवों की नित्यता एवं भगवद्धाम में उनके कार्यकलापों को न मानकर उनकी शाश्वत स्थिति को तुच्छ बनाते हैं। निर्विशेषवादी अपनी कपोल कल्पनाओं द्वारा भगवान् तथा उनके अंशरूप जीवों के पद को नामरहित, रूपरहित प्रकाश में परिणत करके घटाना चाहते हैं, जो उनके मनोरथ के अनुसार परब्रह्म है। किन्तु वैष्णवजन भगवान् का स्वागत करते हैं और सरलता से यह समझ जाते हैं कि असीम भगवान् को इस जगत में पाये जाने वाले बद्ध, ससीम, संसारी व्यक्तियों से कुछ भी लेना-देना नहीं होता। ये निर्विशेषवादी दम्भपूर्वक यह कल्पना कर बैठते हैं कि उनके वर्तमान अनुभव के परे कोई दिव्य या असीम व्यक्ति नहीं है। किन्तु वैष्णवजन बुद्धिमान होने से यह समझते हैं कि हमारे सीमित अनुभव के परे भी अनेक अद्‌भुत वस्तुएँ हैं। अतएव वे कृष्ण के उन वचनों को स्वीकार कर लेते हैं, जिन्हें उन्होंने *भगवद्‌गीता* (१५.१९) में कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥

"जो कोई भी मुझे संशयरहित होकर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानता है, वह सबकुछ जानने वाला है। अतएव हे भरत-पुत्र! वह व्यक्ति मेरी पूर्ण भक्ति में रत होता है।" इसी सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद कहते हैं कि जीव तथा भगवान् की स्वाभाविक स्थिति के बारे में अनेक दार्शनिक ऊहापोह करते हैं। इस श्लोक में भगवान् स्पष्ट बतलाते हैं कि जो भगवान् कृष्ण को परम पुरुष के रूप में जानता है, वह वास्तव में सारी वस्तुओं का ज्ञाता है। अपूर्ण ज्ञाता परम सत्य के विषय में केवल चिन्तन करता रहता है, जबकि पूर्ण ज्ञाता अमूल्य समय का अपव्यय किये बिना सीधे कृष्णभावनामृत में लग जाता है अर्थात् भगवद्‌भक्ति करने लगता है...। ऐसा नहीं कि मनुष्य केवल शुद्ध चिन्तन करता रहे। मनुष्य को विनीत भाव से *भगवद्‌गीता* से सुनना चाहिए कि सारे जीव सदैव भगवान् के अधीन हैं। जो भी इसे समझ लेता है, वही कृष्ण के कथनानुसार वेदों के प्रयोजन को समझता है, अन्य कोई इसे नहीं समझता।" इसीलिए नवों योगेन्द्रों जैसे परम भक्त भगवान् की सर्वोपरिता सदैव स्वीकार करते हैं, जैसाकि यहाँ पर *नारायण परायणान्* शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है।

राजा निमि वैष्णव थे, अतएव उन्होंने महर्षियों की पूजा उसी सम्मान के साथ की, जिस सम्मान से वे भगवान् की पूजा करते, जैसाकि *यथार्हत:* शब्द से दिखलाया गया है। यद्यपि निर्विशेषवादी मिथ्या ही यह दावा करते हैं कि प्रत्येक जीव ईश्वर के तुल्य है, किन्तु वे प्रत्येक जीव का उचित आदर भी नहीं कर सकते, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों पर उन्होंने पहले ही अपराध किया है। उनकी तथाकथित पूजा, यहाँ तक कि उनके गुरुओं की भी पूजा अन्ततोगत्वा स्वार्थपरक और अवसरवादी होती है। जब कोई निर्विशेषवादी यह कल्पना करता है कि वह ईश्वर बन गया है, तो फिर उसे अपने तथाकथित गुरु की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु वैष्णवजन तो भगवान् की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करने से समस्त जीवों को, विशेष रूप से उन परम भाग्यशाली जीवों को, जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है, नित्य आदर प्रदान करने के लिए इच्छुक और तत्पर रहते हैं। वैष्णव द्वारा भगवान् के प्रतिनिधि की पूजा स्वार्थपरक या अवसरवादी नहीं होती, अपितु भगवान् तथा उनके प्रतिनिधियों के प्रति शाश्वत प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जैसाकि *प्रीत:* शब्द द्वारा यहाँ सूचित होता है। अतएव यह इस श्लोक से स्पष्ट है कि न केवल ऋषभदेव के नवों पुत्र, अपितु स्वयं राजा निमि भी निर्विशेषवाद की कृत्रिम एवं सीमित कल्पना के विरुद्ध, भगवान् के महान् भक्त थे।

तान्रोचमानान्स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान्नव ।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; रोचमानान्—चमकते हुए; स्व-रुचा—अपने ही तेज से; ब्रह्म-पुत्र-उपमान्—ब्रह्मा के पुत्रों के समान; नव—नौ; पप्रच्छ—पूछा; परम-प्रीतः—आनन्दविभोर; प्रश्रय—विनयपूर्वक; अवनतः—नमस्कार किया; नृपः—राजा ने।

दिव्य आनन्द से विभोर होकर राजा ने विनयपूर्वक अपना शीश झुकाया और तब नौ मुनियों से प्रश्न पूछना शुरू किया। ये नवों महात्मा अपने ही तेज से चमक रहे थे और इस प्रकार से ब्रह्मा के पुत्रों अर्थात् चार कुमारों के समान प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने यह इंगित किया है कि *स्वरुचा* शब्द यह बताता है कि *नव-योगेन्द्र* अपने आध्यात्मिक तेज से चमक रहे थे, अपने आभूषणों या अन्य कारण से नहीं। परमात्मा अर्थात, भगवान् कृष्ण समस्त प्रकाश के आदि स्रोत हैं। उनका दैदीप्यमान शरीर उस सर्वव्यापी ब्रह्मज्योति का स्रोत है, जो असंख्य ब्रह्माण्डों को आश्रय देने वाली अनन्त दिव्य ज्योति है (*यस्य प्रभा प्रभवतो*

जगदण्डकोटि)। आत्मा भी भगवान् का अंश होने से आत्मतेजवान है। वस्तुत: भगवद्धाम की प्रत्येक वस्तु आत्मतेजवान है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.६) में कहा गया है—

न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावक: ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

यह पहले भी कई प्रकार से बतलाया जा चुका है कि *नव-योगेन्द्र* भगवान् के शुद्ध भक्त थे। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित जीव होने से स्वभावत: उनसे आत्मा का प्रखर तेज बाहर निकलता रहता था, जैसाकि *स्वरुचा* शब्द से सूचित है। श्रील श्रीधर स्वामी ने यह भी इंगित किया है कि *ब्रह्मपुत्रोपमान्* शब्द सूचित करता है कि *नव-योगेन्द्र* चारों कुमारों के ही समान उच्च आध्यात्मिक पद को प्राप्त थे। चौथे स्कंध में बतलाया गया है कि महाराज पृथु ने चारों कुमारों का अत्यन्त प्रेम तथा सम्मान के साथ स्वागत किया था और यहाँ पर राजा निमि भी उसी तरह से भगवान् ऋषभदेव के नवों पुत्रों का स्वागत करते हैं। उन्नति तथा सुख की कामना करने वालों के लिए आदर्श आध्यात्मिक शिष्टाचार यही है कि उच्च वैष्णवों का स्वागत प्रेम तथा सम्मान के साथ किया जाय।

श्रीविदेह उवाच
मन्ये भगवत: साक्षात्पार्षदान्वो मधुद्विष: ।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-विदेह: उवाच—राजा विदेह ने कहा; मन्ये—मानता हूँ; भगवत:—भगवान् के; साक्षात्—प्रत्यक्ष; पार्षदान्—निजी संगियों को; व:—तुम्हारे; मधु-द्विष:—मधु के शत्रु के; विष्णो:—भगवान् विष्णु के; भूतानि—सेवकों को; लोकानाम्—सारे लोकों के; पावनाय—पवित्र करने के लिए; चरन्ति—इधर-उधर विचरण करते हैं; हि—निस्सन्देह।

राजा विदेह ने कहा : मैं सोचता हूँ कि आप मधु असुर के शत्रु-रूप में प्रसिद्ध भगवान् के निजी संगी हैं। दरअसल, भगवान् विष्णु के शुद्ध भक्त ब्रह्माण्ड-भर में किसी स्वार्थवश नहीं, अपितु समस्त बद्धजीवों को पवित्र करने के निमित्त विचरण करते रहते हैं।

तात्पर्य : राजा निमि महर्षियों के दिव्य कार्यों की प्रशंसा करते हुए उनका स्वागत करते हैं। यह सुविदित है कि भगवान् प्रकृति के तीनों गुणों से परे हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१३) में कहा गया है *मामेभ्य: परमव्ययम्।* इसी प्रकार उनके भक्त भी परम पद पर स्थित हैं। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् विष्णु के संगी जैसे दिव्य जीवों को किस तरह भौतिक जगत में देखा जा सकता है?

इसीलिए यहाँ पर कहा गया है *पावनाय चरन्ति हि*—भगवान् विष्णु के संगी विश्व-भर में भगवान् की ओर से पतित बद्ध आत्माओं का उद्धार करने के लिए विचरण करते रहते हैं। राज्यपाल का प्रतिनिधि बन्दीगृह के भीतर विचरण करता देखा जा सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि वह बद्ध बन्दी हो गया है। यह समझा जा सकता है कि वह बन्दीगृह के भीतर उन बन्दियों को संभवत: छुड़ाने के लिए समझौता करने आया है, जिन्होंने अपनी अपराधी वृत्ति को सुधार लिया है। इसी तरह भगवान् के भक्त, जिन्हें *परिव्राजकाचार्य* कहते हैं सारे विश्व में विचरण करते हुए हर एक को आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण शाश्वत जीवन के लिए भगवान् कृष्ण की शरण में आने और भगवद्धाम जाने का निमंत्रण देते रहते हैं।

श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में अजामिल के मोक्ष के प्रसंग में भगवान् विष्णु के पार्षदों की दया का वर्णन हुआ है। श्रील भिक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् विष्णु के पार्षद भगवान् की ही तरह दयालु होते हैं। यद्यपि मानव समाज के अज्ञानी सदस्य भगवान् विष्णु के इन दासों के पास पहुँचने में रुचि नहीं दिखाते, लेकिन भगवद्भक्त बिना किसी मिथ्या प्रतिष्ठा की भावना से, बद्धजीवों को उनके अनवरत दुर्भाग्य से मुक्त कराने के लिए कार्य करते रहते हैं।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

दुर्लभः—प्राप्त करना कठिन; मानुषः—मनुष्य का; देहः—शरीर; देहिनाम्—देहधारियों के लिए; क्षण-भङ्गुरः—किसी भी क्षण विनष्ट हो जाने वाला; तत्र—उस मनुष्य-शरीर में; अपि—भी; दुर्लभम्—प्राप्त करना अधिक कठिन; मन्ये—मानता हूँ; वैकुण्ठप्रिय—जो भगवान् वैकुण्ठ को अत्यधिक प्रिय हैं, उनके; दर्शनम्—दर्शन को।

बद्धजीवों के लिए मनुष्य-शरीर प्राप्त कर पाना सबसे अधिक कठिन है और यह किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। किन्तु मैं सोचता हूँ कि जिन्होंने मनुष्य-जीवन प्राप्त कर भी लिया है, उनमें से विरले ही उन शुद्ध भक्तों की संगति प्राप्त कर पाते हैं, जो वैकुण्ठ के स्वामी को अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *देहिनाम्* शब्द का अर्थ है *बहवो देहा भवन्ति येषां ते*—बद्धजीव जो असंख्य भौतिक शरीर धारण करते हैं। कतिपय मनमाने चिन्तकों के अनुसार मनुष्य-जीवन को प्राप्त जीव कभी भी पशु या पादप योनि में नीचे नहीं जायेगा। किन्तु तो भी यह तथ्य है कि

अपने वर्तमान कार्यों के अनुसार हम ईश्वर के नियमों द्वारा ऊपर उठेंगे या नीचे गिरेंगे। सम्प्रति मानव समाज में जीवन के स्वभाव के बारे में कोई स्पष्ट या सही ज्ञान नहीं है। मूर्ख वैज्ञानिकों ने अबोध लोगों को विश्वास दिलाने के लिए अत्यन्त जटिल पारिभाषिक शब्द एवं सिद्धान्त गढ़ रखे हैं कि जीवन का उद्भव रासायनिक क्रियाओं से होता है। श्रील प्रभुपाद ने अपनी पुस्तक (*जीवन का स्रोत जीवन*) में इस धोखाधड़ी की पोल खोली है और यह इंगित किया है कि यद्यपि विज्ञानी लोग जीवन को रसायनों से उत्पन्न मानते हैं, किन्तु वे रसायनों की अनन्त मात्राओं द्वारा एक कीट तक भी नहीं बना सकते। वस्तुत: जीवन तथा चेतना आत्मा के लक्षण हैं।

श्रील प्रभुपाद ने अपनी पुस्तक (*जीवन का स्रोत जीवन*) में कहा है, ''जीवित प्राणी एक शरीर-रूप से, दूसरे में चले जाते हैं। ये स्वरूप पहले से विद्यमान रहते हैं। जीव केवल स्थानान्तरित होता है, जिस तरह मनुष्य एक कमरे से दूसरे में स्थानान्तरित हो जाता है। पहला कमरा प्रथम श्रेणी का है, दूसरा द्वितीय श्रेणी का और तीसरा तृतीय श्रेणी का। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति निचली श्रेणी के कमरे से प्रथम श्रेणी के कमरे में आता है। व्यक्ति वही रहता है, लेकिन अब अपने खर्च करने की क्षमता से अर्थात् *कर्म* के अनुसार वह उच्चतर कमरे में जा सकता है। असली विकास का अर्थ भौतिक विकास न होकर चेतना का विकास होता है।'' प्रत्येक जीव-योनि में चेतना होती है और यही चेतना जीव का लक्षण है, जो भगवान् की परा शक्ति है। चौरासी लाख योनियों में से होकर चेतन जीव के देहान्तरण के इस पक्ष को समझे बिना *दुर्लभो मानुषो देह:* (मानव जीवन दुर्लभ है) जैसे शब्द समझ में नहीं आ सकते।

अब लोगों को इस अनिवार्य ज्ञान से वंचित रखा जा रहा है। वे मनुष्य योनि के नीचे की अस्सी लाख योनियों में जा गिरने के खतरे से अवगत नहीं हैं। यह स्वाभाविक ही है कि मनुष्य प्रगति के विषय में सोचे। हम अनुभव करना चाहते हैं कि हमारा जीवन प्रगति पर है और हम अपने जीवन की गुणवत्ता को सुधार रहे हैं। इसलिए लोगों को यह बतलाया जाना अत्यावश्यक है कि मूल्यवान मनुष्य-जीवन का दुरुपयोग न हो और वे यह समझें कि मानव-जीवन जो सबसे बड़ा सुअवसर प्रदान कर सकता है, वह कृष्णभावनामृत को ग्रहण करना है। जिस प्रकार पृथ्वी पर रहने के प्रक्षेत्र उच्च, मध्यम तथा निम्न श्रेणियों में बँटे हुए हैं, उसी तरह ब्रह्माण्ड में उच्च, मध्यम तथा निम्न लोक हैं। योगाभ्यास से

अथवा धार्मिक कर्मकाण्डों द्वारा मनुष्य अपने को इस ब्रह्माण्ड के उच्चतर लोकों में स्थानान्तरित कर सकता है। दुसरी ओर धार्मिक सिद्धान्तों की उपेक्षा करने से वह निम्न लोक को चला जाता है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (८.१६) में घोषित किया है *आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।* इस तरह अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर प्रत्येक लोक अनुपयुक्त निवासस्थान है, क्योंकि प्रत्येक लोक में वृद्धावस्था तथा मृत्यु के मूलभूत दोष पाये जाते हैं। किन्तु भगवान् हमें आश्वासन देते हैं कि भौतिक जगत से परे स्थित भगवान् के दिव्य धाम में शाश्वत, आनन्दमय तथा ज्ञानयुक्त जीवन है। यह भौतिक जगत क्षणिक, दुखदायी तथा अज्ञान से पूर्ण है, किन्तु आध्यात्मिक जगत, जिसे वैकुण्ठ कहते हैं, नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञान से पूर्ण है।

मनुष्य का अत्यन्त विकसित मस्तिष्क ईश्वर प्रदत्त उपहार है, अतएव हम नित्य तथा नश्वर में अन्तर करने के लिए अपनी बुद्धि का प्रयोग कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (२.१६) में कहा गया है कि

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:॥

''तत्त्वदर्शियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पदार्थ का तो कोई चिर स्थायित्व नहीं है, किन्तु आत्मा अपरिवर्तित रहता है। उन्होंने इन दोनों की प्रकृति के अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है।''

जिन्होंने भगवान् तथा उनके धाम को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है, वे *वैकुण्ठ-प्रिय* कहलाते हैं। यहाँ पर राजा निमि कहते हैं कि ऐसे विद्वान अध्यात्मवादियों की संगति प्राप्त करना निश्चय ही मानव-जीवन की सिद्धि है। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का सुझाव है कि हम निम्नलिखित श्लोक पर विचार करें—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं

प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं

पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

''[भगवान् ने कहा] : समस्त शरीरों में श्रेष्ठ मनुष्य-शरीर बहुत बड़ी उपलब्धि है, जिसे विरले ही पाते हैं और इसकी तुलना नाव से की जा सकती है। इस नाव का दक्ष कप्तान गुरु है और मैंने अनुकूल

वायु (वेद रूपी) भेज दी है। इस तरह मैंने भवसागर को पार करने की सारी सुविधाएँ उपलब्ध करा दी हैं। जिस मनुष्य ने मनुष्य–जीवन की ये उत्तम सुविधाएँ प्राप्त कर ली हैं, किन्तु वह भवसागर को पार नहीं करता, उसे अपनी ही आत्मा का मारने वाला मानना चाहिए।'' (भागवत ११.२०.१७)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार दया की शक्तिशाली अनुभूतियों से नियंत्रित, भगवान् के नित्य दास, वैष्णवों के रूप में इस जगत में उन बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए अवतरित होते है, जो अपने संसारी कार्यों के परिणाम स्वरूप बँधे हुए हैं। ऐसे वैष्णव उन व्यक्तियों पर भी दया दर्शाते हैं, जो कठोर परिश्रम के द्वारा निराकार ब्रह्म की खोज में लगे हुए हैं। श्री नारद मुनि ने कहा है कि बिना भगवत्प्रेम के ब्रह्म का ऐसा श्रमसाध्य निर्विशेष चिन्तन निश्चय ही कष्टकर है (*नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्*)। तो फिर सामान्य स्थूल भौतिकतावादी जीवन की असंख्य समस्याओं के विषय में क्या कहा जाय? हमें इसका व्यावहारिक अनुभव है कि पाश्चात्य देशों में अधिकांश लोग धन पाने के लिए और इन्द्रियतृप्ति के स्वर्गिक स्वप्नों के लिए कठोर श्रम करते हैं। अन्य लोग सामान्य भौतिकतावादी जीवन से ऊब कर अपने अस्तित्व का निषेध करके तथाकथित योग तथा ध्यान के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व में मिल जाना चाहते हैं। इन दोनों वर्गों के दुखी लोगों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन की कृपा प्राप्त हो रही है, जिससे वे इन्द्रियतृप्ति के अपने सपनों के साथ साथ अपने दुखमय निर्विशेष चिन्तन को भी दूर करते हैं। वे ईश्वर के पवित्र नाम का कीर्तन करना, आनन्दमग्न होकर नाचना और भगवान् को अर्पित किये गये भोजन को ग्रहण करना सीख रहे हैं। वे *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् द्वारा कहे गये दिव्य ज्ञान से प्रोत्साहन प्राप्त करते हैं। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.२) में कहते हैं *सुसुखं कर्तुमव्ययम्।* आध्यात्मिक स्वतंत्रता की वास्तविक विधि को सम्पन्न करना प्रसन्नतापूर्ण है और उसे इन्द्रितृप्ति को लक्ष्य बनाकर किये जाने वाले सकाम कर्मों या शुष्क निर्विशेष चिंतन से कुछ भी लेना–देना नहीं रहता। अब अधिकाधिक लोग कृष्णभावनामृत विधि को स्वीकार करके हर्षित होते हैं और अन्यों को कृष्ण–कृपा का वितरण कर रहे हैं। इस तरह से सारा जगत जागृत हो उठेगा और कृष्णभावनामृत आन्दोलन से प्रोत्साहित हो उठेगा, जो कि वैष्णवों की कृपा का व्यावहारिक प्रदर्शन है।

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ।

संसारेऽस्मिन्क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; आत्यन्तिकम्—परम्; क्षेमम्—कल्याण; पृच्छामः—पूछ रहा हूँ; भवतः—आपसे; अनघाः—हे पापरहित; संसारे—जन्म-मृत्यु के चक्र में; अस्मिन्—इस; क्षण-अर्धः—आधा क्षण तक चलने वाले; अपि—ही; सत्-सङ्गः—भगवद्भक्तों की संगति; शेवधिः—महान् कोश, निधि; नृणाम्—मनुष्यों का।

अतएव हे अनघो, मैं आपसे पूछता हूँ कि कृपा करके मुझे यह बतायें कि परम कल्याण क्या है? इस जन्म-मृत्यु के जगत में शुद्ध भक्तों के साथ आधे क्षण की भी संगति किसी मनुष्य के लिए अमूल्य निधि है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *शेवधिः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''महान् खजाना या निधि''। जिस तरह सामान्य व्यक्ति सहसा कोई खजाना पाकर हर्ष से उछल पड़ता है, उसी तरह बुद्धिमान व्यक्ति भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति पाकर पुलकित हो उठता है, क्योंकि इससे मनुष्य अपने जीवन को सफल बना सकता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *आत्यन्तिकम् क्षेमम्* अर्थात् ''परम कल्याण'' शब्द उस स्थिति के सूचक हैं, जिसमें तनिक भय स्पर्श तक नहीं कर सकता। अब हम जन्म, वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु के चक्र में (*संसारे*) फँसे हुए हैं। चूँकि हमारी सारी स्थिति क्षण-भर में ध्वंस हो सकती है, अतएव हम निरन्तर भयभीत रहते हैं। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्तगण इस भौतिक जगत से हमें मुक्त करने के लिए व्यावहारिक विधि बतला सकते हैं, जिससे हम सभी प्रकार के भयों को दूर कर सकते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार आतिथेय को चाहिए कि सामान्य शिष्टाचार के नाते आये हुए अतिथि की कुशल-क्षेम तुरन्त पूछे। किन्तु भगवान् के आत्म-तुष्ट भक्तों से ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि ये भक्त स्वयं ही समस्त कल्याण के दाता हैं। श्रील विश्वनाथ के अनुसार राजा जानता था कि इन मुनियों से उनके कार्यकलापों के विषय में पूछना व्यर्थ है, क्योंकि भगवद्भक्तों का एकमात्र कार्य जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करना है। *भगवद्गीता* के अनुसार जीवन का लक्ष्य अपने को जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त करके ईश्वर के नित्यदास के रूप में आध्यात्मिक आनन्द के पद पर अपने को पुनः स्थापित करना है। भगवान् के शुद्ध भक्त संसारी कार्यों में अपना समय नहीं गँवाते। कभी कभी वैष्णव प्रचारक के मूर्ख सम्बन्धीगण पश्चाताप करते हैं कि ऐसे दिव्य प्रचारक ने अपने जीवन का उपयोग भौतिक कार्य के लिए क्यों नहीं किया और इस तरह आध्यात्मिक जीवन का

अभ्यास करने से इतना सारा धन खोया गया। ऐसे अज्ञानी लोग इसकी कल्पना नहीं कर पाते कि जिन लोगों ने भगवान् के मिशन हेतु अपना तन-मन अर्पित कर दिया है, उन्हें आध्यात्मिक धरातल पर असीम समृद्धि प्राप्त है। राजा निमि स्वयं विद्वान वैष्णव थे, इसलिए उन्होंने इन मुनियों से सामान्य सांसारिक बातों के विषय में मूर्खतापूर्ण प्रश्न नहीं किया। उसने तुरन्त ही जीवन के चरम लक्ष्य *आत्यन्तिकं क्षेमम्* के विषय में पूछा।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *अनघा:* शब्द के दो अर्थ हैं। यह शब्द सूचित करता है कि नव-योगेन्द्र स्वयं पापों से सर्वथा मुक्त थे। इससे यह भी सूचित होता है कि उनके दर्शन तथा विनम्र श्रवण मात्र का परम सौभाग्य मिलने से एक साधारण पापी व्यक्ति अपने पापों से मुक्त होकर इच्छित फल प्राप्त कर सकता है।

कोई यह आक्षेप कर सकता है कि ये महामुनि अभी अभी आये थे, अतएव राजा को इतनी जल्दी जीवन की सिद्धि के विषय में उनसे पूछने के लिए अधीर नहीं होना चाहिए था। कदाचित् राजा को चाहिए था कि जब तक मुनिगण उससे पूछने को स्वयं न कहते, वह प्रतीक्षा करता। किन्तु ऐसी काल्पनिक आपत्ति का उत्तर *क्षणार्धोऽपि* शब्दों से मिल जाता है। एक क्षण या आधे क्षण की भी साधु-संगति जीवन-सिद्धि प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। सामान्य व्यक्ति को यदि बहुत बड़ा खजाना दिया जाय तो वह तुरन्त उसे लेना चाहेगा। इसी तरह राजा निमि सोच रहा था, ''मैं इतने बड़े मुनियों को पाकर इन्हें दीर्घकाल तक रोके रहने में अपने को भाग्यशाली क्यों मानूँ? चूँकि मैं सामान्य व्यक्ति हूँ, अतएव आप लोग शीघ्र ही चले जायेंगे। अतएव क्यों न आपकी इस पवित्र संगति का लाभ उठा लूँ।''

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार इस जगत में दया के कई प्रकार होते हैं। किन्तु सामान्य दया से समस्त दुखों का अन्त सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में, ऐसे अनेक मानवतावादी, परोपकारी तथा सामाजिक सुधारक हैं, जो निश्चय ही मानवता की भलाई के लिए कार्य करते हैं। ऐसे लोगों को एक स्वर से दयालु समझा जाता है। किन्तु इनकी दया के बावजूद मानवता को जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु के चँगुल में कष्ट सहना पड़ता है। मैं गरीबों के लिए भले ही मुफ्त भोजन बाँटूँ, किन्तु वे इस दयापूर्ण उपहार को खा लेने के बाद पुन: भूखे होंगे या उन्हें कोई अन्य कष्ट उठाना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, मात्र मानवतावाद या परोपकार से लोग वास्तव में सारे दुखों से मुक्त नहीं हो जाते। हाँ, उनका दुख केवल

बदल जाता है या आगे बढ़ जाता है। राजा निमि नव-योगेन्द्रों को देखकर प्रमुदित था, क्योंकि उसे ज्ञात था कि वे भगवान् के शाश्वत पार्षद थे। अतएव उसने सोचा, "आप लोग मुझ जैसे संसारी अभागे व्यक्ति की तरह पाप कृत्यों की ओर उन्मुख नहीं हैं। अतएव आपके शब्दों में छल-छद्म नहीं है।"

संसारी बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति विषयक विविध वार्ताओं की चर्चा रात-दिन करते रहते हैं। उन्हें दिव्य ज्ञान सुनने का कभी समय ही नहीं मिल पाता। किन्तु यदि वे संयोगवश से ही सही या अल्प समय के लिए ही, भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति में *हरिकथा* सुनें, तो इस संसार में उनके कष्ट कम हो जाँय। जब कोई व्यक्ति मुक्त पुरुषों का दर्शन करता है, उनसे कृष्ण-कथा सुनता है, उनके साधु-आचरण का स्मरण करता है, तो इन्द्रियतृप्ति में अपने को बाँधे रखने की उसकी प्रवृत्ति घटती है और वह भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक हो उठता है।

धर्मान्भागवतान्ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् ।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

धर्मान् भागवतान्—भक्ति का विज्ञान; ब्रूत—कृपया कहें; यदि—यदि; नः—हमारे; श्रुतये—ठीक से सुनने के लिए; क्षमम्—क्षमता है; यैः—जिस (भक्ति) से; प्रसन्नः—प्रसन्न होकर; प्रपन्नाय—शरणागत के लिए; दास्यति—देगा; आत्मानम्—स्वयं को; अपि—भी; अजः—अजन्मा भगवान्।

यदि आप यह समझें कि मैं इन कथाओं को ठीक तरह से सुनने में समर्थ हूँ, तो कृपा करके बतलायें कि भगवान् की भक्ति में किस तरह प्रवृत्त हुआ जाता है? जब कोई जीव भगवान् को अपनी सेवा अर्पित करता है, तो भगवान् तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं और बदले में शरणागत व्यक्ति को अपने आपको भी दे डालते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में दो प्रकार के सांसारिक दार्शनिक हैं, जो भगवान् के विषय में अपने मत प्रस्तुत करते हैं। कुछ तथाकथित धर्माचार्य दावा करते हैं कि हम ईश्वर से सर्वथा भिन्न हैं, अतएव वे ईश्वर को हमारी समझ में आने से परे मानते हैं। ऐसे अति द्वैतवादी दार्शनिक बाहर से अपने को पवित्र तथा ईश्वर में विश्वास रखने वाले होने का दावा करते हैं, किन्तु ईश्वर को जो कुछ हमारे अनुभव के अन्तर्गत है, उससे इतना भिन्न मानते हैं कि उनके अनुसार भगवान् के व्यक्तित्व या उनके गुणों के बारे में विचार-विमर्श करने का प्रयास व्यर्थ है। ऐसे बाहरी श्रद्धालु व्यक्ति सकाम कर्मों में तथा स्थूल

इन्द्रिय–भोग में फँसे रहते हैं, क्योंकि वे समाज, मित्रता और प्रेम के नामों के अन्तर्गत आने वाले सांसारिक सम्बन्धों में प्रेमांध हो जाते हैं।

अद्वैतवादी दार्शनिक दावा करते हैं कि ईश्वर तथा जीव में कोई अन्तर नहीं है और जीवन का चरम लक्ष्य है कि हम अपने निजी अस्तित्व को त्याग दें, जो माया के कारण है और निर्विशेष ब्रह्मज्योति में तदाकार हो लें, जो नाम, रूप, साज–सामग्री तथा व्यक्तित्व से रहित है। इस तरह इन दो श्रेणियों के दार्शनिकों में कोई भी दिव्य भगवान् को समझ पाने में समर्थ नहीं है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* के दिव्य उपदेश में स्पष्ट प्रदर्शित किया है कि गुणात्मक दृष्टि से हम ईश्वर से एक हैं, किन्तु मात्रात्मक दृष्टि से भिन्न हैं। यही नहीं भगवान् साकार चेतनास्वरूप हैं और उनका साकार रूप होता है। इसी प्रकार हम साकार चेतना हैं और मुक्त होने पर हमारा भी नित्य रूप होता है। अन्तर इतना ही है कि भगवान् के नित्य रूप तथा व्यक्तित्व में असीम शक्ति एवं ऐश्वर्य होता है, जबकि हमारी शक्ति तथा ऐश्वर्य अल्प हैं। हम अपने शरीर के प्रति सचेत हैं जबकि भगवान् कृष्ण या परब्रह्म हर एक के शरीर के प्रति सचेत हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है (*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रषु भारत*)। यद्यपि ईश्वर जीव से अतीव महान् है, किन्तु ईश्वर तथा जीव दोनों ही रूप, कार्यों तथा भावों से युक्त नित्य पुरुष हैं।

भगवान् कृष्ण अपना विस्तार असंख्य जीवों में इसलिए करते हैं, जिससे उनके साथ वे *रसों* का भोग कर सकें। जीव भगवान् कृष्ण के भिन्नांश हैं और उनका कार्य प्रेमपूर्वक भगवान् की सेवा करना है। यद्यपि भगवान् सदैव प्रधान हैं तथा जीव नित्य ही अधीन है, किन्तु जब जीव बिना किसी निजी प्रतिफल की आशा से और प्रेमभाव से भगवान् की सेवा करते रहने की इच्छा से उनकी शरण में जाता है, तो भगवान् तुरन्त ही प्रसन्न हो जाते हैं, जिसको यहाँ पर *प्रसन्नः* शब्द से व्यक्त किया गया है। भगवान् कृष्ण इतने असीम दयालु तथा वदान्य (उदार) हैं कि शरणागत तथा प्रेम करने वाले सेवक के प्रति कृतज्ञता के फलस्वरूप वे उसे कोई भी वस्तु, यहाँ तक कि अपने आपको भी, तुरन्त दे डालने के लिए उन्मुख हो जाते हैं।

भगवान् की इस प्रेममयी लालसा के अनेक व्यावहारिक तथा ऐतिहासिक उदाहरण प्राप्त हैं। माता यशोदा के प्रेम में बालक कृष्ण ने, अपने दामोदर रूप में प्रेममयी माता के समक्ष अपने को अर्पित कर

दिया और दंडस्वरूप अपने को रस्सी से बँधवा लिया। इसी प्रकार पाण्डवों के गहन प्रेमवश अपने को ऋणी मानकर कृष्ण पार्थसारथी के रूप में कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन का रथ हाँकने के लिए तैयार हो गये। इसी प्रकार कृष्ण वृन्दावन में अपनी परम भक्त गोपियों को जो भगवान् की सर्वोच्च प्रेममयी भक्त मानी जाती हैं, प्रसन्न करने के तरीकों का सदैव चिन्तन करते रहते हैं।

भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के बीच इस प्रकार गहन प्रेममय भावों का आदान-प्रदान सम्भव न हो पाता, यदि सारे जीव गुणात्मक दृष्टि से भगवान् जैसे न होते और उनके अविभाज्य अंश न होते। दूसरी ओर, चूँकि भगवान् तथा सारे जीव शाश्वत व्यक्ति हैं, जिनमें हर एक की अपनी पृथक् चेतना है, अतएव भगवद्धाम में ऐसे प्रेममय आदान-प्रदान वास्तविक हैं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर से चरम तादात्म्य तथा ईश्वर से चरम अन्तर—ये तो विभिन्न दार्शनिकों की सैद्धान्तिक कल्पनाएँ हैं। आध्यात्मिक प्रेम की सिद्धि जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है *अचिन्त्यभेदाभेद* में निहित है और इस चरम सत्य को स्वयं कृष्ण ने चैतन्य महाप्रभु के रूप में अपने ब्रह्म-अवतार में प्रस्तुत किया। चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों ने इस सम्यक सिद्धान्त की स्थापना अनेक ग्रंथों में की है, किन्तु इनका चरम उत्कर्ष भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के उपदेशों में पाया जाता है, जिन्होंने इस ज्ञान को पूर्णरूपेण इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि जो न केवल भारत में समझा जा सकता है, अपितु विश्व के सारे लोगों के लिए बोधगम्य है। हमारा यह वर्तमान तुच्छ प्रयास उनके द्वारा सम्पन्न होने वाली *श्रीमद्‌भागवत* का भावार्थ और टीका को पूरा करने का है और हम निरन्तर यही प्रार्थना करते रहते हैं कि उनकी इच्छा के अनुकूल ही यह कार्य सम्पन्न हो सके। यदि चैतन्य महाप्रभु की शिक्षाओं को जिस रूप में पाश्चात्य भाषाओं में प्रस्तुत किया जा रहा है, समझ लिया जाये, तो भगवान् आध्यात्मिक सत्य के ऐसे निष्ठावान खोजी से संतुष्ट होंगे।

श्रीनारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः ।
प्रतिपूज्याब्रुवन्प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; **एवम्**—इस प्रकार; **ते**—वे; **निमिना**—राजा निमि द्वारा; **पृष्टाः**—पूछे गये; **वसुदेव**—हे वसुदेव; **महत्-तमाः**—सन्तों में सर्वश्रेष्ठ; **प्रतिपूज्य**—बदले में आदरसूचक शब्द कहकर; **अब्रुवन्**—वे बोले; **प्रीत्या**—स्नेहपूर्वक; **स-सदस्य**—यज्ञ सभा के सदस्यों के सहित; **ऋत्विजम्**—तथा पुरोहितों द्वारा; **नृपम्**—राजा से।

श्री नारद ने कहा : हे वसुदेव, जब महाराज निमि नव-योगेन्द्रों से भगवद्भक्ति के विषय में पूछ चुके, तो उन साधु-श्रेष्ठों ने राजा को उसके प्रश्नों के लिए धन्यवाद दिया और यज्ञ सभा के सदस्यों तथा ब्राह्मण पुरोहितों की उपस्थिति में उससे स्नेहपूर्वक कहा।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार न केवल राजा अपितु सभा के सदस्य तथा यज्ञ करने वाले पुरोहित भी भगवान् का श्रवण तथा भक्ति की महिमा का कीर्तन करने में जुट गये थे। अब ये मुनि, कवि से प्रारम्भ करके बारी बारी से राजा के प्रश्नों का उत्तर देंगे।

श्रीकविरुवाच
मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-कविः उवाच—श्री कवि ने कहा; मन्ये—मैं मानता हूँ; अकुतश्चित्-भयम्—निर्भीकता; अच्युतस्य—अच्युत भगवान् की; पाद-अम्बुज—चरणकमलों की; उपासनम्—पूजा; अत्र—इस जगत में; नित्यम्—निरन्तर; उद्विग्न-बुद्धेः—विचलित बुद्धिवाले का; असत्—केवल क्षणभंगुर; आत्म-भावात्—आत्मा के रूप में सोचने से; विश्व-आत्मना—पूरी तरह से; यत्र—जिस (भगवद्भक्ति) में; निवर्तते—भाग जाता है; भीः—भय।

श्री कवि ने कहा : मैं मानता हूँ कि जिसकी बुद्धि भौतिक क्षणभंगुर जगत को ही मिथ्यापूर्वक आत्मस्वरूप मानने से निरन्तर विचलित रहती है, वह अच्युत भगवान् के चरणकमलों की पूजा द्वारा ही अपने भय से मुक्ति पा सकता है। ऐसी भक्ति में सारा भय दूर हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के मतानुसार इस श्लोक में आए *असद् आत्म भावात्* शब्द यह सूचित करते हैं कि जीव भय से निरन्तर उद्विग्न रहता है, क्योंकि वह अपनी नित्य पहचान क्षणभंगुर भौतिक शरीर तथा इसके साज-सामान से कर बैठता है। इसी प्रकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है *भक्तिप्रतिकूल देहगेहादिष्वासक्तिम्।* अपने क्षणभंगुर शरीर तथा अपने तथाकथित घर, परिवार, मित्रों इत्यादि से अनुरक्त होने के कारण मनुष्य की बुद्धि सदैव भय से उद्विग्न रहती है और वह भगवद्भक्ति को समझ पाने या उसका अभ्यास करने में असमर्थ होता है। देहात्म बुद्धि में रहते हुए सम्पन्न किये गये तथाकथित धार्मिक कार्यकलाप सदैव भय से और उनके अन्तिम फल की चिन्ता से

घिरे रहते हैं। किन्तु भगवान् की शुद्ध भक्ति मनुष्य के भय तथा चिन्ता को दूर कर देती है, क्योंकि यह भक्ति वैकुण्ठ के स्तर पर अथवा आध्यात्मिक स्तर पर की जाती है, जहाँ न भय रहता है न चिन्ता। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *भक्तियोग* की विधि इतनी प्रबल है कि *साधन भक्ति* की अवस्था में भी, जिसमें भक्ति को विधि-विधानों द्वारा सम्पन्न किया जाता है, नवदीक्षित भक्त को भगवान् की कृपा से निर्भयता का अनुभव होता है। ज्यों ज्यों भक्ति प्रौढ़ होती जाती है, भगवान् भक्त को अपना रूप दिखलाते हैं और तब सारा का सारा भय जाता रहता है।

हर जीव में ईश्वर की सेवा करने की स्वाभाविक लालसा पाई जाती है, किन्तु क्षणभंगुर शरीर से अपनी मिथ्या पहचान करने के कारण मनुष्य अपनी इस शुद्ध स्वाभाविक लालसा को खो देता है और वह शरीर, घर, परिवार इत्यादि के रूप में क्षणिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति अनुरक्त हो जाता है। ऐसी मिथ्या अनुरक्ति का फल होता है निरन्तर कष्ट, जिसे एकमात्र भगवद्भक्ति द्वारा उखाड़ फेंका जा सकता है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

तावद् भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं

शोकः स्पृहा परिभावो विपुलश्च लोभः।

तावन् ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं

यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

"हे प्रभु! संसार के लोग समस्त चिन्ताओं से व्यग्र हैं, वे सदैव डरे हुए रहते हैं। वे सदा अपनी सम्पत्ति, शरीर तथा मित्रों की रक्षा करना चाहते हैं, वे शोक तथा अवैध इच्छाओं एवं साज-सामग्री से परिपूर्ण हैं और वे 'मैं' तथा 'मेरे' जैसे नाशवान् अवधारणाओं पर अपने कार्यकलापों को निर्भर करते हैं। जब तक वे आपके निरापद चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं कर लेते, वे ऐसी चिन्ताओं से भरे रहेंगे।" (भागवत ३.९.६)

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ये—जो; वै—निस्सन्देह; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रोक्ताः—कहा हुआ; उपायाः—साधनों; हि—निस्सन्देह; आत्म-लब्धये—परमात्मा की अनुभूति करने के लिए; अञ्जः—सरलता से; पुंसाम्—जीव द्वारा; अविदुषाम्—अल्प बुद्धि वाले; विद्धि—जानते हैं; भागवतान्—भागवतधर्म बनने के लिए; हि—निश्चय ही; तान्—इन।

अज्ञानी जीव भी परमेश्वर को सरलता से जान पाते हैं, यदि वे उन साधनों को अपनाएँ, जिन्हें भगवान् ने स्वयं निर्दिष्ट किया है। भगवान् ने जो विधि संस्तुत की है, वह भागवतधर्म अथवा भगवान् की भक्ति है।

तात्पर्य : ऐसे अनेक वैदिक शास्त्र हैं, यथा *मनु-संहिता,* जो मानव समाज की शान्त व्यवस्था के लिए आदर्श अधिदेश प्रस्तुत करते हैं। ऐसा वैदिक ज्ञान *वर्णाश्रम* प्रणाली पर आधारित है, जो मानव समाज को वैज्ञानिक ढंग से चार वृत्तिपरक विभागों तथा चार आध्यात्मिक विभागों में विभक्त करता है। किन्तु श्रील श्रीधर गोस्वामी के अनुसार जो ज्ञान भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में लाता है, वह *अतिरहस्यम्* अर्थात् सर्वाधिक गुप्त ज्ञान कहलाता है (*अतिरहस्यत्वात् स्वमुखेनैव भगवताविदुषाम् अपि पुंसाम् अञ्जः सुखेनैवात्म-लब्धये*)।

भागवतधर्म इतना रहस्यमय है कि यह साक्षात् भगवान् द्वारा व्यक्त किया गया है। भागवतधर्म का सार *भगवद्गीता* में दिया हुआ है, जिसमें कृष्ण स्वयं ही अर्जुन को उपदेश देते हैं। तो भी *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव को भगवान् जो उपदेश देंगे वे *भगवद्गीता* में अर्जुन को दिये गये उपदेशों से भी बढ़कर है। जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने कहा है, ''निस्सन्देह अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने हेतु ही भगवान् ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में *भगवद्गीता* का प्रवचन किया था। फिर भी *भगवद्गीता* के दिव्य ज्ञान को पूरा करने के लिए उन्होंने उद्धव को उपदेश दिया। भगवान् ने चाहा था कि उद्धव उनके ध्येय को पूरा करें और उन्होंने जिस ज्ञान को *भगवद्गीता* में नहीं कहा था, उसका विस्तार करें।'' (भागवत ३.४.३२ तात्पर्य) इसी प्रकार यह समझा जाता है कि यहाँ पर नव-योगेन्द्रों द्वारा, जो ज्ञान प्रस्तुत किया जायेगा, वह काल्पनिक नहीं है, अपितु भगवान् द्वारा मूलतः कहा गया, प्रामाणिक ज्ञान है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार सारे जीव जन्म-मृत्यु का चक्कर लगाते हुए भगवान् को बिल्कुल ही भूल जाते हैं। किन्तु जब वे अपने लाभ के लिए भगवान् द्वारा कही गई शुभ कथाओं को सुनते हैं और अपनी शाश्वत पहचान दिव्य आत्माओं के रूप में करते हैं, तो कृष्ण के नित्यदास रूप में अनुभूत उनका अनुभव *भागवतधर्म* का आधार बन जाता है। शुद्ध वैष्णव या ईश्वर के दास के रूप में

आत्मा के अनुभव में ईश्वर से भिन्न या ईश्वर के ही समान होने का भाव नहीं रहता, न ही कोई भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लोक में रुचि रखता है। शुद्ध भक्त भगवान् के प्रति अपनी भक्ति का ही अनुभव करता है और अपने को परम आश्रय के भिन्नांश रूप में देखता है। शुद्ध भक्त अनुभव करता है कि वह अपने चरम आश्रय भगवान् के किसी निजी विस्तार से प्रेमाभक्ति की रज्जु से बँधा हुआ है। और ऐसी चेतना की पूर्णावस्था में भक्त परब्रह्म के सर्वव्यापी विविध रूपों को देख सकता है।

यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥ ३५॥

शब्दार्थ

यान्—जिन (साधनों) को; **आस्थाय**—स्वीकार करके; **नरः**—मनुष्य; **राजन्**—हे राजा; **न प्रमाद्येत**—मोहित नहीं होता; **कर्हिचित्**—कभी भी; **धावन्**—दौड़ते हुए; **निमील्य**—बन्द करके; **वा**—अथवा; **नेत्रे**—उसकी आँखों में; **न स्खलेत्**—च्युत नहीं होगा; **न पतेत्**—पतित नहीं होगा; **इह**—इस मार्ग पर।

हे राजन्, जो व्यक्ति भगवान् के प्रति इस भक्तियोग को स्वीकार कर लेता है, वह इस संसार में अपने मार्ग पर कभी कोई बड़ी भूल नहीं करेगा। यदि वह अपनी आँखें बन्द करके दौड़ लगा लो, तो भी वह न तो लड़खड़ाएगा न पतित होगा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार पिछले श्लोक में प्रयुक्त *अञ्जः* शब्द की व्याख्या इस श्लोक में हुई है। वे कहते हैं—*अञ्जःपदेनोक्तं सुकरत्वं विवृणोति*—अञ्जः शब्द से भक्तियोग सम्पन्न करने की सरलता स्थापित की गई है और इस श्लोक में इसका विस्तार किया जायेगा। *भगवद्गीता* (९.२) में स्वयं भगवान् कहते हैं *प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्* भगवान् की भक्ति करने की विधि नित्य है और बड़े ही प्रमुदित भाव से तथा स्वाभाविक ढंग से सम्पन्न की जाती है। इस पर श्रील प्रभुपाद की टीका है, ''भक्तियोग अत्यन्त सुखकर होता है। ऐसा क्यों? क्योंकि भक्ति में *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* रहता है, जिससे मनुष्य भगवान् की महिमा के कीर्तन को सुन सकता है या प्रामाणिक आचार्यों द्वारा दिये गये दिव्य ज्ञान के दार्शनिक भाषणों में उपस्थित रह सकता है। मनुष्य केवल बैठे रहकर सीख सकता है, ईश्वर को अर्पित किये हुए भोजन के बचे हुए भाग को—उत्तम स्वादिष्ट पकवान—खा सकता है। प्रत्येक दशा में भक्ति सुखमय है। मनुष्य गरीबी की हालत में भी भक्ति कर सकता है। भगवान् कहते हैं *पत्रं पुष्पं फलं तोयं* वे भक्त से किसी प्रकार की भी भेंट लेने को तैयार रहते हैं, चाहे वह पत्रा हो, पुष्प हो, फल हो या थोड़ा-सा जल हो, जो संसार के हर कोने में उपलब्ध है। किसी

व्यक्ति द्वारा उसकी सामाजिक स्थिति की परवाह किये बिना, जो भी अर्पित किया जाये वह भगवान् को स्वीकार है, यदि उसे प्रेमपूर्वक चढ़ाया जाय। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। भगवान् के चरणकमलों पर चढ़े तुलसीदल मात्र खाकर सनत्कुमार जैसे मुनि महान् भक्त बन गये। अत: भक्तियोग अति उत्तम है और इसे प्रसन्न मुद्रा में सम्पन्न किया जा सकता है। भगवान् को तो वह प्रेम ही प्रिय है, जिसमें उन्हें वस्तुएँ भेंट की जाती हैं।''

यहाँ जिस महत्त्वपूर्ण बात को समझना है, वह यह है कि जब जीव भगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह भगवान् से कहता है, ''हे प्रभु! यद्यपि मैं अत्यन्त पापी तथा अयोग्य हूँ और इतने काल तक आपको भूलने का प्रयत्न करता रहा हूँ, किन्तु अब मैं आपके चरणकमलों में शरण ले रहा हूँ। आज से मैं आपका हूँ। मेरे पास जो भी है—मेरा शरीर, मन, शब्द, परिवार, धन वह सब मैं आपके चरणकमलों पर अर्पित कर रहा हूँ। कृपया मेरे साथ जैसा चाहें करें।'' भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में बारम्बार आश्वासन दिया है कि वे ऐसे शरणागत जीव की रक्षा करेंगे और उसे भगवद्धाम वापस लाकर मुक्त करेंगे और अपने धाम में नित्य जीवन प्रदान करेंगे। इस तरह भगवान् की शरण में जाने की योग्यता इतनी महान् और आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली है कि यदि शरणागत जीव पवित्र जीवन के अन्य पक्षों में न्यून होता है, तो उसके उच्च पद की रक्षा स्वयं भगवान् करते हैं। किन्तु अन्य विधियों में, यथा *योग* में, मनुष्य अपने संकल्प तथा बुद्धि पर निर्भर रहता है और भगवान् की शरण नहीं खोजता तो वह किसी भी क्षण पतित हो सकता है, क्योंकि वह अपनी सीमित थोथी शक्ति द्वारा रक्षित होता है। इसलिए जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः/पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः* यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की शरण त्यागकर अपने संकल्प के द्वारा योग-विधि में अग्रसर होने का प्रयास करता है या फिर अपनी चिन्तन शक्ति से ज्ञान में उन्नति करना चाहता है, तो अन्ततोगत्वा वह मध्यवर्ती भौतिक स्तर पर पुन: आ गिरेगा और उसकी अपनी च्युत शक्ति के अतिरिक्त कोई सुरक्षा नहीं होगी। इसीलिए वैष्णव आचार्यों ने इस श्लोक की टीका करते हुए कई प्रकार से भक्तियोग की श्रेष्ठता प्रदर्शित की है। इस सन्दर्भ में, श्रीधर स्वामी कहते हैं *निमील्य नेत्रे धावन्नपि इह एषु भागवतधर्मेषु न स्खलेत्। निमीलनं नामाज्ञानं, यथाहुः—'श्रुति-स्मृति उभे नेत्रे विप्रानां परिकीर्तिते।एकेन विकलः काणो द्वाभ्याम् अन्धः प्रकीर्तितः 'इति।* ''दोनों आँखें मूँदकर

दौड़ते हुए भी एक भक्त इस भागवतधर्म के पथ पर नहीं लड़खड़ायेगा। आँखें मूँदना द्योतक है (आदर्श वैदिक ग्रंथों से) अनभिज्ञता का। जैसाकि कहा गया है ''श्रुति तथा स्मृति शास्त्र तो ब्राह्मणों की दो आँखें हैं। इनमें से एक से रहित होने पर ब्राह्मण आधा अँधा (काना) है और दोनों से रहित होने पर पूरा अँधा माना जाता है।

भगवद्गीता (१०.१०-११) में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि यदि कोई भक्त वैदिक ज्ञान से विहीन या वैष्णव साहित्य से अनजान भी क्यों न हो, किन्तु यदि वह सचमुच ही भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा हुआ है, तो उसके भीतर से स्वयं भगवान् उसे ज्ञान प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''जब चैतन्य महाप्रभु हरे कृष्ण कीर्तन का प्रचार करने के लिए वाराणसी में थे तो हजारों लोग उनके अनुयायी बन गये थे। उस समय वाराणसी के अत्यन्त प्रभावशाली तथा प्रकाण्ड पंडित प्रकाशानन्द ने चैतन्य महाप्रभु को भाववादी (आवेशवादी) कहकर उपहास किया। कभी कभी दार्शनिकगण भक्तों की आलोचना करते हैं, क्योंकि वे यह सोचते हैं कि अधिकांश भक्त अज्ञान के अंधकार में रहते हैं और दर्शन की दृष्टि से नवभाववादी होते हैं। किन्तु वास्तव में यह यथार्थ नहीं है। ऐसे अत्यन्त ज्ञानी विद्वान हैं, जिन्होंने भक्तिदर्शन प्रस्तुत किया है, किन्तु भले ही कोई भक्त उनके साहित्य का या अपने गुरु का लाभ न भी उठाता हो, यदि वह अपनी भक्ति में निष्ठा रखता है, तो साक्षात् कृष्ण उसके हृदय के भीतर से उसकी सहायता करते हैं। इसलिए कृष्णभावनामृत में रत निष्ठावानभक्त ज्ञान से रहित नहीं हो सकता। एकमात्र योग्यता यही है कि वह पूर्ण कृष्णभावनामृत में भक्ति करे।''

तो भी भगवान् द्वारा प्रदत्त यह सुविधा रागानुगा भक्ति के नाम पर अप्रामाणिक विचारों के औचित्य को सिद्ध नहीं करती। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है *भगवत्प्राप्त्यर्थं पृथङ्मार्गकरणं त्वतिदूषणावहमेव* यदि भगवान् को प्राप्त करने के लिए कोई भक्ति की अपनी विधि बना लेता है, तो इस मनोकल्पना से पूर्ण विनाश हो जायेगा। वे इसके आगे उद्धरण देते हैं—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।

ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

''यदि किसी की तथाकथित अनन्य हरि-भक्ति श्रुति, स्मृति, पुराणों तथा पञ्चरात्र के विधि-विधानों को समाहित नहीं करती, तो यह समाज में उत्पात के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।'' दूसरे शब्दों में भले ही कोई वैदिक वाङ्मय में पारंगत न हो, किन्तु यदि वह भगवद्भक्ति में लगा रहता है, तो उसे शुद्ध भक्त मानना चाहिए। यही नहीं, ऐसी प्रेमाभक्ति शास्त्रों के आदेशों का किसी तरह से विरोध नहीं कर सकती।

प्राकृतसहजिये वैष्णव धर्म के आदर्श नियमों की परवाह न करके अवैध निम्न कार्यों में लगे रहते हैं और रागानुगा भक्ति के नाम पर राधा-कृष्ण का वेश बनाते हैं। उनका कहना है कि चूँकि स्वयं भगवान् ने ऐसी रागानुगा भक्ति प्रकट की थी, इसलिए उन्हें आदर्श शास्त्रों का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह विश्व-भर में ऐसे छद्म धर्मधुरीण हैं, जो अपनी विधियाँ गढ़ कर यह कहते हैं कि भगवान् उन्हें उनके हृदयों में से ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। इसलिए यहाँ यह समझना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा कि हृदय के भीतर राग का प्राकट्य भगवान् की भक्ति की शाश्वत विधि को बदलने के लिए नहीं होता, अपितु निष्ठावान् भक्त के लिए पूरक सहायता प्रदान करने के लिए है, जो शास्त्रों से अनजान हो। दूसरे शब्दों में, शास्त्रों द्वारा भगवद्भक्ति की शाश्वत विधि का वर्णन किया जाता है। चूँकि भगवान् तथा जीव दोनों ही शाश्वत हैं, अतएव उनके प्रेम-सम्बन्ध भी शाश्वत हैं। न तो भगवान् अपना स्वभाव बदलते हैं, न ही जीव। अतएव भगवान् की प्रेमाभक्ति की अनिवार्य विधि को बदलने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् द्वारा विशेष प्राकट्य अन्य साधनों द्वारा शास्त्रीय ज्ञान प्रदान करना है, शास्त्र ज्ञान का खण्डन नहीं।

दूसरी ओर, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि यदि कोई भक्त भक्तियोग के सारे मूल सिद्धान्तों का पालन करता है और भक्ति में अग्रसर होता है, तो ऐसे वैष्णव की गौण विधियों की उपेक्षा करने के लिए आलोचना नहीं की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ, श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ने कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने के लिए पाश्चात्य देशों में सैकड़ों आध्यात्मिक समुदायों की स्थापना की। इन समुदायों के भक्तगण अवैध यौन, द्यूतक्रीड़ा, नशा तथा मांसाहार का परित्याग करके निरन्तर कृष्णभक्ति में लगे रहते हैं। श्रील प्रभुपाद के ऐसे अनुयायी अद्भुत आध्यात्मिक प्रगति करने तथा हजारों लोगों को भक्तियोग के प्रति उन्मुख करने में समर्थ हैं। वस्तुतः इस्कॉन के सारे श्रद्धालु सदस्य

आदर्श विधियों का पालन करने से भौतिक दूषण से मुक्त रहते हैं और भगवद्धाम जाने की दिशा में स्पष्ट प्रगति करते हैं। इस्कॉन के ऐसे सदस्य वर्णाश्रम धर्म प्रणाली के सारे विधानों को संभवतः पूरा नहीं कर सकते। तथ्य तो यह है कि अनेक पाश्चात्य भक्त संस्कृत शब्दों का उच्चारण भी नहीं कर सकते और मंत्र का जाप करने तथा आहुतियाँ देने से सम्बद्ध विस्तृत यज्ञों को सम्पन्न करने में कुशल नहीं हैं। किन्तु चूँकि वे भौतिक इन्द्रियतृप्ति का परित्याग करके भक्तियोग के अनिवार्य नियमों का पालन करते हैं और कृष्ण की प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं, अतएव इस जीवन में तथा अगले जीवन में उनकी स्थिति सुनिश्चित है।

हमने ऐसे अनेक शिष्ट संस्कृत पंडितों तथा वैदिक यज्ञों में पटु विद्वानों को देखा है, जो मानव-जीवन के मूल सिद्धान्तों का भी मुश्किल से पालन करते हैं—ये हैं अवैध यौन, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा नशा इन सबका निषेध। ऐसे प्रखर विद्वान तथा कर्मकाण्डी सामान्यतया भौतिकतावादी जीवन के प्रति अनुरक्त देखे जाते हैं और उन्हें मानसिक चिन्तन का शौक रहता है। यद्यपि भगवान् ने *भगवद्गीता* में सभी कालों के लिए पूर्ण ज्ञान प्रदान किया है, किन्तु तथाकथित पंडित अपने को भगवान् से बढ़कर बुद्धिमान मानते हैं और वैदिक वाङ्मय के अर्थ पर निजी ढंग से चिन्तन करते हैं। ऐसा चिन्तन पूर्ण आध्यात्मिक जीवन से नीचे गिराने वाला है, तो फिर सकाम कर्मों के विषय में क्या कहा जाय जो हर तरह से मायामय हैं। दिव्य भक्त सकाम कर्म तथा मानसिक चिन्तन के दूषण से दूर रहने में समर्थ चले आ रहे हैं और यही इस श्लोक का मूल तात्पर्य है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने आगाह किया है कि *यान् आस्थाय* शब्द यह सूचित करते हैं कि वैष्णव का उच्च पद उसे कभी भी नहीं दिया जा सकता, जो भक्तियोग के मूलभूत विधानों का पालन नहीं करता। न ही यह पद उसे दिया जा सकता है, जो मनमाने चिंतन से या सकाम कर्म से कभी तो कृष्ण की सेवा करता है और कभी माया की। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर अन्त में यह कहते हैं, ''भागवतधर्म के अतिरिक्त सारे धर्मों में बद्धजीव की योग्यता पर विचार किया जाता है। किन्तु भगवान् की शरण में आया जीव कभी भी त्रुटि नहीं करता, भले ही वह अन्य पक्षों में अयोग्य क्यों न हो। उसके पैर कभी नहीं लड़खड़ाते और वह कभी नहीं गिरता। अपनी अचल पूजा के बल पर वह शुभ स्थान में वास करता है, भले ही वह संसार में मनमाने ढंग से विचरण क्यों न करता हो।

भागवतधर्म की-सी अद्वितीय शक्ति विश्व के अन्य किसी धर्म में नहीं देखी जाती। भागवतधर्म की शरण में आये व्यक्ति तथा अन्य किसी धर्मावलम्बी में कोई तुलना नहीं है।''

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कायेन—शरीर से; **वाचा**—वाणी से; **मनसा**—मन से; **इन्द्रियैः**—इन्द्रियों से; **वा**—अथवा; **बुद्ध्या**—बुद्धि से; **आत्मना**—शुद्ध चेतना से; **वा**—अथवा; **अनुसृत**—अनुसरण किया हुआ; **स्वभावात्**—किसी के स्वभाव के अनुसार; **करोति**—करता है; **यत् यत्**—जो जो; **सकलम्**—सभी; **परस्मै**—ब्रह्म को; **नारायणाय इति**—यह सोचते हुए कि यह नारायण के लिए है; **समर्पयेत्**—समर्पण करना चाहिए; **तत्**—वह।

बद्ध जीवन में अर्जित विशेष स्वभाव के अनुसार मनुष्य अपने शरीर, वचन, मन, इन्द्रिय, बुद्धि या शुद्ध चेतना से, जो कुछ करता है उसे यह सोचते हुए परमात्मा को अर्पित करना चाहिए कि यह भगवान् नारायण की प्रसन्नता के लिए है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में यह टीका की है कि जो व्यक्ति अपने शरीर के सारे ऐन्द्रिय कार्यों, मन, वचन, बुद्धि, अहंकार तथा चेतना को भगवान् की सेवा में लगाता है, उसे उस स्तर पर नहीं माना जा सकता जिस पर अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करने वाला *कर्मी* होता है। बाह्य रूप से बद्धजीव होते हुए भी जो व्यक्ति अपने सारे कार्य भगवान् को अर्पित कर देता है, उसे भौतिकतावादी कार्यों के फलों से उत्पन्न असंख्य कष्ट छू तक नहीं पाते।

बद्धजीव की भगवान् तथा उनकी सर्वशक्तिमान सत्ता से शत्रुता होने के कारण वह भगवान् के आदेश के विरुद्ध कर्म करता है। तो भी स्वरूपसिद्ध जीव भगवान् के मिशन को पूरा करने के लिए इस संसार में सभी प्रकार के कार्य करते रहते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जो कर्मीजन अधिकाधिक पवित्र होते हैं, वे भगवान् के चरणकमलों पर अपने कर्मों के फलों को अर्पित करने का प्रयास करके स्वरूपसिद्ध जीवों के उदाहरण का अनुसरण करते हैं। यद्यपि इसे *कर्ममिश्र* भक्ति माना जाता है, किन्तु ऐसी मिश्रित भक्ति क्रमशः शुद्ध भक्ति में बदल जाती है। चूँकि पवित्र सकाम कर्मी क्रमशः अपने को अपने परिश्रम से अर्जित पुरस्कार के भोगने की बेहूदी विचारधारा से अपने को विलग कर लेते हैं, अतएव शुद्ध भक्ति से उन्हें भरपूर सौभाग्य प्राप्त होता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने टीका की है *आत्मना चित्तेनाहंकारेण वा अनुसृतो यः स्वभावस्तस्मात्* मनुष्य देहात्म बुद्धि में क्यों न हो, उसे अपने कर्म का फल भगवान् को अर्पित करना चाहिए। भगवान् के विषय में पुराणपंथी भौतिकतावादी विचार रखने वाले व्यक्ति भगवान् को मन्दिर या गिरजाघर में ही उपस्थित मानते हैं। वे पूजास्थल में भगवान् को कुछ भेंट चढ़ाते हैं, किन्तु अपने सामान्य कार्यों में वे स्वामित्व का दावा करते हैं और यह नहीं सोचते कि ईश्वर सर्वत्र तथा हर एक के भीतर वर्तमान हैं। हमें ऐसे अनेक धार्मिक पुरुषों का व्यावहारिक अनुभव है, जो अपने बच्चों को भगवान् का दास बनते देख अपमानित अनुभव करते हैं। वे सोचते हैं कि "मैं जो भी तुच्छ भेंट भगवान् पर चढ़ाऊँ उससे उन्हें प्रसन्न होना चाहिए, किन्तु मेरा परिवार तथा मेरे कामकाज मेरे हैं और वे मेरे अधीन हैं।" भगवान् या उनके स्वामित्व से किसी वस्तु के पृथक् होने की अनुभूति *माया* है। श्रील श्रीधर स्वामी ने उद्धरण दिया है *न केवलं विधितः कृतम् एवेति नियमः। स्वभावानुसारि लौकिकमपि* भगवान् की सेवा करने का विधान केवल संस्तुत धार्मिक पंथों और अनुष्ठानों को ही नहीं द्योतित करता, प्रत्युत इस संसार में मनुष्य अपनी निजी प्रकृति के अनुसार जितने भी कर्म करता है, उन्हें भगवान् को अर्पित किया जाना चाहिए।

इस श्लोक का यह अंश *करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत्* अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसा ही श्लोक *भगवद्गीता* (९.२७) में मिलता है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्ती-पुत्र! तुम जो भी करते हो, जितना भी खाते हो, जो भी अर्पित करते हो और दान में देते हो तथा जितनी भी तपस्या करते हो उन सबों को मुझे अर्पण करते हुए किया जाना चाहिए।" यह आपत्ति की जा सकती है कि चूँकि हमारे सामान्य कार्य भौतिक शरीर तथा भौतिक मन द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, आत्मा द्वारा नहीं, तो फिर ऐसे कार्यों को किस तरह भगवान् को अर्पित किया जा सकता है, जो भौतिक जगत से पूरी तरह परे हैं? ऐसे कार्यों को किस तरह आध्यात्मिक माना जा सकता है? इसके उत्तर में *विष्णु पुराण* (३.८.८) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

जो व्यक्ति भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना चाहता है उसे *वर्णाश्रम धर्म* प्रणाली स्वीकार करनी चाहिए और अपने नियत कर्मों को सम्पन्न करके भगवान् की पूजा करनी चाहिए। *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् वर्णाश्रम धर्म प्रणाली स्थापित करने का श्रेय स्वयं को देते हैं *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।* इसलिए यदि कोई व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत अपना कर्म भगवान् को अर्पित करता है, तो ऐसे कर्म की गणना भक्ति में की जाती है। अपने *स्वभाव* के अनुसार मनुष्य बुद्धिजीवी या पुरोहित, शासक या सैनिक, किसान या व्यापारी, अथवा श्रमिक या कलाकार के रूप में कर्म कर सकता है और ऐसा कर्म करते समय हर मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का ध्यान *यत् सकलं परस्मै नारायणाय* सोचते हुए करे—अर्थात् मैं भगवान् के लिए कर्म कर रहा हूँ। मेरे कर्म से जो भी फल प्राप्त होगा उसका कम से कम मैं अपने निजी निर्वाह के लिए रखूँगा और शेष को नारायण के महिमा-गायन में अर्पित कर दूँगा।

श्रील जीव गोस्वामी ने इंगित किया है *कामिनां तु सर्वथैव न दुष्कर्मार्पणाम्*—मनुष्य भगवान् को *दुष्कर्म* अर्थात् पापपूर्ण दुष्ट कर्म अर्पित नहीं कर सकता। पापमय जीवन के चार स्तम्भ हैं—अवैध यौन, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा नशा। ऐसे कर्म कभी भी भगवान् को भेंट के रूप में ग्राह्य नहीं होते। उदाहरणार्थ, यद्यपि मुक्त समाज में हर व्यक्ति को अपना पेशा चुनने की छूट दी जाती है, किन्तु प्रजातंत्र सरकार भी अपने नागरिक को चोर या हत्यारे का पेशा चुनने नहीं देगी। उसी तरह ईश्वर के नियमानुसार मनुष्य को वर्णाश्रम पद्धति में अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करने के लिए आमंत्रित किया जाता है, किन्तु उसे ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करते हुए पापपूर्ण कर्मों का अपराधी जीवन ग्रहण करने से मना किया जाता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इसका सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है कि भगवान् को किस तरह अपने सामान्य कर्म अर्पित किये जाँय। वे कहते हैं कि सामान्य इन्द्रिय भोक्ता प्रातःकाल शौच जाने, अपना मुख साफ करने, दाँत की सफाई करने, नहाने, मित्रों तथा परिवार वालों से मिलने और उनसे दिन के कार्यों के बारे में विचार-विमर्श करने से अपना कार्य शुरू करता है। इस तरह दिन में मनुष्य अनेक कार्य करता है और इन्द्रिय भोक्ता ये सारे कार्य अपने निजी भोग के लिए करता है। दूसरी ओर *कर्मी* वेदों के कर्मकाण्ड खण्ड के आदेशानुसार उन्हीं कार्यों को देवताओं तथा अपने पूर्वजों की

प्रसन्नता के लिए करता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् नारायण के भक्त को भी इसी तरह अपने सारे कार्य भगवान् की प्रसन्नता के लिए करना चाहिए। इस तरह पूरे दिन में हम जो कुछ भी करते हैं वह *भक्त्यंग* अर्थात् हमारी कृष्ण–भक्ति का पूरक पक्ष बन जायेगा।

यहाँ यह समझ लेना होगा कि जब तक मनुष्य अपनी पहचान कृष्ण के भिन्नांश रूप में न करके वर्णाश्रम–धर्म प्रणाली के रूप में करता है तब तक वह *अहंकार* के ही धरातल पर रहता है, क्योंकि वर्णाश्रम प्रणाली की रचना जीव द्वारा अपने भौतिक शरीर के माध्यम से अर्जित प्रकृति के गुणों के अनुसार की जाती है। किन्तु आचार्यों ने इस श्लोक की टीका करते हुए इस बात पर बल दिया है कि ऐसे अहंकार को भी, जिससे मनुष्य अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, संन्यासी, गृहस्थ इत्यादि के रूप में पहचानता है, भगवान् को अर्पित करना चाहिए।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार जब कोई व्यक्ति भगवान् के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने में अत्यन्त अनुरक्त होने लगता है और केवल अपने कर्म के फल भगवान् को अर्पित करने में नहीं, तो उसे *स्वरूपसिद्धा भक्ति* की अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् वह अवस्था जिसमें भक्ति दृष्टिगोचर बन जाती है। उदाहरणार्थ, कोई भी अच्छा नागरिक सरकार को कर चुकाता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सरकार या उसके नेताओं से वह प्रेम करता हो। इसी प्रकार एक पवित्र जीव यह समझ सकता है कि वह ईश्वर के नियमों के अधीन कर्म कर रहा है, इसलिए वैदिक या अन्य शास्त्रीय आदेशों के अनुसार वह अपनी सम्पत्ति का एक अंश भगवान् को धार्मिक उत्सवों के लिए दे देता है। किन्तु जब ऐसा पवित्र व्यक्ति वास्तव में भगवान् के गुणों का कीर्तन करने और उन्हें सुनने में अनुरक्त हो जाता है और जब प्रेम दृश्य होने लगता है, तो उसे जीवन की परिपक्वावस्था प्राप्त करते हुए माना जाता है। इस स्न्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी ने अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं, जो भगवत्प्रेम के विकास को सुन्दर ढंग से दिखलाने वाले हैं। *अनेन दुर्वासनादुःखदर्शनेन स करुणामयः करुणां करोतु*—पापपूर्ण इच्छाओं से उत्पन्न दुख प्रदर्शित करके कृपालु भगवान् मुझ पर दया दिखायें। *या प्रीतिरविवेकानां विसयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु*—अज्ञानी व्यक्तियों को इन्द्रियतृप्ति के पदार्थों में अटूट स्नेह होता है। इसी प्रकार मैं आपका सदैव स्मरण करूँ जिससे वही अनुरक्ति, जो आपके साथ की जाती है, कभी मेरे हृदय को न छोड़े। (विष्णु पुराण १.२०.१९) *युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवतौ यथा। मनोऽभिरमते*

तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि—जिस तरह युवतियों का मन किसी युवक के बारे में सोचने में आनन्दित होता है और युवकों का मन किसी युवती के बारे में सोचने में रमता है, उसी तरह मेरा मन आपमें रमे। *मम सुकर्मणि दुष्कर्मणि च यद् रागसामान्यम्। तद् सर्वतोभावेन भगवद्विषयम् एव भवतु*—पुण्य या पापों के लिए मुझमें जो भी अनुरक्ति हो वह अनुरक्ति पूर्णरूपेण आपमें लगे।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भयम्—भय; द्वितीय—भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में; अभिनिवेशतः—लीन रहने से; स्यात्—उत्पन्न होगी; ईशात्—भगवान् से; अपेतस्य—जिसने निकाल दिया उसके लिए; विपर्ययः—गलत पहचान; अस्मृतिः—विस्मरणशीलता; तत्—उस भगवान् की; मायया—माया से; अतः—इसलिए; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति; आभजेत्—पूरी तरह पूजा करे; तम्—उसको; भक्त्या—भक्ति के सहित; एकया—अनन्य; ईशम्—भगवान् को; गुरु-देवता-आत्मा—जो अपने गुरु को अपना स्वामी तथा आत्मा तक मानता है।

जब जीव भगवान् की बहिरंगा माया शक्ति में लीन होने के कारण भौतिक शरीर के रूप में गलत से अपनी पहचान करता है, तब भय उत्पन्न होता है। इस प्रकार जीव जब भगवान् से मुख मोड़ लेता है, तो वह भगवान् के दास रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भी भूल जाता है। यह मोहने वाली भयपूर्ण दशा माया द्वारा प्रभावित होती है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में भगवान् की अनन्य भक्ति में लगना चाहिए। और गुरु को ही अपना आराध्यदेव तथा अपना प्राणधन स्वीकार करना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यह आपत्ति की जा सकती है कि चूँकि भय अज्ञानजन्य होता है, अतएव इसे ज्ञान द्वारा भगाया जा सकता है और भगवान् की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। जीव मिथ्या ही अपनी पहचान अपने भौतिक शरीर, परिवार, समाज इत्यादि के रूप में करता है। उसे केवल इसी मिथ्या पहचान का परित्याग करना होता है। तब माया क्या कर सकेगी?

इस तर्क के प्रत्युत्तर में श्रील श्रीधर स्वामी ने *भगवद्गीता* का निम्नलिखित श्लोक (७.१४) उद्धृत किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

''तीन गुणों वाली मेरी इस माया को पार कर पाना मुश्किल है। किन्तु जिन्होंने मेरी शरण ग्रहण कर ली है वे सरलता से इसके उस पार जा सकते हैं।'' जीव या *जीवतत्त्व* भगवान् की शक्तियों में से एक है, किन्तु जीव की स्वाभाविक स्थिति *तटस्थ* अर्थात् सीमांत है। सूक्ष्म होने से हर जीव परम पुरुष कृष्ण पर निरन्तर आश्रित रहता है। इसकी पुष्टि वैदिक वाङ्मय में इस प्रकार हुई है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां। एको बहूनां यो विदधाति कामान्*—समस्त चेतनायुक्त प्राणियों में एक परम पुरुष है, जो अन्य असंख्य जीवों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है। (कठ उपनिषद् २.१.१२) कृष्णदास कविराज ने लिखा है *एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—कृष्ण ही एकमात्र स्वतंत्र नियन्ता है, अन्य सारे जीव उन पर आश्रित हैं। (चैतन्य-चरितामृत आदि ५.१४२) जिस तरह अँगुली शरीर का अंश है, अतएव उसे शारीरिक सेवा में सदैव लगे रहना चाहिए। उसी तरह कृष्ण के भिन्नांश (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*) होने के कारण भगवान् की अनन्य शुद्ध सेवा में लगे रहना, हमारा नित्य कर्तव्य (*सनातनधर्म*) है।

भगवान् की सेवा करते समय हमें भगवान् की जो शक्ति प्रकाश देती है, वह *चित्शक्ति* कहलाती है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है कि जब जीव में स्वतंत्रता का भाव उत्पन्न होता है, तो वह भौतिक जगत में आने के लिए बाध्य हो जाता है, जहाँ वह अनेक प्रकार के क्षुद्र तथा अवांछित आचरणों में भाग लेता है जिनसे उसके लिए भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाती है। *बहिरंगा शक्ति* चित्शक्ति को पूरी तरह आच्छादित कर लेती है और जीव को उसके स्थूल पापमय भोग के लिए एक के बाद एक शरीर प्रदान करती रहती है। इस तरह जो जीव कृष्ण से अपने प्रेममय सम्बन्ध को त्याग देता है, वह दण्डस्वरूप अपने वास्तविक आश्रय भगवान् के नित्य आनन्दमय रूप को देखने की सारी शक्ति खो बैठता है। इसके बदले वह अनेक क्षणभंगुर मायाजाल वाले रूपों में अनुरक्त होता है यथा अपने शरीर, अपने परिवार के सदस्यों तथा मित्रों के शरीर, अपने राष्ट्र, अपने शहर, उसकी इमारतों तथा कारों और असंख्य प्रकार के भौतिक अल्पकालिक दृश्यों आदि में। ऐसी घोर अज्ञानता की स्थिति में अपने मूल स्वरूप में वापस लौट जाने का विचार भी उसके मन में नहीं उठता।

ईश्वर के नियमों के अनुसार भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों में निरन्तर संघर्ष चलता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। *भागवत* में यही संघर्ष कई स्थानों पर *गुण-व्यतिकरम्* के रूप में वर्णित हुआ है। जब जीव भौतिक गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया से मोहग्रस्त हो जाता है, तो उसमें सापेक्षता का भाव उदय होता है और वह यह कल्पना करने लगता है कि ईश्वर तथा ईश्वर-पूजा प्रकृति के गुणों की विरोधी क्रियाओं का प्रतिफल है। मानव-वैज्ञानिक, समाज-वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के नाम पर जीव भौतिकतावादी अज्ञान के अंधकार में गहरे से गहरा गिरता जाता है और वह अपने को संसारी पवित्रता, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति, या चिन्तन को समर्पित कर देता है, जिसमें वह परम को भिन्नता और व्यक्तित्व से रहित समझता है और इसे वह प्रकृति के गुणों की क्रिया-प्रक्रिया का प्रतिफल मान लेता है।

भगवान् की माया *दुरत्यया* है अर्थात् कृष्ण-कृपा के बिना इससे बच पाना असम्भव है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि जब सूर्य बादलों से ढक जाता है, तो कोई भी मानव-निर्मित यंत्र बादलों को आकाश से हटा नहीं सकता, किन्तु बादलों को उत्पन्न करने वाला सूर्य बादलों के आवरण को तुरन्त जलाकर अपने को प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार जब हम भगवान् की माया से प्रच्छन्न हो जाते हैं, तो हम अपनी पहचान अपने क्षणिक भौतिक शरीर से करते हैं, जिससे हम सदैव भयभीत तथा चिन्तित रहते हैं। किन्तु जब हम भगवान् की शरण ग्रहण कर लेते हैं, तो वे हमें इस माया से तुरन्त मुक्त कर सकते हैं। भौतिक जगत तो *पदं पदं यद् विपदाम्* है अर्थात् पग पग पर संकटपूर्ण है। जब जीव यह समझ लेता है कि वह भौतिक शरीर नहीं अपितु भगवान् का नित्य दास है, तो उसका भय जाता रहता है। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं *अत्र भक्तै संसारबन्धान्न भेतव्यं स हि भक्तौ प्रवर्तमानस्य स्वत एवापयाति*—इस भागवतधर्म में भक्तों को भवबन्धन से डरने की आवश्श्यकता नहीं है। जो व्यक्ति भक्ति में अपने को लगाता है, उसके लिए यह भय अपने आप हट जाता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना महत्त्वपूर्ण है कि *भयम्* अर्थात् भय केवल *अहं ब्रह्मास्मि* जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त निर्विशेष आत्म-साक्षात्कार द्वारा नहीं भगाया जा सकता। *श्रीमद्भागवत* (१.५.१२) में नारद मुनि व्यासदेव से कहते हैं *नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते*—केवल *नैष्कर्म्यम्* अर्थात् कर्म का त्याग

तथा जीवात्मबुद्धि की अस्वीकृति किसी की रक्षा नहीं कर सकता। जीव को आध्यात्मिक स्तर पर श्रेष्ठ आश्रय खोजना चाहिए, अन्यथा वह संसार की भयपूर्ण स्थिति में वापस लौट आयेगा। इसका कथन शास्त्र में हुआ है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः* (भागवत १०.२.३२)। भले ही कोई परम श्रम तथा प्रयास से ब्रह्म पद तक पहुँच ले (*क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्*) किन्तु यदि वह उपयुक्त आश्रय नहीं ढूँढ़ लेता, तो वह भौतिक धरातल पर पुनः लौट आयेगा, अतएव उसकी तथाकथित मुक्ति *विमुक्तमान* अर्थात् कल्पना द्वारा मुक्ति है।

जीव स्वभाव से आनन्द खोजी—*आनन्दमय*—है। हम इसीलिए कष्ट पा रहे हैं, क्योंकि हम भौतिक स्तर पर झूठे ही आनन्द की खोज कर रहे हैं। फलस्वरूप हम जगत की पीड़ामयी जटिलताओं में फँस जाते हैं। किन्तु यदि हम आनन्द खोजने की लालसा को एकदम छोड़ने का प्रयास करते हैं, तो हम उद्विग्न होकर भौतिक आनन्द की खोज के स्तर पर लौट आते हैं। यद्यपि निर्विशेष अनुभूति के ब्रह्म पद पर शाश्वत जगत है, किन्तु वहाँ *आनन्द* नहीं है। विविधता आनन्द की जननी है। वैकुण्ठ-लोक में वास्तविक आध्यात्मिक आनन्द है। वहाँ पर कृष्ण अपने आनन्दमय आध्यात्मिक रूप में अपने आनन्दमय पार्षदों से घिरे रहते हैं, जो कि आनन्द तथा ज्ञान से नित्य पूर्ण होते हैं। उन्हें भौतिक जगत से कोई सरोकार नहीं रहता। आध्यात्मिक लोकों में पशु-पक्षी तथा प्राकृतिक दृश्य तक पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होते हैं और दिव्य आनन्द में मग्न रहते हैं। *यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम* (भगवद्गीता १५.६)। जो कृष्ण के आनन्दमय आध्यात्मिक लोक को जाता है, वह पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाता है और फिर भौतिक धरातल पर वापस नहीं आता। इसीलिए विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*किं चात्र भक्तै संसारबन्धान्न भेतव्यम्।* केवल भक्त ही भय से मुक्त हो पाता है।

इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने प्रामाणिक गुरु स्वीकार करने पर बल दिया है, क्योंकि वह *व्रजेन्द्रनन्दन प्रेष्ठ*—नंद महाराज के पुत्र कृष्ण का सर्वाधिक प्रिय सेवक होता है। प्रामाणिक गुरु अन्य जीवों से तनिक भी द्वेष नहीं रखता, अतएव वह भगवद्भक्ति के ज्ञान को मुक्त-हस्त भाव से वितरित करता है। जब भगवान् की सेवा से शत्रुता रखने वाले जीव किसी तरह इस ज्ञान को विनीत भाव से सुनते हैं, तो वे भगवान् की उस माया से मुक्त हो जाते हैं, जो उन्हें आच्छादित करके जीवन की विविध दुखमय योनियों में डालती है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार

गुरु की कृपा से, श्रद्धालु शिष्य क्रमशः उन भगवान् नारायण के दिव्य पद को समझता है, जिनकी सेवा लाखों लक्ष्मियाँ आश्चर्य तथा आदर के साथ करती रहती हैं। ज्यों ज्यों शिष्य का दिव्य ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों त्यों वैकुण्ठपति का *परमैश्वर्य* भी गोविन्द या कृष्ण के सौन्दर्य के आगे फीका पड़ने लगता है। गोविन्द में कीर्तन करने तथा आनन्द प्रदान करने की अचिन्त्य शक्ति है और गुरु की कृपा से शिष्य क्रमशः गोविन्द से अपना आनन्दमय सम्बन्ध (*रस*) स्थापित कर लेता है। लक्ष्मीनारायण, सीताराम, रुक्मिणी-द्वारकाधीश तथा अन्त में साक्षात् कृष्ण की आनन्दमय लीलाओं को समझ लेने पर शुद्ध हुए जीव को अद्वितीय अवसर प्रदान किया जाता है कि वह कृष्ण-भक्ति में प्रत्यक्ष सम्मिलित हो, क्योंकि कृष्ण उसके एकमात्र लक्ष्य तथा आश्रय बन जाते हैं।

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।
तत्कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अविद्यमानः—वास्तव में उपस्थित नहीं; अपि—यद्यपि; अवभाति—प्रकट होता है; हि—निस्सन्देह; द्वयः—द्वैत; ध्यातुः—अनुभव करने वाले व्यक्ति की; धिया—बुद्धि से; स्वप्न—सपना; मनः-रथौ—अथवा इच्छा का उत्पन्न होना; यथा—जिस तरह; तत्—इसलिए; कर्म—कर्मों का; सङ्कल्प-विकल्पकम्—संकल्प-विकल्प को; मनः—मन; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति; निरुन्ध्यात्—वश में लाना चाहिए; अभयम्—निर्भीकता; ततः—इस तरह से; स्यात्—हो सकता है।

यद्यपि भौतिक जगत का द्वैत अन्ततः विद्यमान नहीं रहता, किन्तु बद्धजीव अपनी बद्ध-बुद्धि के प्रभाववश इसे असली अनुभव करता है। कृष्ण से पृथक् जगत के काल्पनिक अनुभव की तुलना स्वप्न देखने तथा इच्छा करने से की जा सकती है। जब बद्धजीव रात में इच्छित या भयावनी वस्तु का सपना देखता है अथवा जब वह जो कुछ चाहता है या जिससे दूर रहना चाहता है उनका दिवास्वप्न देखता है, तो वह ऐसी वास्तविकता को जन्म देता है, जिसका अस्तित्व उसकी कल्पना से परे नहीं होता। मन की प्रवृत्ति इन्द्रियतृप्ति पर आधारित विविध कार्यों को स्वीकार करने तथा उन्हें बहिष्कृत करने की होती है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को मन पर नियंत्रण रखना चाहिए और वस्तुओं को कृष्ण से पृथक् देखने के भ्रम से इसे अलग रखना चाहिए। जब मन इस तरह वश में हो जायेगा, तो उसे वास्तविक निर्भीकता का अनुभव होगा।

तात्पर्य : यद्यपि बद्ध-मन माया द्वारा प्रदत्त इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं से मोहित हो जाता है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् की अनन्य भक्ति स्वीकार कर ले तो ऐसी भौतिक इन्द्रियतृप्ति क्रमशः दूर हो जाती है, क्योंकि यह बद्धजीव का मनोरथ मात्र होती है। श्रील श्रीधर स्वामी ने *अव्यभिचारिणी भक्ति* शब्दों के प्रयोग से इस बात पर बल दिया है कि मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति के भ्रम को तब तक दूर नहीं कर सकता, जब तक वह भगवान् की शुद्ध भक्ति स्वीकार न कर ले। श्रील रूप गोस्वामी ने (भक्तिरसामृतसिन्धु १.१.११) कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

शुद्ध भक्ति को भौतिक इन्द्रियतृप्ति या मनोरथ के साथ मिश्रित नहीं किया जा सकता। सेवक को स्वामी की तुष्टि के लिए ही कर्म करना चाहिए। भगवान् कृष्ण ने इसी तरह *भगवद्गीता* में कहा है— *मामेकं शरणं व्रज।* मनुष्य को चाहिए कि वह केवल कृष्ण को सर्वत्र देखे और हर जीव के नित्य स्वामी भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करे।

श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं, जो यह बतलाते हैं कि जीव अपने को अपना शरीर, घर, परिवार, मित्र इत्यादि मानने के भ्रम से तथा जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसने से मायाजाल को सच्चाई मान लेता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *श्रवणकीर्तनादिलक्षणमात्रत्वं यतो न व्याहन्येत*—यदि कोई व्यक्ति भौतिक भ्रम के द्वैत को वास्तव में दूर करना चाहता है, तो उसे भगवान् के गुणों के कीर्तन तथा श्रवण करने की विधि ग्रहण करनी चाहिए। श्रील चैतन्य महाप्रभु ने भी निम्नलिखित वैदिक सन्दर्भ प्रस्तुत किया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(*बृहन्नारदीय पुराण*)

वैदिक वाङ्मय के अनुसार इस कलियुग के जीवों में आध्यात्मिक ज्ञान समझने की शक्ति क्षीण हो चुकी है (*मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः*)। उनके मन सदैव विक्षुब्ध रहते हैं, वे आलसी होते हैं और अनेक नकली नेताओं द्वारा दिग्भ्रमित किये जाते हैं। *भागवत* में इन्हें ही *निःसत्त्वान्* (अधीर

तथा अपवित्र), *दुर्मेधान्* (मन्द बुद्धि वाले) तथा *ह्रसितायुषः* (अल्पजीवी) कहा है। इसलिए जो व्यक्ति भौतिक जीवन के अज्ञान को सच्चे अर्थों में जीतना चाहता है, उसे भगवन्नाम की कीर्तन तथा श्रवण-विधि के प्रति समर्पित हो जाना चाहिए। साथ ही भगवत्प्रदत्त *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत* तथा *चैतन्य-चरितामृत* जैसे दिव्य ग्रंथों को पढ़ना तथा सुनाना चाहिए। यह जान लेना चाहिए कि जीव पूर्णतया आध्यात्मिक है और भौतिक शक्ति से कभी मिश्रित नहीं होता (*असंगो ह्ययंपुरुषः*)। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार—*तस्मिन् शुद्धेऽपि कल्प्यते*—यद्यपि जीव *शुद्ध* है—शुद्ध आत्मा है—तो भी वह अपने को भौतिक सृष्टि के रूप में सोचता है और इस तरह अपने को माया के बंधन में, जिसे *देहापत्य कलत्रादि* कहते हैं, फँसा लेता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भौतिक जीवन के अनुभव को बताने के लिए *मानसप्रत्यक्ष* शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है "जिसका अनुभव केवल मन में ही किया जाय।" वास्तविक *प्रत्यक्ष* का वर्णन *भगवद्गीता* (९.२) में हुआ है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

जब मनुष्य *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् द्वारा दिये गये उपदेशों को सुनता है, तो वह प्रत्यक्ष रूप से अपने नित्य स्वभाव का अनुभव कर सकता है (*प्रत्यक्षावगमम्*), क्योंकि *भगवद्गीता राजविद्या* और *राजगुह्यम्* है और ऐसे निष्कलुष आध्यात्मिक ज्ञान के सान्निध्य से ही प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है (*पवित्रमिदमुत्तमम्*)। अपने नित्य स्वभाव का अनुभव करके मनुष्य पूरी तरह धार्मिक (*धर्म्यम्*), आनन्दमय (*सुसुखम्*) तथा भगवद्भक्ति में निरन्तर रत (*कर्तुमव्ययम्*) रहता है।

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह श्रुति मंत्र उद्धृत किया है—*विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगम्*—जिन इन्द्रियों तथा प्राण-वायु को मनुष्य जीत लेता है, उन्हें ही मन फिर से खींच लेगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक का अर्थ *समवहाय गुरोश्चरणम्*—अपने गुरु के चरणकमलों को त्यागने पर मनुष्य की पूर्व आध्यात्मिक उन्नति शून्य हो जाती है। पिछले श्लोक में इसे *गरुदेवतात्मा* शब्दों से सूचित किया जा चुका है। जब तक हम वैध

परम्परा में प्रामाणिक गुरु को अपना पूज्य देव तथा प्राण नहीं मानते, तब तक भौतिक जीवन के द्वैत को जीत पाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक की निम्नलिखित टीका की है "मन का नियंत्रण भगवद्भक्ति करने का फल है। स्थिर भक्ति के प्रभाव से स्वीकृत तथा अस्वीकृत करने वाला मन कृष्ण से पृथक् इन्द्रिय-भोग की प्यास को रोक सकता है। कृष्णभावनामृत में कोई विरोध, क्षुद्रता या आनन्दहीनता नहीं है। दूसरे शब्दों में, यह कोई भौतिक तत्त्व नहीं, जो क्षणभंगुर होता है और निरन्तर दुख लाता है। कृष्ण को भुलाने पर बद्धजीव अपनी ही तथाकथित बुद्धि के दिग्भ्रम तथा विकृति से कष्ट पाता है। सारे जीव परम आश्रय कृष्ण के भिन्नांश हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण की दिव्य लीलाओं के धाम से च्युत हो गये हैं। भगवान् को भूल जाने से वे पापमय जीवन बिताते हैं और घातक भौतिक पदार्थों की ओर ध्यान देते हैं, जिससे उन्हें निरन्तर भय बना रहता है। यदि कोई मन को दमित करना चाहे तो उसे कृष्ण-भक्ति में लग जाना चाहिए, क्योंकि मन सदैव मनोरथ के द्वैत में पड़ा रहता है।"

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ ३९॥

शब्दार्थ

शृण्वन्—सुनते हुए; सु-भद्राणि—सर्वमंगलमय; रथ-अङ्ग-पाणेः—जिनके हाथ में रथ का पहिया है, उनके; जन्मानि—जन्मों को; कर्माणि—कार्यों को; च—तथा; यानि—जिन जिन; लोके—इस लोक में; गीतानि—गाये जाते हैं; नामानि—नामों को; तत्-अर्थकानि—इन जन्मों तथा कर्मों को बताने वाले; गायन्—गाते हुए; विलज्जः—क्षोभ से मुक्त; विचरेत्—विचरण करना चाहिए; असङ्गः—भौतिक संगति के बिना।

जिस बुद्धिमान व्यक्ति ने अपने मन को वश में कर लिया है और भय पर विजय प्राप्त कर ली है, उसे पत्नी, परिवार, राष्ट्र जैसे भौतिक वस्तुओं के प्रति सारी आसक्ति को त्याग देना चाहिए और निर्द्वन्द्व होकर चक्रपाणि भगवान् के पवित्र नामों का श्रवण और कीर्तन करते हुए मुक्त भाव से विचरण करना चाहिए। कृष्ण के पवित्र नाम सर्वमंगलकारी हैं, क्योंकि वे उनके दिव्य जन्म तथा बद्धजीवों के मोक्ष के लिए इस जगत में किये जाने वाले उनके कार्यों का वर्णन करने वाले हैं। इस तरह भगवान् के पवित्र नामों का विश्व-भर में गायन होता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् के नाम, रूप तथा लीलाएँ अनन्त हैं, अतएव उन सबों को सुन पाना या उनका कीर्तन कर पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। अतएव *लोके* शब्द सूचित करता है कि इस विशेष लोक में भगवान् के पवित्र नाम जो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, उन्हीं का कीर्तन करना चाहिए। इस जगत में राम तथा कृष्ण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रंथ *रामायण* तथा *भगवद्गीता* सारे संसार में पढ़े जाते हैं और उनका आस्वादन किया जाता है। इसी तरह चैतन्य महाप्रभु भी क्रमशः सारे विश्व में प्रसिद्ध हो रहे हैं, जैसाकि उन्होंने स्वयं भविष्यवाणी की थी। *पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम।सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम*—इस पृथ्वी के हर नगर तथा हर ग्राम में मेरे नाम के यश का कीर्तन किया जायेगा। अतएव *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक के प्रामाणिक कथन के ही अनुसार कृष्णभावनामृत आन्दोलन *महामन्त्र*—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—एवं उसी के साथ *पञ्चतत्त्व महामन्त्र— श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द श्रीअद्वैत गदाधर श्रीवासादिगौरभक्तवृन्द*—पर बल देता है।

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार किसी भौतिक भाव के बिना भगवन्नाम कीर्तन की यह आनन्दमय विधि *सुगमं मार्गम्* कहलाती है। इसी तरह भगवान् कृष्ण ने *भक्तियोग* की विधि को *सुसुखं कर्तुम्* कहा है और श्री लोचन दास ठाकुर ने गाया है कि—*सब अवतार सारशिरोमणि केवल आनन्दकाण्ड।* कृष्ण की पूजा करने के लिए चैतन्य महाप्रभु की विधि *केवल आनन्दकाण्ड*—केवल आनन्दमय—है। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद ने कहा है कि संसार के किसी भी भाग में लोग एकत्र होकर हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन कर सकते हैं, *भगवद्गीता यथारूप* का पाठ कर सकते हैं और आनंदपूर्वक *कृष्ण-प्रसादम्* ग्रहण कर सकते हैं, जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने नवद्वीप में किया।

किन्तु इस कार्यक्रम के सफल होने के विषय में लोचन दास ठाकुर ने आगाह किया है *विषय छाडिया*—मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति का परित्याग कर देना चाहिए। यदि कोई इन्द्रियतृप्ति में रत होता है, तो वह देहात्म-बुद्धि को प्राप्त होगा और जो ऐसी बुद्धि में होगा वह निस्सन्देह भगवान् की लीलाओं के सम्बन्ध में भौतिकतावादी दृष्टिकोण रखेगा। इस प्रकार भगवान् की लीलाओं को संसारी मानने से वह *मायावाद* या निर्विशेषवाद की श्रेणी में आ जायेगा, जिसमें भगवान् के दिव्य शरीर को भौतिक प्रकृति की सृष्टि माना जाता है। इसीलिए इस श्लोक में *असङ्गः* शब्द अत्यन्त सार्थक है। मनुष्य को चाहिए कि बिना मानसिक चिन्तन के भगवन्नाम का कीर्तन करे। उसे चाहिए कि भगवान् कृष्ण को

उसी रूप में स्वीकार करे, जिसमें वे अपने को *भगवद्गीता* में प्रस्तुत करते हैं और यह कहते हैं कि वे ही एकमात्र पुरुषोत्तम अर्थात् भगवान् हैं और उनका दिव्य रूप शाश्वत है (*अजोऽपि सन्नव्ययात्मा*)

श्रील जीव गोस्वामी ने जोर देकर कहा है *यानिशास्त्रद्वारा सत्परम्पराद्वारा च लोके गीतानि जन्मानि कर्माणि च, तानि शृण्वन् गायंश्च*—यदि कोई व्यक्ति भगवन्नाम के श्रवण तथा कीर्तन में सफल होना चाहता है, तो उसे *सत्परम्परा* विधि ग्रहण करनी होगी। इस सत्परम्परा को प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों से पहचाना जा सकता है। अज्ञानी आलोचकों के मत के विपरीत, कृष्णभावनामृत के अनुयायी मस्तिष्करहित या उन्मत्त नहीं होते। वे बुद्धिमानी के साथ *गुरु, साधु* तथा *शास्त्र* द्वारा जाँच-पड़ताल की प्रणाली का पालन करते हैं। अर्थात् मनुष्य को प्रामाणिक गुरु बनाना होगा, जिसकी पुष्टि महान् पुरुषों तथा शास्त्रों के मत द्वारा होती है। यदि कोई व्यक्ति प्रामाणिक गुरु बनाता है, महापुरुषों के उदाहरण का अनुसरण करता है तथा प्रामाणिक ग्रंथों से यथा *भगवद्गीता यथारूप* एवं *श्रीमद्भागवत* से परिचित हो जाता है, तो भगवान् के पवित्र नामों के कीर्तन एवं भगवान् की लीलाओं के श्रवण का उसका कार्यक्रम पूर्णतया सफल होगा। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में कृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को तत्त्व से जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि भगवान् सारे जगत में अनेक नामों से, जिनमें से कुछ साधारण बोलचाल की भाषा में हैं जाने जाते हैं, किन्तु इस श्लोक के अनुसार कोई नाम, जो उन अद्वितीय भगवान् को इंगित करने के लिए प्रयुक्त होता है और जो भौतिक प्रकृति के परे हैं, ईश्वर के पवित्र नाम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसको *लोके* शब्द से इंगित किया गया है।

किसी को *विचरेत्* शब्द से यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि कृष्ण-नाम का कीर्तन करते हुए कोई कहीं भी विचरण कर सकता है अथवा बिना भेद-विभेद के कोई भी कर्म कर सकता है। इसीलिए *विचरेद् असंगः* आया है—अर्थात् मनुष्य मुक्त भाव से विचरण तो कर सकता है, किन्तु उसे ऐसे लोगों की संगति से बचना चाहिए जो कृष्णभावनामृत में रुचि नहीं रखते हैं अथवा जो पापमय जीवन में लगे

हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*असत्-संग-त्याग—एइ वैष्णव आचार* (चैतन्य चरितामृत मध्य २२.८७)—वैष्णव समस्त संसारी संगति से पूर्णतया विरक्त होता है। यदि भगवान् की महिमा का कीर्तन करते हुए विचरण करते समय वैष्णव प्रचारक को कोई विनीत अभक्त मिले, जो कृष्ण के विषय में सुनना चाहता हो, तो प्रचारक ऐसे व्यक्ति को अपनी कृपालु संगति सदैव प्रदान करेगा। किन्तु वैष्णव उन लोगों से अवश्य बचे, जो कृष्ण के विषय में श्रवण करना नहीं चाहते।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जो लोग चकित करने वाली भगवान् की लीलाओं तथा उनके पवित्र नामों को सुनने में अपने को नहीं लगाते और भगवान् की लीलाओं का आस्वादन नहीं करते वे केवल संसारी मायामय कार्यों को सम्पन्न करते हैं या मिथ्या भौतिकतावादी त्याग में अपने को लगाते हैं। कभी कभी हताश जीव शुष्क निर्विशेषवाद को स्वीकार कर लेते हैं और वे भगवान् के नित्य नाम, रूप, गुण, पार्षद तथा लीलाओं के वर्णन से बचते हैं। किन्तु यदि किसी को शुद्ध भक्त की संगति प्राप्त होती है, तो वह शुष्क चिन्तनपरक तर्क को त्याग देता है और भगवद्भक्ति के असली वैदिक मार्ग पर स्थित हो जाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि *द्वैत* शब्द इस मिथ्या ज्ञान को व्यक्त करता है कि कृष्ण से स्वतंत्र अस्तित्व वाली कोई वस्तु है। अद्वैत की मायावादी धारणा जो आध्यात्मिक विशेषता से रहित है, मन द्वारा स्वीकृति तथा निषेध की दूसरी अभिव्यक्ति है। भगवान् का नित्य प्राकट्य तथा उनकी लीलाएँ कभी भी *अद्वय ज्ञान* के चिन्तन के विरुद्ध नहीं होतीं।

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एवम्-व्रतः—जब कोई कीर्तन करने तथा नाचने के व्रत में लगता है; स्व—अपना; प्रिय—अत्यन्त प्रिय; नाम—पवित्र नाम; कीर्त्या—कीर्तन के द्वारा; जात—इस तरह उत्पन्न; अनुरागः—अनुरक्ति; द्रुत-चित्तः—द्रवित हृदय; उच्चैः—उच्च स्वर से; हसति—हँसता है; अथो—भी; रोदिति—रोता है; रौति—विक्षुब्ध होता है; गायति—कीर्तन करता है; उन्माद-वत्—उन्मत्त की तरह; नृत्यति—नाचता है; लोक-बाह्यः—बाहरी लोगों की परवाह न करके।

भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से मनुष्य भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त करता है। तब भक्त भगवान् के नित्य दास रूपी व्रत में स्थिर हो जाता है और क्रमशः भगवान् के किसी

एक नाम तथा रूप के प्रति अत्यधिक अनुरक्त हो उठता है। जब उसका हृदय भावमय प्रेम से द्रवित होता है, तो वह जोर-जोर से हँसता या रोता है अथवा चिल्लाता है। कभी कभी वह उन्मत्त की तरह गाता और नाचता है, क्योंकि वह जन-मत के प्रति उदासीन रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुद्ध भगवत्प्रेम का वर्णन किया जा रहा है। श्रील श्रीधर स्वामी ने इस आध्यात्मिक स्थिति को *सम्प्राप्तप्रेमलक्षणभक्तियोगस्य संसारधर्मातीतां गतिम्* कहा है अर्थात् जीवन की ऐसी सिद्धावस्था जिसमें भगवद्भक्ति भावमय प्रेम द्वारा समृद्ध होती है। उस समय मनुष्य के आध्यात्मिक कार्य सांसारिक मामलों की सीमा से परे होते हैं।

श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदि ७.७८) में श्री चैतन्य महाप्रभु का निम्नलिखित कथन प्राप्त है—

धैर्य धरिते नारि, हैलाम उन्मत्त।

हासि, कान्दि, नाचि, गाइ, यैछे मद-मत्त॥

''शुद्ध भाव में भगवन्नाम का कीर्तन करते हुए मैं अपने को खो देता हूँ और इस तरह मैं पागल की भाँति हँसता, चिल्लाता, नाचता तथा गाता हूँ।'' चैतन्य महाप्रभु तुरन्त अपने गुरु के पास यह पूछने के लिए पहुँचे कि वे कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन से पागल जैसे क्यों दिखने लगे हैं। उनके गुरु ने उत्तर दिया—

कृष्णनाममहामन्त्रेर एइ तऽस्वभाव।

येइ जपे, तार कृष्णे उपजये भाव॥

''यह तो हरे कृष्ण महामंत्र की प्रकृति है कि जो भी इसका कीर्तन करता है, उसमें तुरन्त कृष्ण के प्रति प्रेम-भाव का विकास हो जाता है।'' (चैतन्य चरितामृत, आदि ७.८३) इस सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद ने टीका की है, ''ये लक्षण शुद्ध भक्त के शरीर में स्पष्ट दिखने लगते हैं। कभी कभी जब कृष्णभावनामृत आन्दोलन के हमारे छात्र कीर्तन करते और नाचते हैं, तो भारत-वर्ष के लोग भी यह देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि इन विदेशियों ने किस तरह इस भाव-शैली में कीर्तन करना तथा नाचना सीख लिया है। किन्तु जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने बतलाया है यह अभ्यासवश नहीं होता, क्योंकि ये लक्षण हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने वाले किसी भी व्यक्ति में बिना किसी विशेष प्रयास के, प्रकट हो सकते हैं।''

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस सन्दर्भ में हमको अपवित्र *सहजियों* से आगाह किया है, जो अवैध रूप से भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करते हैं और वैदिक शास्त्रों के आदर्श आदेशों की उपेक्षा करते हुए पुरुषोत्तम रूप कृष्ण के पद को मूर्खतापूर्वक नकल करने एवं इस तरह भगवान् की उच्च लीलाओं का भद्दा मजाक उड़ाने का प्रयत्न करते हैं। उनके तथाकथित भाव-लक्षणों यथा चिल्लाने, काँपने तथा पृथ्वी पर गिर पड़ने को भक्ति के उच्च लक्षणों से संभ्रामित नहीं करना चाहिए जिनका वर्णन श्रीधर स्वामी ने *सम्प्राप्तप्रेमलक्षणभक्तियोग* के रूप में किया है। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद की टिप्पणी है कि ''जिसने यह भाव-अवस्था प्राप्त कर ली है, वह माया के चंगुल में और अधिक समय तक नहीं रहता।'' इसी प्रकार कृष्णदास कविराज कहते हैं—

पञ्चम पुरुषार्थ—प्रेमानन्दामृत-सिन्धु।

मोक्षादि आनन्द यार नहे एक बिन्दु॥

''जिस भक्त ने भाव (भगवत्प्रेम) उत्पन्न कर लिया हो उसके लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से प्राप्त होने वाला आनन्द सागर की तुलना में एक बूँद जैसा प्रतीत होता है।'' (*चैतन्य-चरितामृत, आदि* ७.८५) जैसाकि इस अध्याय के पिछले श्लोक में कहा गया है *गायन् विलज्जो विचरेद् असंगः*—जब मनुष्य असंग अर्थात् भौतिक इन्द्रियतृप्ति की आसक्ति से रहित होता है, तो उसमें भगवत्प्रेम के भाव-लक्षण प्रकट होते हैं।

इस श्लोक के *लोक-बाह्यः* शब्द से सूचित होता है कि प्रेम पद को प्राप्त शुद्ध भक्त देहात्म बुद्धि वाले सामान्य लोगों द्वारा किए गए उपहास, प्रशंसा, आदर अथवा आलोचना की परवाह नहीं करता। कृष्ण परब्रह्म भगवान् हैं और जब वे अपने शरणागत सेवक को अपना दर्शन देते हैं, तो ब्रह्म के स्वभाव के विषय में सारा सन्देह तथा चिन्तन छू-मन्तर हो जाता है।

इस सम्बन्ध में श्रीपाद मध्वाचार्य ने वराह पुराण का एक श्लोक उद्धृत किया है—

केचिद् उन्मादवद् भक्ता बाह्मय-लिंग-प्रदर्शकाः।

केचिद् आन्तरभक्ताः स्युः केचिच्चैवोभयात्मकाः।

मुख प्रसादाद् दार्ढयाच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यतः॥

''कुछ भगवद्भक्त पागलों की तरह के, कुछ अन्तर्मुखी भक्तों की तरह के और कुछ दोनों के स्वभावों के बाह्य लक्षण प्रदर्शित करते हैं। किसी के स्थैर्य तथा उसके मुख से निकलने वाले दयामय स्वरों से उसकी भक्ति जानी जा सकती है, अन्यथा नहीं।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भावमय प्रेम में हँसने तथा भगवत्प्रेम में अन्य लक्षणों को बतलाने वाला एक अतीव सुन्दर उदाहरण दिया है, ''ओह, वह यशोदा-पुत्र चोर कृष्ण मेरे घर में माखन चुराने के लिए घुसा है। उसे पकड़ो और उसे दूर रखो।'' एक वृद्ध *गोपी* जरती के ये धमकी-भरे शब्द सुनकर कृष्ण तुरन्त घर से भागने के लिए तैयार हो जाते हैं। जिस भक्त को यह दिव्य लीला प्रत्यक्ष प्रकट होती प्रतीत होती है, वह भावमय प्रेम में हँसता है, किन्तु सहसा उसे कृष्ण नहीं दिखने लगते। तब वह अतीव शोक में चिल्लाता है, ''ओह! मुझे संसार की सबसे बड़ी सम्पत्ति मिली थी, जो अब मेरे हाथों से सहसा छूट गई है।'' इस प्रकार भक्त जोर से चिल्लाता है, ''हे प्रभु! आप कहाँ हैं? आप जवाब दीजिये न!'' इस पर भगवान् उत्तर देते हैं, ''हे भक्त! मैंने तुम्हारी ऊँची आवाज में शिकायत सुन ली है, अतएव मैं फिर से तुम्हारे सामने आया हूँ।'' भगवान् कृष्ण को पुन: देखकर भक्त गा उठता है, ''आज मेरा जीवन सफल हो गया।'' इस तरह दिव्य आनन्द से अभिभूत होकर वह पागल की तरह नाचने लगता है।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह भी टिप्पणी करते हैं कि *द्रुतचित्त:* शब्द यह बतलाता है कि भगवान् का दर्शन करने की चिन्ता रूपी अग्नि से भक्त का हृदय पिघल कर जम्बू नदी के समान बन जाता है। वे यह भी इंगित करते हैं कि—*नामकीर्तनस्य सर्वोत्कर्षम्*—यह श्लोक तथा पिछला श्लोक *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* के उच्च पद को बतलाते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने भी निम्नलिखित उद्धरण देते हुए इसी पर बल दिया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

''इस कलियुग में आध्यात्मिक उन्नति के लिए भगवन्नाम के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं है।'' *चैतन्य-चरितामृत* के (*आदि* ७.७६) के तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या की है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की संस्तुति है कि हम इस प्रसंग के लिए निम्नलिखित श्लोक पढ़ें—

परिवदतु जनो यथा तथा वा

ननु मुखरो न वयं विचारयामः ।

हरिरसमदिरामदातिमत्ता

भुवि विलुठामो नटामो निर्विशामः ॥

"बातूनी जनता चाहे जो भी कह ले, हम उसकी परवाह नहीं करेंगे। कृष्ण-प्रेम की मतवाली सुरा के भाव से उन्मत्त हम इधर-उधर दौड़ते, पृथ्वी पर लुढ़कते-पुढ़कते तथा भावावेश में नाचते हुए जीवन का आनन्द लूटेंगे।" (पद्यावली ७३)

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

खम्—शून्य; वायुम्—वायु; अग्निम्—अग्नि; सलिलम्—जल; महीम्—पृथ्वी; च—तथा; ज्योतींषि—सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य दैवी प्रकाशमान पिंड; सत्त्वानि—सारे जीव; दिशः—दिशाएँ; द्रुम-आदीन्—वृक्ष तथा अन्य अचर प्राणियों को; सरित्—नदियाँ; समुद्रान्—तथा समुद्र; च—भी; हरेः—भगवान् हरि के; शरीरम्—शरीर को; यत् किम् च—जिसे भी; भूतम्—सृष्ट जगत में; प्रणमेत्—प्रणाम करना चाहिए; अनन्यः—भगवान् से पृथक् कुछ भी नहीं है, इस प्रकार सोचते हुए।

भक्त को चाहिए कि किसी भी वस्तु को भगवान् कृष्ण से पृथक् नहीं देखे। शून्य, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, सूर्य तथा अन्य नक्षत्र, सारे जीव, दिशाएँ, वृक्ष तथा अन्य पौधे, नदियाँ तथा समुद्र इनमें से भक्त को जिस किसी का भी अनुभव हो, उसे वह कृष्ण का अंश माने। इस प्रकार सृष्टि के भीतर विद्यमान हर वस्तु को भगवान् हरि के शरीर के रूप में देखते हुए भक्त को चाहिए कि भगवान् के शरीर के सम्पूर्ण विस्तार के प्रति नमस्कार करे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने पुराणों से यह उदाहरण दिया है—*यत् पश्यति, तत्त्वनुरागातिशयेन "जगद्धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम्" इति-वत् हरेः शरीरम्*—"धनलोलुप होने से लोभी मनुष्य, जहाँ भी जाता है उसे धन अर्जित करने का अवसर दिखता है। इसी प्रकार अत्यन्त कामी पुरुष को सर्वत्र स्त्रियाँ दिखती हैं।" इसी प्रकार शुद्ध भक्त को हर वस्तु के भीतर भगवान् का दिव्य स्वरूप

देखना चाहिए, क्योंकि हर वस्तु भगवान् का अंश है। यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि लोभी व्यक्ति को सर्वत्र धन दिखेगा। यदि वह जंगल में जाता है, तो तुरन्त विचार करता है कि जंगल की भूमि खरीदना और उसके वृक्षों को किसी कागज–कारखाने को बेच देना लाभप्रद होगा या नहीं। इसी प्रकार यदि कामी पुरुष उसी जंगल में जाता है, तो वह चारों ओर सुन्दर स्त्री पर्यटकों के लिए, जो वहाँ गई हों, ताकेगा। किन्तु यदि उसी जंगल में एक भक्त जाता है, तो वह वहाँ कृष्ण का दर्शन करेगा, क्योंकि वह ठीक जानता है कि सारा जंगल, यहाँ तक कि उसके ऊपर का आकाश भी, भगवान् की अपरा शक्ति है। कृष्ण परम पवित्र हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं और, चूँकि प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व है, वह भगवान् के शरीर से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विस्तार पाती है, अतएव जब स्वरूपसिद्ध मनुष्य की आँखों से ये वस्तुएँ देखी जाती हैं, तो पवित्र दिखती हैं। इसलिए जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है *प्रणमेत्*—अर्थात् हर वस्तु को सच्चे मन से प्रणाम करना चाहिए। श्रील जीव गोस्वामी ने उल्लेख किया है कि हमें सर्वत्र कृष्ण के साकार रूप का दर्शन करना चाहिए।

यह श्लोक इस निर्विशेष नास्तिकवादी दर्शन का समर्थन नहीं करता कि हर वस्तु ईश्वर है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया है—

सर्वं हरेर्वशत्वेन शरीरं तस्य भण्यते।

अनन्याधिपतित्वाच्च तदनन्यमुदीर्यते।

न चाप्यभेदो जगतां विष्णोः पूर्णगुणस्य तु॥

"चूँकि हर वस्तु भगवान् हरि के नियंत्रण में है, अतएव हर वस्तु को उनका शरीर माना जाता है। वे हर वस्तु के आदि स्रोत तथा स्वामी हैं। अतएव उनसे पृथक् रूप में कुछ भी नहीं देखना चाहिए।" इतने पर भी किसी को मूर्खतापूर्वक यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि भौतिक ब्रह्माण्ड तथा भगवान् विष्णु में, जो कि अपने अद्वितीय आध्यात्मिक गुणों से पूर्ण हैं, कोई भी अन्तर नहीं है।"

प्रायः सूर्य तथा सूर्य की किरणों का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है। सूर्य का प्रकाश सूर्यमण्डल का ही विस्तार होता है, अतएव गुणात्मक दृष्टि से सूर्य तथा इसकी किरणों में अन्तर नहीं होता। किन्तु सूर्य–प्रकाश के सर्वत्र होने एवं हर वस्तु को सूर्य की शक्ति का रूपान्तर होने पर भी सूर्य–प्रकाश का

स्रोत (सूर्यमण्डल) सर्वत्र नहीं रहता अपितु विशाल आकाश में एक विशेष स्थान पर स्थित होता है और उसका अपना विशिष्ट रूप होता है।

यदि हम सूर्यमण्डल के भीतर प्रवेश करें, तो हमें सूर्य-देव विवस्वान् मिलेंगे। यद्यपि वर्तमान युग के छद्म बौद्धिकजन, जो अपने सिर के बालों को भी नहीं गिन सकते, सूर्य-देव को एक पौराणिक व्यक्ति मानेंगे, किन्तु यह वास्तव में आधुनिक मनुष्यों की मूर्खता की बात होगी कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उष्मा तथा प्रकाश देने वाला सूर्य जैसा परिष्कृत उपकरण बुद्धिमान प्रशासन के बिना कार्य कर सकता है। सूर्य की शक्ति के रूपान्तर से पृथ्वी पर जीवन सम्भव है, इसलिए पृथ्वी को सर्वव्यापी सौर-ऊर्जा के गौण रूपान्तरों की अनन्त विविधता से युक्त समझना चाहिए।

इस तरह सूर्य-लोक के भीतर विवस्वान है, जो सौर कार्यों का मुख्य प्रशासक है, सूर्यमण्डल स्वयं सीमित हैं, किन्तु सूर्य की किरणें सर्वत्र फैलती हैं। इसी तरह श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं (*भगवान् स्वयम्*), वे अपना विस्तार प्रत्येक हृदय में स्थानीय अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में करते हैं और अन्ततः अपनी शारीरिक चमक से, जो कि *ब्रह्मज्योति* है, अपनी शक्ति का विस्तार करते हैं। सम्पूर्ण विराट जगत इस *ब्रह्मज्योति* की किरणों के भीतर तैरता रहता है। जिस तरह पृथ्वी पर सारा जीवन सूर्य की सर्वव्यापी किरणों का रूपान्तर है, उसी तरह यह विराट जगत *ब्रह्मज्योति* की आध्यात्मिक किरणों का रूपान्तर है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में कहा गया है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि

कोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतां

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो महान् शक्ति से युक्त हैं। उनके दिव्य रूप का चमकीला तेज निर्विशेष ब्रह्म है, जो परम, पूर्ण तथा असीम है और जो अपने विभिन्न ऐश्वर्यों से युक्त असंख्य लोकों की विविधता प्रदर्शित करता है।'' इसलिए *ब्रह्मज्योति* वह आध्यात्मिक प्रकाश है, जो सीधे भगवान् के शरीर से उद्भूत होता है। यह ब्रह्माण्ड उसी आध्यात्मिक शक्ति का रूपान्तर है, इसलिए इसमें विद्यमान प्रत्येक वस्तु एक तरह से भगवान् के निजी शरीर से सीधे सम्बद्ध है।

यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि हमें हर विद्यमान वस्तु को भगवान् की शक्ति मान कर प्रणाम करना चाहिए। यहाँ पर यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि यदि कोई मनुष्य महत्त्वपूर्ण है, तो उसकी सम्पत्ति भी महत्त्वपूर्ण है। किसी देश का राष्ट्रपति उस देश का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता है और इसलिए हर व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति का आदर करना चाहिए। इसी तरह हर वस्तु, जो कि विद्यमान है भगवान् का अंश है और उसी के अनुसार समादरित होनी चाहिए। यदि हम प्रत्येक विद्यमान वस्तु को भगवान् की शक्ति के रूप में नहीं देख पाते, तो हम मायावाद दर्शन की ओर जाने का खतरा मोल लेते हैं, जो चैतन्य महाप्रभु के अनुसार वास्तविक आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के इच्छुक व्यक्ति के लिए सर्वाधिक भयंकर विष है। *मायावादी भाष्य शुनिले हय सर्वनाश* (चैतन्य-चरितामृत मध्य ६.१६९)। यदि हम कृष्ण को उनकी शक्ति के विस्तार के बिना ही समझने का प्रयास करेंगे, तो हमें *भगवद्गीता* के *वासुदेव: सर्वम्* तथा *अहं सर्वस्य प्रभव:* जैसे कथन समझ में नहीं आयेंगे।

इस अध्याय में जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है *भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात्*—भय या मोह यह सोचने से उत्पन्न होता है कि भगवान् पर आधारित न रहने वाली भी कोई वस्तु है। अब इस श्लोक में इस भय-पूर्ण मोह को जीतने की विशेष विधि दी हुई है। मनुष्य को चाहिए कि विद्यमान प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति के विस्तार के रूप में समझने के लिए अपने मन को प्रशिक्षित करे। हर वस्तु को नमस्कार करके तथा हर वस्तु को भगवान् के शरीर का अंश मान कर ध्यान करने से मनुष्य भय से मुक्त हो सकेगा। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—*सुहृदं सर्वभूतानाम्*—कृष्ण हर जीव के हितैषी मित्र हैं। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि प्रत्येक वस्तु उसके अत्यन्त प्रिय मित्र के नियंत्रण में है, तो वह ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है, जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आनन्दमय धाम बन जाता है (*विश्वं पूर्णसुखायते*), क्योंकि उसे सर्वत्र ही कृष्ण दिखते हैं।

यदि कृष्ण का व्यक्तित्व हर वस्तु का स्रोत न होता और हर वस्तु कृष्ण से सम्बन्धित न होती, तो यह निष्कर्ष निकालना उचित ही होता कि कृष्ण का व्यक्तित्व किसी निर्विशेष सत्य की भौतिक अभिव्यक्ति है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है *जन्माद्यस्य यत:*—परब्रह्म वह है, जिससे हर वस्तु उद्भूत होती है। इसी प्रकार कृष्ण कहते हैं *अहं सर्वस्य प्रभव:*—मैं प्रत्येक वस्तु का स्रोत हूँ। यदि हम

किसी वस्तु को कृष्ण के शरीर से पूर्णतया असम्बद्ध देखते हैं, तो हम सन्देह कर सकते हैं कि क्या कृष्ण का व्यक्तित्व वास्तव में वही परम स्रोत है, जिसका वर्णन *वेदान्त सूत्र* में मिलता है। ज्योंही कोई मनुष्य ऐसा अनुभव करता है, वह भयभीत हो उठता है और उसे भगवान् की मायाशक्ति के अधीन समझना चाहिए।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने हमें आगाह किया है कि यदि हम हर वस्तु को भगवान् की अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देखते, तो हम *फल्गु-वैराग्य* अर्थात् अपरिपक्व वैराग्य के शिकार हो जायेंगे। हम कृष्ण से असम्बद्ध जो भी वस्तु देखेंगे उससे हमारे मन में कृष्ण की सेवा से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं होगा, किन्तु यदि हम हर वस्तु को कृष्ण से सम्बन्धित देखते हैं, तो हम हर वस्तु का उपयोग कृष्ण की तुष्टि के लिए करेंगे। यह *युक्त-वैराग्य* कहलाता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ''जिसने अपनी सही-सही पहचान का अनुभव कर लिया है, वह यह समझता है कि सारी वस्तुएँ भगवान् को भावमय आनन्द प्रदान करने के लिए साज-सामग्री के रूप में विद्यमान हैं। इस तरह मनुष्य उस स्वतंत्रतावादी दृष्टि से मुक्त हो जाता है, जिसमें वह सारे संसार को अपने ही भोग के निमित्त विद्यमान मानता है। दिव्य अवस्था में भक्त जो भी वस्तु देखता है, वह उसे कृष्ण का स्मरण कराती है और इस तरह उसका दिव्य ज्ञान तथा आनन्द दोनों ही बढ़ते हैं।'' चूँकि निर्विशेषवादी दार्शनिक हर वस्तु को कृष्ण के निजी स्वरूप से सम्बन्धित नहीं देख पाते, अतएव वे इस संसार को मिथ्या कहकर बहिष्कार करते हैं (*जगन् मिथ्या*)। किन्तु यह भौतिक जगत परम सत्य कृष्ण से उद्भूत है, इसलिए वास्तव में इसका अस्तित्व है। इसका अनस्तित्व कल्पनाजन्य है और मनुष्य ऐसे काल्पनिक स्तर पर कार्य नहीं कर सकता। इसलिए माया का सिद्धान्त प्रस्तावित करके और उस स्तर पर वास्तव में रहने में असमर्थ होने से निर्विशेषवादी परोपकारी या इन्द्रिय-तुष्टि करने वाले कार्यों के भौतिक स्तर पर उतर आते हैं। चूँकि निर्विशेषवादी भगवान् के निजी स्वामित्व को नहीं मानता, इसलिए वह यह नहीं जानता कि इस जगत की वस्तुओं को किस तरह अथवा किसके लिए प्रयोजित किया जाय और चूँकि इस जगत के भीतर रहते हुए इसको पूरी तरह ठुकरा पाना असम्भव है, अतएव वह भौतिक सकाम कर्मों में पुनः फँस सकता है। इसीलिए *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है—*क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्*—काल्पनिक दर्शन के निर्विशेष पथ पर चल पाना अत्यन्त कष्टप्रद है।

निष्कर्ष यह निकला कि यह श्लोक भगवद्भक्तों को कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने में सहायता देने के लिए कहा गया है। इस अध्याय के पिछले श्लोकों से यह समझा जा सकता है कि चरम लक्ष्य तो कृष्ण की शुद्ध भक्ति है। यदि कोई धोखे से इस श्लोक को मायावाद दर्शन की पुष्टि करने वाला समझ बैठे—कि हर वस्तु ईश्वर है—तो वह मोहग्रस्त ही होगा और आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग से डिग जायेगा।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्
तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

भक्तिः—भक्ति; पर-ईश—भगवान् की; अनुभवः—प्रत्यक्ष अनुभूति; विरक्तिः—विराग; अन्यत्र—अन्यत्र वस्तुओं से; च—तथा; एषः—यह; त्रिकः—तीन का समूह; एक-कालः—एक ही समय; प्रपद्यमानस्य—शरणागत होने वाले के लिए; यथा—जिस तरह; अश्नतः—भोजन करने में व्यस्त; स्युः—घटित होते हैं; तुष्टिः—तुष्टि; पुष्टिः—पोषण; क्षुत्-अपायः—भूख से छुटकारा; अनु-घासम्—प्रत्येक कौर के साथ बढ़ती हुई।

जिस व्यक्ति ने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, उसके लिए भक्ति, भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अन्य वस्तुओं से विरक्ति—ये तीनों एक साथ वैसे ही घटित होते हैं, जिस तरह भोजन करने वाले व्यक्ति के लिए प्रत्येक कौर में आनन्द, पोषण तथा भूख से छुटकारा—ये सभी एकसाथ और अधिकाधिक होते जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने इस साम्य की विवेचना इस प्रकार की है : *भक्ति* की तुलना *तुष्टि* से की जा सकती है, क्योंकि दोनों आनन्द रूप हैं। *परेशानुभव* तथा *पुष्टि* एकसमान हैं, क्योंकि दोनों ही जीवनदायी हैं। और *विरक्ति* तथा *क्षुद् अपाय* दोनों और अधिक लालसा से मुक्ति दिलाने वाले हैं, जिससे मनुष्य को *शान्ति* मिलती है।

भोजन कर रहा व्यक्ति न केवल अन्य कार्यों के प्रति अरुचि रखता है, अपितु अपनी तुष्टि के अनुसार वह भोजन में भी अरुचि दिखाने लगता है। दूसरी ओर, श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यद्यपि भगवान् कृष्ण के आनन्दमय स्वरूप का अनुभव करने वाला व्यक्ति कृष्ण के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के प्रति अरुचि रखने लगता है, किन्तु कृष्ण के प्रति उसकी अनुरक्ति हर क्षण बढ़ती जाती है। इसलिए

यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् का दिव्य सौन्दर्य तथा उनके गुण भौतिक नहीं हैं, क्योंकि भगवान् के आनन्द का आस्वादन करते हुए कभी कोई तृप्त नहीं होता।

इस श्लोक का *विरक्ति* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *विरक्ति* और *त्याग* में अन्तर है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *त्याग* उस स्थिति में प्रयुक्त होता है जब कोई भोग्य वस्तु को छोड़ देने का विचार करता है। किन्तु जैसा पिछले श्लोक में वर्णित है, हर वस्तु को भगवान् कृष्ण की सेवा के लिए उपयुक्त सामग्री मानते हुए मनुष्य को मन में त्याग नहीं लाना चाहिए, क्योंकि हर वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में उचित रूप में किया जाता है (*युक्तवैराग्यमुच्यते*)।

इस श्लोक में अच्छे भोजन का सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है। भूखा व्यक्ति नाना प्रकार के व्यंजनों को खाते हुए आसपास घटित हो रही घटनाओं में रुचि नहीं लेता। वस्तुतः वह अन्य किसी विषय या कार्य को स्वादिष्ट भोजन पर लगे अपने ध्यान में बाधक मानता है। इसी प्रकार, ज्यों ज्यों मनुष्य कृष्ण-भक्ति में प्रगति करता है, उसे कृष्ण-भक्ति से सम्बन्ध न रखने वाली हर बात अनिष्टकारी एवं बाधक प्रतीत होती है। ऐसे एकाग्र भगवत्प्रेम का वर्णन भागवत के द्वितीय स्कन्ध (२.३.१०) में *तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्* द्वारा किया गया है। मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक जगत का दिखावटी त्याग न करे अपितु वह अपने मन को इस तरह विधिवत् प्रशिक्षित करे कि हर वस्तु भगवान् के ऐश्वर्य का अंश लगे। जिस तरह भूखा भौतिकतावादी व्यक्ति अच्छा भोजन देखकर तुरन्त उसे मुँह में डाल लेना चाहता है, उसी तरह प्रगत कृष्ण-भक्त भौतिक वस्तुओं को देखते ही कृष्ण के आनन्द के लिए उनका प्रयोग कर लेने के लिए उत्सुक हो जाता है। हर वस्तु को कृष्ण-सेवा में प्रयुक्त करने की स्वैच्छिक ललक तथा कृष्ण-प्रेम के सागर में गहरा गोता लगाये बिना तथाकथित ईश-साक्षात्कार या तथाकथित धार्मिक जीवन की बातें करना व्यर्थ है और इनका भगवद्धाम में प्रवेश करने से कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *भक्तियोग* का मार्ग इतना आनन्दप्रद तथा व्यावहारिक है कि *साधन-भक्ति* की अवस्था में ही, जिसमें बिना अच्छी प्रकार से समझे मनुष्य नियमों एवं आदेशों का अनुसरण करता है, उसे चरम परिणाम की अनुभूति हो सकती है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने (भक्तिरसामृतसिंधु १.२.१८७) कहा है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

ज्योंही कोई व्यक्ति अन्य सारे कर्मों को त्याग कर (*विरक्तिरन्यत्र च*) भगवान् कृष्ण की शरण में आ जाता है (*प्रपद्यमानस्य*) त्योंही वह मुक्तात्मा (*जीवन्मुक्तः*) मान लिया जाता है। भगवान् कृष्ण इतने दयालु हैं कि जब कोई व्यक्ति यह समझ कर कि भगवान् हर वस्तु के उद्गम हैं उनकी शरण ग्रहण करता है, तो कृष्ण उसका भार अपने ऊपर ले लेते हैं और उसके हृदय के भीतर यह व्यक्त कर देते हैं कि वह उनके पूर्ण संरक्षण में है। इस तरह भक्ति, भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अन्य वस्तुओं से विरक्ति—ये तीनों भक्तियोग की प्रारम्भिक अवस्था से ही प्रकट होने लगते हैं, क्योंकि भक्तियोग का शुभारम्भ मोक्ष प्राप्ति के समय होता है। अन्य विधियों का चरम लक्ष्य मोक्ष ही होता है, किन्तु *भगवद्गीता* के अनुसार (१८.६६),

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण की शरण में आ जाता है, तो वह तुरन्त मुक्त हो जाता है और इस तरह भगवान् के संरक्षण में पूर्ण विश्वास के साथ दिव्य भक्त के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ करता है।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥ ४३॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अच्युत—अच्युत भगवान् के; अङ्घ्रिम्—चरणों को; भजतः—पूजा करने वाले को; अनुवृत्त्या—निरन्तर अभ्यास द्वारा; भक्तिः—भक्ति; विरक्तिः—विराग; भगवत्-प्रबोधः—भगवान् का ज्ञान; भवन्ति—प्रकट करते हैं; वै—निस्सन्देह; भागवतस्य—भक्त के लिए; राजन्—हे राजा निमि; ततः—तब; पराम् शान्तिम्—परम शान्ति; उपैति—प्राप्त करता है; साक्षात्—प्रत्यक्ष।

हे राजन्, जो भक्त अच्युत भगवान् के चरणकमलों की पूजा सतत प्रयत्नशील रहकर करता है, वह अचल भक्ति, विरक्ति तथा भगवान् का अनुभवगम्य ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार सफल भगवद्भक्त को परम आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त होती है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (२.७१) में कहा गया है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

"जिस व्यक्ति ने इन्द्रियतृप्ति की समस्त इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, जो इच्छाओं से रहित है और जिसने सारी ममता त्याग दी है तथा अहंकार से रहित है, वही वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।" श्रील प्रभुपाद की टीका है : "निस्पृह होने का अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी इच्छा न करना। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनाभावित होने की इच्छा वास्तव में इच्छाशून्यता या निस्पृहता है। *चैतन्य-चरितामृत* में भी (मध्य १९.१४९) ऐसा ही कथन उपलब्ध है—

कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि अशान्त ॥

"चूँकि कृष्ण-भक्त इच्छारहित होता है, अतएव वह शान्त होता है। सकाम कर्मी भौतिक भोग चाहते हैं, ज्ञानी मुक्ति चाहते हैं, योगी भौतिक ऐश्वर्य चाहते हैं—अतएव ये सभी वासनाप्रिय हैं और शान्त नहीं हो सकते।"

सामान्यतया स्वार्थ-इच्छा से पीड़ित जीवों की तीन श्रेणियाँ हैं—*भुक्तिकामी, मुक्तिकामी* तथा *सिद्धिकामी। भुक्तिकामी* वे सामान्य व्यक्ति हैं, जो धन तथा धन से खरीदी जा सकने वाली हर वस्तु चाहते हैं। ऐसी प्राचीन मनोवृत्ति धन, यौन तथा सामाजिक प्रतिष्ठा भोगने की इच्छा पर आधारित होती है। जब जीव इस व्यामोह से अशान्त हो उठता है, तो वह मानसिक चिन्तन का सहारा लेता है और मोह के स्रोत तक पहुँचने का प्रयास करता है। ऐसा व्यक्ति *मुक्तिकामी* कहलाता है, क्योंकि वह भौतिक मोह को नकार कर चिन्ता से मुक्त निर्विशेष आध्यात्मिक अवस्था में तदाकार हो जाना चाहता है। मुक्तिकामी निजी इच्छा से भी प्रेरित होता है, यद्यपि यह इच्छा कुछ परिष्कृत होती है। इसी प्रकार *सिद्धिकामी* या *योगी* भी भौतिक या स्वार्थमय इच्छा से संदूषित होता है, क्योंकि वह अणिमा, लघिमा जैसी योगशक्तियों की इच्छा करता है। इसीलिए कहा गया है—*सकलि 'अशान्त'।* यदि किसी की निजी इच्छा होती है, चाहे वह भौतिक, दार्शनिक या यौगिक हो तो वह *अशान्त* होगा, क्योंकि वह अपने को तुष्टि का मुख्य लक्ष्य देखेगा। यह अहंवादी धारणा स्वयं में मोहमय है, अतएव अन्ततः अशान्त बनाने वाली है।

दूसरी ओर *कृष्ण-भक्त निष्काम, अतएव 'शान्त'*—कृष्ण-भक्त *निष्काम* होता है अर्थात् उसकी कोई निजी इच्छा नहीं होती। उसकी एकमात्र इच्छा कृष्ण को प्रसन्न करने की होती है। स्वयं शिवजी ने भगवद्भक्तों के इस अद्वितीय गुण की प्रशंसा इस प्रकार की है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

"जो व्यक्ति भगवान् नारायण का भक्त होता है, वह किसी से नहीं डरता। भक्त के लिए स्वर्ग-प्राप्ति, नरक-गमन तथा भवबन्धन से मोक्ष—ये एक-से लगते हैं (भागवत ६.१७.२८)।" यद्यपि निर्विशेषवादी दार्शनिक का प्रस्ताव होता है कि सारी वस्तुएँ एक हैं, किन्तु भगवद्भक्त वास्तव में *तुल्यार्थदर्शी*—अर्थात् एकत्व की दृष्टि से युक्त होता है। भक्त हर वस्तु को भगवान् की शक्ति के रूप में देखता है, अतएव भगवान् की तुष्टि के लिए वह हर वस्तु को भगवान् की सेवा में ही लगा देना चाहता है। चूँकि भक्त किसी वस्तु को *द्वितीय* अर्थात् भगवान् की शक्ति के क्षेत्र से बाहर नहीं देखता, अतएव हर अवस्था में वह सुखी रहता है। निजी कोई इच्छा न होने से कृष्ण-भक्त *शान्त* होता है, क्योंकि उसने जीवन की सिद्धि अर्थात् कृष्ण-प्रेम प्राप्त कर लिया होता है। वह वास्तव में सर्वशक्तिमान परमेश्वर कृष्ण की शरण एवं संरक्षण में होने से अपनी शाश्वत स्वाभाविक स्थिति में रहता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार यह श्लोक नौ योगेन्द्रों में से प्रथम योगेन्द्र, कवि द्वारा महाराज निमि के प्रथम प्रश्न "सर्वोच्च शुभ क्या है?" के उत्तर से समाप्त होता है।

श्रीराजोवाच
अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम् ।
यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; अथ—इसके बाद; भागवतम्—भगवान् के भक्त के विषय में; ब्रूत—कृपया मुझे बतायें; यत्-धर्मः—जो धर्म है; यादृशः—जिस तरह का; नृणाम्—मनुष्यों में से; यथा—कैसे; आचरति—आचरण करता है; यत्—जो; ब्रूते—बोलता है; यैः—जिस; लिङ्गैः—दृश्य लक्षणों के द्वारा; भगवत्-प्रियः—भगवान् का प्रिय (कहलाता है)।

महाराज निमि ने कहा : अब कृपया मुझे भगवद्भक्तों के विषय में विस्तार से बतलायें। वे कौन से सहज लक्षण हैं, जिनके द्वारा मैं अत्यन्त बढ़े-चढ़े, मध्यम स्तर के तथा नवदीक्षित भक्तों में अन्तर कर सकूँ? वैष्णव के लाक्षणिक धार्मिक कर्तव्य क्या हैं? और वह कैसे बोलता है?

आप विशेष रूप से उन लक्षणों तथा गुणों का वर्णन करें, जिनसे वैष्णवजन भगवान् के प्रिय बनते हैं।

तात्पर्य : महामुनि कवि ने राजा निमि को भगवद्भक्त के बाह्य सामान्य लक्षणों के विषय में—उसके स्वरूप, उसके गुणों तथा कर्मों के विषय में बतलाया। किन्तु अब राजा निमि पूछ रहे हैं कि भगवान् के सेवकों में उसके आगे किस तरह अन्तर किया जाये, जिससे प्रथम कोटि, द्वितीय कोटि तथा निम्न कोटि के वैष्णवों की स्पष्ट पहचान की जा सके।

श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार—*कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत*—जो भक्त कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, उसका मन से आदर करना चाहिए। (उपदेशामृत ५) कोई भी जीव जो कि कृष्ण के नाम का श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता हो, उसे वैष्णव मानना चाहिए और कम से कम मन ही मन उसका आदर होना चाहिए। किन्तु कृष्णभावनामृत में व्यावहारिक प्रगति के लिए उसे कम से कम द्वितीय कोटि के भक्त की संगति करनी चाहिए। और यदि उसे भगवान् के उच्च कोटि के भक्त की दया प्राप्त हो सके, तो उसकी सिद्धि सरलता से निश्चित हो जाती है। इस प्रकार निमि महाराज विनयपूर्वक प्रश्न कर रहे हैं, "भक्तों के लक्षण, स्वभाव तथा वचन क्या हैं?" राजा शरीर, मन तथा वाणी के विशिष्ट लक्षणों को जानना चाहता है, जिससे *उत्तम अधिकारी, मध्यम अधिकारी* तथा *कनिष्ठ अधिकारी* की भिन्न भिन्न कोटियाँ स्पष्टत: पहचानी जा सकें। राजा के प्रश्न के उत्तर में नव-योगेन्द्रों में से दूसरा, जिसका नाम हविर् था, कृष्णभावनामृत के विज्ञान को आगे विस्तार से बतायेगा।

श्रीहविरुवाच
सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

श्री-हविः उवाच—श्री हविर् ने कहा; सर्व-भूतेषु—सारे पदार्थों में (पदार्थ, आत्मा तथा पदार्थ एवं आत्मा का मेल); यः—जो कोई; पश्येत्—देखता है; भगवत्-भावम्—भगवद्भक्ति में लगे रहने की क्षमता; आत्मनः—परमात्मा का, भौतिक जीवन-बोध से परे अध्यात्म; भूतानि—सारे जीवों को; भगवति—भगवान् में; आत्मनि—समस्त जगत का मूल सार; एषः—यह; भागवत-उत्तमः—भक्ति में बढ़ा-चढ़ा व्यक्ति।

श्री हविर् ने कहा : सर्वाधिक उत्कृष्ट भक्त हर वस्तु के भीतर समस्त आत्माओं के आत्मा भगवान् कृष्ण को देखता है। फलस्वरूप वह हर वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित देखता है और यह समझता है कि प्रत्येक विद्यमान वस्तु भगवान् के भीतर नित्य स्थित है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (६.३०) में भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

"जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबकुछ मुझमें देखता है उसके लिए न तो मैं कभी अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिए अदृश्य होता है।" श्रील प्रभुपाद टीका करते हैं, "कृष्णचेतनामय व्यक्ति भगवान् कृष्ण को सर्वत्र देखता है और सारी वस्तुओं को कृष्ण में देखता है। ऐसा व्यक्ति भले ही प्रकृति की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियों को देखता प्रतीत हो, किन्तु वह प्रत्येक दशा में इस कृष्णभावनामृत से अवगत रहता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की ही शक्ति की अभिव्यक्ति है। कृष्णभावनामृत का मूल सिद्धान्त ही यही है कि कृष्ण के बिना किसी का अस्तित्व नहीं है और कृष्ण ही सर्वेश्वर हैं।

ब्रह्म-संहिता (५.३८) में कृष्ण को सर्वत्र देखने की योग्यता बतलाई गई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो उस भक्त द्वारा सदैव देखे जाते हैं, जिसकी आँखों में प्रेम का अंजन लगा हुआ रहता है। वे भक्त के हृदय के भीतर अपने नित्य श्यामसुन्दर स्वरूप में स्थित देखे जाते हैं।" उत्तम कोटि का भक्त अपनी आध्यात्मिक दृष्टि की व्यापकता के लिए प्रशंसित होता है। उदाहरणार्थ, जब महान् असुर हिरण्यकशिपु ने अपने स्वरूपसिद्ध पुत्र प्रह्लाद महाराज से भगवान् का अता-पता पूछा तो *महाभागवत* अर्थात् शुद्ध भक्त होने के नाते प्रह्लाद ने सीधे यही उत्तर दिया कि परमेश्वर सर्वत्र हैं। तब असुर पिता ने पूछा कि क्या वह ईश्वर महल के ख भे में हैं? जब प्रह्लाद ने "हाँ" कहा तो प्रामाणिक असुर होने के नाते हिरण्यकशिपु ने ईश्वर को मारने या कम से कम उसके अस्तित्व को झुठलाने के प्रयास में उस ख भे पर अपनी तलवार से प्रहार किया। तब भगवान् के सबसे भयंकर रूप नृसिंह देव तुरन्त प्रकट हुए और हिरण्यकशिपु के अवैध कार्यक्रम का सदा के लिये सफाया कर दिया। इस तरह प्रह्लाद महाराज को *उत्तम अधिकारी भक्त* माना जा सकता है।

शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा से विलग रहकर वस्तुओं को भोगने की प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त होता है। वह ब्रह्माण्ड में किसी भी वस्तु को प्रतिकूल नहीं देखता, क्योंकि वह हर वस्तु को भगवान् की विस्तीर्ण शक्ति के रूप में देखता है। ऐसे भक्त का जीवित रहने का उद्देश्य किसी न किसी प्रकार से भगवान् को आनन्द प्रदान करना है। अतएव शुद्ध भक्त जिस जिस वस्तु का अनुभव करता है, वह प्रति-क्षण उसकी भावमय प्रेम-इच्छा को बढ़ाता है, जिससे भगवान् की दिव्य इन्द्रियाँ तुष्ट हो सकें।

भौतिक प्रकृति के तीन गुण उस बद्धजीव को सताते रहते हैं, जो भगवान् की पृथक् भौतिक शक्ति अर्थात् *भिन्न प्रकृति* में अपने मन को लीन करता है। इसका कार्य जीव को इस असलियत से दूर ले जाना है कि कृष्ण हर वस्तु के भीतर हैं और हर वस्तु कृष्ण के भीतर है। निपट अज्ञान के द्वारा आच्छादित होने से मोहग्रस्त बद्धजीव यह विश्वास करता है कि उसकी सीमित दृष्टि की ही वस्तुएँ वास्तव में विद्यमान हैं। कभी कभी ऐसे मूर्ख लोग यह सोचते हैं कि यदि जंगल में सुनने वाला कोई न हो, तो वृक्ष के गिरने से कोई ध्वनि नहीं होगी। ये बद्धजीव यह विचार नहीं करते कि चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव किसी के न सुनने का कोई प्रश्न ही नहीं है। भगवान् सदैव सुनते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय (१३.१४) में कहा गया है—*सर्वत: श्रुतिमल्लोके।* भगवान् हर बात को सुनते हैं। वे *उपद्रष्टा* हैं—प्रत्येक वस्तु के साक्षी हैं। (भगवद्गीता १३.२३)

इस श्लोक में आगत *भागवतोत्तम:* शब्द सूचित करता है कि ऐसे लोग भी हैं, जो निपट भौतिकतावादी नहीं हैं, किन्तु वे सबसे ऊँचे भक्त भी नहीं हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जो लोग भक्तों तथा अभक्तों में ठीक से भेद नहीं कर पाते और इसलिए शुद्ध भगवद्भक्तों की कभी पूजा नहीं करते वे *कनिष्ठ अधिकारी* कहलाते हैं। ऐसे लोग भगवान् की पूजा विशेषतया मन्दिर में करते हैं, किन्तु भगवद्भक्तों के प्रति उदासीन रहते हैं। इस तरह वे *पद्म पुराण* में शिव के इस कथन को ठीक से नहीं समझते—

आराधनानां सर्वेषांविष्णोराराधनं परम्।

तस्माद् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

"हे देवि! पूजा की सर्वोत्तम विधि भगवान् विष्णु की पूजा है। इससे भी बड़ी है *तदीय* की पूजा अर्थात् विष्णु से सम्बन्धित किसी भी वस्तु की पूजा। श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार

की है—"श्री विष्णु सच्चिदानन्द विग्रह हैं। इसी प्रकार कृष्ण का सबसे विश्वासपात्र सेवक, गुरु तथा विष्णु के सारे भक्त *तदीय* हैं। सच्चिदानन्द विग्रह, गुरु, वैष्णवजन तथा उनके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं को *तदीय* मानना चाहिए और बिना किसी सन्देह के वे सभी जीवों द्वारा पूजनीय होनी चाहिए।" (चैतन्य-चरितामृत मध्य १२.३८ तात्पर्य)

विशेषतया, कनिष्ठ अधिकारी अपनी भौतिकतावादी योग्यताओं को भगवान् की सेवा में लगाने के लिए उत्सुक रहता है और वह गलती से इसे ही उच्च भक्ति का संकेत मानता है। किन्तु भगवान् तथा भगवान् के मिशन का प्रचार कर रहे भक्त की सेवा करते हुए कनिष्ठ अधिकारी भी अपनी अनुभूति में अग्रसर होता है और अपने सारे कार्यों को अधिक प्रगत वैष्णवों की सहायता करने में समर्पित करने लगता है। ऐसे कनिष्ठ अधिकारी भी अपनी संगति से सामान्य जीवों की सहायता कर सकते हैं, क्योंकि कनिष्ठ अधिकारियों में कम से कम यह श्रद्धा तो रहती ही है कि कृष्ण भगवान् हैं। इसी श्रद्धा के कारण वह धीरे धीरे उनका शत्रु बन जाता है, जो कृष्ण के विरोधी हैं। ज्यों ज्यों वह क्रमशः भगवान् की श्रेष्ठता से घृणा करने वालों का अधिकाधिक शत्रु बनता जाता है और भगवान् के अन्य श्रद्धालु सेवकों के साथ मैत्री के प्रति अधिक आकृष्ट होता जाता है, त्यों त्यों वह कनिष्ठ अधिकारी द्वितीय कोटि की अवस्था को, जिसे *मध्यम* कहते हैं, पहुँच जाता है। इस मध्यम अवस्था में वैष्णव भगवान् को समस्त कारणों का कारण और हर एक की प्रेममयी लालसा के मुख्य लक्ष्य के रूप में देखता है। वह इस दूषित संसार में वैष्णवों को ही अपना एकमात्र मित्र मानता है और वह अबोध लोगों को वैष्णव समाज की शरण के अन्तर्गत लाने के लिए उत्सुक रहता है। यही नहीं, मध्यम अधिकारी उनकी संगति करने से बचता है, जो अपने आपको ईश्वर का शत्रु घोषित करते हैं। जैसे ही ऐसी मध्यम योग्यता परिपक्व हो जाती है, तो परम योग्यता का भाव स्वयं ही आने लगता है अर्थात् वह *उत्तम अधिकारी* अवस्था को प्राप्त होता है।

ऐसा *कनिष्ठ अधिकारी गुरु* जो धार्मिक उत्सव सम्पन्न करने तथा अर्चाविग्रह की पूजा करने में लगा रहता है और अन्य वैष्णवों की, विशेष रूप से उनकी, जो भगवान् के मिशन का प्रचार करने में लगे रहते हैं, प्रशंसा नहीं करता, वह उन लोगों को विशेष अच्छा लगेगा, जो ज्ञान के शुष्क अनुशीलन में रुचि रखते हैं। जब जीव सांसारिक शुद्धि विकसित कर लेता है, तो वह गर्व से नियमित कर्म करने

लगता है और अपने कर्म के फल से अपने को विरक्त करने लगता है। ऐसे विरक्त नियमित कर्म से क्रमशः ज्ञान या बुद्धिमत्ता का उदय होता है। जब यह ज्ञान प्रमुख हो उठता है, तो पुण्यात्मा भौतिकतावादी व्यक्ति परोपकारी एवं दानशील कार्यों के प्रति आकृष्ट होता है और पापकर्मों को त्याग देता है। यदि वह भाग्यशाली हुआ, तो वह दिव्य भगवद्भक्ति के अनुकूल बन जाता है। ऐसा व्यक्ति भक्ति के बौद्धिक ज्ञान की इच्छा से कनिष्ठ अधिकारी की शरण में जा सकता है। यदि वह मध्यम योग्यता प्राप्त कर लेता है, तो वह कृष्णभावनामृत के प्रचार-कार्य में लगे वैष्णव के प्रति आकृष्ट होता है। और जब वह मध्यम भक्ति के पद पर पूर्णतः परिपक्व हो जाता है, तो वह *महाभागवत* पद के प्रति आकृष्ट होता है और तब कृष्ण की कृपा से उसे अपने हृदय में महाभागवत गुरु की उच्च स्थिति का दर्शन होता है। यदि कोई व्यक्ति क्रमशः भगवद्भक्ति करता रहता है, तो वह *परमहंस महाभागवत* बन जाता है। इस अवस्था में उसके सारे कार्य, उसकी गतिविधियाँ तथा प्रचार-कार्य एकमात्र कृष्ण की तुष्टि में समर्पित रहते हैं। ऐसे शुद्ध जीव को गिराने की या उसे आच्छादित करने की शक्ति *माया* में नहीं रहती। *उपदेशामृत* (५) में श्रील रूप गोस्वामी ने जीवन की इस अवस्था को *भजनविज्ञमनन्यमन्यनिन्दादिशून्यहृदम्* कहा है।

चूँकि महाभागवत, भगवान् योगेश्वर द्वारा शक्तिप्रदत्त होता है, इसलिए उसमें अति-दैवी शक्ति होती है, जिससे वह *मध्यम अधिकारी* को, जो उसके चरणचिह्नों पर चलता है, प्रेरणा तथा सफलता प्रदान कर सकता है और कनिष्ठ अधिकारी को क्रमशः मध्यम पद पर ला सकता है। ऐसी भक्तिमयी शक्ति शुद्ध भक्त के हृदय में प्राप्य करुणा के सागर से स्वयमेव उत्पन्न होती है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि *महाभागवत* में भगवान् के शत्रुओं को दण्ड देने की इच्छा नहीं रहती। प्रत्युत वह मध्यम अधिकारियों तथा कनिष्ठ अधिकारियों को उन विरोधी जीवों की दूषित मनोवृत्ति को शुद्ध करने के लिए प्रचार-कार्य में लगाता है, जो इस भौतिक जगत को भ्रमवश कृष्ण से पृथक् मानते हैं।

ऐसे अभागे जीव हैं, जो भक्ति के क्षेत्र में *कनिष्ठ अधिकारी* की महिमा को नहीं समझ पाते, न ही *मध्यम अधिकारी* की उच्चतर अवस्था की प्रशंसा कर सकते हैं तथा *उत्तम अधिकारी* की उच्चतम अवस्था को समझ सकते हैं। ऐसे अभागे लोग निर्विशेष मायावाद चिन्तन के प्रति आकृष्ट होकर कंस,

अघ, बक तथा पूतना के चरणचिह्नों का पूर्णतया अनुसरण करते हैं और इस तरह श्री हरि द्वारा मारे जाते हैं। इस तरह इन्द्रिय योगियों का समुदाय भगवान् के चरणकमलों में अरुचि रखे रहता है। तथाकथित स्वार्थ से विकृत अपनी दृष्टि के अनुसार प्रत्येक भौतिकतावादी विभिन्न योनियों में बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के रूप में अपने दुर्भाग्य का चुनाव करता है। ऐसी ८४,००,००० योनियाँ हैं और भौतिकतावादी जीव तथाकथित भौतिक प्रगति के भ्रमवश अपने लिए जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु को दण्ड के रूप में स्वेच्छा से चुन लेता है।

यहाँ पर दृष्टान्त दिया गया है कि कामेच्छा के वशीभूत कामी पुरुष सारे जगत को कामुक स्त्रियों से पूर्ण देखता है। इसी तरह कृष्ण का शुद्ध भक्त सर्वत्र कृष्णभावनामृत का दर्शन करता है, भले ही वह अस्थायी रूप से आच्छादित क्यों न हो। इस तरह कोई मनुष्य अपनी ही तरह विश्व को देखता है (*आत्मवन् मन्यते जगत्*)। इस आधार पर यह तर्क किया जा सकता है कि महाभागवत की भी दृष्टि मोहित हो सकती है, क्योंकि *श्रीमद्भागवत* में सर्वत्र यह बात दुहराई गई है कि प्रकृति के गुणों से बद्ध लोग तनिक भी कृष्णभावनाभावित नहीं होते, अपितु वे कृष्ण के शत्रुवत् हैं। किन्तु भले ही बद्धजीव भगवान् के शत्रुवत् प्रतीत हों, तो भी यह तो शाश्वत अपरिवर्तनशील तथ्य है कि प्रत्येक जीव कृष्ण का भिन्नांश है। मनुष्य का कृष्ण के प्रति भावमय प्रेम भले ही अभी माया के प्रभाव से आच्छादित हो, किन्तु भगवान् की अहैतुकी कृपा से बद्धजीव क्रमशः कृष्णभावनामृत के पद को प्राप्त कर लेगा।

वस्तुतः हर व्यक्ति कृष्ण-विछोह की पीड़ा से त्रस्त है। चूँकि बद्धजीव यह कल्पना करता है कि कृष्ण से उसका नित्य सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वह यह निश्चित नहीं कर पाता कि उसके सारे कष्ट इसी विछोह के कारण हैं। यही *माया* है—अर्थात् "वह जो नहीं है"। वस्तुतः यह सोचना कि दुख का कारण कृष्ण-विछोह के अतिरिक्त अन्य कुछ है, निरी भ्रान्ति है। अतएव जब शुद्ध भक्त जीवों को इस जगत में कष्ट भोगते देखता है, तो वह यह ठीक सोचता है कि जिस तरह मैं कृष्ण-विछोह के कारण कष्ट पा रहा हूँ, उसी तरह अन्य सारे जीव भी कृष्ण-विछोह के कारण कष्ट पा रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि शुद्ध भक्त अपनी हृदय-वेदना के कारण को ठीक तरह से निश्चित कर पाता है, जबकि बद्धजीव माया द्वारा मोहित होने से कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को तथा इस सम्बन्ध की उपेक्षा से उत्पन्न असीम पीड़ा को नहीं समझ पाता।

श्रील जीव गोस्वामी ने निम्नलिखित श्लोक उद्‌धृत किये हैं, जो भगवान् के सर्वोच्च भक्तों के प्रेममय भावों को प्रस्तुत करने वाले हैं। *श्रीमद्‌भागवत* के दसवें स्कन्ध (१०.३५.९) में व्रजदेवियाँ इस प्रकार कहती हैं :

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं

व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलादया: ।

प्रणत भारविटपा मधुधारा:

प्रेमहृष्टतनवो ववृषु: स्म ॥

"वन की लताएँ तथा वृक्ष फूलों तथा फलों के पूरे भार से अवनत होकर ऐसे लग रहे थे, मानों अपने हृदयों के भीतर भगवान् विष्णु को प्रकट कर रहे हों। अपने शरीरों से रसोद्रेक प्रकट करते हुए वे मधु की वर्षा कर रहे थे।" दसवें स्कंध में ही अन्यत्र (भागवत १०.२१.१५) कहा गया है—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतम्

आवर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगा: ।

आलिंगनस्थगितम् ऊर्मिभुजैर्मुरारे-

गृंहणन्ति पादयुगलं कमलोपहारा: ॥

"मुकुन्द की वंशी की तान सुनकर नदियों ने बहना बन्द कर दिया, यद्यपि भँवरों की उपस्थिति से नदियों के हृदयों को अब भी निश्चित किया जा सकता था। नदियों ने अपनी लहरों रूपी भुजाओं से कमलों के पौधों का सहारा लेकर मुरारी के दोनों चरणकमल पकड़ लिये और इस तरह वे उनके आलिंगन में बद्ध हो गए।" दसवें स्कन्ध के अन्तिम अध्याय (१०.९०.१५) में द्वारका की रानियाँ प्रार्थना करती हैं—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे

स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोध: ।

वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्विद्धचेता

नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥

''हे *कुररी!* अब बहुत रात हो गई। हर कोई सो रहा है। सारा संसार शान्त है। इस समय भगवान् सो रहे हैं, यद्यपि उनका ज्ञान किसी भी परिस्थिति में अविचलित रहता है, तो फिर तुम क्यों नहीं सोती? तुम इस तरह सारी रात क्यों विलाप कर रही हो? प्रिय सखी! कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम भी हमारी ही तरह भगवान् के कमल-नेत्रों द्वारा, उनकी मीठी मुसकान तथा आकर्षक शब्दों से आकृष्ट हो? क्या भगवान् के वे व्यवहार तुम्हारे हृदय को उसी तरह कोंच रहे हैं, जिस तरह हमारे हृदयों को कोंचते हैं?'' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी माता यशोदा को *उत्तम अधिकारी* के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है, क्योंकि माता यशोदा ने भगवान् की वृन्दावन-लीला के समय कृष्ण के मुख के भीतर सारे जीवों को देखा था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपनी टीका में यह भी इंगित किया है—*अत्र पश्येदिति तथा दर्शनयोग्यतैव विवक्षिता, न तु तथा दर्शनस्य सार्वकालिकता।* ''इस श्लोक में *पश्येत्* शब्द का अर्थ यह नहीं है कि कोई हर क्षण कृष्ण के स्वरूप को देख रहा है, प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि उसे भक्ति का उच्च पद प्राप्त हो चुका है, जिस पर वह कृष्ण के रूप को देख सकता है या देख पाने में समर्थ है।'' यदि केवल वे जो कृष्ण के स्वरूप को निरन्तर देखते हैं *उत्तम अधिकारी* माने जाँय तब तो नारद, व्यास तथा शुकदेव को सर्वोच्च भक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे भगवान् को सदैव सर्वत्र नहीं देखते। निस्सन्देह, नारद, व्यास तथा शुकदेव को शुद्ध भक्ति का सर्वोच्च मानदण्ड माना जाता है, अतएव असली योग्यता *तद्दिदृक्षाधिक्य* है अर्थात् भगवान् को देखने की भावविह्वलता है। अतएव *भगवद्गीता* के इस कथन को कि भक्त को कृष्ण का सर्वत्र दर्शन करना चाहिए (*यो मां पश्यति सर्वत्र*) उस कामी पुरुष के उदाहरण के रूप में माना जा सकता है, जो सारे जगत को सुन्दर स्त्रियों से पूर्ण मानता है। इसी तरह मनुष्य को भगवान् का दर्शन करने के लिए आध्यात्मिक दृष्टि से इतना उत्सुक होना चाहिए कि वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में कृष्ण तथा उनकी शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न देख सके। *वासुदेव: सर्वमिति।* १९६९ में श्रील प्रभुपाद ने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे. एफ. स्टाल के साथ हुए पत्र-व्यवहार में यह दावा किया था उनके सारे शिष्य, जो कृष्णभावनामृत के गहन कार्यक्रम का कड़ाई से पालन कर रहे थे, वास्तव में *सुदुर्लभ महात्मा* थे, जो *वासुदेव: सर्वम्* का दर्शन कर रहे थे। दूसरे शब्दों में, यदि कोई भगवान् को प्रसन्न करने की तीव्र इच्छा से कृष्णभावनामृत में निरंतर लगा

रहता है और किसी दिन उनका सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, तो यह समझना होगा कि उसके जीवन में कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने हमें आगाह किया है कि सिद्धान्त रूप में या शैक्षिक रूप से यह समझ लेने से ही कि कृष्ण ही सर्वेसर्वा हैं, कोई उत्तम भक्त नहीं बन जाता। उसमें सचमुच कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ रहना चाहिए। अतएव यह लगभग समझ लेना चाहिए कि जो कोई भी उत्साहपूर्वक कृष्णभावनामृत कार्यक्रम को अपनाता है और अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत समिति के प्रचार-कार्य में उत्सुकता से हाथ बँटाता है, वह *मध्यम अधिकारी* भक्त के पद पर कार्य करता है। जब ऐसा भक्त कृष्ण की सेवा करने तथा उनकी संगति करने की इच्छा से अभिभूत हो जाता है, यहाँ तक कि वह इस ब्रह्माण्ड में अन्य किसी वस्तु के प्रति आकृष्ट नहीं होता, तो उसे *उत्तम अधिकारी* वैष्णव मानना चाहिए, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है।

ईस्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ईश्वरे—भगवान् के प्रति; तत्-अधीनेषु—कृष्णभावनामृत के प्रति समर्पित लोगों को; बालिशेषु—अज्ञानी या नवदीक्षितों के प्रति; द्विषत्सु—कृष्ण तथा उनके भक्तों से द्वेष रखने वालों के प्रति; च—तथा; प्रेम—प्रेम; मैत्री—मित्रता; कृपा—दया; उपेक्षाः—उपेक्षा; यः—जो कोई; करोति—करता है; सः—वह; मध्यमः—द्वितीय कोटि का भक्त।

द्वितीय कोटि का भक्त, जो मध्यम अधिकारी कहलाता है, भगवान् को अपना प्रेम अर्पित करता है, वह भगवान् के समस्त भक्तों का निष्ठावान मित्र होता है, वह अज्ञानी व्यक्तियों पर दया करता है जो अबोध है और उनकी उपेक्षा करता है, जो भगवान् से द्वेष रखते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के अनुसार इस भौतिक जगत का प्रत्येक जीव भगवान् का सूक्ष्म अंश होता है। *ममैवांशो जीवलोके जीवभूता: सनातन:* (भगवद्गीता १५.७)। किन्तु माया के वशीभूत गर्वित बद्धजीव भगवान् की सेवा से तथा भगवान् के भक्तों से शत्रुता रखते हैं, वे भौतिकतावादी विषयी पुरुषों को अपना नेता चुनते हैं और इस तरह वंचकों तथा वंचितों के व्यर्थ समाज में व्यस्त रहते हैं, जिसमें एक अंधा व्यक्ति दूसरे अंधे को खाई में ले जाता है। यद्यपि वैष्णव समुदाय बद्धजीवों को उनकी स्वाभाविक वैधानिक स्थिति में लाने के लिए उत्सुक है, किन्तु भौतिकतावादी जीव माया के प्रभाव से निष्ठुर हो जाता है और भगवद्भक्तों की कृपा को ठुकरा देता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार यद्यपि मध्यम अधिकारी भक्त अबोध बद्धजीवों को उपदेश देने के लिए उत्सुक रहता है, किन्तु उसे नास्तिक व्यक्तियों से बचना चाहिए, जिससे वह उनकी संगति से स्वयं क्षुब्ध या दूषित न हो। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने पुष्टि की है कि वैष्णव को उन लोगों के प्रति उदासीन रहना चाहिए, जो भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। यह प्राय: देखा जाता है कि जब ऐसे व्यक्तियों को भगवान् की महिमाओं की जानकारी दी जाती है, तो वे भगवान् का उपहास करने की चेष्टा करते हैं और इस तरह वे अपने दूषित जीवन को और भी बिगाड़ लेते हैं। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *श्रीमद्भागवत* का निम्नलिखित श्लोक (१०.२०.३६) उद्धृत किया है—

गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्।

यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा॥

''कभी कभी शीत ऋतु में जल पर्वतों की चोटियों से गिर कर शुद्ध जल प्रदान करता है और कभी कभी यह जल रुक जाता है। इसी प्रकार सन्त-पुरुष कभी तो शुद्ध ज्ञान का वितरण करते हैं और कभी मौन हो जाते हैं।''

इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी ने उल्लेख किया है कि यद्यपि उत्तम अधिकारी भक्त कभी कभी ऊपर से असुरों के प्रति घृणा प्रदर्शित कर सकते हैं, क्योंकि वे भगवान् की लीला के रस में प्रविष्ट रहते हैं, किन्तु मध्य अधिकारी को ऐसे भावों से बचना चाहिए। यही नहीं, मध्य अधिकारी को चाहिए कि वह कभी भी शक्तिशाली नास्तिक श्रेणी के मनुष्यों की संगति न करे, क्योंकि इसका खतरा रहता है कि ऐसी संगति से उसका मन मोहग्रस्त हो सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यदि कोई वैष्णव प्रचारक ऐसे व्यक्ति से आकस्मिक मिलता है, जो उससे ईर्ष्या करता है, तो उसे चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति से दूर रहे। किन्तु वैष्णव प्रचारक ईर्ष्यालु व्यक्तियों को बचाने की विधियों पर चिन्तन करने लग सकता है। ऐसा चिन्तन *सदाचार* कहलाता है। श्रील जीव गोस्वामी ने प्रह्लाद महाराज को सदाचारी मनुष्य का उदाहरण कहा है। *श्रीमद्भागवत* (७.९.४३) में प्रह्लाद का निम्नलिखित वक्तव्य प्राप्त है—

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या

स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-

मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्॥

''हे सर्वश्रेष्ठ महापुरुष! मैं संसार से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ, क्योंकि मैं जहाँ कहीं भी रहता हूँ आपकी महिमा तथा कार्यों के विचार में ही लीन रहता हूँ। मेरी चिन्ता तो केवल उन मूर्खों तथा धूर्तों के लिए है, जो भौतिक सुख के लिए और अपने परिवारों, समाजों तथा देशों का पालन-पोषण करने के लिए विस्तृत योजनाएँ बनाते हैं। मैं केवल उनके प्रेम के विषय में चिन्तित रहता हूँ।'' यद्यपि वैष्णव उपदेशक समस्त जीवों के कल्याण के विषय में निरन्तर चिन्तन करता रहता है, किन्तु वह उनकी संगति कभी नहीं करता, जो भगवान् कृष्ण के सन्देश को ग्रहण करना नहीं चाहते। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि भरत महाराज, व्यासदेव तथा शुकदेव गोस्वामी भी मनमाने ढंग से कृपा प्रदर्शित नहीं करते।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यह सिद्ध करने के लिए विस्तृत व्याख्या की है कि मध्यम अधिकारी उपदेशक द्वारा प्रयुक्त भेदभाव में कृपा का अभाव नहीं दिखता। वे कहते हैं कि इस श्लोक में उल्लिखित *उपेक्षा* उन लोगों के लिए उचित ओषधि है, जो भगवान् तथा उनके भक्तों से शत्रुता रखते हैं। उपदेशक द्वारा प्रदर्शित उदासीनता दोनों पक्षों की शत्रुता को रोकती है। यद्यपि यह वैदिक आदेश है कि जो व्यक्ति भगवान् तथा उनके भक्तों का अपमान करे उसकी जीभ काट ली जाय, किन्तु इस युग में ऐसे भावी अपराधियों से बच कर रहना ही सर्वोत्तम है। इस तरह वे वैष्णवों के साथ और अधिक पापपूर्ण कृत्य नहीं कर सकेंगे। वैष्णव उपदेशक का यह कर्तव्य है कि परमेश्वर की शरण में जाने के अतिरिक्त अन्य किसी भी विधि की व्यर्थता बतलाये। किन्तु ईर्ष्यालु पुरुष वैष्णव द्वारा ऐसे प्रबल उपदेश-कार्य का विरोध करेगा और भक्त का अन्यों की व्यर्थ आलोचना करने के लिए अनादर करेगा। ऐसा व्यक्ति जो वैष्णव की कृपा की प्रशंसा न कर सके, उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। अन्यथा, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार उसकी ठगी मनोवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जायेगी।

जो लोग श्री चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन के प्रति आकृष्ट नहीं होते और चैतन्य महाप्रभु के निष्ठावान सेवकों का अनादर करते हैं, क्योंकि वे उनके संकीर्तन-आन्दोलन से सम्बन्धित शक्तिशाली कथनों को अपनी भगवद्भक्ति में रुकावट समझते हैं, वे कभी भी अपने मन को कृष्ण में स्थिर नहीं कर पायेंगे, अपितु वे भक्ति के मार्ग से नीचे गिर जायेंगे, क्योंकि उन्हें भौतिक जगत के बाह्य

क्रियाकलापों में भगवान् कृष्ण की वास्तविक पूजा का भ्रम रहता है। ऐसे मोह को *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्* शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर उन मूर्ख व्यक्तियों का प्रबल बहिष्कार करते हैं, जो कृपा तथा समदृष्टि के तर्क के आधार पर यह अनुभव करते हैं कि श्रद्धाविहीन व्यक्ति भी भगवान् का भक्त है और जो इस तरह से ऐसे अपराधी लोगों पर हरिनाम थोपने का प्रयास करते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने कहा है ''जब बचकाने लोग अपने को *महाभागवत* मानकर वैष्णव गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, तो ऐसा आचरण उन्हें वैष्णव गुरु की दया का पात्र नहीं बनने देता। मिथ्या अहंकार से मोहित ये आत्मविज्ञापित भक्त मध्यम अधिकारियों द्वारा उपेक्षित समझे जाने के योग्य हो जाते हैं और उस कृपा से वंचित रह जाते हैं, जो भक्तों की तुष्टि से मिलती है। इस तरह वे कृष्ण-नाम का प्रचार करने वाले भक्तों के प्रति लगातार अपराध करते रहने से असाधु बन जाते हैं। इसलिए शुद्ध भक्त सभी परिस्थितियों में अपने को मिथ्या में *विशुद्ध भक्त* घोषित करने वालों से उदासीन रहने लगते हैं। यह उदासीनता ही उनकी कृपा की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।'' दूसरे शब्दों में, जो लोग मध्यम अधिकारियों की आलोचना भगवान् की कृपा प्राप्त करने के पात्र और भगवान् के ईर्ष्यालुओं में अन्तर करने के कारण करते हैं, वे भगवान् के सन्देश को गलत समझते हैं। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.८) में कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

''पुण्यात्माओं का उद्धार करने और दुष्टों का संहार करने तथा धर्म के सिद्धान्तों को पुनः स्थापित करने के लिए ही मैं हर युग में अवतरित होता हूँ।'' इस ब्रह्माण्ड के बारह महाजनों में से एक परम वैष्णव शुकदेव गोस्वामी तक ने दुष्ट कंस के प्रति घृणा व्यक्त की है।

श्रील जीव गोस्वामी ने इंगित किया है कि भले ही महाभागवत-भक्त उपदेश देने के लिए द्वितीय श्रेणी के स्तर का कार्य करे, किन्तु उसके द्वारा ईर्ष्यालु जीवों का परित्याग उसके द्वारा भगवान् को सर्वव्यापी रूप में देखने में बाधक नहीं बनता। प्रत्युत जब उत्तम अधिकारी या मध्यम अधिकारी भी नास्तिक लोगों का बहिष्कार करता है, तो वह भगवान् के सन्देश को ही व्यक्त करता है। उत्तम या

मध्यम अधिकारी वैष्णव कभी भी दूसरे जीव से ईर्ष्या नहीं करता, किन्तु भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम के कारण वह तब क्रुद्ध होता है, जब भगवान् का अपमान होता है। यही नहीं, भगवान् के सन्देश को समझते हुए वह विशेष जीव के पद के अनुसार भेदभाव बरतता है। ऐसे वैष्णव उपदेशक को सामान्य, ईर्ष्यालु व्यक्ति समझना या इसलिए सम्प्रदायवादी समझना कि वह आध्यात्मिक प्रगति के सभी साधनों से शुद्ध भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बतलाता है, भौतिकतावादी दृष्टि का द्योतक है, जिसे *वैष्णवे जातिबुद्धिः* या *गुरुषु नरमतिः* कहते हैं। ऐसा अपराध अपराधी को प्रकृति के नियमों द्वारा नारकीय जीवन में धकेल देता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यद्यपि महाभागवत हर जीव को शुद्ध आत्मा मानता है फिर भी ऐसा महाभागवत जब किसी अन्य वैष्णव से मिलता है, तो उसे विशेष आनन्दमय भावों तथा लक्षणों की अनुभूति होती है। यह सर्वोच्च भक्त के रूप में उसकी दृष्टि के विरुद्ध नहीं है, प्रत्युत कृष्ण के प्रति उसके प्रेम का प्रतीक है। शुद्ध भक्त हर जीव को कृष्ण के भिन्नांश रूप में देखता है, अतएव कृष्ण के सारे अंशों तथा सृष्टियों के लिए प्रेम के माध्यम से कृष्ण के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करता है। तो भी ऐसा महाभागवत दूसरे जीव को भगवान् की इन्द्रियों को प्रसन्न करते देखकर विशेष भावमय प्रेम (रस) का अनुभव करता है। ऐसी भावनाएँ प्रचेताओं से शिवजी के कथन द्वारा प्रकट होती हैं—

क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।

भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किं उताशिषः॥

''यदि संयोगवश किसी भक्त की संगति आधे क्षण के लिए भी मिल जाती है, तो मनुष्य कर्म या ज्ञान के फलों से आकृष्ट नहीं होता। तो भला उसे उन देवताओं के वरों में क्या रुचि हो सकती है, जो जन्म तथा मृत्यु के नियमों से बँधे हैं? (भागवत ४.२४.५७) इसी प्रकार शिवजी ने भी कहा है—

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा।

न मद् भागवतानां च प्रेयान् अन्योऽस्ति कर्हिचित्॥

''तुम सब भगवद्भक्त हो, अतएव मैं समझता हूँ कि तुम लोग साक्षात् भगवान् की तरह आदरणीय हो। मैं जानता हूँ कि इस तरह भक्तगण मेरा भी आदर करते हैं और मैं उन्हें प्रिय हूँ। इस तरह भक्तों को कोई अन्य उतना प्रिय नहीं, जितना मैं हूँ।'' (भागवत ४.२४.३०) इसी तरह

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध (१.७.११) में श्रील शुकदेव गोस्वामी को *नित्यं विष्णुजनप्रियः* कहा गया है।

सर्वोच्च पद पर वैष्णवों के मध्य प्रेमपूर्ण बर्तावों का प्रदर्शन *चैतन्य-चरितामृत* की लीलाओं में मिलता है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि वैष्णव हर जीव को कृष्ण के भिन्नांश रूप में देखता है, किन्तु उसे अपने बाह्य आचरण में भेदभाव करना चाहिए, जिससे भगवान् की सृष्टि के मूल उद्देश्य में कोई व्यवधान न आये—यह उद्देश्य है जीवों का सुधार करना, जिससे वे क्रमशः भगवद्धाम वापस जा सकें। शुद्ध भक्त समदृष्टि का मूर्खता से दिखावा करके ईर्ष्यालु व्यक्तियों के पास नहीं जाता, प्रत्युत वह भगवान् के उद्देश्य का आदर करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (४.११) में *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्* शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है।

दूसरी ओर, यदि भगवान् की इच्छा हो, तो शुद्ध भक्त सारे जीवों को आदर प्रदान कर सकता है। उदाहरणार्थ, श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि उद्धव तथा भगवान् के अन्य भक्त दुर्योधन जैसे व्यक्तियों को भी नमस्कार करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। किन्तु मध्यम अधिकारियों को उत्तम अधिकारियों के ऐसे आचरण की नकल नहीं करनी चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने उत्तम तथा मध्यम अधिकारियों का अन्तर इस प्रकार बतलाया है—*अत्र सर्वभूतेषु, भगवद्दर्शनयोग्यता यस्य कदचिदपि न दृष्टा। मध्यम अधिकारी* कभी भी सारे जीवों के भीतर भगवान् की स्थिति का अनुभव नहीं कर पाता, जबकि उत्तम अधिकारी भगवान् के उद्देश्य को पूरा करने के लिए मध्यम पद पर कार्य करते हुए भी यह जानता रहता है कि प्रत्येक जीव अन्ततः विस्मरण करने वाला कृष्णभावनाभावित जीव है। अतएव बाहर से भक्त चाहे चार प्रकार के आचरणों में लगा रहे, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है—अर्थात् भगवान् की पूजा, भक्तों से मैत्री, अबोध को उपदेश देना तथा असुरों का बहिष्कार—किन्तु यह निश्चित नहीं कि वह मध्यम पद पर हो, क्योंकि उत्तम अधिकारी भी भगवान् के उद्देश्य को पूरा करने के लिए इन लक्षणों को प्रकट कर सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि मध्यम अधिकारी अपने को उत्तम अधिकारी का दाहिना हाथ समझे और अन्यों के लाभ हेतु कर्म करने का तथा कृष्ण-प्रेम वितरित करने में सहायता करने का व्रत ले।

अन्त में, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने *अर्चन* तथा *भजन* के अन्तर की सुन्दर व्याख्या की है। *अर्चन* द्योतक है *साधन-भक्ति* पद का, जिसमें मनुष्य विधि-विधानों का पालन करने के लिए भगवान् की सेवा करता है। जिसने भगवन्नाम् की शरण प्राप्त कर ली है और जो भगवान् की सेवा करने में पूरी तरह लगा रहता है, उसे *भजन* के पद पर मानना चाहिए, यद्यपि उसके बाह्य कार्यकलाप अर्चन में लगे नवदीक्षित के कार्यकलापों से कभी कभी कम कठोर होते हैं। तथापि ऊपरी तौर पर यह कड़ाई का अभाव शिथिलता का द्योतक है जो बुद्धिपरता के बर्ताव के मूल सिद्धान्तों और इन्द्रियतृप्ति की विरक्ति में नहीं वरन् वैष्णव अनुष्ठानों के विवरणों से होती है।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

अर्चायाम्—अर्चाविग्रह के; एव—निश्चय ही; हरये—भगवान् हरि को; पूजाम्—पूजा; यः—जो; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; ईहते—लगाता है; न—नहीं; तत्—कृष्ण के; भक्तेषु—भक्तों के प्रति; च—तथा; अन्येषु—सामान्य लोगों के प्रति; सः—वह; भक्तः प्राकृतः—भौतिकतावादी भक्त; स्मृतः—कहलाता है।

जो भक्त मन्दिर में अर्चाविग्रह की श्रद्धापूर्वक पूजा में लगा रहता है, किन्तु अन्य भक्तों के प्रति या सामान्य जनता के प्रति उचित रीति का आचरण नहीं करता, वह प्राकृत भक्त अर्थात् भौतिकतावादी भक्त कहलाता है और निम्नतम पद पर स्थित माना जाता है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य की टीका है कि भक्ति की निम्नतम अवस्था को प्राप्त व्यक्ति मन्दिर में अर्चाविग्रह की श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि भगवान् सचमुच सर्वव्यापी हैं। यही मनोवृत्ति पाश्चात्य देशों में देखी जा सकती है, जहाँ लोग अपने घरों में तथा बाजारों में सभी तरह के पाप करते हैं, किन्तु पवित्र बन कर गिरजाघर जाते हैं और कृपा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। वास्तव में, ईश्वर हमारे घर में हैं, ईश्वर बाजार में हैं, ईश्वर हमारे कार्यालय में हैं, जंगल में हैं, सर्वत्र हैं, अतएव भक्तियोग द्वारा ईश्वर के चरणकमलों की सर्वत्र पूजा की जानी चाहिए। जैसाकि इस अध्याय के ४१वें श्लोक में कहा गया है—

खं वायुमग्नि सलिलं महीं च

ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं

यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

''भक्त को चाहिए कि किसी भी वस्तु को भगवान् कृष्ण से पृथक् नहीं देखे। शून्य, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, सूर्य तथा अन्य नक्षत्र, सारे जीव, दिशाएँ, वृक्ष, अन्य पौधे, नदियाँ तथा समुद्र—इनमें से जिस जिसका भक्त को अनुभव हो, वह उसे कृष्ण का अंश माने। इस प्रकार सृष्टि के भीतर विद्यमान हर वस्तु को भगवान् के शरीर के रूप में देखते हुए भक्त को चाहिए कि भगवान् के शरीर के सम्पूर्ण विस्तार के प्रति नमस्कार करे।'' भगवान् के महाभागवत भक्त की दृष्टि यही है।

श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि मध्यम अधिकारी भगवान् को सभी कारणों के कारण के रूप में देखता है और इसीलिए भगवान् के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करता है। ऐसा भक्त अन्य भक्तों का सच्चा मित्र होता है, अज्ञानियों पर दयालु होता है और नास्तिकों से दूर रहता है। फिर भी, *तद्वशत्वं न जानाति सर्वस्य जगतोऽपि तु*—भगवान् के सर्वव्यापी तत्त्व के विषय में उसकी अनुभूति अपूर्ण होती है। यद्यपि उसे इस बात का सामान्य ज्ञान होता है कि अन्ततः हर व्यक्ति को भगवान् का भक्त होना है, और वह प्रत्येक वस्तु को कृष्ण की सेवा में, यह जानते हुए कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, लगाने का प्रयास करता है। संभव है कि नास्तिकों की संगति के फलस्वरूप वह संभ्रमित हो जाए।

श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—*अचार्यामेव संस्थितम्। विष्णुं ज्ञातवा तदन्यत्र नैव जानाति यः पुमान्। कनिष्ठ अधिकारी* को यह अनुमान नहीं रहता कि भगवान् में गिरजाघर या मन्दिर के बाहर विद्यमान रहने की शक्ति होती है। यही नहीं, वह अपनी विधानपूर्ण पूजा से गर्वित होकर (*आत्मनो भक्तिदर्पतः*) यह कल्पना नहीं कर पाता कि उससे भी बढ़कर कोई पुण्यात्मा या धार्मिक है। उसे यह पता भी नहीं रहता कि अन्य भक्त उससे भी बड़े भक्त हैं। इस तरह वह भक्ति के *मध्यम* या *उत्तम* स्तर को नहीं समझ पाता और कभी कभी अपने मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर वह भगवान् के उच्च भक्तों की आलोचना करता है, उनकी उपेक्षा करता है या प्रचारक अथवा पूर्ण स्वरूपसिद्ध होने के उनके पदों का उसे कोई ज्ञान नहीं रहता।

कनिष्ठ अधिकारी का दूसरा लक्षण यह है कि वह तथाकथित महान् भौतिकतावादी पुरुषों की भौतिक योग्यताओं पर मुग्ध रहता है। देहात्म-बुद्धि से युक्त होने से वह भौतिक ऐश्वर्य द्वारा आकृष्ट होता है और इस तरह वह भगवान् विष्णु के पद को निम्न बनाता है। इसलिए ऐसा कनिष्ठ अधिकारी

विचलित हो उठता है, यदि मध्यम अधिकारी भगवान् के अभक्तों की आलोचना करता है। दया या करुणा के नाम पर कनिष्ठ अधिकारी ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों के अभक्तिपूर्ण कार्यों की संपुष्टि करता है। चूँकि कनिष्ठ अधिकारी भक्ति के उच्च लोक से तथा कृष्णभावनामृत के असीम दिव्य आनन्द से अनजान रहता है, अतएव वह भक्ति को जीवन के धार्मिक पक्ष के रूप में देखता है, किन्तु यह सोचता है कि जीवन में अनेक भोग्य तथा उचित अभक्तिपूर्ण पहलू हैं। इसलिए जब कृष्ण को ही सर्वस्व मानने वाला कोई मध्यम अधिकारी अभक्तों की आलोचना करता है, तो वह क्रुद्ध हो उठता है। मध्वाचार्य कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति को कृष्ण में उसकी प्रारम्भिक श्रद्धा के कारण भक्त माना जाता है, किन्तु यह *भक्ताधम* अर्थात् निम्नतम स्तर का भक्त होता है। यदि ऐसे भौतिकतावादी भक्त अर्चापूजा के विधि-विधानों का पालन करते हैं, तो वे क्रमशः उच्च स्तर को प्राप्त करते हुए भगवान् के शुद्ध भक्त बन जाते हैं, बशर्ते कि वे अन्य भक्तों के प्रति अपराध न करें। ऐसी दशा में उनकी उन्नति रुक जाएगी।

श्रील मध्वाचार्य कहते हैं *तद्भक्तानाम् उपेक्षकाःकुर्युर्विष्णावपि द्वेषम्।* जो लोग भगवद्भक्तों की उपेक्षा करते हैं या उनके प्रति उदासी बरतते हैं उन्हें भगवान् विष्णु के चरणकमलों का अपराधी मानना चाहिए। इसी तरह जो देवताओं का अनादर करते हैं, वे भक्ति से वंचित हो जाएँगे और जन्म-मृत्यु के चक्र रूपी *संसार* में पुनः पुनः चक्कर लगाते रहने पर विवश हो जाएँगे। *पूज्या देवस्ततः सदा*—देवताओं का सदैव आदर करना चाहिए, क्योंकि वे भगवान् के भक्त होते हैं। यदि कोई व्यक्ति देवताओं से ईर्ष्या करता है, तो समझिये कि वह भगवान् से भी ईर्ष्या करता है। इसी तरह जो व्यक्ति देवताओं का सच्चा आदर करता है, उसे भगवान् की इच्छा का आदर करने वाला मानना चाहिए। वैष्णव मूर्खतावश यह नहीं सोचता कि देवता अनेक हैं। वह जानता है कि भगवान् तो एक है। किन्तु जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में अनेक बार कहा गया है, इस जगत में ईश्वर का एक उद्देश्य बद्धजीवों को प्रकृति के क्रूर नियमों से उबारने का है। इस जगत में भगवान् के उद्देश्य के अन्तर्गत देवताओं को भगवान् के शरीर के अंग मानना चाहिए। *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

''जिनके मन भौतिक इच्छाओं द्वारा बिगड़ चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं और अपने स्वभावों के अनुसार पूजा के विधि-विधानों का अनुसरण करते हैं।'' किन्तु ऐसे भक्तों के भी कई उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने भगवान् कृष्ण की सेवा के लिए देवताओं से वर पाने के लिए उनकी पूजा की। गोपियों ने कृष्ण को पाने के लिए देवताओं की पूजा की। इसी तरह रुक्मिणी देवी ने अपने विवाह के दिन ऐसी ही देव-पूजा की, जबकि उनका एकमात्र लक्ष्य कृष्ण था। आज भी कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारक महत्त्वपूर्ण पुरुषों में दया तथा पटुता का भाव उत्पन्न करते हैं, जिससे ऐसे धनी या प्रभावशाली लोग अपने साधनों का उपयोग, विश्व-भर में कृष्ण की महिमा बताने के लिए, कृष्ण-भक्ति में करें। इसी प्रकार देवताओं का आदर करना, जिससे वे कृष्ण-भक्ति की सारी सुविधाएँ प्रदान कर सकें, *भक्ति-मार्ग* के विरुद्ध नहीं है, यद्यपि आजकल ऐसी देव-पूजा का भी ह्रास हो चुका है। इसीलिए, चैतन्य महाप्रभु ने इस युग के लिए हरिनाम संकीर्तन को एकमात्र यथार्थ विधि के रूप में संस्तुत किया है। तो भी भगवद्भक्त को देवपूजा के विरुद्ध *भगवद्गीता* के आदेशों को देवताओं का अपमान करने की छूट नहीं मान लेनी चाहिए, क्योंकि वे प्रामाणिक वैष्णव होते हैं।

श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है—

विष्णोरुपेक्षकं सर्वे विद्विषन्त्यधिकं सुराः।

पतत्यवश्यं तमसि हरिणा तैश्च पातितः॥

''जो व्यक्ति भगवान् विष्णु का आदर नहीं करता, उसके प्रति सारे देवता शत्रुभाव रखते हैं। ऐसा व्यक्ति भगवान् तथा देवताओं द्वारा घोरतम नरक में गिरा दिया जाता है।'' श्रील मध्वाचार्य के इस कथन से देवताओं के भक्तिभाव को समझा जा सकता है। यह कहा गया है कि उत्तम अधिकारी द्वारा प्राप्त की गई परम मुक्ति में भक्त भगवान् तथा देवताओं के प्रत्यक्ष सान्निध्य का दिव्य आनन्द लेता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार ऐसा कनिष्ठ अधिकारी, जो अन्य भक्तों का उचित आदर नहीं कर सकता, उन सामान्य जीवों का भी, जो भक्त नहीं है, निश्चय ही आदर नहीं कर पायेगा। इसलिए वह प्रचार या उपदेश-कार्य के लिए तब तक व्यर्थ होता है, जब तक कि वह ज्ञान की उच्च अवस्था को प्राप्त नहीं हो लेता। वे कहते हैं—*इयं च श्रद्धा न शास्त्रार्थावधारणजाता।* चूँकि कनिष्ठ अधिकारी की श्रद्धा वैदिक वाङ्मय पर आधारित नहीं होती, अतएव वह भगवान् के उच्च पद को हर एक के हृदय में

नहीं समझ पाता। इसलिए वह न तो भगवत्प्रेम प्रकट कर पाता है, न ही भगवद्‌भक्तों के उच्च पद को समझ पाता है। कृष्ण इतने यशस्वी हैं कि उनके अन्तरंग संगी भी यशस्वी होने चाहिए। किन्तु कनिष्ठ अधिकारी इससे अवगत नहीं रहता। इसी तरह वैष्णव का यह अनिवार्य गुण है कि वह अन्यों को आदर प्रदान करे (*अमानिना मानदेनकीर्तनीयः सदा हरिः*), किन्तु कनिष्ठ अधिकारी में इसका भी अभाव रहता है। किन्तु यदि ऐसा व्यक्ति वैदिक वाङ्मय में श्रद्धा रखे और *भगवद्‌गीता* तथा *श्रीमद्‌भागवत* के कथनों को समझने का प्रयास करे तो वह धीरे धीरे मध्यम तथा उत्तम भक्ति-अवस्था तक उठ सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार कनिष्ठ अधिकारी को गम्भीरतापूर्वक अर्चाविग्रह की नियमित पूजा में लगे रहना चाहिए। अर्चाविग्रह भगवान् का विशिष्ट अवतार होता है। भगवान् कृष्ण अपने पूजक के समक्ष पाँच विभिन्न रूपों में अपने को प्रस्तुत कर सकते हैं। ये हैं—अपने आदि कृष्ण-रूप में (*पर*), अपने चतुर्व्यूह-अंश में (*व्यूह*), अपने लीला-अवतारों के रूप में (*वैभव*), परमात्मा-रूप में (*अन्तर्यामी*) तथा अर्चाविग्रह-रूप में (*अर्चा*)। इस अर्चा-रूप में परमात्मा होता है, जो भगवान् के वैभव-रूप में समाहित रहता है। भगवान् का यह *वैभव-प्रकाश* चतुर्व्यूह से निकलता है और यह चतुर्व्यूह परम सत्य वासुदेव में स्थित होता है, जो कि *स्वयंप्रकाश-तत्त्व* के भीतर स्थित होता है। इस *स्वयंप्रकाश* में वैकुण्ठ स्थित गोलोक वृन्दावनवासी कृष्ण के आदि रूप *स्वयंरूप-तत्त्व* के अंश निहित होते हैं। वैकुण्ठ-लोक में भगवान् के अंशों का यह अनुक्रम भौतिक जगत में भी अनुभव किया जाता है, जो कि भगवान् की सेवा करने की उत्सुकता के अनुसार है। भक्ति की निम्नतम अवस्था में एक नौसिखिये को चाहिए कि भगवान् की तुष्टि के लिए अपने सारे कर्म उन्हें समर्पित करे और मन्दिर में कृष्ण-पूजा का अनुशीलन करे।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ऊपर वर्णित भगवान् के सारे स्वांश इस जगत में उतर कर अर्चाविग्रह में प्रवेश करते हैं, जो वैष्णव का दैनिक-जीवन संगी बनकर परमात्मा के कार्य को प्रकट करता है। यद्यपि भगवान् का लीला-अंश, *वैभव* विशिष्ट अवसरों पर अवतरित होता है (*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*) किन्तु परमात्मा-रूप तथा अर्चा-रूप तो भक्तों के आध्यात्मिक उन्नयन के लिए इस जगत में सदा ही उपलब्ध रहते हैं। जब कोई व्यक्ति *मध्यम अधिकारी* पद को प्राप्त

होता है, तो वह भगवान् के अंशों को समझ पाता है, जबकि कनिष्ठ अधिकारी का सारा ज्ञान अर्चा तक ही सीमित रहता है। तो भी कृष्ण इतने दयालु हैं कि निम्नतम श्रेणी के वैष्णवों को भी प्रोत्साहित करने के लिए वे अपने सारे विभिन्न रूपों को अर्चा में ही संघनित कर देते हैं, जिससे अर्चा की पूजा करते हुए कनिष्ठ अधिकारी सारे रूपों की पूजा कर लेता है। भक्त ज्यों ज्यों प्रगति करता जाता है, वह इन रूपों को, जैसे जैसे वे अपने ढंग से व्यक्त होते हैं, समझ सकता है, चाहे वे इस लोक में हों या वैकुण्ठ में।

तृतीय श्रेणी के स्तर पर रहते हुए, भक्त को भगवान् के साज–सज्जा तथा परिचर की आनंदमयी वास्तविकता का आध्यात्मिक अनुमान नहीं हो पाता। श्री चैतन्य महाप्रभु राजा प्रतापरुद्र से तब अत्यधिक प्रसन्न हुए थे, जब राजा महाप्रभु का बहिर्वसन प्राप्त करके, उसे तुरन्त अर्चा के रूप में स्थापित करके, उसकी साक्षात् भगवान् जैसी पूजा करने लगे। शिवजी ने स्वयं कहा है—*तस्माद् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्।* भगवान् के साज–सज्जा, परिचर या उनके भक्तों की पूजा भगवान् की पूजा की अपेक्षा से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् अपनी पूजा की अपेक्षा अपने भक्तों तथा परिचर की पूजा से अधिक प्रसन्न होते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *कनिष्ठ अधिकारी* द्वारा भगवान् के भक्तों, परिचर तथा साज–सज्जा को न समझ पाना, इसका सूचक है कि वह अब भी उन कर्मवादियों तथा मायावादियों के अनुमान–जनित ज्ञान से प्रभावित है, जो इन्द्रियतृप्ति तथा परम के बारे में निर्विशेषवादी चिंतन में तल्लीन हैं। श्रील प्रभुपाद प्रायः कहा करते थे कि निर्विशेषवादी ही कृष्ण का एकान्त दर्शन चाहता है, हम तो कृष्ण को उनकी गौवों, उनके मित्रों, उनके माता–पिता, उनकी गोपियों, उनकी वंशी, उनके आभूषण, वनश्री इत्यादि के साथ साथ देखना चाहते हैं। वृन्दावन की पृष्ठभूमि में कृष्ण भव्य लगते हैं। वृन्दावन की भूमि में ही अनेकानेक सुन्दर संगियों से घिरे हुए अपना अकथनीय सौन्दर्य प्रकट करते हैं। इसी तरह भगवान् की अद्वितीय कृपा उन शुद्ध भक्तों के कार्यों में प्रकट होती है, जो सारे विश्व में निस्वार्थ–भाव से यात्रा करते हुए बद्धजीवों के सिरों पर कृष्ण के चरणकमलों की धूल का वितरण करते हैं। जो व्यक्ति भगवान् के साज–सज्जा, परिचर तथा भक्तों में अरुचि रखता हो, उसे

भगवान् का अवरुद्ध ज्ञान होता है। यह सब जीवन के निर्विशेष तथा विषय-वासनामय ज्ञान के दूषण से होता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि भगवान् वासुदेव के अर्चा की सैकड़ों जीवनों तक बाहरी साज-सामान से पूजा करने से ही, उसे भगवान् के दिव्य नाम तथा मंत्रों की सही प्रकृति की अनुभूति हो पाती है और इस तरह उसकी भौतिकतावादी मनोवृत्ति का बन्धन ढीला पड़ता है। इस तरह से जब कनिष्ठ अधिकारी धीरे धीरे भक्तों के मानसिक कार्यकलापों का अनुभव कर पाता है और उच्च अवस्था की ओर बढ़ने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयास करता है, तो उसकी भौतिकतावादी धारणाएँ स्वयमेव दूर हो जाती हैं। तब वह भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति प्रकट करता है और उन भक्तों के साथ मैत्री करता है, जो भगवान् के परमप्रिय पुत्र हैं। वह कृष्ण-भक्ति के सार्वभौम गुण को पहचान कर अन्य भोले-भाले लोगों को भी भगवान् की सेवा में लगाने के लिए अत्यन्त उत्सुक होता है। इस तरह महत्त्वपूर्ण प्रगति करते हुए वह, जो भी वस्तु या मनुष्य, उसके आध्यात्मिक जीवन में बाधक बनता है, उसका शत्रु बनता जाता है और इस तरह वह उन नास्तिक लोगों से अपने को बचाता है, जो सदुपदेश से लाभ नहीं उठा सकते।

ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य १०८ श्री श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा संस्थापित अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ इतना उत्तम है कि जो भी इसकी सहायता करता है, वह भगवान् के प्रचार-कार्य में तुरन्त लग जाता है। इस तरह इस संघ के सदस्यों को तुरन्त ही मध्यम कोटि की भक्ति करने की सुविधा मिल जाती है। यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत के नाम पर प्रचार-कार्य छोड़कर अपने निर्वाह हेतु धन एकत्र करने मात्र में रुचि लेने लगता है, तो वह अन्य जीवों के प्रति ईर्ष्या प्रदर्शित करता है। यह तो तृतीय कोटि के स्तर का लक्षण है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार ४५वें श्लोक से लेकर ४७वें श्लोक तक राजा निमि के इन दो प्रश्नों—''भगवद्भक्ति का स्वभाव क्या है?'' और ''वैष्णव के विशिष्ट कर्तव्य क्या हैं?''—के उत्तर दिये हुए हैं।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन्स वै भागवतोत्तमः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

गृहीत्वा—स्वीकार करके; अपि—यद्यपि; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; अर्थान्—इन्द्रिय-विषयों को; यः—जो; न द्वेष्टि—ईर्ष्या नहीं करता; न हृष्यति—हर्षित नहीं होता; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; मायाम्—माया को; इदम्—इस भौतिक ब्रह्माण्ड को; पश्यन्—देखते हुए; सः—वह; वै—निस्सन्देह; भागवत-उत्तमः—प्रथम कोटि का भक्त।

इन्द्रिय-विषयों में लगे रहकर भी, जो इस सम्पूर्ण जगत को भगवान् विष्णु की शक्ति के रूप में देखता है, वह न तो विकर्षित होता है, न हर्षित। वह निस्सन्देह, भक्तों में सबसे महान् होता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार उत्तम अधिकारी का पद इतना पूज्य है कि आठ श्लोकों में अब अतिरिक्त लक्षण दिये जा रहे हैं। यह समझ लेना होगा कि जब तक कोई भगवद्भक्त के चरणकमलों के सम्पर्क में नहीं आता, तब तक भौतिक मोह से छूटने का मार्ग समझ पाना कठिन है। *श्री उपदेशामृत* के पाँचवें श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—*शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्यनिन्दादिशून्यहृदम् ईप्सितसङ्गलब्ध्या*—मनुष्य को चाहिए कि उस शुद्ध भक्त की संगति करे और श्रद्धापूर्वक सेवा करे, जो अविचल भक्ति में आगे बढ़ा हुआ हो और जिसका हृदय अन्यों की आलोचना करने की लालसा से नितान्त रहित हो। श्रील प्रभुपाद ने इस पर टीका की है—''इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी भक्त को सलाह देते हैं कि वह इतना बुद्धिमान हो कि कनिष्ठ अधिकारी, मध्यम अधिकारी तथा उत्तम अधिकारी के बीच अन्तर जान सके—नवदीक्षित वैष्णव तथा मध्यम पद पर स्थित वैष्णव भी शिष्य बना सकता है, किन्तु ऐसे शिष्यों को उसी पद पर होना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि वे उसके अपर्याप्त मार्गदर्शन में जीवन के चरम उद्देश्य की ओर ठीक से प्रगति नहीं कर सकेंगे। इसलिए शिष्य को चाहिए कि सावधान रहते हुए उत्तम अधिकारी को ही अपना गुरु चुने। अतः अब अतिरिक्त लक्षण दिए जाएँगे, ताकि बद्धजीव जो भगवद्धाम लौटना चाहता है, प्रामाणिक गुरु को अच्छी प्रकार पहचान सके।''

श्रील श्रीधर स्वामी तथा श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् के शुद्ध भक्त के साथ संगति करना इतना महत्त्वपूर्ण है कि भक्ति की विभिन्न श्रेणियों की व्याख्या के पश्चात् शुद्ध भक्त की योग्यताओं के विषय में आठ अतिरिक्त श्लोक दिये जा रहे हैं, ताकि श्रीमद्भागवतम् के विद्यार्थी इस दिशा में कोई त्रुटि न कर सकें। इसी प्रकार *भगवद्गीता* के द्वितीय अध्याय में अर्जुन ने कृष्ण से पूर्णतया कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लक्षण पूछे हैं और कृष्ण ने *प्रज्ञा प्रतिष्ठिता*—अर्थात् कृष्णभावनामृत में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लक्षणों की विस्तार से व्याख्या की है।

इस श्लोक में जिस विशिष्ट योग्यता का वर्णन हुआ है, वह है—*विष्णोर्मायामिदं पश्यन्*—मनुष्य को चाहिए कि सम्पूर्ण भौतिक जगत को भगवान् की माया की उपज माने। जो भगवान् की सम्पत्ति है उसके लिए शोक करने या प्रफुल्लित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस जगत में कोई व्यक्ति सामान्यतया वांछित वस्तु को खो देने पर शोक करता है और इच्छित वस्तु को पाने पर प्रफुल्लित होता है। किन्तु शुद्ध भक्त में कोई निजी इच्छा न होने से (*कृष्ण-भक्त निष्काम—अतएव 'शान्त'*) हानि या लाभ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मभूताः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो दिव्य पद पर स्थित है, वह तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार करके पूर्णतया आनंदित हो जाता है। वह न तो शोक करता है, न ही किसी वस्तु को पाने की इच्छा करता है। वह हर जीव के प्रति समभाव रखता है। ऐसी दशा में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।" इसी प्रकार शिवजी राजा चित्रकेतु के चरित्र की प्रशंसा करते हुए अपनी पत्नी पार्वती से कहते हैं—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

"एकमात्र भगवान् नारायण की सेवा में लगे भक्तगण कभी भी जीवन की किसी दशा से डरते नहीं। उनके लिए स्वर्गलोक, मोक्ष तथा नरकलोक सभी एकसमान हैं, क्योंकि ऐसे भक्त एकमात्र भगवान् की सेवा में रुचि रखते हैं।" (भागवत ६.१७.२८)

कृष्ण-भक्ति में पूर्ण संतोष की यह अवस्था कृत्रिम ध्यान द्वारा प्राप्त होने वाला मानसिक चिन्तन नहीं है, अपितु आनन्दकन्द भगवान् की श्रेष्ठ प्रकृति का अनुभव करने का फल है। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है—*रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।* जब निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी कृत्रिम रूप में भौतिक वस्तुओं को अपने मन से निकाल फेंकने का प्रयत्न करते हैं, तो उन्हें अपने कृत्रिम ध्यान में काफी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(*भगवद्गीता* १२.५)

भगवान् कृष्ण के अनुसार निर्विशेष मोक्ष अनेक कष्टों तथा असुविधाओं के बाद मिलता है, क्योंकि हर जीव परम पुरुष कृष्ण का भिन्नांश होने से नित्य पुरुष है। आत्मस्वरूप को त्यागने की धारणा भौतिक अहंकार से उत्पन्न घोर हताशा का प्रतिफल होती है। यह कोई सकारात्मक कार्यक्रम नहीं है। यदि किसी के हाथ में असह्य पीड़ा हो तो वह अपना हाथ कटाने के लिए राजी हो सकता है, किन्तु असली हल तो यह होगा कि संदूषण को हटा दिया जाये, जिससे स्वस्थ हाथ आनन्द का स्रोत बन सके। इसी प्रकार अहंकार या "मैं" का भाव तभी असीम सुख का स्रोत हो सकता है, जब हम यह समझ सकें कि हम क्या हैं अर्थात् कृष्ण के दास हैं। निर्विशेष ध्यान नीरस तथा कष्टप्रद है। शुद्ध भक्त यह अनुभव करता है कि वह नित्य पुरुष है, परम पुरुष कृष्ण का भिन्नांश है और ईश्वर के पुत्र-रूप में उसे भगवान् की भावपूर्ण नित्य लीलाओं में भाग लेने, कृष्ण से प्रेम करने और सदैव उनके साथ खेलने का अधिकार प्राप्त है। ऐसे भक्त के लिए पीत भौतिक प्रकृति, जो आध्यात्मिक जगत का विकृत प्रतिबिम्ब मात्र है, पूर्णतया अनाकर्षक बन जाती है। अतएव जो व्यक्ति कृष्ण में पूर्णरूपेण अनुरक्त होता है और माया के विकारों में अरुचि दिखाता है, उसे *भागवतोत्तम* कहा जा सकता है, जैसाकि किसी पिछले श्लोक में वर्णन हुआ है (*भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च*)।

श्रील मध्वाचार्य ने कहा है—*विष्णोर्मायां विष्णिवच्छाधीनाम्*—इस श्लोक के *विष्णोर्मायाम्* शब्द यह सूचित करते हैं कि माया सदैव विष्णु की इच्छा पर आश्रित रहती है। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* (५.४४) में कहा गया है—*सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका छायेव यास्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।* माया भगवान् की परछाईं के समान है, जो इस जगत के सृजन, पालन और प्रलय में उनकी सहायता करती है। जिस प्रकार परछाईं में स्वतंत्र गतिशक्ति नहीं होती, अपितु उस वस्तु का पीछा करती है, जिसकी वह छाया होती है, उसी तरह भगवान् की माया में कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं होती, अपितु भगवान् की इच्छानुसार ही वह जीवों को मोहित करती है। कृष्ण के ऐश्वर्यों में से एक ऐश्वर्य यह है कि वे परम विरक्त हैं। जब कोई जीव उन्हें भुलाना चाहता है, तो वे अपनी माया को लगाकर उस बद्धजीव की ऐसी मूर्खता को जल्दी ही सरल बनाने में सहायता देते हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् का शुद्ध भक्त इस जगत में कर्म करना बन्द नहीं करता, प्रत्युत वह अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की सेवा में लगा देता है। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।* श्रील रूप गोस्वामी ने बतलाया है कि यदि कोई उन भौतिक वस्तुओं का, जो कृष्ण की सेवा के लिए उपयुक्त हैं, भौतिक अत: आध्यात्मिक उन्नयन में अवरोधक मान कर परित्याग कर देता है, तो उसका त्याग केवल *फल्गु-वैराग्य* अर्थात् कच्चा तथा अधूरा वैराग्य होता है। दूसरी ओर, जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति की किसी निजी इच्छा के बिना कृष्ण-सेवा के लिए सारी भौतिक वस्तुओं को स्वीकार कर लेता है, वह वास्तव में विरक्त है (*युक्तं वैराग्यमुच्यते*)।

इस श्लोक की अपनी टीका में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सावधान किया है कि भक्तों की तीन श्रेणियों—उत्तम अधिकारी, मध्यम अधिकारी तथा कनिष्ठ अधिकारी—में से किसी से भी ईर्ष्या करने पर मनुष्य निर्विशेष पद पर जा गिरता है और अपने को अथवा अन्यों को लाभ दिलाने की सारी शक्ति खो देता है। अतएव जो लोग कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ना चाहते हैं, उन्हें अन्य वैष्णवों की व्यर्थ आलोचना करके अपने दिव्य अनुभव को खतरे में नहीं डालना चाहिए। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार, यदि कोई *फल्गु-वैराग्य* में रत होता है अर्थात् जो भगवान् की सेवा के लिए उपयुक्त वस्तुओं का परित्याग करता है, उसे निर्विशेष दर्शन से दूषित होने की सम्भावना रहती है। दूसरी ओर *युक्त-वैराग्य* के सिद्धान्त पर लगे रहकर, निजी इच्छा के बिना हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगाते हुए मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति के खतरे से अलग रह सकता है और धीरे-धीरे *महाभागवत* पद पर पहुँच सकता है, जैसाकि इस श्लोक में बतलाया गया है।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

देह—शरीर की; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—प्राण-वायु; मनः—मन; धियाम्—तथा बुद्धि; यः—जो; जन्म—जन्म; अप्यय—क्षय; क्षुत्—भूख; भय—डर; तर्ष—प्यास; कृच्छ्रैः—तथा थकान से; संसार—भौतिक जीवन के; धर्मैः—अभिन्न गुणों से; अविमुह्यमानः—मोहित नहीं; स्मृत्या—स्मृति के कारण; हरेः—भगवान् हरि के; भागवत-प्रधानः—भक्तों में सर्वप्रमुख।

इस भौतिक जगत में मनुष्य का भौतिक शरीर सदैव जन्म तथा मृत्यु के अधीन रहता है। इसी तरह प्राण को भूख तथा प्यास सताते हैं, मन सदैव चिन्तित रहता है, बुद्धि उसके लिए लालायित रहती है, जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता और ये सारी इन्द्रियाँ भौतिक प्रकृति से निरन्तर संघर्ष करते रहने से अन्ततः थक जाती हैं। जो व्यक्ति भौतिक जगत के अपरिहार्य दुखों से मोहग्रस्त नहीं होता और भगवान् के चरणकमलों के स्मरण मात्र से उन सबसे अलग रहता है, उसे ही भागवत-प्रधान अर्थात् भगवान् का अग्रणी भक्त कहा जाता है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य के अनुसार इस जगत में बुद्धिमान जीवों की तीन श्रेणियाँ हैं—देवता, सामान्य मनुष्य तथा असुर। समस्त शुभ गुणों से युक्त जीव अर्थात् भगवान् का अत्युन्नत भक्त चाहे वह इस पृथ्वी पर हो या अन्य लोकों में हो, *देव* कहलाता है। सामान्य मनुष्यों में प्रायः अच्छे तथा बुरे गुण होते हैं और इस मिश्रण के अनुसार वे इस संसार में सुख तथा दुख भोगते हैं। किन्तु जिनमें अच्छे गुणों का अभाव होता है तथा जो पवित्र जीवन एवं भगवद्भक्ति के शत्रु बने रहते हैं, वे *असुर* कहलाते हैं।

इन तीनों श्रणियों में से सामान्य मनुष्यों तथा असुरों को जन्म, मृत्यु तथा भूख बुरी तरह सताते हैं, जबकि *देव* या देवतागण ऐसे शारीरिक कष्टों से दूर रहते हैं। वे इसलिए दूर रहते हैं क्योंकि वे अपने पुण्यकर्मों का फल भोगते हैं। *कर्म* के नियमों के अनुसार वे भौतिक जगत की स्थूल यातना से अपरिचित होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२०) में भगवान् ने कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्

अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥

"जो वेदों का अध्ययन करते हैं तथा सोमरस का पान करते हैं, वे स्वर्ग-प्राप्ति की गवेषणा करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से मेरी पूजा करते हैं। वे इन्द्र के स्वर्गिक धाम में जन्म लेते हैं, जहाँ वे देवताओं का-सा आनन्द भोगते हैं।" किन्तु *भगवद्गीता* के अगले श्लोक में यह कहा गया है कि जब इन पुण्यकर्मों का फल चुक जाता है, तो उसे देवता-पद तथा उसी के साथ स्वर्ग का आनन्द छोड़ना पड़ता है और पृथ्वी पर *नर* अर्थात् सामान्य मनुष्य के रूप में लौटना होता है (*क्षीणे पुण्ये*

मर्त्यलोकंविशन्ति)। वस्तुत: प्रकृति के नियम इतने सूक्ष्म हैं कि हो सकता है कि कोई प्राणी पृथ्वी पर मनुष्य रूप में भी न लौट पाये बल्कि उसे अपने कर्म के अनुसार किसी कीट या वृक्ष का जन्म लेना पड़े।

किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त को भौतिक कष्ट नहीं होता, क्योंकि वह देहात्म-बुद्धि को छोड़ चुका होता है और अपने को भगवान् कृष्ण के नित्य दास के रूप में पहचानता है। जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२) में कहा है—*सुसुखं कर्तुमव्ययम्।* साधन-भक्ति की अवस्था में भी भक्तियोग अत्यन्त आनन्दप्रद है। इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु के निकट समकालीन लोचन दास ठाकुर ने कहा है—*सब अवतार सार शिरोमणि केवल आनन्दकाण्ड।* यद्यपि वैदिक शास्त्रों में कई *काण्ड* अर्थात् विभाग हैं जैसे कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड इत्यादि, किन्तु चैतन्य महाप्रभु का केवल हरिनाम संकीर्तन आन्दोलन अर्थात् *आनन्दकाण्ड*—शुद्ध आनन्द का मार्ग है। केवल कृष्ण-नाम का कीर्तन करने, भगवान् को अर्पित भव्य भोजन का उच्छिष्ट खाने और भगवान् की मोहक लीलाओं के कीर्तन के श्रवण से मनुष्य आनन्द के सागर में, जिसे कृष्णभावनामृत कहते हैं, मग्न हो जाता है।

सौभाग्यवश यह आनन्दमय सागर हर जीव की नित्य स्थिति है बशर्ते कि वह अपने जीवन के सारे निरर्थक के विचार त्याग दे। मनुष्य को स्वयं को न तो स्थूल भौतिक देह मानना चाहिए, न चंचल मन, न कल्पना-प्रेरक बुद्धि, न ही मनुष्य को अपने को मूर्खतापूर्वक तथाकथित बौद्ध शून्यवाद से जोड़ना चाहिए। न ही उसे अपनी पहचान निर्विशेष आध्यात्मिक जीवन के सागर के रूप में करनी चाहिए, जिसे *ब्रह्मज्योति* कहते हैं और जो आच्छादित ब्रह्माण्ड से परे दिव्य आकाश के बाहरी भाग को प्रकाशित करती है। उसे तो अपने आपको परम पुरुष भगवान् का निजी नित्य दास समझना चाहिए। केवल अपनी इस स्वाभाविक स्थिति को मानने से तथा भगवान् के चरणकमलों की सेवा में रत रहने से ही मनुष्य को कृष्ण की नित्य लीलाओं में प्रत्यक्ष भाग लेने का अवसर मिल जाता है, जिस तरह अर्जुन को कृष्ण के साथ कुरुक्षेत्र युद्ध में योद्धा के रूप में कर्म करने का अवसर मिल गया था।

श्रील मध्वाचार्य ने उस विधि का विस्तृत वर्णन किया है, जिससे भौतिक कष्ट उत्पन्न होते हैं। जब आसुरी प्रवृत्ति वाला बद्धजीव अपनी पहचान स्थूल भौतिक शरीर के रूप में करता है, तो उसे अनवरत आलस तथा अतृप्त कामेच्छा सताते रहते हैं, जो उसकी मानसिक शान्ति तथा गम्भीरता को भस्म कर

देते हैं। जब कोई आसुरी व्यक्ति अपने को *प्राण* मानता है, तो उसे भूख सताती है और जब वह अपनी पहचान मन के रूप में करता है, तो उसे शंका, भय तथा लालसा सताती है, जिसका अन्त निराशा में होता है। जब वह अपनी पहचान बुद्धि के साथ करता है, तो उसे अपने अन्त:करण में कटुता तथा अशान्ति प्रतीत होती है। जब वह मिथ्या अहंकार के रूप में अपनी पहचान करता है, तो उसे यह सोच कर कि "मैं कितना नीच हूँ" निम्नता का अनुभव होता है। जब वह चेतना से अपनी पहचान करता है, तो उसे भूतकाल की स्मृतियाँ सताती हैं। जब वह असुर अपने को सारे जीवों का शासक बताना चाहता है, तो ये सारे कष्ट एक साथ बढ़ जाते हैं।

श्रीपाद मध्वाचार्य के अनुसार पापी जीवन सुख का आसुरी मानदण्ड है। हम देख सकते हैं कि आसुरी समाज में मनोरंजन कार्यों के लिए देर रात के अंधेरे पहर सर्वोपयुक्त माने जाते हैं। जब कोई असुर यह सुनता है कि कोई व्यक्ति ४ बजे प्रात:काल उठकर देवकालीन भोर का लाभ उठा रहा है, तो वह चकित तथा मोहित हो जाता है। इसलिए *भगवद्गीता* (२.६९) में कहा गया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:॥

"जो सभी प्राणियों के लिए रात होती है, वही आत्मसंयमी व्यक्तियों के लिए जगने का समय होता है और सारे जीवों के जागने का समय आत्मनिरीक्षक मुनि के निमित्त रात होती है।" श्रील प्रभुपाद ने टीका की है, "बुद्धिमान व्यक्तियों की दो श्रेणियाँ हैं। इनमें से एक इन्द्रियतृप्ति के भौतिक कार्यकलापों के लिए बुद्धिमान होता है और दूसरा आत्मनिरीक्षक है, जो आत्म-साक्षात्कार के अनुशीलन के लिए सचेत रहता है।" इस तरह, जो जितना ही अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा द्यूत-क्रीड़ा करता है, वह आसुरी समाज में उतना ही अधिक प्रतिष्ठित होता है, जबकि कृणभावनामृत पर आधारित पवित्र समाज में इन वस्तुओं का सर्वथा उन्मूलन हो जाता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति ज्यों ज्यों कृष्ण के नाम तथा लीलाओं में आनन्दपूर्वक अनुरक्त होता है, त्यों त्यों वह उतना ही आसुरी समाज से कटता चला जाता है।

असुरगण परमेश्वर के आत्मघोषित शत्रु होते हैं और वे उनके साम्राज्य (धाम) का मजाक उड़ाते हैं। इसीलिए श्रील मध्वाचार्य उन्हें *अधोगते:* कहते हैं अर्थात् वे जिन्होंने नर्क के गहनतम भागों में जाने

का टिकट खरीद रखा है। दूसरी ओर, यदि कोई व्यक्ति भौतिक जीवन के कष्टों से अविचलित रहता है, तो वह भगवान् जैसे आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* (२.१५) में कहा गया है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

''हे पुरुष-श्रेष्ठ (अर्जुन)! जो व्यक्ति सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता और दोनों में स्थिर रहता है, वह निश्चित रूप से मोक्ष का पात्र है।'' कोई व्यक्ति इस दिव्य अवस्था को भगवत्कृपा से ही प्राप्त कर सकता है। श्रील मध्वाचार्य के शब्दों में *सम्पूर्णानुग्रहाद् विष्णो:।*

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने उस विधि का वर्णन किया है, जिससे मनुष्य *उत्तम अधिकारी* बन सकता है। यदि कोई व्यक्ति भाग्यशाली होता है, तो वह क्रमश: कनिष्ठ अधिकारी की संकुचित दृष्टि तथा क्रियाओं से ऊब कर मध्यम अधिकारी की विस्तारित दृष्टि का आदर करने लगता है, जो यह पहचान सकता है कि हर जीव को कृष्ण-भक्त बनना चाहिए और कोई भी व्यक्ति उत्तम अधिकारी भक्त के चरण-चिह्नों का अनुसरण करके जीवन-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ज्यों ज्यों उसकी भक्ति गहन होती जाती है और वह शुद्ध भक्त की चरणधूलि में बार बार लोटता है, उसके मन को जन्म, मृत्यु, भूख, प्यास, भय इत्यादि की यातनाएँ विचलित करना बंद कर देती हैं। जैसाकि *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.११४) में कहा गया है—

अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादनसाधने।

अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिमेव धिया स्मरेत्॥

''यदि कोई भक्त ठीक से भोजन करने या ठीक से कपड़े पहनने के प्रयास में अशान्त रहता है, तो उसे इस भौतिक असफलता द्वारा अपने मन को विचलित नहीं होने देना चाहिए। प्रत्युत उसे अपनी बुद्धि अपने स्वामी कृष्ण को स्मरण करने में लगानी चाहिए और इस तरह अविचलित रहना चाहिए।'' जब कोई कृष्ण का सदैव स्मरण करने की इस विधि में परिपक्व हो जाता है, तो उसे *महाभागवत* की पदवी दी जाती है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त ने उदाहरण दिया है कि जिस तरह बच्चे की गेंद रस्सी के सिरे से बाँध दी जाती है, जिससे वह दूर न छिटक सके, उसी तरह कृष्ण की शरण में आया भक्त वैदिक आदेशों की

रस्सियों से बँध जाता है और सांसारिक मामलों में कभी मग्न नहीं होता। इस सन्दर्भ में उन्होंने ऋग्वेद का उद्धरण (१.१५६.३) दिया है—*ॐ अस्य जानतो नाम चिद् विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॐ तत् सत्* "हे विष्णु! आपका नाम पूर्णत: दिव्य है। इस तरह यह स्वत: प्रकट है। निस्सन्देह, आपके पवित्र नाम के कीर्तन की महिमा को ठीक से बिना समझे भी, यदि हम नाम का उच्चारण उसकी महिमा को थोड़ा-सा भी समझ कर करते हैं—अर्थात् आपके नाम के शब्दों को केवल दुहराते हैं, तो हम धीरे धीरे उसे समझ जाएँगे।" परम पुरुष, जिन्हें *प्रणव ॐ* द्वारा सूचित किये गये हैं, *सत्* हैं अर्थात् स्वत: प्रकट होने वाले हैं। इसलिए भय या ईर्ष्या से अशान्त होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करता रहता है, तो उसे भगवान् का दिव्य स्वरूप प्रकट हो जायेगा। *श्रीमद्भागवत* (६.२.१४) में और आगे पुष्टि हुई है—

सांकेत्यम् पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनम् एव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणम् अशेषाघहरं विदु:॥

"जो व्यक्ति भगवन्नाम का कीर्तन करता है, वह अपार पापों के फलों से तुरन्त छूट जाता है, भले ही वह नाम का उच्चारण अप्रत्यक्षत:, हँसी में, संगीत-विनोद के लिए या उपेक्षा-भाव से क्यों न करता हो।" शास्त्रों के सारे विद्वान इसे स्वीकार करते हैं।"

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भव: ।
वासुदेवैकनिलय: स वै भागवतोत्तम: ॥५०॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; काम—काम-वासना; कर्म—सकाम कर्म; बीजानाम्—या भौतिक लालसाओं के, जो सकाम कर्म के बीज रूप हैं; यस्य—जिसका; चेतसि—मन में; सम्भव:—ऊपर उठने का अवसर; वासुदेव-एक-निलय:—जिसकी एकमात्र शरण भगवान् वासुदेव हों उसके लिए; स:—वह; वै—निस्सन्देह; भागवत-उत्तम:—प्रथम श्रेणी का भक्त है।.

जिसने एकमात्र भगवान् वासुदेव की शरण ले रखी है, वह उन सकाम कर्मों से मुक्त हो जाता है, जो भौतिक काम-वासना पर आधारित हैं। वस्तुत: जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है, वह भौतिक इन्द्रियतृप्ति को भोगने की इच्छा से भी मुक्त हो जाता है। उसके मन में यौन-जीवन, सामाजिक प्रतिष्ठा और धन का भोग करने की योजनाएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। इस प्रकार वह भागवतोत्तम अर्थात् सर्वोच्च पद को प्राप्त भगवान् का शुद्ध भक्त माना जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में भगवद्भक्त के आचरण का वर्णन हुआ है। शुद्ध भक्त के कार्यकलाप भौतिक ईर्ष्या, मिथ्या गर्व, भ्रम तथा काम से रहित होते हैं। वैष्णव टीकाकारों के अनुसार इस श्लोक का *बीजानाम्* शब्द *वासना:* या प्रबल इच्छाओं का द्योतक है, जो धीरे धीरे उन कर्मों के रूप में फलित होती हैं, जिनके लिए जीव फलों का दास बनता है। इस तरह *काम-कर्म-बीजानाम्* सामासिक पद उस गहरे में गड़ी हुई इच्छा का सूचक है, जिससे यौन आनन्द और यौन-आनन्द के विस्तारित साधनों के भोग के माध्यम से भौतिक जगत पर रोब जमाया जाता है, जिसका उल्लेख *भागवत* (५.५.८) में *गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै*—सुन्दर आवास, उदर भरण के लिए अच्छा भोजन उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त भूमि तथा बच्चे, मित्र, सामाजिक सम्पर्क एवं प्रचुर बैंक बचत के रुप में हुआ है। मनुष्य द्वारा पूरी तरह से यह भुलाने के लिए कि वह भगवान् का नित्य दास है, ये सारी भौतिक वस्तुएँ आवश्यक हैं। इसलिए जैसाकि *भागवत* में कहा गया है—*जनस्य मोहोऽयम् अहं ममेति*—भौतिक माया की इन वस्तुओं से उन्मत्त हुए बद्धजीव को यह विश्वास हो जाता है कि वह ब्रह्माण्ड का केन्द्रबिन्दु है और संसार की हर वस्तु उसकी इन्द्रियतृप्ति के लिए बनी है। जो कोई ऐसे मायामय भोग में बाधक बनता है, वह तुरन्त उसका शत्रु बन जाता है और मार डालने पर उतारु रहता है।

इस देहात्म-बुद्धि तथा माया के पाश के कारण सारा जगत ईर्ष्या तथा काम-वासना से उत्पन्न संघर्ष से बुरी तरह विचलित हो रहा है। इसका एकमात्र सम्भव हल यही है कि यहाँ पर वर्णित भगवान् के शुद्ध भक्तों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया जाये। "शक्ति से भ्रष्टाचार फैलता है और परम सत्ता तो पूर्णरूपेण भ्रष्ट करती है"—यह कहावत भले ही भौतिक जगत में वैध हो, किन्तु यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि भगवान् के चरणकमलों में शरण लेने वाला शुद्ध भक्त भौतिक ईर्ष्या तथा इन्द्रियतृप्ति में शामिल होने की बात सोच भी नहीं पाता। उसका मन सदैव निर्मल तथा गम्भीर रहता है और वह प्रत्येक जीव के चरम कल्याण से अवगत रहता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन पृथ्वी के कष्ट भोग रहे जीवों को यह बताने का भरसक प्रयत्न कर रहा है कि मानव समाज में मस्तिष्क की परम आवश्यकता है। ज्वर से विकृत मस्तिष्क उचित निर्देशन नहीं कर सकता और यदि समाज के तथाकथित चिन्तक स्वार्थ परक विचारों से जल रहे हैं, तो वे ज्वर से रुग्ण सन्निपातग्रस्त मस्तिष्क के

समान है। सन्निपातग्रस्त सरकारें धीरे धीरे मानव समाज के सारे सुख को चौपट किये दे रही हैं। इसलिए वैष्णव उपदेशकों का कर्तव्य है कि *भागवतोत्तम* पद पर कर्म करें, जिससे वे मानवता को स्पष्ट दिशा-निर्देश दे सकें और सन्त-पुरुषों को दिये जाने वाले भौतिक ऐश्वर्य द्वारा तनिक भी भ्रष्ट या आकर्षित न हो सकें। सारे बुद्धिमान मनुष्य, जो सीधे भक्तियोग विधि को ग्रहण नहीं कर सकते हैं, कम से कम इतने तो शिक्षित हों कि भगवान् के उत्तम कोटि के भक्त को मान्यता देकर उनका मार्गदर्शन स्वीकार करें। इस तरह मानव समाज अच्छे तरीके से संगठित किया जा सकता है, जिससे न केवल सभी मनुष्य अपितु पशु, पक्षी और वृक्ष भी जीवन में प्रगति कर सकते हैं और आनन्द तथा ज्ञान के नित्य जीवन हेतु क्रमशः भगवद्धाम वापस जा सकते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने बल दिया है कि जो लोग कृष्णभावनामृत में पूर्णता प्राप्त करने के लिए सच्चे मन से इच्छुक हैं उन्हें वैष्णव समुदाय में रहना चाहिए। श्रील प्रभुपाद ने भी अपने ग्रंथों में कई बार उल्लेख किया है कि तब तक पूर्ण कृष्णभावनामृत की अवस्था प्राप्त नहीं की जा सकती, जब तक विश्व-भर में अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ द्वारा स्थापित कृष्णभावनाभावित समुदायों में रह कर शुद्ध भक्तों की शरण ग्रहण नहीं की जाती। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने बल दिया है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि आध्यात्मिक जीवन मन्दिर परिसर में रहने वाले ब्रह्मचारियों तक ही सीमित है। गृहस्थ आश्रम के भक्तगण भी मन्दिर के उत्सवों में नियमित रूप से उपस्थित होकर वैष्णव समुदाय की शरण ले सकते हैं। जो लोग गृहस्थ जीवन बिता रहे हैं, उन्हें चाहिए कि नित्य ही भगवान् के अर्चाविग्रह का दर्शन करें, उनके सामने उनके नाम का कीर्तन करें और *भगवद्गीता* तथा *भागवत* पर विद्वानों की चर्चाएँ सुनें। कोई भी गृहस्थ जो इन आध्यात्मिक सुविधाओं का नियमित लाभ उठाता है और आध्यात्मिक जीवन के विधि-विधानों—मांसाहार न करने, अवैध यौन न करने, जुआ न खेलने तथा नशा न करने—का पालन करता है उसे वैष्णव समुदाय का वैध सदस्य मान लेना चाहिए। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार, जो लोग भगवद्भक्ति के शत्रु बने रहते हैं, उन्हें भगवान् की माया के हाथों की निर्जीव कठपुतलियाँ समझना चाहिए।

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।

सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका; जन्म—अच्छे जन्म से; कर्मभ्याम्—या अच्छे कार्यों से; न—नहीं; वर्ण-आश्रम—वृत्तिपरक नियमों या धार्मिक कर्तव्य में दृढ़ रहकर; जातिभिः—अथवा किसी जाति से सम्बन्धित होने से; सज्जते—अपने को जोड़ता है; अस्मिन्—इस; अहम्-भावः—अहंकार की भावना; देहे—शरीर में; वै—निस्सन्देह; सः—वह; हरेः—भगवान् हरि को; प्रियः—प्रिय है।

उच्च कुल में जन्म तथा तपोमय एवं पुण्यकर्मों का निष्पादन निश्चय ही किसी को अपने ऊपर गर्व जताने वाले हैं। इसी तरह, यदि समाज में किसी को प्रतिष्ठा मिलती है, क्योंकि उसके माता-पिता वर्णाश्रम की सामाजिक प्रणाली में अत्यधिक आदरित हैं, तो वह और भी ज्यादा पागल हो जाता है। किन्तु यदि इतने उत्तम भौतिक गुणों के उपरांत भी कोई व्यक्ति अपने भीतर तनिक भी गर्व का अनुभव नहीं करता, तो उसे भगवान् का सर्वाधिक प्रिय सेवक माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *जन्म* शब्द *मूर्धावसिक्तः* (ब्राह्मण पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न सन्तान) तथा *अम्बष्ठ* (ब्राह्मण पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न सन्तान) जातियों के लिए आया है और ये दोनों *अनुलोम* माने जाते हैं, क्योंकि पिता उच्च जाति का होता है। ऐसे विवाह जिनमें माता उच्च जाति की और पिता निम्न जाति का होता है *प्रतिलोम* कहलाते हैं। ऐसे में जो भी अपने तथाकथित प्रतिष्ठित जन्म पर गर्व करता है, वह निश्चित रूप से देहात्म बुद्धि को प्राप्त होता है। किसी भी भौतिक देह में जन्म गम्भीर समस्या है, जिसका समाधान भगवान् की शरण ग्रहण करके करना चाहिए। इस तरह वह तथाकथित उच्चकुलीन भौतिक शरीर की स्वर्णिम जंजीरों से अपने को छुड़ा सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार कनिष्ठ अधिकारी यह सोचते हैं कि *कर्ममिश्र भक्ति* ही आध्यात्मिक जीवन का चरम अवस्था है। वे ऐसे श्लोकों के प्रति अनुरक्त हो जाते हैं, जैसे कि—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

''भगवान् विष्णु की पूजा वर्ण तथा आश्रम प्रणाली में नियत कर्तव्यों के उचित सम्पादन द्वारा की जाती है। भगवान् को तुष्ट करने का इसके अतिरिक्त दूसरा साधन है भी नहीं। मनुष्य को चारों वर्णों तथा आश्रमों के संस्थान में स्थित होना चाहिए।'' (विष्णु पुराण ३.८.९) इस प्रकार वे सोचते हैं कि

भौतिक कर्म, जिसमें फल का थोड़ा अंश ईश्वर को अर्पित किया जाता है, मनुष्य–जीवन का सर्वोच्च पद है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ऐसे कई स्मृति ग्रंथ हैं, जिनमें ऐसी मिश्र भक्ति को प्रोत्साहन दिया गया है। भौतिक शरीर के प्रति अहंवादी लगाव के कारण भौतिकतावादी भक्त ऐसे ग्रंथों को भगवान् का नाम बदनाम करने का बहाना बना लेते हैं। इस तरह मनुष्य सोचता है कि वर्णाश्रम प्रणाली में जन्म तथा तथाकथित पुण्यकर्मों के अनुसार प्रतिष्ठित स्थान का होना जीवन में सफल होने के लिए अनिवार्य है।

किन्तु जिन लोगों ने वास्तव में कृष्ण–नाम की शरण ले रखी है, वे न तो इस जगत में अपने जन्म के विषय में डींग मारते हैं न ही भौतिक कर्म में अपनी तथाकथित पटुता पर गर्व करते हैं। जब तक मनुष्य की मनोवृत्ति वर्णाश्रम प्रणाली की भौतिक उपाधियों से बोझिल बनी रहेगी, तब तक भौतिक बन्धन से मुक्त होने और भगवान् का प्रिय बनने के बहुत कम अवसर हैं। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु ने एकस्वर से घोषित किया था कि वे अपनी पहचान किसी वर्णाश्रम उपाधि से यथा महान् विद्वान या पुरोहित, भगवान् की सेना का साहसी योद्धा, भगवान् के लिए धन कमाने वाला प्रखर व्यापारी या भगवान् का सबसे कठिन काम करने वाले के रूप में नहीं कर सके। न ही वे अपने को महान् ब्रह्मचारी या उत्तम गृहस्थ या उच्च संन्यासी मानते थे। ये उपाधियाँ भौतिक गर्व को प्रतिबिम्बित करती हैं, जो भक्ति सम्पन्न करने में भीतर प्रवेश कर सकती हैं। यद्यपि भक्त वर्णाश्रम के आदर्श कर्तव्यों का निर्वाह कर सकता है, किन्तु उसकी एकमात्र उपाधि *गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः*—अर्थात् गोपियों के स्वामी भगवान् कृष्ण के दास के दास का भी दास है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार, जब भक्त समझ लेता है कि भक्तियोग की प्रक्रिया अपने आप में पूर्ण हो चुकी है और वह भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में लीन रहने लगा है, तो परम करुणामय भगवान् ऐसे उत्तम भक्त को अपनी गोद में उठा लेते हैं। भगवान् को केवल अनन्य भक्ति द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है—न तो पाँच तत्त्वों वाले इस स्थूल शरीर से, न ही चिन्तन तथा व्यर्थ के अहंकार से युक्त सूक्ष्म शरीर से। दूसरे शब्दों में, कृष्ण को कभी भी तथाकथित राजसी शरीर से, जिसे कीड़े या गीधें खा जायेंगी, प्रसन्न नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने जन्म तथा तथाकथित पुण्यकर्मों से गर्वित होता है, तो इस मिथ्या गर्व से वह कर्मफल को त्यागने की

निर्विशेष मनोवृत्ति या फिर कर्मफल भोगने की कर्मी मनोवृत्ति उत्पन्न कर लेता है। न तो कर्मीजन, न ही ज्ञानीजन इस बात से अवगत होते हैं कि कर्मफल तो वास्तव में कृष्ण का है। निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य को सारा मिथ्या अहंकार छोड़ कर यह स्मरण रखना चाहिए कि वह कृष्ण का विनीत सेवक है। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है *अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि: ।*

न यस्य स्व: पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसम: शान्त: स वै भागवतोत्तम: ॥५२॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; यस्य—जिसका; स्व: पर: इति—अपना तथा पराया; वित्तेषु—अपनी सम्पत्ति के विषय में; आत्मनि—अपने शरीर के विषय में; वा—अथवा; भिदा—द्वैत के रूप में सोचते हुए; सर्व-भूत—सारे जीवों के प्रति; सम:—समान; शान्त:—शान्त; स:—वह; वै—निस्सन्देह; भागवत-उत्तम:—भक्तों में श्रेष्ठ।

जब भक्त उस स्वार्थमयी धारणा को त्याग देता है, जिससे मनुष्य सोचता है कि ''यह मेरी सम्पत्ति है और वह पराई है'' तथा जब वह अपने ही भौतिक शरीर से सम्बद्ध आनन्द अथवा अन्यों की असुविधाओं के प्रति उदासीनता से कोई वास्ता नहीं रखता, तो वह पूरी तरह शान्त तथा तुष्ट हो जाता है। वह अपने आपको उन जीवों में से एक मानता है, जो समान रूप से भगवान् के भिन्नांश हैं। ऐसा तुष्ट वैष्णव भक्ति के सर्वोच्च आदर्श पर स्थित माना जाता है।

तात्पर्य : *सर्वभूतसम:* वाक्यांश में भगवान् के प्रति दृष्टिकोण सम्मिलित नहीं है। इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से उद्धरण दिया है—

न क्वापि जीवं विष्णुत्वे
संसृतौ मोक्ष एव च।

''किसी भी अवस्था में चाहे बद्ध जीवन हो या मोक्ष, जीव को भगवान् विष्णु के तुल्य नहीं मानना चाहिए।'' निर्विशेषवादी दार्शनिकों को यह चिन्तन करने में मजा आता है कि यद्यपि हम वर्तमान माया के भ्रम में पृथक्-पृथक् जीव प्रतीत होते हैं, किन्तु मोक्ष प्राप्त होने पर हम सभी लोग ईश्वर में मिलकर ईश्वर बन जायेंगे, किन्तु ऐसे मनमाने चिन्तक शायद इसका तर्क नहीं दे पायेंगे कि सर्वशक्तिमान ईश्वर किस तरह ऐसी आकुलतापूर्ण स्थिति में पहुँच सकेंगे, जिसमें उन्हें किसी योग-कक्ष में प्रवेश करना पड़े, साप्ताहिक फीस देनी पड़े, अपनी नासिका को दबाना पड़े और दिव्यता को पुन: प्राप्त करने के लिए मंत्रों के उच्चारण करने पड़े? जैसाकि वेदों में कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको*

बहूनां यो विदधाति कामान्। जीव का एकत्व या नानात्व भौतिक जगत का परिणाम नहीं है। *नित्यानाम्* शब्द, जो कि नित्य जीवों की बहुलता का द्योतक है स्पष्ट सूचित करता है कि सारे जीव भगवान् के भिन्नांश हैं, जो कि एक अद्वितीय जीव है, जिसे यहाँ *एक:* कहा गया है। *भगवद्गीता* (१.२१) में अर्जुन ने कृष्ण से कहा—*रथं स्थापय मेऽच्युत*—हे अच्युत! मेरे रथ को सेनाओं के मध्य में ले चलो। यह शरीर भी *रथ* है, अतएव सबसे अच्छी नीति यही होगी कि अच्युत भगवान् से प्रार्थना की जाय कि हमारे बद्ध शरीर का जिम्मा लें और भगवद्धाम वापस जाने का मार्ग दिखलायें। *अच्युत* का अर्थ है ''जो कभी गिरता नहीं''। विद्वान या विवेकवान मनुष्य इस मूर्खतापूर्ण मत को कभी नहीं मानेंगे कि सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर माया के कारण लड़खड़ाया और गिर गया है। कोई चाहे कितना ही क्यों न सोचे भगवान् के चरणकमलों पर हमारे नित्य दासत्व को कोई नहीं मिटा सकता।

वस्तुत: स्वयं भगवान् ने *वराह पुराण* में कहा है—

नैवं त्वयानुमन्तव्यं जीवात्माहमिति क्वचित्।

सर्वैर्गुणैर्सुसम्पन्नं दैवं मां ज्ञातुमर्हसि॥

''तुम मुझे कभी जीवात्माओं की श्रेणी में सामान्य जीव नहीं समझना। वस्तुत: मैं समस्त ऐश्वर्यों तथा दैवी गुणों का आगार हूँ, अतएव तुम्हें जान लेना चाहिए कि मैं परम ईश्वर हूँ।''

श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *श्रीमद्भागवत* का यह श्लोक किसी वस्तु को भगवान् की सेवा में प्रयुक्त करने से मना नहीं करता, क्योंकि भक्त को छूट है कि भगवान् कृष्ण की सेवा के लिए वह चाहे किसी भी उपयुक्त वस्तु का प्रयोग करे। कृष्ण की सेवा के लिए उपयुक्त वस्तुओं को स्वीकार करना *युक्त-वैराग्य* कहलाता है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—*निर्बन्ध: कृष्णसम्बन्धे*—मनुष्य को कृष्ण के प्रति अनुरक्त होना चाहिए, अपने लिए तो कभी नहीं। यदि कोई इस श्लोक का यह अर्थ लगाता है कि किसी भी भौतिक वस्तु पर नियंत्रण नहीं रखना चाहिए, भले ही वह कृष्ण की सेवा के उपयुक्त हो, तो वह बुरे ज्ञान में जा गिरता है, जिसे *फल्गु-वैराग्य*—अधकचरा वैराग्य कहते हैं। महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित जैसे बड़े बड़े राजाओं ने सारी पृथ्वी को और अन्य वैष्णवों ने सारे ब्रह्माण्ड को कृष्ण-सेवा में लगा दिया था। किन्तु उन्होंने अपने स्वामित्व भाव को पूरी तरह त्याग दिया था। यही बात इस श्लोक में कही गई है। जिस तरह

कोई व्यक्ति अपने शरीर की पीड़ा से चिन्तित हो उठता है, उसी तरह उसे बद्धजीवों को भक्ति के स्तर पर लाने के लिए चिन्तित होना चाहिए, जिससे उनके सारे कष्ट सदा सदा के लिए समाप्त हो जाँय। एक शरीर तथा दूसरे शरीर में अन्तर न करने का वास्तविक तात्पर्य यही है।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाछ्यः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

त्रि-भुवन—भौतिक ब्रह्माण्ड के तीनों लोकों के; विभव-हेतवे—ऐश्वर्य हेतु; अपि—भी; अकुण्ठ-स्मृतिः—जिसकी स्मृति अविचल है; अजित-आत्म—अपराजेय भगवान् ही जिसकी आत्मा है उसकी; सुर-आदिभिः—देवताओं तथा अन्यों द्वारा; विमृग्यात्—खोजे जाते हैं; न चलति—चला नहीं जाता; भगवत्—भगवान् के; पद-अरविन्दात्—चरणकमलों से; लव—एक सेकंड के ८/४५ वें भाग के; निमिष—अथवा उससे तीन गुना का; अर्धम्—आधा; अपि—भी; यः—जो; सः—वह; वैष्णव-अछ्यः—भगवान् विष्णु के भक्तों में सर्वश्रेष्ठ।

भगवान् के चरणकमलों की खोज ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े बड़े देवताओं द्वारा भी की जाती है, जिन्होंने भगवान् को अपना प्राण तथा आत्मा स्वीकार कर रखा है। भगवान् का शुद्ध भक्त उन चरणकमलों को किसी भी अवस्था में नहीं भूलता। वह भगवान् के चरणकमलों की शरण एक क्षण के लिए भी नहीं—आधे क्षण के लिए भी नहीं—छोड़ पाता भले ही बदले में उसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासन तथा ऐश्वर्य-भोग का वर क्यों न मिले। भगवान् के ऐसे भक्त को वैष्णवों में सर्वश्रेष्ठ मानना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यह प्रश्न किया जा सकता है "यदि किसी को भगवान् के चरणकमलों को आधे क्षण भी छोड़ने के बदले सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ऐश्वर्य मिल जाय तो इतने अल्प समय के लिए भगवान् के चरणकमलों को छोड़ने में क्या हानि हो जायेगी?" इसका उत्तर *अकुण्ठ-स्मृति* शब्द द्वारा दिया गया है। शुद्ध भक्त के लिए भगवान् के चरणकमलों का विस्मरण असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक विद्यमान वस्तु वास्तव में भगवान् का अंश है। चूँकि कोई भी वस्तु भगवान् से पृथक् नहीं है, अतएव भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सोचता। न ही शुद्ध भक्त ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य को भोगने या उस पर शासन करने का विचार मन में ला सकता है। यदि उसे

ब्रह्माण्ड का सारा ऐश्वर्य दे भी दिया जाय, तो वह उसे तुरन्त भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित कर देगा और भगवान् के विनीत दास की स्थिति में लौट आएगा।

अजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् शब्द इस श्लोक में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् कृष्ण के चरणकमल इतने ऐश्वर्यशाली हैं कि भौतिक ऐश्वर्य के स्वामी ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता भी भगवान् के चरणकमलों की झलक पा लेने के लिए लालायित रहते हैं। *विमृग्यात्* शब्द सूचित करता है कि वास्तव में देवतागण भगवान् के चरणकमलों का दर्शन नहीं कर पाते, अपितु वे उनका दर्शन पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका एक उदाहरण दसवें स्कन्ध में दिया हुआ है, जब विष्णु से प्रार्थना करते हुए ब्रह्मा उनसे पृथ्वी के उत्पात को दूर करने के लिए कहते हैं।

ऐसा ही श्लोक *श्रीमद्‌भागवत* में अन्यत्र (११.१४.१४) प्राप्त है :

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं

न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा

मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥

''जो भक्त मुझे अपनी आत्मा अर्पित कर देता है, वह ऐसा कुछ भी नहीं चाहता, यदि वह मुझसे पृथक् है—न तो ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च देवता ब्रह्मा का पद, न इन्द्र का पद, न पूरी पृथ्वी के ऊपर अथवा अधोलोकों पर राज्य, न योग की सिद्धि, न ही पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *अजितात्मा* शब्द का अर्थ *अजितेन्द्रिया:* भी हो सकता है अर्थात् वे जिनकी इन्द्रियाँ अनियंत्रित हैं। यद्यपि सभी देवताओं को विष्णु-भक्तों के रूप में सम्मान देना चाहिए, किन्तु उच्च लोकों में स्थूल भौतिक असुविधा का अभाव होने से वे देहात्म बुद्धि द्वारा प्रभावित होने लगते हैं और कभी कभी राजसी भौतिक सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण उन्हें कुछ कुछ आध्यात्मिक कठिनाई भी होने लगती है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त के मन में ऐसे उत्पातों के लिए स्थान नहीं रहता, जैसाकि *अकुण्ठ-स्मृति* शब्द द्वारा इस श्लोक में सूचित किया गया है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार हम इस श्लोक से यह समझ सकते हैं कि क्योंकि भगवान् का शुद्ध भक्त ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक में उपलब्ध किसी भी भौतिक सुविधा से विपथ नहीं हो

सकता, अत: ऐसा भक्त कभी भी संभवत: न तो भगवद्भक्ति से च्युत हो सकता है न उसका शत्रु बन सकता है।

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥५४॥

शब्दार्थ

भगवतः—भगवान् का; उरु-विक्रम—महान् वीरतापूर्ण कार्य कर चुका; अङ्घ्रि—चरणकमलों के; शाखा—अँगुलियों के; नख—नाखूनों के; मणि—मणियों सदृश; चन्द्रिकया—चाँदनी द्वारा; निरस्त-तापे—पीड़ा के दूर हो जाने पर; हृदि—हृदय में; कथम्—किस तरह भला; उपसीदताम्—पूजा करने वालों को; पुनः—फिर से; सः—वह पीड़ा; प्रभवति—अपना प्रभाव दिखाती है; चन्द्रे—चन्द्रमा के; इव—सदृश; उदिते—उदय होने पर; अर्क—सूर्य का; तापः—जलती गर्मी।

जो लोग भगवान् की पूजा करते हैं, उनके हृदयों को भौतिक कष्ट रूपी आग भला किस तरह जलाती रह सकती है? भगवान् के चरणकमलों ने अनेक वीरतापूर्ण कार्य किये हैं और उनके पाँव की अँगुलियों के नाखून मूल्यवान मणियों सदृश लगते हैं। इन नाखूनों से निकलने वाला तेज चन्द्रमा की शीतल चाँदनी सदृश है, क्योंकि वह शुद्ध भक्त के हृदय के भीतर के कष्ट को उसी तरह दूर करता है, जिस तरह चन्द्रमा की शीतल चाँदनी सूर्य के प्रखर ताप से छुटकारा दिलाती है।

तात्पर्य : जब चन्द्रोदय होता है, तो उसकी किरणों के विस्तार से सूर्य की भीषण गर्मी का कष्ट दूर हो जाता है। इसी तरह भगवान् के चरणकमलों के नाखूनों से निकलने वाली शीतल किरणें शुद्ध भक्त के सारे कष्ट दूर कर देती हैं। वैष्णव टीकाकारों के अनुसार इस श्लोक से यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि भौतिक काम-वासना अर्थात् अनियंत्रित कामेच्छा प्रज्ज्वलित अग्नि के तुल्य है। इस अग्नि की लपटें बद्धजीव की शान्ति तथा सुख को भस्म कर डालती हैं, जो निरन्तर ८४,००,००० योनियों में भटकता है और इस असह्य आग को बुझाने का व्यर्थ संघर्ष करता रहता है। भगवान् के शुद्ध भक्त मणि सदृश शीतलता प्रदान करने वाले भगवान् के चरणकमलों को अपने हृदय में रख लेते हैं और इस तरह संसार के सारे कष्ट तथा पीड़ा दूर हो जाते हैं।

उरु-विक्रमाङ्घ्र शब्द द्योतित करता है कि भगवान् के चरणकमल शौर्य से पूर्ण हैं। श्रीकृष्ण अपने वामन-अवतार के लिए प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने अपने चरणों के सुन्दर अँगूठों को ब्रह्माण्ड की बाह्य सीमा

तक विस्तारित कर दिया और ब्रह्माण्ड के कोश में छेद बना दिया, जिससे पवित्र गंगाजल इस ब्रह्माण्ड में आ सका। इसी तरह जब भगवान् कृष्ण असुर-राज कंस को ललकारने मथुरा नगरी में प्रवेश कर रहे थे और कुवलयापीड़ नामक भयानक हाथी ने उनका मार्ग रोका, तो कृष्ण ने अपने पाद-प्रहार से उस हाथी को मार डाला और नगरी के द्वारों से होकर भीतर प्रवेश कर गये। भगवान् कृष्ण के चरणकमल इतने पूज्य हैं कि वैदिक वाङ्मय का कथन है कि सारा जगत उन्हीं के चरणकमलों के नीचे टिका है—*समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।* (भागवत १०.१४.५८)

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५॥

शब्दार्थ

विसृजति—त्याग देता है; हृदयम्—हृदय को; न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; साक्षात्—स्वयं; हरिः—भगवान् हरि; अवश—सहसा; अभिहितः—कहलाने वाला; अपि—यद्यपि; अघ—पापों के; ओघ—समूह; नाशः—नाश करने वाला; प्रणय—प्रेम की; रसनया—रस्सियों द्वारा; धृत—पकड़े; अङ्घ्रि-पद्मः—उनके चरणकमल; सः—वह; भवति—है; भागवत-प्रधानः—सर्वश्रेष्ठ भक्त; उक्तः—कहा गया।

भगवान् बद्धजीवों के प्रति इतने दयालु हैं कि यदि वे जीव अनजाने में भी उनका नाम लेकर पुकारते हैं, तो भगवान् उनके हृदयों में असंख्य पापों को नष्ट करने के लिए उद्यत रहते हैं। इसलिए जब उनके चरणों की शरण में आया हुआ भक्त प्रेमपूर्वक कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो भगवान् ऐसे भक्त के हृदय को कभी भी नहीं छोड़ पाते। इस तरह जिसने भगवान् को अपने हृदय के भीतर बाँध रखा है, वह भागवत-प्रधान अर्थात् अत्यधिक उच्चस्थ भक्त कहलाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में शुद्ध भक्त के गुणों का सार दिया गया है। शुद्ध भक्त वह है, जिसने अपने प्रेम से भगवान् को इस तरह आकृष्ट कर रखा है कि वे भक्त के हृदय को छोड़ नहीं सकते। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *साक्षात्* शब्द यह सूचित करता है कि सौन्दर्य समेत छहों ऐश्वर्यों के कारण सर्व-आकर्षक भगवान् कृष्ण को अपना हृदय दे देने के कारण शुद्ध भक्त को भगवान् का ज्ञान हो जाता है। शुद्ध भक्त कभी भी न तो स्त्रियों के मांसल स्तनों से, न तथाकथित समाज, मैत्री, एवं जगत-प्रेम के व्यामोह से आकृष्ट होता है। इसलिए उसका निर्मल हृदय भगवान् के

लिए उपयुक्त निवास बन जाता है। एक सभ्य व्यक्ति निर्मल स्थान में ही रहना चाहेगा। वह दूषित स्थान में नहीं रह सकता। पाश्चात्य देशों के शिक्षित जन आजकल शहरी औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा जल तथा वायु के प्रदूषण का अत्यधिक विरोध कर रहे हैं। वे स्वच्छ स्थान में रहने के अपने अधिकार की माँग कर रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण परम भद्र व्यक्ति हैं, अतएव वे न तो दूषित हृदय में रहना चाहेंगे, न ही वे बद्धजीव के दूषित मन में प्रकट होंगे। जब भक्त भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करता है और कृष्ण के सर्व–आकर्षक स्वभाव की प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा ईश्वर–प्रेमी बन जाता है, तो भगवान् ऐसे भक्त के निर्मल हृदय तथा मन को अपना निवासस्थान बना लेते हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार—*य एतादृशप्रणयवांस्तेनानेन तु सर्वदा परमावशेनैव कीर्त्यमान: सुतराम् एवमेवाघौघनाश: स्यात्।* यदि भक्त भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में मग्न रहता है, तो वह इस सेवा द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से भगवान् की महिमा का बखान करता रहता है। अत: यदि वह भगवान् की सेवा में मग्न रहने के कारण आधी–अधुरी सर्तकता से भी कृष्ण–नाम कीर्तन करता रहता है, तो भगवान् की दया से उसके हृदय के सारे पाप धुल जाते हैं। जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* (२.१.११) में कहा गया है—

एतान्निर्विद्यमानानाम् इच्छताम् अकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

''हे राजन्! महापुरुषों के पथ का अनुसरण करके भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन सबों के लिए संशयरहित तथा भयरहित सफलता का मार्ग है। इसमें वे सभी सम्मिलित हैं, जो सारी भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं, जो भौतिक भोग के इच्छुक हैं तथा वे भी जो दिव्य ज्ञान के बल पर आत्मतुष्ट हैं।'' इसलिए यदि कोई दिव्य प्रेमाभक्ति के पद पर नहीं पहुँचा है, किन्तु कृष्ण–नाम का कीर्तन करता है, तो वह भी सारे पापों से मुक्त हो जायेगा। *श्रीमद्‌भागवत* के छठे स्कंध में अजामिल के जीवन के इतिहास का भावार्थ प्रस्तुत करते हुए श्रील प्रभुपाद ने विस्तार से बतलाया है कि पवित्र नाम में सामान्य व्यक्ति को भी शुद्ध करने की शक्ति है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भगवान् को वश में करने की सुन्दर विधि बतलाई है। माता यशोदा ने बालक कृष्ण को एक रस्सी द्वारा मूसल से बाँध दिया था। कृष्ण ने अपने भक्तों के अचिन्त्य

प्रेम के वशीभूत होकर अपने आपको बँधवा लिया। अतएव यद्यपि भगवान् कृष्ण सभी बद्धजीवों को अपनी माया की रस्सियों से बाँधते हैं, किन्तु वही बद्धजीव, शुद्ध भक्त बन जाते हैं, यदि वे कृष्ण को ईश्वर-प्रेम की जंजीरों से बाँध लें।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार पापकर्मों के कारण संसार की सारी अशुभ दशाएँ भगवन्नाम के कीर्तन से दूर की जा सकती हैं। भगवान् उन लोगों के हृदय को छोड़ कर कभी नहीं जाते, जो सारे पापपूर्ण आचरण त्याग कर भगवन्नाम का कीर्तन करते हैं। यदि ऐसा कीर्तन पूर्ण न भी हो, तो भगवान् की सेवा में नित्य लगे हुए भक्तों को क्रमश: *प्रेम-निष्ठा* अवस्था को प्राप्त होंगे। तब उन्हें *महाभागवत* माना जाना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज निमि की नौ योगेन्द्रों से भेंट'' नामक दूसरे अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

माया से मुक्ति

इस अध्याय में महाराज निमि द्वारा पूछे गये, जिन चार प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं, वे हैं—माया का स्वभाव तथा कार्य, माया के दुर्लंघ्य पाश से मुक्त होने की विधि, भगवान् नारायण की दिव्य स्थिति तथा कर्म-योग की विधि, जिससे मनुष्य सारे भौतिक कार्यों से मुक्त हो जाता है।

समस्त कारणों के मूल कारण भगवान् ने पाँच तत्त्वों की सृष्टि की जिनसे बद्धजीवों के भौतिक शरीर बनते हैं, जिससे बद्धजीव चाहें तो इन्द्रिय-तृप्ति या परम मोक्ष का अनुशीलन कर सकते हैं। भगवान् परमात्मा के रूप में प्रकट होकर सृजित जीवों के भौतिक शरीरों में प्रवेश कर जाते हैं और बद्धजीव की ग्यारह इन्द्रियों को सक्रिय बनाते हैं। बद्धजीव भौतिक शरीर को ही आत्मा मान बैठता है और इस तरह वह विविध सकाम कर्मों में लग जाता है। वह अपने ही कर्मों के फलों से बाध्य होकर विविध योनियों में बारम्बार जन्म लेता है और प्रलय आने तक अत्यधिक कष्ट भोगता रहता है। जब प्रलय सन्निकट होता है, तो विराट स्वरूप की आत्मा सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि को अपने में समेट लेती है

और तब वह स्वयं समस्त कारणों के आदि–कारण में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार से भगवान् तीन गुणों वाली अपनी माया को भौतिक ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के लिए शक्ति प्रदान करते हैं।

इस भौतिक जगत में नर तथा नारी के रूप में बद्धजीव संभोगरत होते हैं। यद्यपि ये जीव अपने दुखों को दूर करने तथा अपने आनन्द को असीम रुप से बढ़ाने के लिए निरन्तर भौतिक प्रयास करते रहते हैं, किन्तु इससे सदैव विपरीत परिणाम प्राप्त होता रहता है।

स्थायी सुख इस जगत में ढूँढ़े नहीं मिलता, चाहे वह पृथ्वी–लोक हो या स्वर्ग–लोक हो, जिसे लोग अनुष्ठान तथा यज्ञ सम्पन्न करने के बाद अगले जीवन में प्राप्त कर सकते हैं। पृथ्वी तथा स्वर्ग दोनों ही में ईर्ष्या तथा स्पर्धा जीव का पीछा नहीं छोड़तीं।

इसलिए जो व्यक्ति संसार के कष्टों से स्थायी छुटकारा पाने का सचमुच इच्छुक है, उसे प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। प्रामाणिक गुरु की योग्यता यह है कि वह विचार–विमर्श द्वारा वैदिक शास्त्रों के निष्कर्षों की अनुभूति कर चुका हो और इन निष्कर्षों द्वारा अन्यों को आश्वस्त कर सके। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने सारे भौतिक मामलों को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, उन्हें ही प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।

प्रामाणिक गुरु को ही अपना जीवन तथा आत्मा मान कर विनीत शिष्य को उससे शुद्ध भक्ति की विधि सीखनी चाहिए, जो भगवान् को तुष्ट करने वाली है। इस तरह शिष्य भक्ति–मार्ग पर चलकर क्रमशः समस्त सद्गुण प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के अद्भुत दिव्य कार्यकलापों, उनके प्राकट्य, गुणों तथा पवित्र नामों को सुने, उनका गुणगान करे और उनका ध्यान करे। उसे जो भी अच्छी लगने वाली या भोग्य वस्तु प्राप्त हो, वह भगवान् को तुरन्त अर्पित कर दे, यहाँ तक कि अपनी पत्नी, सन्तान, घर तथा अपने प्राण तक भगवान् के चरणकमलों में समर्पित कर दे। उसे अन्यों की सेवा करनी चाहिए और उनसे आदेश लेने चाहिए। विशेष रूप से जो भगवद्भक्त हैं, उनसे शिक्षा लेनी चाहिए और उनकी सेवा करनी चाहिए।

भक्तों की संगति में रह कर भगवान् की महिमा का कीर्तन करने से मनुष्य तुष्ट तथा सुखी हो जाता है और भक्तों से प्रेम–मैत्री स्थापित कर लेता है। इस तरह वह समस्त दुखों की कारणस्वरूप इन्द्रिय–तृप्ति को त्यागने में सक्षम हो जाता है। जब भक्त को भगवान् के शुद्ध प्रेम की अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो उसे रोमांच हो आता है और वह अनेक भावलक्षण प्रकट करने लगता है। वह भगवान् से प्रत्यक्ष मिलता है और दिव्य आनन्द से पूरित हो उठता है। भक्तियोग की शिक्षा से तथा भगवद्भक्ति में लगने से, भक्त भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त होता है। भगवान् नारायण के प्रति पूर्णतया अनुरक्त होने पर, भक्त दुर्लंघ्य माया को पार कर लेता है।

भगवान् ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहार के कारणस्वरूप हैं, फिर भी उनका कोई पूर्व कारण नहीं है। नश्वर तथा निरन्तर परिवर्तनशील भौतिक जगत में स्थित रह कर, वे नित्य तथा अपरिवर्तित रहते हैं। वे मन तथा इन्द्रियों से किसी सहायता के बिना समझे नहीं जा सकते। वे भौतिक जगत के प्राकट्य से परे हैं, जो सूक्ष्म भौतिक वस्तुओं में दिखने वाले कार्य–कारण के रूप में होता है। मूलत: अपनी माया द्वारा एक से विस्तार करके वे नाना रूपों में प्रकट होते हैं। वे जन्म, विकास, क्षय तथा मृत्यु से सदैव मुक्त हैं और सर्वव्यापक साक्षी परमात्मा हैं, जो सारे जीवों की मनोवृत्तियों का निरीक्षण करता है। वे परम ब्रह्म हैं और नारायण कहलाते हैं।

जब कोई व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक भगवान् नारायण के चरणकमलों में भक्ति करता है, तो उसकी प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत पूर्वकर्म के फलस्वरूप हृदय के भीतर स्थित अशुद्ध इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार हृदय निर्मल हो जाने पर, वह भगवान् को तथा अपने आपको दिव्य जीवात्माओं के रूप में देख सकता है।

दिव्य वैदिक वाङ्मय के प्रामाणिक अध्ययन से ही मनुष्य नियत कर्तव्यों, इन कर्तव्यों के सम्पन्न न होने तथा वर्जित कार्यों के अर्थ को ठीक तरह से समझ सकता है। इस कठिन विषय को कभी भी संसारी चिन्तन से नहीं समझा जा सकता। वैदिक आदेश मनुष्य को पहले सकाम धार्मिक कर्म करने की संस्तुति करके अप्रत्यक्षत: चरम मोक्ष के मार्ग पर ले जाते हैं, जिस तरह बच्चे को दवा खिलाने के लिए पिता उसे मिठाई देने का वचन देता है। यदि भौतिक इन्द्रियों को न जीत सकने वाला अज्ञानी व्यक्ति वैदिक आदेशों को पूरा नहीं करता, तो वह पापमय तथा अधार्मिक कर्मों में प्रवृत्त होगा। इस

तरह उसे बारम्बार जन्म तथा मृत्यु का पुरस्कार मिलेगा। दूसरी ओर, यदि कोई व्यक्ति वेदों द्वारा नियत किये गये नियमित कर्मों को अनासक्त होकर करता है और ऐसे कर्म का फल भगवान् को अर्पित करता है, तो उसे भौतिक कर्म के बन्धन से पूरी मुक्ति मिल जाती है। शास्त्रों में प्रदत्त भौतिक सकाम फल वैदिक ज्ञान के वास्तविक लक्ष्य नहीं, अपितु कर्म करने वाले में रुचि जागृत करने के लिए होते हैं। यदि बद्धजीव वैदिक ग्रंथों में, यथा तंत्रों में प्राप्य नियमों का पालन करते हुए भगवान् हरि की पूजा करता है, तो वह मिथ्या अहंकार के बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जायेगा।

जब भक्त को वैदिक शास्त्रों के आदेशों को बतलाने वाले अपने गुरु की कृपा प्राप्त हो जाती है, तो वह भगवान् के अत्यन्त आकर्षक किसी स्वरूप की पूजा करता है। इस तरह वह भव-बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

श्रीराजोवाच
परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।
मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; परस्य—परम; विष्णोः—विष्णु का; ईशस्य—भगवान्; मायिनाम्—महान् योगशक्ति से सम्पन्नों के लिए; अपि—भी; मोहिनीम्—मोहने वाली; मायाम्—माया को; वेदितुम्—जानना; इच्छामः—हम चाहते हैं; भगवन्तः—हे प्रभुओ; ब्रुवन्तु—कहें; नः—हमसे।

राजा निमि ने कहा : अब हम भगवान् विष्णु की उस माया के विषय में जानना चाहते हैं, जो बड़े बड़े योगियों को भी मोह लेती है। हे प्रभुओ, कृपा करके हमें इस विषय में बतलायें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस अध्याय में ऋषभदेव के विभिन्न साधु सदृश पुत्र माया, माया को तरने के साधनों, भगवान् के गुणों तथा मनुष्यों के लिए नियत कर्तव्यों का वर्णन करेंगे। पिछले अध्याय के ४८ वें श्लोक में कहा गया था—*विष्णोर्मायामिदम् पश्यन्*—कृष्ण-भक्त को चाहिए कि समग्र ब्रह्माण्ड को भगवान् की माया के रूप में देखे। इसलिए राजा निमि साधु योगेन्द्रों से इस विषय में अधिक विस्तार से बतलाने की प्रार्थना कर रहे हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ब्रह्मा इत्यादि देवतागण तथा पृथ्वी के मनुष्य भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अपनी विशेष इच्छा के द्वारा चालित होते हैं। इस तरह वे अपनी इन्द्रियों को भौतिक ज्ञान की खोज करने में लगाते हैं। देवताओं की सूक्ष्म दैवी इन्द्रियाँ तथा मनुष्यों की स्थूल

इन्द्रियाँ भौतिक इन्द्रिय-विषयों का मापतोल करने में लगी रहती हैं। राजा निमि नौ योगेन्द्रों में से अब श्री अन्तरीक्ष से उस माया के वास्तविक स्वभाव के विषय में पूरी तरह जानना चाहते हैं, जो बद्धजीव को कृष्णभावनामृत से विमुख कराकर, मोहने वाली भौतिक वस्तुओं के सामने घुटने टेकने के लिए बाध्य करती है।

नानुतृप्ये जुषन्युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न अनुतृप्ये—मैं फिर भी तृप्त नहीं हूँ; जुषन्—व्यस्त रहते हुए; युष्मत्—तुम्हारे; वचः—शब्दों में; हरि-कथा—भगवान् हरि की कथाओं के; अमृतम्—अमृत को; संसार—संसार के; ताप—कष्ट से; निस्तप्तः—सताया; मर्त्यः—मरणशील मनुष्य; तत्-ताप—उस पीड़ा की; भेषजम्—औषधि।

यद्यपि मैं आपके द्वारा कही जा रही भगवान् की महिमा का अमृत-आस्वाद कर रहा हूँ, फिर भी मेरी प्यास शान्त नहीं हुई। भगवान् तथा उनके भक्तों की ऐसी अमृतमयी कथाएँ संसार के तीन तापों से सताये जा रहे, मुझ जैसे बद्धजीवों के लिए औषधि का काम करने वाली हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यह तर्क किया जा सकता है कि चूँकि भगवद्भक्त के लक्षणों का पहले ही विस्तार से वर्णन किया जा चुका है, अतएव पिछले श्लोक में वर्णित पद को प्राप्त करके मनुष्य अपना जीवन सफल बना सकता है, तो फिर आगे प्रश्न करने की क्या आवश्यकता है? लेकिन *हरिकथामृतम्*—अर्थात् भगवान् तथा उनके भक्तों की कथाएँ इतनी मनोहर तथा सुन्दर हैं कि मोक्ष के बाद भी कोई उनका सुनना छोड़ नहीं सकता। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरिः ॥

''जो आत्माराम हैं और बाह्य भौतिक इच्छाओं से आकृष्ट नहीं होते वे भी उन श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति द्वारा आकृष्ट होते हैं, जिनके गुण दिव्य तथा कार्यकलाप अद्भुत हैं। भगवान् हरि को कृष्ण कहते हैं, क्योंकि उनके अंग-प्रत्यंग दिव्य रूप से आकर्षक हैं।'' (भागवत १.७.१०) यदि एक बार रोग अच्छा हो जाता है, तो फिर औषधि की आवश्यकता नहीं रह जाती, लेकिन परम पद पर कार्य

तथा कारण भिन्न नहीं होते। अतएव कृष्ण की महिमा का कीर्तन तथा श्रवण दिव्य आनन्द के कार्य–कारण हैं।

राजा निमि ने योगियों से कहा, ''आप लोग भगवत्प्रेम में लीन रहने वाले महान् साधु–पुरुष हैं। आप यद्यपि माया के बारे में कह रहे हैं, किन्तु इसका अर्थ कृष्णभावनामृत होगा। आप यह न सोचें कि आपने मुझे पहले ही सारी बातें बतला दी हैं। आपके उपदेशों के मादक अमृत ने मुझे भगवान् के विषय में अधिकाधिक सुनने के लिए उत्सुक बना दिया है।''

राजा निमि भी महान् भगवद्भक्त थे, अन्यथा नौ योगेन्द्रों जैसे महापुरुषों से बातचीत करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। किन्तु विनीत वैष्णव के रूप में, उन्होंने अपने को भौतिक उपाधियों से प्रच्छन्न एक सामान्य बद्धजीव समझा। इस तरह उन्होंने माया का वास्तविक स्वभाव जानने के लिए उत्सुकता प्रकट की, जिससे वे माया द्वारा भव–अग्नि में गिराने के भावी प्रयासों से बचे रहे सकें।

श्रीअन्तरीक्ष उवाच
एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-अन्तरीक्षः उवाच—श्री अन्तरीक्ष ने कहा; एभिः—इनके (भौतिक तत्त्वों के) द्वारा; भूतानि—प्राणी; भूत-आत्मा—सारी सृष्टि की आत्मा; महा-भूतैः—महत् तत्त्व के तत्त्वों द्वारा; महा-भुज—हे महाबाहु राजा; ससर्ज—उसने उत्पन्न किया; उच्च-अवचानि—ऊँच तथा नीच दोनों; आद्यः—आदि पुरुष; स्व—अपने अंशों के; मात्रा—इन्द्रिय-तृप्ति; आत्म—तथा आत्म-साक्षात्कार; प्रसिद्धये—सुविधा प्रदान करने के लिए।

श्री अन्तरीक्ष ने कहा : हे महाबाहु राजा, भौतिक तत्त्वों को क्रियाशील बनाकर समस्त सृष्टि के आदि आत्मा ने उच्चतर तथा निम्नतर योनियों के जीवों को उत्पन्न किया है, जिससे ये बद्धात्माएँ अपनी अपनी इच्छानुसार इन्द्रिय-तृप्ति अथवा चरम मोक्ष का अनुशीलन कर सकें।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में माया का वर्णन उसकी शक्तियों अर्थात् गुणों के वर्णन के माध्यम से हुआ है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने माया को *गुणमयी* अर्थात् ''भौतिक गुणों से युक्त'' कहा है। इस श्लोक में भौतिक गुणों को प्रच्छन्न रूप से *उच्चवचानि* अर्थात् ''उच्च तथा निम्न योनियाँ'' बतलाया गया है। जिस तरह विविध योनियाँ प्रकट होती हैं, उसी तरह उनमें सुन्दरता, कुरूपता, शक्तिमत्ता, दुर्बलता इत्यादि गुण उनमें प्रकृति के गुणों के समानुपात के अनुसार पाये जाते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.२२) में पुष्टि की गई है—*कारणं गुण सङ्गोऽस्य*

सदसद्योनिजन्मसु—अच्छी तथा बुरी योनियों में भौतिक प्रकृति के साथ जीव की संगति से ऐसा होता है। इसी तरह का अन्य कथन (भगवद्गीता १४.१८) देखें—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था

मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।

जघन्यगुणवृत्तिस्था

अधो गच्छन्ति तामसाः॥

''सतोगुणी व्यक्ति क्रमशः उच्च लोकों में जाते हैं, रजोगुणी इसी पृथ्वी-लोक में रहते हैं और जो तमोगुण में स्थित हैं, वे नीचे नरक-लोकों में जाते हैं।''

भौतिक जीवन के तीन सामान्य विभाग हैं—*देव, तिर्यक* तथा *नर*। विविध योनियों में भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति की विविध सुविधाएँ हैं। विभिन्न योनियाँ विभिन्न प्रकार की इन्द्रियों द्वारा—यथा जननांग, नथुने, जीभ, कान तथा आँखों द्वारा जानी जाती हैं। उदाहरणार्थ, कबूतरों को असीम संभोग की छूट दी गई है। भालुओं को सोने की बहुत अधिक छूट है। बाघों तथा सिंहों में लड़ने-भिड़ने एवं मांस खाने की प्रबल इच्छा रहती है, घोड़ों को तेज दौड़ने के लिए टाँगें और चील्हों-गिद्धों को तेज दृष्टि प्रदान की गई है, इत्यादि, इत्यादि। मनुष्य अपने बृहद मस्तिष्क द्वारा जाना जाता है, जो ईश्वर को समझने के निमित्त होता है।

इस श्लोक में *स्वमात्रात्मप्रसिद्धये* वाक्यांश महत्त्वपूर्ण है। *स्व* का अर्थ है स्वामित्व। सारे जीव भगवान् के हैं (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूताः सनातनाः*)। इसलिए इस श्लोक के अनुसार उनके पास दो विकल्प होते हैं—*मात्राप्रसिद्धये* तथा *आत्मप्रसिद्धये*।

मात्रा का अर्थ है भौतिक इन्द्रियाँ और *प्रसिद्धये* द्योतक है सम्पन्न होने का। अतः *मात्राप्रसिद्धये* का अर्थ हुआ ''इन्द्रिय-तृप्ति में दक्षतापूर्वक लगे रहना।''

दूसरी ओर *आत्मप्रसिद्धये* द्योतक है कृष्णभावनामृत का। *आत्मा* की दो कोटियाँ हैं—*जीवात्मा* जो कि आश्रित है और *परमात्मा* जो कि स्वतंत्र है। कुछ जीव दोनों ही प्रकार की आत्माओं को समझना चाहते हैं, अतएव इस श्लोक में *आत्मप्रसिद्धये* शब्द सूचित करता है कि उन जीवों को ऐसा ज्ञान प्रदान

करने के लिए तथा इस प्रकार भगवद्धाम, जहाँ जीवन शाश्वत है और आनन्द तथा ज्ञान से भरपूर है, वापस जाने के लिए इस जगत में अवसर प्रदान किया जाता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने *श्रीमद्भागवत* के *वेदश्रुति* से (१०.८७.२) निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करके पुष्टि की है—

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः ।

मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥

"भगवान् ने जीवों में बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण उत्पन्न किए, जिससे वे इन्द्रिय-तृप्ति कर सकें, उच्चतर जन्म पाने के लिए यज्ञ कर सकें और अन्ततोगत्वा परमात्मा के लिए यज्ञ कर सकें।"

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् की सृष्टि का वास्तविक प्रयोजन केवल एक है—भगवान् की भक्ति को अग्रसर कराने के लिए सुविधा प्रदान करना। यद्यपि यह कहा गया है कि भगवान् इन्द्रिय-तृप्ति सुलभ बनाते हैं, किन्तु यह समझना होगा कि भगवान् बद्धजीवों की मूर्खता को अन्ततः कभी क्षमा नहीं करते। भगवान् इन्द्रिय-तृप्ति को सुलभ इसलिए बनाते हैं (*मात्राप्रसिद्धये*), जिससे जीवों को धीरे-धीरे ज्ञान हो जाय कि भगवान् के बिना भोग करना व्यर्थ है। हर जीव कृष्ण का जीवांश है। वैदिक वाङ्मय में भगवान् ने एक विधान दिया है, जिससे सारे जीव धीरे-धीरे अपनी मूर्खता की प्रवृत्ति को समाप्त कर लें और उनकी शरण में जाने के महत्त्व को समझें। भगवान् निस्सन्देह समस्त सौन्दर्य, आनन्द तथा संतोष के आगार हैं और हर जीव का धर्म है कि वह भगवान् की प्रेमाभक्ति में रत हो। यद्यपि ऊपर से सृष्टि के दो प्रयोजन लगते हैं, किन्तु यह समझ लेना होगा कि अन्ततः प्रयोजन केवल एक है। इन्द्रिय-तृप्ति की व्यवस्था अन्ततः जीवों को भगवद्धाम वापस ले जाने के एकमात्र प्रयोजन के लिए है।

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ।
एकधा दशधात्मानं विभजञ्जुषते गुणान् ॥ ४॥

शब्दार्थ

एवम्—जैसाकि बतलाया गया, उस प्रकार से; **सृष्टानि**—उत्पन्न; **भूतानि**—जीवों को; **प्रविष्टः**—प्रवेश करके; **पञ्च-धातुभिः**—पाँच स्थूल तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) द्वारा; **एकधा**—एक बार (मन के द्रष्टा रूप में); **दशधा**—दस बार (पाँच ज्ञान-इन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के द्रष्टा के रूप में); **आत्मानम्**—स्वयं को; **विभजन्**—विभाजित करते हुए; **जुषते**—लगाता है; **गुणान्**—भौतिक गुणों के साथ।

परमात्मा उत्पन्न किये गये प्राणियों के भौतिक शरीरों में प्रविष्ट होकर मन तथा इन्द्रियों को क्रियाशील बनाता है और इस तरह बद्धजीवों को इन्द्रिय-तृप्ति हेतु तीन गुणों तक पहुँचाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक पर श्री भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टीका का सारांश इस प्रकार है—

एक परमात्मा स्थूल भौतिक तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) में प्रवेश करता है और भौतिक मन को क्रियाशील बनाकर बद्धजीवों के ऐन्द्रिय कर्मों को पाँच ज्ञानेन्द्रियों (आँखों, नाक, कान, जीभ तथा त्वचा) में सूक्ष्मत: विभाजित कर देता है और इसके बाद पाँच स्थूल कर्मेन्द्रियों (हाथ, पाँव, वाणी, जननांग तथा गुदा) में विभाजित कर देता है। चूँकि मुक्तात्माओं में भगवान् की सेवा करने की प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है, अतएव वे अच्छाई-बुराई के द्वैत के प्रति आकृष्ट नहीं होते। वे उन भगवान् की भक्ति तथा प्रेम से अपना आनन्द प्राप्त करते हैं, जो भौतिक सृष्टि से परे अपनी दिव्य लीलाओं का नित्य आस्वादन करते रहते हैं।

जब बद्धजीव भगवान् के साथ अपने प्रेमपूर्ण सम्बन्ध को भूल जाते हैं, तो उनमें अवैध इच्छाएँ जागृत होती हैं। अतएव वे भगवान् विष्णु के रूप, स्वाद, गंध इत्यादि पक्षों की सेवा न कर सकने के कारण सकाम कर्म के कटु फलों से बँध जाते हैं। किन्तु यदि किसी तरह से उनका भगवत्प्रेम जागृत हो उठता है, तो बद्धजीव अपने सारे ऐन्द्रिय कर्मों को भगवान् की दिव्य लीलाओं की सेवा में लगा देते हैं।

वस्तुत: सारे भौतिक कार्यकलाप अत्यन्त अवांछनीय हैं। किन्तु माया के प्रभाव से बद्धजीव अच्छे-बुरे तथा सुख-दुख में अन्तर देखने लगता है। भगवान् या परमात्मा जीवों की व्यष्टि तथा समष्टि चेतना में प्रवेश कर चुकने के फलस्वरूप हर एक के हृदय की बात जानते हैं। अतएव जब निष्ठावान जीव आध्यात्मिक सिद्धि की कामना करता है, तो भगवान् उसे भव-बन्धन से मुक्त करके वैकुण्ठ-पति की सेवा करने की उसकी उत्कट इच्छा को जागृत कर देते हैं। यह भगवत्प्रेम दिव्य आनन्द के विविध रूपों में पल्लवित होता है। किन्तु अज्ञानवश बद्धजीव अपने को सेवा का सही लक्ष्य मानता है और सम्पूर्ण सांसारिक स्थिति को ठीक से नहीं समझ पाता।

गुणैर्गुणान्स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

गुणैः—गुणों (इन्द्रियों) के द्वारा; गुणान्—गुणों को (इन्द्रिय-विषयों को); सः—वह (व्यष्टि); भुञ्जानः—भोग करते हुए; आत्म—परमात्मा द्वारा; प्रद्योतितैः—जागृत किया गया; प्रभुः—स्वामी; मन्यमानः—सोचते हुए; इदम्—यह; सृष्टम्—उत्पन्न (शरीर); आत्मानम्—अपने रूप में; इह—इस; सज्जते—फँस जाता है।

भौतिक देह का स्वामी व्यष्टि जीव परमात्मा द्वारा सक्रिय की गई अपनी भौतिक इन्द्रियों द्वारा प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बनाये गये इन्द्रिय-विषयों का भोग करने का प्रयास करता है। इस तरह वह उत्पन्न भौतिक शरीर को अजन्मे नित्य आत्मा के रूप में मानने के कारण भगवान् की माया में फँस जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में जीव को *प्रभुः* अर्थात् स्वामी कहा गया है, क्योंकि वह परम स्वामी कृष्ण का सूक्ष्म अंश होता है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१५.८) में जीव को *ईश्वरः* अर्थात् नियन्ता कहा है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धान् इवाशयात्॥

"जीव इस भौतिक जगत में जीवन की विविध धारणाओं को एक शरीर से दूसरे में वहन करता है, जिस प्रकार वायु गंध को ले जाती है।" श्रील प्रभुपाद ने इसके तात्पर्य में लिखा है, "यहाँ पर जीव को *ईश्वरः* अर्थात् अपने शरीर का नियामक कहा गया है। यदि वह चाहे तो अपने शरीर को त्याग कर उच्च योनि में जा सकता है और चाहे तो निम्न योनि में जा सकता है। इस विषय में उसे किंचित स्वतंत्रता प्राप्त है। शरीर में जो परिवर्तन होता है, वह उसी पर निर्भर करता है।" यह कथन इस अध्याय के श्लोक ३ के *स्वमात्रा* तथा *आत्मप्रसिद्धये* शब्दों की पुष्टि करता है। यदि भगवान् जीव की अल्प स्वतंत्रता में बाधक बनें तो जीव भगवान् की भक्ति में लगे ही क्यों? क्योंकि प्रेम में प्रेमी की मुक्त पसन्द निहित रहती है। यहाँ पर *प्रभुः* शब्द सूचित करता है कि जिस तरह एक बच्चा अपने पिता से खिलौना-गाड़ी पाकर अपने पिता द्वारा असली मोटर-कार चलाने का अनुकरण करते हुए फुटपाथ पर अपनी गाड़ी चलाता है, उसी तरह जीव परमेश्वर द्वारा चुनी गई ८४,००,००० योनियों में विश्व-भर में असंख्य शरीर धारण करके भटकता रहता है। इस तरह जीव भौतिक शरीर के मिथ्या अहंकार द्वारा मुग्ध होकर ऐसी भयावह स्थिति उत्पन्न कर लेता है, जिसमें वह बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्कर लगाता है जैसाकि *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्* (भागवत ११.२.३७) में कहा गया है।

श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या दूसरी तरह से की है। यदि *प्रभुः* शब्द का अर्थ भगवान् लिया जाय तो *गुणै* का अर्थ ''सद्गुण'' लगाना पड़ेगा, क्योंकि *गुण* से या तो प्रकृति के गुण या प्रशंसनीय गुण (जैसाकि श्लोक *यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः* में है) का द्योतन होता है। तब इस श्लोक का अर्थ होगा कि भगवान् अपने दिव्य गुणों से (*गुणै*), यथा दया से, अपने भक्तों के गुणों का (*गुणान्*) आस्वादन कर सकते हैं। तब *आत्मप्रद्योतितै* यह बतलायेगा कि समस्त सद्गुणों के आगार भगवान् की शरण में जाकर शुद्ध भक्तों में उन्हीं जैसे दैवी गुण आ जाते हैं। *मन्यमान इदं सृष्टम् आत्मानम्* यह सूचित करेगा कि भगवान् अपने भक्तों के शरीर को अपने ही जैसे आध्यात्मिक स्तर पर मानते हैं, जैसाकि *आचार्यं मां विजानीयान् नावमन्येत कर्हिचित्* पंक्ति से सूचित होता है। भगवान् अपने शुद्ध भक्त की प्रेमाभक्ति से आकृष्ट होते हैं और इस प्रकार उसके प्रेमपाश में बँध जाते हैं। उदाहरणार्थ, कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद जब कृष्ण अपनी नगरी द्वारका के लिए विदा हो रहे थे, तो महाराज युधिष्ठिर की प्रेमपूर्ण याचना से भगवान् को हस्तिनापुर में कई सप्ताहों तक रुक जाना पड़ा था। इसी तरह जब वृन्दावन की वृद्धा गोपिकाएँ ताली बजातीं, तो कृष्ण कठपुतली की तरह उनकी ताल पर नाचने लगते थे। इस विषय से सम्बन्धित श्रील जीव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* से (९.४.६८) निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

''शुद्ध भक्त सदैव मेरे हृदय में रहता है और मैं शुद्ध भक्त के हृदय में रहता हूँ। मेरे भक्त मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानता।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *प्रभुः* शब्द को इस प्रकार समझा जा सकता है। *प्र* सूचक है *प्रकर्षेण* अर्थात् ''अत्यधिक'' और *भू* सूचक है *भवति* अर्थात् ''जन्म लेना'' का। इस प्रकार *प्रभुः* सूचक है *प्रकर्षेण देवतिर्यगादिषु भवतीति सः* अर्थात् बारम्बार देवताओं, पशुओं, मनुष्यों तथा अन्य योनियों में जन्म लेना।

शुद्ध भक्त के आध्यात्मीकृत शरीर के प्रति भगवान् की अनुरक्ति के सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी के कथन की पुष्टि करते हुए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *चैतन्य-चरितामृत* के दो श्लोक (अन्त्य ४.१९२-९३) उद्धृत किये हैं—

दीक्षाकाले भक्त करे आत्म-समर्पण।

सेइ-काले कृष्ण तारे करे आत्म-सम ॥१९२

सेइ देह करे तार चिदानन्द-मय।

अप्राकृत-देहे ताङ्र चरण भजय ॥१९३

''दीक्षा के समय जब भक्त भगवान् की सेवा में अपने को समर्पित करता है, तो कृष्ण उसे अपने ही समान स्वीकार करते हैं। जब इस तरह भक्त का शरीर चिदानन्दमय हो जाता है, तो भक्त उस दिव्य शरीर में भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है।''

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत् ।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—विविध प्रकार के सकाम कर्मों को; **कर्मभिः**—कर्मेन्द्रियों द्वारा; **कुर्वन्**—करते हुए; **स-निमित्तानि**—प्रेरक इच्छाओं से युक्त; **देह-भृत्**—भौतिक शरीर का स्वामी; **तत् तत्**—विविध; **कर्म-फलम्**—कर्म के फलों को; **गृह्णन्**—स्वीकार करते हुए; **भ्रमति**—घूमता है; **इह**—इस संसार में; **सुख**—सुख; **इतरम्**—तथा अन्यथा।

तीव्र भौतिक इच्छाओं से प्रेरित देहधारी जीव अपनी कर्मेन्द्रियों को सकाम कर्म में लगाता है। तब वह इस जगत में घूमते हुए तथाकथित सुख-दुख में अपने भौतिक कर्मों के फलों का अनुभव करता है।

तात्पर्य : यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि जीव अपने पूर्वकर्मों के फलों के अधीन रहे, तो उसे स्वतंत्र इच्छा के लिए अवकाश ही कहाँ रहा? एक बार पापकर्म कर लेने के बाद जीव दुख की अनन्त श्रृंखला में बँध जायेगा और निरन्तर पूर्व कर्मफलों के अधीन रहेगा। इस विचार के अनुसार ईश्वर न्यायप्रिय तथा सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि जीव अपने पूर्वकर्मों के फलों के अनुसार, जो इससे भी पूर्वकर्मों के फल होते हैं, पापकर्म करने के लिए बाध्य होता है। चूँकि सामान्य भद्र व्यक्ति भी निर्दोष व्यक्ति को अकारण दण्ड नहीं देगा, तो फिर ईश्वर इस तरह का कैसे हो सकता है, जो इस जगत में बद्धजीवों को असहाय दुख भोगते देख सके?

इस मूर्खतापूर्ण तर्क का खण्डन एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। यदि मैं हवाई उड़ान के लिए टिकट खरीद लूँ और जहाज में चढ़ कर यात्रा शुरू कर दूँ, तो जहाज में मेरी यात्रा करने के निश्चय के अनुसार मुझे तब तक यात्रा करनी होगी, जब तक जहाज नीचे न उतरे। यद्यपि मुझे अपने इस निर्णय के परिणाम को स्वीकार करना ही होगा, किन्तु जहाज में चढ़े चढ़े मैं कई नये निर्णय कर सकता हूँ। मैं चाहूँ तो हवाई जहाज की परिचारिका द्वारा प्रदत्त भोजन तथा पेय स्वीकार करूँ या अस्वीकार कर दूँ, मैं पत्रिका या अखबार पढ़ूँ, सोऊँ, टहलूँ, यात्रियों से बातें करूँ इत्यादि-इत्यादि। दूसरे शब्दों में, यद्यपि जहाज में चढ़ने के पूर्व निर्णय के अनुसार किसी विशेष नगर तक यात्रा करते रहना मुझ पर थोपा हुआ है, किन्तु इस परिस्थिति के अन्तर्गत भी मैं नये नये निर्णय ले सकता हूँ, जिनके नये नये परिणाम हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि मैं हवाई जहाज में उत्पात मचा दूँ, तो जहाज उतरने पर मुझे बन्दी बनाया जा सकता है। दूसरी ओर, यदि मैं अपनी बगल में बैठे किसी व्यापारी से मित्रता कर लूँ, तो भविष्य में मुझे व्यापारिक आदान-प्रदान में लाभ हो सकता है।

इसी तरह कर्म के नियमों के अनुसार यद्यपि जीव को बाध्य होकर एक विशिष्ट शरीर ग्रहण करना होता है, किन्तु मानव जीवन में सदा ही स्वतंत्र इच्छा तथा निर्णय लेने की गुँजाईश रहती है। भगवान् को इसलिए अन्यायी नहीं कहा जा सकता कि वे जीव को अपने वर्तमान कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं, यद्यपि जीव अपने पूर्वकर्म का फल भोग रहा है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार माया का प्रभाव इतना प्रबल है कि नरक में रहते हुए भी गर्वित बद्धजीव यही सोचता है कि वह जीवन का आनन्द लूट रहा है।

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान् ।
आभूतसम्प्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥७॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; कर्म-गतीः—विगत कर्मों द्वारा निर्धारित गन्तव्य; गच्छन्—प्राप्त करते हुए; बहु-अभद्र—अत्यन्त अशुभ; वहाः—सम्मिलित करने वाले; पुमान्—जीव को; आभूत-सम्प्लवात्—इस ब्रह्माण्ड के प्रलय होने तक; सर्ग-प्रलयौ—जन्म तथा मृत्यु; अश्नुते—अनुभव करता है; अवशः—असहाय होकर।

इस तरह बद्धजीव को बारम्बार जन्म-मृत्य अनुभव करने के लिए बाध्य किया जाता है। अपने ही कर्मों के फल से प्रेरित होकर, वह एक अशुभ अवस्था से दूसरी अवस्था में असहाय होकर घूमता रहता है और सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर प्रलय होने तक कष्ट भोगता है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य के अनुसार यह सुन लेने पर भी कि इस जगत में जीव को बारम्बार जन्म लेना और मरना होता है, यदि कोई व्यक्ति ऐसे असहाय जीव को सभी बातों में ईश्वर के तुल्य मानता है, तो वह निश्चय ही ब्रह्माण्ड के गहनतम अंधकार में गिरेगा, जहाँ से उसका निकल पाना कठिन है।

धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

धातु—भौतिक तत्त्वों के; उपप्लवे—संहार में; आसन्ने—सन्निकट आये हुए; व्यक्तम्—व्यक्त जगत; द्रव्य—स्थूल पदार्थ; गुण—तथा सूक्ष्म गुण; आत्मकम्—से युक्त; अनादि—जिसका आदि न हो; निधनः—अथवा अन्त; कालः—समय; हि—निस्सन्देह; अव्यक्ताय—अव्यक्त में; अपकर्षति—खींचता है।

जब भौतिक तत्त्वों का संहार सन्निकट होता है, तो काल रूप में भगवान् स्थूल तथा सूक्ष्म गुणों वाले व्यक्त जगत को समेट लेते हैं और सारा ब्रह्माण्ड अव्यक्त रूप में लुप्त हो जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध में भगवान् कपिलदेव शिक्षा देते हैं कि प्रकृति मूलतः जड़ साम्यावस्था में रहती है, जिसे प्रधान कहते हैं। जब काल रूप में भगवान् विष्णु अपनी शक्तिशाली दृष्टि डालते हैं, तो भौतिक क्रियाएँ घटित होती हैं, जिनके फलस्वरूप विराट भौतिक जगत बनता है। इस श्लोक में कहा गया है कि विश्वकाल के अन्त में वही *काल* जिसने नारी प्रकृति को व्यक्त होने के लिए प्रेरित किया था, अब इस विश्व को जड़ अव्यक्त की मूल अवस्था में समेट लेता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार तब स्वयंकाल भी समेट लिया जाता है और वह परमात्मा में लीन हो जाता है, जो स्वयं को प्रकृति के मूल कारण के रूप में प्रकट करता है (*अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्*)।

सृष्टि तथा प्रलय, जन्म तथा मृत्यु के लिए ऐसी पारिभाषिक व्यवस्थाएँ भगवद्धाम में नहीं मिलतीं। वैकुण्ठ में भगवान् तथा उनके भक्तों का विविध आध्यात्मिक भोग इस भौतिक जगत में प्राप्य जन्म, पालन तथा विनाश के चक्र से अवरोधित नहीं होता।

शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन्प्रतपिष्यति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शत-वर्षा—एक सौ वर्षों तक चलने वाला; हि—निस्सन्देह; अनावृष्टिः—सूखा, अकाल; भविष्यति—होगा; उल्बणा—भयंकर; भुवि—पृथ्वी पर; तत्-काल—उस अवधि में; उपचित—संचित; उष्ण—गर्म; अर्कः—सूर्य; लोकान्—जगतों को; त्रीन्—तीनों; प्रतपिष्यति—बुरी तरह जला देगा।

ज्यों ज्यों विश्व का संहार निकट आता जाता है, पृथ्वी पर एक सौ वर्षों का भयंकर सूखा पड़ता है। सूर्य की गर्मी (उष्णता) क्रमशः सौ वर्षों तक बढ़ती जाती है और इसकी प्रज्वलित गर्मी तीनों लोकों को व्यग्र करने लगती है।

पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः ।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग्वर्धते वायुनेरितः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पाताल-तलम्—पाताल लोक से; आरभ्य—आरम्भ करके; सङ्कर्षण-मुख—भगवान् के संकर्षण रूप के मुख से; अनलः—अग्नि; दहन्—जलाते हुए; ऊर्ध्व-शिखः—ऊपर को निकलती लपटें; विष्वक्—सारी दिशाएँ; वर्धते—बढ़ती है; वायुना—वायु से; ईरितः—प्रेरित होकर।

यह अग्नि, भगवान् संकर्षण के मुख से निकल कर पाताल लोक से शुरू होती हुई, बढ़ती जाती है। इसकी लपटें प्रबल वायु से प्रेरित होकर ऊपर उठने लगती हैं और यह चारों दिशाओं की हर वस्तु को झुलसा देती हैं।

संवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

संवर्तकः—प्रलय के; मेघ-गणः—बादलों का समूह; वर्षति—वर्षा करता है; स्म—निस्सन्देह; शतम् समाः—एक सौ वर्षों तक; धाराभिः—मूसलाधार; हस्ति-हस्ताभिः—हाथी की सूँड़ की माप वाली (बूँदें); लीयते—लीन हो जायेगा; सलिले—जल में; विराट्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड।

संवर्तक नामक बादलों के समूह एक सौ वर्षों तक मूसलाधार वर्षा करते हैं। हाथी की सूँड़ जितनी लम्बी पानी की बूँदों की बाढ़ से विनाशकारी वर्षा समस्त ब्रह्माण्ड को जल में डुबो देती है।

ततो विराजमुत्सृज्य्वैराजः पुरुषो नृप ।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; **विराजम्**—ब्रह्माण्ड; **उत्सृज्य**—(अपने शरीर के रूप में) त्याग कर; **वैराजः पुरुषः**—विराट रूप वाला व्यक्ति (हिरण्यगर्भ ब्रह्मा); **नृप**—हे राजा निमि; **अव्यक्तम्**—अव्यक्त प्रकृति (प्रधान) में; **विशते**—प्रवेश करता है; **सूक्ष्मम्**—सूक्ष्म; **निरिन्धनः**—ईंधन से रहित; **इव**—सदृश; **अनलः**—अग्नि।

हे राजन्, तब विराट रूप का आत्मा वैराज ब्रह्मा अपने विराट शरीर को त्याग देता है और सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति में उसी तरह प्रवेश कर जाता है, जिस तरह ईंधन समाप्त हो जाने पर अग्नि।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में *वैराजः* शब्द बद्धजीवों की सम्पूर्णता को सूचित करता है, जो मूलतः ब्रह्मा से जन्म लेते हैं और प्रलय के समय उसी में मिल जाते हैं। *विराट पुरुष* के प्रकट होने से इस भौतिक सृष्टि में कुछ काल के लिए रूपों, गुणों तथा कर्मों का प्रदर्शन होता है। किन्तु जब भगवान् इस सृष्टि को समेटते हैं, तो सारा विराट दृश्य जड़ रूपविहीनता में बदल जाता है। इसलिए भगवान् के विराट रूप को भगवान् का शाश्वत रूप नहीं माना जा सकता। माया के राज्य में यह तो उनके साकार रूप से क्षणिक काल्पनिक साम्य है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धों में भगवान् के विराट रूप को काल्पनिक बतलाया गया है, जो ईश्वर का ध्यान करने वाले नवदीक्षितों के लिए है। जो लोग निपट भौतिकतावादी हैं, वे यह समझ ही नहीं पाते कि भगवान् *सच्चिदानन्दविग्रह* हैं और भौतिक शक्ति के प्रदर्शन के परे हैं। अतएव ऐसे निपट भौतिकतावादियों को श्रद्धालु आस्तिक बनाने के लिए ही वैदिक वाङ्मय उन्हें परमेश्वर के विराट शरीर के रूप में इस भौतिक ब्रह्माण्ड का ध्यान करने का आदेश देता है। यह सर्वेश्वरवाद परमेश्वर की चरम सत्यता को नहीं बतलाता, अपितु यह मन को धीरे धीरे ईश्वर की ओर ले जाने की प्रविधि है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने इसके साक्ष्य के लिए कि प्रलय के समय ब्रह्मा कों भगवद्धाम वापस चले जाना होता है निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

"अन्तिम प्रलय के समय सारे स्वरूपसिद्ध जीवात्माएँ ब्रह्मा के साथ साथ परम धाम में प्रवेश करते हैं।" चूँकि ब्रह्मा को कभी कभी परमेश्वर का सर्वश्रेष्ठ भक्त माना जाता है, अतएव उन्हें *अव्यक्त* (भौतिक प्रकृति की अव्यक्त अवस्था) में प्रवेश ही नहीं करना चाहिए, अपितु मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। इस सन्दर्भ में श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि अभक्तों की एक श्रेणी ऐसी है, जो अश्वमेध यज्ञ तथा अन्य यज्ञ कर लेने पर ब्रह्मा के लोक को प्राप्त होते हैं। किन्हीं किन्हीं स्थितियों में

तो स्वयं ब्रह्मा भी भगवान् के भक्त नहीं होते। अत: *अव्यक्तं विशते सूक्ष्मम्* शब्दों से यह सूचित हो सकता है कि ऐसा अभक्त ब्रह्मा विराट पद प्राप्त कर लेने पर भी वैकुण्ठ में प्रवेश नहीं कर सकता। किन्तु जब ब्रह्मा भगवद्भक्त के रूप में होता है, तो *अव्यक्तम्* शब्द से *वैकुण्ठ* सूचित होता है। चूँकि बद्धजीवों को वैकुण्ठ व्यक्त नहीं है, अतएव इसे *अव्यक्त* माना जा सकता है। यदि ब्रह्मा तक भगवान् के शरणागत हुए बिना भगवद्धाम में प्रवेश नहीं कर सकते, तो अन्य तथाकथित पवित्र या पटु अभक्तों के विषय में क्या कहा जा सकता है ?

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि ब्रह्मा पद की तीन कोटियाँ हैं—कर्मी, ज्ञानी तथा भक्त। ब्रह्मा, जो कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च *कर्मी* हैं, उन्हें भौतिक जगत में वापस आना होगा, जिस जीव ने इस ब्रह्माण्ड में महान् चिन्तक एवं दार्शनिक के रूप में ब्रह्मा का पद प्राप्त किया है, वह निर्विशेष मोक्ष पा सकता है, किन्तु जिस जीव को भगवान् का परम भक्त होने के कारण ब्रह्मा का पद मिला है, वह भगवद्धाम में प्रवेश करता है। *श्रीमद्भागवत* (३.३२.१५) में एक अन्य प्रसंग भी वर्णित है : वह ब्रह्मा जो भगवद्भक्त होते हुए भी अपने को भगवान् से स्वतंत्र या भगवान् के तुल्य मानने की प्रवृत्ति रखता है प्रलय के समय महाविष्णु का धाम प्राप्त कर सकता है, किन्तु जब पुन: सृष्टि का शुभारम्भ होता है, तो उसे फिर से ब्रह्मा का पद सँभालना होता है। इसके लिए *भेदद्दष्ट्या* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो अपने को स्वतंत्र रूप से शक्तिशाली सोचने की प्रवृत्ति को दर्शाता है। ब्रह्मा जैसे उच्च जीव के लिए सम्भव विविध गंतव्य यह सिद्ध करते हैं कि आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन की गारंटी देने के लिए कोई भी भौतिक पद व्यर्थ है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण वचन देते हैं कि जो व्यक्ति अन्य सारे तथाकथित कर्तव्यों को त्याग कर भगवान् की भक्ति में समर्पित हो जाता है, भगवान् उसकी स्वयं रक्षा करते हैं और उसे वैकुण्ठ धाम ले जाते हैं। अत: अपने कठोर परिश्रम द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करना और कृष्ण के चरणकमलों की शरण में न जाना व्यर्थ तथा मूर्खतापूर्ण है। *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय में ऐसे व्यर्थ प्रयास को *बहुलायासम्* कहा गया है, जो रजोगुणी कर्म का सूचक है। ब्रह्मा रजोगुण के स्वामी हैं और उनके द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि तथा व्यवस्था निश्चय ही *बहुलायासम्* या कठोर श्रम है। किन्तु ऐसा सारा रजोगुणी कर्म, यहाँ तक कि ब्रह्मा का भी कर्म, अन्ततोगत्वा कृष्ण के चरणकमलों की शरण में गये बिना व्यर्थ है।

वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वायुना—वायु द्वारा; हृत—विहीन; गन्धा—गन्ध का; भूः—पृथ्वी तत्त्व; सलिलत्वाय कल्पते—जल बन जाता है; सलिलम्—जल को; तत्—उससे (वायु से); हृत-रसम्—आस्वाद गुण से रहित; ज्योतिष्ट्वाय उपकल्पते—अग्नि बन जाता है।

वायु द्वारा गन्ध-गुण से रहित होकर पृथ्वी तत्त्व जल में रूपान्तरित हो जाता है और उसी वायु से जल अपना स्वाद खोकर अग्नि में विलीन हो जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में भौतिक सृष्टि विषयक अनेक विवरण प्राप्त हैं, जिसमें वायु आकाश से, अग्नि वायु से, जल अग्नि से तथा पृथ्वी जल से विस्तार पाती है। इसके विपरीत क्रम में सृष्टि समेट ली जाती है। इस तरह पृथ्वी उस जल में विलीन हो जाती है, जिससे वह उत्पन्न होती है और जल अग्नि में विलीन हो जाता है।

हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ।
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

हृत-रूपम्—रूप के गुण से विहीन; तु—निश्चय ही; तमसा—अंधकार से; वायौ—वायु में; ज्योतिः—अग्नि; प्रलीयते—विलीन हो जाती है; हृत-स्पर्शः—स्पर्श से रहित; अवकाशेन—अवकाश तत्त्व द्वारा; वायुः—वायु; नभसि—आकाश में; लीयते—विलीन हो जाता है; काल-आत्मन—काल रूप में परमात्मा द्वारा; हृत-गुणम्—अपने शब्द गुण से विहीन; नभः—आकाश; आत्मनि—तमोगुणी मिथ्या अहंकार में; लीयते—लीन हो जाता है।

अग्नि अंधकार द्वारा अपने रूप से विहीन होकर वायु तत्त्व में मिल जाती है। जब वायु अन्तराल के प्रभाव से अपना स्पर्श-गुण खो देता है, तो वह आकाश में मिल जाता है। जब आकाश काल रूप परमात्मा द्वारा अपने शब्द-गुण से विहीन कर दिया जाता है, तो वह तमोगुणी मिथ्या अहंकार में विलीन हो जाता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; मनः—मन; बुद्धिः—बुद्धि; सह वैकारिकैः—देवताओं समेत, जो सतोगुण में अहंकार के प्रतिफल हैं; नृप—हे राजा; प्रविशन्ति—प्रवेश करते हैं; हि—निस्सन्देह; अहङ्कारम्—अहंकार तत्त्व; स्त-गुणैः—अपने गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के साथ; अहम्—अहंकार; आत्मनि—महत तत्त्व में।

हे राजन्, भौतिक इन्द्रियाँ तथा बुद्धि रजोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाते हैं, जहाँ से उनका उदय हुआ था। देवताओं के साथ साथ मन सतोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाता है। तत्पश्चात्, सम्पूर्ण मिथ्या अहंकार अपने सारे गुणों समेत महत्-तत्त्व में लीन हो जाता है।

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह; माया—भौतिक शक्ति; भगवतः—भगवान् की; सर्ग—सृजन; स्थिति—पालन-पोषण; अन्त—तथा (इस ब्रह्माण्ड के) प्रलय के; कारिणी—करने वाली; त्रि-वर्णा—तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) वाली; वर्णिता—वर्णन की गई; अस्माभिः—हमारे द्वारा; किम्—क्या; भूयः—इसके आगे; श्रोतुम्—सुनने के लिए; इच्छसि—चाहते हो।.

मैं अभी भगवान् की मोहिनी-शक्ति माया का वर्णन कर चुका हूँ। यह तीन गुणों वाली माया भगवान् द्वारा ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के लिए शक्तिप्रदत्त है। अब तुम और क्या सुनने के इच्छुक हो?

तात्पर्य : राजा निमि ने नौ योगेन्द्रों से भगवान् की मायाशक्ति के विषय में अपना भय व्यक्त किया था और उनसे अनुरोध किया था कि वे माया की विस्तृत व्याख्या करें, जिससे वह उसका शिकार बनने से बच जाये। अब श्री अन्तरीक्ष माया का वर्णन कर चुकने के बाद राजा निमि द्वारा पूछे जाने की प्रतीक्षा न करके स्वयं सुझाव दे रहे हैं, ''अब माया के प्रभाव के विषय में सुन चुकने के बाद तुम्हें चाहिए कि ऐसे प्रभाव से पूर्णतः मुक्त होने की विधि पूछो।'' श्रीधर स्वामी के अनुसार श्री अन्तरीक्ष के प्रश्न *किं भूयः श्रोतुमिच्छसि* का यही महत्त्व है।

पिछले श्लोकों में प्रलय की जो प्रक्रिया दी गई है, उसकी व्याख्या में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने जो कुछ लिखा है, उसका सारांश इस प्रकार है—भगवान् वासुदेव उस चेतना के अधिष्ठाता देव हैं, जो *महत तत्त्व* के भीतर प्रकट होती है। महत तत्त्व के और अधिक रूपान्तरों (विकारों) से तीन प्रकार के मिथ्या अहंकार प्रकट होते हैं—(१) *वैकारिक* अर्थात् सतोगुणी अहंकार से ग्यारहवीं इन्द्रिय अर्थात् मन प्रकट होता है, जिसका अधिष्ठाता अनिरुद्ध है। (२) *तैजस* अर्थात् रजोगुणी अहंकार से बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसका अधिष्ठाता प्रद्युम्न है। साथ ही पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपने अपने अधिष्ठाताओं सहित उत्पन्न होती हैं। (३) तमोगुणी अहंकार से सूक्ष्म *शब्द* उत्पन्न होता है और तब शब्द से धीरे धीरे अन्य सारे भौतिक तत्त्व यथा आकाश और श्रवणेन्द्रिय इत्यादि उत्पन्न होते

हैं। इन तीनों प्रकार के अहंकार का अधिष्ठाता संकर्षण है। यह विवरण *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध के अध्याय २६ के श्लोक २१, २७, २८, ३०, ३१, ३२ तथा ३५ से लिया गया है।

भगवान् की बहिरंगा शक्ति माया द्वारा भौतिक जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार होता है। वह माया लाल, श्वेत तथा काला—इन तीन रंगों वाली है। लाल रंग में प्रकृति की सृष्टि होती है, श्वेत में उसका पालन होता है और काले में संहार हो जाता है। *महत तत्त्व* इसी माया से उत्पन्न होता है और महत तत्त्व से ही उपर्युक्त तीन प्रकार के मिथ्या अहंकार जन्म लेते हैं। प्रलय के समय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—ये पाँच महातत्त्व उसी तमोगुणी अहंकार में मिल जाते हैं जिससे ये शुरू में उत्पन्न हुए थे। इसी तरह दसों इन्द्रियाँ तथा मन रजोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाते हैं और मन देवताओं समेत सतोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाता है, जो पुन: महत तत्त्व में और यह महत तत्त्व पुन: प्रकृति या अव्यक्त *प्रधान* में शरण लेता है।

जैसाकि ऊपर बतलाया गया है प्रत्येक स्थूल तत्त्व अपने विभेदकारी गुण के नष्ट होने पर समेट लिया जाता है, तब यह तत्त्व अपने पूर्ववर्ती तत्त्व में लीन हो जाता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—आकाश या अवकाश में ध्वनि का गुण होता है। वायु में ध्वनि तथा स्पर्श के गुण होते हैं। अग्नि में ध्वनि, स्पर्श तथा रूप होते हैं। जल में ध्वनि, स्पर्श, रूप तथा स्वाद होते हैं। पृथ्वी में ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध-गुण होते हैं। इसलिए आकाश से लेकर पृथ्वी तक प्रत्येक तत्त्व अपने अद्वितीय गुण के जोड़ने से जिसे *गुण विशेषम्* कहते हैं, जाना जाता है। जब उसका यह गुण चला जाता है, तो वह अपने पूर्ववर्ती तत्त्व से अभिन्न हो जाता है और इस तरह उसी में लीन होता जाता है। उदाहरणार्थ जब प्रबल वायु पृथ्वी से गंध बहा ले जाता है, तो पृथ्वी में केवल ध्वनि, स्पर्श, रूप तथा स्वाद रह जाते हैं और इस तरह वह जल से अभिन्न होकर उसी में मिल जाती है। इसी तरह जब जल *रस* या स्वाद खो देता है, तो इसमें केवल ध्वनि, स्पर्श तथा रूप बचते हैं और यह अग्नि से अभिन्न हो जाता है, जिसमें भी यही तीन गुण होते हैं। अत: वायु गंध को हटाकर पृथ्वी को जल में मिला देता है और जल का स्वाद हटाकर जल को अग्नि में लीन कर देता है। तत्पश्चात्, जब ब्रह्माण्ड का अंधकार अग्नि से रूप विलग कर देता है, तो अग्नि वायु में मिल जाती है। तब आकाश वायु से स्पर्श-गुण विलग कर लेता है और वायु आकाश में लीन हो जाता है। काल रूप में भगवान् ध्वनि को आकाश से विलग कर

लेते हैं, जिससे आकाश उसी तमोगुणी मिथ्या अहंकार में लीन हो जाता है, जिसमें से वह प्रकट हुआ था। अन्त में यह मिथ्या अहंकार *महत तत्त्व* में मिल जाता है, जो अव्यक्त प्रधान में लीन हो जाता है और इस तरह ब्रह्माण्ड का संहार हो जाता है।

श्रीराजोवाच
यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा निमि ने कहा; **यथा**—जिस तरह; **एताम्**—यह; **ऐश्वरीम्**—भगवान् की; **मायाम्**—माया को; **दुस्तराम्**—दुर्लंघ्य; **अकृत-आत्मभिः**—जो आत्मसंयमी नहीं हैं उनके द्वारा; **तरन्ति**—पार कर जाते हैं; **अञ्जः**—आसानी से; **स्थूल-धियः**—भौतिकतावादी अनुरक्ति के कारण जिनकी बुद्धि मन्द पड़ चुकी हो ऐसे लोग; **महऋषे**—हे महर्षि; **इदम्**—यह; **उच्यताम्**—आप कहें।

राजा निमि ने कहा है, अतः हे महर्षि, कृपया यह बतलायें कि किस तरह एक मूर्ख भौतिकतावादी भी आसानी से भगवान् की उस माया को पार कर सकता है, जो उन लोगों के लिए सदैव दुर्लंघ्य है, जिन्हें अपने ऊपर संयम नहीं होता।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, *स्थूल-धियः* उनका द्योतक है, जो अज्ञान के कारण अपने को स्थूल भौतिक शरीर मानते हैं और प्रकृति के उन सूक्ष्म नियमों का विश्लेषण नहीं कर पाते, जिनसे आत्मा माया के कारण देहान्तरण करता है। श्रील जीव गोस्वामी टीका करते हैं कि *स्थूल-धियः* उन तथाकथित पुण्यात्माओं का भी सूचक है, जो भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए भव्य धार्मिक अनुष्ठान रचाते हैं, किन्तु भगवान् की सेवा करके भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी नहीं करते।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार राजा निमि पहले से महाभागवत थे, अतएव वे जानते थे कि भगवान् के चरणकमलों में शरण लेकर तथा उनकी शुद्ध भक्ति करके मनुष्य माया को पार कर सकता है। इसलिए राजा उन लोगों के हितार्थ प्रश्न पूछ रहे थे, जो भ्रमवश अपने को महान् पण्डित समझते हैं, किन्तु वास्तव में भौतिकतावादी सकाम कर्मों में लिप्त रहने के कारण माया में अधिकाधिक फँसते जाते हैं। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अमरकोश से उद्धरण दिया है कि *अकृतात्मभिः* सूचक है *अपूर्णत्वम्* का अर्थात् रक्ति जीवन वाले का।

हर जीव का नित्य सम्बन्ध परम पुरुष कृष्ण से है। कृष्ण को अपना नित्य स्वामी, घनिष्ठ मित्र, प्रिय सन्तान या माधुर्य प्रेम का लक्ष्य समझ कर प्रेम किया जा सकता है। हाँ, ऐसे भावों को कभी भी

सामान्य भौतिक भावावेशों से मिलाना नहीं चाहिए, जो आध्यात्मिक *रस* या सम्बन्धों के विकृत प्रतिबिम्ब होते हैं। हम भौतिक जगत में इन्हीं दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य रसों का आस्वादन करने का यत्न करते हैं, किन्तु ऐसे मनोभावों का स्थान नश्वर भौतिक शरीर होता है, जो प्रकृति के नियमों द्वारा तुरन्त नष्ट हो जाता है। इन प्रेम-उद्गारों को परम पुरुष कृष्ण के आध्यात्मिक शरीर की ओर निर्दिष्ट करना चाहिए, जो समस्त सौन्दर्य तथा दिव्य आनन्द के आगार हैं। जिसने अपने प्रेम को कृष्ण की ओर उन्मुख करने की कला नहीं सीखी है, वह *अपूर्ण* है अर्थात् उसका जीवन अन्ततः रिक्त है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार जिसका जीवन अपूर्ण होता है, अर्थात् जिसकी बुद्धि विस्तृत अनुभव के अभाव के कारण पंगु है, उसे भी *मन्दधीः* कहा जा सकता है। शुद्ध वैष्णव राजा निमि इतने दयालु थे कि उन्होंने पूछा, "भला पंगु बुद्धि वाले ऐसे लोग सरलता से माया को कैसे पार कर सकते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से आध्यात्मिक मामलों में अत्यन्त आलसी होते हैं?"

श्रीप्रबुद्ध उवाच
कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।
पश्येत्पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रबुद्धः उवाच—श्री प्रबुद्ध ने कहा; कर्माणि—सकाम कर्म; आरभमाणानाम्—प्रयत्नशील; दुःख-हत्यै—दुख-निवारण के लिए; सुखाय च—तथा सुख पाने के लिए; पश्येत्—देखना चाहिए; पाक—परिणाम का; विपर्यासम्—विपरीत फल; मिथुनी-चारिणाम्—स्त्री तथा पुरुष के रूप में युगल जोड़ा; नृणाम्—ऐसे पुरुषों का।

श्री प्रबुद्ध ने कहा है, अतः मानव समाज में नर तथा नारी की भूमिकाएँ स्वीकार करते हुए बद्धजीव संभोगरत होते हैं। इस तरह वे अपने दुख के निवारणार्थ निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं और अपने आनन्द को असीम बनाना चाहते हैं। किन्तु यह देखना चाहिए कि उन्हें सदैव इसका बिल्कुल उल्टा परिणाम मिलता है। दूसरे शब्दों में, उनका सुख अनिवार्यतहै, अतः समाप्त हो जाता है और ज्यों ज्यों वे बूढ़े होते जाते हैं, उनकी भौतिक असुविधाएँ बढ़ती जाती हैं।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त की कृपा के बिना देहात्म बुद्धि से छूट पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यही यौन आकर्षण का मोहमय आधार है।

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नित्य—निरन्तर; आर्ति-देन—पीड़ादायक; वित्तेन—सम्पत्ति से; दुर्लभेन—मुश्किल से कमाई गई; आत्म-मृत्युना—आत्मा के लिए मृत्यु; गृह—अपने घर; अपत्य—सन्तानों; आप्त—सम्बन्धीजन; पशुभिः—तथा घर के पशुओं सहित; का—क्या; प्रीतिः—सुख; साधितैः—(उस सम्पत्ति से) प्राप्त किये गये; चलैः—चलायमान, अस्थिर।

सम्पत्ति दुख का अविच्छिन्न स्रोत है, इसे अर्जित करना सर्वाधिक कठिन है और एक तरह से यह आत्मा के लिए मृत्यु स्वरूप है। भला अपनी सम्पत्ति से किसी को कौन-सा लाभ मिलता है? इसी तरह कोई अपने तथाकथित घर, सन्तान, सम्बन्धीगण तथा घरेलू पशुओं से स्थायी सुख कैसे प्राप्त कर सकता है, जो उसकी कठिन कमाई से पालित-पोषित होते हैं?

एवं लोकं परम्विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; लोकम्—संसार; परम्—(इस जीवन के बाद) अगला; विद्यात्—समझ लेने से; नश्वरम्—अस्थायी; कर्म-निर्मितम्—सकाम कर्म से उत्पन्न; स-तुल्य—बराबर वालों (की स्पर्धा) से विशेषित; अतिशय—तथा वरिष्ठ जन; ध्वंसम्—तथा विनाश से; यथा—जिस तरह; मण्डल-वर्तिनाम्—छोटे-छोटे राजाओं की (स्पर्धाएँ)।

मनुष्य को स्वर्गलोक में भी ऐसा स्थायी सुख नहीं मिल सकता, जिसे वह अनुष्ठानों तथा यज्ञों से अगले जीवन में प्राप्त कर सकता है। यहाँ तक कि भौतिक स्वर्ग में भी जीव अपने बराबर वालों की होड़ से तथा अपने से बड़ों की ईर्ष्या से विचलित रहता है। चूँकि पुण्यकर्मों की समाप्ति के साथ ही स्वर्ग का निवास समाप्त हो जाता है, अतएव स्वर्ग के देवतागण अपने स्वर्गिक जीवन के विनाश की आशंका से भयभीत रहते हैं। इस तरह उनकी दशा उन राजाओं की सी रहती है, जो सामान्य जनता द्वारा ईर्ष्यावश प्रशंसित होते हैं, किन्तु शत्रु-राजाओं द्वारा निरन्तर सताये जाते हैं, जिससे उन्हें कभी भी वास्तविक सुख नहीं मिल पाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने *छान्दोग्य उपनिषद्* का यह श्लोक (८.१.६) उद्धृत किया है—*तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवम् एवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते*—"मनुष्य का वर्तमान भौतिक सुख, जो उसके पूर्वकर्म का फल होता है, समय के साथ नष्ट हो जाता है। इसी तरह भले ही पुण्यकर्म करने से कोई अगले जन्म में उच्च पद प्राप्त कर ले, किन्तु यह भावी पद भी विनष्ट हो जायेगा।" भौतिक भोग का आधार वह शरीर विशेष है, जिसे मनुष्य ने अर्जित किया है। भौतिक शरीर *कर्मचितः*

है—अर्थात् पूर्वकर्मों का संचित फल है। यदि किसी को सौन्दर्य, शिक्षा, लोकप्रियता, बल इत्यादि से अलंकृत शरीर मिलता है, तो उसका भौतिक भोग का स्तर भी उच्च कोटि का होता है। दूसरी ओर यदि कोई कुरूप, मन्द बुद्धि, पंगु या घृणित होता है, तो उसे भौतिक सुख की बहुत कम आशा रहती है। किन्तु दोनों ही दशाओं में स्थिति टिमटिमाने वाली और क्षणिक है। जिसे सुन्दर शरीर मिला है, उसे फूल कर कुप्पा नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि मृत्यु शीघ्र ही ऐसी मदभरी स्थिति का अन्त कर देगी। इसी तरह, जिसने घृणित परिस्थिति में जन्म लिया है, उसे भी पछताना नहीं चाहिए, क्योंकि उसका भी दुख क्षणिक है। सुन्दर और कुरूप, धनी तथा निर्धन, शिक्षित तथा मूर्ख—सबों को कृष्णभावनाभावित बनने का प्रयास करना चाहिए, जिससे वे अपना स्वाभाविक पद प्राप्त कर सकें—जो कि इस भौतिक ब्रह्माण्ड के परे है। मूलतः प्रत्येक जीव कल्पना से परे सुन्दर, बुद्धिमान तथा धनी होता है और इतना बलशाली होता है कि उसका आध्यात्मिक शरीर सदैव जीवित रहता है। किन्तु हम मूर्खतावश इस शाश्वत आनन्दमय स्थिति को त्याग देते हैं, क्योंकि हम शाश्वत जीवन की शर्त को पूरा करना नहीं चाहते। शर्त यह है कि मनुष्य भगवान् कृष्ण का प्रेमी बने। यद्यपि कृष्ण-प्रेम अतिशय आनन्द है, जो भौतिक ब्रह्माण्ड के गहनतम आनन्द से भी लाखों गुना अधिक है, किन्तु मूर्खतावश हम भगवान् से अपना प्रेम-व्यापार तोड़ लेते हैं और आत्म-प्रवंचना तथा मिथ्या अभिमान के भौतिक परिवेश में स्वतंत्र भोक्ता बनने का कृत्रिम प्रयास करते हैं।

कोई व्यक्ति इस ब्रह्माण्ड के उच्चतम स्वर्गलोक को भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु वह नाना प्रकार के तापों से पीड़ित रहेगा। इस भौतिक जगत में हर बद्ध आत्मा महानतम व्यक्ति बनना चाहता है। इसलिए वह समान इच्छा वाले लोगों द्वारा निरन्तर सताया जाता है। यह स्थिति प्रायः भौतिक जीवन की ''चूहा दौड़'' कहलाती है। यहाँ तक कि स्वर्गलोक में भी स्वर्गिक प्रसिद्धि के लिए ऐसी ही ''चूहा दौड़'' होती है। चूँकि कुछ व्यक्ति अनिवार्यतः हमारी उपलब्धियों से बढ़कर सिद्ध होते हैं, अतएव हम जिन पुरस्कारों के लिए प्रयत्न कर रहे थे, उन्हीं का भोग अन्यों द्वारा होते देखकर हमारे हृदय ईर्ष्या से जलते रहते हैं। और चूँकि हमारी सारी स्थिति क्षणिक होती है, इसलिए हमें भय, चिन्ता तथा मृत्यु का सामना स्वर्गलोक तक में करना ही होता है। यहाँ पर दिया हुआ उदाहरण अत्यन्त उत्तम है। छोटे छोटे राजाओं की प्रशंसा भले ही सामान्य नागरिकों द्वारा उनकी सम्पत्ति, शक्ति तथा यश के लिए की जाय,

किन्तु ऐसे राजा स्वयं भी अन्य राजाओं से प्रतिस्पर्धा तथा धमकी के कारण ईर्ष्या, असहमति तथा भय से निरन्तर दग्ध होते रहते हैं। इसी तरह आधुनिक राजनीतिज्ञ ईर्ष्या तथा भय से निरन्तर व्यथित होते रहते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भौतिक सुख की चाह से तथा दुख से बचने के लिए इच्छुक होने से बद्ध आत्माएँ यौन सम्बन्धों की शरण लेते हैं और इस तरह सकाम कर्मों के कठिन श्रम के समक्ष आत्मसमर्पण कर देते हैं। किन्तु जो प्रबुद्ध होते हैं, वे ऐसे स्थूल भौतिकतावादी प्रयासों की चरम व्यर्थता का अनुभव कर सकते हैं। मनुष्य के तथाकथित पत्नी, घर, बच्चे, सम्बन्धी, बैंक-खाता इत्यादि सभी नश्वर मायाजाल हैं और प्रकट होकर भी वे किसी की इन्द्रियों को असली सन्तोष प्रदान नहीं कर पाते। इस जगत में धन अर्जित करने के लिए प्राय: आत्महन्ता बनना पड़ता है। भौतिकतावादी कार्यों से आनन्द की प्राप्ति की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि नश्वर इन्द्रिय-विषयों का पीछा करने से, वे नश्वर इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। जब बद्धजीव को उसका लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, तो वह गर्वित हो उठता है और दूसरों के समक्ष डींगे मारने लगता है, मानो उसकी उपलब्धियाँ स्थायी हों। और जब वह पराजित होता है, तो शोक में डूब जाता है। अपने को कर्ता मानने की ऐसी प्रवृत्ति क्षीण बुद्धि की परिचायक है, क्योंकि वास्तव में जीव केवल भौतिक शरीर के भीतर इच्छा ही करता है। यह शरीर ईश्वर के नियंत्रण में प्रकृति की शक्तियों द्वारा गतिशील बनता है। स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, पति-पत्नी जैसे सम्बन्ध शुभकामना तथा सेवा के आदान-प्रदान पर आधारित होते हैं, जिनसे भौतिक तृप्ति की अनुभूति होती है, किन्तु ऐसी क्षणिक भक्ति से आत्मा को शाश्वत लाभ नहीं पहुँच सकता। ऐसी क्षणिक तृप्ति द्वारा माया बद्धजीव को सारे संसार में भटकाती रहती है और वह भौतिक प्रकृति द्वारा प्रदत्त कर्मफलों को भोगता रहता है। कर्म के सूक्ष्म नियमों के अनुसार ही जीव को सुख-दुख प्राप्त होते हैं। किसी को बलपूर्वक सुख नहीं मिल सकता, चाहे वह कितना ही कठिन या कितने ही समय तक प्रयास क्यों न करे। अतएव जिनकी बुद्धि विमल है, उन्हें भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण में जाना चाहिए और स्थायी भौतिक सुख की हास्यास्पद तलाश छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि ऐसी तलाश कुत्ते द्वारा अपनी पूँछ की तलाश के समान है।

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; गुरुम्—गुरु की; प्रपद्येत—शरण ग्रहण करे; जिज्ञासुः—उत्सुक होकर; श्रेयः उत्तमम्—सर्वोच्च कल्याण के लिए; शाब्दे—वेदों में; परे—ब्रह्म में; च—तथा; निष्णातम्—पूर्णतया ज्ञेय; ब्रह्मणि—ब्रह्म के (इन दोनों पक्षों में); उपशम-आश्रयम्—भौतिक मामलों से विरक्त होने पर स्थित।

अतएव जो व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक असली सुख की इच्छा रखता हो, उसे प्रामाणिक गुरु की खोज करनी चाहिए और दीक्षा द्वारा उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। प्रामाणिक गुरु की योग्यता यह होती है कि वह विचार-विमर्श द्वारा शास्त्रों के निष्कर्षों से अवगत हो चुका होता है और इन निष्कर्षों के विषय में अन्यों को आश्वस्त करने में सक्षम होता है। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने समस्त भौतिक धारणाओं को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, उन्हें प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *शाब्दे* शब्द वैदिक वाङ्मय का द्योतक है और *परे* भगवान् का। प्रामाणिक गुरु को *निष्णातम्* होना चाहिए अर्थात् उसे प्रामाणिक वैदिक ग्रंथों का गहन अनुभव होना चाहिए और भगवान् की व्यावहारिक समझ होनी चाहिए। ऐसा न होने पर तथाकथित गुरु अपने शिष्यो के संशयों को दूर नहीं कर सकेगा और इस तरह निष्ठावान् छात्र को भगवद्धाम वापस ले जाने में असमर्थ होगा। वेदों तथा कृष्ण के अनुभूत ज्ञान का लक्षण *उपशमाश्रयम्* है। दूसरे शब्दों में, प्रामाणिक गुरु वह है, जो भौतिकतावादी समाज, मैत्री तथा प्रेम की चमक-दमक वाले मोह से विरक्त हो चुका हो।

भौतिक जगत के अन्तर्गत मनुष्य निश्चित रूप से महान् बुद्धिजीवी, सशक्त राजनीतिज्ञ, अनेक सुन्दर बच्चों का प्यारा पिता, सुसम्मानित कल्याण कार्यकर्ता या बहुप्रशंसित तथा सफल व्यापारी बनने के प्रति आकृष्ट रहता है। लेकिन इनमें से एक भी भौतिक पद न तो स्थायी है, न ही स्थायी सुख प्रदान करने वाला है, क्योंकि ये सारे के सारे उस मूलभूत भ्रान्ति पर आधारित हैं, जिससे मनुष्य अपनी पहचान भौतिक शरीर के रूप में करता है।

कोई भी व्यक्ति आसानी से अनुभव कर सकता है कि वह शरीर नहीं है, बल्कि चेतना है। यदि कोई अपने शरीर के किसी अंग को खो देता है, तो भी वह चेतन जीव ही रहता है। अन्ततोगत्वा मृत्यु के समय सारा शरीर नष्ट हो जाता है और जीव को नया शरीर मिलता है। चेतना के रूप में अपनी

पहचान का प्रारम्भिक ज्ञान आत्म-साक्षात्कार कहलाता है। किन्तु इस प्रारम्भिक ज्ञान के परे यह विस्तृत विषय है कि ८४,००,००० योनियों का चक्कर लगाते हुए आत्मा अस्तित्व में कैसे आया। और यदि जीव भौतिक शरीर न होकर चेतना है, तो उसका किसी उच्च पद पर कोई आदि स्थान होना चाहिए।

दण्ड में पुरस्कार भी छिपा रहता है। जो सशक्त व्यक्ति दण्ड दे सकता है, वह पुरस्कार भी दे सकता है। अतएव ऐसे जीव के लिए जो जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से युक्त कष्टप्रद भौतिक शरीर धारण करने पर बाध्य होता है, दण्ड के विधान का अर्थ है कि उसके लिए पुरस्कार भी है। यद्यपि हम भूल से भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति को जीवन का चरम पुरस्कार मान बैठते हैं, किन्तु भौतिक सुख वास्तव में दण्ड का दूसरा रूप है, क्योंकि इससे मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमने के लिए लुब्ध होता है। पाश्चात्य देशों में उग्र कैदियों को एकान्तवास दिया जाता है, जबकि शिष्ट कैदियों को जेल अधिकारी के बाग में या पुस्तकालय में पुरस्कार स्वरूप काम करने दिया जाता है। किन्तु कारागार के भीतर का कोई भी पद आखिर दण्ड ही है। इसी तरह भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति की उच्च तथा निम्न कोटियाँ जीव के चरम पुरस्कार की व्याख्या नहीं कर सकती। असली पुरस्कार तो भगवद्धाम में आनन्द तथा ज्ञान से युक्त जीवन है, जहाँ किसी तरह का दण्ड नहीं होता। ईश्वर का धाम वैकुण्ठ है अर्थात् मुक्त आनन्द है। वैकुण्ठ में कोई दण्ड नहीं होता। यह तो नित-वर्धमान आनन्द का स्थान है।

प्रामाणिक गुरु वह है, जो इन विषयों में अपनी कल्पना के आधार पर नहीं, अपितु प्रामाणिक वैदिक साहित्य के परिपक्व ज्ञान में, जो भगवान् की अहैतुकी कृपा की साहित्यिक अभिव्यक्ति है, दक्ष होता है। भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.३) में कहा है—

अश्रद्दधाना: पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

"हे परन्तप! जो लोग भक्ति में श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अत: वे इस भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु के मार्ग पर वापस आते रहते हैं।" इसलिए गुरु को चाहिए कि शिष्य में भक्ति जागृत करे। यहाँ पर उस माता का उदाहरण दिया जा सकता है, जो भोर में ही अपनी सन्तान के कमरे में जाकर उसे जगाती है, जिससे वह पाठशाला जा सके। यद्यपि बालक उठना नहीं चाहता, किन्तु ममतामयी माता उसे उठने के लिए बाध्य करती है, जिससे वह पाठशाला जाकर शिक्षित बन सके। इसी

तरह प्रामाणिक गुरु सुप्त जीव को जगाकर गुरुकुल या गुरु के आश्रम भेजता है, जहाँ उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सके।

यदि शिष्य को कृष्णभावनामृत की महत्ता के विषय में शंका हो, तो प्रामाणिक गुरु को चाहिए कि श्रेष्ठ ज्ञान द्वारा उसे दूर करे। जो व्यक्ति कृष्ण या वैदिक ज्ञान के प्रमाण के विषय में शंका करता है, वह प्रामाणिक गुरु नहीं बन सकता। दूसरी ओर, *किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केन नय।येइ कृष्ण-तत्त्व-वेत्ता, सेइ 'गुरु' हय*—किसी भी जाति का व्यक्ति प्रामाणिक गुरु बन सकता है, यदि वह कृष्ण के विज्ञान को जानता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।

आमार आज्ञाय गुरु हञा तार एइ देश॥

''हर व्यक्ति को भगवान् श्रीकृष्ण के उन आदेशों का पालन करने की शिक्षा दो, जो भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत में दिये हुए हैं। इस तरह गुरु बन कर इस धरा के प्रत्येक निवासी का उद्धार करने का प्रयास करो।'' (चैतन्य चरितामृत, मध्य ७.१२८) केवल भगवान् के आदेश से गुरु बना जा सकता है, अपने तथाकथित पाण्डित्य से नहीं।

प्रामाणिक गुरु का कर्तव्य है कि वह शिष्य को कृष्ण से जोड़े। कोई विद्वान या चिन्तक तब तक अन्य जीव को कृष्ण से जोड़ने की शक्ति नहीं रखता, जब तक वह स्वयं कृष्ण से जुड़ा न हो। यद्यपि बहुत-से क्रीड़ा-प्रशंसक व्यायाम सम्बन्धी स्पर्धाओं में उपस्थित रहते हैं और कठिन करतबों के प्रदर्शन में वाह-वाह करते हैं, किन्तु भगवान् ऐसे दर्शक नहीं, न ही वे योग के नाम पर मूर्ख व्यक्तियों द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले आसनों की वाहवाही करते हैं। न ही भगवान् दार्शनिक चिन्तन के घटिया दर्जे के प्रयासों से प्रभावित होते हैं, क्योंकि भगवान् पहले ही *भगवद्गीता* में अपने विचार व्यक्त कर चुके हैं (*शृणु मे परमं वचः*)। भगवान् के शब्द *परमं वचः* हैं—अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा हैं और कृष्ण का कथन है *यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यम् अवशिष्यते*—जब तुम इस ज्ञान को जान लोगे, तो आगे जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहेगा। कृष्ण ने इस ज्ञान को *राज विद्या* भी कहा है।

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण का प्रेमी नहीं बनता, तो कृष्ण से उसका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष अर्थात् माया के माध्यम से होता है। यह विचार कि कोई व्यक्ति आसनों द्वारा या ब्रह्म के मूर्खतापूर्ण चिन्तन द्वारा

भगवान् को आकृष्ट कर सकता है, निस्सन्देह माया की उपज है। जो व्यक्ति भगवान् की बहिरंगा माया-शक्ति द्वारा कृष्ण से जुड़ता है, वह भौतिक गुरु के रूप में अपने तथाकथित शिष्यों को उसी माया से जोड़ सकता है। दूसरी ओर *भगवद्गीता* (९.१३) में कहा गया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

"हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।" जो लोग वास्तव में महात्मा हैं, वे भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के शरणागत होते हैं और वे अन्यों को अपनी ही तरह अंतरंगा ह्लादिनी शक्ति से जोड़ सकते हैं। *भगवद्गीता* में *महात्मा* का वर्णन इस प्रकार हुआ है : *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*—वह मुझे समस्त कारणों का और सारे के सारे अस्तित्व का कारण मानता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे गुरु की, जो इस परिपक्व ज्ञान को प्राप्त हुआ रहता है कि वासुदेव ही सर्वस्व हैं, ही शरण ग्रहण की जानी चाहिए। नारद मुनि के अनुसार *यो विद्वान् स गुरुर्हरिः*—ऐसे महात्मा को साक्षात् कृष्ण की बाह्य अभिव्यक्ति मानना चाहिए। कृष्ण ने यह भी कहा है (भागवत ११.१७.२७) :

आचार्यं मां विजानीयन्नावमन्येत कर्हिचित्।

न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

"मनुष्य को चाहिए कि आचार्य को साक्षात् मेरा स्वरूप माने और किसी तरह से उसका अनादर न करे। उसे सामान्य व्यक्ति समझ कर उससे ईर्ष्या न करे, क्योंकि वह समस्त देवताओं का प्रतिनिधि होता है।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, यदि गुरु उच्च ज्ञान द्वारा अपने शिष्य की शंकाओं को दूर नहीं कर सकता, तो वह शिष्य धीरे-धीरे आध्यात्मिक जीवन के प्रति निराश हो जायेगा। चूँकि नकली गुरु अपने शिष्य को कृष्ण से नहीं मिला सकता, क्योंकि नियम है *रसवर्जं रसोऽप्यस्य,* अतः कृष्ण के सान्निध्य का आनन्द प्राप्त न कर सकने से शिष्य भौतिक सुख की ओर पुनः आकृष्ट होगा। ऐसे अशक्त गुरु का अशक्त शिष्य आत्म-साक्षात्कार के अपने प्रयास में धीरे धीरे हतोत्साहित हो उठेगा

और पुनः स्त्रियों, धन तथा कल्पना एवं चिन्तन पर आधारित तथाकथित बौद्धिकता जैसे माया के प्रलोभनों द्वारा मोहित हो जायेगा।

प्रामाणिक गुरु के और अधिक लक्षण *उपदेशामृत* (१) में दिये हुए हैं—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं

जिह्वावेगम् उदरोपस्थवेगम्।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः

सर्वाम् अपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥

"जो धीर पुरुष बोलने की उत्कंठा, मन की माँगों, क्रोध के कार्यों तथा वाणी, उदर और जननेन्द्रियों की उत्कंठाओं को सह सकता है, वह सारे विश्व में शिष्य बनाने के लिए योग्य है।" श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*उपशमाश्रयं क्रोधलोभाद्यवशीभूतम्*—प्रामाणिक गुरु सामान्य क्रोध, लोभ तथा काम-वासना के वशीभूत नहीं हो सकता।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जिस व्यक्ति ने संसार की असारता को समझ लिया है, वही गुरु के निकट तक जा सकता है। पिछले दो श्लोकों में पार्थिव तथा स्वर्गिक इन्द्रिय-तृप्ति की व्यर्थता का वर्णन हुआ है। अब यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि जिसने यह सब समझ लिया है, उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। प्रामाणिक गुरु वैकुण्ठ लोक जैसे दिव्य लोकों की ध्वनि को प्रसारित करता है। दिव्य लोकों के निवासी, जिनमें स्वयं भगवान् मुख्य हैं, न तो बहरे हैं और न गूंगे। वे असीम आनन्द तथा ज्ञान के माध्यम से निरन्तर संचार स्थापित किये रहते हैं और प्रामाणिक गुरु आनन्द तथा ज्ञान की इस ध्वनि को अपने शिष्य तक प्रेषित कर सकता है। जिस तरह रेडियो संसारी समाचार प्रसारित करता है, उसी तरह प्रामाणिक गुरु वैकुण्ठ के समाचार प्रसारित करता है। इसकी पुष्टि नरोत्तम दास ठाकुर द्वारा होती है : *गोलोकेर प्रेमधन, हरिनाम-सङ्कीर्तन।* गुरु अपने शिष्य तक कृष्ण के पवित्र नाम को भी प्रेषित करता है, जो साक्षात् कृष्ण से अभिन्न है। प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को बताता है कि हर जीव गुणात्मक रूप से भगवान् से एकाकार है, किन्तु मात्रा की दृष्टि से भिन्न है और इस तरह शिष्य को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाता है। चूँकि गुणात्मक दृष्टि से जीव भगवान् से एकाकार है और उनका अंश रूप है, इसलिए उन दोनों के मध्य नित्य प्रेम-सम्बन्ध होता है। और चूँकि

मात्रा की दृष्टि से जीव भगवान् से भिन्न है, अतः उसका सम्बन्ध शाश्वत दासता का होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भले ही किसी को अत्यन्त योग्य तथा प्रामाणिक गुरु प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो, किन्तु यदि उसे सकाम कर्मों में या मानसिक चिन्तन में रुचि बनी रहती है, तो उसकी प्रगति रुक जाएगी। किन्तु यदि धीर शिष्य अपने प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करता है, तो भगवद्भक्ति में पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द के सम्प्रेषण में कोई अवरोध नहीं आता।

तत्र भागवतान्धर्मान्शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥ २२॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (गुरु की संगति में); भागवतान् धर्मान्—भक्ति के विज्ञान को; शिक्षेत्—सीखना चाहिए; गुरु-आत्म-दैवतः—वह, जिसके लिए गुरु प्राण है और आराध्य देव है; अमायया—बिना धोखे के; अनुवृत्त्या—श्रद्धापूर्ण सेवा द्वारा; यैः—जिसके (भक्ति) द्वारा; तुष्येत्—तुष्ट किया जा सकता है; आत्मा—परमात्मा; आत्म-दः—आत्मा प्रदान करने वाला; हरिः—भगवान् हरि।

प्रामाणिक गुरु को प्राण एवं आत्मा तथा आराध्य देव मानते हुए शिष्य को चाहिए कि उससे शुद्ध भक्ति की विधि सीखे। समस्त आत्माओं के आत्मा भगवान् हरि अपने आपको अपने शुद्ध भक्तों को सौंपने के लिए उद्यत रहते हैं। इसलिए शिष्य को अपने गुरु से द्वैतरहित होकर भगवान् की श्रद्धापूर्ण तथा उपयुक्त विधि से सेवा करना सीखना चाहिए, जिससे वे तुष्ट होकर श्रद्धालु शिष्य को अपने आपको सौंप सकें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अपने शुद्ध भक्त को अपने को प्रदान करने की प्रवृति बलि महाराज के उदाहरण में देखी जा सकती है, जिन्होंने भगवान् वामनदेव के आनन्द हेतु अपना सारा राज्य बलिदान कर दिया। भगवान् वामन बलि महाराज की इस निष्काम शरणागति से इतने प्रसन्न हुए कि वे बलि के महल के द्वारपाल बने और उन्हें संसार में महान् नायक के रूप में पुनः स्थापित कर दिया गया।

श्रील जीव गोस्वामी का अभिमत है कि गुरु को शिष्य की *आत्मा* अर्थात् प्राण समझना चाहिए, क्योंकि असली जीवन तो प्रामाणिक गुरु द्वारा दीक्षा दिये जाने पर ही शुरू होता है। भले ही किसी को स्वप्न में अनेक अद्भुत या महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हुई घटनाएँ घटती क्यों न दिखें, किन्तु असली जीवन तो तब आरम्भ होता है, जब वह जागता है। इसी प्रकार, चूँकि गुरु शिष्य में आध्यात्मिक जीवन जागृत

करके उसे जन्म देता है, इसलिए प्रामाणिक शिष्य समझता रहता है कि उसका गुरु ही उसके जीवन का आधार है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् समस्त आनन्द के आगार हैं, अतएव शुद्ध भक्त के हाथों भगवान् द्वारा अपने आपको सौंपना इस बात का सूचक है कि ऐसा भक्त सर्वोच्च आनन्द में निमग्न हो गया है। इस सम्बन्ध में एक श्रुति मंत्र है—*आनन्दाद् धीमानि भूतानिजायन्ते*—निश्चय ही आनन्दमय ब्रह्म से सारे प्राणियों का जन्म हुआ है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इसके आगे भी कहा है कि जब भगवान् किसी शुद्ध भक्त को अपने आपको अर्पित कर देते हैं, तो ऐसा भाग्यशाली भक्त भगवान् का दर्शन कर सकता है, उनका स्पर्श कर सकता है और उनकी प्रत्याक्षत: सेवा कर सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार गुरु को कभी भी न तो संसारी माना जाय, न ही अपने समान स्तर पर। गुरु को सदैव भगवान् के चरणकमलों की शरण में देखा जाना चाहिए। कभी भी गुरु पर रोब जमाने के विचार से गुरु से निजी सेवा नहीं लेनी चाहिए और न ही उनके माध्यम से कोई भौतिक लाभ प्राप्त करना चाहिए। जो व्यक्ति वास्तव में अग्रसर होता रहता है, वह गुरु की अधिकाधिक सेवा करने के लिए उन्मुख होता है और इस तरह ऐसे शिष्य को भगवान् के आनन्द का अनुभव होने लगता है।

श्रील रूप गोस्वामी ने निष्ठावान शिष्य की प्रगति के लिए चार प्रारम्भिक आवश्यकताएँ बतलाई हैं—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षादिशिक्षणम्।

विश्रम्भेण गुरो: सेवा साधुवर्त्मानुवर्तनम्॥

(१) ‘‘प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना (२) गुरु द्वारा दीक्षित किया जाना और उससे भक्ति करने की विधि सीखना (३) श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक गुरु के आदेशों का पालन करना तथा (४) गुरु के निर्देशन में महान् आचार्यों के पदचिह्नों का अनुसरण करना।’’ (*भक्तिरसामृतसिन्धु* १.२.७४) जिसने इन प्रारम्भिक कर्तव्यों को पूरा कर लिया हो, वह *श्रीमद्भागवत* का आस्वाद करने का पात्र है।

जब कोई व्यक्ति सचमुच ही *श्रीमद्भागवत* की ध्वनि को यथारूप में सुनता है, तो वह इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छा तथा मानसिक चिन्तन से मुक्त हो जाता है और भगवान् कृष्ण की सेवा में सुखी तथा प्रसन्न रहता है।

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।

भक्तिरुत्पाद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥

"श्रीमद्भागवत का श्रवण करने मात्र से शोक, मोह तथा भय की अग्नि को शमन करने के लिए भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति की भावना तुरन्त फूट पड़ती है।" (भागवत १.७.७) मनुष्य को चाहिए कि ऐसे प्रामाणिक गुरु से *श्रीमद्भागवत* सुने, जो *भागवत* की दिव्य ध्वनि सुनने से उत्पन्न लालसा को प्रेममय कृष्ण के प्रति प्रवृत्त कर सके। ऐसा दिव्य प्रामाणिक कार्य *भागवत धर्म* कहलाता है। इस्कॉन के अन्तर्गत ऐसे हजारों प्रचार सम्बन्धी अधिकृत कार्य हैं। *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करके तथा ऐसे कार्यों को करके इस्कॉन के सदस्य शोक, मोह तथा भय से मुक्ति पाते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का मत है कि जिन लोगों ने *श्रीमद्भागवत* की दिव्य ध्वनि सुन कर परिपक्व ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे इस स्कन्ध के तेरहवें अध्याय के हंसगीता में वर्णित *त्रिदण्डिसन्यास* ग्रहण कर सकते हैं। तथाकथित वैष्णव जो कि शरीर, मन तथा वाणी पर पूर्ण संयम की उपेक्षा सनकीपन से करता है, वह प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण प्राप्त नहीं कर सकता। यदि ऐसा इन्द्रिय-भोक्ता वैष्णव संन्यास का वेश तथा दण्ड धारण करने का स्वाँग रचता भी है, तो उसे वाँछित फल—अर्थात् कृष्ण-प्रेम नहीं प्राप्त हो सकेगा। प्रामाणिक वैष्णव को चाहिए कि इन्द्रिय-तृप्ति तथा मानसिक चिन्तन के किसी भी प्रकार के मल से अपने को मुक्त करने के लिए निष्ठापूर्वक कार्य करे और प्रेमपूरित हृदय से गुरु के आदेशों का पालन करे। गुरु के उच्च पद को सदा स्मरण रखने से शिष्य को कृष्ण के चरणकमलों पर शरण प्राप्त हो सकेगी।

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सर्वतः—सर्वत्र; मनसः—मन की; असङ्गम्—विरक्ति; आदौ—प्रारम्भ में; सङ्गम्—संगति; च—तथा; साधुषु—साधुओं की; दयाम्—दया; मैत्रीम्—मित्रता; प्रश्रयम्—आदर; च—तथा; भूतेषु—समस्त जीवों के प्रति; अद्धा—इस प्रकार; यथा उचितम्—जो उपयुक्त हो।

निष्ठावान् शिष्य को चाहिए कि मन को प्रत्येक भौतिक वस्तु से विलग रखना सीखे एवं अपने गुरु तथा अन्य साधु भक्तों की संगति का सकारात्मक रूप से अनुशीलन करे। उसे अपने से निम्न पद वालों के प्रति उदार होना चाहिए, समान पद वालों के साथ मैत्री करनी चाहिए और जो अपने से उच्चतर आध्यात्मिक पद पर हैं, उनकी विनीत भाव से सेवा करनी चाहिए। इस तरह उसे समस्त जीवों के साथ समुचित व्यवहार करना सीखना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य ने *गरुड़ पुराण* से उद्धरण देकर बतलाया है कि इस ब्रह्माण्ड में जो लोग देवताओं, महर्षियों या पवित्र मनुष्यों की तरह जन्म लेते हैं, वे *सन्तः* माने जाते हैं। *भगवद्गीता* के अनुसार *त्रैगुण्यविषया वेदाः*—वैदिक साहित्य में वर्णित वर्णाश्रम संस्कृति उन लोगों से सम्बन्धित है, जो प्रकृति के तीनों गुणों से संघर्ष कर रहे हैं। वैदिक ग्रंथ ऐसे बद्धजीवों को यह शिक्षा देते हैं कि केवल पवित्र कार्य द्वारा ही भौतिक सुख प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह देवताओं को प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत सर्वाधिक पवित्र जीव माना जाता है। विभिन्न लोकों की स्वेच्छा से विचरण करने वाले तथा योगशक्ति वाले ऋषिगण देवताओं से थोड़ा-सा नीचे माने जाते हैं और पृथ्वी के वे मनुष्य जो वैदिक अनुष्ठानों को पूर्णतया सम्पन्न करते हैं, सन्तों की निम्नतम अर्थात् तीसरी कोटि में माने जाते हैं। किन्तु भगवद्भक्त प्रकृति के तीनों गुणों से परे होता है। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो समस्त परिस्थितियों में अच्युत भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के स्तर (पद) तक पहुँच जाता है।" इस तरह कृष्ण स्पष्ट कर देते हैं कि जो वैष्णव भक्तियोग के नियमों से च्युत नहीं होता, वह तीनों गुणों से परे है। भगवान् कृष्ण ने कृष्ण-भक्त अर्जुन को माया के तीनों गुणों को लाँघने की सलाह दी (*निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*)। किन्तु *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय (१८.४०) में भगवान् कहते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणै॥

''इस लोक में तथा स्वर्गलोकों में देवताओं के मध्य में कोई भी ऐसा व्यक्ति विद्यमान नहीं है, जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो।'' इस तरह देवता प्रकृति के तीन गुणों के दूषण से मुक्त नहीं होते, जबकि शुद्ध भक्त वस्तुतः *गुणातीत* है अर्थात् माया के प्रभाव से परे है।

अतएव मनुष्य को *उत्तम अधिकारी* अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति करनी चाहिए, जैसाकि पहले कहा जा चुका है (भागवत ११.३.२१)—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

''अतएव जो व्यक्ति वास्तविक सुख का इच्छुक है, उसे चाहिए कि प्रामाणिक गुरु खोजे और दीक्षा लेकर उसकी शरण ग्रहण करे। प्रामाणिक गुरु का गुण यह है कि वह विचार-विमर्श द्वारा शास्त्रों के निष्कर्षों से अवगत रहता है और अन्यों को इन निष्कर्षों के विषय में विश्वस्त कर सकता है। ऐसे महापुरुष जिन्होंने सारे भौतिक अनुचिन्तन को त्याग कर भगवान् की शरण ले रखी है, उन्हें ही प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।''

दूसरी ओर, मनुष्य को चाहिए कि भौतिकतावादी व्यक्ति की संगति से बचे, भले ही वह ऊपर से कृष्ण के पवित्र नाम का उच्चारण करता हो। ऐसी दशा में श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश है—

कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत

दीक्षास्ति चेत् प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम्।

शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्य-

निन्दादिशून्यहृदमीप्सितसंगलब्ध्या ॥

ऐसे किसी भी व्यक्ति को, जो कृष्ण-नाम का कीर्तन करता हो, मन ही मन नमस्कार किया जा सकता है, किन्तु भौतिकतावादी व्यक्तियों की घनिष्ठ संगति से बचना चाहिए, विशेष रूप से उनसे जो यौन-सुख में आसक्त रहते हैं। *तमोद्वारं योषितां संगि-संगम्।* यदि ऐसे कामी व्यक्ति की संगति की जाय, जिसे स्त्रियों की संगति प्रिय है, तो ऐसी संगति से मनुष्य निश्चित रूप से नर्क में जाता है।

किन्तु यदि कोई भौतिकतावादी व्यक्ति शुद्ध भक्त से आध्यात्मिक सुधार के विषय में सुनने की इच्छा से उससे सम्पर्क करता है, तो उस उच्च श्रेणी के भक्त को चाहिए कि दयापूर्वक उसे अपनी संगति प्रदान करे, बशर्ते कि ऐसी संगति का अभिप्राय कृष्ण-भक्ति में प्रगति हो। ऐसी संगति से भौतिकतावादी व्यक्ति भी क्रमशः शुद्ध कृष्ण-भक्त बन सकता है। यदि ऐसा प्रगत भक्त उस भौतिकतावादी व्यक्ति को कृष्ण-भक्ति में नहीं लगा पाता, तो ऐसी संगति वर्जित है।

गरुड़ पुराण में कहा गया है कि—

विशेषतः स्वोत्तमेषु विना संगं न मुच्यते।

स्वनीचेषु तु देवेषु विना संगं न पूर्यते॥

''भगवद्भक्त की संगति के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। और जब तक किसी निम्न पद वाले पर दया नहीं दिखलाई जाती, तब तक मनुष्य का जीवन सतही रहेगा।'' कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हमारा यह व्यावहारिक अनुभव है कि जो लोग कृष्ण के संदेश का प्रचार करके अपनी दया को विस्तार दे रहे हैं, वे तेजी से आध्यात्मिक प्रगति कर रहे हैं और उनका जीवन दिव्य आनन्द से पूरित होता जाता है। जो लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के मिशनरी कार्यों में अरुचि होने से दया के गुण की उपेक्षा करते हैं, वे दिव्य आनन्द से पूरित नहीं होते, जिसका वर्णन *पूर्यते* शब्द से हुआ है। दिव्य आनन्द से पूरित न होने से ऐसे व्यक्ति अपने जीवन को इन्द्रिय-तृप्ति, मानसिक चिन्तन, स्त्री-संग, अनेक संसारी उपन्यासों, समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं इत्यादि के पठन द्वारा भौतिक आनन्द से पूरित करते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचार कार्य को सतत वर्धमान आनन्द का सागर—*आनन्दाम्बुधिवर्धनम्*—कहा है। मिशनरी कार्य *दयाम्* अर्थात् पतितों पर दया के सिद्धान्त पर आधारित है। जो लोग प्रचार कार्य में लगे हैं, वे अन्य प्रचारकों की संगति से प्रोत्साहित होते हैं। यह सिद्धान्त *मैत्रीम्* अर्थात् समान व्यक्तियों में मित्रता कहलाता है। ऐसे प्रचार कार्य करने की शक्ति एवं कृष्ण का संदेश वितरित करने का उचित मार्गदर्शन, गुरु जैसे महापुरुषों के चरणकमलों की सेवा अर्थात् *प्रश्रयम्* सिद्धान्त से ही प्राप्त होते हैं। यदि गुरु के निर्देशन में तथा साथी प्रचारकों के संग रह कर कृष्णभावनामृत का निष्ठापूर्वक प्रचार किया जाय, तो भागवत के इस श्लोक की पूरी तरह पूर्ति होती है और *सर्वतो मनसोऽसंगम्*—अर्थात् भगवान् की माया से पूर्ण विरक्ति प्राप्त की जा सकती है।

चैतन्य महाप्रभु ने कहा है *लवमात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय।* भगवद्भक्तों के प्रति लगाव होने से मनुष्य को जीवन की सिद्धि—भगवद्धाम वापस जाने—का लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा।

यदि कोई व्यक्ति पापपूर्ण जीवन में व्यस्त रह कर भगवान् के आदेश की उपेक्षा करता है, तो वह दयालु नहीं है। जो व्यक्ति भगवान् के भिन्नांश होने के अपने नित्य पद की उपेक्षा करता है और इसके विपरीत अपने को इस प्रकार की अस्थायी उपाधियों के रूप में भौतिक मोहों से जैसे कि "मैं अमरीकी हूँ, मैं रूसी हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ"—आवृत कर लेता है, वह आत्महन्ता है और उसे दयालु नहीं माना जा सकता। इसी तरह जो लोग मांस, मछली तथा अंडे खाकर पशु-हत्या का समर्थन करते हैं, वे दयालु नहीं माने जा सकते। कभी कभी यह तर्क पेश किया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी को हानि नहीं पहुँचाता तो वह पूर्णरूपेण धार्मिक है। किन्तु हम अज्ञान में रहने के कारण यह नहीं समझ पाते कि हमारे वर्तमान कार्यों का भविष्य में क्या फल होगा। प्रकृति के सूक्ष्म नियमों को जाने बिना केवल इस डींग मारने से कि अमुक व्यक्ति किसी को हानि नहीं पहुँचा रहा, कोई धार्मिक नहीं बन सकता। कोई भी व्यक्ति ईश्वर द्वारा बनाये गये उन नियमों की शरण ग्रहण करके धार्मिक बनता है, जो *भगवद्गीता* में साक्षात् भगवान् द्वारा कहे गये हैं। जब तक मनुष्य अपनी ही कल्पना की लहरों में बहता रहता है, जो उसे सागर की तरंगों की भाँति दूर ले जाती हैं, तब तक वह भगवद्भक्ति की विधि को नहीं समझ पाता। भगवान् की माया की विविध सृष्टियों के बारे में अपनी अनुभवजन्य मनोकल्पना से पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य को भौतिकतावादी संगति का परित्याग करके, उन शुद्ध भगवद्भक्तों का साथ करना चाहिए, जो भगवान् को पूरी तरह प्रसन्न करने में चौबीसों घंटे लगे रहते हैं।

मनुष्य को उन लोगों की संगति करनी चाहिए, जो भक्ति में उससे उच्च स्तर पर हों। किसी की प्रगति को उसकी इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्ति द्वारा तथा अन्यों को कृष्णभावनामृत वितरित करने की क्षमता द्वारा मापा जा सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है *छाडिया वैष्णवसेवा, निस्तार पायेछे केबा*—वैष्णव की सेवा का परित्याग करने वाले को मोक्ष कैसे मिल सकता है? शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की सेवा करके आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जिसे कृष्ण के शुद्ध भक्त के चरणकमलों की दया प्राप्त हो जाती है, उसके लिए भौतिक जगत के तथाकाथित सारे आनन्द,

जिनका अन्त नाना प्रकार की विषय-वासनाओं तथा अपने को ईश्वर समझने की दृष्टि पाने में होता है, व्यर्थ हो जाते हैं। इस समस्त भौतिक जगत की उपमा सागर के क्षुद्र बुलबुले से दी जाती है। यह भौतिक ब्रह्माण्ड भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति पर अर्थात् *ब्रह्मज्योति* पर उसी तरह टिका हुआ है, जिस तरह क्षुद्र बुलबुला असीम समुद्र की शक्ति पर टिका होता है। शुद्ध भक्त के चरणकमलों की सेवा करके मनुष्य नित्य आनन्द के सागर में प्रवेश कर सकता है और कृष्ण के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव कर सकता है। वैष्णवों की दया असीम होती है और जिसने इस दया का आस्वाद कर लिया है, वह तथाकथित भौतिक सुख या मानसिक चिन्तन की परवाह न करके कृष्ण के चरणों के पीछे पागल हुआ रहता है। वैष्णवों की दया तात्त्विक है और कृष्ण के ही तुल्य शक्तिमान है, जबकि निर्विशेष चिन्तन तथा समाज, मैत्री एवं प्रेम विषयक व्यर्थ के स्वप्न वे साधन हैं, जिनसे माया बद्धजीवों को ठगती रहती है और उन्हें निरन्तर उद्विग्न बनाये रखती है।

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥ २४॥

शब्दार्थ

शौचम्—स्वच्छता; **तपः**—तपस्या; **तितिक्षाम्**—सहनशीलता; **च**—तथा; **मौनम्**—चुप्पी, मौन; **स्वाध्यायम्**—वेदाध्ययन; **आर्जवम्**—सादगी; **ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य-व्रत; **अहिंसाम्**—अहिंसा; **च**—तथा; **समत्वम्**—समता; **द्वन्द्व-संज्ञयोः**—द्वैत के रूप में अनुभव की जाने वाली परिस्थितियों में।.

गुरु की सेवा करने के लिए शिष्य को स्वच्छता, तपस्या, सहनशीलता, मौन, वेदाध्ययन, सादगी, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा गर्मी और शीत, सुख और दुख जैसे द्वैतों के समक्ष समत्व सीखना चाहिए।

तात्पर्य : *शौचम्* आन्तरिक तथा बाह्य शुद्धता का द्योतक है। बाहर से शुद्ध रहने के लिए दिन में कम से कम एक बार, अन्यथा तीन बार साबुन लगाकर पानी से स्नान करना चाहिए। जब मिथ्या अहंकार के दूषण से कोई मुक्त होता है, तो वह आन्तरिक रूप से शुद्ध माना जाता है। *तप:* का अर्थ है मन की अविवेकी तरंगों के बावजूद जीवन में उचित कर्तव्य को पूरा करने में डटे रहना। विशेषत: मनुष्य को क्रोधाग्नि पर नियंत्रण रखना चाहिए और मनमाने विलासी जीवन की आन्तरिक इच्छा से बचना चाहिए। यदि मनुष्य काम, क्रोध तथा लोभ के वेगों को रोक नहीं पाता, तो वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझने की शक्ति खो देता है। यह मनुष्य-जीवन जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि

की विकट समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने के लिए स्वर्णिम अवसर है। *विष्णु पुराण* के अनुसार (३.८.९)—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

हर व्यक्ति अपने नियत कार्य के फलों को भगवान् विष्णु को समर्पित करके आध्यात्मिक सिद्धि पा सकता है। इसी तरह *भगवद्गीता* (१८.४५) में भगवान् कृष्ण स्पष्टरूपेण कहते हैं—*स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।* मनुष्य को न तो मठ में रहना होता है न ही योगी के रूप में जंगल में रहना होता है। वह अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों को भगवान् को समर्पित करके सिद्धि पा सकता है। इसी प्रकार भक्तिविनोद ठाकुर ने कहा है *नामाश्रय करिऽयतने तुमि थकह आपन काजे।* यदि कोई व्यक्ति हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे कीर्तन करके भगवान् कृष्ण के नाम की शरण ग्रहण करता है, तो उसे अपने नैत्यिक कर्म करते हुए आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हो जायेगी। दुर्भाग्यवश यदि मानव उस सभ्य जीवन के विधि-विधानों की परवाह नहीं करता, जो अवैध यौन, मांसाहार, नशा तथा जुआ खेलने का निषेध करते हैं, तो वह निश्चय ही काम तथा क्रोध की तरंगों से अभिभूत होगा। ये तरंगें मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की चेतना को पूर्ण रूप से प्रच्छन्न करके नश्वर शरीर के मायाजाल की ओर खींच लायेंगी। *भगवद्गीता* (३.३९) में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

"इस प्रकार जीवात्मा की शुद्ध चेतना, उसके काम-रूपी नित्य शत्रु से ढकी रहती है, जो कभी भी तुष्ट नहीं होता और अग्नि के समान जलता रहता है।" इसलिए इस श्लोक का *तप:* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को अपना नियत कर्म करते रहना चाहिए और काम, क्रोध तथा लोभ की लहरों के कारण अधीर या अनियमित नहीं होना चाहिए।

तितिक्षाम् शब्द सूचित करता है कि अध्यात्मवादी को क्षमाशील होना चाहिए। यह भौतिक जगत झुँझलाहट लाने वाली तथा उत्तेजित करने वाली परिस्थितियों से पूर्ण है और जब तक वह अत्यधिक

क्षमाशील नहीं होगा, तब तक वह बदला लेने की भावना से संदूषित होता रहेगा, जिससे आध्यात्मिक चेतना नष्ट हो जायेगी। *मौनम्* का अर्थ है कि मनुष्य व्यर्थ या ओछे विषयों पर बात नहीं चलाये, अपितु मानव–जीवन के वास्तविक मामलों पर जैसे कि भगवद्धाम वापस जाने के मसले पर विचार–विमर्श करे। एकदम मौन रहना अज्ञानता का लक्षण है। एक पत्थर मौन रहता है, क्योंकि उसमें चेतना का अभाव है। चूँकि हर वस्तु का अपना आध्यात्मिक प्रतिपक्ष होता है, इसलिए वैदिक शास्त्रों में निषेधात्मक तथा सकारात्मक आदेश पाये जाते हैं। वाणी के विरुद्ध निषेधात्मक आदेश का संगत आदेश होगा कि मनुष्य सदैव कृष्ण के विषय में बातें करे। *सततं कीर्तयन्तो माम्।* मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव ईश्वर के विषय में बातें करे, उनके पवित्र नाम, यश, लीला, परिकर इत्यादि के गुणों का गान करे। *श्रीमद्‌भागवत* में भी कहा गया है कि *श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा।* मनुष्य को चाहिए कि भगवान् कृष्ण के बारे में श्रवण करे, उनका गुणगान करे, ध्यान करे और पूजा करे। इस अध्याय के श्लोक २१ में कहा गया है कि *शब्दे परे च निष्णातम्।* प्रामाणिक गुरु *शब्दे परे* अर्थात् आध्यात्मिक जगत का वर्णन करने वाली दिव्य ध्वनि तरंगों में निपुण होता है। कोई व्यक्ति कृत्रिम रूप से विचारशून्य या वाणीशून्य नहीं रह सकता, जैसाकि ध्यान और योग की मनगढंत प्रणालियों के मूर्ख प्रचारक कहते हैं। किन्तु मनुष्य को कृष्ण की प्रेमाभक्ति में इतना लीन रहना चाहिए और कृष्ण की प्रशंसा करने के प्रति इतना आकृष्ट रहना चाहिए कि उसे व्यर्थ की बातें करने के लिए एक क्षण की भी फुर्सत न मिले। *मौनम्* शब्द का यही तात्पर्य है।

स्वाध्यायम् का अर्थ है कि मनुष्य अपनी क्षमता के अनुसार वैदिक साहित्य का अध्ययन करे और अन्यों को भी शिक्षा दे। *भगवद्‌गीता* में उल्लेख हुआ है कि ब्राह्मण में ज्ञान तथा विज्ञान के गुण होने चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसे ग्रंथ पढ़े, जो भगवान् की सेवा करने की उसकी इच्छा को बढ़ाने वाले हों। श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ने कुछ ही वर्षों में दिव्य ज्ञान का सच्चा पुस्तकालय लिख कर तैयार कर दिया है। यह लगभग विश्व–भर में देखा जा रहा है कि जब इन पुस्तकों में जैसे *श्रीमद्‌भागवतम्, भगवद्‌गीता* (यथार्थ रूप), *चैतन्य–चरितामृत* और *भक्तिरसामृतसिंधु* में *स्वाध्यायम्* सिद्धान्त लागू किया जाता है, तो निष्ठावान् पाठक में भगवान् की सेवा करने का भावमय संकल्प उदित होता है। सारे विश्व में इस्कॉन का विस्तार इसी दिव्य साहित्य के कारण हो रहा है। *स्वाध्यायम्* न तो

धार्मिक शास्त्रों का काल्पनिक विवेचन है, न ही तथाकथित पण्डित की मिथ्या प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए किसी को अनेक पुस्तकें पढ़ने का प्रयास करना चाहिए। मनुष्य को वे पुस्तकें पढ़नी चाहिए, जो ज्ञान तथा वैराग्य के विषय में व्यावहारिक आध्यात्मिक प्रगति की प्रेरणा दे सकें, जिस प्रकार कि श्रील प्रभुपाद की पुस्तकें देती हैं।

आर्जवम् शब्द सादगी या सरलता का सूचक है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *स्वच्छताम्* इसका पर्याय है। जब तक मनुष्य की चेतना शुद्ध नहीं होगी, तब तक वह अनेक कुटिल साधनों को ग्रहण करेगा। आर्जवम् का अर्थ यह नहीं है कि ईमानदारी के नाम पर अन्यों का अपमान किया जाय, अपितु यह कि विनयपूर्ण सत्य कहा जाय। *ब्रह्मचर्यम्* शब्द सूचित करता है कि या तो स्त्री-संग का पूरी तरह परित्याग किया जाय या गृहस्थ जीवन का वैदिक नियमों के अनुसार कठोरता से पालन किया जाय। गृहस्थ जीवन साधु-सन्तान उत्पन्न करने के उद्देश्य से यौन जीवन को नियमित करने वाला है। *अहिंसाम्* यह सूचित करता है कि किसी जीव के प्रति हिंसा न की जाय। कर्म के नियमों से, जिनके अनुसार मनुष्य सुख-दुख भोगता है, अवगत हुए बिना मनुष्य ठीक से अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। अन्ततः भौतिक जगत में हिंसा का बोलबाला है और हर प्राणी पर बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु थोपने वाले प्रकृति के नियम स्वयं हिंसा से पूर्ण हैं। इसलिए यदि अन्यों को कृष्ण की शरण लेने और इस तरह उन्हें प्रकृति के कठोर नियमों से छूटने के प्रति आश्वस्त किया जा सके, तो यह अहिंसा की पूर्णता होगी।

समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः यह बतलाते हैं कि विचलित करने वाले भौतिक द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर भी शान्तचित्त रहा जाय। *भगवद्गीता* में (२.१४) कृष्ण कहते हैं—

मात्रास्पर्शस्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

"हे कुन्ती-पुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने-जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रिय-बोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।"

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥ २५॥

शब्दार्थ

सर्वत्र—सभी जगह; आत्म—अपनी आत्मा के लिए; ईश्वर—तथा भगवान् के लिए; अन्वीक्षाम्—सतत दृष्टि में रखते हुए ध्यान; कैवल्यम्—मोक्ष; अनिकेतताम्—जिसका कोई स्थायी घर न हो; विविक्त-चीर—चीथड़े; वसनम्—पहने हुए; सन्तोषम्—सन्तोष; येन केनचित्—किसी भी वस्तु से।

मनुष्य को चाहिए कि अपने को नित्य आत्मा के रूप में और भगवान् को हर वस्तु का परम नियन्ता देखते हुए ध्यान करे। ध्यान में वृद्धि लाने के लिए वह एकान्त स्थान में रहे और अपने घर तथा घर की सामग्री के प्रति झूठी आसक्ति को त्याग दे। नश्वर शरीर के अलंकरण को त्याग कर, मनुष्य अपने को चीथड़ों से या वृक्षों की छाल से ढके। इस तरह, उसे किसी भी भौतिक परिस्थिति में सन्तुष्ट रहना सीखना चाहिए।

तात्पर्य : *कैवल्यम्* का अर्थ है, एकान्तवास अर्थात् भौतिक उत्पातों से मुक्त स्थान। इसलिए मनुष्य को वैष्णवों की संगति में रहना चाहिए, जहाँ सबका लक्ष्य कृष्णभावनामृत में प्रगति करना रहता है। कलियुग में यदि अन्यों से शारीरिक रूप से विलग रहने का प्रयास किया जाता है, तो उसका परिणाम पतन या पागलपन होता है। *अनिकेतताम्* का अर्थ है कि मनुष्य को "अपनी प्रिय जन्मभूमि" की क्षणभंगुर तुष्टि से पगलाना नहीं चाहिए, क्योंकि यह किसी भी क्षण पूर्वकर्मों से उत्पन्न अदृश्य कारणों से लुप्त हो सकती है। इस युग में आधुनिक शहरों में, न तो वृक्ष की छाल पहनना सम्भव है, न ही चीथड़ा पहनना। पहले मानव संस्कृति आध्यात्मिक प्रगति के लिए तपस्या करने वालों को अपने में खपा लेती थी। किन्तु इस युग में सबसे बड़ी आवश्यकता है कि पूरे मानव समाज में *भगवद्गीता* के सन्देश का प्रचार किया जाय। इसीलिए यह संस्तुति की जाती है कि वैष्णवजन शरीर को सुचारु ढंग से ढकने वाले स्वच्छ वस्त्र धारण करें, जिससे बद्धजीव न तो वैष्णवों की उग्र तपस्या से भयभीत हों, न विकर्षित हों। कलियुग में बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति में अत्यधिक रत रहते हैं और कठोर तपस्या का सम्मान नहीं करते, प्रत्युत शरीर का घृणाजनक निषेधकर्ता माने जाते हैं। वस्तुत: आध्यात्मिक उन्नति के लिए तपस्या आवश्यक है, किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सफल प्रचार के लिए श्रील प्रभुपाद ने जो आदर्श स्थापित किया, वह यह था कि सारी भौतिक वस्तुओं का उपयोग लोगों को कृष्णभावनामृत की ओर आकृष्ट करने के लिए किया जाय। इसलिए वैष्णवजन समय समय पर कृष्णभावनामृत के वितरण सम्बन्धी उच्च आदर्श का पालन करने हेतु सामान्य वस्त्र भी धारण कर सकते हैं। मनुष्य को

प्रत्येक दशा में किसी भी भौतिक परिस्थिति से तुष्ट रहना सीखना चाहिए, जिससे मृत्यु की तैयारी हो सके। *भगवद्गीता* के अनुसार मृत्यु के समय इस जीवन में हम, जो भी चेतना उत्पन्न कर लेते हैं, वह हमें हमारी भावी स्थिति तक ले जाती है। इसलिए मनुष्य-जीवन एक प्रकार का अभ्यास है, जिसमें मनुष्य मृत्यु के समय कठिन परीक्षा के समय परम सत्य में अपने मन को सफलतापूर्वक टिका सके।

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धाम्—श्रद्धा; भागवते—भगवान् से सम्बद्ध; शास्त्रे—शास्त्र में; अनिन्दाम्—निन्दा न करना; अन्यत्र—दूसरे लोग; च—भी; अपि हि—निस्सन्देह; मनः—मन का; वाक्—वाणी; कर्म—तथा मनुष्य के कर्म; दण्डम्—कठोर नियंत्रण; च—तथा; सत्यम्—सच्चाई; शम—मन पर आत्म-नियंत्रण; दमौ—तथा बाह्य इन्द्रियों का; अपि—भी।.

मनुष्य को यह अटूट श्रद्धा होनी चाहिए कि उन शास्त्रों का अनुसरण करने से उसे जीवन में पूर्ण सफलता मिलेगी, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के यश का वर्णन करते हैं। इसी के साथ उसे अन्य शास्त्रों की निन्दा करने से अपने को बचाना चाहिए। उसे अपने मन, वाणी तथा शारीरिक कर्मों पर कठोर नियंत्रण रखना चाहिए, सदैव सच बोलना चाहिए और मन तथा इन्द्रियों को पूरी तरह वश में रखना चाहिए।

तात्पर्य : *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.६२) में *श्रद्धा* की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

'श्रद्धा'-शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्व-कर्म कृत हय॥

''कृष्ण की प्रेमाभक्ति करने पर मनुष्य समस्त गौण कर्मों को अपने आप कर लेता है। भक्ति सम्पन्न करने के लिए अनुकूल दृढ़ विश्वास ही *श्रद्धा* कहलाती है।'' इस तरह भक्त को आश्वस्त रहना चाहिए कि *भागवत शास्त्र* के आदेशों का जो सीधे तौर पर भगवद्भक्ति का वर्णन करते हैं, पालन करते हुए वह समस्त ज्ञान तथा जीवन-सिद्धि आसानी से प्राप्त कर सकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *मनोवाक्कायदण्डम्* का अर्थ है *मनसा-वाचिक-कायिक-विकर्म-राहित्यम्*—मन, वाणी तथा शरीर के सारे पापपूर्ण कार्यों का परित्याग। जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने बारम्बार सुझाया है, इन्द्रिय-संयम का अर्थ इन्द्रियों के कार्यों को बन्द करके शव बनना नहीं

है, अपितु अपने मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक कार्यों को कृष्ण की सेवा में लगाना है। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

''अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्ण की सेवा में कर्म करते हुए मनुष्य इस जगत में भी मुक्त पुरुष है, भले ही वह अनेक भौतिक कार्यों में क्यों न लगा हो।'' (भक्तिरसामृतसिन्धु १.२.१८७) इस तरह मनुष्य *विकर्मराहित्यम्* को प्राप्त होता है अर्थात् चौबीसों घण्टे कृष्ण की सेवा में अपनी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा वाणी लगाने से मनुष्य अवैध पापपूर्ण कार्यों से छुटकारा पा सकता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि केवल वे पुण्यात्मा जो *विकर्मरहित* हैं, अर्थात् पापमय जीवन से पूर्णतया मुक्त हैं, इस भौतिक प्रकृति के मोहमय द्वैत से छुटकारा पा सकते हैं (*समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः*)। भगवान् कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

''जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उन्मूलन हो चुका होता है और जो मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं, संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।'' (भगवद्गीता ७.२८) इस श्लोक के तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद ने कहा है, ''इस श्लोक में उन लोगों का उल्लेख है, जो दिव्य-पद प्राप्त करने के अधिकारी हैं। जो पापी, नास्तिक, मूर्ख तथा कपटी हैं, उनके लिए इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व को पार कर पाना कठिन है। केवल ऐसे पुरुष भक्ति स्वीकार करके क्रमशः भगवान् के शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिन्होंने धर्म के विधि-विधानों का अभ्यास करने में अपना जीवन लगाया है और पुण्यकर्म किए हैं और पापकर्मों को जीता है। फिर वे क्रमशः भगवान् का ध्यान समाधि में कर सकते हैं। आध्यात्मिक पद पर आसीन होने की यही विधि है। ऐसी पद-प्राप्ति शुद्ध भक्तों की संगति में कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत ही सम्भव है, क्योंकि महान् भक्तों की संगति से ही मनुष्य मोह से उबर सकता है।''

श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से यह कथन उद्धृत किया है कि ''मनुष्य को दिव्य ग्रंथों में, जैसे कि *श्रीमद्भागवत* तथा भगवान् की महिमा से सम्बन्धित अन्य साहित्य में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। उसे वैष्णव तंत्रों, मूल वेदों तथा पंचम वेद माने जाने वाले ग्रंथ *महाभारत* में जिसका *भगवद्गीता* एक भाग है, विश्वास होना चाहिए। वैदिक ज्ञान मूलतः विष्णु की श्वास से उत्पन्न हुआ और विष्णु के अवतार श्रील व्यासदेव द्वारा वैदिक साहित्य का संकलन साहित्य-रूप में किया गया। इसलिए भगवान् विष्णु को समस्त वैदिक साहित्य का वक्ता मानना चाहिए।

अन्य वैदिक ग्रन्थ *कला विद्या* कहलाते हैं, जिनमें भौतिक कलाओं तथा विज्ञानों के विषय में शिक्षाएँ हैं। चूँकि इन समस्त वैदिक कलाओं तथा विज्ञानों का चरम उद्देश्य भगवान् केशव की भक्ति में उनको प्रयुक्त करना है, इसलिए सन्यासियों को ऐसे संसारी साहित्य की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिए। चूँकि इन ग्रंथों का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भगवान् से रहता है, इसलिए इनकी निन्दा करने से नरक जाना पड़ सकता है।

''*श्रद्धा* सूचक है श्रद्धामयी मनोवृत्ति की, जिसे दो प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार की श्रद्धा वह दृढ़ संकल्प है कि विविध वैदिक ग्रंथों के सभी कथन सत्य हैं। दूसरे शब्दों में, यह समझना है कि वैदिक ज्ञान अच्युत है, *श्रद्धा* है। दूसरे प्रकार की श्रद्धा यह विश्वास है कि कोई मनुष्य अपना जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने के लिए किसी विशेष वैदिक आदेश को स्वयं पूरा करे। इस प्रकार भगवद्भक्त को चाहिए कि विविध *कला-विद्याओं* के प्रति प्रथम प्रकार की श्रद्धा का प्रयोग करे, किन्तु ऐसे शास्त्रों को अपने निजी जीवन-लक्ष्य का निर्देशक न माने। न ही वह किसी ऐसे वैदिक आदेश का पालन करे, जो *पञ्चरात्र* जैसे वैष्णव शास्त्रों के आदेशों के विरुद्ध हो।

''इस तरह मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का वर्णन करने वाले समस्त वैदिक साहित्य को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करे और उसके किसी भी अंश की निन्दा न करे। किसी भी वैदिक साहित्य की निन्दा से ब्रह्मा से लेकर वृक्ष एवं पत्थर की जड़ योनियों तक के हर प्राणी को अज्ञान के अंधकार में गिर जाना होता है। इस तरह *सुरों* अर्थात् देवताओं या कि महर्षियों तथा भगवद्भक्तों को समझना चाहिए कि पञ्चरात्रिक ग्रंथ, चारों *वेद,* मूल *रामायण, श्रीमद्भागवत* तथा अन्य पुराण एवं *महाभारत*—ये सभी वैदिक साहित्य हैं, जो भगवान् की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करते हैं और भगवद्भक्तों की आध्यात्मिक

प्रगति के अनुसार उनके अद्वितीय दिव्य पद को बतलाने वाले हैं। वैदिक साहित्य के प्रति अन्य कोई दृष्टिकोण मोह माना जायेगा। किसी भी धार्मिक शास्त्र का चरम लक्ष्य यह समझना है कि भगवान् हर एक के नियन्ता हैं और भगवद्भक्त उनसे भिन्न नहीं है यद्यपि ऐसे भगवद्भक्तों को उनकी आध्यात्मिक प्रगति के स्तर के अनुसार मानना चाहिए।''

भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो। वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्*— समस्त वेदों से मुझे ही जानना चाहिए, मैं वेदान्त का रचयिता हूँ और वेदों का ज्ञाता हूँ। इसी प्रकार वे कहते हैं (भगवद्गीता १५.१८)—

यस्मात् क्षरमातीतोऽहम् अक्षरादपिचोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

''चूँकि मैं क्षर तथा अक्षर दोनों से परे हूँ और चूँकि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, अतएव मैं इस जगत में तथा वेदों में परम पुरुष के रूप में विख्यात हूँ।''

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि प्रामाणिक वैष्णव गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना पिछले श्लोकों में वर्णित दैवी गुणों को उत्पन्न कर पाना कठिन है। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*। इस सन्दर्भ में उन्होंने निम्नलिखित वक्तव्य उद्धृत किया है—

अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान् नार्चयेत् तु यः।

न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः॥

''जो व्यक्ति भगवान् गोविन्द की पूजा करता है, किन्तु उनके भक्तों की पूजा नहीं करता, उसे भगवद्भक्त नहीं, अपितु मिथ्या अहंकार से ग्रस्त समझना चाहिए।'' जिसने कृष्ण के शुद्ध भक्त के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है, उसके लिए भगवान् की पूजा करना बहुत सरल हो जाता है।

ऐसे शरणागत के लिए कृत्रिम तपस्या की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *नारद पञ्चरात्र* से निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं

नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।

अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं

नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥

"यदि कोई भगवान् हरि की पूजा करता है, तो फिर बाह्य तपस्या करने से क्या लाभ? और यदि कोई भगवान् हरि को नहीं पूजता तो ऐसी तपस्या उसे बचा नहीं सकती। यदि कोई यह समझ लेता है कि हरि अन्दर तथा बाहर सर्वव्यापक हैं, तो फिर तपस्या करने की आवश्यकता क्या है? और यदि कोई यह नहीं समझ सकता कि हरि सर्वव्यापक हैं, तो उसकी सारी तपस्या व्यर्थ है।" एक वैष्णव कृष्ण की भक्ति करने में सदैव संलग्न रहता है। यदि किसी भक्त को अपनी तपस्या का मिथ्या गर्व हो जाता है और यदि वह कृष्ण की सेवा न करके भौतिक वस्तुओं को स्वीकार तथा अस्वीकार करने में मन लगाता है, तो उसकी तथाकथित तपस्या भक्ति के मार्ग में अवरोध बन जाती है।

भक्त को उन लोगों के वाग्जाल से विचलित नहीं होना चाहिए जो भगवद्भक्ति के विरुद्ध रहते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने दो-टूक शब्दों में कहा है कि जीवन की अन्तिम सिद्धि पाने का एकमात्र साधन भगवान् के चरणकमलों की भक्ति है। इसलिए वैष्णव को *मौनम्* का अभ्यास करना चाहिए और उसे मायावादी साहित्य जो मिथ्या तर्कों से भरा पड़ा है तथा कर्मकाण्ड साहित्य जिनसे धार्मिक जीवन के नाम पर इन्द्रिय-तृप्ति को बढ़ावा मिलता है, इनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। यदि आत्म-साक्षात्कार में तुरन्त सफलता न मिलने से कोई व्यक्ति दुखी रहता है अथवा यदि कोई इन्द्रिय-तृप्ति से मोहग्रस्त हो जाता है और भौतिकतावादी पुरुषों तथा सिद्धान्तों की शरण में जाने का प्रयास करता है, तो उसकी भक्ति की प्रगति तुरन्त रुक जायेगी। इसी तरह यदि कोई भक्त कृष्ण से भिन्न वस्तुओं के प्रति प्रेमव्यक्त करता है या भक्ति की विधि अथवा *भगवद्गीता* के दर्शन में त्रुटियाँ निकालता है, जिससे वह कृष्ण से पृथक् वस्तुओं को देख कर इन्द्रियतृप्ति में लीन होने को उचित सिद्ध कर सके, तो आध्यात्मिक प्रकाश मिलने में उसे कठिनाई होगी। ऐसी मोहमयी विचारधारा *द्वितीयाभिनिवेश* अर्थात् मोह में तल्लीनता कहलाती है। इसके विपरीत, यदि कोई व्यक्ति वैष्णव परम्परा से स्वीकृत वैदिक ध्वनि के प्रति आकृष्ट होता है और *कृष्ण-नाम-कीर्तन* में उत्साहपूर्वक लग जाता है, तो उसका मौन अभ्यास पूर्ण है।

प्रजल्प अर्थात् भक्ति से सम्बन्ध न रखने वाली व्यर्थ की मनमानी बातों से बचना चाहिए। भगवान् की महिमा के कीर्तन तथा गायन के बिना दिखावटी रूप में इन्द्रिय-संयम रखना आध्यात्मिक सिद्धि

नहीं माना जा सकता। यहाँ पर यह उदाहरण दिया जा सकता है कि गोशाला के बहुत-से पालतू पशुओं को एक-दूसरे से विलग करके उन्हें ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कराया जाता है, किन्तु ऐसे पशुओं को ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता। इसी तरह केवल शुष्क मनमाने तर्कों तथा क्षणिक तपस्या के आधार पर किसी को आध्यात्मिक रूप से बढ़ा-चढ़ा नहीं माना जा सकता। उसे विनीत भाव से वैदिक ध्वनि के सन्देश को, जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में सार रूप में दिया है, सुनना चाहिए। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।*

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने हमें आगाह किया है कि यदि व्यक्ति बौद्धों तथा जैनों के नास्तिक दर्शनों के प्रति आकृष्ट हो जाता है, जिनमें अहिंसा जैसे संसारी सिद्धान्त का गुणगान हुआ है, तो ईश्वरविहीन नीति-शास्त्र में उसकी श्रद्धा आत्मघाती है। कृत्रिम तपस्या द्वारा इन्द्रियों को वश में करना और सामूहिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए विशाल सामाजिक आयोजन करना, दोनों ही मानव-समाज को कृत्रिम रूप से नियमित करने का ईश्वरविहीन प्रयास है, जिससे समाज के प्राकृतिक नेता भगवान् के साथ हर व्यक्ति का नित्य सम्बन्ध छिप जाता है। जब तथाकथित नैतिक दार्शनिक मानव-जीवन के कृष्ण के साथ शाश्वत सम्बन्ध को पुनर्जीवित करने के अवसर को नष्ट कर देते हैं, तो ऐसे मूर्ख व्यक्ति नीति के नाम पर मानव समाज पर सबसे बड़ी हिंसा करते हैं। इसीलिए कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने कहा है—

श्रीकृष्णचैतन्य-दया करह विचार।
विचार करिले चित्ते पाबे चमत्कार॥

“यदि आप सचमुच ही तर्क-शास्त्र में रुचि रखते हैं, तो उनका उपयोग श्री चैतन्य महाप्रभु की दया में कीजिए। यदि आप ऐसा करेंगे, तो आप देखेंगे कि ऐसी दया अतीव अद्भुत है।” (चैतन्य चरितामृत, आदि ८.१५)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *महाभागवत* वह है, जो केवल इतना ही नहीं देखता कि भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत दोनों ही भगवान् कृष्ण के अंश होने के कारण उनसे अभिन्न हैं, अपितु जो यह भी देखता है कि व्रजेन्द्र-नन्दन कृष्ण अपने सर्व-आकर्षण के अद्वितीय गुण के कारण अपने को सदैव पृथक् रखते हैं। इस तरह भगवान् का शुद्ध भक्त *अनिकेतन*—अर्थात् स्थायी

आवास से विहीन होता है, जिसका भाव यह है कि वह न तो स्थूल शरीर को, न ही सूक्ष्म शरीर को अपना नित्य आवास मानता है। चूँकि मनुष्य का तथाकथित घर तथा परिवार उसके शरीर के ही अंश होते हैं, इसलिए ऐसी भौतिक सृष्टियों को भी किसी का वास्तविक आवास नहीं माना जाना चाहिए। चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं माम् विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपंकजस्थितधूलिसदृशं विचिन्तय॥

"हे महाराज नन्द के पुत्र, कृष्ण! मैं आपका नित्य सेवक हूँ फिर भी मैं जन्म तथा मृत्यु के सागर में गिर गया हूँ। कृपया मुझे इस मृत्यु-सागर से उठा लें और अपने चरणकमलों में धूलिकण के रूप में स्थान दे दें।" (शिक्षाष्टक ५) इस तरह भक्त को समझना चाहिए कि उसका नित्य आवास भगवान् के चरणकमलों की धूलि में स्थित है। वैष्णव को सतोगुण के जंगल, रजोगुण के शहर या तमोगुण के जुआ-घर में रहने की स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति को ठुकरा देना चाहिए। शुद्ध भक्त पूरे संसार में कृष्णभावनामृत का वितरण करते हुए यात्रा कर सकता है, किन्तु उसे किसी भौतिक स्थान को अपना वास्तविक आवास नहीं समझना चाहिए। जो इस ज्ञान में परिपक्व हो चुका हो, उसे भगवान् की शरण में *त्रिदण्डसंन्यास* धारण कर लेना चाहिए।

निर्विशेषवादी यह नहीं समझ सकता कि भगवद्भक्त किस तरह समस्त जगत को भगवान् से अभिन्न देखता है, जबकि वह स्वयं को भगवान् से नित्य भिन्न देखने की द्वैत-भावना में स्थिर है। जो लोग निर्विशेष चिन्तन द्वारा भौतिक विराट जगत के अपने तुच्छ अनुभव पर आधारित ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, वे *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* की दिव्य वास्तविकता को नहीं समझ सकते। इस दिव्य ज्ञान को आत्मसात् करने की विधि *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत* से प्रारम्भ होने वाले श्लोकों में दी गई है। मनुष्य के लिए यह संस्तुति की गई है कि वह प्रामाणिक गुरु बनाकर इन श्लोकों में दिये हुए निर्देशों के अनुसार उसकी सेवा करे। ऐसे आदेशों का सार यह है कि मनुष्य मायावादियों, सकाम कर्मियों तथा जीवन के चरम लक्ष्य के प्रति उदास रहने वालों का संग त्याग दे और भगवान् के भक्तों की संगति करे। मिथ्या गर्वित नवदीक्षित भक्त भगवान् के अनुयायियों की संगति न करने से अपने आपको

भगवान् का बहुत बड़ा भक्त मान सकता है, किन्तु ऐसी संगति के बिना कृष्णभावनामृत में प्रगति कर पाना सम्भव नहीं है।

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥ २७॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

श्रवणम्—सुनना; कीर्तनम्—कीर्तन करना; ध्यानम्—तथा ध्यान करना; हरेः—भगवान् हरि के; अद्भुत-कर्मणः—जिनके कार्यकलाप अद्भुत हैं; जन्म—उसके अवतारों; कर्म—लीलाओं; गुणानाम्—गुणों के; च—तथा; तत्-अर्थे—उसके निमित्त; अखिल—समस्त; चेष्टितम्—प्रयास; इष्टम्—जो भी पूजा की जाती है; दत्तम्—जो भी दान; तपः—तपस्या; जप्तम्—जो भी मंत्र जपता है; वृत्तम्—पुण्यकर्म; यत्—जो; च—भी; आत्मनः—अपने लिए; प्रियम्—प्रिय; दारान्—पत्नी; सुतान्—पुत्रों; गृहान्—घर; प्राणान्—प्राण; यत्—जो; परस्मै—ब्रह्म को; निवेदनम्—भेंट।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के अद्भुत दिव्य कार्यकलापों के विषय में सुने, उनका गुणगान करे और ध्यान करे। उसे विशेष रूप से भगवान् के प्राकट्यों, कार्यकलापों, गुणों तथा पवित्र नामों में लीन रहना चाहिए। इस प्रकार प्रेरित होकर उसे अपने नैत्यिक समस्त कार्य भगवान् को अर्पित करते हुए सम्पन्न करने चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि केवल भगवान् की तुष्टि के लिए ही यज्ञ, दान तथा तप करे। इसी तरह वह केवल उन्हीं मंत्रों का उच्चारण करे, जो भगवान् की महिमा का गायन करते हों। उसके सारे धार्मिक कृत्य भगवान् की भेंट के रूप में सम्पन्न हों। उसे जो भी वस्तु अच्छी या भोग्य लगे, उसे वह तुरन्त भगवान् को अर्पित कर दे। यहाँ तक कि वह अपनी पत्नी, बच्चे, घर तथा अपने प्राण भी भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित कर दे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् कृष्ण ने आदेश दिया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्ती-पुत्र! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ अर्पित करते हो या दान देते हो और जो भी तपस्या करते हो, उसे मुझे भेंट स्वरूप दो।" श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है, "इस प्रकार यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि

वह किसी भी दशा में कृष्ण को भूल न पाये। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करना पड़ता है और कृष्ण यहाँ यह आदेश देते हैं कि हर व्यक्ति उनके लिए ही कर्म करे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ खाना पड़ता है। अत: उसे चाहिए कि वह कृष्ण को अर्पित भोजन का उच्छिष्ट ग्रहण करे। किसी भी सभ्य व्यक्ति को कुछ न कुछ धार्मिक अनुष्ठान करने होते हैं, अत: कृष्ण की संस्तुति है, ''इसे मेरे हेतु करे, यही अर्चन है।'' प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ दान देता है, अत: कृष्ण कहते हैं, ''यह मुझे दो,'' जिसका अर्थ है कि फालतू बचे हुए धन का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन की उन्नति के लिए करो। आजकल लोग ध्यान-विधि के प्रति विशेष रुचि दिखाते हैं, यद्यपि इस युग के लिए यह व्यावहारिक नहीं है, किन्तु यदि कोई चौबीसों घण्टे हरे कृष्ण का जाप अपनी माला में करे, तो वह निश्चित रूप से महानतम योगी है, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता के छठे अध्याय में की गई है।''

अनेक व्यक्ति, जो कृष्ण-भक्ति की ओर आकृष्ट होते हैं, वे अपने पूर्वकर्मों द्वारा संचित भौतिक सम्पत्ति, यश या निपुणता द्वारा मोहग्रस्त होते रहते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार ये दोनों श्लोक यह सूचित करते हैं कि पूर्वकर्म द्वारा किसी के संचित भौतिक ऐश्वर्य का उपयोग भगवान् को भेंटरूप में होना चाहिए। अपनी कीर्ति, शिक्षा, सम्पत्ति इत्यादि का उपयोग भगवान् के मिशन को पूरा करने में करना चाहिए। कभी कभी ईर्ष्यालु भौतिकतावादी यह प्रश्न करते हैं कि कोई अपनी सम्पत्ति तथा शिक्षा को भगवान् की सेवा में लगाकर क्यों व्यर्थ जाने दे, जबकि इनका उपयोग नश्वर शरीर की तुष्टि के हेतु इससे अच्छे ढंग से किया जा सकता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि हमारे पास इस शरीर सहित जो कुछ भी है, वह अन्ततोगत्वा भगवान् की सम्पत्ति है, जो कि समस्त ब्रह्माण्ड का स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता है। इसलिए अपने तथाकथित ऐश्वर्य को भगवान् की भक्ति में लगाकर धन्य हो जाना चाहिए। अन्यथा जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है *मृत्यु: सर्वहरश्चाहम्*—भगवान् मृत्यु के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होकर हमारा सबकुछ जबरदस्ती ले लेंगे। इसलिए ऐसी सम्पत्ति को जीवित रहते शान्तिपूर्वक भगवान् के चरणकमलों पर भेंट कर देना चाहिए, ताकि हम इस भेंट का पुण्य फल भोग सकें।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *तप:* का अर्थ है कि एकादशी जैसे व्रत रखे जाँय, जिनमें मनुष्य अन्न तथा बीज-फलियाँ मास में दो बार नहीं खाता। *जपम्* शब्द द्योतक है भगवान् के

नामों के उच्चारण का यथा हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे/हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का कीर्तन। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने यह भी इंगित किया है कि मनुष्य अपने परिवार को भगवद्भक्त बनाकर अपनी पत्नी, पुत्र तथा घर भगवान् को अर्पित कर दे। तथाकाथित पद की खोज में गर्वित न रह कर परिवार को यह समझने के लिए प्रशिक्षित किया जाय कि वे भगवान् के नित्य दास हैं। और जब पूरा परिवार भगवान् की सेवा में दत्तचित्त रहता है, तो अतीव उत्तम स्थिति उत्पन्न होती है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यह इंगित किया है कि यदि मनुष्य को *भागवत धर्म* में दीक्षित नहीं किया जाता, तो वह अपनी स्थूल इन्द्रियों से प्राप्त अनिश्चित ज्ञान पर निर्भर रहेगा। भगवान् के प्राकट्यों, लीलाओं तथा असंख्य दिव्य गुणों के उदात्त वर्णनों से उदासीन रह कर श्रद्धाहीन भौतिकतावादी व्यक्ति संसारी भोग के मंच पर विचरण करता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् की वास्तविकता को समझ लेता है, जैसाकि प्रामाणिक वैदिक साहित्य में उनका वर्णन हुआ है, तो उसे *त्रिदण्डसंन्यास* स्वीकार कर लेना चाहिए या कम से कम शरीर, मन तथा वाणी पर संयम का अभ्यास करना चाहिए और इस तरह आत्मसंयमी होना चाहिए तथा परम सत्य में स्थिर हो जाना चाहिए। तब उसकी सारी इच्छाएँ, उसका दिया हुआ सारा दान तथा उसकी सारी तपस्या एवं मंत्रों का उच्चारण—दूसरे शब्दों में उसका सारा व्यक्तित्व, घर, सन्तान, पत्नी और प्राण तक—भगवान् के प्रति हार्दिक भेंट बन जाते हैं। जब जीव भगवान् के प्रामाणिक विवरणों का निरन्तर श्रवण करता है और दूसरे कार्यकलापों से बच कर अपने सारे कार्यों को भगवान् की सेवा में लगा देता है, तो उसे *भागवत धर्म* के मंच पर स्थिर माना जाता है।

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥ २९॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; कृष्ण-आत्म-नाथेषु—जो लोग कृष्ण को अपनी आत्मा का स्वामी मानते हैं, उन; मनुष्येषु—मनुष्यों के लिए; च—तथा; सौहृदम्—मैत्री; परिचर्याम्—सेवा; च—तथा; उभयत्र—(चर तथा अचर अथवा भगवान् तथा उनके भक्त) दोनों के प्रति की गई; महत्सु—(विशेषतया) भगवद्भक्तों में से; नृषु—मनुष्यों में से; साधुषु—सन्त आचरण वालों में से।

जो अपने चरम स्वार्थ का इच्छुक है, उसे उन व्यक्तियों से मैत्री करनी चाहिए, जिन्होंने कृष्ण को अपना जीवन-नाथ मान लिया है। उसे समस्त जीवों के प्रति सेवाभाव भी उत्पन्न करना

चाहिए। उसे मनुष्य-रूप में पैदा हुए लोगों की और इनमें से विशेष रूप से उनकी सहायता करनी चाहिए, जो धार्मिक आचरण के सिद्धान्त को अपनाते हैं। धार्मिक व्यक्तियों में से भगवान् के शुद्ध भक्तों की सेवा की जानी चाहिए।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भगवद्भक्तों का सर्वोपरि कर्तव्य है उन लोगों के साथ मैत्री स्थापित करना, जो पूर्ण रूप से कृष्ण के शरणागत हैं और इस तरह जिन्होंने *शरणागति* प्राप्त कर ली है। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् तथा उनके भक्त दोनों की सेवा करे, क्योंकि अपने शुद्ध भक्तों की सेवा किये जाने से भगवान् अधिक प्रसन्न होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह न केवल औपचारिक तौर पर भगवान्, उनके भक्तों तथा उनकी पूज्य साज-सामग्री को नमस्कार करे, अपितु वह वास्तव में भगवान् के प्रतिनिधियों की सेवा करे, जो *महाभागवत* कहलाते हैं।

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

परस्पर—एक-दूसरे से; अनुकथनम्—विचार-विमर्श; पावनम्—पवित्रकारी; भगवत्—भगवान् की; यशः—कीर्ति; मिथः—परस्पर; रतिः—प्रेमाकर्षण; मिथः—परस्पर; तुष्टिः—तुष्टि; निवृत्तिः—भौतिक कष्टों की समाप्ति; मिथः—परस्पर; आत्मनः—आत्मा का।

मनुष्य को चाहिए कि भगवद्भक्तों के साथ एकत्र होकर भगवान् की महिमा-गायन के लिए उनकी संगति करना सीखे। यह विधि अत्यन्त शुद्ध बनाने वाली है। ज्योंही भक्तगण इस प्रकार प्रेमपूर्ण मैत्री स्थापित कर लेते हैं, त्योंही उन्हें परस्पर सुख तथा तुष्टि का अनुभव होता है। इस प्रकार एक-दूसरे को प्रोत्साहित करके, वे उस भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति को त्यागने में सक्षम होते हैं, जो समस्त कष्टों का कारण है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार जो लोग कृष्णभावनामृत में उन्नत हैं, उन्हें चाहिए कि वे न तो परस्पर ईर्ष्या करें, न झगड़ें। ऐसी संसारी भावनाएँ त्याग कर, उन्हें एक स्थान पर एकत्र होना चाहिए और परस्पर शुद्धि के लिए भगवान् के यश का गायन करना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् का महिमा-गायन शुद्ध भक्तों की संगति में सम्पन्न होने पर विशेष रूप से शक्तिशाली होता है। जब भक्तगण संकीर्तन में संलग्न रहते हैं और भगवत् महिमा का गायन इकट्ठे मिल कर करते हैं, तो उन्हें सर्वोच्च आनन्द तथा तुष्टि मिलती है। इस तरह वे एक-दूसरे को उस

भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति का परित्याग करने के लिए प्रेरित करते हैं, जो स्त्रियों के साथ अवैध भोग-विलास करने पर आधारित होती है। एक भक्त दूसरे से कहता है, "ओह! आपने तो इन्द्रिय तृप्ति छोड़ दी है। आज से मैं भी इसको छोड़े देता हूँ।"

मनुष्य को भक्तों के प्रति प्रेम बढ़ाना, उन्हें तुष्ट करना तथा कृष्ण-सेवा के प्रतिकूल इन्द्रिय-विषयों का परित्याग करना सीखना चाहिए। यही नहीं उसे इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भगवान् की सेवा के लिए साज-सामग्री के रूप में देखना सीखना चाहिए। इन्द्रिय-विषयों को कृष्ण की सेवा में लगाने से मनुष्य स्वत: इन सबों से विरक्त हो जाता है। ज्यों ज्यों वह भगवद्भक्तों की संगति में अपने दिन बिताता है, उसका दिव्य आनन्द *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* के वृत्तान्त और उनकी चर्चाएँ सुन कर बढ़ता जाता है। इसलिए जो व्यक्ति इन्द्रिय-तृप्ति के रूप में माया के उत्पीड़न से छूटना चाहता है, उसे उन शुद्ध भगवद्भक्तों की निरन्तर संगति करनी चाहिए, जिनके पास भगवान् के यशोगान तथा श्रवण और इस धरा पर उनके मिशन को पूरा करने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं है।

श्रील मध्वाचार्य ने इंगित किया है कि जिस तरह मनुष्य को भक्तों के साथ मित्रता करनी चाहिए, उसी तरह उसे देवताओं की ओर मैत्री की भावना का अनुशीलन करना चाहिए, क्योंकि देवगण ब्रह्माण्ड का भगवान् की ओर से संचालन करते हैं। इस तरह मनुष्य को इस संसार में शान्तिपूर्वक रहना चाहिए।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्मरन्तः—स्मरण करते हुए; स्मारयन्तः च—तथा स्मरण दिलाते हुए; मिथः—परस्पर; अघ-ओघ-हरम्—भक्त से समस्त अशुभ वस्तुओं को ले लेने वाला; हरिम्—भगवान् को; भक्त्या—भक्ति द्वारा; सञ्जातया—जगाया हुआ; भक्त्या—भक्ति द्वारा; बिभ्रति—धारण करते हैं; उत्पुलकाम्—पुलकायमान; तनुम्—शरीर को।

भगवद्भक्तगण परस्पर भगवान् की महिमा का निरन्तर बखान करते हैं। इस प्रकार वे निरन्तर भगवान् का स्मरण करते हैं और एक-दूसरे को उनके गुणों तथा लीलाओं का स्मरण कराते हैं। इस तरह से भक्तियोग के नियमों के प्रति अपनी अनुरक्ति से भक्तगण भगवान् को प्रसन्न करते हैं, जो उनके सारे अशुभों को हर लेते हैं। समस्त व्यवधानों से शुद्ध होकर भक्तगण

शुद्ध भगवत्प्रेम जगा लेते हैं और इस प्रकार इस जगत में रहते हुए भी उनके आध्यात्मीकृत शरीरों में दिव्य आनन्द (भाव) के लक्षण—यथा रोमांच—प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : *अघौघहरम्* शब्द इस श्लोक में अत्यन्त सार्थक है। *अघ* द्योतक है अशुभ या पापमय का। जीव वस्तुत: *सच्चिदानन्द विग्रह* है, किन्तु भगवान् कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध की उपेक्षा करके वह पापकर्म करता है और भौतिक कष्ट के रूप में अशुभ फल भोगता है। पापकर्मों की शृंखला *ओघ* कहलाती है। कृष्ण *अघौघहरं हरिम्* हैं। वे अपने भक्तों के पापकर्मों को हर लेते हैं, जो इस तरह इस जगत में रहते हुए भी भगवद्धाम के अचिन्त्य आनन्द का अनुभव करने के अधिकारी हो जाते हैं।

भक्त्या सञ्जातया भक्त्या शब्द यह सूचित करते हैं कि भक्तियोग के दो विभाग हैं—*साधन भक्ति* तथा *रागानुग भक्ति।* श्रील प्रभुपाद ने *भक्तिरसामृतसिन्धु* नामक पुस्तक में साधन भक्ति अर्थात् विधि-विधान के पालन से रागानुग भक्ति अर्थात् भगवत् प्रेम में की गई सेवा तक भक्त के पहुँचने की विस्तार से व्याख्या की है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार मुक्त जीव अपने शरीर के भीतर दिव्य भाव प्रकट होने के कारण सदैव प्रोत्साहित रहता है। इस तरह वह भगवान् हरि के गुणों का गान करते हुए भावविभोर रहने की आकांक्षा करता है।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; रुदन्ति—रोते हैं; अच्युत—अच्युत भगवान् के; चिन्तया—विचार से; क्वचित्—कभी; हसन्ति—हँसते हैं; नन्दन्ति—अतीव आनन्द लेते हैं; वदन्ति—बोलते हैं; अलौकिकाः—आश्चर्यजनक रीति से अभिनय करते हुए; नृत्यन्ति—नाचते हैं; गायन्ति—गाते हैं; अनुशीलयन्ति—तथा अनुकरण करते हैं; अजम्—अजन्मा; भवन्ति—बन जाते हैं; तूष्णीम्—मौन; परम्—ब्रह्म; एत्य—प्राप्त करके; निर्वृताः—दुख से मुक्त।

भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेने पर भक्तगण अच्युत भगवान् के विचार में मग्न होकर कभी जोर से निनाद हैं। कभी हँसते हैं, कभी अगाध आनन्द का अनुभव करते हैं, भगवान् से जोर से बातें करते हैं, नाचते या गाते हैं। ऐसे भक्तगण दिव्य भौतिक बद्धजीव की अवस्था को लाँघकर कभी कभी अजन्मा परमेश्वर की लीलाओं का अनुकरण करते हैं और कभी उनका दर्शन पाकर वे शान्त एवं मौन हो जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भगवत्प्रेम के लक्षणों की विवेचना की है। *रुदन्ति:* भक्तगण यह सोचकर चिल्लाते हैं कि ''एक दिन और बीत गया किन्तु मुझे कृष्ण नहीं मिले। तो फिर मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ और कृष्ण तक पहुँचने में संभवत: कौन मेरी सहायता कर सकता है?'' *हसन्ति:* रात काफी बीत चुकी है, आकाश में अंधकार छाया है और कृष्ण किसी वृद्धा गोपी के घर से चुराने की घात में हैं। वे किसी ग्वाले के आँगन के एक कोने में वृक्ष के नीचे छिपे हैं। यद्यपि कृष्ण सोचते हैं कि वे पूरी तरह छिपे हैं, किन्तु परिवार के किसी वृद्धजन की सहसा आवाज सुनते हैं, ''तुम कौन हो? तुम हो कौन? मैं पूछता हूँ।'' इस तरह कृष्ण पकड़े जाते हैं और वे आँगन से भागने लगते हैं। जब यह हँसी से युक्त दृश्य भक्त के समक्ष प्रकट होता है, तो वह जी-भरकर हँसता है। *नन्दन्ति:* जब कृष्ण अपना दिव्य रूप भक्त को दिखलाते हैं, तो उसे सर्वोच्च दिव्य आनन्द मिलता है। *वदन्ति:* भक्तगण भगवान् से कहते हैं, ''हे कृष्ण! मैंने कितने दिनों के बाद आज तुम्हें पा ही लिया!''

जब भक्त की सारी इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण में लीन हो जाती हैं, तो भक्त इस भव-सागर को सफलतापूर्वक पार कर जाता है। इसका संकेत *अलौकिका:* शब्द द्वारा हुआ है। *अलौकिका:* या दिव्य पद की व्याख्या *भगवद्गीता* (१४.२६) में मिलती है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो समस्त परिस्थितियों में एकान्त भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है और किसी भी परिस्थिति में गिरता नहीं, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के पद तक पहुँच जाता है।''

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *अजं हरिम्, अनुशीलयन्ति तल्लीलामभिनयन्ति।* ''*अनुशीलयन्ति* यह सूचित करता है कि भक्तगण कभी कभी परम आनन्दित होकर भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करते हैं।'' यह भाव-लक्षण गोपियों द्वारा कृष्ण की अनुपस्थिति में वृन्दावन में प्रकट हुआ था।

इस अध्याय के २१वें श्लोक में यह कहा गया था कि जिसने यह समझ लिया है कि पृथ्वी पर या भौतिक स्वर्ग में कोई सुख नहीं है, उसे प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों में शरण लेनी चाहिए। *तस्माद्*

गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। उसके बाद के श्लोकों में प्रामाणिक शिष्य के कार्यों के सम्बन्ध में कई विस्तृत आदेश दिये गये। अब इस श्लोक में भक्ति के पक्व फल—शुद्ध भगवत्प्रेम—का वर्णन हुआ है। हर व्यक्ति को कृष्ण के प्रतिनिधि की चरण-धूलि सिर पर धारण करने पर यह दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। उसे ईर्ष्या तथा मिथ्या प्रतिष्ठा की मनोवृत्ति त्याग कर भगवान् की कृपा की शरण ग्रहण करनी चाहिए। गुरु को भगवत्कृपा का अवतार मानना चाहिए। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि जो निष्ठावान व्यक्ति अपने प्रामाणिक गुरु की सेवा करता है, उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि (*श्रेय उत्तमम्*) प्राप्त होगी। भगवद्धाम में वह दिव्य आनन्द तथा ज्ञान का भोग करेगा।

इति भागवतान्धर्मान्शिक्षन्भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; भागवतान् धर्मान्—भक्ति के विज्ञान को; शिक्षन्—अध्ययन करते हुए; भक्त्या—भक्ति द्वारा; तत्-उत्थया—इससे उत्पन्न; नारायण-परः—भगवान् नारायण में समर्पित; मायाम्—माया को; अञ्जः—सरलता से; तरति—पार कर जाता है; दुस्तराम्—लाँघ पाना कठिन।

इस तरह भक्ति-विज्ञान को सीख कर तथा भगवद्भक्ति में व्यावहारिक रूप से संलग्न रह कर भक्त भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त होता है। और भगवान् नारायण की पूर्ण भक्ति द्वारा भक्त सरलता से उस माया को पार कर लेता है, जिसे लाँघ पाना अत्यन्त ही कठिन है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने संकेत किया है कि इस श्लोक में जिस मुक्ति का वर्णन *मायाम् अञ्जस् तरति दुस्तराम्* शब्दों द्वारा हुआ है, वह वास्तव में शुद्ध भगवत्प्रेम का गौण फल है। *श्रीमद्भागवतम्* के द्वितीय श्लोक में यह इंगित हुआ है—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां।

वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्॥

श्रीमद्भागवत भक्ति-विज्ञान को सिखाता है, जिसमें चरम लक्ष्य शुद्ध भगवत्प्रेम होता है। वैष्णव आचार्यों के अनुसार, मुक्ति भगवत्प्रेम का गौण फल है। *शिवदम् तापत्रयोन्मूलनम्* मनुष्य को मुक्ति के लिए भगवान् के पास नहीं पहुँचना चाहिए क्योंकि भगवान् का आदेश पालन करने से वह स्वतः मुक्त हो जाता है। कृष्ण का आदेश *भगवद्गीता* के अन्त में दिया हुआ है : *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* हर जीव को अपनी संसारी विचारधारा त्याग कर भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

इस आदेश का पालन करने वाले को भगवान् स्वयमेव मुक्ति प्रदान करते हैं। वास्तविक सुख किसी मानसिक चिन्तन या सकाम इच्छा के रंचमात्र के बिना प्रेमी ईश्वर से प्राप्त होता है।

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

''मनुष्य को चाहिए कि अनुकूल होकर तथा सकाम कर्म या काल्पनिक ज्ञान द्वारा भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करनी चाहिए। इसे ही शुद्ध भक्ति कहते हैं।'' (भक्तिरसामृतसिन्धु १.१.११) इस तरह यहाँ पर वर्णित माया के दुर्लंघ्य समुद्र को पार करना भागवत धर्म का मुख्य फल नहीं है, अपित शुद्ध भगवत्प्रेम का गौण फल है।

श्रीराजोवाच
नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; नारायण-अभिधानस्य—नारायण नामक भगवान् का; ब्रह्मणः—परब्रह्म का; परम-आत्मनः—परमात्मा का; निष्ठाम्—दिव्य स्थिति; अर्हथ—कृपया; नः—हमसे; वक्तुम्—कहें; यूयम्—आप सभी; हि—निस्सन्देह; ब्रह्म-वित्-तमाः—ब्रह्म के परम दक्ष ज्ञाता।

राजा निमि ने कहा : अतः कृपा करके मुझे उन भगवान् नारायण के दिव्य पद को बतलायें, जो साक्षात् परब्रह्म तथा हर एक के परमात्मा हैं। आप मुझसे कहें, क्योंकि आप सभी जन दिव्य ज्ञान में परम निष्णात हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, पिछले श्लोक में मुनियों ने राजा को बतलाया कि *नारायणपरो मायाम् अञ्जस्तरति दुस्तराम्*—भगवान् नारायण की शुद्ध भक्ति से ही माया के सागर को सरलता से पार किया जा सकता है। इसलिए इस श्लोक में राजा भगवान् नारायण के विषय में उनसे विशेष जानकारी चाहता है। इस श्लोक की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राजा ने भगवान् के लिए नारायण, ब्रह्म तथा परमात्मा का प्रयोग किया है। यद्यपि राजा निमि को भगवद्भक्त माना जाता है, किन्तु वह अपने प्रश्न द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि भगवान् सर्वोच्च दिव्य-सत्य हैं। *भागवत* (१.२.११) में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते॥

"विद्वान अध्यात्मवादीजन, जिन्हें परब्रह्म का ज्ञान है, इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कह कर पुकारते हैं।" इसलिए इस श्लोक में आये *नारायण* शब्द से वैकुण्ठवासी परमेश्वर के भगवान् रूप को ही समझना चाहिए।

सामान्य रूप से काल्पनिक ज्ञानीजन परब्रह्म के निर्विशेष ब्रह्म रूप के प्रति आकृष्ट रहते हैं, जबकि योगीजन परमात्मा का ध्यान करते हैं, जो हर एक के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित हैं। दूसरी ओर, जिन्हें परिपक्व दिव्य ज्ञान प्राप्त हो चुका है, वे सीधे भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, जो अपने धाम वैकुण्ठ धाम में नित्य निवास करते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं *ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—मैं निर्विशेष ब्रह्म का स्रोत हूँ। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि क्षीरोदकशायी विष्णु, जो कि परमात्मा हैं, वे भगवान् कृष्ण के गौण स्वांश हैं। राजा निमि मुनियों से स्पष्ट कराना चाहते हैं कि भगवान् परब्रह्म के आदि स्वरूप हैं। इसलिए वे अपना यह प्रश्न नौ योगेन्द्रों में से पिप्पलायन के समक्ष रखते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *निष्ठा* शब्द का भावार्थ "दृढ़ विश्वास" के रुप में भी किया जा सकता है। इस अर्थ में, निमि महाराज भगवान् में पूर्ण श्रद्धा (*भगवन्निष्ठा*) उत्पन्न करने की विधि के विषय में पूछ रहे हैं।

श्रीपिप्पलायन उवाच
स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च ।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥ ३५॥

शब्दार्थ

श्री-पिप्पलायनः उवाच—श्री पिप्पलायन ने कहा; स्थिति—सृजन; उद्भव—पालन; प्रलय—तथा संहार; हेतुः—कारण; अहेतुः—बिना कारण के; अस्य—इस भौतिक ब्रह्माण्ड का; यत्—जो; स्वप्न—स्वप्न; जागर—जागृति; सुषुप्तिषु—गहरी निद्रा या अचेतनावस्था में; सत्—जो विद्यमान है; बहिः च—तथा इनसे बाहर; देह—जीवों के भौतिक शरीरों की; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आसु—प्राण-वायु; हृदयानि—तथा मन; चरन्ति—कार्य करते हैं; येन—जिससे; सञ्जीवितानि—जीवन प्रदत्त; तत्—वह; अवेहि—जानो; परम्—ब्रह्म रूप में; नर-इन्द्र—हे राजा।

श्री पिप्पलायन ने कहा : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही इस ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के कारण हैं, फिर भी उनका कोई पूर्व कारण नहीं है। वे जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति जैसी

विविध अवस्थाओं में व्याप्त रहते हैं और इनसे परे भी विद्यमान हैं। वे हर जीव के शरीर में परमात्मा रूप में प्रवेश करके शरीर, प्राण-वायु तथा मानसिक क्रियाओं को जागृत करते हैं, जिससे शरीर के सभी सूक्ष्म तथा स्थूल अंग अपने अपने कार्य शुरू कर देते हैं। हे राजन्, यह जान लें कि भगवान् सर्वोपरि हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में राजा निमि ने परब्रह्म के विविध पक्षों—नारायण, ब्रह्म तथा परमात्मा—के विषय में प्रश्न किया था। अब श्री पिप्पलायन मुनि परब्रह्म के इन तीनों स्वरूपों का उसी क्रम से वर्णन कर रहे हैं, जिस क्रम में राजा ने उनका उल्लेख किया था। *स्थित्युद्भवप्रलय हेतुः* भगवान् का सूचक है, जो तीन पुरुष अवतारों के रूप में अपना विस्तार करते हैं—ये हैं महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु। जैसाकि *भागवत* (१.३.१) में वर्णन आया है—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।

सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥

''सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने पुरुष अवतार का विराट रूप धारण किया और सृष्टि के समस्त अवयवों को प्रकट किया। इस प्रकार सर्वप्रथम सोलह तत्त्वों की सृष्टि हुई। ऐसा भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के लिए हुआ।'' इस प्रकार यहाँ पर भगवान् नारायण का उल्लेख *हेतुः* रूप में अर्थात् सृष्टि, पालन तथा संहार के परम कारण के रूप में हुआ है। तो भी भगवान् का कोई कारण नहीं है, वे *अहेतुः* हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में व्यक्त हुआ है—*अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।* भगवान् समस्त कारणों के कारण हैं और नित्य परब्रह्म होने के कारण उनका स्वयं का कोई कारण नहीं है। श्रील जीव गोस्वामी ने भी *अहेतुः* शब्द की व्याख्या यह बताने के लिए की है कि कृष्ण-लोक में भगवान् का अपना मौलिक रूप कृष्ण है। चूँकि कृष्ण अपने मुक्त संगियों के साथ सदैव आनन्दमयी लीलाओं में व्यस्त रहते हैं, अतएव वे इस जगत के व्यापारों से विलग बने रहते हैं, जो उनकी बहिरंगा शक्ति माया द्वारा उत्पन्न हुआ है। इसीलिए कहा गया है *जगृहे पौरुषं रूपम्।* बद्धजीवों के निपट मोह को बढ़ाने तथा क्रमिक शुद्धि के लिए भगवान् अपना विस्तार नारायण तथा विष्णु के रूप में करते हैं। भौतिक सृष्टि से भगवान् के अलग रहने का भी वर्णन वेदों में मिलता है—*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।* परब्रह्म को कुछ भी नहीं करना पड़ता, क्योंकि हर कार्य उनकी बहु-शक्तियों द्वारा सम्पन्न होता रहता है। श्रील

भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि यद्यपि भगवान् कृष्ण *अहेतुः* हैं, किन्तु इस श्लोक में उन्हें *हेतुः* भी कहा गया है, क्योंकि वे परमात्मा रूप में अपना विस्तार करते हैं और विराट जगत के आदि चालक के रूप में कार्य करते हैं।

अहेतुः शब्द को दूसरे प्रकार से भी समझा जा सकता है। *भगवद्गीता* (७.५) में भगवान् कहते हैं—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

"हे महाबाहु अर्जुन! इनके अतिरिक्त मेरी एक अन्य परा शक्ति है, जो उन जीवों से युक्त है, जो भौतिक अपरा प्रकृति के साधनों का विदोहन कर रहे हैं।"

बद्धजीव (*जीवभूत*) अपनी भौतिक इन्द्रियों के द्वारा (*मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*) इन्द्रिय-तृप्ति में लगना चाहते हैं। इस तरह भौतिक जगत का सृजन आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः भौतिक जगत का अस्तित्व बना हुआ है, क्योंकि बद्धजीव इसका विदोहन करना चाहते हैं (*ययेदं धार्यते जगत्*)। सरकार का कर्तव्य है कि जो लोग अपराध करने की प्रवृत्ति रखते हैं, उन्हें कारागार में रखने की व्यवस्था करे। किसी भी नागरिक को कारागार की घृणित दशा में रहने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु क्योंकि जनता का कुछ अंश समाज विरोधी आचरण करने पर तुला रहता है, इसलिए कारागार अनिवार्य है। उच्चतर दृष्टिकोण से कैदियों को स्वयं एक तरह से कारागार बनाये जाने का *हेतुः* अर्थात् कारण माना जा सकता है। इसी तरह भगवान् अपने लिए तथा अपने शुद्ध भक्तों के आनन्द-वर्धन के लिए ही अपनी इच्छा से अपनी अन्तरंगा शक्ति का विस्तार करते हैं, किन्तु बद्धजीवों की अवैध इच्छाओं के प्रत्युत्तर में, जिसमें वे जान-बूझकर उनका विस्मरण करके इन्द्रिय-तृप्ति का जीवन बिता सकें, भौतिक जगत को प्रकट करते हैं। इसलिए बद्धजीवों को ही भौतिक जगत का *हेतुः* अर्थात् कारण माना जा सकता है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति, माया, जिसे भौतिक जगत का कार्य सौंपा गया है, छाया कहलाती है अर्थात् वह भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की छाया है। *सृष्टि-स्थिति-प्रलय-साधनाशक्तिरेकाछायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।* भगवान् छाया-शक्ति को प्रदर्शित करना नहीं चाहते, जिसे दुर्गा या माया कहा जाता है। नित्य प्रकट रहने वाले आनन्दमय आध्यात्मिक लोकों में भगवान् के

अंशरूप जीवों के लिए यथा सम्भव सर्वश्रेष्ठ सुविधाएँ रहती हैं। किन्तु बद्धजीव भगवान् द्वारा प्रदत्त अचिन्त्य, नित्य आवास-व्यवस्था को त्याग कर छाया-जगत में, जिसे भौतिक जगत कहते हैं, अपने दुर्भाग्य की खोज करते हैं। इस तरह दुर्गा तथा बद्धजीव दोनों ही भौतिक जगत के *हेतु:* या कारण माने जाते हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण अन्ततोगत्वा *सर्वकारणकारणम्* हैं, इसलिए उन्हें परम कारण जानना चाहिए। किन्तु भौतिक जगत के परम कारण के रूप में भगवान् किस तरह कार्य करते हैं (*स्थित्युद्भवप्रलयहेतु:*) इसका वर्णन *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में हुआ है। *उपद्रष्टानुमन्ता च:* भगवान् उपद्रष्टा तथा अनुमति देनेवाले के रूप में कार्य करते हैं। भगवान् की वास्तविक इच्छा का स्पष्ट कथन *भगवद्गीता* में हुआ है : *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* भगवान् चाहते हैं कि हर जीव छाया-शक्ति माया का परित्याग करके वास्तविक वस्तु (*वास्तवं वस्तु*) में लौट आये और यह वस्तु शाश्वत भगवद्धाम है।

यद्यपि परम सत्य के नानाविध पक्षों का वर्णन किया जाता है, किन्तु परम सत्य तो एक ही है, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है (*तदवेहि परं नरेन्द्र*)। राजा निमि ने ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा की और अब इस श्लोक में बतलाया जा रहा है—*यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च।* जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति के अन्तर्गत भगवान् का सर्वव्यापकत्व तथा इन तीन मानसिक अवस्थाओं से परे उनके अस्तित्व को ब्रह्म अर्थात् भगवान् की दिव्य शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ मानना होगा। अन्त में, इस कथन *देहेन्द्रियासुहृदयाणि चरन्ति येन संजीवितानि* से भगवान् के परमात्मा स्वरूप का द्योतन होता है। जब भगवान् अपने तृतीय विष्णु रूप, क्षीरोदकशायी विष्णु रूप में विस्तार करके प्रत्येक जीव के हृदय में प्रवेश करते हैं, तो शरीर के स्थूल तथा सूक्ष्म अंग कर्म कहलाने वाले सकाम कार्यकलापों की शृंखला को चालू करने के लिए जागृत हो उठते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् के विविध रूप उनके अद्वय होने की श्रेष्ठता में बाधक नहीं होते। परब्रह्म तो *परमव्योमनाथ* हैं, जो श्यामसुन्दर द्विभुज रूप में, चतुर्भुज रूप में, अष्टभुज रूप में या सहस्रभुज रूप में प्रकट होते हैं। प्रत्येक रूप में उनका शरीर नित्य तथा आनन्द और ज्ञान से पूर्ण रहता है (*सच्चिदानन्दमूर्ति*)। पृथ्वी पर वे वासुदेव रूप में प्रकट होते हैं और कारणार्णव में महाविष्णु के रूप में। वे क्षीर सागर में क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में शयन करते हैं और नृसिंहदेव के

रूप में अपने असहाय नवयुवक भक्त की रक्षा करते हैं। वे रामचन्द्र के रूप में प्रकट होकर पूर्ण राजा की तरह कार्य करते हैं और कृष्ण के रूप में प्रकट होकर हर एक का, विशेष रूप से तरुण सुन्दरियों का हृदय चुराते हैं। भगवान् के ये सारे रूप *नारायण* शब्द द्वारा उसी तरह सूचित होते हैं, जिस तरह राष्ट्रपति कहने से न केवल उसके सरकारी कामकाजों का द्योतन होता है, अपितु उसके निजी पारिवारिक जीवन तथा घनिष्ठ मित्रों का भी होता है। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।* जब कोई व्यक्ति भगवान् की औपचारिक जानकारी को लाँघ कर भगवत्प्रेम के उच्च पद को प्राप्त होता है, तो वह भगवान् को कृष्ण के रूप में समझ सकता है, जो समस्त कारणों के कारण हैं। भगवान् के असंख्य विष्णु अंशों को भी श्रीकृष्ण के स्वांश समझना चाहिए। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।* जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है, *अहं सर्वस्य प्रभवः।* इन बातों का स्पष्टीकरण *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कंध के साथ-साथ प्रारम्भिक श्लोक *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरश्चार्थेषु* में किया जा चुका है।

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह (परब्रह्म); मनः—मन; विशति—प्रवेश करता है; वाक्—वाणी का कार्य; उत—न तो; चक्षुः—दृष्टि; आत्मा—बुद्धि; प्राण—जीवन दायिनी सूक्ष्म वायु; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; च—अथवा; यथा—जिस तरह; अनलम्—अग्नि; अर्चिषः—चिनगारियाँ; स्वाः—अपना; शब्दः—वेद-ध्वनि; अपि—भी; बोधक—वाणी से बताने में समर्थ; निषेधतया—निषेध करने के कारण; आत्म—परमात्मा का; मूलम्—मुख्य प्रमाण; अर्थ-उक्तम्—अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त किया गया; आह—व्यक्त करता है; यत्-ऋते—जिसके (ब्रह्म के) बिना; न—नहीं है; निषेध—शास्त्रों के कथन का उल्टा; सिद्धिः—चरम प्रयोजन।

न तो मन, न ही वाणी, दृष्टि, बुद्धि, प्राण-वायु या किसी इन्द्रिय के कार्य उस परम सत्य में प्रवेश करने में सक्षम हैं, जिस तरह कि छोटी चिनगारियाँ उस मूल अग्नि को प्रभावित नहीं कर सकती हैं, जिससे वे उत्पन्न होती हैं। यहाँ तक कि वेदों की प्रामाणिक भाषा भी परम सत्य का बखान नहीं कर सकती है, क्योंकि स्वयं वेद ही इस सम्भावना से इनकार करते हैं कि सत्य को शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु अप्रत्यक्ष निर्देश द्वारा वैदिक ध्वनि परम सत्य का

प्रमाण प्रस्तुत करती है, क्योंकि परम सत्य के अस्तित्व के बिना वेदों में प्राप्त विविध निषेधों का कोई चरम अभिप्राय नहीं होता।

तात्पर्य : प्रज्ज्वलित अग्नि में से निकलने वाली छोटी छोटी चिनगारियाँ, न तो मूल अग्नि को प्रकाशित कर सकती हैं, न उसे जला सकती हैं। मूल अग्नि में निहित उष्मा तथा प्रकाश की मात्रा क्षुद्र चिनगारियों को प्राप्त उष्मा तथा प्रकाश की मात्रा से सदैव श्रेष्ठ रहते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म जीव भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से उत्पन्न होता है, जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में (*जन्माद्यस्य यत:*) तथा *भगवद्गीता* में (*अहं सर्वस्य प्रभव:, ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*) कहा गया है। सूक्ष्म जीव भगवान् के *अंश* अर्थात् चिनगारियाँ होने से अपनी शक्ति की मात्रा में कभी भी भगवान् के तुल्य नहीं हो सकते। भगवान् में ज्ञान तथा आनन्द की मात्रा सदैव श्रेष्ठतम् होती है। अतएव जब मूर्ख बद्धजीव अपने क्षुद्र मस्तिष्क से सर्वोच्च सत्य के विषय को प्रकाशित करने का प्रयास करता है, तो वह अपनी मूर्खता को ही प्रकाशित करता है। भगवान् ने ही *भगवद्गीता* का प्रवचन किया, जो उस पूर्ण ज्ञान की प्रज्ज्वलित अग्नि है, जो तथाकथित दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों की परम सत्य विषयक क्षुद्र कल्पनाओं तथा सिद्धान्तों को जलाकर भस्म कर देती है।

भगवान् *हृषीकेश* अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी कहलाते हैं। चूँकि भगवान् में चरम प्रेक्षण, श्रवण, स्पर्श, घ्राण तथा आस्वाद-शक्ति पाई जाती है, इसलिए सीमित अर्थ में जीव भी हृषिकेश की कृपा से देख, सुन, स्पर्श, सूँघ तथा आस्वाद कर सकते हैं। यह भाव *बृहदारण्यक उपनिषद्* (४.४.१८) में व्यक्त हुआ है : *प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदु:*—परमसत्य को हर एक के प्राणों की आधार प्राण-वायु, हर एक के नेत्रों की दृष्टि, कान की श्रवण-शक्ति तथा भोजन का भी आधार माना जाता है। इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि परमसत्य को उनकी अहैतुकी कृपा द्वारा ही जाना जा सकता है, अपनी बुद्धि के घेरे में लाने के व्यर्थ प्रयासों द्वारा नहीं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.४.१) में कहा गया है *यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह*—वाणी की वाक्-शक्ति परमब्रह्म के जगत में असफल हो जाती है और मन की कल्पना-शक्ति उन्हें प्राप्त नहीं कर सकती।

किन्तु क्योंकि, वैदिक श्रुतियों के ऐसे कथन अपने आप में परम सत्य के विवरण हैं, इसलिए ऐसे वैदिक कथनों को विरोधी माना जा सकता है। इसलिए इस प्रसंग में कहा गया है कि *शब्दोऽपि*

बोधकनिषेधतयात्ममूलम् अर्थोक्तम् आह—यद्यपि वैदिक श्रुति (*शब्द*) हमें परम सत्य के बारे में कल्पना करने से मना करती है, किन्तु ऐसे निषेध परम व्यक्ति के अस्तित्व की अप्रत्यक्ष पुष्टि करने वाले हैं। वस्तुत: वैदिक निषेध मनुष्य को मानसिक कल्पना के गलत मार्ग से बचाकर भक्तिमयी शरण तक पहुँचाने वाले होते हैं। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* में कहा है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*—भगवान् को सारे वैदिक वाङ्मय द्वारा जानना चाहिए। इस बात पर जोर देना कि कोई विशेष विधि, जैसे मानसिक कल्पना व्यर्थ है (*यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह*) ब्रह्म को प्राप्त करने के सही पथ के होने की अप्रत्यक्ष पुष्टि है। जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने कहा है *सर्वस्य निषेधस्य सावधित्वात्*—हर निषेध की विशिष्ट अवधि या सीमा होती है। निषेध को सभी मामलों में लागू नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ, एक निषेधात्मक आदेश है कि कोई भी जीव भगवान् के तुल्य या उनसे बड़ा नहीं हो सकता। किन्तु *श्रीमद्भागवत* में स्पष्ट कहा गया है कि वृन्दावनवासी कृष्ण के लिए प्रगाढ़ प्रेम के कारण कभी कभी श्रेष्ठ पद को प्राप्त होते हैं। इस तरह माता यशोदा कृष्ण को रस्सी से बाँधती हैं और कभी कभी प्रभावशाली ग्वालबाल कृष्ण के कंधों पर चढ़ जाते हैं या कुश्ती में उन्हें हरा देते हैं। इसलिए कभी कभी दिव्य परिस्थिति के अनुसार निषेधात्मक आदेशों को समंजित किया जा सकता है।

यद्यपि परमसत्य भौतिक सृष्टि से परे हैं, अत: भौतिक इन्द्रियों की सीमा से भी परे हैं, किन्तु जब ये ही इन्द्रियाँ भगवत्प्रेम से संतृप्त हो उठती हैं, तो वे आध्यात्मीकृत हो जाती हैं और परम सत्य की अनुभूति करने की शक्ति पा जाती हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में कहा गया है—

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्त: सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो उस भक्त द्वारा सदैव देखे जाते हैं, जिसकी आँखों में प्रेम का अंजन लगा रहता है। वे भक्त के हृदय में अपने शाश्वत श्यामसुन्दर रूप में देखे जाते हैं।" *भगवद्गीता* (११.८) में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्

अनेनैव स्वचक्षुषा।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः

पश्य मे योगमैश्वरम्॥

''किन्तु तुम मुझे अपनी वर्तमान साधारण आँखों से नहीं देख सकते। अत: मैं तुम्हें दिव्य आँखें दे रहा हूँ। अब मेरी योग-विभूति को देखो।'' इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* में ऐसी अनेक घटनाएँ वर्णित हैं, जिनमें पूर्ण परम सत्य अपने भक्त के समक्ष प्रकट हुए हैं—यथा प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज, पृथु महाराज, कर्दम मुनि, पाण्डवगण तथा गोपियों के वृत्तान्त। इसलिए यह वैदिक कथन कि परब्रह्म आँखों की शक्ति के परे है, उनका द्योतक है, जिन्हें भगवत्कृपा से दिव्य आँखें प्राप्त नहीं हुईं। किन्तु भगवान् की अपनी इन्द्रियों की, जो हमारी सीमित इन्द्रियों की स्रोत हैं, पुष्टि *केन उपनिषद्* के इस कथन से (१.४) हो जाती है—*यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदं उपासते।* ब्रह्म वह है, जिसकी पुष्टि वाणी की भौतिक शक्ति से नहीं हो सकती, वाणी स्वयं उस परब्रह्म द्वारा प्रमाणित है। *येन वाग् अभ्युद्यते*—हमारी वाक्-शक्ति परब्रह्म द्वारा व्यक्त होती है—इस कथन से स्पष्ट रूप से यही व्यक्त होता है कि परब्रह्म की अपनी दिव्य इन्द्रियाँ होती हैं। इसीलिए वे हृषीकेश कहलाते हैं।

श्रील नारद मुनि ने कहा है *हृषीकेन हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—हमारी इन्द्रियाँ अपनी शक्ति से परब्रह्म तक नहीं पहुँच पातीं, किन्तु जब वे इन्द्रियों के स्वामी को तुष्ट करने के लिए प्रेमाभक्ति में लगी रहती हैं, तो हमारी सीमित इन्द्रियाँ भगवान् की असीम इन्द्रियों से जुड़ जाती हैं और इस तरह भगवान् की कृपा से उन्हें समझा जा सकता है।

श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्मतर्क* से निम्नलिखित कथन उद्धृत किया है :

आनन्दो नेदृशानन्द इत्युक्ते लोकतः परम्।

प्रतिभाति न चाभाति यथावद् दर्शनं विना॥

''परब्रह्म के दिव्य आनन्द की तुलना भौतिक जगत के सामान्य सुख से नहीं की जा सकती।'' इसी प्रकार *वेदान्त सूत्र* में परम सत्य को *आनन्दमय* कहा गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में श्री पिप्पलायन एक तरह से परब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। नवों योगेन्द्र स्वयं भगवान् के साकार रूप के भक्त थे; इसलिए राजा निमि ने परब्रह्म के विभिन्न रूपों से सम्बद्ध यह प्रश्न इस बात को स्पष्ट करने के लिए पूछा कि भगवान् *अद्वयज्ञान* के विविध पक्षों के स्रोत हैं। इसकी अभिव्यक्ति श्रुति के निम्नलिखित कथन में भी हुई है—*त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि*—मैं उपनिषदों में अभिव्यक्त परम पुरुष के विषय में पूछ रहा हूँ।

यदि शब्दों द्वारा परब्रह्म तक न पहुँचा जा सकता, तो वैदिक वाङ्मय का कोई अर्थ न रहता, जो दिव्य शब्दों का संग्रह है। चूँकि सत्य विषयक वैदिक विवरणों को अचूक मान लिया जाता है, इसलिए यह कह पाना असम्भव है कि वाक्-शक्ति सत्य का वर्णन कर पाने में अक्षम है। आखिर वैदिक मंत्र बोलने तथा सुनने के निमित्त ही होते हैं। अतएव यह आदेश कि न तो मन, न ही वाणी परब्रह्म तक पहुँच सकते हैं (*नैतन् मनो विशति वाग् उत*) सभी मामलों में लागू नहीं होता, प्रत्युत यह उन लोगों के लिए चेतावनी है, जो मूर्खतावश परब्रह्म की थाह अपनी घटिया चिन्तन-शक्ति द्वारा लेने का प्रयास करते हैं। चूँकि वैदिक आदेशों को, चाहे वे सकारात्मक हों या निषेधात्मक, परम सत्य का यथार्थ विवरण माना जाता है, अतएव वैदिक ज्ञान के श्रवण तथा कीर्तन की विधि (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) को एक पृथक् विधि मानना चाहिए, जिसमें मनुष्य की श्रवण करने तथा बोलने की शक्ति दिव्य ज्ञान को विनीत भाव से ग्रहण करने से अध्यात्मीकरण हो जाती है। यह विधि भगवान् के भक्त रूप प्रामाणिक गुरु में श्रद्धा पर निर्भर करती है। इसीलिए कहा गया है (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३)—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"जो महात्मा भगवान् तथा गुरु में अटूट श्रद्धा रखते हैं, उन्हें ही वैदिक ज्ञान का आशय स्वयमेव प्रकट हो जाता है।" *हरिवंश* में स्वयं भगवान् कहते हैं—

तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्।

ममैव तद् घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत॥

"परब्रह्म इस ब्रह्माण्ड की सारी विविधताओं में अपना प्रसार करता है। हे भारत! तुम इसे मेरा ही केन्द्रीभूत तेज समझो।" *ज्ञातुमर्हसि* "तुम इसे जानो"—ये शब्द भगवान् के हैं। जिससे यह सूचित

होता है कि परब्रह्म जानने योग्य है, किन्तु मनुष्य को व्यर्थ की कल्पना में समय न गँवाकर सत्य की शरण ग्रहण करनी चाहिए।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि वैदिक साहित्य के प्रामाणिक कथनों के अनुसार भगवान् का दिव्य रूप *ब्रह्ममय* अर्थात् पूर्णरूपेण आध्यात्मिक माना जाता है, जिसमें भौतिक कलुष का लेशमात्र भी नहीं रहता। अतएव *नीलोत्पलदलश्यामम्* जैसे कथनों से यह समझना चाहिए कि दिव्य श्याम रंग का वर्णन हो रहा है। फिर भी भगवान् अपने भक्तों पर अचिन्त्य रूप से दयालु हैं, यहाँ तक कि उन नवदीक्षितों पर भी, जो भगवत्प्रेम के पद तक पहुँचने का प्रयास करते होते हैं। इसलिए भगवान् उस बद्धजीव की इन्द्रियों को धीरे धीरे शुद्ध बनाते हैं, जो उन्हें समझने का प्रयास करता है और अन्त में वे ऐसे शुद्ध किये गये सेवक के समक्ष प्रकट होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *प्राकृतनीलोत्पलवर्णत्वेन भक्तैर्ध्यातमाताद्दशं अपि*—प्रारम्भ में बद्धजीव पूर्व भौतिक कर्मों से बद्ध होने के कारण इस जगत के अन्तर्गत भौतिक स्वरूपों तथा रंगों के विषय में प्राप्त अपने अनुभव पर भगवान् के दिव्य रूप को आधार बनाकर ध्यान कर सकता है। भगवान् के दिव्य रूप को भौतिक रूपों तथा रंगों से कोई सरोकार नहीं होता, किन्तु इस ध्यान का विषय कृष्ण होने से यह ध्यान धीरे धीरे भगवान् के वास्तविक रूप, रंग, कार्य, लीला तथा साज-सामग्री के दिव्य अनुभव में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, दिव्य ज्ञान भौतिक तर्क पर आश्रित न होकर भगवान् की प्रसन्नता पर आश्रित होता है। यदि भगवान् अपने भक्त द्वारा उन्हें समझने के निष्ठावान प्रयास से प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे तथाकथित भौतिक तर्कों तथा वैदिक आदेशों की परवाह न करते हुए अपने शुद्ध भक्त के समक्ष तुरन्त प्रकट होते हैं। जब तक कोई व्यक्ति भगवान् की इस सर्वशक्तिमत्ता को स्वीकार नहीं करता, तब तक परब्रह्म के पास फटकने की आशा नहीं रहती। इसलिए *कठ उपनिषद्* (१.३.१२) में कहा गया है कि *दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया*—परब्रह्म दिव्य बुद्धि द्वारा देखा जा सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भौतिक इन्द्रियों तथा प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया से अर्जित ज्ञान मात्र काल्पनिक होता है, वास्तविक नहीं। अनुभवसिद्ध ज्ञान हमारे इन्द्रिय-विषयों के क्षणिक अनुभव से सम्बद्ध है, जो प्रकृति द्वारा उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, इस समय राष्ट्रीयता की भ्रान्त धारणा के कारण अनेक युद्ध चल रहे हैं। इसी तरह विश्व-भर में संघर्ष छिड़ा हुआ

है और विश्व के बड़े बड़े नेता अपने अपने देश के आर्थिक विकास के हेतु कुत्तों-बिल्लियों की तरह लड़ते हैं। इस तरह आँख, नाक, जीभ, स्पर्श तथा स्वाद द्वारा अनुभव किये जाने वाले नश्वर पदार्थों को उपाधि देने के लिए भौतिक भाषा का प्रयोग किया जाता है। परब्रह्म के पास पहुँचने के लिए ऐसी भाषा तथा अनुभव व्यर्थ हैं। किन्तु वैकुण्ठ से आने वाली दिव्य ध्वनि का सर्वथा भिन्न प्रभाव पड़ता है। हमें चाहिए कि भगवान् को भौतिक जगत के एक पदार्थ के रूप में सम्मिलित करने के लिए मनगढंत भाषा का प्रयोग करने का मूर्ख प्रयास न करें। परमेश्वर नितान्त दिव्य हैं और *आत्म-प्रकाश* कहलाते हैं। इसलिए जैसाकि *पद्म पुराण* में कहा गयाहै—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

''भौतिक इन्द्रियों द्वारा कृष्ण के पवित्र नाम, रूप, गुणों तथा लीलाओं को नहीं समझा जा सकता। किन्तु जब बद्धजीव कृष्णभावनामृत के प्रति जागृत हो उठता है और अपनी जीभ द्वारा भगवान् के नाम का उच्चारण करके भक्ति करता है, तथा भगवान् के भोजन का उच्चिष्ट खाता है, तो उसकी जीभ शुद्ध हो जाती है और मनुष्य धीरे धीरे यह जानने लगता है कि कृष्ण वास्तव में कौन है।'' यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके उन्हें आत्मसमर्पण कर देता है, तो उसकी चिन्मय इन्द्रियाँ धीरे धीरे भगवान् का अनुभव करने में समर्थ हो जाती हैं। मात्र अनुभववाद तथा भौतिक तर्क की सीमा भगवान् की बहिरंगा शक्ति के भीतर अत्यन्त संकुचित है और यह शाश्वत वस्तुओं पर लागू नहीं होती। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *श्रीमद्भागवत* का निम्नलिखित श्लोक (७.५.३२) उद्धृत किया है—

नैषां मतिस्तावद् उरुक्रमांघ्रिं

स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किंचनानां न वृणीत् यावत्॥

''जब तक भौतिकतावाद के प्रति उन्मुख लोग अपने शरीर पर भौतिक कल्मष से मुक्त वैष्णव के चरणकमल की धूल धारण नहीं करते, तब तक वे उन भगवान् के चरणकमलों से जुड़ नहीं सकते,

जिनका महिमा-गायन उनके अद्वितीय कार्यों के लिए किया जाता है। कृष्णभावनाभावित होकर तथा भगवान् के चरणकमलों की शरण इस तरह ग्रहण करके ही मनुष्य भौतिक कल्मष से मुक्त हो सकता है।''

यद्यपि श्री पिप्पलायन यह कह रहे हैं कि भौतिक इन्द्रियों द्वारा परब्रह्म तक नहीं पहुँचा जा सकता, किन्तु मुनि स्वयं ही दिव्य इन्द्रियों से युक्त परम सत्य का वर्णन कर रहे हैं। राजा निमि इस दिव्य ध्वनि को समझ रहे हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान् के शुद्ध भक्तों, नव-योगेन्द्रों के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है। इसलिए किसी को इस श्लोक का अर्थ मूर्खतावश प्रसंग से कट कर निर्विशेषवादी प्रकार का नहीं लगना चाहिए, अपितु राजा निमि के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए, जो यह समझने का प्रयास कर रहे हैं कि भगवान् अंततः किस तरह हर वस्तु के स्रोत हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तथा तमोगुण; इति—इस प्रकार ज्ञात; त्रि-वृत्—तीनों; एकम्—एक; आदौ—प्रारम्भ में, सृष्टि से पूर्व; सूत्रम्—कर्म करने की शक्ति; महान्—चेतना-शक्ति; अहम्—तथा मिथ्या अहंकार; इति—इस प्रकार; प्रवदन्ति—कहलाता है; जीवम्—(मिथ्या अहंकार, जो आच्छादित करता है) जीव को; ज्ञान—ज्ञान के साक्षात् रूप देवतागण; क्रिया—इन्द्रियाँ; अर्थ—इन्द्रिय-विषय; फल—तथा सुख-दुख के रूप में सकाम फल; रूपतया—रूप धारण करके; उरु-शक्ति—अनेक प्रकार की शक्ति से सम्पन्न; ब्रह्म एव—केवल ब्रह्म; भाति—प्रकट होता है; सत् असत् च—स्थूल इन्द्रियाँ तथा उनके सूक्ष्म कारण; तयोः—दोनों; परम्—परे; यत्—जो है।

ब्रह्म जो मूलतः एक है, वह त्रिगुण होकर विख्यात है और प्रकृति के तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—के रूप में अपने को प्रकट करता है। ब्रह्म इससे भी आगे अपनी शक्ति का विस्तार करता है। इस तरह मिथ्या अहंकार के साथ साथ कार्य करने की शक्ति तथा चेतना-शक्ति प्रकट होती है, जो बद्ध जीव के स्वरूप को ढक लेती है। इस तरह ब्रह्म की बहुविध शक्तियों के विस्तार से देवतागण ज्ञान के साक्षात् रूप में प्रकट होते हैं और उनके साथ साथ भौतिक इन्द्रियाँ, उनके विषय तथा कर्मफल—सुख-दुख—प्रकट होते हैं। इस तरह भौतिक जगत की अभिव्यक्ति सूक्ष्म कारण के रूप में तथा स्थूल भौतिक पदार्थों में दृश्य भौतिक कार्य

के रूप में होती है। ब्रह्म, जो कि समस्त सूक्ष्म तथा स्थूल अभिव्यक्तियों का स्रोत है, परम होने के कारण, उनसे परे भी रहता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में पिप्पलायन मुनि ने ब्रह्म को भौतिक इन्द्रिय-अनुभूति तथा मानसिक चिन्तन के परे बतलाया है। साथ ही यह भी कहा गया है *आत्ममूलम् अर्थोक्तम् आह यद्दते न निषेध सिद्धिः*—वेदों के निषेधात्मक आदेश परोक्षतः परब्रह्म के अस्तित्व को बतलाने वाले हैं। इस परब्रह्म तक सही साधनों से पहुँचा जा सकता है। अब इस श्लोक में स्पष्ट वर्णन हुआ है कि परब्रह्म की असंख्य शक्तियाँ हैं (*उरुशक्ति ब्रह्मैव भाति*)। इस तरह परब्रह्म के विस्तार से भौतिक जगत के स्थूल तथा सूक्ष्म स्वरूप प्रकट होते हैं। जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने कहा है—*कार्यं कारणाद् भिन्नं न भवति*—कारण से कार्य भिन्न नहीं है। चूँकि ब्रह्म का नित्य अस्तित्व है, अतएव ब्रह्म की शक्ति होने से इस भौतिक जगत को भी वास्तविक मान लेना चाहिए, यद्यपि भौतिक जगत की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ नश्वर तथा भ्रामक हैं। भौतिक जगत को असली तत्त्वों की अन्योन्य क्रियाओं से युक्त समझना चाहिए। यह भौतिक जगत बौद्धों तथा मायावादियों की कल्पना की तरह मिथ्या नहीं है, जो यह कहते हैं कि द्रष्टा के मन के बाहर इस भौतिक जगत का अस्तित्व नहीं होता। ब्रह्म की शक्ति रूप में इस भौतिक जगत का असली अस्तित्व है। किन्तु जीव क्षणिक अभिव्यक्तियों को मूर्खतावश स्थायी मानकर मोहग्रस्त हो जाता है। इस तरह भौतिक जगत मोहक शक्ति (माया) की तरह कार्य करता है, जिससे जीव वैकुंठ-लोक को भूल जाता है, जहाँ पर जीवन सच्चिदानन्दमय और शाश्वत है। चूँकि भौतिक जगत बद्धजीव को मोहग्रस्त बनाता है, इसलिए यह मोहमय कहलाता है। जब जादूगर मंच पर अपनी कलाबाजी दिखलाता है, तो दर्शक, जो कुछ देखता है, वह इन्द्रजाल (भ्रम) होता है। किन्तु जादूगर वास्तव में विद्यमान रहता है और उसी तरह टोपी तथा खरगोश भी, यद्यपि टोपी में से खरगोश का निकलना भ्रम है। इसी प्रकार जब जीव यह सोचते हुए कि "मैं अमरीकी हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं रूसी हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ" और अपने आपको भौतिक जगत का अंश मान लेता है, तो वह भगवान् की भ्रामक शक्ति के जादू से मोहित हो जाता है। बद्धजीव को यह समझना चाहिए कि "मैं शुद्ध आत्मा हूँ, मैं कृष्ण का अंश हूँ। अब मैं अपने व्यर्थ के कार्य बन्द करूँ और कृष्ण की सेवा करूँ, क्योंकि मैं उनका अंश हूँ।" तब वह माया के भ्रम से मुक्त हो पाता है। यदि कोई यह घोषित करके कि

माया तो है ही नहीं और यह जगत मिथ्या है, कृत्रिम ढंग से माया के पाश से बचना चाहे, तो वह माया द्वारा उत्पन्न दूसरे भ्रम में जा पड़ता है, जिससे वह अज्ञान में रहता रहे। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

जब तक मनुष्य मायेश अर्थात् माया के स्वामी के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक भ्रम से बच पाने की सम्भावना नहीं रहती। बच्चों की तरह यह कहना कि माया तो है ही नहीं व्यर्थ है, क्योंकि माया तो *दुरत्यया* है, अर्थात् क्षुद्र जीव द्वारा अलंघ्य है। किन्तु सर्वशक्तिमान कृष्ण इस माया को तुरन्त समाप्त कर सकते हैं।

इस श्लोक में ब्रह्म से भौतिक जगत के विस्तार होने का वर्णन हुआ है। चूँकि ब्रह्म भगवान् का एक अधीनस्थ स्वरूप है (*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते*) इसलिए, जो व्यक्ति इस भौतिक जगत को ब्रह्म के रूप में मानता है, वह अपनी इन्द्रिय-तृप्ति एवं काल्पनिक चिंतन के माध्यम से अपनी निजी तुष्टि के निमित्त भौतिक शक्ति के दोहन की प्रवृत्ति से मुक्त हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि चूँकि ब्रह्म को *एकम्* बतलाया गया है, तो फिर वह भौतिक जगत के नाना रूपों में किस प्रकार प्रकट होता है? इसीलिए इस श्लोक में *उरु-शक्ति* शब्द का प्रयोग हुआ है। ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ हैं, जैसाकि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।* परब्रह्म *शक्ति* नहीं अपितु *शक्तिमान* हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि परब्रह्म के इन वर्णनों को विनयपूर्वक सुने। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है *यथानलम् अर्चिषः स्वाः*—अग्नि की क्षुद्र चिनगारियाँ तेज के स्रोत प्रज्ज्वलित अग्नि को प्रकाशित करने की क्षमता नहीं रखतीं। इसी प्रकार क्षुद्र जीव, जो कि भगवान् की चिनगारी के समान है, अपनी क्षुद्र बौद्धिक शक्ति से भगवान् को प्रकाशित नहीं कर सकता है। यह तर्क किया जा सकता है कि सूर्य अपनी किरणों के रूप में अपनी शक्ति का विस्तार करता है और इन्हीं किरणों के प्रकाश से हम सूर्य को देख पाते हैं। इसी तरह हमें परब्रह्म की शक्ति के प्रसार से परब्रह्म को देख पाने में सक्षम होना चाहिए। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि सूर्य आकाश को ढकने वाला बादल उत्पन्न कर

देता है, तो सूर्य की किरणों के होने पर भी सूर्य नहीं देखा जा सकता। इसलिए सूर्य को देखने की शक्ति न केवल सूर्य-किरणों पर निर्भर करती है, अपितु स्वच्छ आकाश की उपस्थिति पर निर्भर करती है, जो कि सूर्य द्वारा ही व्यवस्थित है। इसी तरह जैसा इस श्लोक में कहा गया है, परब्रह्म के अस्तित्व को उनकी शक्तियों के विस्तार द्वारा जाना जा सकता है।

यद्यपि पिछले श्लोक में भौतिक इन्द्रियों तथा मन की शक्ति को बहिष्कृत कर दिया गया था, किन्तु यहाँ पर दिया हुआ प्रामाणिक वर्णन यह सूचित करता है कि मनुष्य प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति-रूप में देख सकता है। इस सम्बन्ध में, नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हि को निम्नवत् उपदेश दिया था—

अतस्तद् अपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम्।

पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यत: ॥

''तुम्हें यह जानना चाहिए कि भगवान् की इच्छा से इस जगत का सृजन, पालन और संहार होता है। अतएव इस जगत के भीतर हर वस्तु भगवान् के अधीन है। इस पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहना चाहिए।'' (भागवत ४.२९.७९) जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*भज सर्वात्मना हरिम्*—मनुष्य को भगवान् की पूजा इसलिए करनी चाहिए, जिससे उसकी चेतना उसी तरह स्वच्छ हो जाय, जिस तरह नीला आसमान शक्तिमान सूर्य के पूरी तरह प्रकट होने पर स्वच्छ हो जाता है। जब कोई व्यक्ति सूर्य को देखता है, तो उसे सूर्य की किरणें अपनी पूरी शक्ति में दिखलाई पड़ती हैं। इसी तरह जब कोई व्यक्ति कृष्ण की भक्ति में लगता है, तो उसके मन की भौतिक धूल साफ हो जाती है। तब वह न केवल भगवान् को देखता है, अपितु भगवान् के अंशों को आध्यात्मिक जगत के रूप में, शुद्ध भक्तों के रूप में, परमात्मा के रूप में, निर्विशेष ब्रह्मज्योति के रूप में और भौतिक जगत की सृष्टि के रूप में देखता है, जो कि भगवद्धाम की छाया के रूप में है (*छायेव*), जिसमें न जाने कितनी भौतिक विविधताएँ प्रकट होती हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *फलम्* शब्द से *पुरुषार्थस्वरूपम्*—अर्थात् जीवन-लक्ष्य का वास्तविक स्वरूप या कि साक्षात् भगवान् का दिव्य रूप अर्थग्रहण करना चाहिए। जीव अपनी मूल शुद्ध अवस्था में भगवान् से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण भगवद्धाम, जो कि वैकुण्ठ

कहलाता है, गुण की दृष्टि से भगवान् से अभिन्न है। इस तरह जब भगवान् अपने अद्वितीय ऐश्वर्य तथा अपने शुद्ध आध्यात्मिक दासों अर्थात् जीवों के साथ उपस्थित होते हैं, तो अत्यन्त सुखद स्थिति उत्पन्न होती है। परिवार की संसारी धारणा उस सुखद स्थिति का विकृत रूप है, जिसमें भगवान् अपने पूर्ण दिव्य ऐश्वर्य में अपने शुद्ध भक्तों से संयुक्त होते हैं। हर जीव को भगवद्धाम में भगवान् से संयुक्त होने का विकल्प प्राप्त है। अत: इस श्लोक से यह समझना चाहिए कि स्थूल तथा सूक्ष्म जगतों की प्रत्येक वस्तु भगवान् की शक्ति है, अतएव भगवान् की सेवा के निमित्त है। *ईशावास्यमिदं सर्वम्।*

श्रील जीव गोस्वामी ने विस्तृत व्याख्या देकर सिद्ध किया है कि सम्पूर्ण विराट जगत परब्रह्म की प्राकृतिक शक्ति है। कभी कभी भगवान् के ज्ञान से विहीन अंधविश्वासी लोग यह कहते हैं कि सारे भौतिक कार्यों का नियंत्रण एक स्वतंत्र शैतान द्वारा होता है और ईश्वर को ऐसे शैतान से संघर्ष करना होता है। भगवान् की सर्वशक्तिमान सत्ता के प्रति ऐसे निपट अज्ञान को इस श्लोक का तात्पर्य समझ कर दूर किया जा सकता है। जिस तरह एक चिनगारी प्रज्ज्वलित अग्नि का एक लघु प्राकट्य है, उसी तरह यहाँ पर विद्यमान हर वस्तु भगवान् की शक्ति की क्षुद्र चिनगारी के रूप में है। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.४२) में कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

''किन्तु हे अर्जुन! इस सारे विशद ज्ञान की आवश्यकता क्या है? मैं तो अपने एक अंशमात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर इसको धारण करता हूँ।'' वास्तव में सर्वशक्तिमान भगवान् हर जीव के शुभैषी मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। इसलिए यदि विज्ञ की तरह यह समझ लिया जाय कि हर एक के शुभेच्छु मित्र कृष्ण ही हर विद्यमान वस्तु के परम स्रोत तथा नियन्ता हैं, तो उसे तुरन्त शान्ति-लाभ होता है (*ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति*)। भय तथा मोह, तो तब उत्पन्न होते हैं, जब मनुष्य मूर्खतावश यह सोचता है कि इस सृष्टि का एक कण भी भगवान् की शक्ति द्वारा संचालित नहीं होता। *भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात्।* भौतिक जगत के अस्तित्व का निषेध भी मोह की भयावह स्थिति उत्पन्न कर देता है। दोनों ही तरह की नास्तिकता—भौतिक जगत को अपने से सम्बद्ध देखना तथा भौतिक जगत के अनस्तित्व की घोषणा—हर वस्तु के स्वामी तथा भोक्ता भगवान् की अधीनता न स्वीकार करने के

व्यर्थ प्रयास हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने *विष्णु पुराण* से (१.३.१) श्री पराशर से श्री मैत्रेय द्वारा पूछे गये प्रश्न को उद्धृत किया है—

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धयस्याप्यमलात्मनः।

कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते॥

''हम यह कैसे समझें कि ब्रह्म या परमात्मा सृजन, पालन तथा संहार करने वाले हैं, यद्यपि वे गुणरहित, अगाध, अशरीरी तथा किसी दोष से रहित हैं?'' इसके उत्तर में श्री पराशर ने कहा—

शक्तयः सर्वभावानाम् अचिन्त्यज्ञानगोचराः।

यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः।

भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता॥

''केवल तर्क द्वारा यह नहीं बतलाया जा सकता कि भौतिक वस्तुएँ भी अपनी शक्ति का किस तरह का विस्तार करती हैं। इन वस्तुओं को परिपक्व प्रेक्षण द्वारा समझा जा सकता है। परब्रह्म भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार में अपनी शक्ति का विस्तार, वैसे ही करते हैं जिस प्रकार अग्नि अपनी उष्मा-शक्ति का विस्तार करती है।'' (विष्णु पुराण १.३.२) श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि मूल्यवान रत्न की कीमत केवल तर्क द्वारा नहीं आँकी जा सकती, अपितु उसके प्रभाव को देखने से आँकी जाती है। इसी तरह मंत्र-शक्ति को इसके विशेष प्रभाव प्राप्त करने की शक्ति को परख कर ही समझा जा सकता है। ऐसी शक्ति तर्क पर आश्रित नहीं होती। बीज के उगने और बढ़कर वृक्ष के रूप में मानव-शरीर को पोषण प्रदान करने वाले फल देने के पीछे कोई तार्किक आवश्यकता नहीं है। कोई यह तर्क दे सकता है कि समूचे वृक्ष का आनुवंशिक कूट बीज में निहित है। किन्तु बीज के अस्तित्व के पीछे या बीज का विशाल वृक्ष बनने के पीछे कोई तर्क नहीं है। अद्भुत भौतिक प्रकृति के प्राकट्य के बाद मूर्ख भौतिक वैज्ञानिक बीज की विस्तार-शक्ति को घटनाओं के ऊपरी मनोवैज्ञानिक क्रम में ढूँढ़ निकालता है, किन्तु तथाकथित शुद्ध तर्क-शास्त्र के भीतर ऐसा कुछ नहीं, जो यह आदेश दे सके कि बीज को विस्तार करके वृक्ष बन जाना चाहिए। प्रत्युत ऐसे विस्तार को वृक्ष की शक्ति मानना चाहिए। इसी प्रकार रत्न की शक्ति उसकी रहस्यमयी शक्ति है और विविध मंत्रों में भी आन्तरिक शक्तियाँ रहती हैं। अन्ततः महामंत्र—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे/हरे राम हरे राम राम राम

हरे हरे—में ऐसी शक्ति है कि वह मनुष्य को आनन्द तथा ज्ञान के आध्यात्मिक जगत में पहुँचा दे। इसी प्रकार परब्रह्म में अपने को असंख्य भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में विस्तार करने का सहज गुण पाया जाता है। हम इस विस्तार को तथ्य के बाद, तर्क द्वारा बतला सकते हैं, किन्तु परब्रह्म के विस्तार से इनकार नहीं कर सकते। बद्धजीव, जो कि भक्ति के माध्यम से अपनी चेतना को शुद्ध करता है, यहाँ पर वर्णित परब्रह्म के विस्तार का प्रेक्षण वैज्ञानिक ढंग से कर सकता है, जिस तरह कि नेत्र वाला व्यक्ति (जो अंधा नहीं है) बीज को वृक्ष में बढ़ते देख सकता है। बीज की शक्ति को कल्पना से नहीं, अपितु व्यावहारिक प्रेक्षण द्वारा समझा जा सकता है। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि अपनी दृष्टि को शुद्ध बना ले, जिससे वह परब्रह्म के विस्तार को व्यावहारिक रूप से देख सके। ऐसा अवलोकन या तो कानों से या आँखों से सम्भव है। वैदिक ज्ञान *शब्द-ब्रह्म* है अर्थात् शब्द के रूप में दिव्य शक्ति है। इसलिए दिव्य ध्वनि के विनीत श्रवण द्वारा परब्रह्म के कार्यों का अवलोकन किया जा सकता है। *शास्त्र-चक्षुस्।* जब मनुष्य की चेतना पूर्णतया शुद्ध बन जाती है, तो वह परब्रह्म का अनुभव अपनी सारी आध्यात्मीकृत इन्द्रियों से कर सकता है।

परब्रह्म या ईश्वर भौतिक गुणों अर्थात् सतो, रजो तथा तमोगुणों से विहीन हैं, क्योंकि वे दिव्य गुणों के आगार हैं, अतएव उन्हें भौतिक जगत के निम्न गुणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसाकि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (४.१०) में कहा गया है—*मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्*—जान लो कि माया भौतिक शक्ति है, जबकि भगवान् माया के स्वामी हैं। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*मायां च तदपाश्रयाम्*—माया सदैव भगवान् के अधीन है।

जिस तरह उपर्युक्त विवेचना से ज्ञात होता है कि यह भौतिक जगत भगवान् की निर्विशेष ब्रह्म-शक्ति का उद्भव है, उसी तरह ब्रह्म कृष्ण की शक्ति का अंश है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। (*ब्रह्म-संहिता* ५.४०)

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।

तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि निर्विशेष ब्रह्म में न तो दिव्य कर्म होता है, न परम पुमर्थ या मानव-जीवन का लाभ अर्थात् प्रेम। इसलिए यदि कोई व्यक्ति भगवान् के शारीरिक तेज के अंश से, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, चकाचौंध हो जाता है और भगवान् को ठीक से जान नहीं पाता, तो उसके द्वारा भगवान् के आनन्दमय अंश के रूप में अपनी नित्य पहचान होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इस विषय का सार *चैतन्य चरितामृत* (आदि १.१.३) में दिया गया है—

यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा

य आत्मान्तर्यामी पुरुष इति सोऽस्यांशविभवः।

षड्-ऐश्वर्यै पूर्णो य इह भगवान् स स्वयमयं

न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्त्वं परमिह॥

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि ।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; आत्मा—आत्मा; जजान—उत्पन्न हुआ था; न—कभी नहीं; मरिष्यति—मरेगा; न—कभी नहीं; एधते—बढ़ता है; असौ—यह; न—नहीं; क्षीयते—क्षीण होता है; सवन-वित्—काल की इन अवस्थाओं का ज्ञाता; व्यभिचारिणाम्—जैसाकि अन्य परिवर्तनशील प्राणियों में घटित होते हैं; हि—निस्सन्देह; सर्वत्र—सभी जगह; शश्वत्—निरन्तर; अनपायि—कभी अप्रकट न होकर; उपलब्धि-मात्रम्—शुद्ध चेतना; प्राणः यथा—जिस तरह शरीर के भीतर प्राण-वायु; इन्द्रिय-बलेन—इन्द्रियों के बल से; विकल्पितम्—विभक्त मानते हुए; सत्—होकर।

नित्य आत्मा ब्रह्म न तो कभी जन्मा था और न कभी मरेगा। न ही वह बड़ा होता है न उसका क्षय होता है। वह आध्यात्मिक आत्मा वास्तव में भौतिक शरीर की युवावस्था, मध्यावस्था तथा भौतिक शरीर की मृत्यु का ज्ञाता है। इस प्रकार आत्मा को शुद्ध चेतना माना जा सकता है, जो सभी काल में सर्वत्र विद्यमान रहता है और कभी विनष्ट नहीं होता। जिस प्रकार प्राण एक होते हुए भी शरीर के भीतर विभिन्न इन्द्रियों के सम्पर्क में अनेक रूप में प्रकट होता है, उसी तरह वह एक आत्मा भौतिक शरीर के सम्पर्क में विविध भौतिक उपाधियाँ धारण करता प्रतीत होता है।

तात्पर्य : *भागवत* के इस अध्याय में *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* इस वैदिक सूक्ति की व्याख्या की गई है। भगवान् हर वस्तु के मूल स्रोत हैं। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति का विस्तार करके आध्यात्मिक जगत प्रकट

करते हैं और अपनी बहिरंगा शक्ति के विस्तार से भौतिक जगत को प्रकट करते हैं। बद्धजीव मूलत: भगवान् की परा (श्रेष्ठ) अन्तरंगा शक्ति के अंश हैं किन्तु मोह के सम्पर्क में रहने से वह बहिरंगा शक्ति के पाश में जा गिरते हैं। चूँकि हर अवस्था में प्रत्येक वस्तु परब्रह्म की शक्ति का अंश है अतएव हर वस्तु भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति का अंश है। *भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्याद् ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृति:।* जब जीव यह सोचता है कि भौतिक जगत भगवान् की शक्ति का अंश नहीं है अपितु उसका पृथक् अस्तित्व है, जो क्षुद्र जीवात्मा द्वारा नियंत्रित तथा भुक्त हो सकता है, तो वह *विपर्यय:* अर्थात् गलत विचार से ग्रस्त रहता है। *अस्मृति:*—इस तरह जीव भूल जाता है कि भगवान् हर वस्तु के स्वामी हैं और हर वस्तु भगवान् की अंश है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने संकेत किया है कि यद्यपि भगवान् की बहिरंगा शक्ति में जन्म, वृद्धि, क्षय तथा मृत्यु जैसे रूपान्तर (विकार) होते हैं, किन्तु इससे यह मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि भगवान् की अन्तरंगा शक्ति रूपी जीव भी इन परिवर्तनों के अधीन है। जीव तथा प्रकृति दोनों ही अन्तत: ब्रह्म हैं, क्योंकि वे परब्रह्म के अंश हैं। किन्तु वेदों का स्पष्ट कथन है *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—भगवान् की शक्तियाँ *विविधा* अर्थात् अनेकरूपा हैं। इस तरह इस श्लोक के अनुसार *नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ न क्षीयते*—आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है, न मरता है और भौतिक शरीर की तरह निश्चय ही यह न तो बढ़ता है न ही इसका क्षय होता है। यद्यपि दृश्य भौतिक शरीर बालपन, युवावस्था तथा वृद्धावस्था से होकर गुजरता है या कि कोई देवता, मनुष्य, पौधे या पशु के रूप में जन्म ग्रहण कर सकता है, किन्तु आत्मा कभी भी अपनी नित्य स्वाभाविक स्थिति को नहीं छोड़ता। प्रत्युत वह झूठे ही अपनी पहचान भौतिक शरीर के बाह्य रूपान्तरों से करता है और इस तरह वह मोह नामक मनोवैज्ञानिक स्थिति का शिकार बनता है। अपने को प्रकृति के नियमों द्वारा रूपान्तरित एवं विनष्ट होते देखने का दयनीय मोहमय अनुभव अपने नित्य पद को भगवान् की पराशक्ति के रूप में जान करके ही समाप्त किया जा सकता है।

इस श्लोक में *सर्वत्र* शब्द का अर्थ मूर्खतावश जीवात्मा का सर्वव्यापक होना नहीं लेना चाहिए। आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है। तो भी अपनी वर्तमान बद्ध अवस्था में हम झूठे ही शरीर के जन्म तथा मृत्यु से अपनी पहचान करते हैं। चूँकि सर्वव्यापक आत्मा कभी मोहग्रस्त नहीं होता, अतएव

सर्वत्र शब्द यह सूचित नहीं कर सकता कि व्यष्टि आत्मा सर्वव्यापक है। मोह वास्तविकता के अपूर्ण ज्ञान को बताने वाला है, जो कि सर्वव्यापक जीव के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए *सर्वत्र* शब्द का अर्थ यह लगाना चाहिए कि शुद्ध आध्यात्मिक आत्मा समस्त भौतिक दशाओं में विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ, सुषुप्ति में हो सकता है चेतना खुल्लमखुल्ला प्रकट नहीं हो, फिर भी शरीर के भीतर आत्मा को विद्यमान मान लिया जाता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* से यह जाना जाता है कि आत्मा अग्नि, जल या बाह्य अवकाश में भी विद्यमान रह सकता है (नित्य: सर्वगत:) क्योंकि आत्मा कभी भी भौतिक दशाओं पर आश्रित नहीं होता, अपितु वह एक शाश्वत तथ्य है। आत्मा की चेतना किसी विशेष भौतिक दशा द्वारा प्रदत्त सम्भावनाओं के अनुसार कम या ज्यादा प्रकट हो सकती है, जिस तरह विद्युत् प्रकाश उपलब्ध बल्ब (लट्टू) के अनुसार किसी विशेष प्रखरता तथा रंग में प्रकट होता है। विद्युत् शक्ति एक है, किन्तु भौतिक दशाओं के अनुसार विविध रूपों में प्रकट होती है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि यद्यपि आत्मा शुद्ध चेतना है (*उपलब्धिमात्रम्*), किन्तु यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि चेतना निरन्तर बदलती रहती है। यदि मैं आकाश जैसे नीले पदार्थ के विषय में सोच रहा हूँ, तो फूल जैसे किसी पीले पदार्थ के विषय में इसके पूर्व का मेरा विचार विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यदि मुझे पता चल जाता है कि मैं भूखा हूँ, तो नीले आकाश की मेरी चेतना नष्ट हो जाती है। इस तरह चेतना निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। श्रील श्रीधर स्वामी ने उत्तर दिया है कि चेतना स्वयं तो नित्य है, किन्तु भौतिक इन्द्रियों के सम्पर्क में आने से यह अनेक प्रकार से प्रकट हो सकती है। प्राण का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। *प्राण* एक है, किन्तु विभिन्न इन्द्रियों के सम्पर्क में वह देखने, सुनने इत्यादि की शक्तियों के रूप में प्रकट होता है। इसी तरह आध्यात्मकि होने से चेतना अन्तत: एक है, किन्तु विविध इन्द्रियों के सम्पर्क में होने से इसे विशेष इन्द्रिय-व्यापार के रूप में अनुभव किया जा सकता है। किन्तु चेतना की अवस्था एक शाश्वत तथ्य है, जिसे बदला नहीं जा सकता, यद्यपि अस्थायी रूप से वह माया द्वारा आवृत हो सकती है।

जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो वह *धीर* मान लिया जाता है (*धीरस्तत्र न मुह्यति*)। उस समय वह अपनी चेतना की झूठी पहचान प्रकृति के रूपान्तरों के रूप में करके मोहग्रस्त नहीं होता।

छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त *तत्त्वमसि* कथन से यह समझा जाना चाहिए कि आध्यात्मिक ज्ञान निर्विशेष नहीं है, अपितु भौतिक शरीर के भीतर शुद्ध आत्मा की क्रमिक अनुभूति करना है। जिस तरह *भगवद्गीता* में कृष्ण बारम्बार *अहम्* का प्रयोग करते हैं, उसी तरह इस वैदिक सूक्ति में *त्वम्* का प्रयोग यह सूचित करने के लिए हुआ है कि जिस तरह परब्रह्म भगवान् है, उसी तरह ब्रह्म (*तत्*) की हर चिनगारी भी नित्य पुरुष (*त्वम्*) है। इसलिए श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार ब्रह्म की हर चिनगारी नित्य चेतन है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने यह भी इंगित किया है कि सत्य के निर्विशेष पक्ष को समझने में समय न गँवाकर, अपने आप को *जीव* कोटि में नित्य चेतन जीव समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को चाहिए कि अपने को भगवान् का चेतन दास समझे।

इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य ने *महाभारत* के *मोक्ष-धर्म* खण्ड से निम्नलिखित वक्तव्य उद्धृत किया है—

अहं हि जीवसंज्ञो वै मयि जीवः सनातनः।
मैवं त्वयानुमन्तव्यं दृष्टो जीवो मयेति ह।
अहं श्रेयो विधास्यामि यथाधिकारमीश्वरः॥

"जीवात्मा मुझसे भिन्न नहीं है, क्योंकि वह मेरा अंश है। इस तरह जीव मेरे ही समान नित्य है और वह मेरे भीतर सदैव स्थित रहता है। किन्तु तुम कृत्रिम रूप से यह न सोच बैठना कि मैंने आत्मा को देख लिया है। प्रत्युत मैं भगवान् तुम्हें वह वर तब दूँगा, जब तुम सचमुच इसके योग्य हो जाओगे।"

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥ ३९॥

शब्दार्थ

अण्डेषु—अण्डों (से उत्पन्न योनियों) में; पेशिषु—भ्रूणों में; तरुषु—पौधों में; अविनिश्चितेषु—अनिश्चित उत्पत्ति वाली (पसीने से उत्पन्न) योनियों में; प्राणः—प्राण-वायु; हि—निश्चय ही; जीवम्—आत्मा; उपधावति—पीछा करता है; तत्र तत्र—एक योनि से दूसरी में; सन्ने—मिल जाते हैं; यत्—जब; इन्द्रिय-गणे—सारी इन्द्रियाँ; अहमि—मिथ्या अहंकार; च—भी; प्रसुप्ते—गहरी निद्रा में; कूट-स्थः—अपरिवर्तित; आशयम्—दूषित चेतना का सूक्ष्म आवरण, लिंग शरीर; ऋते—रहित; तत्—उसके; अनुस्मृतिः—पश्चर्ती स्मरणशक्ति; नः—हमारी।

इस भौतिक जगत में आत्मा कई जीव योनियों में जन्म लेता है। कुछ योनियाँ अंडों से उत्पन्न होती हैं, कुछ भ्रूण से, कुछ पौधों और वृक्षों के बीजों से तो कुछ स्वेद से उत्पन्न होती हैं। किन्तु समस्त योनियों में प्राण अपरिवर्तित रहता है और वह आत्मा के पीछे पीछे एक शरीर से दूसरे में चला जाता है। इसी प्रकार आत्मा विभिन्न जीवन-स्थितियों के बावजूद निरन्तर वही बना रहता है। हमें इसका व्यावहारिक अनुभव है। जब हम बिना स्वप्न देखे प्रगाढ़ निद्रा में होते हैं, तो भौतिक इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, यहाँ तक कि मन तथा मिथ्या अहंकार भी निष्क्रिय हो जाते हैं, किन्तु जब मनुष्य जागता है, तो वह स्मरण करता है कि आत्मारूप वह शान्ति से सो रहा था, यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और मिथ्या अहंकार निष्क्रिय थे।

तात्पर्य : जब जीव जगा रहता है, तो इन्द्रियाँ तथा मन निरन्तर सक्रिय रहते हैं। इसी तरह जब मनुष्य सोता है, तो मिथ्या अहंकार मनुष्य के जागृत अनुभवों का स्मरण करता है और इस तरह सोते समय स्वप्नों या स्वप्न-खण्डों का अनुभव होता है। किन्तु *प्रसुप्ति* अर्थात् गहरी निद्रा की अवस्था में मन तथा इन्द्रियाँ दोनों ही निष्क्रिय हो जाते हैं और मिथ्या अहंकार पहले के अनुभवों या इच्छाओं को स्मरण नहीं कर पाता। सूक्ष्म मन तथा मिथ्या अहंकार *लिंग-शरीर* अथवा सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। यह लिंग-शरीर क्षणिक उपाधियों के रूप में—जैसे कि मैं धनी हूँ, मैं बली हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं अमरीकी हूँ, मैं चीनी हूँ—के रूप में अनुभव किया जाता है। मनुष्य के भ्रामक विचारों का कुल योग *अहंकार* कहलाता है। और इस भ्रामक जीवन-विचार के ही कारण जीव एक योनि से दूसरी में देहान्तरण करता रहता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है। किन्तु आत्मा अपने सच्चिदानन्द रूप को नहीं बदलता, भले ही आत्मा क्षण-भर के लिए इस स्थिति को भूल जाये। इस तरह की स्थिति का उदाहरण दिया जा सकता है : यदि कोई रात में यह स्वप्न देखे कि वह जंगल में घूम रहा है, तो इस स्वप्न से मनुष्य की यह वास्तविक स्थिति नहीं बदलती कि वह अपने कमरे में बिस्तर पर लेटा है। इस तरह इस श्लोक में कहा गया है *कूटस्थ आशयम् ऋते*—सूक्ष्म शरीर के परिवर्तन के बावजूद आत्मा परिवर्तित नहीं होता। श्रील श्रीधर स्वामी ने इस बात को निम्नलिखित उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। *एतावन्तं कालं सुखम् अहम् अस्वाप्सम् न किञ्चिद् अवेदिषम्।* मनुष्य प्राय: सोचता है कि ''मैं तो शान्ति से सो रहा था, यद्यपि न तो मैं स्वप्न देख रहा था, न ही मुझे किसी बात का पता था।'' यह तर्क

द्वारा समझा जा सकता है कि मनुष्य को जिस बात का अनुभव नहीं हुआ रहता, उसको वह स्मरण नहीं रख सकता। इसलिए चूँकि मनुष्य को शान्तिपूर्वक सोते रहना स्मरण है, यद्यपि उसे मानसिक या ऐन्द्रिय अनुभव नहीं था, ऐसी स्मृति को आत्मा का अस्पष्ट अनुभव मानना चाहिए।

श्रील मध्वाचार्य ने बतलाया है कि इस ब्रह्माण्ड के उच्चतर लोकों की मानव जैसी श्रेष्ठ जातियों वाले देवतागण सामान्य मनुष्यों की भाँति गहरी नींद के स्थूल अज्ञान में नहीं पड़ते। श्रेष्ठ बुद्धि वाले होने से देवतागण नींद के समय अज्ञान में लीन नहीं होते। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* नींद *अपोहनम्* या विस्मृति है। कभी कभी स्वप्न देखते समय *स्मृति* अर्थात् वास्तविक स्थिति की याद रहती है, यद्यपि नींद में मनुष्य के परिवार वाले या मित्रगण परिवर्तित मोहमय अवस्था में दिखते हैं। किन्तु स्मृति तथा विस्मृति की ऐसी सारी अवस्थाएँ हृदय के भीतर परमात्मा की उपस्थिति के कारण होती हैं। परमात्मा की कृपा से मनुष्य को यह स्मरण करके कि वह बिना किसी मानसिक या ऐन्द्रिक अनुभव के ही किस तरह शान्तिपूर्वक विश्राम कर रहा था, आत्मा की प्रारम्भिक झाँकी मिल जाती है।

इस श्लोक में आये *अविनिश्चितेषु* शब्द का अर्थ प्रामाणिक टीकाओं के अनुसार *स्वेदजेषु* अर्थात् पसीने से उत्पन्न है। श्रील मध्वाचार्य ने संकेत किया है *भूस्वेदेन हि प्रायोजायन्ते*—पृथ्वी की ओस को पृथ्वी का पसीना मानना चाहिए और विविध योनियाँ ओस से उत्पन्न हैं। *मुण्डक उपनिषद्* (३.१.९) में प्राण के सम्बन्ध में आत्मा की स्थिति बतलाई गई है—

ऐषोऽनूरात्मा चेतसा वेदितव्यो

यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतम् प्रजानां

यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

"आत्मा परमाणु के आकार का होता है और परिपूर्ण बुद्धि के द्वारा ही अनुभवगम्य है। यह परमाणु तुल्य आत्मा पाँच प्रकार के वायु (प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान) में तैरता रहता है। आत्मा हृदय के भीतर स्थित है और यह शरीरधारी जीवों के पूरे शरीर में अपना प्रभाव फैलाता है। जब

आत्मा को पाँच प्रकार की भौतिक वायु के कल्मष से शुद्ध कर दिया जाता है, तो इसका आध्यात्मिक प्रभाव प्रकट होता है।'' इस प्रकार असंख्य योनियों में आत्मा प्राण के भीतर स्थित रहता है।

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि ।
तस्मिन्विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
शाक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; अब्ज-नाभ—जिसकी नाभि कमल जैसी है, ऐसे भगवान् के; चरण—चरण; एषणया—(केवल) इच्छा करने से; उरु-भक्त्या—शक्तिशाली भक्ति द्वारा; चेतः—हृदय की; मलानि—धूल; विधमेत्—धो डालती है; गुण-कर्म-जानि—प्रकृति के गुणों तथा इन गुणों के कार्यों से उत्पन्न; तस्मिन्—उस; विशुद्धे—पूर्णतया शुद्ध (हृदय); उपलभ्यते—अनुभव किया जाता है; आत्म-तत्त्वम्—आत्मा का असली स्वभाव; साक्षात्—प्रत्यक्ष; यथा—जिस तरह; अमल-दृशोः—शुद्ध आँखों के; सवितृ—सूर्य की; प्रकाशः—अभिव्यक्ति।

जब मनुष्य अपने हृदय में भगवान् के चरणकमलों को जीवन के एकमात्र लक्ष्य के रूप में स्थिर करके भगवान् की भक्ति में गम्भीरतापूर्वक संलग्न होता है, तो वह अपने हृदय के भीतर स्थित उन असंख्य अशुद्ध इच्छाओं को विनष्ट कर सकता है, जो प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत उसके पूर्वकर्मों के फल के कारण संचित होती हैं। जब इस तरह हृदय शुद्ध हो जाता है, तो वह भगवान् को तथा अपने को दिव्य जीवों के रूप में प्रत्यक्षतः अनुभव कर सकता है। इस तरह वह प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान में निष्णात् हो जाता है, जिस तरह कि सामान्य स्वस्थ दृष्टि द्वारा सूर्य-प्रकाश का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह बताया जा चुका है कि मनुष्य नित्य अपरिवर्तित आत्मा की प्रारम्भिक झाँकी अपनी शान्त निद्रा के अनुभव का स्मरण करके प्राप्त कर सकता है, यद्यपि उस निद्रा में मन तथा इन्द्रियाँ पूरी तरह निष्क्रिय थीं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि गहरी निद्रा में आत्मा का प्रारम्भिक अनुभव हो जाता है, तो जागने पर मनुष्य क्यों मोहमय जगत में लौट आता है? इसका उत्तर यह होगा कि हृदय के भीतर भौतिक इच्छाएँ के घर कर जाने से बद्धजीव भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के अज्ञान का आदी हो जाता है। कोई कैदी कारागार के भीतर से बाहर के प्रकाश की झाँकी पा सकता है, तो भी वह कारागार में बन्दी बना रहता है। इसी प्रकार यद्यपि बद्धजीव को आत्मा की झाँकी मिल जाती है, किन्तु वह भौतिक इच्छाओं के बन्धन में जकड़ा रहता है। इसलिए भले ही मनुष्य को नश्वर

शरीर के भीतर स्थित नित्य आत्मा की या कि हृदय के भीतर आत्मा के संग रहने वाले परमात्मा की प्रारम्भिक जानकारी हो जाय, किन्तु तो भी भौतिक इच्छा को हटाने के लिए विशेष विधि की आवश्यकता पड़ती है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (८.६) में बतलाया गया है—

यं यं वापि स्मरन भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तं एवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:॥

''शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस भी स्थिति का स्मरण करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त करता है।'' मृत्यु के समय मनुष्य की इच्छा के ही अनुसार प्रकृति द्वारा उसे उपयुक्त भौतिक देह प्रदान की जाती है। *कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये*—मनुष्य की सकाम इच्छाओं तथा कर्मों के अनुसार एवं भगवान् के प्रतिनिधिरूप देवताओं की देखरेख में जीव को एक विशेष शरीर प्रदान किया जाता है, जिसे जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग जैसे कष्ट झेलने पड़ते हैं। यदि कोई किसी विशेष घटना के कारण को हटा सकता है, तो वह उसके प्रभाव(कार्य) को भी हटा सकता है। इसलिए यह श्लोक बतलाता है कि मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की शरण की ही कामना करनी चाहिए। उसे भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम की भ्रामक इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए, क्योंकि ऐसी इच्छाएँ और भी भौतिक बन्धन का कारण बनती हैं। मनुष्य को अपना मन भगवान् कृष्ण में स्थिर करना चाहिए, जिससे मृत्यु के समय वह कृष्ण को अवश्य स्मरण कर सके। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.५) में भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन मुक्त्वा कलेवरम्।

य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय:॥

''जो कोई भी जीवन के अन्त में केवल मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त होता है, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।'' भगवान् कृष्ण सबों के वास्तविक आश्रय हैं। और ज्योंही भक्तियोग के माध्यम से किसी का हृदय निर्मल हो जाता है, त्योंही वह भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

भगवद्‌गीता में भगवान् को प्राप्त करने की अवस्था का वर्णन इन शब्दों में हुआ है—*ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्* और कभी कभी निर्विशेषवादी इन शब्दों को तोड़-मरोड़ कर इनमें *ब्रह्म-सायुज्यम्* का वर्णन पाते हैं। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि मनुष्य को अपना मन तथा अपनी भक्ति *अब्ज-नाभ* अर्थात् भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर करना चाहिए। यदि जीव भगवान् के तुल्य होता, तो वह अपनी शुद्धि के लिए केवल स्वयं को सोचता। किन्तु तब भी एक विरोधाभास उठ खड़ा होता—भगवान् को शुद्ध होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि *भगवद्‌गीता* में उन्हें परम शुद्ध—*पवित्रं परमम्*—कहा गया है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वैदिक साहित्य के कथनों को तोड़-मरोड़ कर निर्विशेषवादी अर्थ निकालने का प्रयत्न न करे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि इस श्लोक में इंगित भक्ति की पूर्णावस्था को ध्रुव महाराज जैसे महान् भक्तों के कार्यों में देखा जा सकता है। ध्रुव महाराज भगवान् के पास भौतिक स्तर पर राजनीतिक समझौते की इच्छा से गये थे, किन्तु जब वे भगवन्नाम का कीर्तन करके शुद्ध हो गये (*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय*) तो उन्हें और अधिक इन्द्रिय-तृप्ति की आवश्यकता नहीं रही। जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* के प्रथम स्कन्ध में कहा गया है *जनयत्याशु वैराग्यम्*—ज्योंही मनुष्य भक्ति में आगे बढ़ता है, तो वह ऊपरी भौतिक इच्छाओं की झंझट से मुक्त हो जाता है।

इस श्लोक में *उपलभ्यत आत्मतत्त्वम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि *आत्मतत्त्वम्* भगवान् के साथ साथ उनके विविध अंशों के ज्ञान को भी सूचित करता है—यथा निर्विशेष ब्रह्मज्योति तथा स्वयं तटस्थ जीव भी। *साक्षात्* शब्द से यह सूचित होता है कि भगवान् का दर्शन करने का अर्थ है भगवान् के साकार रूप, उनके हाथ-पाँव, उनके विविध दिव्य यानों तथा दासों आदि का साक्षात् दर्शन करना, जिस तरह सूर्य देव की भक्ति से क्रमश: सूर्य देव के शरीर के साथ साथ उनका रथ और उनके सेवक भी दिखने लगते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने संकेत किया है कि ३५वें श्लोक से लेकर ३९वें श्लोक तक मानक तर्क की विविध अवस्थाओं का प्रदर्शन हुआ है। श्लोक ३५ में *विषय*—सामान्य विचारधारा की स्थापना की गई है, श्लोक ३६ में *संशय* व्यक्त हुआ है, श्लोक ३७ में *पूर्वपक्ष* अर्थात् विरोधी तर्क प्रस्तुत हुआ है, श्लोक ३८ में *सिद्धान्त* अर्थात् निष्कर्ष है और श्लोक ३९ में *संगति*—सारांश—दिया

गया है। संगति अर्थात् अन्तिम शब्द यह है कि मनुष्य को भगवान् का शुद्ध भक्त बन कर उनके चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए। इस तरह अपने हृदय रूपी दर्पण को स्वच्छ करके भगवान् का दर्शन उसी तरह किया जा सकता है, जिस तरह स्वस्थ २०/२० दृष्टि वाला व्यक्ति सूर्य की प्रखर किरणों को देख सकता है या सूर्य देव का उच्च भक्त सूर्य देव के साकार शरीर को देख सकता है।

श्रीराजोवाच
कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; कर्म-योगम्—ब्रह्म से अपने कर्म को जोड़ने का अभ्यास; वदत—कृपया बतलायें; नः—हमको; पुरुषः—व्यक्ति; येन—जिससे; संस्कृतः—परिष्कृत होकर; विधूय—छूट कर; इह—इस जीवन में; आशु—तुरन्त; कर्माणि—भौतिकतावादी कर्म; नैष्कर्म्यम्—सकाम कर्मफल से मुक्ति; विन्दते—भोग करता है; परम्—दिव्य।

राजा निमि ने कहा : हे मुनियो, हमें *कर्मयोग* की विधि के विषय में बतलायें। परम पुरुष को अपने व्यावहारिक कर्म समर्पित करने की इस विधि से शुद्ध होकर व्यक्ति अपने को इस जीवन में भी समस्त भौतिक कार्यों से मुक्त कर सकता है और इस तरह दिव्य पद पर शुद्ध जीवन का भोग कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (३.५) में कहा गया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणै॥

"प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है, अतः कोई एक क्षण के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।" चूँकि जीव निष्क्रिय नहीं रह सकता, अतएव उसे अपने कर्म भगवान् को समर्पित करना सीखना चाहिए। श्रील प्रभुपाद ने भगवद्गीता के इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : "यह देहधारी जीवन का प्रश्न नहीं है, परन्तु आत्मा स्वभाव से ही सदैव सक्रिय रहता है। आत्मा की अनुपस्थिति में भौतिक शरीर हिल भी नहीं सकता। यह शरीर जड़ वाहन के समान है, जो आत्मा द्वारा चालित होता है, क्योंकि आत्मा सदैव गतिशील (सक्रिय) रहता है और वह एक क्षण के लिए भी नहीं रुक सकता। अतः आत्मा को कृष्णभावनामृत के सद्कर्म में प्रवृत्त रखना चाहिए, अन्यथा वह माया द्वारा शासित कार्यों में प्रवृत्त होता रहेगा। माया के संसर्ग में

आकर आत्मा भौतिक गुण प्राप्त कर लेता है और आत्मा को ऐसे आकर्षणों से शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट कर्मों में इसे संलग्न रखा जाय। किन्तु यदि आत्मा कृष्णभावनामृत के अपने स्वाभाविक कर्म में निरत रहता है, तो वह जो भी करता है, उसके लिए कल्याणप्रद होता है।''

सामान्य लोग प्राय: कृष्णभावनामृत आन्दोलन के भक्तों के व्यस्त कार्यों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि वे ऐसे कार्यों को सामान्य भौतिक कार्य समझ बैठते हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने इस सम्बन्ध में बतलाया है कि *काम्यकर्मण्येव त्याजितानि, न तु नित्यनैमित्तिकानि, फलस्यैव विनिन्दितत्वात्।* मनुष्य को अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाने वाले स्वार्थमय कार्यों को त्याग देना चाहिए, क्योंकि ऐसे विचाररहित कर्म का फल और अधिक भव-बन्धन का कारण बनता है। किन्तु उसे चाहिए कि वह अपने नियमित अथवा वृत्तिपरक कार्यों को भगवान् को समर्पित करता चले। इस तरह ये कर्म दिव्य भक्ति बन जाते हैं। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासु: श्रेय उत्तमम्* शब्दों के द्वारा इस अध्याय में स्पष्ट बतलाया गया है कि अपने कर्मों को भगवान् की सेवा से जोड़ देना एक कला है, जिसे प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों में बैठ कर सीखना चाहिए। अन्यथा सनक में आकर अपने भौतिकतावादी कर्म को दिव्य भक्ति घोषित कर बैठने से कोई वास्तविक परिणाम नहीं निकलेगा। इसलिए श्री जीव गोस्वामी के अनुसार *नैष्कर्म्यम्* शब्द से निष्क्रियता समझने की भूल नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत यह शब्द भगवान् तथा उनके प्रतिनिधि के निर्देशन में दिव्य कर्म को सूचित करता है।

एवं प्रश्नमृषीन्पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके ।
नाब्रुवन्ब्रह्मण: पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी तरह का; प्रश्नम्—प्रश्न; ऋषीन्—ऋषियों से; पूर्वम्—इसके पहिले भी; अपृच्छम्—मैंने पूछा था; पितु:—अपने पिता (इक्ष्वाकु महाराज) के; अन्तिके—समक्ष; न अब्रुवन्—वे नहीं बोले; ब्रह्मण:—ब्रह्मा के; पुत्रा:—पुत्र; तत्र—उसका; कारणम्—कारण; उच्यताम्—कहिये।

एक बार विगत काल में अपने पिता महाराज इक्ष्वाकु की उपस्थिति में मैंने ब्रह्मा के चार महर्षि पुत्रों से ऐसा ही प्रश्न पूछा था, किन्तु उन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। कृपया इसका कारण बतलायें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर के अनुसार *ब्रह्मण: पुत्रा:* शब्द सनक ऋषि आदि चार कुमारों के लिए प्रयुक्त हुआ है। श्रील मध्वाचार्य ने *तरंग भागवत* से एक श्लोक उद्धृत करते हुए बताया है कि महाजन तथा भक्ति-विज्ञान में दक्ष होते हुए भी ब्रह्मा के चार पुत्रों ने राजा निमि को उत्तर देने से इसलिए इनकार कर दिया था, क्योंकि वे यह दिखला देना चाहते थे कि ज्ञान के अनुशीलन में दक्ष लोग भी भक्ति के वास्तविक विज्ञान को नहीं समझ सकते। श्रील जीव गोस्वामी ने यह भी टीका की है कि ऋषियों ने राजा के प्रश्नों का उत्तर इसलिए नहीं दिया, क्योंकि उस समय राजा निमि बालक थे, अतएव वे उनके उत्तर को भलीभाँति समझने में परिपक्व नहीं थे।

श्रीआविर्होत्र उवाच
कर्माकर्म विकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-आविर्होत्रः उवाच—आविर्होत्र ने कहा; कर्म—शास्त्रों द्वारा संस्तुत कार्यों की सम्पन्नता; अकर्म—ऐसे कार्यों को कर पाने में असफलता; विकर्म—निषिद्ध कर्मों में लगना; इति—इस प्रकार; वेद-वादः—वेदों के माध्यम से समझा गया विषय; न—नहीं; लौकिकः—संसारी; वेदस्य—वेदों का; च—तथा; ईश्वर-आत्मत्वात्—भगवान् से आने के कारण; तत्र—इस विषय में; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त हो जाते हैं; सूरयः—बड़े बड़े पंडित (भी)।

श्री आविर्होत्र ने उत्तर दिया : कर्म, अकर्म तथा विकर्म ऐसे विषय हैं, जिन्हें वैदिक साहित्य के प्रामाणिक अध्ययन द्वारा ही भलीभाँति समझा जा सकता है। इस कठिन विषय को संसारी कल्पना के द्वारा कभी भी नहीं समझा जा सकता। प्रामाणिक वैदिक साहित्य भगवान् का शब्दावतार है, इस प्रकार वैदिक ज्ञान पूर्ण है। वैदिक ज्ञान की सत्ता की उपेक्षा करने से बड़े बड़े पंडित तक कर्म-योग को समझने में भ्रमित हो जाते हैं।

तात्पर्य : शास्त्र द्वारा नियत कर्तव्य *कर्म* कहलाते हैं और अपने सर्वोच्च कर्तव्य को न सम्पन्न कर पाना *अकर्म* है। निषिद्ध कर्मों को सम्पन्न करना *विकर्म* कहलाता है। इस प्रकार, कर्म, अकर्म तथा विकर्म की स्थापना वैदिक साहित्य की प्रामाणिक व्याख्याओं द्वारा होती है। उन्हें मात्र तर्क की संसारी विधियों द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता। *श्रीमद्भागवत* (६.१६.५१) में भगवान् कहते हैं *शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू:* मैं वेदों की दिव्य ध्वनि का स्वरूप हूँ, जो ॐकार तथा हरे कृष्ण हरे राम के रूप में हैं, और मैं परम सत्य हूँ। ये दोनों—दिव्य वैदिक ध्वनि तथा अर्चाविग्रह का नित्य आनन्दमय स्वरूप—मेरे शाश्वत रूप हैं, ये भौतिक नहीं हैं। इसी प्रकार *भागवत* में अन्यत्र (६.१.४०) कहा गया है

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम—वेद प्रत्यक्ष रूप से भगवान् नारायण हैं और स्वयम्भू हैं। ऐसा हमने यमराज से सुना है। *पुरुष सूक्त* (*ऋग्वेद, मण्डल* १०, सूक्त ९०, मंत्र ९) में कहा गया है—*तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्*—उस यज्ञ से सभी की आहुतियाँ, आवाह्न स्तुतियाँ तथा प्रशंसा-गीत उत्पन्न हुए। वेदों के सारे मंत्र भगवान् से उत्पन्न हुए। भगवान् के सारे अवतार पूर्णतया दिव्य हैं और बद्ध जीवन के चार दोषों—भूल, मोह, ठगी तथा अपूर्ण इन्द्रियों—से मुक्त हैं। इस तरह वैदिक ज्ञान भगवान् का स्वांश होने से, उन्हीं की तरह अच्युत तथा दिव्य है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् की माया से नियंत्रित इस भौतिक जगत में किसी शब्द-ध्वनि को उसके लक्ष्य को बताकर त्याग दिया जाता है। किन्तु वैकुण्ठ-लोक में कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। इस तरह *शब्द ब्रह्म* नित्य है।

सामान्य बातचीत में शब्दों का अर्थ वक्ता के मनोभाव को समझ कर निश्चित किया जाता है। किन्तु वैदिक ज्ञान के *अपौरुषेय* अथवा दिव्य होने से उसे शिष्य-परम्परा से प्राप्त आदर्श विद्वान से ही सुन कर समझा जा सकता है। इस विधि की संस्तुति स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* में की है (*एवं परम्पराप्राप्तम्*)। इस तरह वैदिक ज्ञान के चरम अर्थ को निश्चित कर पाने में बड़े बड़े विद्वान जो अहंकार में इस परम्परा की उपेक्षा करते हैं, मोहग्रस्त हो जाते हैं, ब्रह्मा के चारों पुत्रों ने राजा निमि के प्रश्नों का उत्तर देने से इसलिए इनकार कर दिया, क्योंकि उस समय राजा निरे बालक थे, अतएव परम्परा-प्राप्त श्रवण-विधि की शरण में आ पाने में असमर्थ थे। श्रील मध्वाचार्य ने इस सम्बन्ध में इंगित किया है—*ईश्वरात्मत्वाद् ईश्वरविषयत्वात्।* चूँकि सारे वेद असीम भगवान् का वर्णन करते हैं, अतएव समझने की सांसारिक विधियों से वैदिक ज्ञान तक नहीं पहुँचा जा सकता।

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥ ४४॥

शब्दार्थ

परोक्ष-वादः—किसी वस्तु के असली स्वरूप को छिपाने के लिए उसे अन्य रूप में प्रस्तुत करना; वेदः—वेद; अयम्—ये; बालानाम्—बचकाने लोग; अनुशासनम्—निर्देशन; कर्म-मोक्षाय—भौतिक कार्यों से मुक्ति के लिए; कर्माणि—भौतिक कार्य; विधत्ते—संस्तुति करते हैं; हि—निस्सन्देह; अगदम्—औषधि; यथा—जिस तरह।

बचकाने तथा मूर्ख लोग भौतिकतावादी सकाम कर्मों के प्रति आसक्त रहते हैं, यद्यपि जीवन का वास्तविक लक्ष्य ऐसे कर्मों से मुक्त बनना है। इसलिए वैदिक आदेश सर्वप्रथम सकाम

धार्मिक कर्मों की संस्तुति करके मनुष्य को परोक्ष रीति से चरम मोक्ष के मार्ग पर ले जाते हैं, जिस तरह पिता अपने पुत्र को दवा पिलाने के लिए उसे मिठाई देने का वादा करता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।* वेद प्रकृति के तीनों गुणों के ही अन्तर्गत सकाम फल प्रदान करते हैं। जो लोग सतोगुणी कर्मकाण्ड या तपस्या करते हैं, उन्हें स्वर्गलोक जाने का अवसर प्रदान किया जाता है। *अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।* इसी तरह जो लोग रजोगुण के अन्तर्गत कर्मकाण्ड या सकाम धार्मिक कर्म करते हैं उन्हें इसी पृथ्वी पर महान् शासक या धनिक बनने और महान् प्रतिष्ठा तथा पार्थिव शक्ति भोगने का अवसर दिया जाता है। किन्तु जैसाकि *मनु-संहिता* में कहा गया है : *प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला*—यद्यपि बद्धजीवों में कर्मकाण्ड अत्यन्त लोकप्रिय है, किन्तु वास्तविक जीवन-सिद्धि तो तब मिलती है, जब कोई व्यक्ति सारे सकाम प्रयास छोड़ देता है।

यदि पिता अपने बच्चे से कहता है, "मेरा आदेश है, तुम दवा पिओ" तो वह बच्चा डर सकता है और उत्पात मचाकर दवा को ग्रहण नहीं करता। इसलिए पिता उस सन्तान को यह कह कर लुभाता है, "मैं तुम्हें स्वादिष्ट मिठाई दूँगा, किन्तु तब, जब तुम यह दवा पी लो।" ऐसा अप्रत्यक्ष फुसलाना *परोक्षवाद:* कहलाता है—परोक्ष वर्णन जिसमें वास्तविक अभिप्राय को छिपा लिया जाता है। पिता अपनी सन्तान के समक्ष अपना प्रस्ताव इस रूप में रखता है, मानो असली उद्देश्य मिठाई प्राप्त करना है, जिसे पाने के लिए छोटी-सी शर्त पूरी करनी है। किन्तु वस्तुत: पिता का लक्ष्य बच्चे को दवा पिलाकर उसे रोग से मुक्त कराना है। इस प्रकार मूल प्रयोजन को परोक्ष रूप से बताना और गौण प्रस्ताव से उसे छिपाना *परोक्षवाद* कहलाता है।

चूँकि अधिकांश बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति के आदी होते हैं (*प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्*) इसलिए वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान उन्हें स्वर्ग जाने या पृथ्वी पर शासन करने का पद प्रदान करने जैसे लोभ दिखलाकर उन्हें क्षणिक भौतिकतावादी इन्द्रिय-तृप्ति से अपने को छुड़ाने का अवसर प्रदान करते हैं। समस्त वैदिक अनुष्ठानों में विष्णु की पूजा की जाती है। इस तरह मनुष्य को धीरे धीरे यह समझने दिया जाता है कि उसका हित विष्णु की शरण जाने में है। *न ते विदु: स्वार्थगतिं हि विष्णुम्।* ऐसी परोक्ष विधि *बालानाम्* अर्थात् मूर्खों के लिए है। बुद्धिमान व्यक्ति परोक्ष विधि से तुरन्त ही वैदिक साहित्य के

वास्तविक प्रयोजन को समझ लेता है, जैसाकि स्वयं भगवान् ने बतलाया है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। समस्त वैदिक ज्ञान का चरम लक्ष्य भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त करना है। ऐसी शरण के बिना मनुष्य माया द्वारा प्रदत्त ८४,००,००० योनियों में चक्कर लगाता रहता है। सामान्य रूप से भौतिक दृष्टि अपूर्ण ज्ञान प्रदान करती है, जो भ्रामक भौतिक भोग की इच्छा से विकृत होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टीका है कि बद्धजीवों के लिए निर्विशेष आत्म-साक्षात्कार का अनुशीलन भी एक उत्पात है, क्योंकि निर्विशेष चिन्तन विधि एकदम रूपविहीन बनने का कृत्रिम प्रयास है। ऐसा प्रयास वेदों के उस सही निर्णय के अनुसार नहीं है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)।

श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में व्यर्थ ही सकाम फल पाने की और धीरे धीरे वास्तविक ज्ञान की ओर खींचे जाने की आवश्यकता नहीं रहती। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

कलियुग में जीवन अत्यल्प है (*प्रायेणाल्पायुषः*) और लोग सामान्य रूप से उद्धत (*मन्दाः*), कुमार्गगामी (*सुमन्दमतयः*) तथा अपने पूर्वकर्मों के प्रतिकूल फलों से अभिभूत (*मन्दभाग्याः*) होते हैं। इस तरह उनके मन कभी भी शान्त नहीं रहते (*उपद्रुताः*) और उनकी अल्पायु उन्हें वैदिक कर्मकाण्ड के मार्ग से धीरे धीरे प्रगति करने की संभावना से विचलित करती है। इसलिए एकमात्र यही आशा बचती है कि भगवान् के नाम *हरेर्नाम* का कीर्तन किया जाय। *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५१) में कहा गया है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥

कलियुग दिखावे तथा प्रदूषण का सागर है। कलियुग में सारे प्राकृतिक तत्त्व यथा जल, पृथ्वी, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—प्रदूषित हो चुके हैं। इस पतित युग का केवल एक ही शुभ पक्ष है और वह है भगवन्नाम का कीर्तन (*अस्ति ह्येको महान् गुणः*)। एकमात्र कृष्ण-कीर्तन की उल्लासमयी विधि से मनुष्य इस पतित युग के साथ जुड़े सम्बन्ध से मुक्त हो सकता है (*मुक्तसंगः*) और वापस घर

को अर्थात् भगवद्धाम जा सकता है (*परं व्रजेत्*)। कभी कभी कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारक भी *परोक्षवाद* का प्रयोग करते हैं—वे बद्धजीवों को मुग्ध करने के लिए अच्छी अच्छी मिठाइयाँ देते हैं, जिससे वे भगवान् के चरणकमलों में आयें। चैतन्य महाप्रभु का आन्दोलन *केवल आनन्दकाण्ड* अर्थात् केवल आनन्द है। किन्तु महाप्रभु की दया से कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रति परोक्ष रूप से आकृष्ट व्यक्ति भी शीघ्र ही जीवन-सिद्धि प्राप्त करके भगवद्धाम वापस जाता है।

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

न आचरेत्—नहीं करता है; **यः**—जो; **तु**—लेकिन; **वेद-उक्तम्**—वेदों में संस्तुत किया हुआ; **स्वयम्**—खुद; **अज्ञः**—अज्ञानी; **अजित-इन्द्रियः**—जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया; **विकर्मणा**—शास्त्र-कर्म न करने से; **हि**—निस्सन्देह; **अधर्मेण**—अधर्म द्वारा; **मृत्योः मृत्युम्**—मृत्यु के बाद फिर मृत्यु; **उपैति**—प्राप्त करता है; **सः**—वह।

यदि कोई अज्ञानी जिसने भौतिक इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, वह वैदिक आदेशों में अटल नहीं रहता, तो वह निश्चय ही पापमय तथा अधार्मिक कार्यों में लिप्त रहेगा। इस तरह उसको बारम्बार जन्म-मृत्यु भोगना पड़ेगा।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बतलाया गया था कि यद्यपि वेदों में सकाम कर्म की संस्तुति की गई है, किन्तु मनुष्य-जीवन का वास्तविक लक्ष्य अपने को समस्त भौतिकतावादी कार्यकलापों से मुक्त करना है। इसलिए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने की कोई जरूरत नहीं है, जो संयमित इन्द्रिय-तृप्ति प्रदान करने वाले हैं। किन्तु अज्ञानी व्यक्ति, या यों कहें कि जिसने यह नहीं समझा कि वह भौतिक शरीर नहीं, अपितु कृष्ण का अंशरूप नित्य आत्मा है, वह अपनी भौतिक इन्द्रियों के वेगों को वश में करने में अक्षम होगा। इस तरह संयमित इन्द्रिय-तृप्ति का भोग बताने वाले वैदिक आदेशों की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति पापपूर्ण असंयमित इन्द्रिय-तृप्ति के गड्ढे में जा गिरता है। उदाहरणार्थ, जो लोग मैथुन-इच्छा से पीड़ित रहते हैं, उन्हें *विवाह यज्ञ* करने का आदेश दिया जाता है। हम प्रायः देखते हैं कि तथाकथित ब्रह्मचारी मिथ्या गर्व के कारण विवाह को माया कह कर तिरस्कृत करते हैं। किन्तु यदि ऐसा ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख पाता, तो वह निस्सन्देह अवैध यौन में रत होकर जिसका वैदिक संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपने को नीचे गिरायेगा। इसी तरह कृष्णभावनामृत के नौसिखिया को जी-भरकर *कृष्ण प्रसादम्* खाने के लिए

प्रोत्साहित किया जाता है। कभी कभी भक्तियोग का कच्चा अभ्यासकर्ता विकट भोजन की आदतें प्रदर्शित करने लगता है, जिसके कारण वह असंयमित तथा गर्हित भोज्य वस्तुएँ खाने लगता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *मृत्योर्मृत्युम् उपैति* शब्दों का अर्थ यह है कि मृत्यु के स्वामी यमराज पापी व्यक्ति को नर्क जाने का मुफ्त टिकट काट देते हैं। इसी का वर्णन वेदों में इस प्रकार हुआ है : *मृत्वा पुनर्मृत्युम् आपद्यते अर्द्यमानः स्वकर्मभिः*—जो लोग अपने भौतिकतावादी कर्मों से अपने को असह्य पीड़ा पहुँचाते हैं, उन्हें मृत्यु के समय शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि उन्हें पुनः ऐसी स्थिति में डाल दिया जायेगा, जिसमें मृत्यु होनी है। इसलिए जिनकी इन्द्रियाँ अभी वश में नहीं हुई हैं, उन्हें वैदिक कर्मकाण्डों का यथा विवाह या *यज्ञशिष्ट* का परित्याग नहीं करना चाहिए।

पिछले श्लोक में बच्चे को दवा पिलाने के लिए पिता द्वारा मिठाई से, उसे लुभाये जाने का उदाहरण दिया गया था। यदि बच्चा यह सोच कर पिता की दी हुई मिठाई त्याग देता है कि वह अनावश्यक है, तो वह बालक उस दवा को पीने का अवसर हाथ से चला जाने देता है, जो उसे स्वस्थ बनाने वाली है। इसी तरह, यदि कोई भौतिकतावादी व्यक्ति निर्देश्य इन्द्रिय-तृप्ति के लिए वैदिक आदेशों को ठुकराता है, तो वह शुद्ध नहीं बन सकता, अपितु वह और भी पतित होगा। श्रील जीव गोस्वामी ने भौतिकतावादी व्यक्ति का वर्णन उस व्यक्ति के रूप में किया है, जिसका मन तथा बुद्धि भगवान् के सन्देश में श्रद्धापूर्वक स्थिर नहीं रहते। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन द्वारा प्रतिनिधित्व करने वाले बद्धजीवों को जीवन के वास्तविक लक्ष्य के विषय में अद्भुत बातें बताई हैं। जो व्यक्ति इन उपदेशों में अपने मन को स्थिर नहीं कर पाता, उसे ऐसा भौतिकतावादी व्यक्ति मानना चाहिए, जो पापकर्मों में रुचि रखता है और अतएव जिसे आदर्श वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए। ऐसे वैदिक आदेश श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार सकाम होते हुए भी *पुण्य* माने जाते हैं, अतएव जो इनका दृढ़ता से पालन करता है, उसे नर्क नहीं जाना पड़ता। स्वयं भगवान् ने *भागवत* (११.२०.९) में कहा है—

तावत कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

"मनुष्य को तब तक वैदिक कर्मकाण्ड करते रहना चाहिए, जब तक वह भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्त नहीं हो जाता और मेरे विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने में श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर लेता।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि वेदों में संस्तुति की गई है कि मनुष्य प्रातःकाल उठे, स्नान करे और गायत्री मंत्र का उच्चारण करे। यदि वह ऐसे अनुशासित संयमित जीवन को जान-बूझकर त्यागता है, तो वह धीरे धीरे स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कर्म करने लगता है—अर्थात् वह होटलों में भोजन करता है और स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध बनाता है। इस तरह अपनी इन्द्रियों को वश में न रख पाने से वह पशुवत् बन जाता है। श्रील मध्वाचार्य ने इस सन्दर्भ में टीका की है : *अज्ञः सन्नाचरन्नपि।* भले ही अज्ञान में सही, किन्तु अपने कर्मों का भावी फल न सोच कर वह कर्म करता जाता है। *भगवद्गीता* में अपने कर्मों के भावी फल के प्रति उदासीनता को तमोगुण का लक्षण बतलाया गया है। जिस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे मार्ग में मोटर-कार नहीं चलायेगा, जिसमें खतरा हो, उसी तरह बुद्धिमान व्यक्ति अवैदिक कर्म नहीं करेगा, यदि वह यह जानता है कि अन्तिम परिणाम विपत्ति के रूप में होगा, जिसे यहाँ *मृत्योः मृत्युमुपैति* शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने कहा है कि अज्ञानी व्यक्ति कभी कभी सोचते हैं कि मृत्यु के बाद मनुष्य को स्वयमेव शान्ति प्राप्त होगी। किन्तु पापकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को सबसे अधिक अशान्त दशा प्राप्त होती है, क्योंकि भौतिक कर्म के क्षणिक फल के बदले में मनुष्य को नर्क-यातना भोगनी ही पड़ेगी। ऐसी नारकीय दशा एक बार नहीं, अपितु सदा के लिए और बारम्बार भोगनी होगी, जब तक मनुष्य वैदिक आदेशों से विमुख रहेगा।

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

वेद-उक्तम्—वेदों में वर्णित नियमित कर्म; एव—निश्चय ही; कुर्वाणः—करते हुए; निह्सङ्गः—किसी आसक्ति के बिना; अर्पितम्—प्रदत्त; ईश्वरे—भगवान् को; नैष्कर्म्यम्—भौतिक कर्म तथा इसके फलों से मुक्ति के; लभते—प्राप्त करता है; सिद्धिम्—सिद्धि; रोचन-अर्था—प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से; फल-श्रुतिः—वैदिक शास्त्रों में दिये गये भौतिक फल के वायदे।

निर्लिप्त होकर वेदों द्वारा निर्दिष्ट नियमित कार्यों को सम्पन्न करने और ऐसे कार्य के फल भगवान् को अर्पित करने से मनुष्य को भौतिक कर्म के बन्धन से मुक्ति रूपी सिद्धि मिल जाती

है। प्रामाणिक शास्त्रों में प्रदत्त भौतिक कर्मफल वैदिक ज्ञान के चरम लक्ष्य नहीं हैं, अपितु कर्ता में रुचि उत्पन्न कराने के निमित्त हैं।

तात्पर्य : मनुष्य-जीवन प्रकृति के नियमों द्वारा बद्धजीव को प्रदत्त किया गया अवसर है, जिससे वह भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझ सके। दुर्भाग्यवश मनुष्य-योनि में भी जीव भोजन, निद्रा, सुरक्षा तथा मैथुन जैसी पाशविक वृत्तियों के स्तर को बढ़ाने में लगा रहता है। लगभग कोई भी व्यक्ति जीवन की वास्तविक सफलता—कृष्णभावनामृत—के प्रति रुचि नहीं लेता।

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रश: ।

अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥

"जो लोग भौतिकता में बुरी तरह उलझे हैं और परम सत्य के ज्ञान के विषय में अंधे हैं, उन्हें हे सम्राट! मानव समाज में सुनने के लिए अनेक विषय हैं।" (भागवत २.१.२)

कहा गया है कि *परमकारुणिको वेद:*—वैदिक ज्ञान अत्यन्त कृपालु है—क्योंकि यह पाशविक वृत्ति वाले मनुष्यों को शुद्धि की क्रमिक प्रक्रिया में लगाता है, जिसकी चरम परिणति भगवान् कृष्ण की परम चेतना है। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* में हुई है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)। अधिकांश मनुष्य भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति को सहसा त्याग नहीं पाते। यद्यपि वैदिक साहित्य से वे यह समझते हैं कि ऐसी इन्द्रिय-तृप्ति का भविष्य में घातक प्रभाव पड़ता है। हमें पाश्चात्य देशों में इसका व्यावहारिक अनुभव हुआ जब सरकार ने नागरिकों को सूचित किया कि सिगरेट पीने से फेफड़े का कैंसर होता है, तो अधिकांश लोग अपनी धूम्रपान की आदत नहीं छोड़ पाये। इसलिए वैदिक साहित्य शुद्धि की मन्द प्रक्रिया की संस्तुति करता है, जिसमें बद्धजीव अपने भौतिक कर्मों का फल भगवान् को अर्पित करना सीखता है और इस तरह उन कर्मों को आध्यात्मिक बनाता है। भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति दो अंगों पर आधारित है—स्वाद चखने के लिए जीभ तथा यौन-जीवन के लिए जननेन्द्रियाँ। कृष्ण के अर्चाविग्रह को स्वादिष्ट भोजन भेंट करके तब उच्छिष्ट को कृष्ण-प्रसादम् के रूप में खाने और वैदिक गृहस्थ जीवन के विधि-विधानों को स्वीकार कर कृष्णभावनाभावित सन्तान उत्पन्न करने से मनुष्य सारे भौतिक कर्मों को शुद्ध भक्ति का पद प्रदान करा सकता है। अपने सामान्य कार्यों के फल को भगवान् को अर्पित करने से मनुष्य धीरे धीरे समझता है कि साक्षात् भगवान् ही जीवन के वास्तविक लक्ष्य हैं,

भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति नहीं। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में आगाह किया है कि यदि लोगों को समय से पूर्व गृहस्थ जीवन या भगवान् के भव्य प्रसाद के उच्छिष्ट को त्यागने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, तो ऐसे कृत्रिम त्याग से विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

ऐसे छद्मी लोगों का एक वर्ग है, जो वेदों के दिव्य प्रयोजन का गलत अर्थ लगाकर झूठे ही दावा करता है कि स्वर्ग जाने जैसा कर्मफल, जो कि अग्निष्टोम यज्ञ में प्रदान किया जाता है, वेदों का चरम लक्ष्य है। ऐसे मूर्ख लोगों का वर्णन भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार किया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

''अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारमय शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रिय-तृप्ति तथा ऐश्वर्यमय जीवन की अभिलाषा के कारण ही, वे ऐसा कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।'' (भगवद्गीता २.४२-४३) वैदिक अभिप्राय के ऐसे मूर्खतापूर्ण ज्ञान का खंडन करने के लिए इस श्लोक में *निःसंगः* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है ''भौतिक परिणाम के प्रति अनासक्ति।'' वेदों का वास्तविक प्रयोजन *अर्पितम् ईश्वरे* अर्थात् भगवान् को हर वस्तु अर्पित करना है। परिणाम होता है *सिद्धिम्* अर्थात् जीवन की पूर्णता या कृष्णभावनामृत।

रोचनार्था फलश्रुतिः शब्द स्पष्ट इंगित करते हैं कि वैदिक साहित्य में जिन कर्मफलों का वायदा किया गया है वे भौतिकतावादी पुरुष में वैदिक आदेशों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराने के लिए हैं। यहाँ पर यह उदाहरण दिया जाता है कि बच्चे को मिश्री से लेपित दवा दी जाती है। बालक दवा लेने के लिए इसलिए प्रोत्साहित होता है, क्योंकि उसमें मिश्री का लेप लगा है, जबकि प्रौढ़ व्यक्ति सीधे दवा ले लेगा, क्योंकि वह जानता रहता है कि यह दवा उसके वास्तविक हित में है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* (४.४.२२) में वैदिक ज्ञान के परिपक्व पद का उल्लेख हुआ है : *तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन च*—वेदों की शिक्षा देने से तथा ब्रह्मचर्य, तपस्या,

श्रद्धा तथा नियमित भोजन से बड़े बड़े ब्राह्मणगण परम पुरुष को जान पाते हैं। यह परम पुरुष कृष्ण हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। यद्यपि कभी कभी वेदों के बताये गये अनुष्ठान भौतिक सकाम कर्म के सदृश लग सकते हैं, किन्तु यह कर्म आध्यात्मिक बन जाता है, क्योंकि इसका फल ब्रह्म को अर्पित रहता है। मिश्री–लेपित दवा तथा सामान्य मिश्री देखने या स्वाद में एक–जैसी हो सकती है। किन्तु मिश्री–लेपित दवा में, जो औषधीय गुण है, वह सामान्य मिश्री में नहीं पाया जाता। इसी प्रकार इस श्लोक में आए शब्द *नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिम्* से यह सूचित होता है कि वैदिक आदेशों का पालनकर्ता क्रमशः जीवन की सर्वोच्च सिद्धि, शुद्ध भगवत्प्रेम, को प्राप्त होता है जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है (*प्रेमा पुमर्थो महान्*)।

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

यः—जो; आशु—शीघ्रता से; हृदय-ग्रन्थिम्—हृदय की गाँठ को (भौतिक देह से झूठी पहचान); निर्जिहीर्षुः—काटने का इच्छुक; परात्मनः—दिव्य आत्मा का; विधिना—विधानों से; उपचरेत्—उसे पूजा करनी चाहिए; देवम्—भगवान्; तन्त्र-उक्तेन—तंत्रों द्वारा वर्णित; च—तथा (वेदोक्तम के अतिरिक्त); केशवम्—भगवान् केशव को।

जो व्यक्ति आत्मा को जकड़कर रखने वाली मिथ्या अहंकार की गाँठ को तुरन्त काट देने का इच्छुक होता है, उसे वैदिक ग्रंथों यथा तंत्रों में प्राप्त अनुष्ठानों के द्वारा, भगवान् केशव की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक ग्रंथों में परम सत्य के ऐसे गुह्य वर्णन मिलते हैं, जो दार्शनिक चिन्तन के लिए प्रेरित करते हैं। जो लोग कर्मकाण्ड का पालन करते हैं, उन्हें वेद स्वर्गिक फल प्रदान करते हैं। किन्तु जैसाकि इस अध्याय के श्लोक ४४ में कहा गया है वेदों के ऐसे ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड *बालानाम् अनुशासनम्* हैं—अर्थात् वेदों के ये खण्ड उन अल्पज्ञों या बचकाने लोगों को आकृष्ट करने के लिए हैं, जो ज्ञान तथा कर्म के प्रति आसक्त रहते हैं, ताकि वे वैदिक आदेशों का सहारा लेकर कृष्णभावनामृत के पूर्ण पद तक क्रमशः उन्नति कर सकें।

चूँकि भौतिकतावादी लोगों के लिए अनेक श्लोकों में मार्ग बतलाया जा चुका है, अतः यह श्लोक *विज्ञः* अर्थात् विद्वान अध्यात्मवादियों के लिए विधि बतलाने वाला है। ऐसे विद्वान अध्यात्मवादियों को नियमित पूजा करने की सलाह दी जाती है, जिसका वर्णन भगवान् को प्रत्यक्ष प्रसन्न करने के लिए *श्री*

नारदपञ्चरात्र जैसे वैष्णव तंत्रों में हुआ है। *उपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्* वाक्य यह इंगित करता है कि भगवान् केशव की प्रत्यक्ष पूजा की जाय, जो अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए विविध अवतारों में प्रकट होते हैं। श्रील जयदेव गोस्वामी ने भगवान् की लीलाओं का वर्णन अपने उस गीत में किया है, जिसमें भगवान् केशव के प्रमुख दश अवतार वर्णित हैं—ये हैं मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंहदेव, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, बलराम, बुद्ध तथा कल्कि। *उपचरेद् देवम्* शब्द भगवान् की भक्ति के सूचक हैं। इसलिए *तन्त्रोक्तेन* शब्द से श्री नारद पञ्चरात्र जैसे वैष्णव तंत्रों का अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए, जिसमें केशव की पूजा करने की स्पष्ट एवं विस्तृत विधि दी गई है। वेदों का द्योतन *निगम* शब्द द्वारा किया गया है। इन निगमों की विस्तृत व्याख्या *आगम* या *तंत्र* कहलाती है। जब दिव्य जीव भौतिक शरीर के द्वन्द्वों से बेहूदा तरीके से त्रस्त होने लगता है, तो वह अपनी दिव्य स्थिति के विषय में वेदों से सुनना चाहता है। *आशु* शब्द द्योतन करता है कि जो लोग इस संसार से जल्दी छुटकारा पाने के इच्छुक हैं और पूर्ण ज्ञान के नित्य आनन्दमय जीवन को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें पिछले श्लोकों में वर्णित प्राथमिक वैदिक अनुष्ठानों को एक ओर रख कर सीधे भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए।

लब्ध्वानुग्रह आचार्यात्तेन सन्दर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयात्मनः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; अनुग्रहः—कृपा; आचार्यात्—गुरु से; तेन—उसके द्वारा; सन्दर्शित—दिखाया जाकर; आगमः—वैष्णव तंत्रों (द्वारा दी गई पूजा-विधि); महा-पुरुषम्—परम पुरुष को; अभ्यर्चेत्—शिष्य को चाहिए कि पूजे; मूर्त्या—विशेष साकार रूप में; अभिमतया—जिसे अच्छा समझा जाय; आत्मनः—अपने से।.

शिष्य को वैदिक शास्त्रों के आदेश बतलाने वाले अपने गुरु की कृपा प्राप्त करके, उसे चाहिए कि वह भगवान् के अत्यन्त आकर्षक किसी विशिष्ट साकार रूप में, परमेश्वर की पूजा करे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *लब्ध्वानुग्रहः* शब्द गुरु द्वारा औपचारिक दीक्षा का सूचक है। *पद्म पुराण* में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

प्रामाणिक गुरु को भगवान् के चरणकमलों में शरणागत जीव होना चाहिए। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में कहा गया है—

बोधः कलुषितस्तेन दौरात्म्यं प्रकटीकृतम्।

गुरुर्येन परित्यक्तस्तेन त्यक्तः पुरा हरिः॥

''जब कोई अपने ही गुरु को त्याग देता है, तो वह अपनी बुद्धि को कलुषित करता है और चरित्र की अतीव दुर्बलता को प्रकट करता है। निस्सन्देह ऐसा व्यक्ति भगवान् हरि को पहले ही त्याग चुका होता है।'' प्रामाणिक शिष्य को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उसका सारा वैदिक ज्ञान उसके प्रामाणिक गुरु की कृपा से ही प्राप्त है। यदि कोई व्यक्ति ऊपर से या सनकवश प्रामाणिक वैष्णव गुरु को अपनाता तथा त्यागता है और कभी कभी अन्य गुरु की ओर आकृष्ट होता है, तो वह *वैष्णव अपराध* करता है, जो भगवद्भक्तों के विरुद्ध एक महान् अपराध होता है। कभी कभी मूर्ख नौसिखिया भूल से सोचता है कि गुरु के साथ उसका सम्बन्ध शिष्य की इन्दिय-तृप्ति के लिए है, इसलिए आध्यात्मिक आकांक्षाओं के नाम पर ऐसा मूर्ख अपने प्रामाणिक वैष्णव गुरु का परित्याग कर देता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को गुरु का नित्य दास माने। किन्तु श्रील जीव गोस्वामी ने *नारदपञ्चरात्र* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत्।

पुनश्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद् वैष्णवाद् गुरोः॥

''जिसने अवैष्णव से मंत्र-दीक्षा ली है, उसे नर्क जाना होगा। अतएव उसे निर्धारित विधि से वैष्णव गुरु द्वारा उचित ढंग से पुनः दीक्षित हो लेना चाहिए।'' प्रामाणिक गुरु का यह कर्तव्य है कि वह शिष्य की योग्यता का सतर्कतापूर्वक परीक्षण करे। इसी तरह शिष्य को चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु के पास जाये। अन्यथा मूर्ख शिष्य तथा मनमाना गुरु दोनों ही प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होते हैं।

मनुष्य को वैदिक ज्ञान की समस्त विवादास्पद लगने वाली शाखाओं को कृत्रिम रूप से आत्मसात् नहीं करना चाहिए। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* बद्धजीवों की विविध प्रकृतियाँ विरोधी हैं, जो विरोधी वैदिक आदेशों अर्थात् *प्रवृत्ति* तथा *निवृत्ति मार्ग* में लगी होती हैं। किन्तु सबसे सरल मार्ग है कि *अद्वय ज्ञान* भगवान् विष्णु की नियमित पूजन-विधि को ही सीखा जाय। वेदों में वर्णित सारे देवतागण भगवान्

विष्णु की सेवा के निमित्त साज-सामग्री हैं। इस दृश्य जगत में जो कुछ पाया जाता है, वह भी भगवान् की सेवा में लगाये जाने के निमित्त है, अन्यथा उसका कोई मूल्य नहीं है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् की सेवा के लिए उपयोगी वस्तुओं का बनावटी परित्याग करता है, तो वह हर वस्तु को कृष्ण के आनन्द हेतु देखने की दिव्य योग्यता खो बैठता है और भौतिक वस्तुओं को अपनी इन्द्रियों के भोग हेतु मानने पर विवश हो जायेगा। दूसरे शब्दों में, भौतिक वस्तुओं को परमेश्वर के आनन्द के अनुसार स्वीकार करना या त्यागना चाहिए। अन्यथा वह शुद्ध भक्ति के पद से नीचे गिर जायेगा। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है *लब्ध्वानुग्रह आचार्यात्*—ऐसा विवेक तभी सीखा जा सकता है, जब उसे प्रामाणिक गुरु की कृपा प्राप्त हो। गुरु ही सच्चे शिष्य को वैदिक ज्ञान की व्यावहारिकता बतलाता है।

शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः ।
पिण्डं विशोध्य सन्न्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

शुचिः—स्वच्छ; सम्मुखम्—(अर्चाविग्रह के) समक्ष; आसीनः—बैठे हुए; प्राण-संयमन-आदिभिः—प्राणायाम इत्यादि विधियों से; पिण्डम्—स्थूल शरीर; विशोध्य—शुद्ध करके; सन्न्यास—शरीर के विभिन्न स्थानों पर तिलक लगाकर; कृत-रक्षः—इस तरह भगवान् द्वारा सुरक्षा का आवाहन करके; अर्चयेत्—पूजे; हरिम्—भगवान् हरि को।

अपने को स्वच्छ बनाकर, शरीर को प्राणायाम, भूत-शुद्धि तथा अन्य विधियों से शुद्ध करके एवं सुरक्षा के लिए शरीर में पवित्र तिलक लगाकर, अर्चाविग्रह के समक्ष बैठ जाना चाहिए और भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : *प्राणायाम* शरीर के भीतर श्वास रोकने की प्रामाणिक वैदिक विधि है। इसी प्रकार *भूत-शुद्धि* शरीर को शुद्ध करने की विधि है। *शुचिः* शब्द का अर्थ है, वह जो भीतर तथा बाहर से शुद्ध है। शुचिः का अर्थ है कि केवल भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म किया जाय। यदि भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भगवान् को किसी तरह निरंतर स्मरण किया जाय, तो मनुष्य को जीवन की शुद्ध अवस्था प्राप्त होगी, जैसाकि इस वैदिक मंत्र में वर्णन हुआ है—

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।

यः स्मरेत पुण्डरीकाक्षं स बह्याभ्यन्तर शुचिः॥

(*गरुड़ पुराण*)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि चाहे कोई अपने शरीर में पवित्र तिलक छाप ले, चाहे मुद्राएँ करे और मंत्रोच्चार करे, किन्तु यदि वह अपने मन में इन्द्रिय-तृप्ति का चिन्तन करता रहता है, तो उसकी श्री हरि पूजा व्यर्थ है। अत: यहाँ पर *शुचि:* शब्द यह सूचित करता है कि भगवान् को पवित्र मान कर और अपने को भगवान् का तुच्छ दास समझ कर सही मन से भगवान् की पूजा की जाय। जो लोग भगवान् के प्रति उन्मुख नहीं होते, वे मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा नहीं करना चाहते और लोगों को यह कह कर भगवान् के मन्दिर में जाने से हतोत्साहित करते हैं कि जब भगवान् सर्वव्यापक हैं, तो फिर ऐसा करने की क्या जरूरत? ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्ति हठयोग या राजयोग को सम्पन्न करना अधिक ठीक समझते हैं। किन्तु स्वयं भगवान् के कथन, यथा *वासुदेव: सर्वमिति* तथा *मामेकं शरणं व्रज* यह सूचित करते हैं कि परिपक्व दिव्य अनुभूति होने पर मनुष्य यह समझता है कि भगवान् हर वस्तु के स्रोत हैं, अतएव वे ही एकमात्र आराध्य हैं। इस तरह, जो लोग पञ्चरात्र विधि से भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं, वे भक्तियोग के अलावा अन्य किसी योग-विधि द्वारा आकृष्ट नहीं होते।

अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः ।
द्रव्यक्षित्यात्मलिण्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥ ५० ॥
पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः ।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अर्चा-आदौ—अर्चाविग्रह तथा अपनी साज-सामग्री के रूप में; हृदये—हृदय में; च अपि—भी; यथा-लब्ध—जो भी प्राप्त हो; उपचारकैः—पूजा की सामग्री से; द्रव्य—अर्पित की जाने वाली वस्तुएँ; क्षिति—पृथ्वी; आत्म—अपना मन; लिङ्गानि—तथा अर्चाविग्रह; निष्पाद्य—तैयार करके; प्रोक्ष्य—शुद्धि के लिए जल छिड़क कर; च—तथा; आसनम्—बैठने का आसन; पाद्य-आदीन्—अर्चाविग्रह का चरण धोने तथा अन्य कार्यों के लिए जल; उपकल्प्य—तैयार होकर; अथ—तब; सन्निधाप्य—अर्चाविग्रह को उचित स्थान पर रख कर; समाहितः—मन को एकाग्र करके; हृत्-आदिभिः—अर्चाविग्रह के हृदय तथा अन्य अंगों में; कृत-न्यासः—पवित्र चिह्न बनाकर; मूल-मन्त्रेण—अर्चाविग्रह की पूजा के लिए उपयुक्त मंत्र से; च—तथा; अर्चयेत्—पूजा करे।

भक्त को चाहिए कि अर्चाविग्रह की पूजा के लिए, जो भी वस्तुएँ उपलब्ध हों, उन्हें एकत्र करे, भेंट सामग्री, भूमि, अपना मन तथा अर्चाविग्रह को तैयार करे, अपने बैठने के स्थान को शुद्ध करने के लिए पानी छिड़के और फिर स्नान के लिए जल तथा अन्य साज-सामग्री तैयार करे। इसके बाद भक्त को चाहिए कि अर्चाविग्रह को शरीर से तथा अपने मन से उसके सही

स्थान पर रखे, वह अपना ध्यान एकाग्र करे और अर्चाविग्रह के हृदय पर तथा शरीर के अन्य अंगों पर तिलक लगाये। तब उपयुक्त मंत्र द्वारा पूजा करे।

तात्पर्य : अत: श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद: ॥

(*पद्म पुराण*)

परम सत्य को कभी भी सामान्य इन्द्रिय अनुभूति से नहीं जाना जा सकता। भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे व्यर्थ ही व्यस्त रहने वाले बद्धजीव भगवान् की दिव्य प्रेमाभाक्ति से पूरी तरह अनमने रहते हैं। उनके भौतिकता से बद्ध मन सदैव भौतिक द्वन्द्वों—यथा सम्पन्नता-विपन्नता, ग्रीष्म-शीत, यश-अपयश, यौवन-जरा के अनन्त प्रवाह द्वारा क्षुब्ध एवं मलिन होते रहते हैं। ऐसे विचलित बद्धजीव अर्चाविग्रह के रूप में परब्रह्म की साकारता को नहीं पहचान सकते।

भगवान् का *अर्चा अवतार* उन भौतिकतावादी या नवदीक्षित भक्तों के लिए विशेष अभिव्यक्ति होती है, जो अभी तक भौतिक उपाधियों के प्रभाव के अन्तर्गत रहते हैं। वे भगवान् को उनके नित्य धाम में देख पाने में असमर्थ रहते हैं, इसलिए भगवान् अर्चा-अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और *प्रकाश* अवतार तथा *स्वयंप्रकाश* अर्थात् अपने आदि रूप तक को प्रदर्शित करते हैं। *प्रकाश* अवतार इस जगत में विविध लीलाएँ प्रदर्शित करता है, जबकि *स्वयंप्रकाश* अर्थात् भगवान् का आदि रूप समस्त अवतारों का स्रोत है।

जो व्यक्ति निष्ठापूर्वक अर्चाविग्रह की पूजा करता है, उसके समक्ष अर्चाविग्रह भगवान् के रूप में प्रकट होता है। जो लोग अत्यन्त अभागे हैं, वे भगवान् को उनके दयालु अर्चा के रूप में भी पहचान नहीं पाते। वे अर्चाविग्रह को सामान्य भौतिक वस्तु मानते हैं। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके अर्चाविग्रह की पूजा करना सीख सकता है, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है और इस तरह भगवान् के साथ अपने भूले सम्बन्ध को पुन: जागृत कर लेता है। जो व्यक्ति ऐसी दिव्य अर्चा-पूजा को मूर्ति-पूजा के तुल्य मानता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा पूरी तरह प्रच्छन्न रहता है। आँखों में गुलाबी चश्मा पहनने वाले को सारी दुनिया गुलाबी दिखती है।

इसी तरह वे अभागे जीव, जो प्रकृति के गुणों से बुरी तरह प्रच्छन्न हैं, परमेश्वर समेत हर वस्तु को अपनी दूषित दृष्टि के कारण भौतिक रूप में देखते हैं।

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः ।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥ ५२ ॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गम्सम्पूज्य विधिवत्स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

स-अङ्ग—उनके दिव्य शरीर के अंगों सहित; उपाङ्गाम्—तथा उनके विशिष्ट शारीरिक स्वरूप यथा उनका सुदर्शन चक्र तथा अन्य हथियार; स-पार्षदाम्—अपने निजी संगियों सहित; ताम् ताम्—उन उन; मूर्तिम्—अर्चाविग्रह; स्व-मन्त्रतः—अर्चाविग्रह के ही मंत्र द्वारा; पाद्य—चरण धोने के जल से; अर्घ्य—सत्कार के लिए सुगंधित जल; आचमनीय—मुख धोने का जल; आद्यैः—इत्यादि से; स्नान—स्नान करने के लिए जल; वासः—उत्तम वस्त्र; विभूषणैः—गहनों से; गन्ध—सुगन्ध से; माल्य—गले का हार; अक्षत—चावल; स्रग्भिः—तथा फूलों की मालाओं से; धूप—धूप से; दीप—तथा दीपकों से; उपहारकैः—ऐसी भेंटें; स-अङ्गम्—सभी तरह से; सम्पूज्य—अच्छी तरह पूज कर; विधिवत्—नियत विधानों के अनुसार; स्तवैः स्तुत्वा—स्तुतियों द्वारा अर्चाविग्रह का आदर करके; नमेत्—नमस्कार करे; हरिम्—भगवान् को।

मनुष्य को चाहिए कि अर्चाविग्रह के दिव्य शरीर के प्रत्येक अंग के साथ साथ उनके आयुधों यथा सुदर्शन चक्र उनके अन्य शारीरिक स्वरूपों तथा उनके निजी संगियों की पूजा करे। वह भगवान् के इन दिव्य पक्षों में से हर एक की पूजा, उसके मंत्र तथा पाँव धोने के लिए जल, सुगन्धित जल, मुख धोने का जल, स्नान के लिए जल, उत्तम वस्त्र तथा आभूषण, सुगन्धित तेल, मूल्यवान हार, अक्षत, फूल-मालाओं, धूप तथा दीपों से करे। इस तरह बताये गये विधानों के अनुसार सभी तरह से पूजा करके मनुष्य को चाहिए कि भगवान् हरि के अर्चाविग्रह का आदर स्तुतियों से करे और झुक कर उन्हें नमस्कार करे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने उल्लेख किया है कि *अक्षत* का उपयोग अर्चाविग्रह को तिलक से विभूषित करने के लिए होता है, वास्तविक पूजा में नहीं। *नाक्षतैरर्च्चयेद् विष्णुं न केतक्या महेश्वरम्*—भगवान् विष्णु की पूजा अक्षत से और शिव की केतकी पुष्पों से पूजा नहीं करनी चाहिए।

आत्मानम्तन्मयम्ध्यायन्मूर्तिं सम्पूजयेद्धरेः ।
शेषामाधाय शिरसा स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; तत्—भगवान् में; मयम्—लीन; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; मूर्तिम्—साकार रूप; सम्पूजयेत्—पूरी करह पूजे; हरेः—भगवान् हरि का; शेषाम्—पूजा का जूठन; आधाय—लेकर; शिरसा—अपने सिर पर; स्व-धाम्नि—अपने स्थान में; उद्वास्य—रह कर; सत्-कृतम्—आदरपूर्वक।

पूजा करने वाले को चाहिए कि अपने आपको भगवान् का नित्य दास मान कर ध्यान में पूर्णतया लीन हो जाय और इस तरह यह स्मरण करे कि अर्चाविग्रह उसके हृदय में भी स्थित है, अर्चाविग्रह की भलीभाँति पूजा करे। तत्पश्चात्, उसे अर्चाविग्रह के साज-सामान यथा बची हुई फूल-माला को अपने सिर पर धारण करे और आदरपूर्वक अर्चाविग्रह को उसके स्थान पर वापस रख कर पूजा का समापन करे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तन्मयम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति भगवान् के अर्चाविग्रह रूप की पूजा करके शुद्ध बनता है, वह यह समझ सकता है कि वह अर्थात् पूजक भगवान् का नित्य दास है और गुणात्मक दृष्टि से भगवान् रूपी मूल अग्नि की छोटी चिनगी के समान है। इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने कहा है—

विष्णोर्भृत्योऽहमित्येव सदा स्याद् भगवन्मयः।

नैवाहं विष्णुरस्मीति विष्णुः सर्वेश्वरो ह्यजः॥

''मनुष्य को सोचना चाहिए कि मैं विष्णु का नित्य दास हूँ और मैं उनसे एकाकार हूँ, क्योंकि मैं उनका नित्य भिन्नांश हूँ। किन्तु मैं भगवान् विष्णु नहीं हूँ, क्योंकि विष्णु तो हर वस्तु के परम नियन्ता हैं।''

अर्चापूजन का मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य अपने को भगवान् का नित्य दास समझे। जो व्यक्ति यौन–तृप्ति का आदी है, और अपने को मूर्खतापूर्ण बाह्य भौतिक शरीर समझता है, वह अपने विषय में अपनी धारणा भोक्ता से भोक्त्य में नहीं बदल सकता। ऐसा व्यक्ति *तन्मयम्* का अर्थ यह लगाता है कि पूजक स्वयं भी पूज्य है। श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद ने अपने ग्रंथ *दुर्ग संगमनी* में जो श्रील रूप गोस्वामी प्रभु के ग्रंथ भक्तिरसामृत—सिंधु पर टीका है, लिखा है कि *अहंग्रहोपासना*—अर्थात् ब्रह्म रूप में अपनी पूजा करने की विधि अपने को नित्य–शरण–रूप ब्रह्म से एकाकार होने की निपट भ्रान्त पहचान है। षड् गोस्वामियों ने बारम्बार यह बात स्पष्ट की है। किन्तु *प्राकृत सहजिया* जाति में अज्ञानी लोग मायावादी दार्शनिकों के व्यर्थ के विचारों से प्रभावित होते हैं और इस भ्रान्त धारणा के शिकार

होते हैं कि पूजक परम आश्रय बन जाता है। ऐसा व्यामोह *अपराध* है। इसलिए इस श्लोक में आये *तन्मय* शब्द से यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि पूजक अपने शाश्वत पूज्य पदार्थ के तुल्य बन जाता है।

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः ।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; अग्नि—अग्नि; अर्क—सूर्य; तोय—जल; आदौ—इत्यादि में; अतिथौ—मेहमान में; हृदये—हृदय में; च—भी; यः—जो; यजति—पूजा करता है; ईश्वरम्—ईश्वर को; आत्मानम्—परमात्मा; अचिरात्—बिना विलम्ब किये; मुच्यते—छूट जाता है; हि—निस्सन्देह; सः—वह।

इस प्रकार भगवान् के पूजक को यह पहचान लेना चाहिए कि भगवान् सर्वव्यापक हैं और उन्हें अग्नि, सूर्य, जल तथा अन्य तत्त्वों में, घर में आये अतिथि के हृदय में तथा अपने ही हृदय में उपस्थित जान कर उनकी पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार पूजक को तुरन्त ही मोक्ष प्राप्त हो जायेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''माया से मुक्ति'' नामक तृतीय अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत शिष्यों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

राजा निमि से द्रुमिल द्वारा ईश्वर के अवतारों का वर्णन

इस अध्याय में भगवान् श्री हरि के भूत, वर्तमान तथा भावी अवतारों के विविध रूपों तथा इन अवतारों में से हर एक के दिव्य गुणों का वर्णन किया गया है।

भले ही इस पृथ्वी पर धूल के कणों की गणना की जा सके, किन्तु समस्त शक्तियों के आधार असीम भगवान् हरि के असंख्य दिव्य गुणों की गणना करने का प्रयास निरी मूर्खता होगी। भगवान् नारायण ने अपनी ही माया से निर्मित पंचतत्त्वों से ब्रह्माण्ड की सृष्टि की, फिर परमात्मा-रूप में उस ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया और पुरुष-अवतार के नाम से विख्यात हुए। वे ब्रह्मा के सत्कार रूप में रजोगुण के अन्तर्गत सृष्टि का कार्य सम्पन्न करते हैं, यज्ञेश्वर विष्णु के रूप में सतोगुण द्वारा रक्षा का कार्य करते हैं तथा रुद्र के रूप में तमोगुण के अन्तर्गत संहार का कार्य करते हैं। दक्ष की पुत्री तथा धर्म की पत्नी मूर्ति के गर्भ से मुनियों में सर्वोच्च नर-नारायण के रूप में अवतार लेकर, उन्होंने अपने ही

व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा *नैष्कर्म्यम्* के विज्ञान का प्रदर्शन किया। जब राजा इन्द्र ने कन्दर्प तथा उनके अतिथेयों को बदरिकाश्रम भेज दिया, क्योंकि वह नर-नारायण की तपस्या देख कर भयभीत तथा ईर्ष्यालु हो उठा था, तब मुनि-श्रेष्ठों ने कन्दर्प का सम्मान अतिथि-रूप में किया। तब शान्त हुए कन्दर्प ने भगवान् नर-नारायण ऋषि की स्तुति की। ऋषि के आदेश से कन्दर्प वहाँ से उर्वशी समेत लौट गया और इन्द्र के समक्ष जाकर उससे सारी बातें कह सुनाईं।

भगवान् विष्णु सारे जगत के लाभ हेतु विविध अंशावतारों के रूप में प्रकट होते रहे हैं और उन्होंने हंस, दत्तात्रेय, सनक तथा अन्य कुमार-बन्धुओं एवं ऋषभदेव के रूप में आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश दिया। हयग्रीव के रूप में उन्होंने मधु असुर का वध किया और सारे वेदों को बचाया। मत्स्यावतार में उन्होंने पृथ्वी तथा सत्यव्रत मनु दोनों की रक्षा की। वराह अवतार में उन्होंने पृथ्वी का उद्धार किया और हिरण्याक्ष को विनष्ट किया। कूर्मावतार में उन्होंने मन्दर पर्वत को अपनी पीठ पर धारण किया। श्री हरि के रूप में उन्होंने गजराज को मोक्ष प्रदान किया। भगवान् ने गो-खुर में भरे जल में फँसे वालखिल्यों का उद्धार किया। उन्होंने ब्राह्मण की हत्या करने के पाप से इन्द्र का उद्धार किया और असुरों के महलों में बन्दी देव-पत्नियों को छुड़ाया। नृसिंह-अवतार में उन्होंने हिरण्यकशिपु का वध किया। प्रत्येक मन्वन्तर में वे असुरों का वध करते हैं, देवताओं की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और सारे लोकों की रक्षा करते हैं। वामन-रूप में उन्होंने बलि महाराज को ठगा, परशुराम-रूप में उन्होंने पृथ्वी को २१ बार क्षत्रिय-विहीन किया और श्री राम के रूप में सागर को अपने अधीन बनाकर रावण का वध किया। यदुवंश में अवतरित होकर उन्होंने पृथ्वी का भार उतारा। बुद्ध-रूप में वेदों के विरुद्ध अपने तर्कयुत उपदेश द्वारा उन्होंने उन असुरों को मोहित किया जो यज्ञ करने के लिए अयोग्य थे। कलियुग के अन्त में वे कल्कि-रूप में शूद्र राजाओं का विनाश करेंगे। इस प्रकार भगवान् हरि के असंख्य प्राकट्यों तथा कार्यकलापों का वर्णन इसमें हुआ है।

श्रीराजोवाच

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः ।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; यानि यानि—प्रत्येक; इह—इस जगत में; कर्माणि—कर्मों के; यैः यैः—प्रत्येक द्वारा; स्वच्छन्द—स्वतंत्र रूप से; जन्मभिः—प्राकट्यों के; चक्रे—सम्पन्न किया; करोति—सम्पन्न करता है; कर्ता—सम्पन्न करेगा; वा—अथवा; हरिः—भगवान् हरि; तानि—उन्हें; ब्रुवन्तु—कहें; नः—हमसे।

राजा निमि ने कहा : भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से तथा अपनी इच्छानुसार भौतिक जगत में अवतरित होते हैं। अतएव आप हमें भगवान् हरि की उन विविध लीलाओं को बतलायें, जिन्हें उन्होंने भूतकाल में सम्पन्न किया, इस समय कर रहे हैं और अपने विविध अवतारों में भविष्य में सम्पन्न करेंगे।

तात्पर्य : इस चौथे अध्याय में राजा जयन्ती-पुत्र द्रुमिल को सम्बोधित करेगा। तृतीय अध्याय के ४८वें श्लोक में कहा गया था *मूर्त्याभिमतयात्मनः*—भगवान् का वह रूप जो मनुष्य को सर्वाधिक आकर्षक लगे उस विशेष रूप की ही पूजा की जानी चाहिए। इसी तरह पिछले अध्याय में कहा गया था *स्तवै स्तुत्वा नमेद्धरिम्*—भगवान् हरि की स्तुतियों द्वारा प्रशंसा करने के बाद उनको नमस्कार करना चाहिए। इस तरह यह मान लिया जाता है कि पूजा करने वाले को पूर्ववर्णित पूजा-विधि सम्पन्न करने के लिए भगवान् के दिव्य गुणों तथा लीलाओं का पूरा-पूरा ज्ञान होता है। इसीलिए राजा निमि भगवान् के विविध अवतारों के बारे में उत्सुकता से पूछ रहे हैं, जिससे वे यह निश्चय कर सकें कि भगवान् का कौन-सा रूप उनके द्वारा पूजा के उपयुक्त होगा। यह विदित है कि राजा निमि वैष्णव हैं, जो भगवान् की प्रेमाभक्ति में अग्रसर होना चाहते हैं।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि *अभिमत-मूर्ति* शब्द इसका सूचक नहीं है कि कोई अपने मन से भगवान् का स्वरूप गढ़ ले। *अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्।* भगवान् के सारे स्वरूप *अनादिम्* अर्थात् नित्य हैं। अतएव किसी स्वरूप को मन से गढ़ने का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि ऐसा मनगढन्त *आदि* अर्थात् मनगढन्त रूप का प्रारम्भ होगा। *अभिमत-मूर्ति* का अर्थ यह है कि मनुष्य को भगवान् के नित्य रूपों में से उस रूप को चुन लेना चाहिए, जो उसमें सर्वाधिक भगवत्प्रेम उत्पन्न कर सके। ऐसे प्रेम की नकल नहीं की जा सकती, अपितु स्वतः उभरता है, जब कोई व्यक्ति गुरु द्वारा बताये गये अधिकृत नियमों का पालन करता है और *श्रीमद्भागवत* के इन वर्णनों को विनीत भाव से सुनता है।

श्रीद्रुमिल उवाच

यो वा अनन्तस्य गुनाननन्तान्
अनुक्रमिष्यन्स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत्कथञ्चित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-द्रुमिलः उवाच—श्री द्रुमिल ने कहा; यः—जो; वै—निस्सन्देह; अनन्तस्य—असीम भगवान् के; गुरुणा—दिव्य गुणों को; अनन्तान्—असीम; अनुक्रमिष्यन्—वर्णन करने का प्रयास करते हुए; सः—वह; तु—निश्चय ही; बाल-बुद्धिः—बालकों जैसी बुद्धि वाला मनुष्य है; रजांसि—धूल के कण; भूमेः—पृथ्वी पर; गणयेत्—गिन सकता है; कथञ्चित्—किसी तरह; कालेन—समय के साथ; न एव—किन्तु नहीं; अखिल-शक्ति-धाम्नः—समस्त शक्तियों के आगार के (गुणों)।

श्री द्रुमिल ने कहा : अनन्त भगवान् के अनन्त गुणों का वर्णन करने या गिनने का प्रयास करने वाले व्यक्ति की बुद्धि मूर्ख बालक जैसी होती है। भले ही कोई महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति किसी तरह से पृथ्वी की सतह के धूल-कणों की गिनती करने का समय-अपव्ययी प्रयास कर ले, किन्तु ऐसा व्यक्ति भगवान् के आकर्षक गुणों की गणना नहीं कर सकता, क्योंकि भगवान् समस्त शक्तियों के आगार हैं।

तात्पर्य : राजा निमि की प्रार्थना करने पर कि नव-योगेन्द्र भगवान् के सभी गुणों और लीलाओं का वर्णन करें, उनमें से अब श्री द्रुमिल यहाँ बतलाते हैं कि जो अत्यन्त मूर्ख होगा, वही भगवान् के अनन्त गुणों और लीलाओं का वर्णन करने का प्रयास करेगा। किन्तु ऐसे मूर्ख बाल-तुल्य व्यक्ति उन अज्ञानी भौतिकतावादी विज्ञानियों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, जो भगवान् का उल्लेख किये बिना ही सम्पूर्ण ज्ञान का वर्णन करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि भगवान् का पूरी तरह वर्णन कर पाना असम्भव है, तो भी मूर्ख नास्तिक वैज्ञानिक भगवान् का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किये बिना ही सम्पूर्ण ज्ञान का वर्णन करने का प्रयास करते हैं। ऐसे नास्तिक व्यक्तियों को संकुचित दृष्टि वाला और उनकी दिखावटी उपलब्धियों के बावजूद, जो अन्ततः दुख और विनाश में समाप्त होती हैं, मन्द बुद्धि वाला मानना चाहिए। कहा जाता है किस्वयं भगवान् अनन्तदेव अपनी असंख्य जीभों से भगवान् के यश का पूरी तरह उच्चारण नहीं कर सकते। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त उत्तम है। कोई भी मनुष्य पृथ्वी की सतह के कणों को गिन पाने की आशा नहीं करता, अतएव उसे अपने क्षुद्र प्रयास से भगवान् को समझने का मूर्खतापूर्ण प्रयास नहीं करना चाहिए। उसे विनीत भाव से उस ईश-ज्ञान को सुनना चाहिए, जिसे स्वयं ईश्वर ने *भगवद्गीता* में कहा है और इस तरह उसे धीरे धीरे *श्रीमद्भागवत* श्रवण करने की अवस्था प्राप्त करनी चाहिए। चैतन्य महाप्रभु के अनुसार सागर की एक बूँद को चख कर

सारे सागर के स्वाद का पता लगाया जा सकता है। इसी तरह भगवान् के विषय में विनीत भाव से श्रवण करके मनुष्य परम सत्य को गुणात्मक दृष्टि से जान सकता है, यद्यपि यह ज्ञान मात्रा की दृष्टि से कभी पूरा नहीं हो सकता।

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भूतैः—तत्त्वों के द्वारा; यदा—जब; पञ्चभिः—पाँच (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर); आत्म-सृष्टैः—अपने से उत्पन्न; पुरम्—शरीर; विराजम्—सूक्ष्म रूप ब्रह्माण्ड की; विरचय्य—रचना करके; तस्मिन्—उसके भीतर; स्व-अंशेन—अपने अंश के द्वारा; विष्टः—प्रवेश करते हुए; पुरुष-अभिधानम्—पुरुष-नाम; अवाप—धारण किया; नारायणः—नारायण; आदि-देवः—आदि भगवान्।

जब आदि भगवान् नारायण ने अपने में से उत्पन्न पाँच तत्त्वों से अपने विराट शरीर की रचना की और फिर अपने ही अंश से उस विराट शरीर में प्रविष्ट हो गये, तो वे पुरुष नाम से विख्यात हुए।

तात्पर्य : *इस श्लोक के भूतै पञ्चभि:* शब्द पाँच स्थूल तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर—के द्योतक हैं, जो भौतिक जगत की रचना करने वाले मूलभूत तत्त्व हैं। जब बद्धजीव इन पाँच तत्त्वों के भीतर प्रविष्ट होता है, तो मन तथा बुद्धि कार्य करने लगते हैं और चेतना प्रकट होती है। दुर्भाग्यवश प्रकृति के गुणों के अधीन जो चेतना प्रकट होती है, वह अहंकार द्वारा शासित होती है, जिसमें जीव गलती से अपने को भौतिक तत्त्वों का भोक्ता मान बैठता है। यद्यपि पुरुषोत्तम भगवान् वैकुण्ठ में स्थित रहते हैं, किन्तु यज्ञ के माध्यम से भौतिक तत्त्व भी उनके भोग के लिए होते हैं। यह भौतिक जगत देवी-धाम अर्थात् माया देवी का आवास कहलाता है। *ब्रह्म-संहिता* में बतलाया गया है कि भगवान् अपनी अपरा शक्ति माया द्वारा कभी भी आकृष्ट नहीं होते, किन्तु जब भौतिक सृष्टि का उपयोग भगवद्भक्ति में किया जाता है, तो वे जीव की भक्ति तथा त्याग से आकृष्ट होते हैं और इस तरह परोक्ष रूप में वे भौतिक जगत के भी भोक्ता हैं।

हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा तथा परमात्मा के रूप में भगवान् नारायण की लीलाएँ उनकी वैकुण्ठ-लोक की नित्य लीलाओं से निम्नस्तरीय होती होंगी। यदि इस जगत के

अपने कार्यों में दिव्य ज्ञान और आनन्द में भगवान् नारायण को कोई कमी लानी होती, तो उन्हें माया के सम्पर्क से प्रभावित बद्धजीव माना गया होता। किन्तु माया के प्रभाव से शाश्वत पृथक् रहने वाले परमात्मा-रूप नारायण के इस ब्रह्माण्ड में दिव्य कार्यकलाप उनके वैकुण्ठ-लोक के कार्यकलापों जैसे ही हैं। भगवान् के सारे कार्यकलाप उनकी अनन्त आध्यात्मिक लीलाओं के अंशरूप हैं।

यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्-काये—जिनके शरीर के भीतर; एषः—यह; भुवन-त्रय—ब्रह्माण्ड के तीनों लोकों के; सन्निवेशः—विस्तृत व्यवस्था; यस्य—जिसकी; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; तनु-भृताम्—देहधारी जीवों के; उभय-इन्द्रियाणि—दोनों प्रकार की (ज्ञानार्जन करने वाली तथा कर्म करने वाली) इन्द्रियाँ; ज्ञानम्—ज्ञान; स्वतः—अपने से; श्वसनतः—उनके श्वास से; बलम्—शारीरिक बल; ओजः—इन्द्रियों की शक्ति; ईहा—कार्यकलाप; सत्त्व-आदिभिः—सतो, रजो तथा तमोगुणों द्वारा; स्थिति—पालन; लय—संहार; उद्भवे—तथा सृष्टि में; आदि-कर्ता—आदि कर्म करने वाला।

उनके शरीर के भीतर इस ब्रह्माण्ड के तीनों लोक विस्तृत रूप से स्थित हैं। उनकी दिव्य इन्द्रियाँ समस्त देहधारी जीवों की ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न करती हैं। उनकी चेतना से बद्ध-ज्ञान उत्पन्न होता है और उनके प्रबल श्वास से देहधारी जीवों का शारीरिक बल, ऐन्द्रिय शक्ति तथा बद्ध-कर्म उत्पन्न होते हैं। वे सतो, रजो तथा तमोगुणों के माध्यम से आदि गति प्रदान करने वाले हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार होता है।

तात्पर्य : जब बद्धजीव अपने अति श्रमसाध्य कार्यों से थक जाता है या रोग, मृत्यु अथवा भय से पराजित हो जाता है, तो वह व्यावहारिक ज्ञान अथवा कर्म को प्रकट करने की सारी शक्ति खो बैठता है। इस तरह हमें यह समझना चाहिए कि भगवान् की कृपा के बिना न तो हम कार्य कर सकते हैं, न ज्ञान का अनुशीलन कर सकते हैं। भगवान् की कृपा से बद्धजीव को भौतिक शरीर प्राप्त होता है, जो भगवान् के असीम आध्यात्मिक शरीर का विकृत प्रतिबिम्ब होता है। इस तरह जीव समाज, मैत्री तथा प्रेम के अज्ञानपूर्ण भौतिकतावादी कार्यकलापों में व्यस्त रहता है। किन्तु भौतिक शरीर के अदृश्य विनाश के साथ ही सारा कार्यक्रम सहसा समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार हमारा भौतिक ज्ञान क्षण-भर में किसी भी समय शून्य हो सकता है, क्योंकि भौतिक प्रकृति स्वयं निरन्तर परिवर्तित होती रहती है।

भगवान् ही ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के आदि चालक हैं। जीव को चाहिए कि जिसने मोह की इतनी सुविधा उसे प्रदान की है, वह उस भगवान् को समझने का प्रयास करे। वास्तव में भगवान् चाहते हैं कि बद्धजीव उनकी शरण में जाये और भगवान् के यहाँ आनन्द तथा ज्ञान से युक्त नित्य जीवन पुनः प्राप्त करे। बद्धजीव को तर्क करना चाहिए, ''यदि भगवान् मुझे अज्ञान में लीन होने के लिए इतनी सुविधा प्रदान कर रहे हैं, तो वे अवश्य ही इस अज्ञान से निकलने के लिए मुझे उससे भी अधिक सुविधाएँ प्रदान कर सकते हैं, यदि मैं मूर्खतापूर्ण चिन्तन न करके, उनके आदेश का विनयपूर्वक पालन करूँ।

इस श्लोक में गर्भोदकशायी विष्णु का अर्थात् भगवान् के पुरुष-अवतारों में दूसरी अवस्था का वर्णन हुआ है। यह गर्भोदकशायी विष्णु, जिसकी महिमा का वर्णन पुरुष सूक्त स्तुतियों में हुआ है, हर जीव के हृदय में प्रवेश करने के लिए परमात्मा-रूप में अपना विस्तार करता है। भगवान् के नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—के कीर्तन द्वारा इस पतित युग में भी भगवान् को मनुष्य के हृदय में पाया जा सकता है। भगवान् हमारी ही तरह पुरुष हैं, किन्तु वे अनन्त हैं। फिर भी क्षुद्र जीव तथा अनन्त भगवान् के मध्य साकार प्रेमपूर्ण सम्बन्ध विद्यमान रहता है। इस साकार सम्बन्ध के प्रसंग में भक्तियोग एकमात्र उपयुक्त विधि है, जिससे हम भगवान् के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को जान सकते हैं।

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आदौ—प्रारम्भ में; अभूत्—बना; शत-धृतिः—ब्रह्मा; रजसा—रजोगुण से; अस्य—इस जगत का; सर्गे—सृष्टि में; विष्णुः—भगवान् विष्णु; स्थितौ—पालन में; क्रतु-पतिः—यज्ञ का स्वामी; द्विज—द्विजन्मा ब्राह्मणों का; धर्म—धार्मिक कर्तव्यों का; सेतुः—रक्षक; रुद्रः—शिव; अप्ययाय—संहार हेतु; तमसा—तमोगुण द्वारा; पुरुषः—परम पुरुष; सः—वह; आद्यः—आदि; इति—इस प्रकार; उद्भव-स्थिति-लयाः—सृजन, पालन तथा संहार; सततम्—सदैव; प्रजासु—उत्पन्न किये गये प्राणियों में से।

प्रारम्भ में आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के निमित्त रजोगुण के माध्यम से ब्रह्मा का रूप प्रकट किया। भगवान् ने ब्रह्माण्ड का पालन करने के लिए विष्णु-रूप में अपना स्वरूप प्रकट किया, जो यज्ञ का स्वामी है और द्विजन्मा ब्राह्मणों तथा उनके

धार्मिक कर्तव्यों का रक्षक है। और जब ब्रह्माण्ड का संहार करना होता है, तो यही भगवान् तमोगुण का प्रयोग करते हुए अपना रुद्र-रूप प्रकट करते हैं। इस तरह उत्पन्न किये गये जीव सदैव सृष्टि, पालन तथा संहार की शक्तियों के अधीन रहते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् को *आदि-कर्ता* अर्थात् भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार के लिए उत्तरदायी आदि पुरुष कहा गया था। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *आदि-कर्ता* का अर्थ परवर्ती सृजनकर्ता, पालक तथा संहारक है। अन्यथा *आदि* का कोई अर्थ नहीं होगा। इसलिए इस श्लोक में बतलाया गया है कि परमसत्य अपना विस्तार गुणावतारों के रूप में करते हैं, जो क्रमशः रजो, सतो तथा तमोगुणों के द्वारा ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार करते हैं।

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण बात है कि यद्यपि इस श्लोक में रजोगुण के माध्यम से सृष्टि और तमोगुण के माध्यम से संहार का वर्णन हुआ है, किन्तु सतोगुण द्वारा भगवान् विष्णु द्वारा पालन का उल्लेख नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि विष्णु *विशुद्ध सत्त्व* हैं। यद्यपि शिव तथा ब्रह्मा प्रकृति के गुणों के अधीक्षकों के रूप में अपने अपने कर्तव्यों द्वारा थोड़ा-बहुत प्रभावित होते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु *विशुद्ध सत्त्व* हैं—वे सतोगुण के द्वारा भी कल्मष से परे हैं। जैसाकि वेदों में कहा गया है *न तस्य कार्यं करणंच विद्यते*—भगवान् के कोई वृत्तिपरक कर्तव्य नहीं है। एक ओर जहाँ शिव तथा ब्रह्मा को भगवान् के दासों के रूप में माना जाता है, वहीं विष्णु नितान्त दिव्य हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में विष्णु को *क्रतुपतिः* कहा गया है, जो इसके पूर्व युग में प्रजापति रुचि के पुत्र सुयज्ञ के अवतार समझे जाते हैं। ब्रह्मा तथा शिव तो भगवान् की सेवा में दत्तचित्त रहते हैं, किन्तु विष्णु साक्षात् भगवान् हैं, अतएव इस श्लोक में वर्णित ब्राह्मणों तथा धर्म का पालन करने के (*द्विजधर्म सेतु*) उनके कार्यकलाप वृत्तिपरक कर्तव्य नहीं अपितु *लीला* हैं। अतः श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *गुणावतार* होने के अतिरिक्त विष्णु *लीलावतार* भी हैं। *महाभारत* (शान्ति पर्व) में विष्णु से निकलने वाले कमल-पुष्प से ब्रह्मा का जन्म और तत्पश्चात् ब्रह्मा की क्रुद्ध आँखों से शिवजी का जन्म दिखलाया गया है। किन्तु विष्णु स्वयंप्रकाश भगवान् हैं, जो अपनी अन्तरंगा शक्ति से ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होते हैं, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.८.१५) में कहा गया है—

तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः ।

प्रावीविशत् सर्वगुणावभासम्॥

निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् विष्णु परम नियन्ता हैं, जिनका साकार रूप सच्चिदानन्द है, जो अनादि हैं, किन्तु सभी वस्तुओं के आदि हैं, जो गोविन्द-नाम से जाने जाते हैं और जो समस्त कारणों के कारण हैं, जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है। फिर भी वही नित्य भगवान् ब्रह्माजी तथा शिव के रूप में प्रकट होते हैं, क्योंकि ब्रह्मा तथा शिव आदि नियन्ताओं के रूप में भगवान् की शक्ति तथा परम इच्छा प्रकट करते हैं, यद्यपि वे स्वयं सर्वोच्च नहीं हैं।

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः ।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म
योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धर्म की (पत्नी); दक्ष-दुहितरि—दक्ष की पुत्री द्वारा; अजनिष्ट—उत्पन्न हुआ था; मूर्त्याम्—मूर्ति द्वारा; नारायणः नरः—नर-नारायण; ऋषि-प्रवरः—ऋषि श्रेष्ठ; प्रशान्तः—अत्यन्त शान्त; नैष्कर्म्य-लक्षणम्—समस्त भौतिक कर्म की समाप्ति के लक्षण से युक्त; उवाच—कहा; चचार—तथा सम्पन्न किया; कर्म—कर्तव्य; यः—जो; अद्य अपि—आज भी; च—भी; आस्ते—जीवित है; ऋषि-वर्य—श्रेष्ठ ऋषियों द्वारा; निषेवित—सेवा किया जाकर; अङ्घ्रिः—पाँव।

परम शान्त तथा ऋषियों में श्रेष्ठ नर-नारायण ऋषि का जन्म धर्म तथा उनकी पत्नी दक्षपुत्री मुर्ति के पुत्र के रूप में हुआ था। नर-नारायण ऋषि ने भगवद्भक्ति की शिक्षा दी, जिससे भौतिक कर्म का अन्त हो जाता है और उन्होंने स्वयं इस ज्ञान का पूरी तरह से अभ्यास किया। वे आज भी जीवित हैं और उनके चरणकमलों की सेवा बड़े बड़े सन्त-पुरुषों द्वारा की जाती है।

तात्पर्य : ऐसा ज्ञात है कि नर-नारायण ऋषि ने नारद मुनि जैसे महान् सन्त-पुरुषों को दिव्य ज्ञान प्रदान किया। उन्हीं शिक्षाओं के बल पर नारद मुनि *नैष्कर्म्यम्* का वर्णन कर सके, जो कर्म का विनाश करने वाली भगवान् की भक्ति है, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.३.८) में कहा गया है—*तन्त्रं सात्वतम् आचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः। आत्म-स्वरूप* या कि जीव का नित्य स्वरूप भगवान् की सेवा है। किन्तु हमारे नित्य स्वरूप की अनुभूति जीवन की भौतिक विचारधारा से प्रच्छन्न है, जिस प्रकार हमारे जीवन की सामान्य जानकारी स्वप्न द्वारा प्रच्छन्न है। *नैष्कर्म्यम्* केवल भगवद्भक्ति द्वारा सम्भव है जैसाकि स्वयं नारद मुनि ने कहा है : *नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानम् अलं निरञ्जनम्* (भागवत १.५.१२)। सामान्य कर्म को *नैष्कर्म्य* में बदलने की विधि का सारांश श्रील प्रभुपाद ने नारद मुनि द्वारा

कहे गये इस श्लोक की टीका में दिया है, "जिस सकाम कर्म में प्राय: सारे लोग लगे रहते हैं वह चाहे प्रारम्भ में हो या अन्त में, सदैव कष्टकर होता है। यह तभी फलप्रद हो सकता है, जब इसे भगवान् की सेवा के अधीन कर दिया जाय। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है कि ऐसे सकाम कर्म के फल को भगवान् की सेवा में अर्पित कर दिया जाय, अन्यथा इससे भव-बन्धन उत्पन्न होता है। सकाम कर्मों का असली भोक्ता भगवान् है, अतएव जब इसे जीवों की इन्द्रिय-तृप्ति में लगाया जाता है, तो यह कष्ट का कारण बन जाता है।" *मत्स्य पुराण* के अनुसार (३.१०) नर-नारायण ऋषि के पिता, धर्म, का जन्म ब्रह्मा के दाहिने वक्षस्थल से हुआ था और बाद में प्रजापति दक्ष की तेरह पुत्रियों से उनका विवाह हुआ था। भगवान् स्वयं मूर्ति देवी की कुक्षि से उत्पन्न हुए।

इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति
कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम् ।
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः
स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥ ७॥

शब्दार्थ

इन्द्रः—इन्द्र; विशङ्क्य—डर कर; मम—मेरा; धाम—राज्य; जिघृक्षति—निगल जाना चाहता है; इति—इस प्रकार सोच कर; कामम्—कामदेव को; न्ययुङ्क्त—लगाया; स-गणम्—उसके संगियों समेत; सः—उस (कामदेव) ने; बदरी-उपाख्यम्—बदरिकाश्रम तक; गत्वा—जाकर; अप्सरः-गण—अप्सराओं के साथ; वसन्त—वसन्त ऋतु; सु-मन्द-वातैः—तथा मन्द वायु से; स्त्री-प्रेक्षण—स्त्रियों की चितवनों से (बने); इषुभिः—तीरों से; अविध्यत्—बींधने का प्रयास किया; अतत्-महि-ज्ञः—उनकी महानता को न जानते हुए।

यह सोच कर कि नर-नारायण ऋषि अपनी कठिन तपस्या से अत्यन्त शक्तिशाली बन कर उसका स्वर्ग का राज्य छीन लेंगे, राजा इन्द्र भयभीत हो उठा। इस तरह भगवान् के अवतार की दिव्य महिमा को न जानते हुए इन्द्र ने कामदेव तथा उसके संगियों को भगवान् के आवास बदरिकाश्रम भेजा। जब वसन्त ऋतु की मनोहारी मन्द वायु ने अत्यन्त कामुक वातावरण उत्पन्न कर दिया, तो स्वयं कामदेव ने सुन्दर स्त्रियों की बाँकी चितवनों के तीरों से भगवान् पर आक्रमण किया।

तात्पर्य : यह श्लोक तथा इसके आगे के ९ श्लोकों में भगवान् के परम वैराग्य-ऐश्वर्य को दर्शाया गया है। *अतन्-महि-ज्ञः* अर्थात् "भगवान् की महिमा को न समझते हुए" शब्द सूचित करता है कि भगवान् को इन्द्र अपने ही स्तर पर रख रहा था और उन्हें सामान्य भोक्ता समझ रहा था, जो संसारी

यौन-जीवन के प्रति आकृष्ट होता है। इन्द्र द्वारा नर-नारायण ऋषि को गिराने के षड्यंत्र से भगवान् तनिक भी प्रभावित नहीं हुए, किन्तु इससे इन्द्र की संकुचित दृष्टि प्रकट होती है। स्वर्गलोक से जुड़े होने के कारण इन्द्र यह मान बैठा था कि भगवान् स्वर्ग-धाम को लेने जैसे क्षणिक मायाजाल के लिए तपस्या कर रहे थे (*त्रिदशपूर आकाशपुष्पायते*)।

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः
प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान् ।
मा भैर्विभो मदन मारुत देववध्वो
गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विज्ञाय—जान कर; शक्र—इन्द्र द्वारा; कृतम्—किया गया; अक्रमम्—अपराध; आदि-देवः—आदि भगवान्; प्राह—बोले; प्रहस्य—हँस कर; गत-विस्मयः—गर्व से रहित; एजमानान्—थरथरा रहे; मा भैः—मत डरो; विभो—हे सर्वशक्तिमान; मदन—कामदेव; मारुत—हे वायु-देव; देव-वध्वः—हे देवताओं की पत्नियो; गृह्णीत—स्वीकार करो; नः—हमसे; बलिम्—ये उपहार; अशून्यम्—रिक्त नहीं; इमम्—इस (आश्रम) को; कुरुध्वम्—बनाइये।

इन्द्र द्वारा किये गये अपराध को समझते हुए आदि भगवान् गर्वित नहीं हुए। अपितु कामदेव तथा कँपकँपा रहे उसके साथियों से वे हँसते हुए इस प्रकार बोले, "हे शक्तिशाली मदन, हे वायु-देव तथा देवताओं की पत्नियो, डरो नहीं। कृपया मेरे द्वारा दी जाने वाली भेंटें स्वीकार करो और अपनी उपस्थिति से मेरे आश्रम को पवित्र बनाओ।"

तात्पर्य : *गतविस्मय* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई व्यक्ति कठिन तपस्या करके गर्वित हो उठता है, तो ऐसी तपस्या को भौतिक माना जाता है। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं महान् तपस्वी हूँ। श्री नर-नारायण तुरन्त ही इन्द्र की मूर्खता समझ गये, इसीलिए उन्हें सारी स्थिति पर हँसी आ रही थी। कामदेव तथा स्वर्ग की स्त्रियाँ अपने महान् अपराध को समझ कर नर-नारायण के समक्ष इस भय से काँप रही थीं कि उन्हें प्रबल शाप मिलने वाला है। किन्तु भगवान् ने अत्यन्त उदात्त साधु-आचरण प्रदर्शित करते हुए उन्हें आश्वस्त किया *मा भै* अर्थात् घबड़ाओ नहीं और उन्हें उत्तम *प्रसादम्* तथा पूजा की अन्य वस्तुएँ भेंट कीं। उन्होंने कहा, "यदि आप लोग मुझे देवताओं तथा अन्य पूजनीय व्यक्तियों के लिए अपना आतिथ्य नहीं करने देंगे, तो फिर मेरे आश्रम का क्या लाभ है? मेरा आश्रम आप जैसे सम्मान्य व्यक्तियों का आदर किये बिना शून्य लगेगा।

इसी प्रकार कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व के प्रमुख नगरों में सुन्दर केन्द्रों की स्थापना कर रहा है। इन केन्द्रों में से कुछ में, यथा लॉस ऐंजिलिस, मुम्बई, लन्दन, पेरिस तथा मेलबोर्न में भव्य प्रचार–आश्रम स्थापित हैं। किन्तु इन सुन्दर इमारतों में जो वैष्णव रह रहे हैं, वे यह अनुभव करते हैं कि यदि इनमें अतिथिगण कृष्ण के विषय में सुनने और उनके नाम–कीर्तन करने के लिए नहीं आते, तो वे शून्य (रिक्त) हैं। इस प्रकार सुन्दर आश्रमों की स्थापना अपनी इन्द्रिय–तृप्ति के लिए न करके शान्ति से कृष्णभावनामृत सम्पन्न करने और अन्यों को कृष्णभावनामृत अंगीकार करने के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से की जानी चाहिए।

इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः
सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः ।
नैतद्विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं
स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; ब्रुवति—बोल चुकने पर; अभय-दे—अभय प्रदान करने वाला; नर-देव—हे राजा (निमि); देवाः—देवतागण (कामदेव तथा उसके साथी); स-व्रीड—लज्जावश; नम्र—झुके हुए; शिरसः—अपने सिरों से; स-घृणम्—दया की भीख माँगते; तम्—उससे; ऊचुः—बोले; न—नहीं; एतत्—यह; विभो—हे सर्वशक्तिमान; त्वयि—तुम्हारे लिए; परे—परम; अविकृते—अपरिवर्तित; विचित्रम्—विस्मयकारी; स्व-आराम—आत्मतुष्ट; धीर—तथा गम्भीर मन वाले; निकर—समूह द्वारा; आनत—झुकाया गया; पाद-पद्मे—चरणकमलों पर।

हे राजा निमि, जब नर-नारायण ऋषि ने देवताओं के भय को दूर करते हुए इस प्रकार कहा, तो उन्होंने लज्जा से अपने सिर झुका लिये और भगवान् से दया की भीख माँगते हुए इस प्रकार बोले, "हे प्रभु, आप सदैव दिव्य हैं, मोह की पहुँच से परे हैं, अतएव आप नित्य अविकारी हैं। हमारे महान् अपराध के बावजूद आपकी अहैतुकी कृपा आपमें कोई असामान्य घटना नहीं है, क्योंकि असंख्य आत्माराम तथा क्रोध और मिथ्या अहंकार से मुक्त मुनिजन आपके चरणकमलों पर विनयपूर्वक अपना शीश झुकाते हैं।

तात्पर्य : देवताओं ने कहा : "हे प्रभु! यद्यपि देवता तथा साधारण मनुष्य जैसे सामान्य जीव गर्व तथा क्रोध से सदा विचलित होते रहते हैं, किन्तु आप दिव्य हैं। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि गलती करने वाले देवतागण आपकी महिमा को न समझ पाये हों।"

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य बर्हिषि बलीन्ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुम; सेवताम्—सेवा करने वालों को; सुर-कृताः—देवताओं द्वारा बनाये गये; बहवः—अनेक; अन्तरायाः—उत्पात; स्व-ओकः—अपने ही धाम (देव-लोक); विलङ्घ्य—पार करके; परमम्—परम; व्रजताम्—जाने वाले; पदम्—धाम को; ते—तुम्हारे; न—ऐसे नहीं हैं; अन्यस्य—दूसरों के; बर्हिषि—यज्ञों में; बलीन्—भेंटें; ददतः—देने वाले के लिए; स्व-भागान्—अपने अपने हिस्सों को; धत्ते—(भक्तों के) स्थान; पदम्—पाँव; त्वम्—तुम; अविता—रक्षक; यदि—इसलिए; विघ्न—बाधा के; मूर्ध्नि—सिर पर।

देवतागण उन लोगों के मार्ग में अनेक अवरोध प्रस्तुत करते हैं, जो देवताओं के अस्थायी आवासों को लाँघ कर, आपके परम धाम पहुँचने के लिए आपकी पूजा करते हैं। वे लोग, जो यज्ञों में देवताओं को उनका नियत भाग भेंट में दे देते हैं, ऐसे किसी अवरोध का सामना नहीं करते। किन्तु क्योंकि आप अपने भक्त के प्रत्यक्ष रक्षक हैं, अतएव वह उन सभी अवरोधों को, जो उसके सामने देवताओं द्वारा रखे जाते हैं, लाँघ जाने में समर्थ होता है।

तात्पर्य : कामदेव समेत सारे देवतागण भगवान् नर-नारायण ऋषि के चरणकमलों पर किये गये अपराध को समझते हुए यहाँ पर भगवान् की तुलना में देवताओं के तुच्छ पद की ओर इंगित कर रहे हैं। जिस तरह किसान को अपनी कृषि-आय का कुछ हिस्सा कर के रूप में राजा को या राजनैतिक प्रधान को देना पड़ता है, उसी तरह सारे मनुष्यों को अपनी भौतिक सम्पत्ति का कुछ प्रतिशत देवताओं को यज्ञ-रूप में देना होता है। किन्तु *भगवद्गीता* में भगवान् ने बतलाया है कि देवता भी उनके सेवक हैं और वे स्वयं ही देवताओं के माध्यम से सारे वर देते हैं। *मयैव विहितान् हि तान्।* यद्यपि वैष्णव भक्त को देवताओं की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु देवतागण अपने उच्च पद से गर्वित होकर कभी कभी भगवान् के प्रति वैष्णव की एकनिष्ठता का विरोध करते हैं और भक्त को नीचे गिराने का प्रयास करते हैं, जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है (*सुरकृता बहवोऽन्तरायाः*)। किन्तु देवतागण यहाँ इंगित करते हैं कि कृष्ण अपने भक्तों के प्रत्यक्ष रक्षक हैं। अतएव तथाकथित अवरोध एकनिष्ठ भक्त के लिए आध्यात्मिक उन्नति में योगदान करने वाले बन जाते हैं।

यहाँ पर देवता कहते हैं : "हे प्रभु! हमने सोचा कि हम अपनी मूर्खतापूर्ण चालों से आपकी चेतना को विचलित कर सकते हैं। किन्तु आपकी कृपा से आपके भक्त तक हमारी परवाह नहीं करते,

अतएव आप हमारे मूर्खतापूर्ण व्यवहार को गम्भीरता से क्यों लेने लगे?'' यहाँ पर *यदि* शब्द इस निश्चितता का सूचक है कि कृष्ण अपने शरणागतों के सदैव रक्षक हैं। यद्यपि भगवान् की महिमा का प्रचार करने वाले निष्ठावान भक्त के मार्ग में अनेक अवरोध हो सकते हैं, किन्तु ऐसे अवरोधों से भक्तों का संकल्प दृढ़ होता है। अतएव श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार देवताओं द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले अवरोध उस निसेनी या सीढ़ी के समान हैं, जिनसे चढ़ कर भक्त भलीभाँति भगवद्धाम पहुँच जाता है। ऐसा ही श्लोक *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (१०.२.३३) आया है—

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

''हे माधव, हे लक्ष्मी-पति, यदि आपके प्रेमी भक्त कभी भक्ति के मार्ग से च्युत होते हैं, तो वे अभक्तों की तरह नहीं गिरते, क्योंकि आप तब भी उनकी रक्षा करते हैं। इस तरह वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करके निर्भय विचरण करते हैं और भक्ति में प्रगति करते जाते हैं।''

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्वशैष्णा-
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित्।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति ॥ ११॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; त्रि-काल-गुण—काल की तीन अवस्थाओं की अभिव्यक्ति (यथा गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि); मारुत—हवा; जैह्व—जीभ का भोग; शैष्णान्—तथा शिश्न के; अस्मान्—हम; अपार—असंख्य; जल-धीन्—समुद्र; अतितीर्य—पार करके; केचित्—कुछ मनुष्य; क्रोधस्य—क्रोध का; यान्ति—प्राप्त करते हैं; विफलस्य—जो कि व्यर्थ है; वशम्—वेग को; पदे—पाँव या खुर (के चिह्न) में; गोः—गाय के; मज्जन्ति—डूब जाते हैं; दुश्चर—कर पाना कठिन; तपः—तपस्या; च—तथा; वृथा—व्यर्थ; उत्सृजन्ति—वे फेंक देते हैं।

कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो हमारे प्रभाव को लाँघने के उद्देश्य से कठिन तपस्या करते हैं, जो भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी तथा कालजनित अन्य परिस्थितियों यथा रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय के वेगों की अन्तहीन लहरों से युक्त अगाध समुद्र की तरह है। इस तरह कठिन तपस्या के द्वारा इन्द्रिय-तृप्ति के इस समुद्र को पार कर लेने पर भी, ऐसे व्यक्ति व्यर्थ के क्रोध के वशीभूत होने

पर मूर्खता से गो-खुर में डूब जाते हैं। इस तरह वे अपनी कठिन तपस्या के लाभ को व्यर्थ गँवा बैठते हैं।

तात्पर्य : जो लोग भगवान् की भक्ति स्वीकार नहीं करते, उन्हें दो कोटियों में रखा जा सकता है। वे जो इन्द्रिय-तृप्ति में लगे हैं, देवताओं द्वारा भूख, प्यास, संभोग-इच्छा, अतीत के पश्चाताप तथा भविष्य की आशा जैसे हथियारों से सरलता से जीत लिये जाते हैं। ऐसे भौतिकतावादी मूर्ख देवताओं द्वारा सरलता से वश में कर लिये जाते हैं, क्योंकि देवता ही इन्द्रिय-तृप्ति प्रदान करने वाले होते हैं। किन्तु श्रीधर स्वामी के अनुसार जो लोग अपनी भौतिक इन्द्रियों की इच्छाओं का दमन करना चाहते हैं और भगवान् की शरण में गये बिना देवताओं के नियंत्रण से बचना चाहते हैं, वे इन्द्रिय-भोगियों से भी अधिक मूर्ख हैं। जो लोग भगवान् की सेवा न करके कठिन तपस्या करते हैं, वे भले ही इन्द्रिय-तृप्ति के सागर को पार कर लें, किन्तु अन्ततः क्रोध के क्षुद्र गड्ढे में डूब जाते हैं। जो केवल भौतिक तपस्या करता है, वह वास्तव में अपने हृदय को शुद्ध नहीं करता। भौतिक संकल्प से भले ही वह इन्द्रियों के कार्यकलापों को सीमित कर ले, किन्तु तो भी उसका हृदय भौतिक इच्छाओं से पूर्ण रहता है। इसका व्यावहारिक परिणाम होता है *क्रोध*। हमने ऐसे तमाम कृत्रिम तपस्वियों को देखा है, जो इन्द्रियों के निषेध के कारण अत्यन्त कटु तथा क्रुद्ध बन जाते हैं। ऐसे लोग भगवान् के प्रति अनमने होने से न तो चरम मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं, न ही इन्द्रिय-तृप्ति का भोग कर पाते हैं, प्रत्युत वे क्रोधी बन जाते हैं और वे अपनी कठिन तपस्या का फल दूसरों को शाप देने या मिथ्या अहंकार जताने में गँवा देते हैं। यह ज्ञात है कि जब कोई योगी शाप देता है, तो वह अपनी संचित योगशक्ति को कम कर देता है। इस तरह क्रोध न तो मुक्ति दिला पाता है, न ही भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति, अपितु भौतिक तपस्या के समस्त फलों को जला देता है। ऐसा क्रोध व्यर्थ होने से गो-खुर के व्यर्थ कीचड़ की तरह है। इस प्रकार भगवान् के प्रति अनमने योगीजन इन्द्रिय-तृप्ति के सागर को पार करके क्रोध के कीचड़ में डूब जाते हैं। यद्यपि देवता यह स्वीकार करते हैं कि भगवद्भक्त वास्तव में भौतिक जीवन के कष्टों को जीत लेते हैं, किन्तु यहाँ यह प्रकट है कि जो योगी भगवान् की भक्ति में रुचि नहीं रखते, उन्हें ऐसा फल प्राप्त नहीं होता।

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः ।

दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः ॥ १२॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; प्रगृणताम्—प्रशंसा कर रहे; तेषाम्—उनकी उपस्थिति में; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अति-अद्भुत—अत्यन्त विचित्र; दर्शनाः—देखने में; दर्शयाम् आस—दिखलाया; शुश्रूषाम्—आदरपूर्ण सेवा; सु-अर्चिताः—अच्छी तरह से अलंकृत; कुर्वतीः—करते हुए; विभुः—सर्वशक्तिमान ईश्वर।

जब देवतागण इस तरह से भगवान् की प्रशंसा कर रहे थे, तो सर्वशक्तिमान प्रभु ने सहसा उनकी आँखों के सामने अनेक स्त्रियाँ प्रकट कर दीं, जो आश्चर्यजनक ढंग से भव्य लगती थीं और सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से सज्जित थीं और भगवान् की सेवा में लगी हुई थीं।

तात्पर्य : भगवान् नर-नारायण ने देवताओं की मिथ्या प्रतिष्ठा को दूर करते हुए उन पर अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित की। यद्यपि देवताओं को अपने सौन्दर्य तथा अपनी संगिनियों के ऊपर गर्व था, किन्तु भगवान् ने यह दिखला दिया कि पहले से उनकी सेवा असंख्य स्त्रियों द्वारा की जा रही है, जो देवताओं की किसी भी संगिनी से अधिक सुन्दर थीं। भगवान् ने अपनी योगशक्ति से अद्वितीय सुन्दरी स्त्रियाँ प्रकट कर दीं।

**ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः ।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः ॥ १३॥**

शब्दार्थ

ते—वे; देव-अनुचराः—देवताओं के अनुयायी; दृष्ट्वा—देख कर; स्त्रियः—इन स्त्रियों को; श्रीः—लक्ष्मी देवी; इव—मानो; रूपिणीः—साक्षात्; गन्धेन—सुगन्ध से; मुमुहुः—मोहित हो गये; तासाम्—उन स्त्रियों के; रूप—सौन्दर्य के; औदार्य—भव्यता से; हत—विनष्ट; श्रियः—उनका ऐश्वर्य।

जब देवताओं के अनुयायियों ने नर-नारायण ऋषि द्वारा उत्पन्न स्त्रियों के मोहक सौन्दर्य की ओर निहारा और उनके शरीरों की सुगन्ध को सूँघा तो उनके मन मुग्ध हो गये। निस्सन्देह ऐसी स्त्रियों के सौन्दर्य तथा उनकी भव्यता को देख कर देवताओं के अनुयायी अपने ऐश्वर्य को तुच्छ समझने लगे।

**तानाह देवदेवेशः प्रणतान्प्रहसन्निव ।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम् ॥ १४॥**

शब्दार्थ

तान्—उनसे; आह—कहा; देव-देव-ईशः—समस्त देवताओं के परमेश्वर; प्रणतान्—जिन्होंने उनके समक्ष शीश झुकाया था; प्रहसन् इव—मानो हँस रहे हों; आसाम्—इन स्त्रियों के; एकतमाम्—एक; वृङ्ध्वम्—चुन लीजिये; स-वर्णाम्—उपयुक्त; स्वर्ग—स्वर्ग का; भूषणाम्—आभूषण।

तब देवों के परमेश्वर किंचित मुसकाये और अपने समक्ष नतमस्तक स्वर्ग के प्रतिनिधियों से कहा, ''तुम इन स्त्रियों में से जिस किसी को भी अपने उपयुक्त समझो, उसे चुन लो। वह स्वर्गलोक की आभूषण (शोभा बढ़ाने वाली) बन जायेगी।''

तात्पर्य : नर-नारायण ऋषि देवताओं की पराजय देख कर कुछ कुछ हँस रहे थे। किन्तु अत्यधिक गम्भीर होने के कारण वे वास्तव में हँसे नहीं। यद्यपि देवताओं ने सोचा होगा कि इन स्त्रियों की तुलना में हम अत्यन्त तुच्छ और मूर्ख हैं, इसलिए भगवान् ने उन्हें प्रोत्साहित किया कि वे उनमें से एक स्त्री चुन लें, जिसे वे अपने समान चरित्र वाली समझते हों। इस प्रकार चुना हुआ सौन्दर्य स्वर्ग का आभूषण बन जायेगा।

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः ।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ओम् इति—स्वीकृति सूचक ॐ का उच्चारण करके; आदेशम्—उनका आदेश; आदाय—लेकर; नत्वा—नमस्कार करके; तम्—उसको; सुर—देवताओं के; वन्दिनः—उन सेवकों ने; उर्वशीम्—उर्वशी को; अप्सरः-श्रेष्ठाम्—अप्सराओं में सर्वश्रेष्ठ; पुरः-कृत्य—आदरवश आगे करके; दिवम्—स्वर्ग; ययुः—लौट गये।

देवताओं के उन सेवकों ने ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए अप्सराओं में सर्वोत्कृष्ट उर्वशी को चुन लिया। वे आदरपूर्वक उसे आगे करके स्वर्गलोक लौट गए।

इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् ।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इन्द्राय—इन्द्र को; आनम्य—झुक कर; सदसि—सभा में; शृण्वताम्—सुनने में व्यस्त; त्रि-दिव—तीनों स्वर्ग; ओकसाम्—जिनके निवासी; ऊचुः—उन्होंने कहा; नारायण-बलम्—भगवान् नारायण के बल के बारे में; शक्रः—इन्द्र; तत्र—उस पर; आस—हुआ; विस्मितः—चकित।

देवताओं के सेवक इन्द्र-सभा में जा पहुँचे और तीनों स्वर्गों के निवासियों के सुनते सुनते उन्होंने इन्द्र से नारायण के परम बल के बारे में बतलाया। जब इन्द्र ने नर-नारायण ऋषि के बारे में सुना और अपने अपराध के विषय में अवगत हुआ, तो वह डरा और चकित भी हुआ।

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान्पिता नः ।

विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतिर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ॥ १७॥

शब्दार्थ

हंस-स्वरूपी—हंस-अवतार का अपना नित्य स्वरूप धारण किये; अवदत्—बोले; अच्युतः—अच्युत भगवान्; आत्म-योगम्—आत्म-साक्षात्कार; दत्तः—दत्तात्रेय; कुमारः—सनक इत्यादि कुमारगण; ऋषभः—ऋषभदेव; भगवान्—भगवान्; पिता—पिता; नः—हमारा; विष्णुः—भगवान् विष्णु; शिवाय—कल्याण हेतु; जगताम्—सारे जगत के; कलया—अपने गौण अंशों द्वारा, कलाओं द्वारा; अवतीर्णः—इस जगत में अवतरित होकर; तेन—उसके द्वारा; आहृताः—(पाताल-लोक से) वापस लाये गये; मधु-भिदा—मधु असुर के मारने वाले के द्वारा; श्रुतयः—वेदों के मूल ग्रंथ; हय-आस्ये—घोड़े के सिर वाले अवतार में।

अच्युत भगवान् विष्णु इस जगत में अपने विविध आंशिक अवतारों के रूप में अवतरित हुए हैं यथा हंस, दत्तात्रेय, चारों कुमार तथा हमारे अपने पिता, महान् ऋषभदेव। ऐसे अवतारों के द्वारा भगवान् सारे ब्रह्माण्ड के लाभ हेतु आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान पढ़ाते हैं। उन्होंने हयग्रीव के रूप में प्रकट होकर मधु असुर का वध किया और इस तरह वे पाताल-लोक से वेदों को वापस लाये।

तात्पर्य : *स्कंध पुराण* में कहा गया है कि ब्रह्माण्ड के स्वामी स्वयं हरि एक बार कुमार नामक तरुण ब्रह्मचारी के रूप में प्रकट हुए और सनत्कुमार को दिव्य ज्ञान दिया।

गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये
क्रौडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम् ।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे
ग्राहात्प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

गुप्तः—रक्षित; अप्यये—प्रलय के समय; मनुः—वैवस्वत मनु; इला—पृथ्वी-लोक; ओषधयः—वनस्पतियाँ; च—तथा; मात्स्ये—अपने मत्स्य अवतार में; क्रौडे—वराह अवतार में; हतः—मारा गया; दिति-जः—दिति-पुत्र हिरण्याक्ष; उद्धरता—उद्धारकर्ता द्वारा; अम्भसः—जल से; क्ष्माम्—पृथ्वी को; कौर्मे—कच्छप के रूप में; धृतः—धारण किया हुआ; अद्रिः—पर्वत (मन्दर); अमृत-उन्मथने—जब अमृत मन्थन हो रहा था (असुरों तथा देवों द्वारा एक साथ); स्व-पृष्ठे—अपनी पीठ पर; ग्राहात्—ग्राह या घड़ियाल से; प्रपन्नम्—शरणागत; इभ-राजम्—गजेन्द्र; अमुञ्चत्—छुड़ाया; आर्तम्—पीड़ित।

मत्स्य अवतार में भगवान् ने सत्यव्रत मनु, पृथ्वी तथा उसकी मूल्यवान औषधियों की रक्षा की। उन्होंने प्रलय-जल से उनकी रक्षा की। सूकर के रूप में भगवान् ने दिति-पुत्र हिरण्याक्ष का वध किया और ब्रह्माण्ड-जल से पृथ्वी का उद्धार किया। कच्छप-रूप में उन्होंने अपनी पीठ पर मन्दर पर्वत को उठा लिया, जिससे समुद्र को मथ कर अमृत निकाला जा सके। भगवान् ने शरणागत गजेन्द्र को बचाया, जो घड़ियाल के चँगुल में भीषण यातना पा रहा था।

संस्तुन्वतो निपतितान्श्रमणानृषींश्च
शक्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम् ।
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा
जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

संस्तुन्वतः—स्तुति कर रहे; निपतितान्—(गो-खुर के जल में) गिरे हुए; श्रमणान्—साधुओं को; ऋषीन्—ऋषियों (वालखिल्यों) को; च—तथा; शक्रम्—इन्द्र को; च—तथा; वृत्र-वधतः—वृत्रासुर के वध से; तमसि—अंधकार में; प्रविष्टम्—लीन; देव-स्त्रियः—देव-पत्नियाँ; असुर-गृहे—असुर के महल में; पिहिताः—बन्दी बनाई गई; अनाथाः—असहाय; जघ्ने—मार डाला; असुर-इन्द्रम्—असुरों के राजा, हिरण्यकशिपु को; अभयाय—अभयदान के निमित्त; सताम्—सन्त-भक्तों को; नृसिंहे—नृसिंह-अवतार में।

भगवान् ने वालखिल्य नामक लघु-रुप मुनियों का भी उद्धार किया, जब वे गो-खुर-जल में गिर गये थे और इन्द्र उन पर हँस रहा था। तत्पश्चात्, भगवान् ने इन्द्र को भी बचाया, जो वृत्रासुर-वध के पापकर्म के फलस्वरूप अंधकार से प्रच्छन्न था। जब देव-पत्नियाँ असुरों के महल में असहाय होकर बन्दी बनाई गई थीं, तो भगवान् ने ही उन्हें बचाया। अपने नृसिंह-अवतार में भगवान् ने अपने सन्त-भक्तों का भय दूर करने के लिए असुरराज हिरण्यकशिपु का वध किया था।

देवासुरे युधि च दैत्यपतीन्सुरार्थे
हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात्कलाभिः ।
भूत्वाथ वामन इमामहरद्बलेः क्ष्मां
याच्ञाच्छलेन समदाददितेः सुतेभ्यः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

देव-असुरे—देवताओं तथा असुरों के; युधि—युद्ध में; च—तथा; दैत्य-पतीन्—असुरों-नायकों को; सुर-अर्थे—देवताओं के हेतु; हत्वा—मार कर; अन्तरेषु—प्रत्येक मन्वन्तर में; भुवनानि—सारे लोकों में; अदधात्—रक्षा की; कलाभिः—विविध कलाओं द्वारा; भूत्वा—बन कर; अथ—और भी; वामनः—बौने ब्राह्मण बालक के रूप में अवतार; इमाम्—यह; अहरत्—ले लिया; बलेः—बलि महाराज से; क्ष्माम्—पृथ्वी; याच्ञा-छलेन—दान माँगने के बहाने; समदात्—दिया; अदितेः—अदिति के; सुतेभ्यः—पुत्रों (देवताओं) को।

भगवान् देवताओं तथा असुरों के बीच होने वाले युद्धों का लाभ निरन्तर असुरों-नायकों को मारने के लिए उठाते हैं। इस प्रकार भगवान् प्रत्येक मन्वन्तर में अपने विभिन्न अवतारों के माध्यम से ब्रह्माण्ड की रक्षा करके देवताओं को प्रोत्साहित करते हैं। भगवान् वामन के रूप में भी प्रकट हुए और तीन पग भूमि माँगने के बहाने बलि महाराज से पृथ्वी ले ली। तत्पश्चात्, भगवान् ने अदिति-पुत्रों को सारा जगत वापस कर दिया।

निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिःसप्तकृत्वो
रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः ।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन्सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

निःक्षत्रियाम्—क्षत्रियविहीन; अकृत—बना दिया; गाम्—पृथ्वी को; च—तथा; त्रिः-सप्त-कृत्वः—इक्कीस बार; रामः—परशुराम ने; तु—निस्सन्देह; हैहय-कुल—हैहयवंश के; अप्यय—विनाश; भार्गव—भृगुवंशी; अग्निः—अग्नि; सः—वह; अब्धिम्—सागर; बबन्ध—अपने अधीन कर लिया; दश-वक्त्रम्—दस सिर वाले रावण को; अहन्—मार डाला; स-लङ्कम्—अपने राज्य लंका के सैनिकों समेत; सीता-पतिः—सीता के पति भगवान् रामचन्द्र; जयति—सदैव विजयी होते हैं; लोक—सम्पूर्ण जगत के; मल—कल्मष; घ्न—नष्ट करने वाला; कीर्तिः—जिनके यश का वर्णन करने के कारण।

परशुराम का जन्म भृगुवंश में अग्नि के रूप में हुआ, जिसने हैहय कुल को जलाकर भस्म कर दिया। इस प्रकार भगवान् परशुराम ने पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियों से विहीन कर दिया। वही भगवान् सीतादेवी के पति रामचन्द्र के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने दस सिरों वाले रावण को लंका के सारे सैनिकों समेत मारा। वे श्रीराम जिनकी कीर्ति संसार के कल्मष को नष्ट करती है सदैव विजयी हों!

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् रामचन्द्र नव-योगेन्द्रों के समकालीन अवतार थे। इसीलिए उन्होंने भगवान् रामचन्द्र को विशेष आदर दिया, जैसाकि *जयति* शब्द से सूचित होता है।

भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा
जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्
शूद्रान्कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

भूमेः—पृथ्वी का; भर—भार; अवतरणाय—उतारने के लिए; यदुषु—यदुवंश में; अजन्मा—अजन्मा भगवान्; जातः—जन्म लेकर; करिष्यति—करेंगे; सुरैः—देवताओं द्वारा; अपि—भी; दुष्कराणि—कठिन कर्म; वादैः—तर्कों द्वारा; विमोहयति—मोहित करेंगे; यज्ञ-कृतः—वैदिक यज्ञों के कर्ता; अतत्-अर्हान्—जो इस तरह लगे रहने के योग्य नहीं हैं; शूद्रान्—शूद्रों को; कलौ—कलियुग में; क्षिति-भुजः—शासक; न्यहनिष्यत्—वध करेगा; अन्ते—अन्त में।

पृथ्वी का भार उतारने के लिए अजन्मा भगवान् यदुवंश में जन्म लेंगे और ऐसे कर्म करेंगे, जो देवताओं के लिए भी कर पाना असम्भव है। वे बुद्ध के रूप में तर्कदर्शन की स्थापना करते हुए अयोग्य वैदिक यज्ञकर्ताओं को मोहित करेंगे। और कल्कि के रूप में वे कलियुग के अन्त में अपने को शासक बतलाने वाले सारे निम्न श्रेणी के लोगों का वध करेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में यदुवंश में भगवान् के प्राकट्य से कृष्ण तथा बलराम दोनों के प्राकट्य का मन्तव्य निहित होना समझा जाता है, जिन्होंन मिलकर पृथ्वी के भारस्वरूप असुर शासकों का अन्त किया। श्रील जीव गोस्वामी ने यह इंगित किया है कि शूद्रों अर्थात् निम्न श्रेणी के लोगों से निपटने के लिए जिन अवतारों का वर्णन हुआ है, वे बुद्ध तथा कल्कि के सूचक हैं। जो लोग स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए, यथा पशुओं की पापमय हत्या के लिए वैदिक यज्ञ करते हैं, वे निश्चय ही शूद्रों की कोटि में आते हैं, जिस तरह कि कलियुग के तथाकथित राजनीतकि नेता जो राज्य-व्यवस्था के नाम पर अनेक कहर ढाते हैं।

एवंविधानि जन्मानि कर्माणि च जगत्पतेः ।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधानि—इस तरह के; जन्मानि—जन्म; कर्माणि—कर्म; च—तथा; जगत्-पतेः—ब्रह्माण्ड के स्वामी के; भूरीणि—असंख्य; भूरि-यशसः—अत्यन्त यशस्वी; वर्णितानि—वर्णित; महा-भुज—हे बलशाली राजा निमि।

हे महाबाहु राजा, ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् के ऐसे जन्म तथा कर्म असंख्य हैं, जिस तरह कि मैं वर्णन कर चुका हूँ। वस्तुतः भगवान् की कीर्ति अनन्त है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''राजा निमि से द्रुमिल द्वारा ईश्वर के अवतारों का वर्णन'' नामक चौथे अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

नारद द्वारा वसुदेव को दी गई शिक्षाओं का समापन

इस अध्याय में उन व्यक्तियों के गति की विवेचना की गई है, जो भगवान् हरि की पूजा से शत्रुता रखते हैं, जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखने में असमर्थ हैं और जो शान्त नहीं हैं। साथ ही, प्रत्येक युग में भगवान् के विभिन्न नामों, रूपों और पूजा-विधियों का उल्लेख हुआ है।

आदि पुरुष विष्णु के मुख, बाहु, जँघा तथा पाँव से चार *वर्ण*—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—तथा चार विभिन्न *आश्रम* उत्पन्न हैं। यदि चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के लोग अपनी ही उत्पत्ति के

प्रत्यक्ष मूल भगवान् श्री हरि की पूजा नहीं करते, तो उनका पतन होता है। इन श्रेणियों में से स्त्रियाँ तथा शूद्र, जिनका *हरिकथा* के श्रवण तथा कीर्तन से सामान्यतया कोई सम्पर्क नहीं होता, अपने अज्ञान के कारण महापुरुषों की कृपा के विशेष पात्र हैं। अन्य तीन वर्णों के लोग वैदिक दीक्षा द्वारा द्वितीय जन्म पाकर *श्रौत-जन्म,* हरि के चरणकमल पाने के योग्य बनते हैं, तो भी वेदों की मनमानी व्याख्या से भ्रमित रहते हैं। कर्म के असली अर्थ को न समझते हुए भी अपने को महान् पंडित मान कर सकाम फल के लोभ में वे देवताओं की चाटुकारिता करते हैं और भगवान् के भक्तों का मजाक उड़ाते हैं। वे गृहस्थ जीवन में लगे रहते हैं, संसारी गपशप में रुचि रखते हैं और विष्णु तथा वैष्णवों की भक्ति से विमन रहते हैं। वे भौतिक ऐश्वर्य तथा आनन्द से उन्मत्त रहते हैं, विवेक तथा बुद्धि से विहीन होते हैं और सदैव मानसिक स्तर पर कर्म करते हैं। किन्तु गृहस्थ जीवन के प्रति ऐसी आसक्ति शास्त्र-विरुद्ध होते हुए भी जन-सामान्य में स्वाभाविक है। ऐसे जीवन के सभी पक्षों से अपने को छुड़ाना ही वेदों की मुख्य शिक्षा है। असली सम्पत्ति वह है, जो आत्मा का कर्तव्य करने के लिए अनुकूल हो, वह नहीं जो स्वार्थपूर्ण इन्द्रिय-तृप्ति की पूर्ति के लिए हो। इन्द्रियों में लिप्त रहने की इच्छा के फलस्वरूप ही, पुरुष तथा स्त्री सन्तान उत्पन्न करने के लिए संभोग करते हैं। यज्ञ सम्पन्न करने के लिए आवश्यकता से अधिक पशु-हत्या करके ये मनुष्यरूपी पशु अगले जीवन में हिंसा भोगते हैं। यदि अपने आनन्द के लिए अत्यधिक लोभवश कोई व्यक्ति जीवों के प्रति हिंसा करता है, तो वह श्रीहरि पर भी आक्रमण करता है, जो परमात्मा-रूप में सारे जीवों के शरीरों में उपस्थित हैं। भगवान् वासुदेव के विरोधी एवं अपने आपको धोखा देने वाले ये अज्ञानी अपना ही विनाश करते हैं और नरक जाते हैं।

भगवान् श्रीहरि प्रत्येक युग में विविध रंग, नाम तथा रूप धारण करते हैं और विविध स्वीकृत विधियों द्वारा पूजे जाते हैं। सत्ययुग में भगवान् का वर्ण श्वेत होता है, उनके चार भुजाएँ होती हैं, वे ब्रह्मचारी का वेश धारण करते हैं और हंस जैसे नामों से जाने एवं ध्यानयोग द्वारा पूजे जाते हैं। त्रेतायुग में उनका रंग लाल होता है और वे चतुर्भुजी होते हैं, वे साक्षात् यज्ञ रूप होते हैं और यज्ञ चम्मच, शुरुवा इत्यादि प्रतीकों से युक्त होकर यज्ञ जैसे नामों से पुकारे तथा वैदिक यज्ञों द्वारा पूजे जाते हैं। द्वापर युग में उनका वर्ण गहरा नीला होता है, वे पीताम्बर पहनते हैं, श्रीवत्स आदि चिह्न धारण करते हैं, उनके नाम वासुदेव आदि होते हैं और वेदों तथा तंत्रों के विधि-विधानों द्वारा अर्चारूप में पूजे जाते हैं।

कलियुग में उनका रंग सुनहरा (गौर) होता है, उनके साथ उनके प्राथमिक तथा गौण अंगों तथा हथियारों से युक्त संगी होते हैं, वे कृष्ण-कीर्तन में मग्न रहते हैं, और *सङ्कीर्तन यज्ञ* द्वारा पूजे जाते हैं। चूँकि कलियुग में मनुष्य-जीवन के सारे लक्ष्य एकमात्र भगवान् श्री हरि के नाम-कीर्तन द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं, इसलिए जो लोग वस्तुओं के वास्तविक सार को जानते हैं, वे कलियुग की प्रशंसा करते हैं। कलियुग में दक्षिण भारत (द्रविड़ देश) के उन स्थानों के लोग जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी तथा महानदी नदियाँ बहती हैं, भगवान् की भक्ति में समर्पित होंगे।

जो लोग मिथ्या अहंकार त्याग देते हैं और पूर्णतया भगवान् हरि की शरण में जाते हैं, वे देवताओं के या अन्य किसी के ऋणी नहीं रहते। जो भक्त भगवान् श्रीहरि के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रय नहीं जानते, उनके हृदयों में भगवान् श्रीहरि प्रकट होते हैं और उनके हृदयों की सारी दुर्भावनाएँ भगा देते हैं। विदेहराज निमि ने नव-योगेन्द्रों के मुखों से भागवत धर्म का विस्तृत वर्णन सुनने के बाद तुष्य मन से उनकी पूजा की। तब वे अन्तर्धान हो गये।

इसके बाद देवर्षि नारद ने वसुदेव को भक्ति की चरम शरण के विषय में उपदेश दिया। उन्होंने वसुदेव को बतलाया कि यद्यपि भगवान् पृथ्वी का भार दूर करने के लिए इस जगत में उनके पुत्र-रूप में प्रकट हुए हैं, तो भी उन्हें चाहिए कि वे कृष्ण को अपने पुत्र-रूप में न मान कर भगवान् मानें। शिशुपाल जैसे राजा शत्रुभाव रखते हुए भी कृष्ण का ध्यान करने से उन्हीं के समान पद को प्राप्त हुए। इसलिए कृष्ण से प्रेम-सम्बन्ध रखने वाले वसुदेव जैसे महात्मा की पूर्णलब्धि के विषय में कुछ कहना व्यर्थ होगा।

श्रीराजोवाच
भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः ।
तेषामशान्तकामानां क निष्ठाविजितात्मनाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा निमि ने पूछा; भगवन्तम्—भगवान्; हरिम्—हरि को; प्रायः—अधिकांशतया; न—नहीं; भजन्ति—पूजते हैं; आत्म-वित्तमाः—आत्मा के विज्ञान के विषय में आप सभी पूर्ण हैं; तेषाम्—उनके; अशान्त—अतृप्त; कामानाम्—भौतिक इच्छाओं के; का—क्या; निष्ठा—गन्तव्य; अविजित—वश में न कर सकने वाले; आत्मनाम्—अपनी।

राजा निमि ने आगे पूछा : हे योगेन्द्रो, आप सभी लोग आत्म-विज्ञान में परम दक्ष हैं, अतएव मुझे उन लोगों का गन्तव्य बतलाइये, जो प्रायः भगवान् हरि की पूजा नहीं करते, जो अपनी भौतिक इच्छाओं की प्यास नहीं बुझा पाते तथा जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाते।

तात्पर्य : ग्यारहवें स्कन्ध के इस पाँचवें अध्याय में चमस ऋषि उन लोगों के अशुभ मार्ग का वर्णन करते हैं, जो भगवान् विष्णु की भक्ति के प्रतिकूल रहते हैं और करभाजन ऋषि भगवान् के उन अवतारों का वर्णन करते हैं, जो विभिन्न युगों की प्रामाणिक धर्म-विधि को (*युग-धर्मावतार*) प्रस्तुत करने वाले हैं।

पिछले अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि यद्यपि देवतागण भगवान् के भक्तों के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करते हैं, किन्तु भगवत्कृपा से ये भक्त उन व्यवधानों को पद-दलित करते हुए परम गन्तव्य तक जा पहुँचते हैं। किन्तु अभक्तों के लिए ऐसी सुविधा नहीं है। ज्योंही बद्धजीव भगवद्भक्ति से अनमना होता है, त्योंही वह पदार्थ के क्षणिक प्रकारों के प्रति आकृष्ट होकर अशुभ इच्छाओं का दास बन जाता है। इस तरह भगवद्भक्ति से रहित बद्धजीव वैकुंठ के दिव्य आनन्द को पूर्णतया भूल जाता है, जो पंच दिव्यों रसों में भोगा जाता है। यद्यपि भक्तगण देवताओं द्वारा प्रदत्त इन्द्रिय-तृप्ति के वशीभूत नहीं होते, किन्तु देवता स्वयं ही भौतिक रूप, स्वाद तथा गंध में लीन हो जाते हैं। इसी तरह जो अभक्त हैं, वे भी भौतिक रूप, स्वाद तथा अन्य इन्द्रिय-विषयों में, यथा भोग-विलास में, बँध जाते हैं। इस तरह वे नाना प्रकार से इन्द्रिय-तृप्ति की कल्पनाएँ करके स्वप्न-लोक में विचरण करते रहते हैं और भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाते हैं। विदेहराज निमि अब चमस मुनि से ऐसे मोहग्रस्त व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त किये जाने वाले गन्तव्य के विषय में पूछ रहे हैं।

श्रीचमस उवाच
मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-चमसः उवाच—श्री चमस ने कहा; **मुख**—मुख; **बाहु**—भुजाएँ; **ऊरु**—जाँघें; **पादेभ्यः**—पाँवों से; **पुरुषस्य**—परमेश्वर के; **आश्रमैः**—चारों आश्रम; **सह**—सहित; **चत्वारः**—चार; **जज्ञिरे**—उत्पन्न हुए थे; **वर्णाः**—जातियाँ; **गुणैः**—गुणों से; **विप्र-आदयः**—ब्राह्मण इत्यादि; **पृथक्**—विविध।

श्री चमस ने कहा : ब्राह्मण से शुरु होने वाले चारों वर्ण प्रकृति के गुणों के विभिन्न संयोगों से भगवान् के विराट रूप के मुख, बाहु, जाँघ तथा पाँव से उत्पन्न हुए। इसी तरह चार आध्यात्मिक आश्रम भी उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : जो लोग भगवद्‌भक्ति की ओर स्वत: आकृष्ट नहीं होते, वे चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करके धीरे धीरे शुद्ध बन सकते हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार ब्राह्मण सतोगुण से, क्षत्रिय सतो तथा रजोगुण के मिश्रण से, वैश्य रजो तथा तमोगुण के मिश्रण से और शूद्र तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार चारों वर्ण भगवान् के विराट रूप के मुख, बाहु, जाँघ तथा पाँव से उत्पन्न हैं, उसी तरह ब्रह्मचारी भगवान् के हृदय से, गृहस्थ आश्रम उनके कटि से, वानप्रस्थ आश्रम उनके वक्षस्थल से और संन्यास आश्रम उनके सिर से उत्पन्न हैं।

ऐसा ही श्लोक *ऋक्-संहिता* (८.४.१९) में, *शुक्ल-यजुर्वेद* (३४.११) में तथा *अथर्ववेद* (१९.६६) में पाया जाता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्य: कृत: ।
ऊरु तदस्य यद् वैश्य: पद्भ्यां शूद्रोऽजायता ॥

''ब्राह्मण उनके मुख से, राजा उनके भुजाओं से, वैश्य उनकी जाँघों से और शूद्र उनके पैरों से उत्पन्न हुए।''

यह विदित है कि भगवद्‌भक्ति का वर्णन नौ-योगेन्द्रों में से दो—द्रुमिल तथा आविर्होत्र ने पहले ही किया है। चमस मुनि अब *वर्णाश्रम-धर्म* का वर्णन कर रहे हैं, क्योंकि यह प्रणाली उन लोगों को क्रमश: शुद्ध करने और उन्हें भगवत्प्रेम की वैधानिक स्थिति में वापस लाने के लिए है, जो भगवान् से शत्रुभाव रखते हैं। इसी प्रकार विराट रूप काल्पनिक रूप है, जो निपट भौतिकतावादियों को भगवान् की स्थिति को क्रमिक रूप से समझाने के लिए है। चूँकि मूर्ख भौतिकतावादी पदार्थ के परे कुछ भी नहीं समझ पाता, इसलिए उसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भगवान् के साकार रूप में देखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति की किसी धारणा के बिना निराकार की निर्विशेष धारणा क्षणिक भौतिक-विविधता का केवल निषेध है। निर्विशेष दृष्टिकोण भौतिक चिन्तन का दूसरा रूप है। भगवान् *ह्लादिनी, सन्धिनी* तथा *संवित्* शक्तियों के मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत दिव्य शक्तियों से पूर्ण हैं।

इस श्लोक से यह समझना होगा कि भगवान् के विराट रूप से उत्पन्न *वर्णाश्रम-धर्म* प्रणाली भगवान् द्वारा प्रदत्त ऐसा कार्यक्रम है, जो बद्धजीवों को नितान्त सामाजिक तथा धार्मिक प्रणाली में लगाकर, उन्हें क्रमश: भगवद्धाम की ओर ले जाने वाला है।

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एषाम्—उनके; पुरुषं—परमेश्वर को; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; आत्म-प्रभवम्—अपनी उत्पत्ति के स्रोत; ईश्वरम्—परम नियन्ता; न—नहीं; भजन्ति—पूजते हैं; अवजानन्ति—अनादर करते हैं; स्थानात्—अपने पद से; भ्रष्टाः—पतित; पतन्ति—गिरते हैं; अधः—नीचे।

यदि चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों का कोई भी सदस्य उनकी अपनी उत्पत्ति के स्रोत भगवान् की पूजा नहीं करता या जान-बूझकर भगवान् का अनादर करता है, तो वे सभी अपने पद से गिर कर नारकीय दशा को प्राप्त होंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *न भजन्ति* शब्द उन लोगों के द्योतक हैं, जो अज्ञानतावश भगवान् की पूजा नहीं करते, किन्तु *अवजानन्ति* शब्द उनका द्योतन करता है, जिन्हें भगवान् के सर्वोच्च पद की जानकारी है, किन्तु तो भी वे उनका अनादर करते हैं। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि चारों वर्ण तथा चारों आश्रम भगवान् के ही शरीर से उत्पन्न हैं। वस्तुत: परमेश्वर हर वस्तु के उद्गम हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.८) में वर्णन हुआ है : *अहं सर्वस्य प्रभव:।* वे लोग जो मूर्खतावश भगवान् के पद के बारे में जिज्ञासा नहीं करते तथा वे जो उनके दिव्य पद के विषय में सुनने के बावजूद उनका अनादर करते हैं, निश्चय ही *वर्णाश्रम-धर्म* से नीचे गिर जाते हैं जैसाकि *स्थानाद् भ्रष्टा:* शब्दों द्वारा बतलाया गया है। *पतन्त्यध:* शब्द सूचित करता है कि जो व्यक्ति वर्णाश्रम प्रणाली से नीचे गिरता है, वह पापकर्मों से नहीं बच सकता, न ही ऐसे व्यक्ति को यज्ञ करने का श्रेय मिलता है। इस तरह वह धीरे धीरे नरक में अधम योनियों की ओर बढ़ता जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् का अनादर करने और अपने पद से नीचे गिरने का मूल कारण यह है कि व्यक्ति ने गुरु की सही ढंग से पूजा करना नहीं सीखा। जिस व्यक्ति को गुरु को सादर नमस्कार करने और पूजा करने का अभ्यास है, वह अपने आप भगवान् की सही ढंग से पूजा करता है। गुरु की कृपा के बिना तथाकथित धार्मिक व्यक्ति भी क्रमश: नास्तिक बन जाता है, अपने मूर्खतापूर्ण चिन्तन से भगवान् का अपमान करता है और

नारकीय दशा को प्राप्त होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि इस श्लोक में उल्लिखित *पुरुष* गर्भोदकशायी विष्णु हैं, जिनकी महिमा का वर्णन *पुरुष सूक्त* में हुआ है। यदि किसी को अपने उच्च सामाजिक पद का गर्व है और जो ईर्ष्यावश यह सोचता है कि भगवान् भी प्रकृति की उपज है और ऐसा कोई चरम जीव नहीं है, जो सारे जीवों का उद्‌गम हो, तो ऐसा गर्वित मूर्ख वर्णाश्रम प्रणाली से नीचे गिर जायेगा और असंयमी पशुवत् हो जायेगा।

दूरे हरिकथाः केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तनाः ।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

दूरे—बहुत दूर; हन्-कथाः—भगवान् हरि की बातों से; केचित्—कई लोग; दूरे—काफी दूर; च—तथा; अच्युत—त्रुटिरहित; कीर्तनाः—कीर्ति; स्त्रियः—स्त्रियाँ; शूद्र-आदयः—शूद्र तथा अन्य पतित जातियाँ; च—तथा; एव—निस्सन्देह; ते—वे; अनुकम्प्याः—अनुग्रह के पात्र हैं; भवादृशाम्—आप जैसे व्यक्तियों के।

ऐसे अनेक लोग हैं, जिन्हें भगवान् हरि विषयक वार्ताओं में भाग लेने का बहुत ही कम अवसर मिल पाता है, जिसके कारण भगवान् की अच्युत कीर्ति का कीर्तन कर पाना उनके लिए कठिन होता है। स्त्रियाँ, शूद्र तथा अन्य पतित जाति के व्यक्ति, सदा ही आप जैसे महापुरुषों की कृपा के पात्र हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बतलाया गया था कि कुछ व्यक्ति भगवान् की महिमा से अपरिचित होते हैं (*न भजन्ति*), जबकि अन्य लोग भगवान् से परिचित होते हुए भी उनका उपहास करते हैं या यह कहते हैं कि भगवान् भी भौतिक है (*अवजानन्ति*)। इस श्लोक में अज्ञानियों को शुद्ध भक्त की कृपा का उचित पात्र बतलाया गया है। दूरे शब्द उन लोगों का बताने वाला है, जिन्हें भगवान् की महिमा सुनने तथा गाने का कोई अवसर नहीं मिल पाता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इन्हें *ये साधु-संग भाग्यहीनाः* कहा जा सकता है—अर्थात् वे जो सन्त-पुरुषों तथा शुद्ध भक्तों की संगति से विहीन हैं। सामान्य रूप से कृष्णभावनामृत की अध्यात्म-विद्या में बढ़े-चढ़े लोग स्त्रियों तथा निम्न श्रेणी के व्यक्तियों की संगति से बचते हैं। सामान्य रूप से स्त्रियाँ कामुक होती हैं और शूद्र तथा अन्य निम्न श्रेणी के व्यक्ति धूम्रपान, सुरापान तथा स्त्री आखेट जैसी गन्दी आदतों में लिप्त रहते हैं। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने साधुओं को स्त्रियों तथा शूद्रों के घनिष्ठ सम्बन्ध से बचने के प्रति आगाह किया है। ऐसे प्रतिबन्ध का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि प्रायः स्त्रियाँ तथा शूद्रजन साधुओं से भगवान्

की महिमा सुन पाने से वंचित रह जाते हैं। इसीलिए श्री चमस मुनि राजा को आदेश देते हैं कि वह ऐसे पतित लोगों पर अपनी विशेष दया प्रदर्शित करे।

हमारे गुरु श्रील प्रभुपाद की भारत में इसलिए कटु आलोचना हुई, क्योंकि उन्होंने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सभी जाति के पुरुषों तथा स्त्रियों को भाग लेने का अवसर प्रदान किया। निस्सन्देह भारत के ब्राह्मण जाति के लोग तथा केवल कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले अन्य लोग इसलिए आहत हुए, क्योंकि श्रील प्रभुपाद ने निम्न कुल में जन्म लेने वाले स्त्री-पुरुषों को वैष्णव संस्कृति में मुक्तभाव से भाग लेने, यहाँ तक कि अधिकृत ब्राह्मण के रूप में दीक्षित होने की, अनुमति दे दी थी। तथापि श्रील प्रभुपाद समझते थे कि इस युग में प्राय: हर व्यक्ति पतित है। उन्होंने देखा कि यदि आध्यात्मिक जीवन को तथाकथित उच्च जातियों तक ही सीमित कर दिया जाता है, तो विश्व-भर में असली आध्यात्मिक आन्दोलन के फैलने की सम्भावना नहीं रहेगी। श्रील चैतन्य महाप्रभु की कृपा इतनी महान् है और कृष्ण का पवित्र नाम इतना शक्तिशाली है कि कोई भी पुरुष, स्त्री, बालक या पशु तक कृष्ण-नाम का कीर्तन करके तथा प्रसादम् ग्रहण करके शुद्ध बन सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में किसी भी निष्ठावान व्यक्ति को सर्वोच्च आत्मसिद्धि प्राप्त करने से रोका नहीं जा सकता। एक ओर जहाँ निर्विशेषवादी तथा योगीजन अपनी ही निजी अनुभूति तथा योगशक्ति की उपलब्धि के प्रति स्वार्थ-भाव से चिन्तित रहते हैं, वहीं वैष्णवों में यह प्रथा रही है कि वे सभी जातियों के जीवों के प्रति दयालु होते हैं।

ऐसा समझा जाता है कि नव-योगेन्द्रों तथा राजा निमि के बीच हुई यह वार्ता भगवान् रामचन्द्र के काल में, आज से कई हजार वर्ष पूर्व, हुई थी। किन्तु आज से केवल पाँच हजार वर्ष पूर्व कही गई *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने स्वयं यह भी कहा है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे जीवन की किसी भी स्थिति में क्यों न हो, भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण करके भगवान् का अत्यन्त प्रिय भक्त बन सकता है। इसलिए कलियुग के पतित लोगों को वैष्णवों की विशेष कृपा का लाभ उठाकर अपना जीवन पूर्ण बनाने और भगवद्धाम वापस जाने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हो जाना चाहिए।

विप्रो राजन्यवैश्यौ वा हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

विप्रः—ब्राह्मण; राजन्य-वैश्यौ—राजसी वर्ग तथा वैश्य लोग; वा—अथवा; हरेः—हरि के; प्राप्ताः—निकट जाने की अनुमति दिये जाने पर; पद-अन्तिकम्—चरणकमलों के पास; श्रौतेन जन्मना—वैदिक दीक्षा का द्वितीय जन्म प्राप्त कर चुकने पर; अथ—तत्पश्चात्; अपि—भी; मुह्यन्ति—मुग्ध हो जाते हैं; आम्नाय-वादिनः—अनेक दर्शनों को स्वीकार करते हुए।

दूसरी ओर ब्राह्मण, राजसी वर्ग के लोग तथा वैश्यजन वैदिक दीक्षा द्वारा द्वितीय जन्म प्राप्त करके (द्विज) भगवान् हरि के चरणकमलों के निकट जाने की अनुमति दिये जाने पर भी मोहित हो सकते हैं और विविध भौतिकतावादी दर्शन ग्रहण कर सकते हैं।

तात्पर्य : कहा गया है कि अल्पज्ञान अत्यन्त घातक हो सकता है। जो लोग सामाजिक पद से झूठे ही गर्वित होकर भगवान् की पूजा पूरी करने में लापरवाही बरतने लगते हैं, उनकी इस श्लोक में निन्दा की गई है। *मुह्यन्ति आम्नायवादिनः*—वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत ही उच्च पद की इन्द्रिय-तृप्ति के द्वारा आकृष्ट होकर ऐसे व्यक्ति परम सत्य की अपेक्षा भ्रामक भौतिक दर्शन की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है, ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को वैदिक प्रणाली के अन्तर्गत गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है, और उन्हें द्विजन्मा अर्थात् अत्यधिक सुसंस्कृत माना जाता है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने, वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने, कर्मकाण्ड सम्पन्न करने तथा गुरु एवं भगवान् की पूजा करने से ऐसे व्यक्ति क्रमशः भगवान् के चरणकमलों के निकट पहुँच पाते हैं। यदि ऐसे उच्च पद को प्राप्त कोई व्यक्ति अपने पद के प्रति गर्वित हो उठता है या वर्णाश्रम धर्म के अनुयायियों के लिए निस्सन्देह उपलब्ध स्वर्गिक भोग के प्रति मुग्ध हो जाता है, तो ऐसा विमुग्ध व्यक्ति जन्म तथा मृत्यु के भौतिक मायावी पद को प्राप्त होता है। यहाँ तक कि उच्च पद प्राप्त देवतागण भी माया-लोभ के शिकार बनते हैं जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रथम श्लोक में वर्णित है—*मुह्यन्ति यत् सूरयः।*

निर्जीव पदार्थ का भोग करने की मायावी इच्छा की संपुष्टि करने के लिए ऐसे मूर्ख लोग भगवान् के पूजन की आवश्यकता का अवमूल्यन करते हुए (*अवजानन्ति*) और वेदों के कर्मकाण्ड भाग को जो नियमित अनुष्ठानों के बदले स्वर्गिक इन्द्रियतृप्ति प्रदान करता है समान महत्ता प्रदान करने का झूठा प्रयास करते हुए अपनी ही अवमानना करते हैं। *भगवद्गीता* (२.४२) में ऐसे झूठे उदारचेताओं का वर्णन हुआ है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

''अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारमय शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे भावी जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध सकाम कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रिय-तृप्ति तथा ऐश्वर्यमय-जीवन की अभिलाषा के कारण, वे ऐसा कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।''

श्रील प्रभुपाद ने *भगवद्गीता* के इस श्लोक के तात्पर्य में यहाँ पर वर्णित अपराधी वर्ग के लोगों का स्पष्ट चित्रण किया है। ''सामान्यतः सब लोग अत्याधिक बुद्धिमान नहीं होते और वे अज्ञान के कारण वेदों के कर्मकाण्ड भाग में बताये गये सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। वे स्वर्ग में जीवन का आनन्द उठाने के लिए इन्द्रिय-तृप्ति कराने वाले प्रस्तावों से अधिक और कुछ नहीं चाहते, जहाँ मदिरा तथा तरुणियाँ उपलब्ध हैं और भौतिक ऐश्वर्य सर्वसामान्य है। वेदों में स्वर्गलोक पहुँचने के लिए अनेक यज्ञों की संस्तुति है, जिनमें *ज्योतिष्टोम* यज्ञ प्रमुख है। वास्तव में वेदों में कहा गया है कि जो स्वर्ग जाना चाहता है, उसे ये यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए और अल्पज्ञानी पुरुष सोचते हैं कि वैदिक ज्ञान का सारा अभिप्राय यही है। ऐसे अनुभवहीन लोगों के लिए कृष्णभावना के दृढ़ कर्म में स्थित हो पाना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार मूर्ख लोग विषैले वृक्षों के फूलों के प्रति बिना यह जाने कि इस आकर्षण का क्या फल होगा आसक्त रहते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति ऐसे स्वर्गिक ऐश्वर्य तथा तज्जनित इन्द्रिय-भोग के प्रति आकृष्ट रहते हैं।

वेदों के कर्मकाण्ड भाग में कहा गया है, जो लोग चातुर्मास तप करते हैं, वे अमर तथा सदा सुखी रहने के लिए सोमरस पीने के अधिकारी बन जाते हैं। यहाँ तक कि इस पृथ्वी में भी कुछ लोग सोमरस के लिए अत्यन्त इच्छुक रहते हैं, जिससे वे बलवान बनें और इन्द्रिय-तृप्ति का सुख पाने में समर्थ हों। ऐसे लोगों को भव-बन्धन से मुक्ति में कोई श्रद्धा नहीं होती और वे वैदिक यज्ञों की तड़क-भड़क में विशेष आसक्त रहते हैं। वे सामान्यतया विषयी होते हैं और जीवन में स्वर्गिक आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। कहा जाता है कि स्वर्ग में नन्दनकानन नामक अनेक उद्यान हैं, जिनमें दैवी-सुन्दरी स्त्रियों का संग और प्रचुर मात्रा में सोमरस उपलब्ध रहता है। ऐसा शारीरिक सुख

निस्सन्देह विषयी है। अत: ये लोग वे हैं, जो भौतिक जगत के स्वामी बन कर, केवल ऐसे भौतिक क्षणिक सुख के प्रति आसक्त हैं।''

इस श्लोक में महत्त्वपूर्ण बिन्दू यह है कि ऐसे मोहग्रस्त भौतिकतावादी जो वेदों के कर्मकांड भाग के प्रति आकृष्ट हैं (*मुह्यन्त्याम्नायवादिन:*) वे परम भोक्ता भगवान् के परम स्वामित्व की उपेक्षा करना चाहते हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसाम्*)। उसी के साथ वे वैदिक नियमों के महान् पालक का पद भी बनाए रखना चाहते हैं। ऐसे दोहरे विचार वाले व्यक्ति भौतिकतावादी दार्शनिकों की यथा जैमिनि की शरण ग्रहण करते हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व को ठोस नियम के तौर पर नकारते हैं (*ईश्वरासिद्धे:*) और इसीलिए वे सकाम कर्मों को सर्वोच्च ज्ञेय सत्य के रूप में मानने की संस्तुति करते हैं। ऐसे तथाकथित वैदिक दार्शनिक सुसंस्कृत नास्तिकों जैसे ही हैं, इसलिए *अनीश्वरवादिन:* समझे जाते हैं। यद्यपि वर्णाश्रम प्रणाली के मूर्ख भौतिकतावादी अनुयायी अपना पद आर्यों या द्विजों के रूप में बनाये रखना चाहते हैं और उसी के साथ भगवान् की उपेक्षा करना चाहते हैं, किन्तु *भागवत* (११.५.३) में स्पष्ट कहा गया है *स्थानाद् भ्रष्टा: पतन्त्यध:*—ऐसे व्यक्ति अवश्य ही अपने पदों से गिर कर जीवन की निम्न अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। जैसाकि इस श्लोक के *मुह्यन्ति* शब्द से पुष्टि होती है, वे अज्ञान के गर्त में जा गिरते हैं। ऐसे दिखावे वाले लोग कभी कभी अपने को *गुरु* रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। किन्तु भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि वे ज्ञान में भारी या *गुरु* न होकर *लघु* होते हैं। यह तो मनुष्य का अपने प्रति (*स्वार्थगति*) तथा भगवान् के प्रति परम कर्तव्य है कि *कर्म* तथा *ज्ञान* द्वारा विशेषित भौतिकतावादी कर्म त्याग दे और भगवान् के चरणकमलों की शरण में जाय। केवल अभागे व्यक्ति ही मानेंगे कि गोकुलानन्द भगवान् के चरणकमलों पर भावमय शरणागति की अपेक्षा कोई और भी उच्चतर आनन्द है।

कर्मण्यकोविदा: स्तब्धा मूर्खा: पण्डितमानिन: ।
वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुका: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कर्मणि—सकाम कर्म के तथ्यों के बारे में; **अकोविदा:**—अज्ञान; **स्तब्धा:**—मिथ्या अहंकार से गर्वित; **मूर्खा:**—मूर्ख; **पण्डित-मानिन:**—अपने को विद्वान समझते हुए; **वदन्ति**—बोलते हैं; **चाटुकान्**—चाटुकार; **मूढा:**—मुग्ध, मोहग्रस्त; **यया**—जिससे; **माध्व्या**—मधुर; **गिरा**—शब्द; **उत्सुका:**—अत्यन्त उत्सुक।

कर्मकला से अनजान, वेदों के मधुर शब्दों से मोहित तथा जागृत ऐसे उद्धत गर्वित मूर्खजन अपने को विद्वान होने का ढोंग रचते हैं और देवताओं की चाटुकारिता करते हैं।

तात्पर्य : *कर्मण्यकोविदा:* उन लोगों का द्योतक है, जो कर्म करने की उस कला से अनजान होते हैं, जिससे उन्हें भविष्य में बन्धन न भोगना पड़े। यह कला *भगवद्गीता* में वर्णित है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन: ।* कर्म तो विष्णु की तुष्टि हेतु सम्पन्न किया जाना चाहिए, अन्यथा कर्म बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र के रूप में भावी बन्धन का कारण बनता है। *स्तब्धा:* शब्द सूचित करता है कि अज्ञानी व्यक्ति कर्म की कला को न जानते हुए भी, न तो विद्वान भक्तों से जिज्ञासा करते हैं, न भगवान् के ही जनों के उपदेश को मानते हैं। वेदों में प्रदत्त सकाम कर्मों से गर्वित होकर ऐसे मूर्ख सोचते हैं कि हम तो वेदों के पंडित हैं, हमने सबकुछ पूर्ण रूप से समझ लिया है। इस तरह वे ऐसे वैदिक कथनों की ओर आकृष्ट होते हैं यथा *अपाम् सोमम् अमृता अभूम* (हमने सोमरस पी लिया है, इसलिए अब हम अमर हैं), *अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन: सुकृतं भवति* (जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है उसे अक्षय पुण्य मिलता है), *यत्र नोष्णं न शीतं स्यान्न ग्लानिर्नाप्यरातय:* (चलो ऐसे भौतिक लोक में चलें, जहाँ न तो गर्मी है, न सर्दी, न ह्रास है न शत्रु है)। ऐसे मूर्खों को यह भी ज्ञान नहीं रहता कि ब्रह्माण्ड का स्रष्टा ब्रह्मा तक काल के अन्त में मरेगा, तो उन भौतिक वेद अनुयायियों के बारे में क्या कहा जाय जो उच्च कोटि की इन्द्रिय-तृप्ति की तलाश में विभिन्न दैवी लोकों में मेढ़कों, की तरह उछलते हैं? ऐसे मोहग्रस्त वैदिक पंडित उन अप्सराओं के साथ केलि करने का स्वप्न देखते हैं, जो उनके साथ नाचने, गाने तथा अनियंत्रित विषय-वासना उभाड़ने में निपुण हैं। इस तरह जो लोग वेदों के कर्मकाण्ड भाग द्वारा प्रदत्त स्वर्गिक मायाजाल के बहकावे में आ जाते हैं, वे क्रमश: नास्तिक प्रवृत्ति वाले बन जाते हैं। वस्तुत: यह समस्त ब्रह्माण्ड भगवान् विष्णु को यज्ञस्वरूप अर्पित करने के निमित्त है। इससे बद्धजीव क्रमश: भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के व्यामोह से उठ कर नित्य धाम को जा सकता है। किन्तु मिथ्या अहंकार से फूले हुए वेदों के अनुयायी व्यक्ति भगवान् विष्णु की सर्वोच्चता तथा सौन्दर्य से निरन्तर अनभिज्ञ रहते हैं।

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।

दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

रजसा—रजोगुण की प्रधानता से; घोर-सङ्कल्पाः—उग्र इच्छाओं वाले; कामुकाः—विषयी; अहि-मन्यवः—सर्प जैसा क्रोध करने वाले; दाम्भिकाः—बनावटी; मानिनः—अत्यधिक गर्वीले; पापाः—पापी; विहसन्ति—हँसी उड़ाते हैं; अच्युत-प्रियान्—अच्युत भगवान् के प्रियजनों का।

रजोगुण के प्रभाव के कारण वेदों के भौतिकतावादी अनुयायी उग्र इच्छाओं के वशीभूत होकर अत्यधिक कामुक बन जाते हैं। उनका क्रोध सर्प जैसा होता है। वे चालबाज, अत्यधिक गर्वीले तथा आचरण में पापपूर्ण होने से भगवान् अच्युत के भक्तों की हँसी उड़ाते हैं।

तात्पर्य : *घोर-सङ्कल्पाः* द्योतक है उग्र इच्छाओं का जैसे कि यह सोचना कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है, इसलिए वह मर जाय। रजोगुण के कारण काम की तरंगें बद्धजीव को वशीभूत कर लेती हैं, जिससे वह साँप जैसा क्रुद्ध हो उठता है। ऐसा व्यक्ति गर्व तथा अहंकार से पूरित होने के कारण भगवद्भक्तों द्वारा कृष्णभावनामृत को वितरित करने के विनीत प्रयासों की बड़ाई नहीं कर पाता। वह यही सोचता है, "ये भिखमंगे अपना पेट भरने के लिए भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं, किन्तु ये सुखी कभी नहीं हो सकते।" ऐसे भौतिकतावादी धूर्त उन भगवद्भक्तों के दिव्य पद को कभी नहीं समझ पायेंगे, जो स्वयं भगवान् द्वारा रक्षित एवं प्रोत्साहित होते हैं।

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥ ८॥

शब्दार्थ

वदन्ति—बोलते हैं; ते—वे; अन्योन्यम्—एक-दूसरे से; उपासित-स्त्रियः—स्त्री-पूजा में व्यस्त रहने वाले; गृहेषु—अपने घरों में; मैथुन्य-परेषु—एकमात्र संभोग में लीन रहने वाले; च—तथा; आशिषः—आशीर्वाद, वर; यजन्ति—पूजा करते हैं; असृष्ट—बिना सम्पन्न किये; अन्न-विधान—भोजन-वितरण; दक्षिणम्—पुरोहितों को दिया जाने वाला दान, दक्षिणा; वृत्त्यै—अपनी जीविका के लिए; परम्—एकमात्र; घ्नन्ति—हत्या करते हैं; पशून्—पशुओं को; अतत्-विदः—ऐसे आचरण के परिणामों से अनभिज्ञ।

वैदिक विधानों के भौतिकतावादी अनुयायी भगवान् की पूजा का परित्याग करके अपनी पत्नियों की पूजा करते हैं और इस तरह उनके घर यौन-जीवन के लिए समर्पित हो जाते हैं। ऐसे भौतिकतावादी गृहस्थ इस प्रकार के मनमाने आचरण के लिए एक-दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। वे अनुष्ठानिक यज्ञ को शारीरिक निर्वाह के लिए आवश्यक साधन मान कर अवैध उत्सव

मनाते हैं, जिनमें न तो भोजन बाँटा जाता है, न ही ब्राह्मणों तथा अन्य सम्मान्य व्यक्तियों को दक्षिणा दी जाती है। विपरित इसके वे अपने कर्मों के कुपरिणामों को समझे बिना, क्रूरतापूर्वक बकरों जैसे पशुओं का वध करते हैं।

तात्पर्य : मिथ्या अभिमान विषय-भोग में लिप्त हुए बिना पूरा नहीं होता। इसलिए भौतिकतावादी गृहस्थ सन्त-पुरुषों की पूजा करने की ओर आकृष्ट नहीं होते, प्रत्युत वे निरन्तर विषय-भोग के स्रोत रूप अपनी पत्नियों की पूजा करते हैं। ऐसे गर्हित लोगों की मानसिकता का वर्णन स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१६.१३) में किया है—

इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

''आसुरी व्यक्ति सोचता है कि आज मेरे पास इतना धन है और अपनी योजनाओं से मैं अधिक धन कमाऊँगा। इस समय मेरे पास इतना है, किन्तु भविष्य में वह बढ़कर और अधिक हो जायेगा।''

सामान्यतया भौतिकतावादी गृहस्थजन अपने आपको अत्यन्त धार्मिक मानते हैं। वस्तुत: वे अपने बहुत-से पारिवारिकजनों के पेट-पालन के लिए धन कमाकर उन ''अनुत्तरदायी'' साधुओं की अपेक्षा अपने आप को अधिक पुण्यात्मा मानते हैं, जो अपने पारिवारिकजनों के पालन-पोषण हेतु कोई संघर्ष नहीं करते। भौतिक शरीर की पूजा करते हुए वे उन दीन ब्राह्मणों का मानमर्दन करते हैं, जिनकी आर्थिक दशा बहुत अच्छी नहीं होती। वे ऐसे तथाकथित भिखारियों को दान के अयोग्य मानते हैं और इसकी बजाय अपने पारिवारिकजनों की मिथ्या प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही यज्ञ करते हैं। इस सन्दर्भ में मध्वाचार्य ने कहा है—*उपेक्ष्य वै हरिं ते तु भूत्वा यज्ञा: पतन्त्यध:।* अपने को सबसे बड़ा धर्मज्ञ मानते हुए भी जो लोग भगवान् तथा उनके भक्तों की उपेक्षा करते हैं, वे अवश्य ही नीचे गिरते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति कभी कभी एक-दूसरे को इस तरह आशीर्वाद देते हैं, ''आपको शानदार फूल-मालाएँ, चन्दन-लेप तथा सुन्दर स्त्रियाँ प्राप्त हों।''

जो पुरुष स्त्रियों के स्वभाव से नियंत्रित होते हैं, वे स्त्रियों जैसे ही बन जाते हैं। भौतिकताग्रस्त स्त्रियों की रुचि भगवद्भक्ति में नहीं होती। वे तो निजी सुख के लिए संघर्ष करती हैं। इसलिए वे अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक अपने पतियों से सेवा कराती हैं और यदि उनके पति भगवान् की सेवा करना

अधिक अच्छा समझते हैं, तो वे निरुत्साहित होने लगती हैं। इस तरह निराधार आशा में खोकर पति-पत्नी दोनों ही क्षणिक सुख के लिए एक-दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। वे भगवान् की लीलाओं को कहना या सुनना पसन्द नहीं करते, अपितु अपने परिवारों के विषय में विचार-विमर्श करना अधिक अच्छा समझते हैं। तो भी भगवद्भक्त सतोगुण में प्रौढ़ होने के कारण इन पशुवत् बद्धजीवों के प्रति दया दिखाने के लिए तत्पर रहते हैं। जब भगवद्भक्त यह उपदेश देते हैं कि मनुष्यों को पशु-हत्या नहीं करनी चाहिए, तो भौतिकताग्रस्त गृहस्थ प्राय: चकित हो उठते हैं और यह प्रश्न करते हैं कि क्या सचमुच शाकाहारी भोजन पर निर्भर रहा जा सकता है। इस तरह भौतिक सतोगुण से सर्वथा अनजान होकर, आध्यात्मिक ज्ञान का तो कहना ही क्या, ऐसे निकृष्ट भौतिकतावादी लोगों को भगवद्भक्तों की कृपा के अतिरिक्त अन्य कोई आशा नहीं दिखती।

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान्खलाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्रिया—अपने ऐश्वर्य (सम्पत्ति आदि) द्वारा; विभूत्या—विशिष्ट क्षमताओं द्वारा; अभिजनेन—उच्च कुल से; विद्यया—शिक्षा से; त्यागेन—त्याग से; रूपेण—सौन्दर्य से; बलेन—बल से; कर्मणा—कर्म द्वारा; जात—उत्पन्न; स्मयेन—ऐसे गर्व से; अन्ध—अन्धा हुआ; धियः—बुद्धि वाला; सह-ईश्वरान्—भगवान् सहित; सतः—सन्त स्वभाव वाले भक्तगण; अवमन्यन्ति—अनादर करते हैं; हरि-प्रियान्—भगवान् हरि के प्रियजनों को; खलाः—दुष्ट व्यक्ति।

दुर्मति व्यक्तियों की बुद्धि उस मिथ्या अहंकार से अन्धी हो जाती है, जो धन-सम्पदा, ऐश्वर्य, उच्च-कुलीनता, शिक्षा, त्याग, शारीरिक सौन्दर्य, शारीरिक शक्ति तथा वैदिक अनुष्ठानों की सफल सम्पन्नता पर आधारित होता है। इस मिथ्या अहंकार से मदान्ध होकर ऐसे दुष्ट व्यक्ति भगवान् तथा उनके भक्तों की निन्दा करते हैं।

तात्पर्य : बद्धजीवों द्वारा प्रदर्शित आकर्षक गुण मूलत: उन भगवान् के हैं, जो समस्त आकर्षक गुणों के आगार हैं। चन्द्रमा का प्रकाश वास्तव में सूर्य का प्रतिबिम्बित तेज होता है। इसी तरह जीव कुछ अल्पकाल तक भगवान् के ऐश्वर्य की किसी विशिष्ट मात्रा को प्रतिबिम्बित करता है। यह न जानने से नास्तिक व्यक्ति ऐसे प्रतिबिम्बित ऐश्वर्य से मदान्ध बन जाते हैं और इस तरह वे भगवान् तथा उनके

भक्तों की अधिकाधिक आलोचना करके अपने आपको निन्दित करते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि वे इतने गर्हित क्यों बन गये हैं। ऐसे लोगों को नरक जाने से रोक पाना कठिन है।

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सर्वेषु—समस्त; शश्वत्—नित्य; तनु-भृत्सु—देहधारी जीवों में; अवस्थितम्—स्थित; यथा—जिस तरह; खम्—आकाश; आत्मानम्—परमात्मा को; अभीष्टम्—अत्यन्त पूज्य; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; वेद-उपगीतम्—वेदों द्वारा प्रशंसित; च—भी; न शृण्वते—नहीं सुनते हैं; अबुधाः—अज्ञानीजन; मनः-रथानाम्—मनमाने आनन्द के; प्रवदन्ति—परस्पर विवाद करते जाते हैं; वार्तया—कथाएँ।

प्रत्येक देहधारी जीव के हृदय के भीतर शाश्वत स्थित रहते हुए भी भगवान् उनसे पृथक् रहते हैं, जिस तरह कि सर्वव्यापक आकाश किसी भौतिक वस्तु में घुल-मिल नहीं जाता। इस प्रकार भगवान् परम पूज्य हैं तथा हर वस्तु के परम नियन्ता हैं। वेदों में उनकी विस्तार से महिमा गाई जाती है, किन्तु जो लोग बुद्धिविहीन हैं, वे उनके विषय में सुनना नहीं चाहते। वे अपना समय अपने उन मनोरथों की चर्चा करने में बिताते हैं, जो यौन-जीवन तथा मांसाहार जैसी स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति से सम्बन्धित होते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* समस्त वैदिक ज्ञान का लक्ष्य परम सत्य को जानना है। यद्यपि वेदों का यह उद्देश्य स्वयं वैदिक साहित्य में तथा स्वरूपसिद्ध आचार्यों द्वारा स्पष्ट प्रकट किया जाता है, किन्तु मूर्ख लोग इस सरल सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते। वे अपने लैंगिक साथियों और अपने अनुभवों की चर्चा करके अवैध यौन के ज्ञान का अनुशीलन करना अधिक पसन्द करते हैं। वे मांसाहार के लिए अपने दोस्तों को अच्छे से अच्छा भोजनालय बताते हैं और बड़े शौक से उसकी संस्तुति करते हैं और नशीली दवाओं तथा सुराओं के पापपूर्ण अनुभवों को बताकर उनकी प्रशंसा करने में रुचि लेते हैं। ये भौतिकतावादी इन्द्रिय-लोलुप व्यक्ति एक-दूसरे से बड़े शौक से टेलीफोन पर बात करते हैं, सभा-सोसाइटियों में एकत्र होते हैं और आखेट करने, शराब पीने तथा जुआ खेलने के पर्यटनों में रुचि लेते हैं और इस तरह तमोगुणी जीवन बिताते हैं। उनके पास परम सत्य कृष्ण के विषय में चर्चा करने के लिए न तो समय रहता है, न ही रुचि होती है। दुर्भाग्यवश वे

भगवान् की अनदेखी करते हैं, जिससे भगवान् उन्हें होश में लाने के लिए कठिन दण्ड देते हैं। प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, अतएव प्रत्येक वस्तु भगवान् के भोग के निमित्त है। जब जीव अपने सारे कर्म भगवान् की प्रसन्नता के लिए करता है, तो उसे असीम सुख का अनुभव होता है। *येन सत्त्वं शुद्ध्येद् यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।* भौतिक प्रपंच में वस्तुत: कोई सुख नहीं है और भगवान् मदान्ध बद्धजीव को होश में लाने के लिए कृपापूर्वक दण्ड देते हैं।

दुर्भाग्यवश भौतिकतावादी लोग *भगवद्गीता* में दिये गये भगवान् के उपदेश की या भगवान् के प्रतिनिधियों द्वारा *श्रीमद्भागवत* जैसे सम्बन्धित साहित्य में से दिये जाने वाले प्रवचन की परवाह नहीं करते। उल्टे ऐसे विषयी लोग अपने को प्रकाण्ड वक्ता एवं विद्वान मानते हैं। हर भौतिकतावादी व्यक्ति अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान मानता है, अतएव वास्तविक सत्य सुनने के लिए उसके पास समय नहीं रहता। फिर भी जैसाकि इस श्लोक में वर्णन हुआ है, भगवान् बद्धजीव के हृदय में धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हुए, उसी के भीतर बैठे हुए परमात्मा को पहचानने के लिए उसे प्रोत्साहित करते हैं। बद्धजीव द्वारा इस तरह भगवान् को पहचानना कल्याण तथा सुख की शुरुआत है।

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्या हि जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

लोके—भौतिक जगत में; व्यवाय—यौन-लिप्तता; आमिष—मांस; मद्य—तथा मदिरा का; सेवाः—सेवन; नित्याः—सदैव प्राप्त; हि—निस्सन्देह; जन्तोः—बद्धजीव में; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; तत्र—उस विषय में; चोदना—शास्त्र का आदेश; व्यवस्थितिः—संस्तुत व्यवस्था; तेषु—इनमें; विवाह—पवित्र विवाह द्वारा; यज्ञ—यज्ञ; सुरा-ग्रहैः—तथा शराब ग्रहण करने से; आसु—इनकी; निवृत्तिः—समाप्ति; इष्टा—अभीष्ट।

इस भौतिक जगत में बद्धजीव यौन, मांसाहार तथा नशे के प्रति सदैव उन्मुख रहता है। इसीलिए शास्त्र कभी भी ऐसे कार्यों को बढ़ावा नहीं देते। यद्यपि पवित्र विवाह के द्वारा यौन, यज्ञों द्वारा मांसाहार तथा उत्सवों में सुरा के प्याले ग्रहण करके नशे के लिए शास्त्रों का आदेश है, किन्तु ऐसे उत्सवों मन्तव्य उनकी ओर से विरक्ति उत्पन्न करना है।

तात्पर्य : जो लोग शुद्ध कृष्णभावनामृत को प्राप्त नहीं है, वे अवैध यौन, मांसाहार तथा नशे के रूप में भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति की ओर सदैव उन्मुख रहते हैं। वे खाने, पीने और मौज उड़ाने के

सामूहिक अवसरों की ही सदैव कामना करते हैं। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसी क्षणिक तृप्ति को त्यागने के लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि वे देहात्म बुद्धि से बुरी तरह जकड़े होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए ऐसे अनेक वैदिक कर्मकाण्ड हैं, जो संयमित ढंग से भौतिक इन्द्रिय-सुख प्रदान करने वाले हैं। इस तरह बद्धजीव वैदिक जीवन शैली के आज्ञा-पालन के निमित्त नियंत्रित इन्द्रियतृप्ति की कठोरता को स्वीकार करके भगवान् की अप्रत्यक्ष पूजा करने का आदी बन जाता है। शुद्धि के माध्यम से ऐसा जीव क्रमश: उच्चतर रुचि उत्पन्न करता है और भगवान् के आध्यात्मिक स्वभाव के प्रति प्रत्यक्ष आकृष्ट हो जाता है।

कभी कभी वेदों के कर्मकाण्ड भाग के पतित अभ्यासकर्ता बल देते हैं कि वैदिक उत्सवों के सकाम फलों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि वे धार्मिक शास्त्रों द्वारा संस्तुत हैं। उदाहरणार्थ एक वैदिक आदेश है कि रजस्वला होने के कम से कम पाँच दिन बाद जब पत्नी ऋतु-स्नान करके स्वच्छ हो ले, तो रात के समय पति अपनी पत्नी से उचित मौसम में संभोग करने जाये। इस तरह उत्तरदायी गृहस्थ धार्मिक यौन-जीवन में प्रवृत्त हुए।

यौन-जीवन के लिए अपनी पत्नी के पास जाने के वैदिक आदेश की व्याख्या वैष्णव आचार्यों ने इस प्रकार की है। भौतिक जगत में प्राय: प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त कामुक होता है और किसी भी आकर्षक स्त्री से मिलने पर उसमें कामेच्छा जागृत होती है। सामान्य भौतिकतावादी व्यक्ति के लिए अपनी वैध विवाहिता पत्नी तक ही सम्बन्धों को सीमित रखना एक उपलब्धि है। किन्तु परिचय से घृणा उत्पन्न होती है, अत: यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि पति धीरे धीरे अपनी पत्नी से ईर्ष्या या क्रोध करने लगता है और अन्य स्त्रियों से अवैध सम्बन्ध करना चाहता है। ऐसी प्रवृत्ति अत्यन्त पापपूर्ण तथा निन्दनीय है, इसीलिए वैदिक शास्त्र का आदेश है कि मनुष्य सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा से अपनी वैध पत्नी के पास जाय और इस तरह अन्य स्त्रियों के साथ अवैध यौन-सम्बन्ध में कमी लाये। यदि पत्नी के पास जाने का वैदिक आदेश न होता, तो अनेक लोग अपनी पत्नियों का अनादर करके अवैध सम्बन्ध द्वारा अन्य स्त्रियों को दूषित करने के लिए उन्मुख हो जाते।

किन्तु बद्धजीवों पर लागू होने वाला ऐसा आदेश उन महात्माओं के लिए नहीं होता, जो आध्यात्मिक पद पर स्थिर हैं और भौतिक कामेच्छा से परे हैं। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है

निवृत्तिरिष्टा—वैदिक शास्त्रों का वास्तविक प्रयोजन मनुष्य को भगवद्धाम वापस ले जाना है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—*यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्*—मृत्यु के समय हम जो भी सोचते हैं, उसी से हमारा अगला शरीर निश्चित होता है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(*भगवद्गीता* ८.५)

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण का स्मरण करता है, तो वह तुरन्त कृष्ण के नित्य लोक को चला जाता है। अतः चूँकि सारे वैदिक शास्त्र कृष्ण को जानने के लिए हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*) इसलिए वेदों का चरम उद्देश्य कभी भी वैध या अवैध किसी भी प्रकार की भौतिक इन्द्रियों में तल्लीनता नहीं हो सकता। विवाहित यौन-जीवन सम्बन्धी वैदिक नियम वास्तव में पापपूर्ण अवैध यौन को रोकने के उद्देश्य से हैं। किन्तु किसी को मूर्खता से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उसकी पत्नी के नग्न शरीर का कामुक आकर्षण ही आत्म-साक्षात्कार तथा वैदिक उत्थान की पूर्णता है। आध्यात्मिक जीवन की असली पूर्णता तो समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होना, अर्थात् *निवृत्ति* और मन को कृष्ण पर एकाग्र करना है।

इसी प्रकार मद्यपान तथा मांसाहार के संयमित सेवन के सम्बन्ध में अन्य आदेश हैं। जो लोग मांसाहार के लिए उतावले रहते हैं, उन्हें ऐसे वैदिक उत्सव सम्पन्न करने का आदेश दिया जाता है, जिनसे उन्हें पाँच प्रकार के पाँच-नस्वरों वाले पशुओं को खाने की छूट दी जाती है। ये पशु हैं—गैंडा, कछुआ, खरगोश, स्याही तथा छिपकली। इसी प्रकार विशिष्ट सुरापान की अनुमति वर्ष के विशिष्ट दिनों में बहुत खर्च करके सम्पन्न होने वाले अति-सीमित यज्ञों में दी जाती है। इस तरह अन्य प्रकार का मद्यपान निषिद्ध तथा नृशंस पशु-हत्या निषिद्ध हैं। ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने से मनुष्य धीरे धीरे शुद्ध हो जाता है और मांसाहार तथा सुरापान जैसे मूर्खतापूर्ण कार्यों के लिए अरुचि उत्पन्न कर लेता है। इन्द्रिय-तृप्ति पर क्रमशः नियंत्रण लगाने वाले वैदिक नियम *विधि* कहलाते हैं। *नियम* शब्द उन आदेशों का द्योतक है, जो ऐसे कार्यों पर नियंत्रण रखते हैं, जिन्हें मनुष्य सामान्य रूप से नहीं करना चाहते। उदाहरणार्थ, कहा गया है *अहरहःसन्ध्यामुपासीत*—मनुष्य को प्रतिदिन तीनों संधियों पर गायत्री मंत्र का

जप करना चाहिए। यह भी कहा गया है *माघस्नानं प्रकुर्वीत*—मनुष्य को कड़ाके के जाड़े में भी नित्य स्नान करना चाहिए। ऐसे आदेश उन कार्यों की संस्तुति करते हैं, जिनकी सामान्यतया उपेक्षा कर दी जाती है।

यद्यपि ऊपर इसका उल्लेख हुआ है कि अपनी वैध पत्नी की उपेक्षा करने के विरुद्ध आदेश हैं, किन्तु मांसाहार की पूरी तरह उपेक्षा करने के विरुद्ध कोई आदेश नहीं है। दूसरे शब्दों में, पशु-हत्या अत्यन्त निन्दनीय मानी जाती है और यद्यपि अधिक उग्र श्रेणी के लोगों के लिए कुछ छूट है, किन्तु मनुष्य को अपना क्रूर कर्म पूरी तरह से त्याग देना चाहिए, क्योंकि पशु-यज्ञ में थोड़ी-सी भी त्रुटि रह जाने से जीवन में उत्पात खड़ा हो सकता है।

यह समझ लेना होगा कि जो लोग श्री चैतन्य महाप्रभु के निर्देशन में हरे कृष्ण *मन्त्र* का कीर्तन करते हुए, उच्च पद को प्राप्त हो चुके हैं, उनसे आशा की जाती है कि वे भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति का पूर्णरूपेण परित्याग कर दें। यदि कोई कृष्ण-भक्त छल से मांसाहार, नशा या यौन-सुख के लिए शास्त्रों की छूट का लाभ उठाना चाहता है, तो वह नाम-जप के विरुद्ध दसवाँ अपराध करता है। विशेष रूप से यदि किसी ने *त्रिदण्डि संन्यास* आश्रम स्वीकार किया है, तो गृहस्थों के लिए संयमित यौन-जीवन की संस्तुति करने वाले वैदिक आदेशों के प्रति उसका आकृष्ट होना अत्यन्त निन्दनीय तथा घृणित है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार संन्यास आश्रम में कोई ऐसी छूट नहीं है। वैष्णव संन्यासियों को *मनु-संहिता* में दिये गये निम्नलिखित श्लोक जैसे कथनों से मूर्खतावश चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

"ऐसा माना जा सकता है कि मांसाहार, नशा तथा यौन-लिप्तता बद्धजीवों की स्वाभाविक लालसाएँ हैं, अतएव इन कर्मों के लिए ऐसे व्यक्तियों की निन्दा नहीं की जानी चाहिए। किन्तु जब तक ऐसे पापकर्मों का परित्याग नहीं किया जाता, तब तक जीवन की असली सिद्धि पाने की सम्भावना नहीं है।"

क्रिया-विधान में बतलाया गया है कि *वामदेव यज्ञ* या फिर *गर्भाधान संस्कार* के अवसर पर ही धार्मिक संतान उत्पन्न करने के लिए मैथुन की अनुमति दी जाती है। यह भी कहा गया है कि कभी

कभी पितरों तथा देवों के प्रति किए गए यज्ञ के माध्यम से भगवान् हरि की पूजा करने में कुछ प्रकार के मांस प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार सोमरस के पान के माध्यम से नशे का एक रूप प्राप्त है। किन्तु यदि तथाकथित ब्राह्मण ऐसी भेंटों का आदी हो जाता है, तो वह तुरन्त दूषित हो जाता है। वस्तुत: जो ब्राह्मण स्वयं ऐसे यज्ञ करते थे, वे स्वयं न तो मांस ग्रहण करते थे, न मदिरा। ये वस्तुएँ क्षत्रियों द्वारा सेवन की जाती थीं, जिन्हें यज्ञ के ऐसे उच्छिष्ट पदार्थों को ग्रहण करने पर बुरा नहीं माना जाता था।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में यह देखा जा सकता है कि जो कृष्ण के उच्च भक्त बनने के इच्छुक होते हैं, वे ऐसे सकाम यज्ञों का तुरन्त परित्याग कर देते हैं। भक्ति में किसी भी प्रकार के सकाम यज्ञ के लिए स्थान नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि उनके सारे निष्ठावान अनुयायी चौबीसों घण्टे *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* में लगे रहें। जो लोग अपने को चैतन्य महाप्रभु का अनुयायी बताते हैं और निकट भविष्य में भगवद्धाम वापस जाने के गंभीरता से इच्छुक हैं, उन्हें वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति आकृष्ट नहीं होना चाहिए, जो कि भौतिक देहात्म बुद्धि से बुरी तरह जकड़े रहने वालों के लिए हैं। चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी ऐसे कलुषित अनुष्ठानों से पृथक् रहते हैं।

धनं च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति ।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

धनम्—धन; च—भी; धर्म-एक-फलम्—धार्मिकता ही, जिसका एकमात्र उचित फल है; यत:—जिस (धार्मिक जीवन) से; वै—निस्सन्देह; ज्ञानम्—ज्ञान; स-विज्ञानम्—प्रत्यक्ष अनुभूति सहित; अनुप्रशान्ति—तथा तदुपरान्त कष्ट से मोक्ष; गृहेषु—अपने घरों में; युञ्जन्ति—उपयोग करते हैं; कलेवरस्य—अपने भौतिक शरीर का; मृत्युम्—मृत्यु; न पश्यन्ति—नहीं देख सकते; दुरन्त—दुर्लंघ्य; वीर्यम्—जिसकी शक्ति।

सञ्चित धन का एकमात्र उचित फल धार्मिकता है, जिसके आधार पर मनुष्य जीवन की दार्शनिक जानकारी प्राप्त कर सकता है, जो अन्तत: परब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति में और इस तरह समस्त कष्ट से मोक्ष में परिणत हो जाता है। किन्तु भौतिकतावादी व्यक्ति अपने धन का सदुपयोग अपनी पारिवारिक स्थिति की उन्नति में ही करते हैं। वे यह देख नहीं पाते कि दुर्लंघ्य मृत्यु शीघ्र ही उनके दुर्बल भौतिक शरीर को विनष्ट कर देगी।

तात्पर्य : वे वस्तुएँ, जो स्वामी के कब्जे में रहती हैं, *धनम्* कहलाती हैं। जब कोई मूर्ख व्यक्ति अपने शरीर तथा परिवार की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अपनी सारी गाढ़ी कमाई को खर्च करने का आदी हो जाता है, तो वह यह नहीं देख पाता कि मृत्यु किस तरह दृढ़ गति से उसके शरीर तथा उसके परिवार एवं मित्रों के नश्वर शरीरों के निकट पहुँच रही है। *मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—भगवान् सर्वशक्तिमान मृत्यु के रूप में प्रकट होते हैं, जो समस्त भौतिक वस्तुओं को नष्ट कर देती है। वस्तुतः परिवार में भी अपने धन का उपयोग अपने तथा अपने परिवार के आध्यात्मिक उत्थान के लिए ही करना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ऐसे बहुत-से धार्मिक गृहस्थ हैं, जो सरल शान्त जीवन बिताते हैं और अपने धन का उपयोग अपने घर पर कृष्णभावनाभावित कार्यों को करने तथा उन विरक्त ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों की सहायता करने में करते हैं, जो सार्वजनिक स्थानों में कृष्णभावनामृत का प्रचार करने में लगे हुए हैं। ऐसे गृहस्थ भी जो अपनी शतप्रतिशत शक्ति कृष्णभावनामृत में अर्पित नहीं कर पाते, धीरे धीरे जीवन के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को ठीक से समझने लगते हैं और अंततः कृष्ण के चरणकमलों पर दृढ़तापूर्वक अध्यात्मवादी बन जाते हैं। इस तरह वे जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु—बद्ध जीवन की इन चिन्ताओं से अपने को मुक्त कर लेते हैं।

कृष्णभावनामृत के बिना जीवन वस्तुतः निर्धनता है, किन्तु निर्धनताग्रस्त भौतिकतावादी, जिसकी बुद्धि सीमित है, यह नहीं समझ पाता कि असली धन तो कृष्णभावनामृत या भगवत्प्रेम को सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाना है। ऐसे लोग अपनी सन्तानों को पशुओं की तरह पाल-पोस कर बड़ा करते हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य झूठी प्रतिष्ठा तथा भौतिक इन्द्रिय-सुख रहता है। ऐसे भौतिकतावादी गृहस्थ डरते रहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन में अधिक रुचि होने से, उनकी सन्तानों की झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा को कहीं क्षति न पहुँचे। वस्तुतः मृत्यु ऐसे आध्यात्मिकता से विहीन भौतिकतावादियों के सारे प्रयासों तथा योजनाओं को ध्वस्त कर देगी। यदि पारिवारिक जीवन तथा धन का उपयोग कृष्णभावनामृत में किया जाता है, तो मनुष्य नित्य-अनित्य, आत्मा-पदार्थ, सुख-दुख के बीच भेद करना सीखेगा और इस तरह जीव मुक्त हो सकेगा तथा सैद्धान्तिक ज्ञान से ऊपर उठ कर कृष्णभावनाभावित जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करेगा। सीमित संवेदनात्मक ज्ञान अर्थात् *प्रत्यक्ष ज्ञान*

सैद्धान्तिक आध्यात्मिक ज्ञान अर्थात् *परोक्ष ज्ञान* के बिना व्यर्थ है, क्योंकि परोक्ष ज्ञान सावधान के साथ अनुशीलन से क्रमशः पक्व होकर *अपरोक्ष ज्ञान* बन जाता है।

इस श्लोक में आया हुआ *अनुप्रशान्ति* शब्द सूचित करता है कि आध्यात्मिक ज्ञान (*विज्ञानम्*) द्वारा मनुष्य को नित्य शान्ति तथा आनन्द की परम उत्कृष्ट अवस्था प्राप्त होती है, जो भौतिकतावादी बद्धजीवों के स्वप्नों से बहुत आगे है।

यद्घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; घ्राण—सूँघ कर; भक्षः—ग्रहण करना; विहितः—वैध है; सुरायाः—मदिरा का; तथा—उसी तरह; पशोः—बलि पशु का; आलभनम्—विहित वध; न—नहीं; हिंसा—अंधाधुंध हिंसा; एवम्—इसी प्रकार से; व्यवायः—यौन; प्रजया—सन्तान उत्पन्न करने के लिए; न—नहीं; रत्यै—इन्द्रिय-भोग के लिए; इमम्—यह (जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है); विशुद्धम्—अत्यन्त शुद्ध; न विदुः—वे नहीं समझ पाते; स्व-धर्मम्—अपने उचित कर्तव्य को।

वैदिक आदेशों के अनुसार, जब यज्ञोत्सवों में सुरा प्रदान की जाती है, तो उसका पीकर नहीं अपितु सूँघ कर उपभोग किया जाता है। इसी प्रकार यज्ञों में पशु-बलि की अनुमति है, किन्तु व्यापक पशु-हत्या के लिए कोई प्रावधान नहीं है। धार्मिक यौन-जीवन की भी छूट है, किन्तु विवाहोपरान्त सन्तान उत्पन्न करने के लिए, शरीर के विलासात्मक दोहन के लिए नहीं। किन्तु दुर्भाग्यवश मन्द बुद्धि भौतिकतावादी जन यह नहीं समझ पाते कि जीवन में उनके सारे कर्तव्य नितान्त आध्यात्मिक स्तर पर सम्पन्न होने चाहिए।

तात्पर्य : पशु–यज्ञ के सम्बन्ध में मध्वाचार्य ने निम्नलिखित कथन दिया है—

यज्ञेष्वालभनं प्रोक्तं देवतोद्देशतः पशोः।
हिंसानाम तदन्यत्र तस्मात् तां नाचरेद् बुधः॥
यतो यज्ञे मृता ऊर्ध्वं यान्ति देवे च पैतृके।
अतो लाभादालभनं स्वर्गस्य न तु मारणम्॥

इस कथन के अनुसार कभी कभी वेद भगवान् या किसी देवता विशेष की तुष्टि के लिए पशु–यज्ञ करने की संस्तुति करते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति वैदिक नियमों का दृढ़ता से पालन न करते हुए

अंधाधुंध पशु-वध करता है, तो ऐसा वध वास्तविक हिंसा है और किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। यदि पशु-यज्ञ सही ढंग से सम्पन्न किया जाता है, तो बलि किया गया पशु तुरन्त देवलोक तथा पितृलोक को चला जाता है। इसलिए ऐसा यज्ञ पशुओं का वध नहीं है, अपितु वैदिक मंत्रों की शक्ति-प्रदर्शन के लिए होता है, जिसकी शक्ति से बलि किया हुआ पशु, तुरन्त उच्च लोकों को प्राप्त होता है।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने इस युग में ऐसे पशु-यज्ञ का निषेध किया है, क्योंकि मंत्रों का उच्चारण करने वाले योग्य ब्राह्मणों का अभाव है और तथाकथित यज्ञशाला सामान्य कसाई-घर का रूप धारण कर लेती है। इसके पूर्व के युग में जब पाखण्डी लोग वैदिक यज्ञों का गलत अर्थ लगाकर, यह सिद्ध करना चाहते थे कि पशु-वध तथा मांसाहार वैध है, तो स्वयं भगवान् बुद्ध ने अवतार लिया और उनकी घृणित उक्ति को अस्वीकार किया। इसका वर्णन जयदेव गोस्वामी ने किया है—

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदयहृदय दर्शित पशुघातम्।
केशव धृतबुद्धशरीर
जय जगदीश हरे॥

दुर्भाग्यवश बद्धजीव चार प्रकार की अपूर्णताओं से पीड़ित रहते हैं, जिनमें से एक है ठगने की प्रवृत्ति और इस तरह वे धार्मिक शास्त्रों में भगवान् द्वारा दी गई छूटों का दुरुपयोग अपनी क्रमिक शुद्धि के लिए करते हैं। वे वैदिक आदेशों का पालन अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने के साथ साथ क्रमशः ऊपर उठने के लिए नहीं करते। ऐसे बद्धजीव भौतिकतावादी उत्सवों के वास्तविक प्रयोजनों की अवमानना करके देहात्म बुद्धि के कारण अधिकाधिक पतित होते जाते हैं। इस तरह वे वर्णाश्रम प्रणाली से नीचे गिर जाते हैं और हिंसक अवैदिक समाजों में जन्म लेकर मूर्खता से यह कल्पना कर बैठते हैं कि विश्व-धर्म के छोटे-छोटे खण्ड ही आत्मा का एकमात्र धर्म है। परिणामस्वरूप वे सनकी बन जाते हैं और धर्म के साम्प्रदायिक तथा अन्धविश्वासी दृष्टिकोण को अपनाते हैं। ऐसे अभागे लोग अपने ही जीवन के नित्य कर्म से अलग-थलग होकर वस्तुओं को उस रूप में लेते हैं, जो वास्तविकता से कोसों दूर होती है।

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः ।
पशून्द्रुह्यन्ति विश्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥ १४॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; अनेवम्-विदः—इन तथ्यों को न जानते हुए; असन्तः—अपवित्र; स्तब्धाः—बनावटी; सत्-अभिमानिनः—अपने को साधु मानने वाले; पशून्—पशुओं को; द्रुह्यन्ति—क्षति पहुँचाते हैं; विश्रब्धाः—अबोध होने से विश्वास कर लेने वाले; प्रेत्य—इस शरीर को त्यागने पर; खादन्ति—खाते हैं; ते—वे पशु; च—तथा; तान्—उनको।

वे पापी व्यक्ति, जो असली धर्म से अनजान होते हुए भी अपने को पूर्णरूपेण पवित्र समझते हैं, उन निरीह पशुओं के प्रति बिना पश्चाताप किये हिंसा करते हैं, जो उनके प्रति पूर्णतया आश्वस्त होते हैं। ऐसे पापी व्यक्ति अगले जन्मों में उन्हीं पशुओं द्वारा भक्षण किये जाएँगे, जिनका वे इस जगत में वध किये रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में हमें उन व्यक्तियों की बड़ी बड़ी त्रुटियों का दिग्दर्शन होता है, जो भगवान् तथा उनके नियम की शरण में नहीं जाते। जैसाकि *भागवत* में कहा गया है—*हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा*—जो लोग भगवान् की सर्वोच्चता को स्वीकार नहीं करते, वे ऐसी पापमय प्रवृत्तियों से दूषित हो जाते हैं जिनसे अभक्तों पर भीषण कष्ट टूट पड़ते हैं। अमरीका जैसे पाश्चात्य देशों में अनेक लोग गर्व के साथ अपने आपको अत्यन्त पवित्र धर्मी मानते हैं और कभी कभी अपने को देवदूत या ईश्वर का प्रतिनिधि तक कहते हैं। ऐसे मूर्खलोग धार्मिकता की डींग मारते हुए न तो कसाई-घरों में असंख्य पशुओं की हत्या करते हुए न ही अपनी भ्रामिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए उनका शिकार करते हुए डरते हैं। मिसिसिपी राज्य में कभी कभी सुअर-वध का उत्सव मनाया जाता है, जिसमें परिवार के परिवार अपनी आँखों के सामने सुअर की बर्बरतापूर्ण हत्या का आनन्द लूटते हैं। इसी प्रकार टेक्सास के निवासी और संयुक्त राज्य के पूर्व अध्यक्ष गो-हत्या के बिना किसी भी सामाजिक उत्सव को पूरा नहीं मानते थे। ऐसे लोग भूल से अपने को ईश्वर के नियमों का पालन करने वाले मानते हैं और अपनी गर्वित मूर्खता के कारण वास्तविकता से कोसों दूर चले जाते हैं। जब कोई मनुष्य वध करने के लिए किसी पशु का पालन करता है, तो वह पशु को अच्छा भोजन देता है, जिससे वह मोटा-ताजा हो सके। इस तरह पशु धीरे धीरे अपने भावी हन्ता को अपना रक्षक और स्वामी मान बैठता है। किन्तु जब यही स्वामी तेज चाकू या बन्दूक लेकर निरीह पशु के पास पहुँचता है, तो पशु सोचता है, "मेरा स्वामी मुझसे खिलवाड़ करने जा रहा है।" वह केवल अन्तिम क्षण में यह समझ पाता है कि मेरा तथाकथित

स्वामी साक्षात् काल है। वैदिक साहित्य में स्पष्ट कथन है कि ऐसे क्रूर स्वामी जो निरीह पशुओं का वध करते हैं, अगले जन्म में अवश्य ही इसी तरह मारे जायेंगे।

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिण: ॥

"मैं जिस पशु का इस समय यहाँ पर मांस खा रहा हूँ, वह अगले जन्म में मुझे खायेगा। इसीलिए विद्वान इसे *मांस* कहते हैं।" पशु-हत्यारों के ऐसे खीझने वाले भाग्य का वर्णन नारद मुनि ने श्रीमद्भागवतम् में उस राजा प्राचीनबर्हि से किया है, जो यज्ञों में पशुओं का अन्धाधुन्ध वध करता था।

भो भो: प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।

संज्ञापितान् जीवसंघान् निर्घृणेन सहस्रश: ॥

एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशशं तव।

सम्परेतम् अय:कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यव: ॥

"हे नागरिकों के शासक राजा! तुमने यज्ञशाला में जिन पशुओं की निर्दयतापूर्वक बलि दी है, उन्हें आकाश में देखो। वे सारे पशु तुम्हारी मृत्यु की प्रतीक्षा में हैं, कि तुमने उन्हें जो क्षति पहुँचाई है, उसका वे बदला ले सकें। तुम्हारे मरने पर वे क्रुद्ध होकर तुम्हारे शरीर में लोहे के सींग छेद देंगे।" (भागवत ४.२५.७-८) ऐसा दण्ड मृत्यु-लोक में यमराज के निरीक्षण में पशु-हत्यारों को दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति किसी पशु को मारता है या जो मांस खाता है, वह उस जीव का ऋणी होता है, जिसने मांसभक्षक की तुष्टि के लिए अपना शरीर अर्पित किया है। मांसभक्षक को अगले जन्म में अपना शरीर भक्षण के लिए देकर यह ऋण चुकाना होता है। वैदिक साहित्य से इस तरह अपना शरीर देकर ऋण चुकाने की पुष्टि होती है।

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् ।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन्बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

द्विषन्तः—द्वेष करते हुए; **पर-कायेषु**—अन्यों के शरीरों के भीतर (आत्माएँ); **स्व-आत्मानम्**—अपने आपको; **हरिम् ईश्वरम्**—भगवान् हरि को; **मृतके**—लाश में; **स-अनुबन्धे**—अपने सम्बन्धियों समेत; **अस्मिन्**—इस; **बद्ध-स्नेहाः**—स्थिर स्नेह वाले; **पतन्ति**—गिरते हैं; **अधः**—नीचे की ओर।

बद्धजीव अपने शवतुल्य भौतिक शरीरों तथा अपने सम्बन्धियों एवं साज-सामान के प्रति स्नेह से पूरी तरह बँध जाते हैं। ऐसी गर्वित एवं मूर्खतापूर्ण स्थिति में बद्धजीव अन्य जीवों के साथ साथ समस्त जीवों के हृदय में वास करने वाले भगवान् हरि से भी द्वेष करने लगते हैं। इस प्रकार ईर्ष्यावश अन्यों का अपमान करने से बद्धजीव क्रमशः नरक में जा गिरते हैं।

तात्पर्य : भौतिकतावादी व्यक्ति पशुओं की बर्बर हत्या करके उनके प्रति अपनी ईर्ष्या जताते हैं। इसी तरह बद्धजीव अन्य मनुष्यों से भी और हर एक के शरीर के भीतर वास करने वाले स्वयं भगवान् से भी ईर्ष्या करने लगते हैं। वे नास्तिकता या छद्म-दर्शन के प्रचार करने से ईश्वर से अपनी ईर्ष्या व्यक्त करते हैं। इस तरह वे इस तथ्य का मजाक उड़ाते हैं कि हर व्यक्ति ईश्वर का नित्य दास है। ईर्ष्यालु व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अपने कटु भावों को युद्ध, आतंकवाद, क्रूर सरकार तथा धोखाधड़ी उत्पन्न करके व्यक्त करते हैं। ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्तियों के पापमय शरीर शवों के तुल्य होते हैं। फिर भी ईर्ष्यालु व्यक्ति शव-रूप अपने भौतिक शरीरों से आसक्त होते हैं और अपनी सन्तानों तथा शरीर से सम्बन्धित अन्य विस्तारों के प्रति सम्मोहित रहते हैं। ऐसे भाव मिथ्या अहंकार पर आधारित होते हैं। श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

आप्तत्वाद् आत्मशब्दोक्तं स्वस्मिन्नपि परेषु च।
जीवाद् अन्यं न पश्यन्ति श्रुत्वैवं विद्विषन्ति च।
एतांस्त्वमासुरान् विद्धि लक्षणै पुरुषाधमान्॥

"ब्रह्म आत्मा कहलाता है, क्योंकि वह अपने में तथा अन्यों के भीतर पाया जाता है। कुछ लोग भगवान् का वर्णन सुन कर विचलित हो उठते हैं और खुले तौर पर यह कहते हैं कि स्वयं उनसे परे कोई श्रेष्ठ जीव नहीं है। ऐसे लोगों को असुर कहना चाहिए। अपने व्यावहारिक लक्षणों से ये सबसे नीच श्रेणी के पुरुष माने जाने चाहिए।"

ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम् ।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; कैवल्यम्—परब्रह्म का ज्ञान; असम्प्राप्ताः—जिन्होंने नहीं प्राप्त किया है; ये—जो; च—भी; अतीताः—पार कर चुके हैं; च—भी; मूढताम्—निपट मूर्खता; त्रै-वर्गिकाः—जीवन के तीनों लक्ष्यों के प्रति समर्पित अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम; हि—

निस्सन्देह; अक्षणिका:—विचार करने के लिए, जिनके पास क्षण-भर भी समय नहीं है; आत्मानम्—अपने को; घातयन्ति—हत्या करते हैं; ते—वे।.

जिन्होंने परम सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, फिर भी, जो निपट अज्ञानता के अंधकार से परे हैं, वे सामान्यतया धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन पवित्र पुरुषार्थों का अनुसरण करते हैं। अन्य किसी उच्च उद्देश्य के बारे में विचार करने के लिए समय न होने से वे अपनी ही आत्मा के हत्यारे (आत्मघाती) बन जाते हैं।

तात्पर्य : जो अज्ञान के निपट अंधकार में हैं और इस तरह पवित्र भौतिक जीवन से वंचित हैं, वे असंख्य पापकर्म करते हैं और अत्यधिक कष्ट भोगते हैं। ऐसे घोर कष्ट के कारण कभी कभी ऐसे लोग भगवद्भक्तों की शरण में जाते हैं और ऐसी दिव्य संगति के आशीर्वाद से कभी कभी कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च पूर्णावस्था तक पहुँच जाते हैं।

जो लोग पूर्णतया पापी नहीं हैं, वे अपने भौतिक कष्टों में कुछ कमी का अनुभव करते हैं और इस तरह इस जगत में कुशलता का झूठा भाव उत्पन्न कर लेते हैं। चूँकि जो भौतिक दृष्टि से पवित्र हैं, उन्हें सांसारिक समृद्धि, शारीरिक सौन्दर्य तथा सुन्दर परिवार प्राप्त होते हैं, अत: वे अपने पद से गर्वित हो उठते हैं और वे न तो भगवद्भक्तों की संगति करना चाहते हैं, न उनके उपदेशों को ग्रहण करते हैं। दुर्भाग्यवश पवित्र या अपवित्र सारे भौतिक कार्यकलाप अनिवार्यत: पापकर्म से संदूषित रहते हैं। जिन्हें अपनी पवित्रता का गर्व होता है और जो कृष्ण के विषय में सुनना नहीं चाहते, वे कभी न कभी अपने कृत्रिम पद से नीचे गिर जाते हैं। प्रत्येक जीव भगवान् कृष्ण का नित्य दास है, अतएव जब तक हम कृष्ण की शरण में नहीं जाते, हमारा पद सदा अपवित्र रहता है। इस श्लोक में *अक्षणिका:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भौतिकतावादी व्यक्ति अपने नित्य आत्मा के लिए एक क्षण भी खर्च करने के लिए तैयार नहीं होते। यह दुर्भाग्य की निशानी है। ऐसे लोग अपनी ही आत्मा की हत्या करते माने जाते हैं, क्योंकि अपनी हठधर्मिता के कारण, वे अपने लिए अपना भविष्य अंधकारपूर्ण बनाते हैं, जिससे वे दीर्घ समय के लिए नहीं बच सकेंगे।

एक बीमार व्यक्ति वैद्य की देखरेख के प्रारम्भिक परिणामों से प्रोत्साहित होता है, किन्तु यदि रोगी को प्रारम्भिक उपचार से हुई प्रगति पर मिथ्या गर्व होने लगे और अपने को स्वस्थ मान कर वैद्य के इलाज को समय से पहले छोड़ दे, तो निश्चित रूप से वह फिर से बीमार पड़ जायेगा। इस श्लोक में *ये*

कैवल्यमसम्प्राप्ता: पद स्पष्ट सूचित करता है कि भौतिक पवित्रता परब्रह्म के पूर्ण ज्ञान से कोसों दूर है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को प्राप्त करने के पूर्व ही अपनी आध्यात्मिक प्रगति छोड़ देता है, तो वह निश्चय ही अत्यन्त कटु भौतिक अवस्था में जा गिरता है, भले ही उसे ब्रह्मज्योति की निर्विशेष अनुभूति क्यों न हो चुकी हो। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यध:।*

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिन: ।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथा: ॥ १७॥

शब्दार्थ

एते—ये; आत्म-हन:—आत्मा के हत्यारे; अशान्ता:—शान्ति से रहित; अज्ञाने—अज्ञान में; ज्ञान-मानिन:—ज्ञानवान् मानते हुए; सीदन्ति—कष्ट उठाते हैं; अकृत—कर न सकने से; कृत्या:—अपना कर्तव्य; वै—निस्सन्देह; काल—समय द्वारा; ध्वस्त—विनष्ट; मन:-रथा:—उनकी रंगीन इच्छाएँ।

इन आत्महन्ताओं को कभी भी शान्ति नहीं मिल पाती, क्योंकि वे यह मानते हैं कि मानवी बुद्धि अन्तत: भौतिक जीवन का विस्तार करने के लिए है। इस तरह अपने असली आध्यात्मिक कर्तव्य की उपेक्षा करते हुए, वे सदैव कष्ट पाते हैं। वे उच्च आशाओं एवं स्वप्नों से पूरित रहते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश काल के अपरिहार्य प्रवाह के कारण ये सब सदैव ध्वस्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : ऐसा ही श्लोक *श्री ईशोपनिषद* (३) में आता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता: ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना: ॥

''आत्मा का हन्ता चाहे वह जो भी हो श्रद्धाविहीन, अंधकार तथा अज्ञान से पूर्ण लोकों में प्रवेश करता है।''

हित्वात्ममायारचिता गृहापत्यसुहृत्स्त्रिय: ।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखा: ॥ १८॥

शब्दार्थ

हित्वा—त्याग कर; आत्म-माया—परमात्मा की माया द्वारा; रचिता:—तैयार किये गये; गृह—घर; अपत्य—बच्चे; सुहृत्—मित्र; स्त्रिय:—पत्नियाँ; तम:—अंधकार में; विशन्ति—प्रवेश करते हैं; अनिच्छन्त:—न चाहते हुए; वसुदेव-पराक्-मुखा:—भगवान् वासुदेव से मुख फेरने वाले।

जिन लोगों ने ईश्वर की माया के जाल में आकर भगवान् वासुदेव से मुख मोड़ लिया है, उन्हें अन्त में बाध्य होकर अपने तथाकथित घर, बच्चे, मित्र, पत्नियाँ तथा प्रेमीजनों को छोड़ना पड़ता है, क्योंकि ये सब भगवान् की माया से उत्पन्न हुए थे और ऐसे लोग अपनी इच्छा के विरुद्ध ब्रह्माण्ड के घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : जीव भगवान् की ओर पीठ फेर कर क्षणिक इन्द्रिय-तृप्ति भोगने का प्रयास करता है। इससे केवल चिन्ता का उदय होता है, क्योंकि बद्धजीव अपनी नश्वर पत्नी, बच्चों, मित्रों, घर, राष्ट्र इत्यादि का पालन-पोषण करने के लिए संघर्ष करता है। अन्त में ये सारी वस्तुएँ छिन जाती हैं और कभी कभी मोहग्रस्त व्यक्ति हताशा में निर्विशेष ईश्वर तथा मुक्ति की शरण ग्रहण करने का प्रयास करता है। इस तरह बद्धजीव सदैव अज्ञान में रहता है। या तो वह भ्रामक इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे पड़ा रहता है या ब्रह्म के निर्विशेष पक्ष में लीन होकर इन्द्रिय-तृप्ति से अपने को बचाना चाहता है। किन्तु जीव की वास्तविक स्थिति तो उस परम पुरुष की सेवा करना है, जो उसका स्वामी है। जब तक मनुष्य भगवान् के प्रति शत्रु-भाव को त्याग नहीं देता, तब तक शान्ति या सुख का प्रश्न ही नहीं उठता।

कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त'॥

(*चैतन्य-चरितामृत मध्य* १९.१४९)

श्री राजोवाच

कस्मिन्काले स भगवान्किं वर्णः कीदृशो नृभिः ।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; कस्मिन्—किस; काले—काल में; सः—वह; भगवान्—भगवान्; किम् वर्णः—किस रंग का; कीदृशः—किस रूप का; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; नाम्ना—(किन) नामों से; वा—तथा; केन—किस; विधिना—विधि से; पूज्यते—पूजा जाता है; तत्—वह; इह—हमारी उपस्थिति में; उच्यताम्—कृपा करके कहें।

राजा निमि ने पूछा : भगवान् प्रत्येक युग में किन रंगों तथा रूपों में प्रकट होते हैं और वे किन नामों तथा किन-किन प्रकार के विधानों द्वारा मानव समाज में पूजे जाते हैं?

तात्पर्य : पिछले श्लोकों से स्पष्ट रूप से स्थापित हो चुका है कि यदि मनुष्य भगवान् की शरण में जाकर उनकी प्रेमाभक्ति नहीं करता है, तो मनुष्य-जीवन व्यर्थ जाता है। इसलिए राजा अब मुनियों से

भगवान् की पूजा के विषय में विशिष्ठ जानकारी का अनुरोध कर रहा है, क्योंकि इस भक्ति-विधि को बद्धजीव के उद्धार का एकमात्र व्यावहारिक उपाय बतलाया गया है।

श्रीकरभाजन उवाच
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः ।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-करभाजनः उवाच—श्री करभाजन के कहा; कृतम्—सत्य; त्रेता—त्रेता; द्वापरम्—द्वापर; च—तथा; कलिः—कलि; इति—इस तरह के नाम वाले; एषु—इन युगों में; केशवः—भगवान् केशव; नाना—विविध; वर्ण—रंग वाले; अभिधा—नाम; आकारः—तथा स्वरूप; नाना—विविध; एव—इसी प्रकार; विधिना—विधियों से; इज्यते—पूजा जाता है।

श्री करभाजन ने उत्तर दिया—कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि इन चारों युगों में से प्रत्येक में भगवान् केशव विविध वर्णों, नामों तथा रूपों में प्रकट होते हैं और विविध विधियों से पूजे जाते हैं।

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः ।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान्बिभ्रद्दण्डकमण्डलू ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कृते—सत्ययुग में; शुक्लः—श्वेत; चतुः-बाहुः—चार भुजाओं वाले; जटिलः—जटाओं से युक्त; वल्कल-अम्बरः—वृक्ष की छाल पहने; कृष्ण-अजिन—काला हिरन; उपवीत—ब्राह्मण का जनेऊ; अक्षान्—अक्ष के बीजों की बनी जप-माला; बिभ्रत्—धारण किये; दन्द—डण्डा; कमण्डलू—तथा जल का पात्र, कमण्डलु।

सत्ययुग में भगवान् श्वेत वर्ण और चतुर्भुजी होते हैं, उनके सिर पर जटाएँ रहती है और वे वृक्ष की छाल का वस्त्र पहनते हैं। वे काले हिरन का चर्म, जनेऊ, जप-माला, डण्डा तथा ब्रह्मचारी का कमण्डल धारण किये रहते हैं।

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः ।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मनुष्याः—मनुष्य; तु—तथा; तदा—तब; शान्ताः—शान्त; निर्वैराः—ईर्ष्यारहित; सुहृदः—सबों का मित्र; समाः—समभाव; यजन्ति—पूजा करते हैं; तपसा—ध्यान की तपस्या द्वारा; देवम्—भगवान् को; शमेन—मन को वश में करके; च—भी; दमेन—इन्द्रियों को वश में करके; च—तथा।

सत्ययुग में लोग शान्त, ईर्ष्यारहित, प्रत्येक प्राणी के प्रति मैत्री-भाव से युक्त तथा समस्त स्थितियों में स्थिर रहते हैं। वे तपस्या द्वारा तथा आन्तरिक एवं बाह्य इन्द्रिय-संयम द्वारा भगवान् की पूजा करते हैं।

तात्पर्य : सत्ययुग में भगवान् चतुर्भुज ब्रह्मचारी के रूप में अवतरित होते हैं, जैसाकि पिछले श्लोक में वर्णन आया है और वे स्वयं ध्यान-विधि को प्रारंभ करते हैं।

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः ।
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

हंसः—दिव्य हंस; सु-पर्णः—सुन्दर पंखों वाला; वैकुण्ठः—वैकुण्ठ धाम के स्वामी; धर्मः—धर्म धारण करने वाले; योग-ईश्वरः—योग-सिद्धि के स्वामी; अमलः—निर्मल; ईश्वरः—परम नियन्ता; पुरुषः—परम भोक्ता नर; अव्यक्तः—अप्रकट; परम-आत्मा—जीव के हृदय में निवास करने वाला परमात्मा; इति—इस प्रकार; गीयते—उनके नामों का कीर्तन होता है।

सत्ययुग में भगवान् की महिमा का गायन हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त तथा परमात्मा-नामों से किया जाता है।

तात्पर्य : करभाजन मुनि विदेहराज निमि द्वारा भगवान् के विविध अवतारों के बारे में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं। सत्ययुग में भगवान् का वर्ण श्वेत होता है और वे आदर्श चिन्तक ब्रह्मचारी के रूप में वृक्ष की छाल तथा काले हिरन का चर्म पहनते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सत्ययुग में भगवान् के विविध नामों की व्याख्या इस प्रकार की है। जो लोग स्वरूपसिद्ध हैं, वे भगवान् की इस परम वास्तविकता को परमात्मा-रूप में जानते हैं। वर्णाश्रम धार्मिक प्रणाली में स्थित लोग उनका महिमा-गान *हंस* रुप में करते हैं, जो समस्त वर्णों तथा आश्रमों से परे है। स्थूल पदार्थ में लीन रहने वाले व्यक्ति उन्हें सुपर्ण अर्थात् सुन्दर पंखों वाला मानते हैं, जो कार्य-कारण विचारधारा का मूलाधार है और जैसाकि *छान्दोग्य उपनिषद्* में वर्णन आया है, वह आत्मा के सूक्ष्म आकाश में उड़ता है। भगवान् की माया द्वारा सृजित सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थ वाले इस ब्रह्माण्ड के भीतर विचरण करने के अभ्यस्त लोग उनके वैकुण्ठ नाम का कीर्तन करते हैं। दिव्य ध्यान (धारणा) शक्ति से विहीन लोग, जो कि धर्म-पथ से नीचे गिर रहे होते हैं, धर्म के रूप में उनकी महिमा का गायन करते हैं। जिन लोगों को माया के गुणों के अधीन होना पड़ता है और जिनके मन असंयमित तथा विचलित रहते हैं, वे उनकी महिमा का गायन पूर्णतया संयमित योगेश्वर के रूप में करते हैं। रजो तथा तमोगुणों के मिश्रण से दूषित

लोग उन्हें अमल अर्थात् अदूषित कहते हैं। शक्ति से हीन लोग उन्हें ईश्वर कहते हैं और जो लोग अपने को उनके शरणागत मानते हैं, वे उन्हें उत्तम पुरुष कहकर पुकारते हैं। जो लोग यह जानते हैं कि यह जगत नश्वर है, वे उन्हें अव्यक्त कहते हैं। इस प्रकार भगवान् वासुदेव सत्ययुग में विविध चतुर्भुज-रूपों में प्रकट होते हैं और सारे जीव अपनी अपनी विशेष पूजा-विधि से उनकी पूजा करते हैं। इसीलिए भगवान् के अनेक नाम हैं।

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥ २४॥

शब्दार्थ

त्रेतायाम्—त्रेतायुग में; रक्त-वर्णः—लाल रंग का; असौ—वह; चतुः-बाहुः—चतुर्भुज; त्रि-मेखलः—तीन पेटियाँ पहने (वैदिक दीक्षा की तीन अवस्थाओं की द्योतक); हिरण्य-केशः—सुनहरे बालों वाले; त्रयि-आत्मा—तीन वेदों के ज्ञान के साकार रूप; स्रक्-स्रुव-आदि—चमस, स्रुवा इत्यादि; उपलक्षणः—प्रतीकों वाले।

त्रेतायुग में भगवान् का वर्ण लाल होता है। उनकी चार भुजाएँ होती हैं, बाल सुनहरे होते हैं और वे तिहरी पेटी पहनते हैं, जो तीनों वेदों में दीक्षित होने की सूचक है। ऋक्, साम तथा यजुर्वेदों में निहित यज्ञ द्वारा पूजा के ज्ञान के साक्षात् रूप उन भगवान् के प्रतीक स्रुक्, स्रुवा इत्यादि यज्ञ के पात्र होते हैं।

तात्पर्य : *स्रुक्* विशेष पात्र होता है, जिससे यज्ञ में घी डाला जाता है। यह लगभग एक हाथ लम्बा होता है और *विकंटक* नामक विशेष लकड़ी से बना होता है। इसका हत्था दण्ड एवं टोंटी जैसा होता है और इसके सिरे पर एक उथला गढ़ा होता है, जो हंस की चोंच जैसा होता है। इसका अगला हिस्सा मुट्ठी के आकार के चम्मच जैसा होता है। *स्रुव* दूसरा उपकरण है, जो यज्ञ में आहुति डालने के लिए प्रयुक्त होता है। यह *खदिर* की लकड़ी से बना होता है और स्रुक् से छोटा होता है तथा इसमें घी डालने के लिए प्रयुक्त होता है। कभी कभी इसी से सीधे अग्नि में घी की आहुति डाली जाती है। ये हैं त्रेतायुग में भगवान् के प्रतीक, जब भगवान् यज्ञ का *युगधर्म* चालू करने के लिए अवतरित होते हैं।

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥ २५॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तदा—तब; मनुजाः—मनुष्य; देवम्—भगवान् को; सर्व-देव-मयम्—समस्त देवताओं से युक्त; हरिम्—श्री हरि को; यजन्ति—पूजा करते हैं; विद्यया—अनुष्ठानों द्वारा; त्रय्या—तीन मुख्य वेदों के; धर्मिष्ठाः—धर्म में स्थिर; ब्रह्म-वादिनः—परब्रह्म की खोज करने वाले।

त्रेतायुग में मानव समाज के वे लोग, जो धर्मिष्ठ हैं और परम सत्य को प्राप्त करने में सच्ची रुचि रखते हैं, वे समस्त देवताओं से युक्त भगवान् हरि की पूजा करते हैं। इस युग में तीनों वेदों में दिये गये यज्ञ अनुष्ठानों के द्वारा भगवान् की पूजा की जाती है।

तात्पर्य : सत्ययुग में पृथ्वी के निवासियों को समस्त उत्तम गुणों से युक्त बतलाया गया है। त्रेतायुग में मानव समाज को *धर्मिष्ठाः* तथा *ब्रह्मवादिनः* कहा गया है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि सत्ययुग के लोगों के सारे सद्गुणों का उल्लेख इस श्लोक में नहीं हुआ है। दूसरे शब्दों में, सत्ययुग के लोग आत्माराम होते थे, जबकि त्रेतायुग में वे वैदिक यज्ञ सम्पन्न करके पूर्ण बनने की ओर उन्मुख होते थे। त्रेतायुग में मानव समाज सत्ययुग की तरह स्वतः कृष्णभावनाभावित नहीं था। फिर भी लोग कृष्णभावनाभावित होने के लिए प्रवृत्त थे, अतएव वे वैदिक आदेशों का दृढ़ता से पालन करते थे।

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः ।
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

विष्णुः—सर्वव्यापी भगवान्; यज्ञः—यज्ञरूपी परम पुरुष; पृश्नि-गर्भः—पृश्नि तथा प्रजापति सुतपा के पुत्र; सर्व-देवः—समस्त देवताओं के स्वामी; उरु-क्रमः—अद्भुत कर्म करने वाले; वृषाकपिः—भगवान्, जो स्मरण करने मात्र से सारे कष्टों को दूर कर देते हैं तथा सारी इच्छाओं को पूरा करते हैं; जयन्तः—सर्वविजयी; च—तथा; उरु-गायः—अत्यन्त महिमावान्; इति—इन नामों से; ईर्यते-हे इस् चल्लेद्.

त्रेतायुग में विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त तथा उरुगाय नामों से भगवान् का गुणगान किया जाता है।

तात्पर्य : *पृश्निगर्भ* द्योतक है पृश्नि देवी तथा प्रजापति सुतपा के पुत्र-रूप में भगवान् कृष्ण के अवतार का। *वृषाकपि* यह सूचित करता है कि यदि जीव भगवान् का केवल स्मरण करें, तो वे उन्हें सारे वर देने को उद्यत रहते हैं और इस तरह उनकी इच्छाओं को पूरा करके उनके कष्टों को दूर करते हैं। चूँकि भगवान् सदैव विजयी होते हैं, अतएव वे जयन्त कहलाते हैं।

द्वापरे भगवाञ्श्यामः पीतवासा निजायुधः ।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

द्वापरे—द्वापर युग में; भगवान्—भगवान्; श्यामः—साँवले रंग का; पीत-वासाः—पीत वस्त्र धारण किये हुए; निज-आयुधः—अपने विशिष्ट हथियारों सहित (चक्र, गदा, शंख तथा कमल-पुष्प से युक्त); श्रीवत्स-आदिभिः—श्रीवत्स तथा अन्यों से; अङ्कैः—शरीर के चिह्न; च—तथा; लक्षणैः—आभूषणों द्वारा; उपलक्षितः—विशेषित।

द्वापर युग में भगवान् श्याम-वर्ण से युक्त और पीताम्बर धारण किये प्रकट होते हैं। इस अवतार में भगवान् के दिव्य शरीर में श्रीवत्स तथा अन्य विशेष आभूषण अंकित रहते हैं और वे अपने निजी आयुध प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : द्वापर युग में भगवान् के दिव्य शरीर की उपमा गहरे नीले फूल से दी जा सकती है। भगवान् अपने निजी दिव्य हथियारों को यथा सुदर्शन चक्र को प्रदर्शित करते हैं और उनके शरीर के सारे अंग, विशेष रूप से हाथ-पाँव शुभ प्रतीकों से यथा कमल तथा पताका से अलंकृत रहते हैं। वे अपने वक्षस्थल के दाईं ओर कौस्तुभ मणि तथा शुभ श्रीवत्स (बालों के गुच्छे का बाईं से दाईं ओर मुड़े रहना) धारण करते हैं। वस्तुतः कौस्तुभ तथा श्रीवत्स जैसे शुभ प्रतीक एवं हथियार सभी *विष्णु* तत्त्व-अवतारों में उपस्थित रहते हैं। श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि करभाजन द्वारा उल्लिखित भगवान् के ये सारे सार्वभौम लक्षण कृष्ण-अवतार के सूचक हैं। चूँकि कृष्ण समस्त अवतारों के स्रोत हैं, अतएव अन्य सारे अवतारों के समस्त प्रतीक उनके दिव्य शरीर में पाये जाते हैं।

तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् ।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; तदा—उस युग में; पुरुषम्—परम भोक्ता को; मर्त्याः—मर्त्य लोग; महा-राज—महान् राजा; उपलक्षणम्—भूमिका अदा करते; यजन्ति—पूजा करते हैं; वेद-तन्त्राभ्याम्—मूल वेदों तथा कर्मकाण्डी तंत्रों के अनुसार; परम्—परम को; जिज्ञासवः—ज्ञानार्जन के इच्छुक; नृप—हे राजा।

हे राजन्, द्वापर युग में जो लोग परम भोक्ता भगवान् को जानने के इच्छुक होते हैं, वे वेदों तथा तंत्रों के आदेशानुसार, उन्हें महान् राजा के रूप में आदर देते हुए पूजा करते हैं।

तात्पर्य : जब श्री कृष्ण हस्तिनापुर से विदा हो रहे थे, तो अर्जुन उनके ऊपर छाता ताने हुए थे और उद्धव तथा सात्यकि उन पर अलंकृत पंखा झल रहे थे। (भागवत १.१०.१७-१८) इस तरह महाराज युधिष्ठिर तथा उनके अनुयायियों ने कृष्ण की पूजा सबसे महान् राजा के रूप में तथा भगवान् के रूप में की। इसी तरह राजसूय यज्ञ में विश्व के महापुरुषों ने कृष्ण को राज-राजेश्वर के रूप में

अग्रपूजा के लिए चुना। भगवान् की ऐसी आदरसमेत पूजा द्वापर युग की विशेषता है, जैसाकि इस श्लोक में वर्णन हुआ है (*महाराजोपलक्षणम्*)। प्रत्येक अगले युग में, अर्थात् सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में मानव समाज की दशा क्रमशः बिगड़ती जाती है। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है द्वापर युग के वासियों का एकमात्र उपयुक्त गुण है कि वे *जिज्ञासवः* अर्थात् परब्रह्म को जानने के लिए अतीव इच्छुक होते हैं। अन्यथा अन्य कोई सद्गुण का उल्लेख नहीं है। सत्ययुग के निवासियों को *शान्ताः, निर्वैराः, सुहृदः* तथा *समाः* कहा जाता है। इसी प्रकार त्रेतायुग के निवासियों को *धर्मिष्ठाः* तथा *ब्रह्मवादिनः* और वैदिक आदेशों का पालन करने वाले बतलाया गया है। इस श्लोक में द्वापर युग के निवसियों को केवल *जिज्ञासवः* कहा गया है। अन्यथा उन्हें *मर्त्याः* अर्थात् मर्त्य प्राणियों के गुणों वाले कहा जाता है। यदि द्वापर युग में भी मानव समाज सत्ययुग तथा त्रेतायुग की अपेक्षा निकृष्ट था, तो कलियुग में मानव समाज की जो दुर्दशा होगी, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए, जैसाकि अगले श्लोकों में वर्णन हुआ है, जिन लोगों ने इस कलियुग में जन्म लिया है, उन्हें अपनी मूर्खता से अपने आप को छुड़ाने के लिए चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन से दृढ़तापूर्वक जुड़ जाना चाहिए।

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ २९ ॥
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने ।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; ते—आप; वासुदेवाय—वासुदेव को; नमः—नमस्कार; सङ्कर्षणाय—संकर्षण को; च—तथा; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; अनिरुद्धाय—अनिरुद्ध को; तुभ्यम्—आप; भगवते—भगवान् को; नमः—नमस्कार; नारायणाय ऋषये—नारायण ऋषि को; पुरुषाय—परम भोक्ता पुरुष तथा ब्रह्माण्ड स्त्रष्टा को; महा-आत्मने—परमात्मा को; विश्व-ईश्वराय—ब्रह्माण्ड के स्वामी को; विश्वाय—तथा साक्षात् विश्व-रूप को; सर्व-भूत-आत्मने—समस्त जीवों के परमात्मा को; नमः—नमस्कार।

''हे परम स्वामी वासुदेव, आपको तथा आपके संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध-रूपों को नमस्कार है। हे भगवान्, आपको नमस्कार है। हे नारायण ऋषि, हे ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा, पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ, इस जगत के स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के आदि स्वरूप, हे समस्त जीवों के परमात्मा, आपको सादर नमस्कार है।''

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि यद्यपि भगवान् कृष्ण द्वापर युग के अन्त में प्रकट हुए थे, किन्तु महान् ऋषि-मुनि इस युग के प्रारम्भ से ही उनके प्राकट्य की आशा से इस श्लोक का उच्चारण कर रहे थे।

सामान्य जीव भगवान् के नित्य दास होकर भी भौतिक जगत पर अपना प्रभुत्व बनाने के प्रयास में तल्लीन रहते हैं, किन्तु तो भी वे परमेश्वर के नियंत्रण में रहते हैं। जीव की स्वाभाविक स्थिति भगवान् की सेवा में लगे रहना है। यही नहीं, प्रकृति की भी स्वाभाविक स्थिति है कि जीवों के द्वारा वह भगवान् की दिव्य इच्छाओं की पूर्ति में लगी रहे। इस तरह इस श्लोक में की गई स्तुतियाँ *पञ्चरात्र* तथा वैदिक मंत्रों के अनुसार हैं, जिससे लोग परम सत्य की शाश्वत अधीनता का स्मरण करते रहें।

परम पुरुष कृष्ण अपने आपको नित्य *चतुर्व्यूह रूप* में प्रकट करते हैं। इस स्तुति का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को मिथ्या अहंकार त्याग कर इस चतुर्व्यूह को नमस्कार करना चाहिए। यद्यपि परम सत्य अद्वय है, किन्तु परब्रह्म अपना विस्तार असंख्य स्वाँशों में करके अपने असीम ऐश्वर्य और शक्ति का प्रदर्शन करता है। इन विस्तारों में चतुर्व्यूह मुख्य है। आदि पुरुष तो वासुदेव हैं। जब ईश्वर अपनी आदि शक्ति तथा ऐश्वर्य को प्रकट करता है, तो वह संकर्षण कहलाता है। प्रद्युम्न समस्त ब्रह्माण्ड के आत्मा रूप विष्णु अंश का आधार है और अनिरुद्ध ब्रह्माण्ड के प्रत्येक जीव के परमात्मा रूप विष्णु की साकार अभिव्यक्ति का मूलाधार है। यहाँ पर उल्लिखित चारों स्वाँशों में से आदि अंश वासुदेव हैं और शेष तीन को उनकी विशेष अभिव्यक्तियाँ मानी जाती हैं।

जब जीव यह भूल जाता है कि वह तथा यह प्रकृति भगवान् की सेवा के निमित्त बने हैं, तो तमोगुण प्रधान हो उठता है और बद्धजीव स्वयं ही स्वामी बनने का इच्छुक हो उठता है। इस तरह बद्धजीव यह कल्पना करने लगता है कि वह मानव समाज में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है या कि वह महान् दार्शनिक है। वैदिक मंत्र तथा *पञ्चरात्र* में मनुष्यों के लिए भगवद्भक्ति विषयक आदेश हैं, जो मनुष्य को इस कल्मष से मुक्त करते हैं कि वह समाज का प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा महान् दार्शनिक है। ज्ञानी को चाहिए कि वह अपने को परम सत्य का एक तुच्छ दास समझे।

द्वापर युग में भगवान् की अर्चापूजा प्रमुख है। ऐसी पूजा का चरम उद्देश्य *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* ही है। भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन किये बिना अर्चापूजा कर पाना सम्भव नहीं। अर्चापूजा में

यह आवश्यक है कि पूजा करने वाला व्यक्ति भगवान् के नामों, रूपों, गुणों, साज-सामग्री, पार्षदों तथा लीलाओं का गुणगान करे। जब ऐसा गुणगान पूर्ण होता है, तो पूजा करने वाला व्यक्ति भगवान् का श्रवण करके दिव्य ज्ञान की अनुभूति का पात्र बन जाता है।

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; द्वापरे—द्वापर युग में; उरु-ईश—हे राजा; स्तुवन्ति—स्तुति करते हैं; जगत्-ईश्वरम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी की; नाना—विविध; तन्त्र—शास्त्रों के; विधानेन—नियमों द्वारा; कलौ—कलियुग में; अपि—भी; तथा—उसी तरह; शृणु—सुनो।

हे राजन्, इस तरह से द्वापर युग में लोग ब्रह्माण्ड के स्वामी का यशोगान करते थे। कलियुग में भी लोग शास्त्रों के विविध नियमों का पालन करते हुए भगवान् की पूजा करते हैं। अब कृपा करके आप मुझसे इसके बारे में सुनें।

तात्पर्य : *कलावपि* अर्थात् ''कलियुग में भी'' महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। यह सुविदित है कि कलियुग एक अधार्मिक युग है। अतएव यह आश्चर्यजनक ही है कि ऐसे नितान्त अधार्मिक युग में भगवान् की पूजा होती है। इसीलिए *कलावपि* कहा गया है। कलियुग में भगवान् का अवतार प्रत्यक्ष रूप से अपने को ईश्वर नहीं कहता, अपितु उन्हें वैदिक शास्त्रों के अनुसार पटु भक्तों द्वारा पहचाना जाता है। इसी तरह प्रह्लाद महाराज *श्रीमद्भागवत* (७.९.३८) में कहते हैं—

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-

र्लोकान् विभावयसि हंसि जगत् प्रतीपान्।

धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्त-

श्छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥

''हे प्रभु! इस तरह आप मनुष्य, पशु, महान सन्त, सदृश देवता, मछली या कच्छप इत्यादि विविध रूपों में अवतरित होते हैं और इस तरह विभिन्न लोकों में सम्पूर्ण सृष्टि का पालन-पोषण करते हैं तथा असुरों का वध करते हैं। हे प्रभु! आप युग के अनुसार धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा करते हैं। किन्तु कलियुग में आप अपने को भगवान् होने की पुष्टि नहीं करते, अतएव आप त्रियुग अर्थात् तीन युगों में प्रकट होने वाले कहलाते हैं।'' इस तरह यह ज्ञात है कि कलियुग में सामान्य लोगों के लिए भगवान्

के अवतार को पहचान पाना कठिन है, क्योंकि इस युग में भगवान् का प्राकट्य कुछ कुछ प्रच्छन्न रहता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *नानातन्त्रविधानेन* शब्द कलियुग में *पञ्चरात्र* या *सात्वत पञ्चरात्र* वैष्णव शास्त्रों की महत्ता को बताने वाले हैं। *भागवत* में कहा गया है *स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा*—कलियुग में सामान्य लोगों द्वारा उच्च कोटि के वैदिक यज्ञ कर पाना या योग-पद्धति की कठिन तपस्या कर पाना असम्भव है। ऐसी आदर्श वैदिक विधियाँ कलियुग की आध्यात्मिक रूप से मन्द जनता की पहुँच से बाहर हैं, इसलिए इस युग में भगवन्नाम के कीर्तन द्वारा भगवान् की स्तुति करने की सरल विधि अनिवार्य है। भगवन्नाम कीर्तन करने तथा भगवान् की अर्चा-पूजा करने की भक्तिमयी विधियों का वर्णन *पञ्चरात्र* नामक वैष्णव शास्त्रों में वर्णित हैं। इस श्लोक में ऐसे तांत्रिक शास्त्रों का उल्लेख हुआ है और यह कहा गया है कि कलियुग में ये भक्तिमयी विधियाँ, जिनकी शिक्षा नारद मुनि जैसे महान् आचार्यों द्वारा दी गई है, भगवान् की पूजा करने की एकमात्र व्यावहारिक विधियाँ हैं। अगले श्लोक में इसकी और अधिक स्पष्ट व्याख्या की गई है।

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-वर्णम्—कृष्ण में आये अक्षरों को दुहराना; त्विषा—कान्ति से; अकृष्णम्—काला नहीं (सुनहला); स-अङ्ग—संगियों समेत; उप-अङ्ग—सेवकगण; अस्त्र—हथियार; पार्षदम्—विश्वासपात्र साथी; यज्ञैः—यज्ञ द्वारा; सङ्कीर्तन-प्रायैः—मुख्य रूप से सामूहिक कीर्तन से युक्त; यजन्ति—पूजा करते हैं; हि—निश्चय ही; सु-मेधसः—बुद्धिमान व्यक्ति।

कलियुग में, बुद्धिमान व्यक्ति ईश्वर के उस अवतार की पूजा करने के लिए सामूहिक कीर्तन (संकीर्तन) करते हैं, जो निरन्तर कृष्ण के नाम का गायन करता है। यद्यपि उसका वर्ण श्यामल (कृष्ण) नहीं है किन्तु वह साक्षात् कृष्ण है। वह अपने संगियों, सेवकों, आयुधों तथा विश्वासपात्र साथियों की संगत में रहता है।

तात्पर्य : यही श्लोक *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला ३.५२) में कृष्णदास कविराज द्वारा उद्धृत किया गया है। श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है—"यह पाठ *श्रीमद्भागवत* (११.५.३२) में आया है। श्रील जीव गोस्वामी ने *भागवत* पर की गई अपनी टीका *क्रम सन्दर्भ* में इस श्लोक की व्याख्या की है, जिसमें उन्होंने कहा है कि भगवान् कृष्ण सुनहरे रंग में भी प्रकट होते हैं। ये

सुनहरे भगवान् कृष्ण, भगवान् चैतन्य हैं, जिनकी पूजा इस युग में बुद्धिमान लोग करते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्‌भागवत* में गर्ग मुनि द्वारा की गई है, जिन्होंने कहा था कि यद्यपि बालक कृष्ण श्यामल है, किन्तु वह तीन अन्य रंगों में—लाल, श्वेत तथा पीले रंग में भी प्रकट होता है। उन्होंने अपने श्वेत तथा लाल वर्णों का प्रदर्शन क्रमशः सत्ययुग तथा त्रेतायुग में किया। किन्तु उन्होंने पीले-सुनहरे रंग का प्रदर्शन तब तक नहीं किया, जब तक वह भगवान् चैतन्य के रूप में प्रकट नहीं हुए, जो गौर हरि के नाम से विख्यात हैं।

श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि *कृष्णवर्णम्* का अर्थ है, श्रीकृष्ण चैतन्य। कृष्णवर्णम् तथा कृष्णचैतन्य समतुल्य है। कृष्ण-नाम भगवान् कृष्ण तथा भगवान् चैतन्य कृष्ण दोनों में आता है। श्री चैतन्य महाप्रभु भगवान् हैं, किन्तु वे कृष्ण का वर्णन करने में सदैव लगे रहते हैं और इस तरह वे उनके नाम तथा रूप का कीर्तन करके तथा स्मरण करके दिव्य आनन्द पाते हैं। स्वयं भगवान् कृष्ण सर्वोच्च उपदेश देने के लिए चैतन्य के रूप में प्रकट होते हैं। *वर्णयति* का अर्थ है "कहता है" या "वर्णन करता है।" भगवान् चैतन्य सदैव कृष्ण-नाम का कीर्तन करते हैं और उसका गुणानुवाद भी करते हैं और चूँकि वे स्वयं कृष्ण हैं, अतएव जो भी उनसे मिलता है, वह स्वतः कृष्ण-नाम का कीर्तन करता है और बाद में अन्यों से उसका कथन करता है। वह दूसरे व्यक्ति में दिव्य कृष्णभावनामृत प्रविष्ट कर देता है, जिससे कीर्तन करने वाला दिव्य आनन्द में लीन हो जाता है। इसलिए वह सभी तरह से हर एक के समक्ष कृष्ण-रूप में प्रकट होता है चाहे व्यक्ति-रूप में हो या ध्वनि के रूप में। श्री चैतन्य का दर्शन करने से ही, उसे तुरन्त भगवान् कृष्ण का स्मरण हो आता है। इस तरह उन्हें *विष्णु तत्त्व* के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, श्री चैतन्य साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं।

सांगोपांगास्त्रपार्षदम् भी यह सूचित करता है कि श्री चैतन्य भगवान् कृष्ण हैं। उनका शरीर सदैव चन्दन के आभूषणों तथा चन्दन-लेप से विभूषित रहता है। अपने अद्वितीय सौन्दर्य से वे अपने युग के सारे लोगों को दमित करते हैं। अन्य अवतारों में कभी कभी भगवान् ने अस्त्रों का उपयोग असुरों को परास्त करने के लिए किया था, किन्तु इस युग में भगवान् चैतन्य महाप्रभु जैसे सर्व आकर्षक रूप से उन असुरों का दमन करते हैं। श्रील जीव गोस्वामी व्याख्या करते हैं कि उनका सौन्दर्य असुरों को दमन करने के लिए उनके अस्त्र हैं। चूँकि वे सर्व आकर्षक हैं, अतएव यह समझना होगा कि सारे देवता

उनके संगियों जैसे रहते थे। उनके कर्म असाधारण थे और उनके संगी अद्‌भुत थे। जब उन्होंने संकीर्तन आन्दोलन का प्रसार किया, तब विशेषकर बंगाल तथा बिहार में अनेक विद्वानों तथा आचार्यों को आकृष्ट किया। श्री चैतन्य के साथ सदा ही उनके श्रेष्ठतम संगी, जैसे कि नित्यानन्द, अद्वैत, गदाधर तथा श्रीवास रहते थे।

"श्रील जीव गोस्वामी ने वैदिक साहित्य का एक श्लोक उद्‌धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि यज्ञ-प्रदर्शनों या उत्सवों को मनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे टीका करते हैं कि ऐसे बाहरी दिखलावटी प्रदर्शनों में न लगकर सारे लोगों को जाति तथा रंग का भेदभाव त्यागकर भगवान् चैतन्य की पूजा करने के लिए हरे कृष्ण महामंत्र का सामूहिक कीर्तन करना चाहिए। *कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्* यह सूचित करता है कि कृष्ण-नाम को वरीयता प्रदान की जानी चाहिए। श्री चैतन्य ने कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी और कृष्ण-नाम का कीर्तन किया। इसलिए श्री चैतन्य की पूजा करने के लिए सभी लोगों को मिल कर *महामंत्र* का—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे/हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का कीर्तन करना चाहिए। गिरजाघरों, मन्दिरों या मसजिदों में पूजा का प्रसार करना सम्भव नहीं रहा, क्योंकि लोगों को इसमें रुचि नहीं है। किन्तु हरे कृष्ण का कीर्तन कहीं भी किया जा सकता है। इस तरह से श्री चैतन्य की पूजा करते हुए सर्वोच्च कर्म किया जा सकता है और भगवान् को तुष्ट करने का सर्वोच्च धार्मिक उद्देश्य पूरा किया जा सकता है।

"श्री चैतन्य महाप्रभु के सुप्रसिद्ध शिष्य श्रील सार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा है, "जब दिव्य भक्ति का सिद्धान्त लुप्त हो गया, तो श्रीकृष्ण चैतन्य भक्ति-विधि को पुन: बताने हेतु प्रकट हुए हैं। वे इतने दयालु हैं कि कृष्ण-प्रेम का वितरण कर रहे हैं। हर व्यक्ति को चाहिए कि उनके चरणकमलों की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो, जिस तरह कि गुनगुनाते भौंरे कमल-पुष्प की ओर आकृष्ट होते हैं।"

श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार का वर्णन *श्रीविष्णुसहस्रनाम* में भी हुआ है, जो *महाभारत* के दान-धर्म पर्व के अध्याय १८९ में आया है। श्रील जीव गोस्वामी ने इसका सन्दर्भ इस प्रकार दिया है—*सुवर्णवर्णो हेमांगो वरांगश्चन्दनांगदी*—अपनी प्रारम्भिक लीलाओं में वे सुनहले रंग वाले गृहस्थ के रूप में प्रकट होते हैं। उनके अंग सुन्दर हैं और उनका चंदन-लेपित शरीर पिघले सोने जैसा लगता है। उन्होंने यह भी उद्‌धृत किया है—*संन्यासकृच्छम: शान्तो निष्ठा शान्ति परायण:*—बाद की लीलाओं में वे

संन्यास धारण करते हैं और समभाव तथा शान्त रहते हैं। वे शान्ति तथा भक्ति के सर्वोच्च धाम हैं, क्योंकि वे निर्विशेषवादी अभक्तों को चुप करा देते हैं।

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ध्येयम्—ध्यान किये जाने के योग्य; सदा—सदैव; परिभव—भौतिक जगत के अपमान; घ्नम्—नष्ट करने वाला; अभीष्ट—आत्मा की असली इच्छा; दोहम्—ठीक से पुरस्कार करने वाले; तीर्थ—सारे पवित्र स्थानों तथा सन्त-महापुरुषों का; आस्पदम्—धाम; शिव-विरिञ्चि—शिव तथा ब्रह्मा जैसे महान् देवताओं द्वारा; नुतम्—झुके हुए; शरण्यम्—शरण ग्रहण करने के लिए सर्वाधिक योग्य; भृत्य—सेवकों के; आर्ति-हम्—कष्ट को दूर करने वाले; प्रणत-पाल—उन सबके रक्षक, जो आपको प्रणाम करते हैं; भव-अब्धि—जन्म-मृत्यु के सागर का; पोतम्—उपयुक्त नाव (पार करने के लिए); वन्दे—मैं वन्दना करता हूँ; महा-पुरुष—हे महाप्रभु; ते—तुम्हारे; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों की।

हे प्रभु, आप महापुरुष हैं और मैं आपके उन चरणकमलों की पूजा करता हूँ, जो शाश्वत ध्यान के एकमात्र लक्ष्य हैं। वे चरण भौतिक जीवन की चिन्ताओं को नष्ट करते हैं और आत्मा की सर्वोच्च इच्छा—शुद्ध भगवत्प्रेम की प्राप्ति—प्रदान करते हैं। हे प्रभु, आपके चरणकमल समस्त तीर्थस्थानों के तथा भक्ति-परम्परा के समस्त सन्त-महापुरुषों के आश्रय हैं और शिव तथा ब्रह्मा जैसे शक्तिशाली देवताओं द्वारा सम्मानित होते हैं। हे प्रभु, आप इतने दयालु हैं कि आप उन सबों की स्वेच्छा से रक्षा करते हैं, जो आदरपूर्वक आपको नमस्कार करते हैं। इस तरह आप अपने सेवकों के सारे कष्टों को दयापूर्वक दूर कर देते हैं। निष्कर्ष रूप में, हे प्रभु, आपके चरणकमल वास्तव में जन्म तथा मृत्यु के सागर को पार करने के लिए उपयुक्त नाव हैं, इसीलिए ब्रह्मा तथा शिव भी आपके चरणकमलों में आश्रय की तलाश करते रहते हैं।''

तात्पर्य : इस श्लोक में कलियुग में भगवान् के अवतार का वर्णन हुआ है और उसकी पूजा की गई है। विगत तीन युगों—सत्य, त्रेता तथा द्वापर—में ईश्वर के अवतारों का वर्णन करने के बाद करभाजन मुनि ने उपयुक्त स्तुतियाँ प्रस्तुत कीं, जो प्रत्येक युगविशेष में भगवान् की महिमा का वर्णन करने के लिए सदुपयोग किया जाता है। *कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्* श्लोक द्वारा कलियुग में भगवान् के अवतार का वर्णन करने के बाद इस तथा अगले श्लोक में चैतन्य महाप्रभु के रूप में कलियुग में भगवान् के प्राकट्य, *कृष्णवर्णं,* की महिमा का वर्णन है। चैतन्य महाप्रभु कलियुग में प्रकट होते हैं और

हर एक को कृष्ण–नाम का कीर्तन करना सिखाते हैं। इस्कॉन आन्दोलन के सदस्य *कृष्णवर्णं* अर्थात् कृष्ण–नाम के कीर्तन में इतना लीन रहते हैं कि कभी कभी सामान्य लोग उन्हें ''कृष्ण'' कहते हैं। इस तरह जो भी व्यक्ति चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन के सम्पर्क में आता है, वह उनके पवित्र नाम के कीर्तन से तुरन्त कृष्ण की पूजा करने लगता है।

ध्येयं सदा शब्द सूचित करते हैं कि कृष्ण के पवित्र नामों का कीर्तन करने के लिए इस युग में कोई कठोर नियम नहीं हैं। कलियुग में ध्यान की प्रामाणिक विधि भगवन्नाम का कीर्तन विशेष रूप से—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—महामंत्र का कीर्तन करना है। इस विधि को सदा एवं निरंतर सम्पन्न करना चाहिए। इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने कहा—*नाम्नाम् अकारि बहुधा निजसर्व-शक्तिस्तत्रार्पिता नियमित: स्मरणे न काल:*—कलियुग में भगवान् ने अपनी सारी शक्तियाँ अपने नाम में लगा दी हैं और इन नामों का कीर्तन करने की कोई घिसी–पिटी विधि नहीं है। ऐसे नियमों का उल्लेख *काल–देश–नियम* का द्योतक है। सामान्यतया काल, ऋतु, स्थान, दशा इत्यादि को नियंत्रित करने वाले कठोर नियम होते हैं, जिनके अनुसार कोई विशेष वैदिक उत्सव सम्पन्न किया जा सकता है या कि किसी विशेष मंत्र का उच्चारण किया जा सकता है। इसलिए मनुष्य को सर्वत्र तथा सदैव, चौबीसों घण्टे, कृष्ण–नाम का कीर्तन करना चाहिए। इस प्रकार काल तथा स्थान के रूप में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। चैतन्य महाप्रभु के कथन का यही अर्थ है।

इस श्लोक में *परिभव–घ्नम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। कलियुग में मानव समाज ईर्ष्या से दूषित रहता है। यहाँ तक कि एक ही परिवार के सदस्यों में भी अत्यधिक ईर्ष्या व्याप्त रहती है, जिससे वे इस युग में निरन्तर झगड़ते रहते हैं। इसी प्रकार पड़ोसी एक–दूसरे से तथा एक–दूसरे की सम्पत्ति तथा पद से ईर्ष्या रखते हैं और सम्पूर्ण राष्ट्र ईर्ष्या से जल कर व्यर्थ ही युद्धरत होते हैं, जिसमें भीषण आधुनिक अस्त्रों द्वारा नरसंहार का खतरा बना रहता है। किन्तु पारिवारिक सदस्यों, अनजानों, तथाकथित कृतघ्न मित्रों, विरोधी राष्ट्रों, आर्थिक स्पर्धा, सामाजिक अप्रतिष्ठा, कैंसर इत्यादि द्वारा उत्पन्न इन उत्पीड़नों से चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके बचा जा सकता है। भौतिक शरीर को तो नहीं बचाया जा सकता, किन्तु चैतन्य महाप्रभु की शरण में आने वाले व्यक्ति की कठोर हृदयग्रंथि खुल जाती है, जिसके कारण वह अपने को बाह्य शरीर या सूक्ष्म मन मान रहा होता है। एक बार इस झूठी पहचान के

टूट जाने पर मनुष्य किसी भी प्रतिकूल भौतिक परिस्थिति में आनन्दपूर्वक रह सकता है। जो लोग इस नश्वर शरीर को शाश्वत बनाना चाहते हैं, वे अपना समय तो गँवाते ही हैं, साथ ही वे अपने जीवन को स्थायी बनाने वाली उस वास्तविक विधि की उपेक्षा करते हैं, जो कि साक्षात् कृष्णरूपी चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना है।

इस श्लोक में *तीर्थास्पदम्* शब्द यह बताता है कि चैतन्य महाप्रभु के चरणकमल समस्त तीर्थस्थानों के आश्रय हैं। ज्यों ज्यों कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व-भर में फैल रहा है, त्यों त्यों हम निर्धन तथा अविकसित देशों में प्राय: पाते हैं कि भारत में वृन्दावन तथा मायापुर जैसे अत्यन्त पवित्र स्थानों को देख पाने के लिए भ्रमण कर पाना अत्यन्त कठिन होता जा रहा है। विशेष रूप से दक्षिण अमरीका के बहुत-से भक्तों के लिए भारत में ऐसे स्थलों का भ्रमण करके अपने को शुद्ध करना काफी कठिन है। किन्तु चैतन्य महाप्रभु इतने दयालु हैं कि केवल उनकी पूजा करने से विश्व-भर के सारे वैष्णव महान् तीर्थों को अर्थात् चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों को देख पाने का लाभ प्राप्त करते हैं। इस तरह कृष्णभावनामृत आन्दोलन के अनुयायियों को उनकी बाहरी परिस्थिति के बावजूद किसी प्रकार की क्षति नहीं होती है।

इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*कलौ द्रव्यदेशक्रियादिजनितं दुर्वारमपावित्र्यमपि नाशंकनीयमिति भाव:।* इस युग में संसार पापमय जीवन से इतना दूषित हो चुका है कि कलियुग के सारे लक्षणों से मुक्त हो पाना अत्यन्त कठिन है। फिर भी चैतन्य महाप्रभु का प्रचार-कार्य करने वालों को कलियुग के यदा-कदा होने वाले आकस्मिक अनिवार्य लक्षणों से डरना नहीं चाहिए। चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा जुआ—इन चार निषेधात्मक विधानों का कठोरता से पालन करते हैं। वे सदैव हरे कृष्ण कीर्तन करना और भगवान् की सेवा में लगे रहना चाहते हैं। किन्तु ऐसा हो सकता है कि भक्त के जीवन में कलियुग का कोई लक्षण—यथा ईर्ष्या, क्रोध, काम, लोभ क्षण-भर के लिए यदा-कदा प्रकट हो जाय। किन्तु यदि ऐसा भक्त सचमुच ही चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों में शरणागत होता है, तो उनकी कृपा से ऐसा अवांछित लक्षण या *अनर्थ* तुरन्त लुप्त हो जायेगा। इसलिए भगवान् के निष्ठावान भक्त को अपना नियत कर्तव्य पूरा करने में हतोत्साहित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे आश्वस्त होना चाहिए कि चैतन्य महाप्रभु उसकी रक्षा करेंगे।

इस श्लोक में *शिवविरिञ्चिनुतम्* शब्द भी आया है। इस ब्रह्माण्ड में शिव तथा ब्रह्मा निस्सन्देह दो अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष हैं। फिर भी वे चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की अविचल भाव से पूजा करते हैं। क्यों? *शरण्यम्।* ब्रह्मा तथा शिव भी भगवान् के चरणकमलों की शरण के बिना सुरक्षित नहीं हैं।

भृत्यार्तिहं प्रणतपाल शब्द यह इंगित करते हैं कि यदि बिना द्वैत के कोई व्यक्ति भगवान् के चरणों पर शीश झुकाता है (*प्रणत*), तो भगवान् ऐसे निष्ठावान व्यक्ति को समस्त सुरक्षा प्रदान करते हैं। इस श्लोक में इसका उल्लेख नहीं है कि मनुष्य को भगवान् का उच्च कोटि का भक्त होना चाहिए। प्रत्युत यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों पर केवल शीश झुकाता है, तो उसे सारी सुरक्षा प्रदान की जाती है और यह उस पर भी लागू होता है, जो चैतन्य महाप्रभु के मिशन की सेवा करने का प्रयास करता है। यहाँ तक कि नवदीक्षित को भी भगवत्कृपा से समस्त संरक्षण प्राप्त हो जायेगा।

भवाब्धि-पोतम् के विषय में *श्रीमद्भागवत* में ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं का निम्नलिखित कथन पाया जाता है *त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्*—अज्ञान सागर को पार करने के लिए आपके चरणकमल को नाव मान कर मनुष्य महाजनों के पदचिह्नों पर चलता है और उस सागर को उसी सरलता से पार कर सकता है, जिस तरह गो-खुर के ऊपर से लाँघा जाता है। श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार चैतन्य महाप्रभु का अनुयायी *जीवन्मुक्त* होता है। इस प्रकार भक्त अपने भावी गन्तव्य के लिए परेशान नहीं रहता, क्योंकि वह आश्वस्त रहता है कि भगवान् उसे इस भवसागर से तुरन्त पार करा देंगे। *उपदेशामृत* में ऐसे विश्वास को *निश्चयात्* शब्द द्वारा द्योतित किया गया है, जिसका अर्थ भक्तियोग की शक्ति के विषय में दृढ़ विश्वास है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *शिवविरिञ्चिनुतम्* कथन से यह भी सूचित होता है कि चैतन्य महाप्रभु की पूजा शिव के अवतार अद्वैत आचार्य द्वारा और ब्रह्मा के अवतार हरिदास ठाकुर द्वारा की जाती है।

इस श्लोक में चैतन्य महाप्रभु को *महापुरुष* के रूप में सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है *पुरुषोत्तम* अर्थात् भगवान्। इसी प्रकार *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (३.१२) में महाप्रभु का निर्देश हुआ है—*महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वष्यैश प्रवर्तकः*—महाप्रभु ईश्वर हैं, जो सम्पूर्ण जगत के प्रवर्तक हैं। इसी प्रकार

इस श्लोक में श्री गौरकृष्ण को *महापुरुष* कह कर सम्बोधित किया गया है और इस श्लोक का पूर्ण मन्तव्य भगवान् के चरणकमलों पर नमस्कार अर्पित करना है। ऐसे चरणकमल ध्यान के वास्तविक नित्य लक्ष्य हैं, क्योंकि वे भौतिक जीवन के बन्धन को काट देते हैं और भक्तों की इच्छाएँ पूरी करते हैं। यद्यपि बद्धजीव माया के अधीन होकर कठिन श्रम करते हुए जीवन में कई क्षणिक लक्ष्यों का अनुसरण करते हैं, किन्तु इस तरह से वे वास्तविक आनन्द या ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसा नित्य आनन्द तथा ज्ञान ही वास्तव में सम्पत्ति है। मनुष्य को चाहिए कि चैतन्य महाप्रभु को सामान्य व्यक्ति समझ कर और उनके चरणकमलों की उपेक्षा करके भगवान् की माया द्वारा प्रदत्त व्यर्थ की नश्वर शरण ग्रहण न करे।

वे योगी जो भगवान् के चरणकमलों के अतिरिक्त अपने ध्यान का अन्य कोई लक्ष्य बनाते हैं अपने ही नित्य जीवन के मार्ग में रोड़े खड़े करते हैं। जब ध्याता, ध्यान तथा ध्येय ये सभी भगवान् के नित्य पद को प्राप्त होते हैं, तो समझिये असली शरण प्राप्त हो चुकी। सामान्यतया बद्धजीव *भोगत्याग* में लगे रहते हैं। कभी वे भौतिक प्रतिष्ठा तथा इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे उन्मत्त होकर दौड़ते हैं, तो कभी वे हताश होकर इन वस्तुओं का परित्याग कर देना चाहते हैं। किन्तु भगवान् के चरणकमल इन्द्रिय-तृप्ति तथा परित्याग के फेर-बदल के इस चक्र से परे हैं और जीव के लिए वे शान्ति तथा सुख के चरम धाम हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक पर निम्नलिखित अतिरिक्त टिप्पणियाँ दी हैं—

ध्येयम्—लक्ष्य जिसका संकेत गायत्री मंत्र के धीमहि शब्द द्वारा हुआ है।

तीर्थास्पदम्—श्री गौक्षेत्र तथा व्रजमण्डल इत्यादि तीर्थस्थलों का मूल आश्रय, अथवा श्रवण-परम्परा के ब्रह्म-सम्प्रदाय के महान् भक्तों, भगवान् के चरणकमल का मूल आश्रय। यह श्रवण-परम्परा श्रीमद् आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य) से प्रारम्भ होती है और रूपानुग महाभागवतों अर्थात् रूप गोस्वामी तथा चैतन्य महाप्रभु के महान् अनुयायियों द्वारा आगे बढ़ती है।

शिवविरिञ्चिनुतम्—वह जिसकी पूजा शिव के अवतार श्रीमद् अद्वैताचार्य प्रभु तथा विरिञ्चि के अवतार श्रीमान् आचार्य हरिदास प्रभु द्वारा की जाती है।

भृत्यार्तिहम्—जिसने अपनी अहैतुकी कृपा से अपने ही दास, ब्राह्मण वासुदेव के कष्ट को दूर किया, जिसे *चैतन्य लीला* में कोढ़ हो गया था।

भवाब्धिपोतम्—संसार सागर को पार करने का साधन; अथवा उन लोगों के आश्रय जो अपने को उस भौतिक संसार से मुक्त करते हैं, जो यह संसार मोक्ष या भौतिक भोग की लालसा के रूप में जीव को पीड़ित करता है। ऐसे व्यक्तियों में से, जिन्होंने भगवान् के चरणकमल रूपी इस नाव का लाभ उठाया, सार्वभौम भट्टाचार्य तथा प्रतापरुद्र महाराज हैं, जिन्हें क्रमशः *मुक्तिकाम* तथा *भुक्तिकाम* से बचाया गया था।

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

त्यक्त्वा—त्याग कर; सु-दुस्त्यज—त्याग पाना अत्यन्त कठिन; सुर-ईप्सित—देवताओं द्वारा वांछित; राज्य-लक्ष्मीम्—लक्ष्मी तथा उसका ऐश्वर्य; धर्मिष्ठः—अत्यन्त धार्मिक; आर्य-वचसा—ब्राह्मण के वचनों के अनुसार; यत्—जो; अगात्—गया; अरण्यम्—(संन्यास लेकर) जंगल में; माया-मृगम्—बद्धजीव जो सदैव भ्रामक भोग की तलाश करता है; दयितया—कृपावश; ईप्सितम्—वांछित वस्तु; अन्वधावत्—पीछे पीछे दौड़ते; वन्दे—नमस्कार करता हूँ; महा-पुरुष—हे महाप्रभु; ते—तुम्हारे; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को।

हे महापुरुष, मैं आपके चरणकमलों की पूजा करता हूँ। आपने लक्ष्मी देवी तथा उनके सारे ऐश्वर्य का परित्याग कर दिया, जिसे त्याग पाना अतीव कठिन है और जिसकी कामना बड़े बड़े देवता तक करते हैं। इस तरह धर्मपथ के अत्यन्त श्रद्धालु अनुयायी होकर आप ब्राह्मण के शाप को मान कर जंगल के लिए चल पड़े। आपने मात्र अपनी दयालुतावश पतित बद्धजीवों का पीछा किया, जो सदैव माया के मिथ्या भोग के पीछे दौड़ते हैं और उसी के साथ अपनी वांछित वस्तु भगवान् श्यामसुन्दर की खोज में लगे भी रहते हैं।

तात्पर्य : वैष्णव आचार्यों के अनुसार *श्रीमद्भागवत* के इस महत्त्वपूर्ण श्लोक में चैतन्य महाप्रभु, भगवान् कृष्ण तथा श्री रामचन्द्रजी का भी वर्णन हुआ है। यह श्लोक करभाजन द्वारा युगावतारों अर्थात् भगवान् के विविध अवतारों, जो बद्धजीवों को भवबन्धन से छुड़वाते हैं, की व्याख्या के अन्तर्गत आया है। *वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्* से अन्त होने वाली स्तुति कलियुग में भगवान् कृष्ण के अवतार रूप चैतन्य महाप्रभु की प्रशंसा है। चैतन्य महाप्रभु नवद्वीप में गृहस्थ रूप में चौबीस वर्षों तक रहे और विद्वानों तथा सामान्यजनों के बीच उन्होंने काफी लोकप्रियता अर्जित की। उनके संकीर्तन आन्दोलन को

स्थानीय सरकार का पूर्ण समर्थन प्राप्त था, यद्यपि यह इस्लामी सरकार थी। चैतन्य महाप्रभु को लक्ष्मी से विवाह करने का सौभाग्य प्राप्त था। कोई भी सामान्य स्त्री चाहे वह कितनी सजी-धजी क्यों न हो लक्ष्मी की बराबरी नहीं कर सकती। ब्रह्माण्ड का हर व्यक्ति, यहाँ तक कि ब्रह्मा भी लक्ष्मी की खोज में रहते हैं। इसीलिए यहाँ *सुरेप्सित* शब्द आया है।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु ब्राह्मण रूप में भगवान् कृष्ण हैं, अतएव वे निश्चय ही *धर्मिष्ठ:* अर्थात् अत्यन्त धार्मिक हैं। ईश्वर तो सदैव धर्मिष्ठ होता है, चाहे वह ग्वालबाल के रूप में प्रकट हो अथवा महान् राजा या ब्राह्मण के रूप में जन्म ले, क्योंकि स्वयं भगवान् समस्त धर्मों के मूल उत्स तथा साकार रूप हैं। किन्तु चैतन्य महाप्रभु की लीलाओं में बहुत ही कम राजनीतिक या आर्थिक कार्यकलाप हैं। चैतन्य महाप्रभु एक महान् दार्शनिक ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए थे, अतएव वे निश्चित रूप से *धर्मिष्ठ:* हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला, अध्याय १७) में यह वर्णन आया है कि एक ब्राह्मण जो अत्यन्त कटु स्वभाव का तथा अन्यों को कोसने वाला था, उस कक्ष में नहीं घुस सका, जिसमें महाप्रभु कीर्तन कर रहे थे, क्योंकि दरवाजा बन्द था। इससे अत्यन्त क्षुब्ध होकर तथा अपना जनेऊ तोड़ते हुए उसने अगले दिन चैतन्य महाप्रभु को कोसते हुए गंगातट पर यह कहा, ''मैं अब तुम्हें शाप दे रहा हूँ, क्योंकि तुम्हारे आचरण से मुझे पीड़ा पहुँची है। तुम समस्त भौतिक सुख से वंचित हो जाओगे।'' किन्तु इससे चैतन्य महाप्रभु को अपने मन में बहुत खुशी हुई, क्योंकि उनका मिशन था—*वैराग्यविद्या निजभक्तियोग* अर्थात् भौतिक इन्द्रियतृप्ति की माया का परित्याग और चौबीसों घण्टे दृढ़ता से प्रतिदिन भगवद्भक्ति में रत रहना। इसलिए चैतन्य महाप्रभु ने इस शाप को वरदान माना और उसके तुरन्त बाद संन्यास ग्रहण किया। इस तरह इस श्लोक में कहा गया है कि *आर्यवचसा* अर्थात् ब्राह्मण के शब्दों से चैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया (*यद् अगाद् अरण्यम्*) और विभिन्न जंगलों से होकर वृन्दावन तथा उसके बाद दक्षिण भारत की यात्रा की। वे विशेष रूप से ब्राह्मण-जाति की प्रतिष्ठा बनाये रखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ब्राह्मण के शाप को अक्षत रखने का निश्चय किया।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *मायामृगम्* शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है। *माया* का अर्थ है अपनी तथाकथित पत्नी, सन्तान तथा बैंक-खाता जो मनुष्य को देहात्म बुद्धि से जकड़े रखते हैं। *मृगम्* शब्द *मृग्यति* अर्थात् ''खोजने'' का सूचक है। इस प्रकार *मायामृगम्* सूचक है उस बद्धजीव का, जो

समाज, मैत्री तथा प्रेम के भौतिक देहात्म बोध में अधुनातम इन्द्रिय-तृप्ति की खोज के पीछे दीवाना रहता है। *अन्वधावत्* बताता है कि चैतन्य महाप्रभु निरन्तर पतित जीवों की खोज में इधर-उधर दौड़ते रहते थे। कभी कभी वे बद्धजीवों को धार्मिक मैत्री या आनन्द के बहाने गले लगाते थे। किन्तु वास्तविकता तो यह थी कि वे बद्धजीवों के शरीरों का स्पर्श उन्हें भवसागर से खींच कर भगवत्प्रेम के सिन्धु में डालने के लिए करते थे। इस तरह चैतन्य महाप्रभु सर्वाधिक दयालु तथा वदान्य भगवत् अवतार थे, जिनकी दया जातिपाँति तथा रंग के सांसारिक भेदभाव की सीमाओं को लाँघ चुकी थी।

दयितया शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। यह संस्कृत शब्द *दया* से निकला है और यह सूचित करता है कि महाप्रभु अत्यन्त दयालु हाने के कारण भगवान् की बहिरंगा माया से मोहित तथा विचलित बद्धजीवों को बचाने में लगे रहते थे। अत्यन्त दयालु होने का गुण *महापुरुष* अथवा भगवान् के चरित्र का अंश है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में भगवान् कृष्ण के आदि श्यामल रूप अवतार का भी वर्णन हुआ है। इस प्रकार *सुरेप्सितराज्यलक्ष्मीम्* शब्द *श्रीमथुरासम्पत्तिम्* अर्थात् मथुरा के ऐश्वर्य को सूचित करते हैं। वैदिक साहित्य में मथुरा को समस्त ऐश्वर्य का आगार कहा गया है क्योंकि उस भूभाग को भगवान् के चरणकमल का स्पर्श प्राप्त हुआ है। किन्तु कृष्ण ऐश्वर्यशाली मथुरा में जन्म लेकर भी वनग्राम वृन्दावन चले गये थे। *आर्यवचसा* शब्द इस सन्दर्भ में कृष्ण के माता-पिता वसुदेव-देवकी के आदेश का सूचक है। *श्रीमद्भागवत* (१०.३.२२, २९) में वसुदेव तथा देवकी दोनों ही कंस की धमकी के कारण भयभीत रहते हैं, क्योंकि उसने कृष्ण के बड़े भाइयों को पहले ही मार डाला था। इस तरह *आर्यवचसा* शब्द सूचित करता है कि उन्होंने बड़े ही प्यार से कृष्ण से प्रार्थना की कि वे किसी तरह कंस से बचने का प्रबन्ध करें। इसलिए उनके आदेश का पालन करने के लिए उन्होंने अपने को वृन्दावन में स्थानान्तरित कर दिया। (*यद् अगाद् अरण्यम्*)

इस सन्दर्भ में *मायामृगम्* शब्द श्रीमती राधारानी तथा श्रीकृष्ण के मध्य विशेष उच्च सम्बन्ध का सूचक है। *माया* के द्वारा कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति *योगमाया* भी सूचित होती है। कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति का आदि रूप श्रीमती राधारानी है। श्रीमती राधारानी के अचिन्त्य प्रेम के कारण भगवान् कृष्ण उनके वश में रहते हैं। इस प्रकार यहाँ पर *मृगम्* अर्थात् ''पशु'' *क्रीड़ामृगम्* अर्थात् पशु-खिलौने का

सूचक है। जिस तरह कोई सुन्दर बालिका अनेक गुड़ियों या पशु-खिलौनों से खेल सकती है, उसी तरह भगवान् कृष्ण सर्वाधिक सुन्दरी तरुणी श्रीमती राधारानी, के हाथ के खिलौने बने रहते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार श्रीमती राधारानी ने श्रीकृष्ण को बाँधने के लिए अनेक प्रकार से पूजा की थी, क्योंकि वे कृष्ण के बिना रह नहीं सकतीं। इस तरह श्रीमती राधारानी के *आराधन* के कारण कृष्ण कभी भी वृन्दावन नहीं छोड़ सकते। वे वृन्दावन में गौवों की रक्षा करते हुए, अपने मित्रों के साथ खेलते तथा श्रीमती राधारानी और गोपियों के साथ अनेक प्रकार से प्रेम-क्रीड़ाएँ करते हुए इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। *अन्वधावत्* शब्द कृष्ण द्वारा श्रीमती राधारानी के प्रेम के वशीभूत होकर वृन्दावन की दिव्य भूमि में दौड़ते हुए बाल-क्रीड़ाएँ करने का द्योतक है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने व्याख्या की है कि किस तरह यह श्लोक श्री रामचन्द्र के अवतार का भी वर्णन करता है। यद्यपि भगवान् पूर्ण स्वतंत्र हैं और हर वस्तु से विलग हैं, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्तों के प्रेम के वशीभूत हो जाते हैं। महान् राजधानी अयोध्या में सारे नागरिक उन्हें जितना वर्णन किया जा सके उससे भी अधिक प्रेम करते थे। इस सन्दर्भ में *आर्यवचसा* का यह अर्थ है कि अपने गुरु तुल्य पिता के आदेश पर सर्वस्व छोड़ कर रामचन्द्रजी वन को चले गये। वहाँ उन्होंने सीताजी के प्रति अगाध स्नेह प्रदर्शित करते हुए *मायामृगम्*—रावण द्वारा धोखे से उत्पन्न माया रूपी मृग का पीछा किया। इस स्वर्ण-मृग के लिए श्रीमती सीतादेवी ने विशेष चाह व्यक्त की थी इसकी सूचना *दयितयेप्सितम्* शब्द से मिलती है।

भगवान् के दिव्य शरीर के सारे अंग अभिन्न हैं और उनमें परस्पर-विनिमय हो सकता है। इसका कथन *ब्रह्म-संहिता* (५.३२) में मिलता है—

अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति
पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।
आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

भगवान् के सारे अंग (*अङ्गानि*) *सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति* अन्य सारे अंगों का कार्य करते हैं। इस तरह भगवान् के दोनों चरणकमल भगवान् के आदि स्वरूप हैं और भगवान् के चरणकमलों की पूजा

करने से पूजा करने वाले को दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। जहाँ तक आध्यात्मिक गुणों की बात है चैतन्य महाप्रभु, भगवान् कृष्ण तथा भगवान् रामचन्द्र के अवतारों में कोई अन्तर नहीं है। वैदिक वाङ्मय में कहा भी गया है *अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्।* इसलिए आचार्यों में तनिक भी मतान्तर नहीं है कि यह श्लोक एक ही परम सत्य के तीन भिन्न स्वरूपों की महिमा प्रस्तुत करता है। चैतन्य महाप्रभु निस्सन्देह भगवान् हैं। उनके दिव्य गुण वैदिक वाङ्मय में दिये हुए परब्रह्म के गुणों को हर दृष्टिकोण से पूरा करने वाले हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला, अध्याय ३) में कृष्णदास कविराज गोस्वामी तथा श्रील प्रभुपाद ने श्री चैतन्य महाप्रभु के दिव्य पद की विस्तृत व्याख्या दी है, जिसे पाठक अधिक जानकारी के लिए देख सकते हैं।

हर व्यक्ति को करभाजन मुनि के आदर्श का पालन करना चाहिए और महाप्रभु, महापुरुष श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि मानसिक चिन्तन तथा मनमानी व्याख्याओं में अपने को सड़ने न देकर चैतन्य महाप्रभु की शरण में जाकर परम सत्य से अपने सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करे। जो लोग श्री चैतन्य महाप्रभु की पूजा कर रहे हैं उन्हें अद्‌भुत आध्यात्मिक फल मिल रहा है और वे कृष्ण-प्रेम रूपी फल का आस्वाद ले रहे हैं। अतएव *वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्:* हम आदि भगवान् चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों को नमस्कार करें जिनकी महिमा *श्रीमद्‌भागवत* में *महापुरुष* के रूप में गाई गई है।

इस श्लोक की व्याख्या के अनुरूप चैतन्य महाप्रभु के अनुयायीगण उनके *षड्‌भुज* रूप की भी पूजा करते हैं। इस रूप की दो भुजाओं में संन्यासी चैतन्य महाप्रभु का कमण्डल तथा दण्ड रहते हैं, दो भुजाओं में भगवान् कृष्ण की बाँसुरी रहती है और दो हाथों में भगवान् रामचन्द्रजी के धनुष-बाण रहते हैं। यह *षड्‌भुज* रूप ही *श्रीमद्‌भागवत* के इस श्लोक का वास्तविक तात्पर्य है।

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान्युगवर्तिभिः ।
मनुजैरिज्यते राजन्श्रेयसामीश्वरो हरिः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; **युग-अनुरूपाभ्याम्**—प्रत्येक युग के अनुरूप (विशिष्ट नामों तथा रूपों द्वारा); **भगवान्**—भगवान्; **युग-वर्तिभिः**—विभिन्न युगों में रहने वालों द्वारा; **मनुजैः**—मनुष्यों के द्वारा; **इज्यते**—पूजा जाता है; **राजन्**—हे राजा; **श्रेयसाम्**—समस्त आध्यात्मिक लाभ का; **ईश्वरः**—नियंत्रक; **हरिः**—भगवान् हरि।

इस प्रकार हे राजन्, भगवान् हरि जीवन के समस्त वांछित फलों को देने वाले हैं। बुद्धिमान मनुष्य भगवान् के उन विशेष रूपों तथा नामों की पूजा करते हैं, जिन्हें भगवान् विभिन्न युगों में प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *युगानुरूपाभ्याम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *अनुरूप* का अर्थ है ''उचित''। भगवान् कृष्ण चाहते हैं कि सारे बद्धजीव आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन के लिए भगवद्धाम वापस आयें। इस तरह चारों युगों में—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि में—भगवान् ऐसे रूप में प्रकट होते हैं, जो उस युग के मनुष्यों द्वारा पूजने के अनुरूप होता है। श्रील रूप गोस्वामी ने *लघु भागवतामृत* (पूर्वखण्ड १.२५) में कहा है—

कथ्यते वर्णनामाभ्यां शुक्ल:सत्ययुगे हरि: ।

रक्त: श्याम: कर्मात् कृष्णस्त्रेतायां द्वापरे कलौ ॥

''भगवान् हरि को उनके रंग तथा नामों के अनुसार सत्ययुग में शुक्ल (श्वेत अथवा परम शुद्ध) तथा त्रेता, द्वापर और कलियुग में क्रमश: रक्त, श्याम तथा काला कहा जाता है।'' इस तरह उन्हें प्रत्येक युग में महिमा-गायन के उपयुक्त नाम दिये जाते हैं—यथा सत्ययुग में हंस तथा सुपर्ण, त्रेतायुग में विष्णु तथा यज्ञ और द्वापर युग में वासुदेव तथा संकर्षण, किन्तु कलियुग में ऐसे नाम नहीं रखे जाते, यद्यपि ऐसे नाम होते हैं ताकि इससे श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार की सत्यता को हल्के-फुल्के ढंग से प्रकट करने से बचा जा सके।

कलियुग में मानव समाज दिखावे तथा ओछेपन से व्याप्त है। इस युग में नकल तथा धूर्तता की प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है। इसीलिए वैदिक वाङ्मय में श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार को गोपनीय रखा गया है, जिससे केवल वे अधिकृत भक्त ही जान सकें, जो उनके बाद पृथ्वी पर उनके संदेश का प्रसार कर सकते हों। सचमुच ही इस आधुनिक युग में अनेक मूर्ख तथा सामान्य व्यक्ति अपने को ईश्वर या अवतार कहते देखे जाते हैं। ऐसे अनेक सस्ते दर्शन तथा ऐसी अकादमियाँ हैं, जो थोड़ी-सी फीस (शुल्क) लेकर मनुष्य को अल्पकाल में ईश्वर बनाने का वचन देती हैं। अमरीका का एक धार्मिक समुदाय अपने अनुयायियों को यह वचन देता है कि वे स्वर्ग में ईश्वर बन जायेंगे। ईसाइयत के नाम पर

ऐसा भ्रष्ट प्रचार हो रहा है। अतएव यदि वैदिक वाङ्मय में चैतन्य महाप्रभु के नाम का खुलकर कथन किया जाता, तो संसार में नकली चैतन्य महाप्रभुओं की बाढ़ आ जाती।

इसीलिए कलियुग में इस तरह की भगदड़ से बचाने के लिए वैदिक ग्रंथों में विवेक का सहारा लिया गया है और वैदिक संस्कृति के अनुयायियों को गंभीर और गुह्य विधि से वैदिक मंत्रों द्वारा श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतरण की सूचना दी जाती है। कलियुग में अपने प्राकट्य के लिए भगवान् ने जो यह विवेकपूर्ण विधि चुनी है, वह इस धरा लोक पर काफी सफल सिद्ध हो रही है। इस तरह विश्व-भर में करोड़ों लोग लाखों नकली चैतन्य महाप्रभुओं के असह्य उत्पीड़न के बिना ही कृष्ण-नाम का कीर्तन कर रहे हैं। जो लोग भगवान् के पास पहुँचने के लिए सचमुच ही इच्छुक हैं, वे महाप्रभु के मिशन को आसानी से समझ सकते हैं, जबकि झूठी प्रतिष्ठा से फूले हुए और अपनी बुद्धि को कृष्ण की बुद्धि से बड़ी मानते हुए उन्मत्त भौतिकतावादी धूर्तगण इस जगत में सुचारु रूप से भगवान् द्वारा बनाई गई अवतार लेने की व्याख्या को नहीं समझ सकते। इस तरह यद्यपि कृष्ण *श्रेयसाम् ईश्वर:*—अर्थात् समस्त वरों के स्वामी हैं, किन्तु ऐसे मूर्खजन भगवान् के मिशन से पराङ्मुख होकर अपने को जीवन के असली लाभ से वंचित रखते हैं।

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुण ज्ञाः सारभागिनः ।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कलिम्—कलियुग की; सभाजयन्ति—प्रशंसा करते हैं; आर्याः—प्रगतिशील लोग; गुण-ज्ञः—(युग की) असलियत को जानने वाले; सार-भागिनः—सार ग्रहण करने वाले; यत्र—जिसमें; सङ्कीर्तनेन—भगवान् के नाम का सामूहिक कीर्तन करके; एव—मात्र; सर्व—सभी; स्व-अर्थः—इच्छित लक्ष्य; अभिलभ्यते—प्राप्त किये जाते हैं।

जो लोग सचमुच ज्ञानी हैं, वे इस कलियुग के असली महत्व को समझ सकते हैं। ऐसे प्रबुद्ध लोग कलियुग की पूजा करते हैं, क्योंकि इस पतित युग में जीवन की सम्पूर्ण सिद्धि संकीर्तन सम्पन्न करके आसानी से प्राप्त की जा सकती है।

तात्पर्य : यहाँ पर बतलाया गया है कि सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—इन चार युगों में कलियुग ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इस युग में भगवान् चेतना की सर्वोच्च सिद्धि, कृष्णभावनामृत, का मुक्तहस्त से वितरण करते हैं। *आर्य* शब्द की परिभाषा श्रील प्रभुपाद ने "वह व्यक्ति जो आध्यात्मिक उन्नति कर रहा हो" के रूप में की है। प्रबुद्ध व्यक्ति का स्वभाव जीवन के सार की खोज करना है। उदाहरणार्थ,

भौतिक शरीर का सार शरीर न होकर शरीर के भीतर स्थित आत्मा है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति नश्वर शरीर की अपेक्षा शाश्वत आत्मा की ओर अधिक ध्यान देता है। इसी तरह यद्यपि कलियुग को कल्मष का सागर माना जाता है, किन्तु कलियुग में भाग्य का समुद्र भी है—वह है संकीर्तन आन्दोलन। दूसरे शब्दों में, इस युग के सारे अधम गुणों का पूर्ण निराकरण भगवन्नाम कीर्तन करने से हो जाता है। अतएव वैदिक भाषा में कहा गया है—

ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।

यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

''सत्ययुग में ध्यान द्वारा, त्रेता में यज्ञ द्वारा तथा द्वापर में पूजा द्वारा जो कुछ अर्जित किया जाता है, उसे कलियुग में सामूहिक रूप से केशव नाम का कीर्तन करके प्राप्त किया जाता है।''

वैदिक विधि बद्धजीव को धीरे धीरे अहंकार के अंधकार अर्थात् स्थूल भौतिक शरीर से झूठी पहचान से ऊपर उठाती है और आत्म-साक्षात् अथवा *अहं ब्रह्मास्मि*—अर्थात् मैं आत्मा हूँ, मैं नित्य हूँ—के पद तक ले जाती है। फिर उसे यह खोजना होता है कि यद्यपि मैं नित्य हूँ, किन्तु एक परम शाश्वत पुरुष है, जो ब्रह्माण्ड के कण-कण के भीतर तथा हर एक के हृदय के भीतर स्थित साक्षात् भगवान् है। इस आत्म-साक्षात्कार की द्वितीय अवस्था के आगे भी सिद्धि की तीसरी एवं अन्तिम अवस्था होती है, जो भगवान् के धाम में भगवान् का साक्षात्कार है।

भगवान् मूलतः इस जगत के अधीक्षक नहीं प्रत्युत अपने ही जगत के भोक्ता हैं, जो बद्धजीव के अतिकाल्पनिक स्वप्नों से भी परे हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि राजा या देश का राष्ट्रपति जेल-विभाग का नियंत्रक होता है, किन्तु उसे वास्तविक सुख अपने ही घर में मिलता है, मूर्ख बन्दियों को फैसला सुनाने में नहीं। इसी तरह भगवान् भौतिक सृष्टि का संचालन करने हेतु देवताओं को नियुक्त करते हैं और स्वयं अपने दिव्य धाम में दिव्य आनन्द-सागर में मग्न रहते हैं। इस तरह भगवान् के ही धाम में उनका साक्षात्कार करना—इस भौतिक जगत रूपी कारागार के स्रष्टा के रूप में भगवान् को समझना अधिक श्रेष्ठ है। भगवान् का यह साक्षात्कार इस समझ से प्राप्त होता है कि आध्यात्मिक आकाश में असंख्य वैकुण्ठ-लोक हैं और इनमें हर एक में नारायण का अंश-विशेष अपने उन असंख्य भक्तों के साथ निवास करता है, जो उस विशेष रूप के साथ जुड़े रहते हैं। आध्यात्मिक आकाश का केन्द्रीय एवं

मुख्य लोक कृष्ण-लोक कहलाता है और यहाँ पर भगवान् अपने परम एवं आदि गोविन्द रूप को प्रकट करते हैं। *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि* द्वारा ब्रह्मा ने इसकी पुष्टि की है। ब्रह्मा ने *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में यह भी कहा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

इस तरह कृष्ण-प्रेम तथा आध्यात्मिक आकाश में कृष्ण-लोक के भीतर प्रवेश पाना कहीं भी और किसी भी काल में संपूर्ण सृष्टि में जीवन की सर्वोच्च तथा भव्य स्थिति है। यह पूर्णता कलियुग में मात्र भगवन्नाम कीर्तन करने से उपलब्ध है। अतएव हर विवेकशील पुरुष, स्त्री या बालक को चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रदत्त सुअवसर को गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिए और इस कीर्तन को अपनाना चाहिए। केवल अभागे तथा अनुदार व्यक्ति ही इस दिव्य अवसर की उपेक्षा करेंगे।

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; हि—निस्सन्देह; अतः—इस (संकीर्तन विधि) की अपेक्षा; परमः—महान्; लाभः—प्राप्त करने योग्य वस्तु; देहिनाम्—देहधारियों के लिए; भ्राम्यताम्—विचरण करने के बाध्य हुए; इह—इस ब्रह्माण्ड-भर में; यतः—जिससे; विन्देत—प्राप्त करता है; परमाम्—परम; शान्तिम्—शान्ति; नश्यति—तथा नष्ट करता है; संसृतिः—जन्म-मृत्यु के आवागमन को।

निस्सन्देह, भौतिक जगत में विचरण करने के लिए बाध्य किये गये देहधारी जीवों के लिए भगवान् के संकीर्तन आन्दोलन से बढ़कर और कोई सम्भावित लाभ नहीं है, जिसके द्वारा वह परम शान्ति पा सके और अपने को बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र से छुड़ा सके।

तात्पर्य : *स्कन्द पुराण* तथा अन्य पुराणों में निम्नलिखित वक्तव्य प्राप्य है—*महाभागवता नित्यं कलौ कुर्वन्ति कीर्तनम्*—कलियुग में भगवान् के महान् भक्तगण सदैव कीर्तन में व्यस्त रहते हैं। भगवान् स्वभाव से दयालु हैं और वे उन पर विशेष रूप से कृपालु रहते हैं, जो असहायावस्था में उनके चरणकमलों में पूरी तरह आत्म-समर्पण कर देते हैं। कोई भी व्यक्ति भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करके तुरन्त भगवान् के चरणकमलों में शरण पा सकता है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार पूर्वयुगों में भी, यहाँ तक कि सत्ययुग में भी, जीवों के लिए सिद्धि प्राप्त करना सम्भव न था, जितना कि कलियुग में है। श्रील जीव गोस्वामी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—प्राचीन युगों में, यथा सत्ययुग में

मनुष्य पूर्णतया योग्य होते थे और वे बिना खाये-पिये या सोये हुए हजारों वर्षों तक ध्यान करते हुए कठिन से कठिन आध्यात्मिक विधियाँ सम्पन्न कर सकते थे। इस तरह यद्यपि भगवान् के नाम की शरण ग्रहण करने वाला कोई भी व्यक्ति सारी सिद्धि पा सकता है, किन्तु सत्ययुग के अत्यन्त योग्य व्यक्ति यह नहीं मानते थे कि मात्र जीभ और होंठ हिलाना अर्थात् भगवन्नाम कीर्तन करना पूर्ण विधि है और भगवान् का पवित्र नाम ही सारे ब्रह्माण्ड में एकमात्र आश्रय है, इसलिए वे ध्यान, आसन, प्राणायाम और समाधि जैसी कठिन एवं विस्तृत योग-विधियों के प्रति आकृष्ट होते थे। सत्ययुग में पापमय जीवन का नाम तक नहीं था, इसलिए उस युग के लोग कलियुग में दिखाई पड़ने वाले कर्मफलों—यथा विश्वयुद्ध, दुर्भिक्ष, प्लेग, सूखा, पागलपन इत्यादि के द्वारा पीड़ित नहीं होते थे। यद्यपि सत्ययुग में लोग भगवान् को जीवन का चरम लक्ष्य मान कर पूजते थे और दृढ़तापूर्वक *धर्म* का पालन करते थे, किन्तु वे अपने को असहाय नहीं मानते, फलत: उन्हें भगवान् के प्रति गहन प्रेम का अनुभव नहीं हो पाता।

किन्तु कलियुग में जीवन-परिस्थितियाँ इतनी असहनीय हैं, आधुनिक सरकारें इतनी घिनौनी हैं, हमारे शरीर कायिक तथा मानसिक रोग से इतने त्रस्त हैं और आत्मसंयम भी इतना कष्टकर हो चुका है कि बद्धजीव इस युग के घातक हमले से बचाव के लिए याचना करते हुए जोर से कृष्ण-कृष्ण चिल्ला उठते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को इस युग में मानव समाज में व्याप्त विरोधाभासों का प्रत्यक्ष एवं अविस्मरणीय अनुभव है, अतएव उन्हें विश्वास है कि भगवान् की कृपा के अतिरिक्त अन्य कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। विश्व-भर में हमारे इस्कॉन केन्द्रों में अत्यन्त अद्‌भुत ढंग से भावपूर्ण कीर्तन किये जाते हैं, जिसमें सभी क्षेत्रों के पुरुष, स्त्री तथा बालक बड़े ही उत्साह से कृष्ण-नाम का कीर्तन करते हैं और आनन्दमग्न होकर नाचते हैं और वे तथाकथित जन-भूत की बिल्कुल परवाह नहीं करते। अमरीका में ओबरलिन कालेज के एक प्रोफेसर कैलीफोर्निया में स्थित एक हरे कृष्ण केन्द्र देखने आये, तो कृष्ण के पवित्र नाम के सामूहिक संकीर्तन में, भक्तों के उत्साह को देखकर चकित रह गये।

इस तरह अपनी असहाय तथा दीन अवस्था के कारण कलियुग में सारे जीवों में कृष्ण-नाम के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण की अन्त:प्रेरणा है और वे अपनी सारी आशाएँ तथा विश्वास कृष्ण-नाम पर ही केन्द्रित करते हैं। इसलिए कलियुग सर्वोत्तम युग है, क्योंकि इस युग में सत्ययुग या अन्य युगों की

अपेक्षा कहीं अधिक तीव्रता से बद्धजीव माया के राज्य से विमुख होकर कृष्ण के पवित्र नाम की शरण ग्रहण करते हैं। पूर्ण समर्पण की यह दशा *परमाम् शान्तिम्* कहलाती है।

श्रील मध्वाचार्य ने *स्वाभाव्य* नामक ग्रंथ से इस आशय का एक उद्धरण दिया है कि परम्परा-प्राप्त प्रामाणिक गुरु अपने शिष्यों की मनोवृत्ति तथा क्षमताओं को समझ सकता है और उनको उपयुक्त पूजा-विधि में लगा सकता है। इस तरह गुरु अपने शिष्यों के मार्ग के सारे अवरोधों को दूर कर देता है। सामान्य नियम यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने वर्तमान युग में प्रकट होने वाले भगवान् के विशेष स्वरूप की पूजा करे। उसे भगवान् के उन अन्य रूपों से भी प्रेम और उनकी पूजा करनी चाहिए, जो अन्य युगों में प्रकट होते हैं। यह विशेष संस्तुति की जाती है कि समस्त प्रकार की सुरक्षा पाने के लिए नृसिंहदेव के नाम का कीर्तन किया जाय। इस्कॉन आन्दोलन में इन सारे आदेशों को व्यवहार में लाया जाता है। कृष्णभावनामृत समाज के अन्तर्गत सारे मनुष्यों, स्त्रियों तथा बच्चों को उनके स्वभाव के अनुसार भगवान् की पूजा में लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु के आदेशानुसार हम द्वापर युग में प्रकट हुए कृष्ण तथा बलराम की भी पूजा करते हैं, क्योंकि वे आदि भगवान् हैं। इसी तरह दशावतार स्तोत्र, *जय जगदीश हरे* का कीर्तन करके और *श्रीमद्भागवत* का पठन करके इस्कॉन के सदस्य भगवान् के समस्त स्वांशों की पूजा करते हैं। प्रत्येक आरति के पश्चात् इस आन्दोलन की रक्षा के लिए नृसिंहदेव की स्तुति की जाती है, जो मानव समाज के लिए अत्यावश्यक है।

कृतादिषु प्रजा राजन्कलाविच्छन्ति सम्भवम् ।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ।
क्वचित्क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः ॥ ३८ ॥
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ॥ ३९ ॥
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कृत-आदिषु—सत्ययुग तथा अन्य पूर्ववर्ती युगों के; प्रजाः—निवासी; राजन्—हे राजा; कलौ—कलियुग में; इच्छन्ति—इच्छा करते हैं; सम्भवम्—जन्म; कलौ—कलियुग में; खलु—निश्चय ही; भविष्यन्ति—होंगे; नारायण-परायणाः—भगवान् नारायण की सेवा में समर्पित लोग; क्वचित् क्वचित्—इधर-उधर; महा-राज—हे महान् राजा; द्रविडेषु—दक्षिण भारत के राज्यों में; च—लेकिन; भूरिशः—विशेष रूप से अधिक मात्रा में; ताम्रपर्णी—ताम्रपर्णी नामक; नदी—नदी; यत्र—जहाँ; कृतमाला—कृतमाला; पयस्विनी—पयस्विनी; कावेरी—कावेरी; च—तथा; महा-पुण्या—अत्यन्त पवित्र; प्रतीची—प्रतीची नामक; च—

तथा; महा-नदी—महानदी; ये—जो; पिबन्ति—पीते हैं; जलम्—जल; तासाम्—उनके; मनुजाः—मनुष्यगण; मनुज-ईश्वर—हे मनुष्यों के स्वामी (निमि); प्रायः—अधिकांशतः; भक्ताः—भक्तगण; भगवति—भगवान् के; वासुदेवे—वासुदेव में; अमल-आशयाः—विमल हृदय वाले।

हे राजन्, सत्ययुग तथा उसके पूर्व के अन्य युगों के निवासी इस कलियुग में जन्म लेने की तीव्र कामना करते हैं, क्योंकि इस युग में भगवान् नारायण के अनेक भक्त होंगे। ये भक्तगण विविध लोकों में प्रकट होंगे, किन्तु दक्षिण भारत में विशेष रूप से जन्म लेंगे। हे मनुष्यों के स्वामी, कलियुग में जो व्यक्ति द्रविड़ देश की पवित्र नदियों, यथा ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, अतीव पवित्र कावेरी तथा प्रतीची महानदी का जलपान करेंगे, वे सारे के सारे भगवान् वासुदेव के शुद्ध हृदय वाले भक्त होंगे।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड-भर में भूत, वर्तमान तथा भविष्य की जीवन-स्थितियों की जानकारी वेदों में मिलती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उदाहरणार्थ, यद्यपि इस समय भारत में वसन्त ऋतु है, किन्तु हमें पता है कि इसके बाद भीषण ग्रीष्म आयेगी, तत्पश्चात् वर्षाऋतु, शरद, शिशिर, हेमन्त और पुनः वसन्त ऋतु आयेगी। इसी तरह हम यह जानते हैं कि भूतकाल में ये ऋतुएँ आती-जाती रही हैं। जिस तरह सामान्य मानव-प्राणी पृथ्वी की भूत, वर्तमान तथा भावी ऋतुओं को समझ सकते हैं, उसी तरह वैदिक संस्कृति के मुक्त अनुयायी भी पृथ्वी तथा अन्य लोकों के भूत, वर्तमान तथा भावी ऋतु-चक्रों को समझते हैं। सत्ययुग के निवासी निश्चित रूप से कलियुग की दशाओं से परिचित रहते हैं। वे जानते हैं कि कलियुग में कठिन भौतिक स्थिति जीव को भगवान् की पूर्ण शरणागति के लिए बाध्य करती है और कलियुग के निवासी अपने में उच्च कोटि का भगवत्प्रेम उत्पन्न करते हैं। इसीलिए सत्ययुग के निवासी अन्य युगों की अपेक्षा अधिक पापरहित, सत्यनिष्ठ तथा आत्मसंयमी होते हुए भी शुद्ध कृष्ण-प्रेम का आस्वादन करने के लिए कलियुग में जन्म लेना चाहते हैं।

भगवान् के भक्तों की संगति किये बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् का उच्च भक्त नहीं बन सकता। चूँकि कलियुग में प्रतिकूल परिस्थिति के कारण अन्य वैदिक विधियाँ विफल हो जाती हैं और चूँकि भगवन्नाम कीर्तन की विधि ही हर एक के लिए एकमात्र उपलब्ध विधि बची रहती है, अतएव इस युग में असंख्य वैष्णव अथवा भगवद्भक्त होंगे। जो व्यक्ति भक्तों की संगति करने का इच्छुक रहता है, उसके लिए इस युग में जन्म लेना अत्यन्त अनुकूल होता है। निस्सन्देह कृष्णभावनामृत आन्दोलन

विश्व-भर में प्रामाणिक वैष्णव मन्दिरों की स्थापना कर रहा है, जिससे असंख्य क्षेत्रों के लोग शुद्ध वैष्णवों की संगति का लाभ उठा सकें।

भगवद्भक्तों की संगति केवल आत्मसंयमी, निष्पाप अथवा वैदिक पाण्डित्य में दक्ष व्यक्तियों की संगति से कहीं अधिक मूल्यवान है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (६.१४.५) में कहा गया है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायण:।

सुदुर्लभ: प्रसन्नात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

''हे साधु! करोड़ों मुक्तों तथा मुक्तिज्ञान में पूर्ण व्यक्तियों में शायद ही कोई एक व्यक्ति नारायण अथवा कृष्ण भक्त होता है। ऐसे भक्त जो पूर्णतया शान्त हों, अत्यन्त दुर्लभ हैं।'' इसी तरह *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.५४) में कहा गया है—

'साधु-संग', 'साधु-संग'—सर्वशास्त्रे कय।

लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

''सभी शास्त्रों का यही निर्णय है कि शुद्ध भक्त के साथ एक क्षण की भी संगति से सारी सफलता प्राप्त की जा सकती है।''

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में आगत *क्वचित् क्वचित्* शब्द यह सूचित करते हैं कि कलियुग में श्रीकृष्ण चैतन्य नदिया जिले के गौड़ देश में प्रकट होंगे और इसी केन्द्रबिन्दु से वे ईश-प्रेम की बाढ़ को धीरे धीरे विस्तारित करेंगे, जिससे सम्पूर्ण धरती आप्लावित हो उठेगी। अनेक भक्त यथा श्री अद्वैताचार्य भी गौड़ देश में जन्म लेंगे।

कृष्ण-कीर्तन कलियुग तक ही सीमित नहीं है। *विष्णु धर्म* में क्षत्रिय-पुत्र के पतन की कथा के प्रसंग में कहा गया है कि—

न देश नियमस्तत्र न काल नियमस्तथा।

नोच्छिष्टादौ निषेधश्च श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धक:॥

''न तो देश या काल का बन्धन है, न ही उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने की निषेधाज्ञा है, यदि कोई व्यक्ति श्री हरि के नाम का कीर्तन करने का लोभी हो जाय।'' इसी प्रकार *स्कन्द पुराण, विष्णु धर्म* एवं

पद्म पुराण के *वैशाख माहात्म्य* में कहा गया है— *चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्*—चक्रधारी भगवान् के नामों का सदैव एवं सर्वत्र कीर्तन करना चाहिए। इसी प्रकार *स्कन्द पुराण* में कहा गया है—

न देश कालावस्थात्मशुद्ध्यादिकम् अपेक्षते।

किन्तु स्वतन्त्रमेवैतं नाम कामितकामदम्॥

''भगवन्नाम का कीर्तन देश, काल, परिस्थिति, आत्मशुद्धि या किसी अन्य कारण से नहीं किया जाना चाहिए, प्रत्युत यह अन्य समस्त विधियों से पूर्णतया स्वतंत्र है और उन सबको इच्छित फल देने वाला है, जो उत्सुकतापूर्वक इसका उच्चारण करते हैं।'' इसी प्रकार *विष्णु धर्म* में कहा गया है—

कलौ कृतयुगं तस्य कलिस्तस्य कृते युगे।

यस्य चेतसि गोविन्दो हृदये यस्य नाच्युतः॥

''जिसके हृदय में भगवान् गोविन्द होते हैं, उसके लिए कलियुग में सत्ययुग प्रकट हो जाता है, किन्तु जिसके हृदय में अच्युत भगवान् नहीं होते उसके लिए सत्ययुग भी कलियुग बन जाता है।'' कृष्ण-नाम सर्वत्र, सदैव तथा सभी परिस्थितियों में शक्तिशाली होता है, इसलिए मनुष्य को सदा ही भगवन्नाम का कीर्तन करना चाहिए, चाहे वह कलियुग हो या सत्ययुग, स्वर्ग हो या नरक या वैकुण्ठ-लोक। कृष्णन्नाम कृष्ण से अभिन्न है और कृष्ण शाश्वत भगवान् हैं। इस तरह इसी युग में पवित्र नाम शक्तिशाली हो, क्योंकि अन्य विधियाँ प्रभावशाली नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है।

श्री विष्णु पुराण में यह भी कहा गया है कि भगवन्नाम का कीर्तन करना भगवान् को ध्यान द्वारा स्मरण करने के प्रयास की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। *श्रीमद्भागवत* (२.१.११) में शुकदेव गोस्वामी ने कहा है—

एतन्निर्विद्यमानानाम् इच्छतामकुतोभयम्।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

''हे राजन्! महापुरुषों का अनुसरण करते हुए भगवन्नाम का कीर्तन सबों के लिए सफलता का संशयरहित तथा भयरहित मार्ग है, जिसमें समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित, समस्त भौतिक-भोगों के इच्छुक तथा दिव्य ज्ञान से आत्मतुष्ट रहने वाले सभी सम्मिलित हैं।'' *भागवतम्* के इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील प्रभुपाद ने लिखा है, ''श्री शुकदेव गोस्वामी के अनुसार, सफलता प्राप्त करने का

यह मार्ग एक सुस्थापित यथार्थ है, जिस पर अकेले वे ही नहीं, अपितु अन्य पूर्ववर्ती आचार्य भी पहुँचे हैं। इसलिए और अधिक साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है।'' पाठक को भगवन्नाम कीर्तन तथा ऐसे कीर्तन के समय अपराधों से बचे रहने के विषय में जानने के लिए, प्रभुपाद द्वारा दिये गये इस श्लोक के तात्पर्य को पढ़ना चाहिए।

वैष्णवचिन्तामणि में निम्नलिखित कथन है—

अघच्छित् स्मरणं विष्णोर्बह्वआयासेन साध्यते।

ओष्ठस्पन्दनमात्रेण कीर्तनं तु ततो वरम्॥

''यद्यपि भगवान् विष्णु का स्मरण सभी पापों को नष्ट करने में समर्थ है, किन्तु यह असाधारण प्रयास के बाद ही सम्पन्न हो पाता है। दूसरी ओर, मात्र होंठ हिलाकर कृष्ण-कीर्तन किया जा सकता है और इस तरह यह विधि श्रेष्ठ है।'' श्रील जीव गोस्वामी ने निम्नलिखित श्लोक को भी उद्धृत किया है—

येन जन्मशतै पूर्वं वासुदेवः समार्चितः।

तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत॥

''हे भरतवंशी! जिसने पहले वासुदेव की पूजा सैकड़ों जीवनकाल में पूर्णरूपेण की है, उसके मुख में भगवान् विष्णु के नाम सदैव उच्चरित होते रहते हैं।'' यही भाव *श्रीमद्भागवत* (३.३३.७) में श्रीमती देवहूति द्वारा अपने पुत्र कपिल से कहे गये, वचनों में व्यक्त हुआ है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्

यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या

ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

''ओह! कितने धन्य है वे, जिनकी जीभों पर आपका पवित्र नाम रहता है। ऐसे लोग चांडालों के परिवारों में उत्पन्न होकर भी पूज्य हैं। जो लोग आपके नाम का उच्चारण करते हैं, उन्होंने सभी प्रकार के तप तथा अग्नि यज्ञ किये होंगे और आर्यों के उत्तम आचरणों को प्राप्त किया होगा। आपका पवित्र

नाम उच्चारण करते रहने के लिए, उन्होंने तीर्थस्थानों में स्नान किया होगा, वेदों का अध्ययन किया होगा और जो भी उचित रहा होगा, उसे पूरा किया होगा।''

इसलिए श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सभी युगों में कीर्तन करना समान रूप से सम्भव है। फिर भी कलियुग में भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से जीवों को पवित्र नाम लेने के लिए प्रेरित करते हैं। इस तरह भक्तिविनोद ठाकुर ने भगवान् के निम्नलिखित कथन को उद्धृत किया है—

एनेचि औषधि माया नाशिबार लागिऽ।

हरि-नाम महा-मन्त्र लाओ तुमि मागिऽ॥

''माया जादूगरिनी की गोद में सोने वाले मूर्ख बद्धजीवो! मैं तुम्हारे रोग को दूर करने की एक उत्तम दवा लाया हूँ। यह दवा *हरि-नाम* है। यह मेरा पवित्र नाम है और इस दवा के खाने से तुम्हें जीवन में सारी सिद्धि मिल सकेगी। इसलिए मेरा अनुरोध है कि इस दवा को ग्रहण करो, जो मैं तुम्हारे लिए स्वयं लाया हूँ।''

इस अध्याय के श्लोक ३२ में कहा गया था—*यज्ञै सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।* श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *सङ्कीर्तनप्रायै,* जिसका अर्थ ''मुख्यतः संकीर्तन द्वारा'' है, शब्दों से यह इंगित होता है कि यद्यपि कलियुग में अर्चाविग्रह पूजा जैसी अन्य विधियाँ कुछ सीमा तक अपनाई जा सकती हैं, किन्तु इन्हें सफल बनाने के लिए भगवन्नाम कीर्तन से जोड़ा जाना चाहिए। जो व्यक्ति कृष्ण-अर्चाविग्रह की पूजा करता हो, उसे यह जानना चाहिए कि इस अर्चापूजा का मुख्य अंश भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन करना है। दूसरी ओर, जिस व्यक्ति ने ठीक से भगवन्नाम कीर्तन किया है, उसे अन्य विधियों पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती, जैसाकि इस सुप्रसिद्ध मंत्र में कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

''इस कलियुग में आध्यात्मिक उन्नति के लिए भगवान् के पवित्र नाम के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है, नहीं है, नहीं है।'' (बृहन्नारदीय पुराण ३८.१२६) जैसाकि इन सारे साक्ष्यों से सिद्ध होता है, *भागवत* का यह कथन (*कलिं सभाजयन्त्यार्याः*) कि कलियुग में भगवान् द्वारा सुविधाएँ प्रदान करने के कारण ही आर्यगण पूजा करते हैं, तनिक भी विरुद्ध नहीं है।

इस अध्याय के ४०वें श्लोक के अन्त में कहा गया है *प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः*—सामान्य रूप से जो लोग दक्षिण भारत की पवित्र नदियों के जल का नियमित पान कर पाते हैं, वे भगवान् वासुदेव के शुद्ध हृदय वाले भक्त होंगे। *प्रायः* अर्थात् ''सामान्यतः'' सूचित करता है कि जो लोग भगवान् के भक्तों का अपमान करते हैं, वे भले ही अपने को भक्त कहें, किन्तु उनकी गणना *अमलाशयों* अर्थात् शुद्ध हृदय वालों में नहीं की जाती। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि लोगों को दक्षिण भारत के निवासियों की बाहरी दरिद्रता देखकर मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए। इस श्लोक में उल्लिखित स्थानों के लोग आज भी बहुत कम भोजन तथा वस्त्र से गुजारा करते हैं और भगवान् के महान् विरक्त भक्तों के रूप में रहते हैं। दूसरे शब्दों में, वस्त्रों से मनुष्य बड़ा नहीं बनता। अपने को खूब सजा-धजाकर परिष्कृत पशु की तरह जीवन बिताना और अच्छा भोजन करके जीभ को धन्य करना, उच्च अध्यात्मवादी का असली लक्षण नहीं है। यद्यपि दक्षिण भारत के लोग सामान्यतया श्री वैष्णव हैं अथवा लक्ष्मी सम्प्रदाय के भक्त हैं, किन्तु चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी उन्हें भगवद्भक्त मानते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इन लोगों के तपस्वी जीवन को सुयोग्यता मानना चाहिए, अयोग्यता नहीं।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

देव—देवताओं के; ऋषि—ऋषियों के; भूत—सामान्य जीवों के; आप्त—मित्रों तथा सम्बन्धियों के; नृणाम्—सामान्य लोगों के; पितृणाम्—पूर्वजों के; न—नहीं; किङ्करः—सेवक; न—न तो; अयम्—यह; ऋणी—कर्जदार; च—भी; राजन्—हे राजा; सर्व-आत्मना—अपने पूरे मन से; यः—जो व्यक्ति; शरणम्—शरण; शरण्यम्—सबों को शरण देने वाला, भगवान्; गतः—पास आया हुआ; मुकुन्दम्—मुकुन्द को; परिहृत्य—त्याग कर; कर्तम्—कर्तव्य।

हे राजन्, जिस व्यक्ति ने सारे भौतिक कार्यों को त्याग कर उन मुकुन्द के चरणकमलों में पूरी तरह शरण ले रखी है, जो सबों को आश्रय देते हैं, ऐसा व्यक्ति देवताओं, ऋषियों, सामान्य जीवों, सम्बन्धियों, मित्रों, मनुष्यों या दिवंगत हो चुके पितरों का ऋणी नहीं रहता। चूँकि इन सभी श्रेणियों के जीव भगवान् के ही भिन्नांश हैं, अतः जिसने भगवान् की सेवा में अपने को

समर्पित कर दिया है, उसे ऐसे व्यक्तियों की अलग से सेवा करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति ने भगवान् की भक्ति में अपने को पूरी तरह से समर्पित नहीं किया है, उसे निस्सन्देह अनेक भौतिक कार्य करने पड़ते हैं। प्रत्येक बद्धजीव को उन देवताओं से असंख्य लाभ प्राप्त होते रहते हैं, जो धूप तथा चाँदनी, वर्षा, वायु, भोजन तथा उसका शरीर तक प्रदान करने वाले हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है *स्तेन एव सः*—जो व्यक्ति देवताओं को बलि नहीं चढ़ाता वह *स्तेन* अर्थात् चोर है। इसी प्रकार अन्य जीव, यथा गौवें हमें असंख्य सुस्वादु तथा पौष्टिक भोजन सामग्री प्रदान करती हैं। प्रात:काल जब हम जागते हैं; पक्षियों के मधुर संगीत से हमारा मन ताजा हो उठता है और गर्म दिन में जंगल के वृक्षों की शीतल छाया तथा मंद वायु का हम आनन्द उठाते हैं। हम असंख्य जीवों की सेवा स्वीकार करते हैं और उन्हें प्रतिदान करने के लिए हम बाध्य हैं। *आप्त* का अर्थ है अपने परिवार के सदस्य, जिनके प्रति मनुष्य को सामान्य नैतिकता के अनुसार ऋणी होना पड़ता है तथा *नृणाम्* का अर्थ है मानव समाज। जब तक कोई व्यक्ति भगवान् का भक्त नहीं बन जाता, तब तक वह अपने समाज की ही उपज होता है। हम जिस समाज में रहते हैं, उसी से संसारी शिक्षा, संस्कृति, परम्परा तथा सुरक्षा प्राप्त करते हैं। वस्तुत: समाज के प्रति हमारा ऋण न केवल वर्तमान व्यवस्था के प्रति है, अपितु उन अपने सारे पूर्वजों तथा बाप-दादों के प्रति भी हम ऋणी हैं, जिन्होंने सावधानी से नैतिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों को बनाये रखा, जिससे उनके वंशज हम शान्तिमय जीवन बिता सकें। इसलिए *पितृणाम्* शब्द अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ियों के प्रति हमार ऊपर ऋण का सूचक है।

वस्तुत: कभी कभी भौतिकतावादी लोग कृष्णभावनामृत समाज के सदस्यों की आलोचना यह कह कर करते हैं कि वे उपर्युक्त ऋणों को न निभाकर कृष्ण पर अधिक ध्यान देते हैं। इसके उत्तर में *भागवत* का (४.३१.१४) कथन है—*यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।* यदि वृक्ष की जड़ों को सींचा जाय, तो सभी शाखाएँ, पत्तियाँ स्वयमेव ही *पोषित* होती रहती हैं। उन्हें अलग से सींचने की कोई आवश्यकता नहीं है, न ही इसका प्रभाव पड़ेगा। जल को जड़ों में ही डालना होगा। इसी तरह *प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणाम्*—भोजन को आमाशय में जाना चाहिए, जहाँ से वह शरीर के सभी अंगों में स्वत: वितरित होता है। सभी अंगों पर भोजन मल कर सारे शरीर को पोषित करना

मूर्खता होगी। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण सारे जगत के उद्गम हैं। हर वस्तु उनसे उद्भूत होती है, उन्हीं के द्वारा पालित होती है और अन्त में उन्हीं में विलीन हो जाएगी। भगवान् कृष्ण सारे जीवों के परम हितैषी, मित्र, रक्षक तथा शुभचिन्तक हैं। यदि वे प्रसन्न हो जाते हैं, तो सारा संसार अपने आप प्रसन्न हो उठता है, जिस तरह आमाशय में भोजन पहुँचने पर शरीर के सारे अंग बलवान् एवं पुष्ट हो जाते हैं।

यहाँ उस व्यक्ति का उदाहरण दिया जा सकता है, जो किसी बड़े राजा का निजी सचिव होने पर क्षुद्र राजाओं के प्रति किसी तरह ऋणी नहीं होता। सामान्य व्यक्ति के लिए इस भौतिक जगत में अनेक दयित्व हैं। किन्तु *भगवद्गीता* के अनुसार *मयैव विहितान् हि तान्*—वास्तव में परमेश्वर ही सारे वर देता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य को अपना शरीर अपने माता-पिता की कृपा से मिलता है। किन्तु कभी कभी किसी विशेष समय पर पुरुष या स्त्री नपुंसक या बाँझ हो सकते हैं। कभी कभी विकृत शिशु जन्म लेता है और कभी शिशु मृत पैदा होता है। कभी कभी संभोग करने पर भी संतति उत्पन्न ही नहीं होती। अतएव यद्यपि सारे ही माता-पिता सुन्दर तथा योग्य शिशु चाहते हैं, किन्तु प्राय: ऐसा नहीं हो पाता। अत: यह समझा जा सकता है कि अन्ततोगत्वा यह परमेश्वर की कृपा पर निर्भर करता है कि पुरुष तथा स्त्री संभोग द्वारा शिशु उत्पन्न कर पाते हैं। भगवान् की कृपा होने पर ही मनुष्य का वीर्य और स्त्री का रज उर्वर बनते हैं। इसी तरह भगवान् की ही दया से स्वस्थ शिशु उत्पन्न होता है और शारीरिक स्वस्थता प्राप्त करके अपना जीवन-निर्वाह करता है। यदि मानव-विकास की किसी भी अवस्था में भगवान् की कृपा न रहे, तो आकस्मिक मृत्यु या अपंगता हो सकती है।

देवता भी स्वतंत्र नहीं हैं। *परिहृत्य कर्तम्* अर्थात् ''अन्य कर्तव्यों को त्याग कर'' सूचित करता है कि ऐसी कोई भी धारणा त्यागनी होगी कि देवतागण कृष्ण से विलग हैं। वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया है कि देवतागण भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न अंग हैं। यही नहीं, *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् हर एक के हृदय में स्थित हैं और वे ही बुद्धि तथा स्मृति प्रदान करने वाले हैं। इस तरह हमारे पूर्वज, जिन्होंने सावधानी के साथ सांस्कृतिक परम्पराओं को सुरक्षित रखा है, परमेश्वर द्वारा प्रदत्त बुद्धि से कार्य करते रहे हैं। वे अपनी स्वतंत्र बुद्धि से कार्य नहीं कर रहे थे। कोई भी व्यक्ति मस्तिष्क के बिना बुद्धिमान नहीं हो सकता और यह तो कृष्ण की कृपा है कि हमें मनुष्य का मस्तिष्क मिला है। इसलिए यदि हम सावधानी के साथ विभिन्न श्रेणी के जीवों के प्रति अपने ऋणों का विश्लेषण करें, तो

हम पायेंगे कि अन्ततः भगवान् की दया से ही हमें जीवन में कोई वर प्राप्त होता है। इस तरह यद्यपि सामान्य व्यक्ति को उन लोगों को प्रसन्न करने के लिए, जिन्होंने उसे लाभ पहुँचाया है, विभिन्न प्रकार के त्यागों तथा दान-कार्यों द्वारा अपने ऋण चुकाने होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति सीधे भगवान् कृष्ण की सेवा करता है, वह ऐसे सारे ऋणों को तुरन्त चुकता कर देता है, क्योंकि सारे वर उसे परिवार, पूर्वजों, देवताओं इत्यादि के माध्यम से भगवान् से ही मिले होते हैं।

यहाँ पर एक उदाहरण दिया जा सकता है, जिसमें कभी कभी राज्य सरकार को केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये लाभांश को वितरित करना होता है। इस तरह जो व्यक्ति केन्द्रीय सरकार के मुख्य प्रशासक का निजी सचिव या मंत्री बन जाता है, उसे राज्य सरकार के कम महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधियों का ऋणी नहीं बनना होता। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (११.२०.९) में कहा गया है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।

मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

"जब तक मनुष्य भगवान् के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भक्ति के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं कर लेता और सकाम कर्म से तृप्त नहीं हो जाता, तब तक उसे वैदिक आदेशों के अनुसार कर्म करना पड़ता है।" निष्कर्ष यह निकला कि जिसने भगवान् की भक्ति में अपने को पूरी तरह समर्पित कर दिया है, वह उच्च कोटि का मनुष्य है।

सामान्यतया लोग देवताओं, पारिवारिकजनों तथा समाज से वर प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं, क्योंकि ऐसे वर भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के पोषक होते हैं। अल्पज्ञ तो ऐसी भौतिक उन्नति को ही जीवन-लक्ष्य मान बैठते हैं, अतएव शुद्ध भगवद्भक्ति का उच्च पद उनकी समझ में नहीं आता। *भक्तियोग* भगवान् की इन्द्रियों को प्रसन्न करने के निमित्त है। ईर्ष्यालु भौतिकतावादी लोग अनेक प्रकार के तर्क देकर इसका निषेध करते हैं कि भगवान् के दिव्य इन्द्रियाँ भी हैं। किन्तु भक्तगण भगवान् के अचिन्त्य सौन्दर्य, बल, वैभव तथा रमणीयता के बारे में किसी प्रकार का सन्देह करके समय नष्ट नहीं करते, अपितु प्रेमाभक्ति द्वारा उनकी इन्द्रियों को प्रसन्न करते हैं और इस तरह भगवद्धाम वापस जाने का परम वर प्राप्त करते हैं। भक्तगण भगवद्धाम वापस जाते हैं, जहाँ का जीवन सच्चिदानन्द स्वरूप है। कोई देवता, पारिवारिकजन अथवा पूर्वज किसी को सच्चिदानन्द स्वरूप जीवन प्रदान नहीं कर सकता।

किन्तु यदि कोई मूर्खतावश भगवान् के चरणकमलों की उपेक्षा करके नश्वर भौतिक शरीर को ही सबकुछ मान बैठता है, तो ऊपर कहे गये ऋणों से उऋण होने के लिए उसे महान् यज्ञ, तप तथा दान करने पड़ते हैं। अन्यथा वह भौतिक दृष्टिकोण से भी पूर्णत: पापी तथा निन्दनीय बन जाता है।

स्वपादमूलम्भजत: प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरि: परेश: ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट: ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

स्व-पाद-मूलम्—भक्तों के शरण, कृष्ण के चरणकमल; भजत:—पूजा में लगा हुआ; प्रियस्य—कृष्ण को अत्यन्त प्रिय; त्यक्त—त्यागा हुआ; अन्य—दूसरों के लिए; भावस्य—स्वभाव वाले का; हरि:—भगवान्; पर-ईश:—भगवान्; विकर्म—पापकर्म; यत्—जो भी; च—तथा; उत्पतितम्—घटित; कथञ्चित्—जैसे-तैसे; धुनोति—हटाता है; सर्वम्—समस्त; हृदि—हृदय में; सन्निविष्ट:—प्रविष्ट।

जिस मनुष्य ने अन्य सारे कार्यकलापों को त्याग कर भगवान् हरि के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण कर ली है, वह भगवान् को अत्यन्त प्रिय है। निस्संदेह यदि ऐसा शरणागत जीव संयोगवश कोई पापकर्म कर भी बैठे है, तो प्रत्येक हृदय के भीतर स्थित भगवान्, तुरन्त ही ऐसे पाप के फल को समाप्त कर देते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के पूर्ण-शरणागत भक्त को सामान्य सांसारिक कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। अब इस श्लोक में यह प्रकट किया गया है कि भक्ति इतनी शुद्ध तथा शक्तिशाली होती है कि भगवद्भक्त को किसी अन्य प्रकार की शुद्धि नहीं करनी होती। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के छठे स्कंध में कहा गया है, शरणागत भक्त से सहसा पापकर्म हो जाने पर *प्रायश्चित्त* करने की आवश्यकता नहीं होती। चूँकि भक्ति स्वयं ही अत्यन्त शुद्धिकारी है, अतएव संयोगवश मार्ग से च्युत हुए भक्त को तुरन्त ही भगवान् के चरणकमलों की भक्ति पुन: चालू कर देनी चाहिए। इस तरह भगवान् उसको बचायेंगे, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३०) में कहा गया है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स: ॥

प्रस्तुत श्लोक में *त्यक्तान्यभावस्य* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है शुद्ध भक्त जानता रहता है कि ब्रह्मा तथा शिव समेत सारे जीव भगवान् के भिन्नांश हैं, अतएव उनका

कोई पृथक् या स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। यह अनुभव करते हुए कि प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक जीव भगवान् का भिन्नांश है, भक्त ईश्वर के आदेश का अतिक्रमण करके पापकर्म करने के प्रति उन्मुख नहीं होता। किन्तु भौतिक प्रकृति के प्रबल प्रभाव के कारण निष्ठावान भक्त भी क्षण-भर के लिए मोहग्रस्त हो सकता है और शुद्ध भक्ति के मार्ग से विचलित हो सकता है। ऐसी अवस्था में भगवान् कृष्ण स्वयं ही हृदय के भीतर से कार्य करते हुए ऐसे पापकर्मों को दूर कर देते हैं। यहाँ तक कि यमराज भी ऐसे शरणागत भक्त को, जिसने संयोगवश कोई पापकर्म किया हो दण्ड नहीं दे सकता। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है कृष्ण *परेश* हैं, अत: देवता जैसे गौण स्वामी भगवान् के निजी भक्तों को डरा-धमका नहीं सकते। अजामिल अपनी युवावस्था में भगवान् की सेवा में लगा रहने वाला पवित्र ब्राह्मण था। तत्पश्चात्, वेश्या की कुसंगति से वह संसार का अत्यन्त अधम व्यक्ति बन गया। उसके जीवन के अन्त समय मैं यमराज ने अपने दूतों को पापी अजामिल की आत्मा को घसीट लाने के लिए भेजा, किन्तु भगवान् ने तुरन्त ही अजामिल को बचाने तथा यमराज को यह दिखाने के लिए कि कोई भी गौण व्यक्ति भगवान् के निजी भक्तों को सता नहीं सकता, तुरन्त ही अपने निजी दूतों को भेजा। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*।

यह तर्क किया जा सकता है कि *स्मृति-शास्त्र* का तो कहना है—*श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे*—वैदिक शास्त्र भगवान् के प्रत्यक्ष आदेश हैं। इसलिए यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् को यह कैसे सहन हो सकता है कि यदा-कदा उनके आदेशों की उपेक्षा उनके भक्त भी करें? इस आक्षेप का उत्तर देने के लिए ही इस श्लोक में *प्रियस्य* शब्द का प्रयोग हुआ है। भगवान् के भक्त भगवान् को अत्यन्त प्रिय होते हैं। यद्यपि प्यारा शिशु संयोगवश कोई निन्दनीय कार्य कर सकता है, किन्तु प्रेमी पिता उस शिशु के वास्तविक मनोभावों को ध्यान में रखते हुए, उसे क्षमा कर देता है। इस तरह भगवद्भक्त कभी अपने भावी कष्ट को दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना नहीं करता, किन्तु भगवान् अपनी ओर से भक्त के आकस्मिक पतन के फल से उसे मुक्त कर देते हैं।

अपने भक्त पर भगवान् की यह अहैतुकी कृपा उनका *परमैश्वर्यम्* है। श्रद्धावान् भक्त क्रमश: आकस्मिक पतन से भी मुक्त हो जाता है, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों के स्मरण मात्र से उसका हृदय शुद्ध हो जाता है, भगवान् की वास्तविक भक्ति का तो कहना ही क्या? यद्यपि भगवान् के

शरणागत भक्त कभी कभी भौतिक प्रवृत्तियों से प्रभावित प्रतीत होते हैं, किन्तु कृपालु ईश्वर उनकी सदैव रक्षा करते हैं और जीवन में उनकी कभी पराजय नहीं होती।

श्रीनारद उवाच
धर्मान्भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः ।
जायन्तेयान्मुनीन्प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; धर्मान् भागवतान्—भगवान् की भक्ति का विज्ञान; इत्थम्—इस प्रकार से; श्रुत्वा—सुन कर; अथ—तब; मिथिला-ईश्वरः—मिथिला राज्य के स्वामी, राजा निमि ने; जायन्तेयान्—जयन्ती के पुत्रों को; मुनीन्—मुनियों को; प्रीतः—प्रसन्न होकर; स-उपाध्यायः—पुरोहितों सहित; हि—निस्सन्देह; अपूजयत्—पूजा की।

नारद मुनि ने कहा : इस तरह भक्तियोग की बातें सुनकर मिथिला के राजा निमि अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और अपने यज्ञ-पुरोहितों सहित जयन्ती के मेधावी पुत्रों का सत्कार किया।

तात्पर्य : *जायन्तेयान* नव-योगेन्द्रों का द्योतक है, जो ऋषभदेव की पत्नी जयन्ती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः ।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अन्तर्दधिरे—अन्तर्धान हो गये; सिद्धाः—कवि इत्यादि मुनिगण; सर्व-लोकस्य—वहाँ पर उपस्थित सबों के; पश्यतः—देखते देखते; राजा—राजा; धर्मान्—आध्यात्मिक जीवन के इन नियमों को; उपातिष्ठन्—श्रद्धापूर्वक पालन करते हुए; अवाप—प्राप्त किया; परमाम्—परम; गतिम्—लक्ष्य।

तब वे सिद्ध मुनिगण वहाँ पर उपस्थित सबों की आँखों के सामने से अदृश्य हो गये। राजा निमि ने उनसे सीखे गये आध्यात्मिक जीवन के नियमों का श्रद्धापूर्वक अभ्यास किया और इस तरह जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त किया।

त्वमप्येतान्महाभाग धर्मान्भागवतान्श्रुतान् ।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम (वसुदेव); अपि—भी; एतान्—इन; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; धर्मान्—नियमों को; भागवतान्—भक्ति के; श्रुतान्—सुने हुए; आस्थितः—को प्राप्त; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; युक्तः—समन्वित; निःसङ्गः—भौतिक संगति से मुक्त; यास्यसे—जाओगे; परम्—परम को।

हे परम भाग्यशाली वसुदेव, आपने भक्ति के जिन नियमों को सुना है, उनका श्रद्धापूर्वक व्यवहार करें और इस तरह भौतिक संगति से छूट कर, आप परम पुरुष को प्राप्त होंगे।

तात्पर्य : नारद मुनि ने कृष्ण को पिता वसुदेव से राजा निमि के ज्ञान प्राप्त करने की पूरी कथा कही। अब नारद मुनि यह रहस्योद्घाटन करते हैं कि स्वयं वसुदेव भी नौ योगेन्द्रों द्वारा बहुत समय पहले बताये गये उन्हीं सिद्धान्तों का अभ्यास करने पर परम सिद्धि प्राप्त कर सकेंगे। वस्तुत: वसुदेव पहले से ही भगवान् के निजी संगी थे, किन्तु महाभागवत के रूप में अपनी सहज विनयशीलता के कारण उन्होंने कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को परिपूर्ण बनाने का निश्चय किया था। इस तरह हम भगवान् के माता-पिता के उच्च पद को समझ सकते हैं।

सामान्य लोग अनुभव करते हैं कि भगवान् की पूजा सदैव परम पिता के रूप में की जाती है, जो जीवों को हर वस्तु प्रदान करता है। ऐसा मनोभाव भगवत्प्रेम की सिद्धि नहीं है, क्योंकि जब पुत्र छोटा होता है, तो वह अपने माता-पिता की अधिक सेवा नहीं कर पाता। जब बालक छोटा रहता है, तो माता-पिता ही उसकी निरन्तर सेवा करते हैं। अतएव जब कोई भक्त कृष्ण के माता या पिता की भूमिका निभाता है, तो उस भगवान् की, जिसे कोई भक्त भाव में आकर अपने पुत्र-रूप में स्वीकार करता है, सेवा करने का असीम अवसर प्राप्त होता है। यह तो वसुदेव का सौभाग्य था कि नारद मुनि ने स्वयं ही राजा निमि को बहुत काल पूर्व नवयोगेन्द्रों द्वारा दी गई अद्भुत शिक्षाएँ, उनके समक्ष प्रस्तुत कीं।

युवयो: खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत् ।
पुत्रतामगमद्यद्वां भगवानीश्वरो हरि: ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

युवयो:—तुम दोनों के; खलु—निस्सन्देह; दम्-पत्यो:—पति-पत्नी के; यशसा—यश से; पूरितम्—पूर्ण हो गयी है; जगत्—पृथ्वी; पुत्रताम्—पुत्र का स्थान; अगमत्—धारण की हुई; यत्—क्योंकि; वाम्—तुम्हारा; भगवान्—भगवान्; ईश्वर:—परमेश्वर; हरि:—हरि।

निस्सन्देह, सारा संसार आप तथा आपकी पत्नी के यश से भरा-पुरा हो चुका है, क्योंकि भगवान् हरि ने आपके पुत्र का स्थान अपनाया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि *यशसा पूरितं जगत्* कह कर कृष्ण तथा बलराम के माता-पिता वसुदेव-देवकी के यश की ओर संकेत करते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि वसुदेव ने नारद से आध्यात्मिक

प्रगति के विषय में पूछा था, किन्तु नारद मुनि यहाँ पर बतलाते हैं, "आप पहले से पूर्ण यशस्वी हैं, क्योंकि आप भगवान् के प्रति असाधारण भक्ति रखते हैं।"

दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः ।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

दर्शन—देखने से; आलिङ्गन—आलिंगन करने से; आलापैः—तथा बातें करने से; शयन—सोने में; आसन—बैठने; भोजनैः—तथा भोजन करने से; आत्मा—हृदय; वाम्—तुम दोनों के; पावितः—शुद्ध हो चुके हैं; कृष्णे—भगवान् कृष्ण के लिए; पुत्र-स्नेहम्—पुत्र के प्रति स्नेह; प्रकुर्वतोः—प्रकट करने वाले।

हे वसुदेव, आप तथा आपकी उत्तम पत्नी देवकी ने कृष्ण को अपने पुत्र रूप में स्वीकार करके उनके प्रति महान् दिव्य प्रेम दर्शाया है। निस्सन्देह आप दोनों भगवान् का सदैव दर्शन तथा आलिंगन करते रहे हैं, उनसे बातें करते रहे हैं, उनके साथ विश्राम करते तथा उठते-बैठते तथा उनके साथ अपना भोजन करते रहे हैं। भगवान् के साथ ऐसे स्नेहपूर्ण तथा घनिष्ठ संग से आप दोनों ने अपने हृदयों को पूरी तरह शुद्ध बना लिया है। दूसरे शब्दों में, आप दोनों पहले से पूर्ण हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आत्मा वां पावितः* शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। सामान्य बद्धजीवों को भक्तियोग के विधानों का अभ्यास करके तथा यह सीखकर कि भगवान् की सेवा में अपने सारे कर्मों को किस तरह अर्पित किया जाता है, अपने शरीर को शुद्ध करना पड़ता है। किन्तु जो महापुरुष भगवान् की सेवा उनके माता-पिता, सखा, सखी, सलाहकार, पुत्र इत्यादि के रूप में करते हैं, उन पर यह नियामक क्रमिक विधि लागू नहीं की जा सकती। कृष्ण के प्रति अपने पुत्र रूप में वसुदेव तथा देवकी के गहन प्रेम के कारण उन्होंने पहले ही जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त कर ली थी। यद्यपि पिछले श्लोक में नारद मुनि ने वसुदेव को सूचित किया था कि वे तथा उनकी पत्नी कृष्ण को पुत्र रूप में जन्म देने से यशस्वी बन चुके हैं, किन्तु वसुदेव यह तर्क कर सकते थे कि भगवान् के अन्य निजी संगी, यथा जय तथा विजय ब्राह्मण वर्ग का अपमान करने के कारण नीचे गिर गए थे। इसीलिए नारद ने इस श्लोक में *पावितः* शब्द का प्रयोग किया है, "आप पूर्णतया शुद्ध हैं अतएव कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम होने से अपनी भक्ति में रंचमात्र भी त्रुटि से पूर्णतया मुक्त हैं।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका से यह जाना जाता है कि कृष्ण के लीला-पिता श्री वसुदेव वास्तव में भगवान् के *नित्य-सिद्ध* संगी हैं। वसुदेव का शरीर कृष्ण की ही तरह आध्यात्मिक है और वे अपने सुन्दर पुत्र श्रीकृष्ण की सेवा करने के लिए भावमग्न रहते हैं। किन्तु नारद यह जान गये कि वसुदेव अतीव विनयशीलता के कारण अपने को सामान्य व्यक्ति मान रहे हैं और भगवद्भक्ति के विषय में दिव्य उपदेश सुनने के लिए उत्सुक हैं। वसुदेव की भावमयी विनयशीलता को स्वीकार करते हुए एवं उन्हें चिन्तामुक्त करने के लिए श्री नारद ने उन्हें *भक्तियोग* के विषय में, वैसे ही उपदेश दिये, जैसे कि किसी सामान्य व्यक्ति को दिये जाते हैं। किन्तु साथ ही नारद ने यह स्पष्ट कर दिया कि श्री वसुदेव तथा देवकी पहले से यशस्वी हैं, क्योंकि सौभाग्य से उन्हें कृष्ण तथा बलराम जैसे पुत्र प्राप्त हैं। इसीलिए वसुदेव से नारद कह रहे हैं, "हे वसुदेव! आप अपने पद के बारे में किसी तरह भी निरुत्साहित या सशंक मत होएँ। निस्सन्देह, आप शीघ्र ही भगवद्धाम जाने वाले हैं। वस्तुतः आप तथा आपकी पत्नी सर्वाधिक भाग्यशाली हैं।"

निष्कर्ष यह है कि हर एक को अपना सुसुप्त कृष्ण-प्रेम जागृत करके भाग्यशाली बनना चाहिए। ऐसे अनेक भयानक असुरों ने, जिन्होंने कृष्ण का विरोध किया, उनकी संगति से अंततः सुखमय जीवन प्राप्त किया। अतएव, जो भक्त रात-दिन कृष्ण को ही प्रसन्न करने की सोचते रहते हैं, उन्हें परमानन्द की प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं है।

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

वैरेण—ईर्ष्या से; यम्—जिस (कृष्ण) को; नृ-पतयः—राजागण; शिशुपाल-पौण्ड्र-शाल्व-आदयः—शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व इत्यादि की तरह.; गति—उनकी गतिविधियों; विलास—क्रीड़ा; विलोकन—चितवन; आद्यैः—इत्यादि से; ध्यायन्तः—ध्यान करते हुए; आकृत—स्थिर; धियः—जिनके मन; शयन—सोते; आसन-आदौ—बैठते इत्यादि में; तत्-साम्यम्—उन्हीं जैसा पद (वैकुण्ठ में स्थान); आपुः—प्राप्त किया; अनुरक्त-धियाम्—जिनके मन अनुकूल ढंग से अनुरक्त हैं; पुनः किम्—तुलना में और क्या कहा जाय।

शिशुपाल, पौण्ड्रक तथा शाल्व जैसे विरोधी राजा, भगवान् कृष्ण के विषय में निरन्तर सोचते रहते थे। सोते, बैठते या अन्य कार्य करते हुए भी वे भगवान् के चलने-फिरने, उनकी

क्रीड़ाओं, भक्तों पर उनकी प्रेमपूर्ण चितवन तथा उनके द्वारा प्रदर्शित अन्य आकर्षक स्वरूपों के विषय में ईर्ष्याभाव से ध्यान करते रहते थे। इस तरह कृष्ण में सदैव लीन रह कर, उन्होंने भगवान् के धाम में मुक्ति प्राप्त की। तो फिर उन लोगों को दिये जाने वाले वरों के विषय में क्या कहा जाय, जो अनुकूल प्रेमभाव से निरन्तर भगवान् कृष्ण पर ही अपने मन को एकाग्र रखते हैं?

तात्पर्य : इस जगत से भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होते समय वसुदेव यह सोचकर शोकसन्तप्त थे कि उन्होंने भगवान् की उपस्थिति का समुचित लाभ उठाकर अपने को पूर्णतया कृष्णभावनाभावित क्यों नहीं किया। किन्तु नारद मुनि ने श्री वसुदेव को आश्वस्त किया कि वसुदेव तथा उनकी पत्नी देवकी के यश का पूरे ब्रह्माण्ड में कीर्तन हो रहा है, क्योंकि देवता तक भगवान् के माता-पिता के उच्च पद की पूजा करते हैं। वसुदेव न केवल अपने आध्यात्मिक पद के लिए चिन्तित थे, अपितु यदुवंश के लिए भी शोकसंतप्त थे, जो नारद जैसे महान् ब्राह्मण के शाप से भ्रातृ-युद्ध में बुरी तरह से इस जगत से लुप्त होने जा रहा था। यद्यपि यदुवंश के सदस्य कृष्ण के निजी संगी थे, किन्तु उनका विनाश एक तरह से अशुभ था, इसलिए वसुदेव उनकी अन्तिम गति के विषय में चिन्तित थे। इसीलिए यहाँ पर नारद उन्हें आश्वस्त कर रहे हैं कि कृष्ण का विरोध करने वाले शिशुपाल, पौण्ड्रक तथा शाल्व जैसे असुरों को भगवद्धाम की प्राप्ति हुई, क्योंकि वे लोग कृष्ण के विषय में निरन्तर सोचते रहते थे। अतएव यदुवंश के सम्मानित सदस्यों के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो कृष्ण से अत्यधिक प्रेम करते थे (*अनुरक्तधियांपुन: किम्*)? इसी प्रकार *गरुड़ पुराण* में कहा गया है—

अज्ञानिन: सुरवरं समधिक्षिपन्तो

यं पापिनोऽपि शिशुपालसुयोधनाद्या:।

मुक्तिं गता: स्मरणमात्र विधूतपापा:

क: संशय: परमभक्तिमतां जनानाम्॥

"शिशुपाल तथा दुर्योधन जैसे मूर्ख पापी, जो कृष्ण को गाली देते थे, भगवान् कृष्ण का स्मरण करने मात्र से समस्त पापों से छूट गये। उनके मन किसी न किसी तरह कृष्ण में लीन रहते थे, फलत: उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। तो फिर उनकी गति के विषय में क्या संशय है, जो भगवद्भक्ति से सदैव अभिभूत रहते हैं?"

वसुदेव को भी उलझन मालूम हो रही थी, क्योंकि एक ओर वे इस तथ्य से अवगत थे कि कृष्ण भगवान् हैं और दूसरी ओर वे भगवान् को अपना प्रिय पुत्र मान रहे थे। पिता-पुत्र के सम्बन्ध में, कभी कभी पिता को चाहिए कि पुत्र को दण्ड दे और अनेक प्रकार से उस पर प्रतिबन्ध लगा दे। इस तरह वसुदेव ऐसा अनुभव कर रहे थे कि भगवान् कृष्ण को अपने पुत्र के रूप में प्रशिक्षित करने के प्रयास द्वारा, उन्होंने भगवान् का अपमान किया है। किन्तु भगवान् कृष्ण वास्तव में प्रसन्न होते हैं, जब शुद्ध भक्त उनके वात्सल्य-प्रेम में मग्न हो जाता है और उनकी देखरेख उसी तरह करता है, जिस तरह छोटे शिशु की उसके माता-पिता करते हैं। कृष्ण ऐसे भक्तों की प्रगाढ़ भक्तिमयी भावनाओं के बदले में उनके समक्ष एक बालक के रूप में प्रकट होते हैं, मानो उनके पुत्र हों।

जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख है, असुरगण कृष्ण को ईर्ष्याभाव से दंडित करते थे। तो भी ऐसे असुरों को कृष्ण में विचारमग्न रहने के कारण मोक्ष प्राप्त हुआ। अतएव वसुदेव की गति के विषय में क्या कहा जा सकता है, जिन्होंने वात्सल्य-प्रेमवश भगवान् को दण्डित किया? निष्कर्ष यह है कि भगवद्भक्तों को चाहिए कि वसुदेव-देवकी को सामान्य बद्धजीव न समझें। भगवान् कृष्ण के साथ उनका सम्बन्ध पूर्णतया वात्सल्य-रस के दिव्य स्तर पर है। इसका भौतिक जगत के वात्सल्य-प्रेम से कुछ लेना-देना नहीं है, क्योंकि माता-पिता अपनी सन्तान को भौतिक भोग की वस्तु मानते हैं, अतएव यह इन्द्रिय-तृप्ति रस पर आधारित होती है।

मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे ।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; अपत्य-बुद्धिम्—आपका पुत्र होने का विचार; अकृथाः—लादो; कृष्णे—कृष्ण पर; सर्व-आत्मनि—सबों के परमात्मा; ईश्वरे—ईश्वर; माया—अपनी मायाशक्ति द्वारा; मनुष्य-भावेन—सामान्य पुरुष की भाँति प्रकट होकर; गूढ-ऐश्वर्ये—अपने ऐश्वर्य को छिपाते हुए; परे—परम; अव्यये—अच्युत।

कृष्ण को सामान्य बालक मत समझिये, क्योंकि वे भगवान्, अव्यय तथा सबों के आत्मा हैं। भगवान् ने अपने अचिन्त्य ऐश्वर्य को छिपा रखा है, इसीलिए वे बाहर से सामान्य मनुष्य जैसे प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : परम सत्य के समस्त स्वांश अवतारों के मूल स्रोत श्रीकृष्ण हैं। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।* उनका असीम ऐश्वर्य अक्षय है और इस तरह वे समग्र सृष्टि को आसानी से अपने वश में कर लेते हैं।

भगवान् कृष्ण हर जीव के हितैषी हैं, अतएव वसुदव को अपने भावी गन्तव्य के विषय में न तो चिन्ता करने की कोई बात थी, न ही कृष्ण के अन्य संगियों यथा यदुकुल के सदस्यों की। इसी अध्याय के ४६वें श्लोक में नारद मुनि ने वसुदेव को बतलाया था—*पुत्रतामगमद् यद् वां भगवान् ईश्वरो हरिः*—"अब आप तथा आपकी पत्नी ब्रह्माण्ड-भर में प्रशंसित हो चुके हैं, क्योंकि साक्षात् भगवान् कृष्ण आपके पुत्र बने हैं।" इस तरह नारद ने वसुदेव को उत्साहित किया कि वे कृष्ण से अपने सर्वप्रिय पुत्र के रूप में प्रेम करते रहें, क्योंकि ऐसे भक्तिपूर्ण भावों को कभी भी त्यागना नहीं चाहिए। किन्तु इसी के साथ वसुदेव के भविष्य विषयक संशय को दूर करते हुए नारद आश्वस्त करते हैं "कृष्ण के प्रेम के कारण आप उन्हें सामान्य व्यक्ति मान सकते हैं। आप मनुष्य रूप में प्रकट हुए हैं और कृष्ण आपसे मात्र आदान-प्रदान कर रहे हैं। अपने को आपके पुत्र रूप में प्यार करते रहने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए वे अपने को आपके वश में किये हुए हैं। इस तरह उनकी अचिन्त्य शक्ति तथा ऐश्वर्य आपसे छिपे हुए हैं। किन्तु यह मत मान लीजिएगा कि इस जगत की घटनाओं के कारण कोई विकट स्थिति आ सकती है। यद्यपि कृष्ण आपके वश में प्रतीत होते हैं, किन्तु वे हैं परम नियन्ता। इसलिए उन्हें मनुष्य मत मानिये। वे तो सदैव भगवान् हैं।"

इस श्लोक का *माया* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण की मनुष्य जैसी क्रियाएँ सामान्य व्यक्ति को भ्रम में डालने वाली हैं, क्योंकि कृष्ण भगवान् हैं। *माया* का अन्य अर्थ "दिव्य शक्ति" भी है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*सम्भवाम्यात्ममायया*—भगवान् अपने दिव्य रूप में दिव्य शक्तियों से पूरित होकर अवतरित होते हैं। इस तरह *मायामनुष्यभावेन* शब्दों से कृष्ण का आदि स्वरूप सूचित होता है, जो इस जगत में मनुष्य जैसा लगता है। संस्कृत कोश के अनुसार माया "कृपा" का भी सूचक है, अतएव भगवान् के अवतार को बद्धजीवों पर उनकी अहैतुकी कृपा भी माना जाता है। भगवान् का अवतरण उन मुक्तात्माओं पर भी उनकी अहैतुकी कृपा है, जो भगवान् की लीलाओं तथा कीर्तन एवं श्रवण जैसे कार्यों में परमानन्द का अनुभव करते हैं (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*)।

अपने प्रति वसुदेव के प्रेम का प्रतिदान करने के उद्देश्य से कृष्ण अपने असीम ऐश्वर्य को गुप्त रखते हैं। इस तरह भक्त को भगवान् के साथ अपना विशेष प्रेम-सम्बन्ध बनाये रखने में प्रोत्साहन मिलता है। किन्तु जब वसुदेव ब्राह्मण-शाप से उत्पन्न भीषण स्थिति से चिन्तामग्न थे, तो नारद ने स्मरण

कराया कि ऐसी चिन्ता व्यर्थ है, क्योंकि ये सारी घटनाएँ भगवान् के अधीन हैं। अतएव वे वैष्णव *परमहंस,* जो भगवान् के माता-पिता के पद पर हैं, सदैव भगवान् की शरण में रहते हैं और भगवद्भक्ति से कभी विचलित नहीं होते। वे देहात्म बुद्धि वाले सामान्य माता-पिता से विपरीत सभी परिस्थितियों में दिव्य स्थिति में लीन रहे आते हैं।

भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम् ।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते ॥५०॥

शब्दार्थ

भू-भार—पृथ्वी के भारस्वरूप; असुर—असुर; राजन्य—राज-परिवार के सदस्य; हन्तवे—मारने के उद्देश्य से; गुप्तये—रक्षा के लिए; सताम्—सन्त-भक्तों की; अवितीर्णस्य—अवतार लेने वाले के; निर्वृत्यै—तथा मुक्ति प्रदान करने के लिए भी; यशः—यश; लोके—संसार-भर में; वितन्यते—फैल गया है।

भगवान् पृथ्वी के भारस्वरूप आसुरी राजाओं का वध करने तथा सन्त-भक्तों की रक्षा करने के लिए अवतरित हुए हैं। किन्तु असुर तथा भक्त दोनों ही को भगवत्कृपा से मुक्ति प्रदान की जाती है। इस तरह उनका दिव्य यश ब्रह्माण्ड-भर में फैल गया है।

तात्पर्य : यह सन्देह उठ सकता है कि भगवान् इस जगत में किस तरह अवतरित होते हैं। चूँकि वे करोड़ों ब्रह्माण्डों के सर्वशक्तिमान स्रष्टा हैं, तो फिर भक्तगण पूतना जैसी चुड़ैल का स्तन-पान करके उसके वध किये जाने जैसे कार्यकलापों को भगवान् का अद्‌भुत कार्य क्यों मानते हैं? यद्यपि ऐसे कार्य सामान्य मनुष्यों की परिधि के परे हैं, तो सर्वशक्तिमान भगवान् द्वारा सम्पन्न होने पर इन्हें अद्‌भुत क्यों माना जाता है? इसका उत्तर इस श्लोक में *निर्वृत्यै* शब्द द्वारा दिया गया है। भगवान् ने असुरों को इसलिए नहीं मारा, क्योंकि वे उनसे द्वेष रखते थे, अपितु उन्हें मोक्ष प्रदान करने के लिए ऐसा किया। इस तरह अपनी अचिन्त्य लीलाओं द्वारा भक्त तथा असुर दोनों ही को मोक्ष प्रदान करने की भगवान् की अहैतुकी कृपा भगवान् को मनुष्य या देवता से स्पष्टतः विभेदित करती है। कहा गया है—*मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः*—एकमात्र विष्णु ही जन्म-मृत्यु से परे मोक्ष के दाता हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने संकेत किया है कि सामान्य रूप से असुरों को ब्रह्मज्योति में निर्विशेष मुक्ति प्रदान की जाती है, जबकि भक्तों को वैकुण्ठ में भगवत् प्रेम का श्रेष्ठ वर दिया जाता है। इस तरह भगवान् सभी श्रेणी के जीवों पर अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करते हैं, जिससे ब्रह्माण्ड-भर में उनका यश फैलता है। चूँकि कृष्ण दिव्य हैं अतएव उनका यश उनके साकार अवतार से भिन्न नहीं है, अतः ज्यों

ज्यों भगवान् के यश का विस्तार होता है, त्यों त्यों सारा ब्रह्माण्ड क्रमशः मुक्त होता जाता है। भगवान् के ये कुछ अद्वितीय लक्षण हैं।

श्रीशुक उवाच
एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः ।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एतत्—यह; श्रुत्वा—सुनकर; महा-भागः—परम भाग्यशाली; वसुदेवः—राजा वसुदेव; अति-विस्मितः—अत्यन्त चकित; देवकी—माता देवकी; च—तथा; महा-भागा—परम भाग्यशालिनी; जहतुः—दोनों ने त्याग दिया; मोहम्—भ्रम; आत्मनः—अपना।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यह कथा सुनकर परम भाग्यशाली वसुदेव पूर्णतया आश्चर्यचकित हो गए। इस प्रकार उन्होंने तथा उनकी परम भाग्यशालिनी पत्नी देवकी ने उस भ्रम तथा चिन्ता को त्याग दिया, जो उनके हृदयों में घर कर चुके थे।

इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद्यः समाहितः ।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

इतिहासम्—ऐतिहासिक विवरण; इमम्—इसको; पुण्यम्—पवित्र; धारयेत्—ध्यान करता है; यः—जो; समाहितः—स्थिर चित्त से; सः—वह; विधूय—धोते हुए; इह—इसी जीवन में; शमलम्—कल्मष को; ब्रह्म-भूयाय—परम सिद्धि; कल्पते—प्राप्त करता है।

जो स्थिर चित्त होकर इस पवित्र ऐतिहासिक कथा का ध्यान करता है, वह इसी जीवन में अपने सारे कल्मष धोकर सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ‘‘नारद द्वारा वसुदेव को दी जाने वाली शिक्षाएँ समापन’’ नामक पाँचवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

यदुवंश का प्रभास गमन

इस अध्याय में बतलाया गया है कि किस तरह ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं ने श्रीकृष्ण की स्तुति करने के बाद उनसे अपने धाम लौट जाने के लिए अनुरोध किया और किस तरह भगवान् से वियोग

की पूर्व कल्पना करके उद्धव अत्यन्त दुखी हुए और कृष्ण से प्रार्थना करने लगे कि वह भी उनके साथ भगवद्धाम लौट जाना चाहता है।

श्रीकृष्ण को उनके सर्वमोहक मनुष्य रूप में देखने की इच्छा से सारे गन्धर्व, अप्सरा, नाग, ऋषि, पितरगण, विद्याधर, किन्नर एवं ब्रह्मा, शिव, इन्द्र इत्यादि अन्य देवता द्वारका नगरी आये। उन्होंने स्वर्ग के नन्दनकानन से चुने हुए फूलों की मालाएँ कृष्ण को पहनाते हुए उनकी दिव्य शक्ति तथा गुणों का बखान करते हुए, उनकी प्रशंसा की।

ब्रह्मा इत्यादि सारे जीव भगवान् श्रीकृष्ण के अधीन हैं। कृष्ण अपने अंश महाविष्णु को शक्ति प्रदान करके ब्रह्माण्ड का सृजन करते हैं। यद्यपि कृष्ण अपनी भौतिक शक्ति से इस संसार का सृजन, पालन और संहार करते हैं, किन्तु वे भौतिक शक्ति से परे रहते हैं और पूर्णतया आत्मतुष्ट रहते हैं। वे अपनी सोलह हजार रानियों के बीच में रहकर भी उद्विग्न नहीं होते।

सकाम यज्ञों के करने वाले तथा योगशक्ति के इच्छुक योगीजन अपने भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण के चरणकमलों का ध्यान करते हैं। किन्तु अत्यन्त बढ़े-चढ़े भक्तगण, जो भौतिक कर्म के बन्धन से मुक्ति की कामना करते हैं, भगवान् के चरणकमलों का प्रेमपूर्वक ध्यान करते हैं, क्योंकि वे चरणकमल अग्नि तुल्य हैं, जो समस्त इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छाओं को नष्ट करने वाली है। कोई व्यक्ति सामान्य पूजा, तप तथा ऐसी ही अन्य विधियों से मन को शुद्ध नहीं बना सकता। इन्द्रिय-तृप्ति द्वारा कलुषित मन को सतोगुण में प्रौढ़ विश्वास द्वारा ही शुद्ध किया जा सकता है, जो कि कृष्ण की महिमा के श्रवण से उत्पन्न होता है। इसलिए वर्णाश्रम प्रणाली में स्थित बुद्धिमान व्यक्ति दो प्रकार के तीर्थस्थलों की सेवा करते हैं—वे हैं कृष्ण-कथा की अमृतमयी नदियाँ तथा भगवान् के चरणकमलों से बहने वाली अमृतमयी नदियाँ।

कृष्ण ने यदुवंश में अवतार लेकर अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करके सारे ब्रह्माण्ड के लिए सर्वोच्च मंगलकारी कार्य किया। इन लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन मात्र से कलियुग में पवित्र व्यक्ति भौतिक मोह के सागर को अवश्यमेव पार कर लेते हैं। जब भगवान् ने अपने अवतार के प्रयोजन को पूरा कर लिया और यदुवंश ब्राह्मणों के शाप से आसन्न विनाश का सामना कर रहा था, तो भगवान् ने अपनी लीलाओं को समेट लेना चाहा। जब ब्रह्मा ने अपने तथा अन्य देवताओं के उद्धार हेतु भगवान्

कृष्ण के चरणकमलों में प्रार्थना की, तो उत्तर में कृष्ण ने यही कहा कि यदुवंश के विनाश के पश्चात्, वे अपने धाम लौट जायेंगे।

संसार के आसन्न संहार के सूचक भीषण उपद्रवों को देखकर कृष्ण ने यदुवंश के चतुर सदस्यों को बुलाकर, उन्हें ब्राह्मणों के शाप का स्मरण कराया। भगवान् ने उन्हें प्रभास-तीर्थ जाने के लिए राजी किया, जहाँ वे औपचारिक स्नान, दान इत्यादि सम्पन्न करके अपने को बचा सकेंगे। कृष्ण की इच्छा का पालन करते हुए यदुओं ने प्रभास की यात्रा करने के लिए तैयारी की।

यदुवंश के साथ कृष्ण की वार्ता को देख-सुनकर उद्धव एकान्त में श्रीकृष्ण से मिले, उन्हें पूर्ण नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर भगवान् के विछोह को सहन न कर पाने की अक्षमता व्यक्त की। उन्होंने उनसे याचना की कि वे उन्हें भी अपने धाम ले चलें।

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण की लीलाओं का अमृत-आस्वादन अपने कानों से कर लेता है, तो वह अन्य वस्तुओं के लिए लालायित नहीं रहता। जो व्यक्ति खाते, खेलते, सोते, बैठते कृष्ण की सेवा में लगातार लगे रहते हैं, वे कृष्ण का वियोग सहन नहीं कर पाते। वे श्रीकृष्ण के सभी प्रकार के जूठन का आदर करते हैं और इस तरह भगवान् की माया को जीत लेते हैं। संन्यास आश्रम के शान्ति-प्रिय सदस्य कठोर एवं कष्टप्रद तपस्या के बाद ही ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं, जबकि भगवद्भक्त कृष्ण की विभिन्न लीलाओं और उपदेशों की परस्पर चर्चा, कीर्तन तथा स्मरण करके अपने आप दुर्लंघ्य माया को पार कर जाते हैं।

श्रीशुक उवाच
अथ ब्रह्मात्मजैः देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात् ।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तब; ब्रह्मा—ब्रह्मा; आत्म-जैः—अपने पुत्रों (सनक इत्यादि) द्वारा; देवैः—देवताओं द्वारा; प्रजा-ईशैः—प्रजापतियों (मरीचि इत्यादि) द्वारा; आवृतः—घिरा हुआ; अभ्यगात्—(द्वारका) गये; भवः—शिवजी; च—भी; भूत—सारे जीवों को; भव्य-ईशः—कल्याणप्रदाता; ययौ—गये; भूत गणैः—भूत-प्रेतों के झुँड से; वृतः—घिरे।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : तब ब्रह्माजी अपने पुत्रों तथा देवताओं एवं महान् प्रजापतियों को साथ लेकर द्वारका के लिए रवाना हुए। सारे जीवों के कल्याणप्रदाता शिवजी भी अनेक भूत-प्रेतों से घिर कर द्वारका गये।

इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ ।
ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवता: ॥ २॥
गन्धर्वाप्सरसो नागा: सिद्धचारणगुह्यका: ।
ऋषय: पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नरा: ॥ ३॥
द्वारकामुपसञ्जग्मु: सर्वे कृष्णदिदृक्षव: ।
वपुषा येन भगवान्नरलोकमनोरम: ।
यशो वितेने लोकेषु सर्वलोकमलापहम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

इन्द्र:—इन्द्र; मरुद्भि:—वायु-देवों के साथ; भगवान्—शक्तिशाली नियन्ता; आदित्या:—बारह मुख्य देवता, जो कि अदिति के पुत्र हैं; वसव:—आठ वसु देवता; अश्विनौ—दो अश्विनी कुमार; ऋभव:—तथा ऋभुगण; अङ्गिरस:—अंगिरा मुनि के वंशज; रुद्रा:—शिवजी के अंश; विश्वे साध्या:—विश्वेदेवा तथा साध्य के नाम से विख्यात; च—भी; देवता:—अन्य देवता; गन्धर्व-अप्सरस:—स्वर्गलोक के गवैये तथा नर्तकियाँ; नागा:—दैवी सर्प; सिद्ध-चारण—सिद्धगण तथा चारणगण; गुह्यका:—तथा पिशाच; ऋषय:—ऋषिगण; पितर:—पूर्वज; च—भी; एव—निस्सन्देह; स—सहित; विद्याधर-किन्नरा:—विद्याधर तथा किन्नरगण; द्वारकाम्—द्वारका; उपसञ्जग्मु:—साथ पहुँचे; सर्वे—सभी; कृष्ण-दिदृक्षव:—कृष्ण को देखने के लिए उत्सुक; वपुषा—दिव्य शरीर से; येन—जो; भगवान्—भगवान्; नर-लोक—समस्त मानव समाज को; मन:-रम:—मोहने वाला; यश:—यश; वितेने—विस्तार किया; लोकेषु—सारे ब्रह्माण्ड-भर में; सर्व-लोक—सारे लोकों में; मल—अशुद्धियाँ; अपहम्—जो समूल नष्ट करती है।

कृष्ण का दर्शन करने की आशा से शक्तिशाली इन्द्र अपने साथ मरुतों, आदित्यों, वसुओं, अश्विनियों, ऋभुओं, अंगिराओं, रुद्रों, विश्वेदेवों, साध्यों, गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, सिद्धों, चारणों, गुह्यकों, महान् ऋषियों, पितरों तथा विद्याधरों एवं किन्नरों को लेकर द्वारका नगरी पहुँचे। कृष्ण ने अपने दिव्य स्वरूप द्वारा सारे मनुष्यों को मोह लिया और समस्त जगतों में अपनी महिमा फैला दी। भगवान् का यश ब्रह्माण्ड के भीतर समस्त कल्मष को नष्ट करने वाला है।

तात्पर्य : देवताओं की विराट व्यवस्था में हाथ बटाने के लिए भगवान् भौतिक जगत में अवतरित होते हैं। इसलिए देवतागण सामान्यतया भगवान् के उपेन्द्र जैसे रूपों को देख सकते हैं। किन्तु यहाँ यह इंगित किया गया है कि देवतागण यद्यपि भगवान् के विविध विष्णु-रूपों को देखने के अभ्यस्त थे, किन्तु वे भगवान् के सबसे सुन्दर कृष्ण स्वरूप को देखने के लिए विशेष रूप से उत्सुक थे। *देह-देहि-विभागश्च नेश्वरे विद्यते क्वचित्*—भगवान् तथा उनके निजी शरीर में कोई अन्तर नहीं है। जीवात्मा उनके शरीर से भिन्न है, किन्तु भगवान् का सुन्दर दिव्य रूप सभी प्रकार से भगवान् से अभिन्न है।

तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महर्द्धिभि: ।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षा: कृष्णमद्भुतदर्शनम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस (द्वारका) में; विभ्राजमानायाम्—सुशोभित; समृद्धायाम्—अत्यन्त धनी; महा-ऋद्धिभिः—महान् ऐश्वर्य से; व्यचक्षत—उन्होंने देखा; अवितृप्त—असन्तुष्ट; अक्षाः—नेत्रों वाले; कृष्णम्—कृष्ण को; अद्भुत-दर्शनम्—आश्चर्ययुक्त होकर देखना।.

समस्त प्रकार के श्रेष्ठ ऐश्वर्यों से समृद्ध उस द्वारका की सुशोभित नगरी में देवताओं ने श्रीकृष्ण के अद्‍भुत रूप को अतृप्त नेत्रों से देखा।

स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो युदूत्तमम् ।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्वर्ग-उद्यान—देवताओं के स्वर्गलोक के बगीचों से; उपगैः—प्राप्त किया गया; माल्यैः—फूल की मालाओं से; छादयन्तः—ढकते हुए; यदु-उत्तमम्—यदुश्रेष्ठ; गीर्भिः—वाणी से; चित्र—मोहक; पद-अर्थाभिः—जिससे युक्त शब्दों तथा विचारों से; तुष्टुवुः—प्रशंसा की; जगत्-ईश्वरम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी को।.

देवताओं ने समस्त ब्रह्माण्डों के परम स्वामी को स्वर्ग के उद्यानों से लाये गये फूलों के हारों से ढक दिया। तब उन्होंने यदुवंश शिरोमणि भगवान् की मोहक शब्दों तथा भावमय वचनों से प्रशंसा की।

श्रीदेवा ऊचुः

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैर्
मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; नताः स्म—हम नतमस्तक हैं; ते—तुम्हारे; नाथ—हे स्वामी; पद-अरविन्दम्—चरणकमलों को; बुद्धि—अपनी बुद्धि से; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—प्राण-वायु; मनः—मन; वचोभिः—तथा शब्दों से; यत्—जो; चिन्त्यते—चिन्तन किये जाते हैं; अन्तः हृदि—हृदय के भीतर; भाव-युक्तैः—योगाभ्यास में स्थिर चित्त वालों को; मुमुक्षुभिः—मुक्ति के लिए प्रयत्नशीलों के द्वारा; कर्म-मय—सकाम कर्म के फलों के; उरु-पाशात्—महान् बन्धन से।.

देवता कहने लगे : हे प्रभु, बड़े बड़े योगी कठिन कर्म-बन्धन से मुक्ति पाने का प्रयास करते हुए अपने हृदयों में आपके चरणकमलों का ध्यान अतीव भक्तिपूर्वक करते हैं। हम देवतागण अपनी बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण, मन तथा वाणी आपको समर्पित करते हुए, आपके चरणकमलों पर नत होते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक का *स्म* शब्द *विस्मय* का सूचक है। देवता इसलिए चकित थे, क्योंकि बड़े बड़े योगी अपने हृदयों के भीतर ही भगवान् के चरणकमलों का

चिन्तन कर पाते हैं, किन्तु द्वारका आने पर देवतागण अपने समक्ष भगवान् के सम्पूर्ण शरीर को देख सके। इसलिए शक्तिशाली देवताओं ने भगवान् को दण्डवत् प्रणाम किया। ऐसे दण्डवत् प्रणाम का वर्णन नीचे किया गया है—

दोर्भ्यां पदाभ्यां जानुभ्याम्

उरसा शिरसा दृशा।

मनसा वचसा चेति

प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥

"आठ अंगों से किये जाने वाले प्रणाम (साष्टाङ्ग प्रणाम) में दो बाहें, दो पाँव, दो घुटने, वक्षस्थल, सिर, आँखें, मन तथा वाक्शक्ति शामिल रहती हैं।"

भौतिक प्रकृति की धाराएँ अत्यन्त प्रबल हैं और इसलिए मनुष्य को चाहिए कि मजबूती से भगवान् के चरणकमलों से चिपक जाय। अन्यथा इन्द्रिय-तृप्ति एवं मानसिक चिन्तन की उग्र लहरें मनुष्य को उसकी स्वाभाविक स्थिति से, जो कि भगवान् के प्रेमी दास के रूप में है, दूर बहा ले जायेंगी और मनुष्य *उरु-पाशात्* जैसे कठोर बन्धन में गिर जायेगा।

त्वं मायया त्रिगुणयात्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै
यत्स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः ॥ ८॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; मायया—भौतिक शक्ति द्वारा; त्रि-गुणया—तीन गुणों से निर्मित; आत्मनि—अपने भीतर; दुर्विभाव्यम्—अचिन्त्य; व्यक्तम्—प्रकट जगत; सृजसि—उत्पन्न करते हो; अवसि—रक्षा करते हो; लुम्पसि—तथा संहार करते हो; तत्—उस प्रकृति का; गुण—गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के भीतर; स्थः—स्थित; न—नहीं; एतैः—इनके द्वारा; भवान्—आप; अजित—हे अजेय स्वामी; कर्मभिः—कर्मों से; अज्यते—फँस जाते हैं; वै—तनिक; यत्—क्योंकि; स्वे—अपने; सुखे—सुख में; अव्यवहिते—बिना किसी रोक के; अभिरतः—सदैव लीन रहते हो; अनवद्यः—दोषरहित प्रभु।

हे अजित प्रभुक, आप तीन गुणों से बनी अपनी मायाशक्ति को अपने ही भीतर अचिन्त्य व्यक्त जगत के सृजन, पालन तथा संहार में लगाते हैं। आप माया के परम नियन्ता के रूप में प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया में स्थित जान पड़ते हैं, किन्तु आप भौतिक कार्यों द्वारा कभी प्रभावित नहीं होते। आप अपने नित्य आध्यात्मिक आनन्द में ही लगे रहते हैं, अतएव आप पर किसी भौतिक संदूषण का दोषारोपण नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : यहाँ *दुर्विभाव्यम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। संसार के सृजन तथा संहार का अन्तिम कारण बड़े बड़े संसारी विज्ञानियों के लिए भी अचिन्त्य है, जो अपना जीवन व्यर्थ तथा निष्फल चिन्तन में बिताते हैं। फिर भी महाविष्णु, जो भगवान् कृष्ण के अंश के गौण अंश हैं, सारे ब्रह्माण्ड को तुच्छ परमाणु के समान देखते हैं। अत: जो मूर्ख तथाकथित वैज्ञानी, कृष्ण को अपनी हास्यास्पद प्रयोग-शक्ति द्वारा समझने का प्रयास करते हैं, उनसे क्या आशा की जा सकती है ? इसीलिए *अनवद्य* शब्द प्रयुक्त हुआ है। कोई भी व्यक्ति भगवान् के शरीर, चरित्र, कार्य या आदेशों में कोई त्रुटि या दोष नहीं निकाल सकता। भगवान् कभी भी भौतिकता से अनजान नहीं हैं इसलिए वे कभी भी क्रूरता, आलस्य, मूर्खता, अन्धता या भौतिक नशे का प्रदर्शन नहीं करते। इसी तरह चूँकि भगवान् कभी भी भौतिक काम-वासना से दूषित नहीं होते इसलिए उनमें कभी भी गर्व, शोक, कामना या हिंसा प्रदर्शित नहीं होते और चूँकि भगवान् भौतिक गुणों से रहित हैं, वे कभी भी उच्च भौतिकतावादी मनोवृत्ति से भौतिक जगत का शान्तिपूर्वक भोग करने का प्रयास नहीं करते।

जैसाकि यहाँ पर कहा गया है (*स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरत:*) कृष्ण अपने दिव्य धाम में अहर्निश अपने असंख्य संगियों की अचिन्त्य प्रेमाभक्ति का आस्वादन करने में व्यस्त रहते हैं। वे उनका आलिंगन करते हैं और संगी उनका आलिंगन करते हैं। वे अपने प्रियजनों के साथ हँसी-मजाक करते हैं और वे उनकी हँसी-मजाक सुनते हैं। भगवान् फूलों तथा फलों से लदे जंगलों में विचरते हैं, अमृत-तुल्य यमुना नदी में क्रीड़ा करते हैं और वृन्दावन की गोपियों के साथ गोपनीय एवं दिव्य प्रेमालाप करते हैं। कृष्ण-लोक तथा अन्य वैकुण्ठ-लोकों में ये लीलाएँ नित्य, त्रुटिरहित हैं तथा दिव्य सुख की सागर हैं। भगवान् कभी भी भौतिक सुख के शुष्क धरातल पर नहीं आते। भगवान् को किसी से कुछ लेना नहीं, अतएव भगवान् में सकाम कर्म विद्यमान नहीं रह सकता।

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतप:क्रियाभि: ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात् ॥ ९॥

शब्दार्थ

शुद्धि:—शुद्धि; नृणाम्—मनुष्यों की; न—नहीं; तु—लेकिन; तथा—इस तरह; ईड्य—हे पूज्य; दुराशयानाम्—उनके, जिनकी चेतना कलुषित है; विद्या—सामान्य पूजा द्वारा; श्रुत—वेदों का श्रवण तथा उनके आदेशों का पालन; अध्ययन—विभिन्न शास्त्रों

का अध्ययन; दान—दान; तपः—तपस्या; क्रियाभिः—तथा अनुष्ठानों द्वारा; सत्त्व-आत्मनाम्—सतोगुणियों के; ऋषभ—हे सर्वश्रेष्ठ; ते—तुम्हारा; यशसि—यश में; प्रवृद्ध—पूर्णतया परिपक्व; सत्—दिव्य; श्रद्धया—श्रद्धा द्वारा; श्रवण-सम्भृतया—सुनने की विधि से पुष्ट हुआ; यथा—जिस तरह; स्यात्—है।

हे सर्वश्रेष्ठ, जिनकी चेतना मोह से कलुषित है, वे केवल सामान्य पूजा, वेदाध्ययन, दान, तप तथा अनुष्ठानों द्वारा अपने को शुद्ध नहीं कर सकते। हमारे स्वामी, जिन शुद्ध आत्माओं ने आपके यश के प्रति दिव्य प्रबल श्रद्धा उत्पन्न कर ली है, उन्हें ऐसा शुद्ध जन्म प्राप्त होता है, जो ऐसी श्रद्धा से रहित लोगों को कभी प्राप्त नहीं हो पाता।

तात्पर्य : यदि शुद्ध भक्त में वेदाध्ययन तथा तपस्या जैसे गुणों का अभाव रहे भी, किन्तु यदि वह भगवान् कृष्ण में दृढ़ श्रद्धा रखता हो, तो भगवान् उसकी भक्ति के कारण उसे बचा लेंगे। दूसरी ओर, यदि मनुष्य अपने भौतिक गुणों से, जिनमें दया भी सम्मिलित है, मिथ्या तौर पर गर्वित हो उठे, किन्तु कृष्ण के यशोगान तथा श्रवण में रुचि न ले, तो उसका प्रयास निष्फल होगा। दिव्य आत्मा को भौतिक दया, दान या पाण्डित्य की किसी भी मात्रा द्वारा शुद्ध नहीं किया जा सकता। केवल दिव्य भगवान् ही अपने अन्तर से अपनी दया का दान देकर दिव्य जीव को शुद्ध कर सकते हैं। देवतागण उनके सौभाग्य से चकित थे। कृष्ण का श्रवण करने मात्र से ही मनुष्य को सारी सिद्धि मिल सकती है, किन्तु वे भगवान् की पुरी में प्रविष्ट हो चुके थे और भगवान् को अपने समक्ष खड़े देख रहे थे।

स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भिर्
व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्यात्—वे हों; नः—हमारे लिए; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रिः—चरणकमल; अशुभ-आशय—हमारी अशुभ मनोवृत्ति के; धूम-केतुः—प्रलयंकारी अग्नि; क्षेमाय—असली लाभ पाने के लिए; यः—जो; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; आर्द्र-हृदा—पिघले हृदयों से; उह्यमानः—ले जाये जा रहे हैं; यः—जो; सात्वतैः—भगवान् के भक्तों द्वारा; सम-विभूतये—उनके ही जैसा ऐश्वर्य पाने के लिए; आत्म-वद्भिः—आत्मसंयमियों के द्वारा; व्यूहे—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन चार स्वांशों द्वारा; अर्चितः—पूजित; सवनशः—प्रत्येक दिन की तीन संधियों पर; स्वः-अतिक्रमाय—इस जगत के स्वर्ग से परे जाने के लिए।

जीवन में सर्वोच्च लाभ की कामना करने वाले बड़े बड़े मुनि अपने उन हृदयों के भीतर सदैव आपके चरणकमलों का स्मरण करते हैं, जो आपके प्रेम में द्रवित हैं। इसी तरह आपके आत्मसंयमी भक्तगण, आपके ही समान ऐश्वर्य पाने के लिए स्वर्ग से परे जाने की इच्छा से, आपके चरणकमलों की पूजा प्रातः, दोपहर तथा संध्या समय करते हैं। इस तरह वे आपके

चतुर्व्यूह रूप का ध्यान करते हैं। आपके चरणकमल उस प्रज्ज्वलित अग्नि के तुल्य है, जो भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति विषयक समस्त अशुभ इच्छाओं को भस्म कर देती है।

तात्पर्य : बद्धजीव भगवान् के दिव्य यश में केवल अटूट श्रद्धा रख कर अपने जीवन को शुद्ध कर सकता है। तो फिर उन देवताओं के अद्वितीय सौभाग्य के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो भगवान् कृष्ण के चरणकमलों का साक्षात् दर्शन कर रहे थे? यद्यपि इस समय हम असंख्य भौतिक इच्छाओं से त्रस्त हैं, किन्तु ये इच्छाएँ क्षणिक हैं। यह नित्य जीव परम पुरुष भगवान् से प्रेममय सम्बन्ध की अनुभूति पाने के लिए है और भगवान् की शुद्ध भक्ति करने से जीव का हृदय पूरी तरह तुष्ट हो जाता है।

इस श्लोक में *धूमकेतु* शब्द ज्वलित पुच्छल तारे अथवा अग्नि का सूचक है, जो शिवजी का प्रतिनिधित्व करता है। शिवजी तमोगुण के स्वामी हैं और कृष्ण के चरणकमलों की उपमा धूमकेतु से दी गई है, जो शिव की शक्ति का प्रतीक है और जो हृदय के अज्ञान को विनष्ट करने वाला है। *सम-विभूतये* शब्द सूचित करता है कि शुद्ध भक्त भगवद्धाम जाते हैं और वैकुण्ठ का अमित आनन्द भोगते हैं। भगवान् कृष्ण के पास भोग के लिए प्रचुर ऐश्वर्यमयी साज-सामग्री है और जो मुक्तात्मा कृष्ण के धाम जाता है, उसे भगवान् की सेवा करने के लिए सारा ऐश्वर्य न्यौछावर कर दिया जाता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में *व्यूहे* शब्द तीन पुरुष-अवतारों—महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के साथ साथ वासुदेव का सूचक है। यदि हम वैज्ञानिक तरीके से यह समझ लें कि इस भौतिक जगत को उत्पन्न करने के लिए कृष्ण किस तरह अपना विस्तार करते हैं, तो हम तुरन्त अनुभव करेंगे कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की सम्पत्ति है और इस तरह अपने स्वार्थों के लिए दोहन करने की इच्छा से मुक्त हो सकेंगे। कृष्ण परमेश्वर हैं, सबों के स्वामी हैं तथा सारे ऐश्वर्य के आगार हैं। मनुष्य को प्रात:, दोपहर तथा संध्या के समय उनके चरणकमलों का स्मरण करना चाहिए। जो व्यक्ति कृष्ण का सदैव स्मरण करता है और उन्हें कभी नहीं भूलता, वह माया की पीत छाया के परे असली आनन्दमय जीवन का अनुभव प्राप्त करेगा।

यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ

त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा ।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; चिन्त्यते—ध्यान किया जाता है; प्रयत-पाणिभिः—हाथ जोड़े हुए लोगों के द्वारा; अध्वर-अग्नौ—यज्ञ की अग्नि में; त्रय्या—तीनों वेदों (ऋग्, यजुः तथा साम) के; निरुक्त—निरुक्त में दी हुई जानकारी; विधिना—विधि से; ईश—हे स्वामी; हविः—हवन करने के निमित्त घी; गृहीत्वा—लेकर; अध्यात्म-योगे—आत्मा की अनुभूति हेतु योग-पद्धति में; उत—भी; योगिभिः—योगियों द्वारा; आत्म-मायाम्—आपकी मोहने वाली माया के विषय में; जिज्ञासुभिः—जिज्ञासुओं द्वारा; परम-भागवतैः—अत्यन्त उन्नत हो चुके भक्तों द्वारा; परीष्टः—पूजित।

जो लोग ऋग्, यजुः तथा सामवेद में दी गई विधि के अनुसार यज्ञ की अग्नि में आहुति देते समय, वे आपके चरणकमलों का ध्यान करते हैं। इसी प्रकार योगीजन आपकी दिव्य योगशक्ति का ज्ञान प्राप्त करने की आशा से आपके चरणकमलों का ध्यान करते हैं और जो पूर्ण महाभागवत हैं, वे आपकी मायाशक्ति को पार करने की इच्छा से, आपके चरणकमलों की अच्छी तरह से पूजा करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आत्म-मायां जिज्ञासुभिः* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। योगीजन (*अध्यात्मयोग उत योगिभिः*) भगवान् की योगशक्तियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इच्छुक रहते हैं, जबकि शुद्ध भक्तगण (*परमभागवतै*) माया के परे जाना चाहते हैं, जिससे शुद्ध प्रेमाभाव से वे भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की सेवा कर सकें। प्रत्येक दशा में, हर व्यक्ति भगवान् की शक्ति में रुचि दिखाता है। नास्तिक विज्ञानीजन भी भगवान् की बहिरंगा शक्ति से मोहित होते हैं और निपट इन्द्रिय-लोभी अपने भौतिक शरीर द्वारा आकृष्ट होते हैं, जो कि *आत्ममाया* है अर्थात् भगवान् की शक्ति का अंश है। यद्यपि भगवान् की सारी शक्तियाँ गुणात्मक दृष्टि से भगवान् से और फलतः एक दूसरे से एकाकार हैं, फिर भी आनन्दमय आध्यात्मिक शक्ति सर्वोपरि है, क्योंकि नित्य आनन्द स्तर पर यह भगवान् तथा शुद्ध जीव के मध्य सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रत्येक जीव मूलतः भगवान् का प्रेमी सेवक है और भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति जीव को उसके शुद्ध स्वाभाविक पद पर लाती है, जो माया के परे है।

हमारे स्वप्न तथा जाग्रत अनुभव, दोनों ही मन के कार्य हैं, फिर भी जाग्रत अवस्था में हम जितने कार्य करते हैं, वे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे हमें अपने स्थायी पद पर स्थापित कराने वाले हैं। इसी तरह, जीव हर क्षण भगवान् की अनन्त शक्तियों में किसी एक का अनुभव करता रहता है। तथापि

दिव्य शक्ति का अनुभव अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे जीव अपने नित्य स्वाभाविक पद पर भगवान् के श्रद्धालु सेवक के रूप में स्थापित हो जाता है।

देवतागण भगवान् के चरणकमलों की महिमा का वर्णन कर रहे हैं, क्योंकि वे लोग उन चरणों के सम्पर्क से शुद्ध होने के लिए उत्सुक हैं (*तवाङ्घ्रिरस्माकमशुभाशयधूमकेतु स्यात्*)। जब कोई निष्ठावान भक्त भगवान् के चरणकमलों की शरण पाना चाहता है, तो भगवान् उसे अपने धाम ले जाते हैं, जिस प्रकार देवतागण भगवान् कृष्ण की व्यवस्था द्वारा द्वारका लाये गये थे।

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्नीवच्छ्रीः ।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात्सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पर्युष्टया—मुरझाई हुई, बासी; तव—तुम्हारा; विभो—सर्वशक्तिमान भगवान्; वनमालया—फूल की माला से; इयम्—वह; संस्पर्धिनी—स्पर्धा करती हुई; भगवती—भगवान् की स्त्री; प्रति-पत्नी-वत्—ईर्ष्यालु सौत की तरह; श्रीः—लक्ष्मीदेवी; यः—जो भगवान् (आप); सु-प्रणीतम्—जिससे भलीभाँति सम्पन्न हो सके; अमुया—इससे; अर्हणम्—भेंट; आददन्—स्वीकार करते हुए; नः—हमारा; भूयात्—हो; सदा—सदैव; अङ्घ्रिः—चरणकमल; अशुभ-आशय—हमारी शुद्ध इच्छाओं की; धूम-केतुः—विनाश की अग्नि।

हे सर्वशक्तिमान, आप अपने सेवकों के प्रति इतने दयालु हैं कि आपने उस मुरझाई हुई (बासी) फूलमाला को स्वीकार कर लिया है, जिसे हमने आपके वक्षस्थल पर चढ़ाया था। चूँकि लक्ष्मी देवी आपके दिव्य वक्षस्थल पर वास करती हैं, इसलिए निस्सन्देह वे हमारी भेंटों को उसी स्थान पर अर्पित करते देखकर उसी तरह ईर्ष्या करेंगी, जिस तरह एक सौत करती है। फिर भी आप इतने दयालु हैं कि आप अपनी नित्य संगिनी लक्ष्मी देवी की परवाह न करते हुए हमारी भेंट को सर्वोत्तम पूजा मान कर ग्रहण करते हैं। हे दयालु प्रभु, आपके चरणकमल हमारे हृदयों की अशुभ कामनाओं को भस्म करने के लिए प्रज्ज्वलित अग्नि का कार्य करें।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा गया है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतम अश्नामि प्रयतात्मनः ॥

भगवान् कृष्ण अपने प्रिय भक्त द्वारा चढ़ाई गई तुच्छ से तुच्छ भेंट को कृतज्ञता से तथा प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं। भगवान् कृष्ण अपने शुद्ध भक्तों के प्रेम द्वारा उसी तरह से जीत लिए जाते हैं, जिस तरह अपनी प्रिय सन्तान द्वारा दी गई तुच्छ से तुच्छ भेंट से पिता जीत लिया जाता है। अध्यात्मवादी जब तक देहात्म बुद्धि को पूरी तरह त्याग नहीं देता, तब तक वह भगवान् को ऐसी प्रेममयी भेंट चढ़ा नहीं सकता। कृष्ण को ध्यानयोग उतना प्रिय नहीं है, जितना कि भक्तियोग, क्योंकि ध्यान में योगी योगशक्ति प्राप्त करके अपनी तुष्टि करने का प्रयास करता है (भगवान् की नहीं)। इसी तरह भगवान् से भौतिक लाभ प्राप्त करने की इच्छा से सामान्य लोग मन्दिरों, मसजिदों तथा गिरजाघरों में ईश्वर को पूजते हैं। किन्तु जो व्यक्ति वास्तविक आध्यात्मिक सिद्धि चाहता है, उसे सदैव भगवान् की महिमा का कीर्तन एवं श्रवण करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। ऐसा भक्तिमय उत्साह भगवत्प्रेम से प्रेरित होता है और किसी भी स्वार्थपूर्ण आशा से रहित होता है।

भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपनी नित्य संगिनी लक्ष्मी को भी भूल जाते हैं और अपने दीन भक्त को वरीयता प्रदान करते हैं, जिस तरह कोई व्यक्ति अपनी पत्नी के प्रेमालिंगन की उपेक्षा करते हुए पास आ रहे अपने प्रिय पुत्र की भेंट को स्वीकार करता है। श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि भगवान् द्वारा पहनी हुई माला कभी मुरझा नहीं सकती, क्योंकि भगवान् की सारी साज-सामग्री नित्य तथा ऐश्वर्यमयी है। इसी तरह लक्ष्मीजी में भौतिक ईर्ष्या भाव के उदय होने की कोई सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि वे भी भगवान् कृष्ण की ही तरह दिव्य हैं। इसलिए देवताओं के वचनों को प्रगाढ़ भगवत्प्रेम से प्रेरित विनोद मानना चाहिए। देवताओं को लक्ष्मी का और इस तरह भगवान् कृष्ण का संरक्षण प्राप्त रहता है और भगवान् तथा उनकी संगिनी के प्रति अपने प्रेम-सम्बन्ध पर अटूट विश्वास होने से ही, वे इस तरह का विनोद कर रहे हैं।

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्
पदः पुनातु भगवन्भजतामघं नः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

केतुः—झंडे का डंडा; **त्रि-विक्रम**—बलि महाराज को जीतने के लिए भरे गये तीन पग; **यतः**—अलंकृत; **त्रि-पतत्**—तीनों लोकों में गिरते हुए; **पताकः**—झंडा, जिस पर; **यः**—जो; **ते**—तुम्हारे (चरणकमल); **भय-अभय**—भय तथा निर्भीकता;

करः—करने वाले; असुर-देव—असुरों तथा देवताओं की; चम्वोः—सेनाओं के लिए; स्वर्गाय—स्वर्ग-प्राप्ति के लिए; साधुषु—साधु-देवताओं तथा भक्तों के बीच; खलेषु—दुष्ट; इतराय—इनसे विपरीतों के लिए; भूमन्—हे सर्वाधिक शक्तिशाली प्रभु; पादः—चरणकमल; पुनातु—पवित्र करें; भगवन्—हे भगवान्; भजताम्—आपकी पूजा में लगे हुए; अघम्—पापों को; नः—हमारे।

हे सर्वशक्तिमान प्रभु, आपने अपने त्रिविक्रम अवतार में ब्रह्माण्ड के कवच को तोड़ने के लिए अपना पैर ध्वज-दंड की तरह उठाया और पवित्र गंगा को तीन शाखाओं में तीनों लोकों में से होकर विजय-ध्वजा की भाँति बहने दिया। आपने अपने चरणकमलों के तीन बलशाली पगों से बलि महाराज को उनके विश्वव्यापी साम्राज्य सहित वश में कर लिया। आपके चरण असुरों में भय उत्पन्न करते हैं, जिससे वे नरक में भाग जाते हैं और आपके भक्तों में निर्भीकता उत्पन्न करके, उन्हें स्वर्ग-जीवन की सिद्धि प्रदान करते हैं। हे प्रभु, हम आपकी निष्ठापूर्वक पूजा करना चाह रहे हैं, इसलिए आपके चरणकमल कृपा करके हमारे सभी पापकर्मों से हमें मुक्त करें।

तात्पर्य : जैसाकि आठवें स्कंध में वर्णन हुआ है बलि महाराज द्वारा बलपूर्वक ग्रहण किये गये साम्राज्य को छीन कर देवताओं को देने के लिए भगवान् कृष्ण ने सुन्दर बौने ब्राह्मण अर्थात् वामन रूप धारण किया और अपना पाँव ब्रह्माण्ड की बाहरी सीमाओं की ओर बढ़ाया। जब भगवान् के पाँव से ब्रह्माण्ड की खोल में छेद हो गया, तो उसमें से गंगा नदी का जल बह निकला। यह दृश्य ऐसा लग रहा था, मानों कोई उठा हुआ दण्ड हो, जिसमें विजय-ध्वज फहरा रहा हो।

जैसा कि—*चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि*—"श्रुति-मंत्रों में कहे गये भगवान् के चरणकमल अत्यन्त पवित्र, सर्वव्यापक तथा प्राचीनतम हैं। जो इनके द्वारा पवित्र बना दिये जाते हैं, वे अपने पिछले सारे पापमय कर्मों को लाँघ जाते हैं।" ब्रह्माण्ड-भर में भगवान् के चरणकमलों का पूजन अत्यन्त प्रसिद्ध है।

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः ।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥ १४॥

शब्दार्थ

नसि—नाक से होकर; ओत—नथे हुए; गावः—बैल; इव—मानो; यस्य—जिसका; वशे—वश में; भवन्ति—होते हैं; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा तथा अन्य; तनु-भृतः—देहधारी जीव; मिथुः—परस्पर; अर्द्यमानाः—संघर्ष करते हुए; कालस्य—समय की

शक्ति से; ते—तुम्हारा; प्रकृति-पूरुषयोः—प्रकृति तथा जीव दोनों; परस्य—जो उनसे परे है; शम्—दिव्य भाग्य; नः—हमारे लिए; तनोतु—फैला सकें; चरणः—चरणकमल; पुरुष-उत्तमस्य—भगवान् के।

आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, दिव्य आत्मा हैं, जो भौतिक प्रकृति तथा इसके भोक्ता दोनों से श्रेष्ठ हैं। आपके चरणकमल हमें दिव्य आनन्द प्रदान करें। ब्रह्मा इत्यादि सारे बड़े बड़े देवता देहधारी जीव हैं। आपके काल के वश में एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते वे सब उन बैलों जैसे हैं, जिन्हें छिदे हुए उनकी नाक में पड़ी रस्सी (नथ) के द्वारा खींचा जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं—*ननु युद्धे देवासुरादयः परस्परं जयन्ति जयन्ते च किम् अहं तत्रेत्यत आहुः, नसीति। मिथुर्मिथोऽर्द्यमाना युद्धादिभिः पीडयमाना ब्रह्मादयोऽपि यस्य तव वशे भवन्ति न तु जये पराजये वा स्वतन्त्राः।* ''देवताओं अथवा भगवद्भक्तों के मध्य तथा असुरों अथवा अभक्तों के मध्य अनवरत युद्धों में, हर पक्ष की कभी जीत होती है, तो कभी हार। कोई यह दलील दे सकता है कि इससे भगवान् का कोई वास्ता नहीं है, क्योंकि यह विरोधी जीवों की अन्योन्य क्रिया पर आधारित है। किन्तु हर जीव भगवान् के वश में होता है और जय तथा पराजय सदैव भगवान् के हाथ में है।'' इससे जीव की स्वतंत्र इच्छा का विरोध नहीं होता, क्योंकि जय तथा पराजय जीवों की योग्यता के अनुसार भगवान् द्वारा प्रदान किये जाते हैं। कानूनी युद्ध में कानूनी प्रणाली को छोड़ कर स्वतंत्र रूप से न तो मुद्दई न मुद्दालेह कार्य कर सकता है। न्यायालय में जय तथा पराजय का निर्णय न्यायाधीश द्वारा दिया जाता है, किन्तु यह न्यायाधीश निष्पक्ष भाव से कानून के अनुसार निर्णय देता है।

इसी तरह ईश्वर हमें हमारे पूर्वकर्मों के फल प्रदान करते रहते हैं। ईश्वर को नकारने के लिए भौतिकतावादी प्रायः यह तर्क देते हैं कि प्रायः निर्दोष लोग कष्ट भोगते हैं, जबकि अपवित्र धूर्त लोग जीवन का आनन्द भोगते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि ईश्वर कोई वैसे मूर्ख नहीं है, जिस तरह कि ऐसे तर्क प्रस्तुत करने वाले भौतिकतावादी व्यक्ति होते हैं। ईश्वर हमारे कई पूर्वजन्मों को देख सकते हैं, इसलिए वे किसी को न केवल वर्तमान कर्मों का फल भोगने देते हैं, अपितु पूर्वकर्मों के फल को भी भोगने देते हैं। उदाहरणार्थ, कठिन परिश्रम करके मनुष्य धन का संग्रह कर सकता है। किन्तु यदि ऐसा धनी व्यक्ति अपना काम छोड़ कर निम्न-जीवन व्यतीत करने लगता है, तो उसका धन तुरन्त ही लुप्त नहीं होता। दूसरी ओर, ऐसा व्यक्ति जिसके भाग्य में धनी बनना है, वह अनुशासन तथा तप के साथ कठोर परिश्रम करता रह सकता है, फिर भी वह पाई-पाई का मोहताज हो सकता है। इसलिए ऊपर से

देखने पर कठिन परिश्रम करने वाला व्यक्ति धनहीन के रूप में और आलसी व्यक्ति धनवान दिख सकता है। इसी तरह भौतिकतावादी मूर्ख भूत, वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञान न होने से भगवान् के पूर्ण न्याय को समझ नहीं पाता।

इस श्लोक में कृष्ण की नियंत्रण शक्ति को बताने के लिए दिया गया उदाहरण उपयुक्त है। यद्यपि बैल अत्यन्त शक्तिशाली होता है, किन्तु उसे उसकी बिंधी नाक में रस्सी डाल कर आसानी से वश में किया जा सकता है। इसी तरह बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ, विद्वान, देवता भी सर्वशक्तिमान भगवान् द्वारा तुरन्त असह्य स्थिति में डाले जा सकते हैं। इसलिए देवतागण द्वारका में अपनी व्यापक राजनैतिक तथा बौद्धिक शक्तियाँ प्रदर्शित करने नहीं, अपितु भगवान् के चरणकमलों पर विनयपूर्वक शरण ग्रहण करने आये हैं।

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः ।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) का; असि—हो; हेतुः—कारण; उदय—सृष्टि; स्थिति—पालन; संयमानाम्—तथा संहार; अव्यक्त—अव्यक्त प्रकृति का; जीव—जीव; महताम्—तथा महत तत्त्व का; अपि—भी; कालम्—नियंत्रक काल; आहुः—कहलाते हो; सः अयम्—यही व्यक्ति; त्रि-णाभिः—तीन नाभियों वाला; अखिल—हर वस्तु के; अपचये—ह्रास में; प्रवृत्तः—लगा हुआ; कालः—काल, समय; गभीर—अदृश्य, गम्भीर; रयः—जिसकी गति; उत्तम-पूरुषः—भगवान्; त्वम्—तुम।

आप इस ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के कारण हैं। आप प्रकृति की स्थूल तथा सूक्ष्म दशाओं को नियमित करने वाले तथा हर जीव को अपने वश में करने वाले हैं। कालरूपी चक्र की तीन नाभियों के रूप में आप अपने गम्भीर कार्यों द्वारा सारी वस्तुओं का ह्रास करने वाले हैं और इस तरह आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

तात्पर्य : *गभीररयः* शब्द जिसका अर्थ "अबाध गति तथा शक्ति" है महत्त्वपूर्ण है। हम यह देखते हैं कि प्रकृति के नियमों के द्वारा सारी वस्तुएँ, यहाँ तक कि हमारे शरीर, क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। यद्यपि हम इस वार्धक्य प्रक्रम के दीर्घगामी प्रभाव का अवलोकन करते हैं, किन्तु इस प्रक्रम को अनुभव नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ, कोई यह अनुभव नहीं कर पाता कि उसके बाल या नाखून किस तरह बढ़ते हैं। हम उनकी वृद्धि के संचित प्रभाव को देखते हैं, किन्तु क्षण क्षण हमें उसका अनुभव

नहीं हो पाता। इसी तरह कोई भी धीरे धीरे तब तक क्षीण होता जाता है, जब तक ध्वस्त नहीं हो जाता। यद्यपि हम क्षण क्षण इसका अनुभव नहीं कर पाते किन्तु दीर्घ समय के पश्चात्, घर की भग्नावस्था को हम देख सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हम वृद्धावस्था तथा भग्नावस्था के परिणामों का अनुभव कर सकते हैं, किन्तु ये किस तरह घटित होते हैं, वह अदृश्य रहता है। यह कालरूप भगवान् की अद्‌भुत शक्ति है।

त्रि-नाभि: शब्द सूचित करता है कि सूर्य की गति की ज्योतिष-सम्बन्धी गणना के अनुसार वर्ष को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—ये हैं मेष, मिथुन, वृष तथा कर्क और सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक तथा धनु, मकर, कुम्भ, मीन।

उत्तम-पूरुष या *पुरुषोत्तम* शब्द की व्याख्या *भगवद्‌गीता* (१५.१८) में दी गई है—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तम: ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम: ॥

''चूँकि मैं क्षर तथा अक्षर दोनों के परे हूँ और चूँकि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, अतएव इस जगत में तथा वेदों में परम पुरुष के रूप में विख्यात हूँ।''

त्वत्त: पुमान्समधिगम्य ययास्य वीर्यं
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्य: ।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

त्वत्त:—तुमसे; पुमान्—पुरुष-अवतार, महाविष्णु; समधिगम्य—प्राप्त करके; यया—जिससे; अस्य—इस सृष्टि का; वीर्यम्—बीज; धत्ते—स्थापित करता है; महान्तम्—महत तत्त्व; इव गर्भम्—सामान्य भ्रूण (गर्भ) की तरह; अमोघ-वीर्य:—वह जिसका वीर्य नष्ट नहीं होता; स: अयम्—वही (महत तत्त्व); तया—प्रकृति के साथ; अनुगत:—मिला हुआ; आत्मन:—अपने से; आण्ड-कोशम्—ब्रह्माण्ड; हैमम्—सोने का; ससर्ज—उत्पन्न किया; बहि:—बाहर की ओर; आवरणै:—खोलों सहित; उपेतम्—प्रदत्त, समन्वित।

हे प्रभु, आदि पुरुष-अवतार महाविष्णु अपनी सर्जक शक्ति आपसे ही प्राप्त करते हैं। इस तरह अच्युत शक्ति से युक्त वे प्रकृति में वीर्य स्थापित करके महत् तत्त्व उत्पन्न करते हैं। तब भगवान् की शक्ति से समन्वित यह महत् तत्त्व अपने में से ब्रह्माण्ड का आदि सुनहला अंडा उत्पन्न करता है, जो भौतिक तत्त्वों के कई आवरणों (परतों) से ढका होता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में जीव तथा प्रकृति के सन्दर्भ में भगवान् की श्रेष्ठता स्थापित की जा चुकी है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् कृष्ण महाविष्णु के उद्‍गम हैं और ये महाविष्णु अपनी सृजन शक्ति भगवान् कृष्ण से ही प्राप्त करते हैं। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना कि कृष्ण विष्णु के अंश है, मूर्खतापूर्ण होगा। इस प्रसंग में ब्रह्मा आदि देवताओं के मत को अन्तिम मान लेना चाहिए।

तत्तस्थूषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ॥ १७॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; तस्थूषः—प्रत्येक अचर वस्तु का; च—तथा; जगतः—चर; च—भी; भवान्—आप (हैं); अधीशः—चरम नियन्ता; यत्—क्योंकि; मायया—प्रकृति द्वारा; उत्थ—उठा हुआ; गुण—(प्रकृति के) गुणोंका; विक्रियया—विकार से (जीवों की इन्द्रियों के कर्म से); उपनीतान्—पास पास लाये गये; अर्थान्—इन्द्रिय-विषय; जुषन्—लिप्त रहकर; अपि—यद्यपि; हृषीक-पते—हे इन्द्रियों के स्वामी; न लिप्तः—आपको छू नहीं पाते; ये—जो; अन्ये—अन्य; स्वतः—अपने बल पर; परिहृतात्—के कारण; अपि—भी; बिभ्यति—डरते हैं; स्म—निस्सन्देह।

हे प्रभु, आप इस ब्रह्माण्ड के परम स्त्रष्टा हैं और समस्त चर तथा अचर जीवों के परम नियन्ता हैं। आप हृषीकेश अर्थात् सभी इन्द्रिय-विषयक कार्यों के परम नियंता हैं और आप कभी भी इस भौतिक सृष्टि के भीतर अनन्त इन्द्रिय-विषय-कार्यों के अधीक्षण के समय संदूषित या लिप्त नहीं होते। दूसरी ओर, अन्य जीव, यहाँ तक कि योगी तथा दार्शनिक भी उन भौतिक वस्तुओं का स्मरण करके विचलित तथा भयभीत रहते हैं केवल उन भौतिक पदार्थों को याद करके जिनका परित्याग प्रकाश की खोज करते समय उन्होंने त्याग दिया था।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण प्रत्येक बद्धजीव के हृदय के भीतर हैं और इन्द्रिय-तृप्ति की खोज तथा अनुभव में हर जीव का मार्गदर्शन करते हैं। ऐसे कार्यों के निराशाजनक परिणाम बद्धजीव को आश्वस्त करते हैं कि वे भौतिक जीवन का परित्याग करके अपने हृदय के भीतर स्थित भगवान् की शरण में पुन: जाँय। भगवान् कृष्ण अपनी माया का आनन्द लेने वाले जीवों के व्यर्थ प्रयासों से कभी भी प्रभावित नहीं होते। ईश्वर के लिए भय या उत्पात की कोई सम्भावना नहीं है क्योंकि अंतत: उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

स्माय—मुसकान; अवलोक—चितवन का; लव—अंश द्वारा; दर्शित—दिखलाया हुआ; भाव—उनके विचार; हारि—मोहक; भ्रू-मण्डल—भौंहों केअर्धवृत्र द्वारा; प्रहित—भेजा गया; सौरत—दाम्पत्य प्रेम का; मन्त्र—सन्देश; शौण्डैः—प्रगल्भ; पत्न्यः—पत्नियाँ; तु—लेकिन; षोडश-सहस्रम्—सोलह हजार; अनङ्ग—कामदेव के; बाणैः—बाणों द्वारा; यस्य—जिसकी; इन्द्रियम्—इन्द्रियाँ; विमथितुम्—विक्षुब्ध करने के लिए; करणैः—अपनी सारी युक्तियों से; न विभ्व्यः—समर्थ नहीं थे।

हे प्रभु, आप सोलह हजार अत्यन्त सुन्दर राजसी पत्नियों के साथ रह रहे हैं। अपनी अत्यन्त लजीली तथा मुस्कान-भरी चितवन तथा सुन्दर धनुष-रूपी भौंहों से वे आपको अपने उत्सुक प्रणय का सन्देश भेजती हैं। किन्तु वे आपके मन तथा इन्द्रियों को विचलित करने में पूरी तरह असमर्थ रहती हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में स्पष्ट कहा जा चुका है कि कोई भौतिक वस्तु भगवान् की इन्द्रियों को आकृष्ट नहीं कर सकती। अब इस श्लोक में यह दिखलाया गया है कि भगवान् को अपनी आध्यात्मिक इन्द्रिय-तृप्ति करने की इच्छा भी नहीं है। कृष्ण अपने आप में पूर्ण हैं। वे समस्त आनन्द के आगार हैं और उन्हें किसी भौतिक या आध्यात्मिक वस्तु की लालसा नहीं रहती। यह तर्क दिया जा सकता है कि कृष्ण ने अपनी पत्नी सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए स्वर्ग से पारिजात पुष्प चुराया था और इस तरह वे अपनी प्रिय पत्नी के वशीभूत पति थे। किन्तु भले ही कृष्ण कभी कभी अपने भक्तों के प्रेम से विजित हो जाते हों, किन्तु वे सामान्य कामुक व्यक्ति की तरह भोगेच्छा से कभी प्रभावित नहीं होते। अभक्तगण भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के बीच प्रेमभावों के आदान-प्रदान को कभी भी नहीं समझ सकते। कृष्ण को हम उनके प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम द्वारा जीत सकते हैं और इस तरह शुद्ध भक्त भगवान् को अपने वश में कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, वृन्दावन की प्रौढ़ गोपियाँ विभिन्न लय में ताली बजाकर कृष्ण को नचा सकती थीं और द्वारका में सत्यभामा ने कृष्ण को पत्नी-प्रेम के प्रमाणस्वरूप पारिजात पुष्प लाने का आदेश दिया था। षड् गोस्वामियों के प्रति लिखे गये गीत में श्रीनिवास आचार्य ने कहा है—*गोपीभावरसामृताब्धिलहरीकल्लोलमग्नौ मुहुः*—भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त के बीच का प्रेम दिव्य आनन्द का सागर है। किन्तु उसी के साथ ही कृष्ण आत्माराम हैं। कृष्ण ने व्रजभूमि की अद्वितीय तरुण गोपियों का संग त्याग कर अपने चाचा अक्रूर के अनुरोध पर मथुरा के लिए प्रस्थान किया। इस

तरह न तो वृन्दावन की गोपियाँ, न ही द्वारका की रानियाँ कृष्ण के मन में भोग-भावना उत्पन्न कर पाईं। इस जगत में आनन्द का अर्थ सम्भोग (यौन) है। किन्तु यह संसारी यौन-आकर्षण वैकुण्ठ में कृष्ण तथा उनके संगियों के बीच के दिव्य प्रेम-व्यापार का विकृत प्रतिबिम्ब मात्र है। वृन्दावन की गोपियाँ देहाती ग्रामीण बालिकाएँ हैं, जबकि द्वारका की रानियाँ राजसी महिलाएँ हैं। किन्तु गोपियाँ तथा रानियाँ दोनों ही कृष्ण के प्रेम से अभिभूत रहती हैं। भगवान् के रूप में कृष्ण सौन्दर्य, बल, सम्पत्ति, यश, ज्ञान तथा परित्याग की पराकाष्ठा प्रदर्शित करते हैं और इस प्रकार वे अपने परम पद के द्वारा पूर्णतया तुष्ट रहते हैं। वे तो गोपियों तथा रानियों के निमित्त ही आध्यात्मिक प्रेम-व्यापार का आदान-प्रदान करते हैं। केवल मूर्ख ही यह सोचते हैं कि कृष्ण हम बेचारे बद्धजीवों की तरह अन्धे होकर विकृत मायावी सुखों के प्रति आकृष्ट रहते हैं। इसलिए सबों को चाहिए कि भगवान् के परम दिव्य पद को समझें और उनकी शरण में जायें। देवताओं के कहने का स्पष्ट आशय यही है।

विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम् ।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विभ्व्यः—समर्थ हैं; तव—तुम्हारी; अमृत—अमृतमयी; कथा—कथाओं का; उद-वहाः—जल धारण करने वाली नदियाँ; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों की; पाद-अवने—आपके चरणकमलों को स्नान कराने से; ज—उत्पन्न; सरितः—नदियाँ; शमलानि—सारा दूषण; हन्तुम्—नष्ट करने के लिए; आनुश्रवम्—प्रामाणिक व्यक्ति से श्रवण-विधि से युक्त; श्रुतिभिः—कानों से; अङ्घ्रि-जम्—आपके चरणकमलों से निकली (पवित्र नदी से युक्त); अङ्ग-सङ्गैः—सीधे शारीरिक सम्पर्क से; तीर्थ-द्वयम्—ये दो प्रकार के तीर्थस्थान; शुचि-षदः—शुद्धि के लिए प्रयत्नशील; ते—तुम्हारे; उपस्पृशन्ति—साथ रहने के लिए पास आते हैं।

आपके विषय में वार्ता रूपी अमृतवाहिनी नदियाँ तथा आपके चरणकमलों के धोने से उत्पन्न पवित्र नदियाँ तीनों लोकों के सारे कल्मष को विनष्ट करने में समर्थ हैं। जो शुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे अपने कानों से सुनी हुई आपकी महिमा की पवित्र कथाओं का सान्निध्य पाते हैं और आपके चरणकमलों से निकलने वाली पवित्र नदियों से उनमें स्नान करके, सान्निध्य प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*अनुश्रवं गुरोरुच्चारणमनुश्रूयन्ते*—मनुष्य को गुरु से सुनकर, कृष्ण के विषय में सुनना चाहिए। प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य से भगवान् की लीलाओं,

शक्तियों तथा अवतारों का वर्णन करता है। यदि गुरु प्रामाणिक है और शिष्य निष्ठावान तथा आज्ञाकारी है, तो गुरु तथा शिष्य के मध्य सम्प्रेषण दोनों के लिए अमृत तुल्य है। सामान्य व्यक्ति भगवद्भक्तों द्वारा अनुभव किये जाने वाले विशेष आनन्द की कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसा अमृत तुल्य बोलना तथा सुनना बद्धजीव के हृदय के भीतर के सारे कल्मष को विनष्ट करता है, प्राथमिक कल्मष कृष्ण की सेवा किये बिना जीने की इच्छा है।

यहाँ पर वर्णित दूसरा अमृत *चरणामृत* है। भगवान् वामनदेव ने ब्रह्माण्ड के आवरण में पाद-प्रहार द्वारा छेद करके अपने चरणकमल को धोया, जिससे पवित्र गंगाजल उनके अँगूठे को धोता हुआ ब्रह्माण्ड में गिरा। इसी तरह यमुना नदी ने भी कृष्ण के चरणकमलों को पखारा, जब वे ५,००० वर्ष पूर्व इस लोक में प्रकट हुए थे। कृष्ण नित्य ही अपने संगियों तथा संगिनियों के साथ यमुना नदी में खेला करते थे, इसीलिए वह नदी भी *चरणामृत* है। इसलिए मनुष्य को गंगा या यमुना में स्नान करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस्कॉन मन्दिरों में हर प्रात:काल कृष्ण के अर्चाविग्रह को स्नान कराया जाता है और इस तरह से पवित्र हुआ जल भी *चरणामृत* कहलाता है। श्रील प्रभुपाद ने अपने शिष्यों तथा अनुयायियों को प्रतिदिन प्रात:काल अर्चाविग्रह के समक्ष जाने और अर्चाविग्रह के स्नान से प्राप्त *चरणामृत* की तीन बूँदें पीने की शिक्षा दी है।

इन सारी विधियों से मनुष्य अपने हृदय को शुद्ध बना सकता है और आध्यात्मिक आनन्द का आस्वादन कर सकता है। जब कोई आध्यात्मिक आनन्द के पद पर स्थित हो जाता है, तो उसे इस भौतिक जगत में दूसरा जन्म नहीं लेना पड्ता। इस श्लोक में *शुचिषद:* शब्द सार्थक है—मनुष्य को कृष्णभावनामृत के शुद्ध कार्यकलापों में अपने को लगाना चाहिए। मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से भगवान् की सेवा करना सीखना चाहिए और गुरु के आदेशों को बिना सोचे-समझे मान लेना चाहिए। जो लोग इस जगत की मरीचिका से जुड़े हुए हैं, वे कभी कभी ईश-विषय में अपने विचार गढ़ लेते हैं। किन्तु प्रामाणिक गुरु से ही हम भगवान् तथा उनकी भक्ति के विषय में पूर्ण तथा शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा ज्ञान श्रील प्रभुपाद के सभी ग्रंथों में पाया जा सकता है।

श्रीबादरायणिरुवाच
इत्यभिष्टूय विबुधैः सेशः शतधृतिर्हरिम् ।
अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; अभिष्टूय—प्रशंसा करके; विबुधैः—सारे देवताओं के साथ; स-ईशः—शिव समेत; शत-धृतिः—ब्रह्मा; हरिम्—परमेश्वर से; अभ्यभाषत—कहा; गोविन्दम्—गोविन्द को; प्रणम्य—प्रणाम करके; अम्बरम्—आकाश में; आश्रितः—स्थित।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : इस तरह ब्रह्माजी शिव तथा अन्य देवताओं समेत भगवान् गोविन्द की स्तुति करने के बाद स्वयं आकाश में स्थित हो गये और उन्होंने भगवान् को इस प्रकार से सम्बोधित किया।

श्रीब्रह्मोवाच
भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो ।
त्वमस्माभिरशेषात्मन्तत्तथैवोपपादितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—श्री ब्रह्मा ने कहा; भूमेः—पृथ्वी का; भार—बोझ; अवताराय—कम करने के लिए; पुरा—पहले; विज्ञापितः—प्रार्थना किये गये थे; प्रभो—हे प्रभु; त्वम्—तुम; अस्माभिः—हमारे द्वारा; अशेष-आत्मन्—हे सबों के असीम आत्मा; तत्—वह (प्रार्थना); तथा एव—जैसा हमने कहा, उसी तरह; उपपादितम्—पूरा हुआ।

ब्रह्मा ने कहा : हे प्रभु, इसके पूर्व हमने आपसे पृथ्वी का भार हटाने की प्रार्थना की थी। हे अनन्त भगवान्, हमारी वह प्रार्थना पूरी हुई है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने देवताओं से कहा होगा, ''वस्तुतः तुम लोगों ने क्षीरोदकशायी विष्णु से अवतार लेने के लिए कहा था, तो फिर यह क्यों कह रहे हो कि मुझसे प्रार्थना की थी ? मैं तो गोविन्द हूँ।'' इसीलिए ब्रह्मा ने उन्हें *अशेषात्मा* कह कर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है कि असीम भगवान्, जिनसे विष्णु के सारे स्वांश उद्भूत होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का ऐसा मत है।

धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेषु वै त्वया ।
कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धर्म के सिद्धान्त; च—तथा; स्थापितः—स्थापित; सत्सु—पवित्र जनों में; सत्य-सन्धेषु—सत्य की खोज करने वालों में से; वै—निस्सन्देह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; कीर्तिः—तुम्हारी कीर्ति; च—तथा; दिक्षु—सारी दिशाओं में; विक्षिप्ता—फैली हुई; सर्व-लोक—सारे लोकों के; मल—कल्मष; अपहा—दूर करने वाले।

हे प्रभु, आपने उन पवित्र लोगों के बीच धर्म की पुनर्स्थापना की है, जो सत्य से सदैव दृढ़तापूर्वक बँधे हुए हैं। आपने अपनी कीर्ति का भी सारे विश्व में वितरण किया है। इस तरह सारा संसार आपके विषय में श्रवण करके शुद्ध किया जा सकता है।

अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद्रूपमनुत्तमम् ।
कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अवतीर्य—अवतरित होकर; यदोः—राजा यदु के; वंशे—वंश में; बिभ्रत्—धारण करते हुए; रूपम्—दिव्य रूप; अनुत्तमम्—अद्वितीय; कर्माणि—कर्म; उद्दाम-वृत्तानि—उदार कार्यों से युक्त; हिताय—लाभ के लिए; जगतः—ब्रह्माण्ड के; अकृथाः—आपने सम्पन्न किया।

आपने यदुवंश में अवतार लेकर अपना अद्वितीय दिव्य रूप प्रकट किया है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कल्याण हेतु आपने उदार दिव्य कृत्य किये हैं।

यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ ।
शृण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यानि—जिन; ते—तुम्हारे; चरितानि—लीलाओं को; ईश—हे परमेश्वर; मनुष्याः—मनुष्य; साधवः—सन्त-पुरुष; कलौ—कलियुग में; शृण्वन्तः—सुनते हुए; कीर्तयन्तः—कीर्तन करते हुए; च—तथा; तरिष्यन्ति—पार कर जायेंगे; अञ्जसा—सरलता से; तमः—अंधकार।

हे प्रभु, कलियुग में पवित्र तथा सन्त-पुरुष, जो आपके दिव्य कार्यों का श्रवण करते हैं और उनका यशोगान करते हैं, वे इस युग के अंधकार को सरलता से लाँघ जायेंगे।

तात्पर्य : दुर्भाग्यवश, कलियुग में बहुत से लोग प्रामाणिक वैदिक साहित्य के प्रति आकृष्ट नहीं होते। वे भगवान् की कीर्ति के श्रवण तथा कीर्तन की विधि को महत्त्व न देकर रेडियो तथा टेलीविजन की व्यर्थ तथा अंटशंट ध्वनियाँ सुनना चाहते हैं तथा अखबारों और पत्रिकाओं इत्यादि को पढ़ना चाहते हैं। वे किसी प्रामाणिक गुरु से कृष्ण के विषय में सुनने की अपेक्षा हर बात पर तब तक अपना मत व्यक्त करते रहते हैं, जब तक कि काल उन्हें घसीट नहीं ले जाता। वे भौतिक जगत के नश्वर तथा सीमित रूपों का अध्ययन करने के बाद, अधीर होकर इस निष्कर्ष पर जा पहुँचते हैं कि परम सत्य निराकार है। ऐसे लोग वस्तुतः कृष्ण की माया की पूजा करते हैं, जिसे बड़े से बड़े लोगों को लतियाने का अधिकार प्राप्त है। यदि इसके बदले में लोग प्रामाणिक स्रोतों से कृष्ण के विषय में सुनें, तो वे

अपने जीवन की सारी समस्याएँ आसानी से हल कर सकते हैं। कलियुग में लोग अनेक मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक तथा जीवन-सम्बन्धी समस्याओं से निरन्तर त्रस्त रहते हैं। किन्तु ये स्वप्नतुल्य समस्याएँ तुरन्त ही दूर हो जाती हैं, जब कोई व्यक्ति सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् की वास्तविकता के प्रति जागरूक हो उठता है। इस ब्रह्माण्ड में भगवान् इसीलिए प्रकट होते हैं, जिससे लोग उनके कार्यकलाप देख सकें, उनके बारे में सुन सकें और उनका यशोगान कर सकें। इस कलिकाल के कठिन युग में लोगों को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए।

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम ।
शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं प्रभो ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदु-वंशे—यदुकुल में; अवतीर्णस्य—अवतरित; भवतः—आपका; पुरुष-उत्तम—हे परम पुरुष; शरत्-शतम्—एक सौ शरद ऋतुएँ; व्यतीयाय—व्यतीत करके; पञ्च-विंश—पच्चीस; अधिकम्—अधिक; प्रभो—हे प्रभु।

हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, हे प्रभु, आप यदुकुल में अवतरित हुए हैं और अपने भक्तों के साथ आपने एक सौ पच्चीस शरद ऋतुएँ बिताई हैं।

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम् ।
कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम् ॥ २६ ॥
ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे ।
सलोकाल्लोकपालान्नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

न अधुना— और अधिक नहीं; ते—तुम्हारे लिए; अखिल-आधार—सभी वस्तुओं के आधार; देव-कार्य—देवताओं की ओर से किया गया कार्य; अवशेषितम्—शेष भाग; कुलम्—आपका वंश; च—तथा; विप्र-शापेन—ब्राह्मण के शाप से; नष्ट-प्रायम्—एक तरह से विनष्ट; अभूत्—हो गया है; इदम्—यह; ततः—इसलिए; स्व-धाम—अपने धाम; परमम्—परम; विशस्व—प्रवेश कीजिए; यदि—यदि; मन्यसे—आप ऐसा मानते हैं; स-लोकान्—सारे लोकों के निवासियों सहित; लोक-पालान्—लोकों के संरक्षक; नः—हमको; पाहि—रक्षा करते रहें; वैकुण्ठ—विष्णु का वैकुण्ठ; किङ्करान्—सेवकों को।

हे प्रभु, इस समय देवताओं की ओर से, आपको करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहा। आपने पहले ही अपने वंश को ब्राह्मण के शाप से उबार लिया है। हे प्रभु, आप सारी वस्तुओं के आधार हैं और यदि आप चाहें, तो अब वैकुण्ठ में अपने धाम को लौट जाय। साथ ही, हमारी विनती है कि आप सदैव हमारी रक्षा करते रहें। हम आपके विनीत दास हैं और आपकी ओर से

हम ब्रह्माण्ड का कार्यभार सँभाले हुए हैं। हमें अपने लोकों तथा अनुयायियों समेत आपके सतत संरक्षण की आवश्यकता है।

श्रीभगवानुवाच
अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर ।
कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अवधारितम्—समझा जाता है; एतत्—यह; मे—मेरे द्वारा; यत्—जो; आत्थ—आपने कहा है; विबुध-ईश्वर—हे देवताओं के नियन्ता, ब्रह्मा; कृतम्—पूर्ण हो चुका; वः—तुम्हारा; कार्यम्—कार्य; अखिलम्—सारा; भूमेः—पृथ्वी का; भारः—भार; अवतारितः—हटा दिया गया।

भगवान् ने कहा : हे देवताओं के अधीश ब्रह्मा, मैं तुम्हारी प्रार्थनाओं तथा अनुरोध को समझता हूँ। पृथ्वी का भार हटाकर मैं वह सारा कार्य सम्पन्न कर चुका, जिस कार्य की तुम लोगों से अपेक्षा थी।

तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम् ।
लोकं जिघृक्षद्रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत् इदम्—इसी; यादव-कुलम्—यादव-वंश; वीर्य—उनकी शक्ति; शौर्य—साहस; श्रिया—तथा ऐश्वर्य से; उद्धतम्—प्रवर्धित; लोकम्—सारा जगत; जिघृक्षत्—निगल जाने की धमकी देते हुए; रुद्धम्—रोका हुआ; मे—मेरे द्वारा; वेलया—समुद्री तट द्वारा; इव—सदृश; महा-अर्णवः—महासागर।

वही यादव-कुल, जिसमें मैं प्रकट हुआ, ऐश्वर्य में, विशेष रूप से अपने शारीरिक बल तथा साहस में, इस हद तक बढ़ गया कि वे सारे जगत को ही निगल जाना चाहते थे। इसलिए मैंने उन्हें रोक दिया है, जिस तरह तट महासागर को रोके रहता है।

तात्पर्य : यदुवंश के वीर पुरुष इतने शक्तिशाली थे कि देवता तक उन्हें रोक नहीं सकते थे। यदुओं का उत्साह घातक युद्धों में विजय पाने के कारण अत्यधिक बढ़ चुका था और उनका वध नहीं किया जा सकता था। वे अपने शौर्य के कारण सारे संसार में अपना राज्य स्थापित करना चाहते थे, इसलिए भगवान् ने उन्हें रोका और पृथ्वी से उन्हें हटा लिया।

यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम् ।
गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्ष्यति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; असंहृत्य—बिना हटाये; दृप्तानाम्—घमंड से चूर रहने वाले; यदूनाम्—यदुओं के; विपुलम्—विशाल; कुलम्—वंश को; गन्ता अस्मि—मैं जाता हूँ; अनेन—इस कारण से; लोकः—जगत; अयम्—यह; उद्वेलेन—उफान (यदुओं के) से; विनङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जायेगा।

यदि मुझे यदुवंश के इन अतिशय घमंड से चूर रहने वाले सदस्यों को हटाए बिना यह संसार त्यागना पड़ा, तो इनके असीम विस्तार के उफान से सारा संसार विनष्ट हो जायेगा।

तात्पर्य : जिस तरह ज्वार की लहरें समुद्र तट की सीमा को लाँघ कर निर्दोष लोगों पर कहर ढा देती हैं, उसी प्रकार यह खतरा सन्निकट था कि बलशाली यदुवंश सामाजिक तथा राजनीतिक नियंत्रण की सारी सीमाओं के परे विस्तार कर जाय। यदुवंशी लोग भगवान् से पारिवारिक सम्बन्ध होने के कारण अत्यन्त गर्वित हो उठे थे। यद्यपि वे अत्यन्त धार्मिक तथा ब्राह्मण संस्कृति के भक्त थे, किन्तु भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण वे गर्वित थे जैसाकि *दृप्तानाम्* शब्द से सूचित होता है। इतनी ही नहीं, कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण उनके वैकुण्ठ चले जाने के बाद इतना गहन वियोग, उन्हें सतायेगा कि वे उन्मत्त हो उठेंगे और पृथ्वी पर उनका भार असह्य हो उठेगा। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि पृथ्वी कृष्ण के प्रति अनुरक्त होने से स्वयं कृष्ण के परिवार वालों को भार मानते हुए भी उनका स्वागत करेगी। तो भी कृष्ण इस भार को हटा देना चाहते थे। यहाँ यह उदाहरण दिया गया है कि नई नवेली दुलहन अपने पति को प्रसन्न करने के लिए तमाम स्वर्ण-आभूषणों से सज सकती है। यद्यपि ये आभूषण उस सुकुमार दुलहन के लिए पीड़ादायक भार बनते हैं और वह इस भार को अपने पति के सुख के लिए सहन करने को तैयार रहती है, किन्तु उसका प्रिय पति अपनी पत्नी की खुशी के लिए इस भार को हटा देता है। इसलिए भगवान् सावधानी के रूप में यदुवंश के भार को पृथ्वी से हटा देना चाह रहे थे, जैसे कहा जाता है कि थोड़ी-सी सावधानी बहुत बड़े उपचार का काम करती है।

इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापजः ।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते तवानघ ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इदानीम्—इस समय; नाशः—विनाश; आरब्धः—शुरू हो चुका है; कुलस्य—वंश का; द्विज-शाप-जः—ब्राह्मणों के शाप के कारण; यास्यामि—मैं जाऊँगा; भवनम्—आवास-स्थान को; ब्रह्मन्—हे ब्रह्मा; एतत्-अन्ते—इसके पश्चात्; तव—तुम्हारे; अनघ—हे निष्पाप।

अब ब्राह्मणों के शाप के कारण मेरे परिवार का विनाश पहले ही शुरू हो चुका है। हे निष्पाप ब्रह्मा, जब यह विनाश पूरा हो चुकेगा और मैं वैकुण्ठ जा रहा होऊँगा, तो मैं थोड़े समय के लिए तुम्हारे वास-स्थान पर अवश्य आऊँगा।

तात्पर्य : यदुवंश के सदस्य भगवान् के नित्य दास हैं, इसलिए श्रील जीव गोस्वामी ने *नाश:* शब्द की व्याख्या *निगूढायां द्वारकायां प्रवेशनम् इत्यर्थ:*—यदुवंश के सदस्य वैकुण्ठ-लोक के गुह्य द्वारका में प्रविष्ट हुए, जो इस पृथ्वी पर प्रकट नहीं है। दूसरे शब्दों में, भगवान् का धाम द्वारका इस धरती पर प्रकट है, किन्तु जब पृथ्वी का द्वारका हटता है, तो वैकुण्ठ-लोक का नित्य द्वारका यथावत् बना रहता है। चूँकि यदुवंश के लोग भगवान् के नित्य संगी हैं, अतएव उनके विनाश का कोई प्रश्न नहीं है। केवल उनके प्राकट्य से सम्बन्धित हमारी बद्ध दृष्टि विनष्ट होती है। यही *नाश:* शब्द का अर्थ है।

श्रीशुक उवाच
इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भू: प्रणिपत्य तम् ।
सह देवगणैर्देव: स्वधाम समपद्यत ॥ ३२॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्त:—कहे जाने पर; लोक-नाथेन—ब्रह्माण्ड के स्वामी श्रीकृष्ण द्वारा; स्वयम्-भू:—स्वत: जन्मे ब्रह्मा ने; प्रणिपत्य—गिर कर नमस्कार करते हुए; तम्—उनको; सह—सहित; देव-गणै:—सारे देवताओं; देव:—ब्रह्माजी; स्व-धाम—अपने निजी धाम; समपद्यत—लौट गये।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : ब्रह्माण्ड के स्वामी द्वारा ऐसा कहे जाने पर स्वयम्भू ब्रह्मा उनके चरणकमलों पर गिर पड़े और उन्हें नमस्कार किया। तब सारे देवताओं से घिरे हुए ब्रह्माजी अपने निजी धाम लौट गये।

अथ तस्यां महोत्पातान्द्वारवत्यां समुत्थितान् ।
विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान्समागतान् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; तस्याम्—उस नगरी में; महा-उत्पातान्—भयंकर उपद्रवों को; द्वारवत्याम्—द्वारका में; समुत्थितान्—उठ खड़े हुए; विलोक्य—देखकर; भगवान्—भगवान् ने; आह—कहा; यदु-वृद्धान्—वृद्ध यदुवंशियों से; समागतान्—एकत्रित।

तत्पश्चात्, भगवान् ने देखा कि पवित्र नगरी द्वारका में भयंकर उत्पात हो रहे हैं। अत: एकत्रित वृद्ध यदुवंशियों से भगवान् इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : *मुनिवासनिवासे किम् घटेतारिष्टदर्शनम्*—जहाँ पर सन्त लोग निवास कर रहे हैं, ऐसे पवित्र स्थानों में उत्पातों या अशुभ घटनाओं के घटने की कोई सम्भावना नहीं है। इस तरह द्वारका में हो रहे तथाकथित उत्पात भगवान् द्वारा अपने शुभ प्रयोजन हेतु कराये जा रहे थे।

श्रीभगवानुवाच
एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः ।
शापश्च नः कुलस्यासीद्ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एते—ये; वै—निस्सन्देह; सु-महा-उत्पाताः—अतीव बड़े उत्पात; व्युत्तिष्ठन्ति—उठ खड़े हो रहे हैं; इह—यहाँ; सर्वतः—सभी दिशाओं में; शापः—शाप; च—तथा; नः—हमारे; कुलस्य—परिवार का; आसीत्—होता रहा है; ब्राह्मणेभ्यः—ब्राह्मणों द्वारा; दुरत्ययः—निराकरण कर पाना (टाल सकना) असम्भव।

भगवान् ने कहा : ब्राह्मणों ने हमारे वंश को शाप दिया है। ऐसे शाप का परिहार असम्भव है, इसीलिए हमारे चारों ओर महान् उत्पात हो रहे हैं।

न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः ।
प्रभासं सुमहत्पुण्यं यास्यामोऽद्यैव मा चिरम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

न वस्तव्यम्—नहीं निवास करना चाहिए; इह—यहाँ; अस्माभिः—हमारे द्वारा; जिजीविषुभिः—जीवित रहने की इच्छा से; आर्यकाः—हे शिष्ट लोगो; प्रभासम्—प्रभास नामक तीर्थस्थान को; सु-महत्—अत्यधिक; पुण्यम्—पवित्र; यास्यामः—हम चलें; अद्य—आज; एव—ही; मा चिरम्—बिना विलम्ब किये।

हे आदरणीय वरेषुजनो, यदि हम अपने प्राणों को अक्षत रखना चाहते हैं, तो अब और अधिक काल तक हमें इस स्थान पर नहीं रहना चाहिए। आज ही हम परम पवित्र स्थल प्रभास चलें। हमें तनिक भी विलम्ब नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : कृष्ण की लीलाओं में हाथ बँटाने के लिए अनेक देवताओं ने यदुकुल में जन्म लिया और वे भगवान् कृष्ण के संगियों के रूप में प्रकट हुए। जब भगवान् अपनी पार्थिव लीलाएँ समाप्त कर चुके, तो उन्होंने इन देवताओं को पुनः उनके विश्व-प्रशासन के कार्य पर वापस भेजना चाहा। हर देवता को अपने लोक में वापस जाना था। दिव्य नगरी द्वारका इतनी मंगलमयी है कि जो भी यहाँ, मरता है, वह तुरन्त ही भगवद्धाम वापस जाता है, किन्तु यदुवंश के अनेक देवता-सदस्य अभी भगवद्धाम जाने के लिए तैयार नहीं थे, इसलिए उन्हें द्वारका से बाहर जाकर मरना पड़ा। इस तरह भगवान् ने सामान्य जीव जैसा बनते हुए कहा, ''हम सभी संकट में हैं। हम सबों को तुरन्त प्रभास चलना चाहिए।'' इस

तरह कृष्ण ने अपनी योगमाया से यदुवंश के देवता-सदस्यों को मोहित कर लिया और उन्हें पवित्र स्थान प्रभास ले गये।

चूँकि द्वारका *परम मंगल* अर्थात् सर्वाधिक शुभ स्थान है, अतएव यहाँ पर कोई बनावटी अमंगल भी घटित नहीं हो सकता। वस्तुत: यदुवंश को हटाने की कृष्ण-लीला अंतत: मंगलकारी है, किन्तु बाहरी तौर से यह *अशुभ* लगने वाली है, इसलिए यह द्वारका में नहीं घटित हुई, अपितु भगवान् कृष्ण यदुओं को द्वारका से बाहर ले गये। देवताओं को उनके लोकों में भेज कर भगवान् ने अपने मूल रूप में वैकुण्ठ वापस जाने और द्वारका नगरी में रहते जाने की योजना बनाई।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक के विषय में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण टीका की है। प्रभास एक प्रसिद्ध पवित्र स्थान है, जो वेरवल रेलवे स्टेशन के पास जूनागढ़ क्षेत्र में स्थित है। श्रीमद्भागवत् के ग्यारहवें स्कंध के अध्याय ३० में लिखा हुआ है कि श्रीकृष्ण के वचन सुनकर यादवगण द्वारका की द्वीप नगरी से नावों द्वारा मुख्य स्थल पर गये और तब रथों में सवार होकर प्रभास की यात्रा की। प्रभास क्षेत्र में उन्होंने मैरेय नामक सुरा का पान किया और परस्पर लड़ने-झगड़ने लगे। इस युद्ध में लाठियों से वे एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे और इस तरह उन्होंने अपने ही विनाश की लीला शुरू कर दी।

श्रीकृष्ण अपने चतुर्भुजी रूप में एक पीपल-वृक्ष के नीचे अपनी दाहिनी जाँघ पर अपना बायाँ पाँव रख कर बैठ गये। उनके पाँव का तलवा कोकनद (लाल कमल) जैसे लाल रंग का लग रहा था। जरा नामक बहेलिया प्रभास के समुद्र तट से यह देख रहा था। उसने उनके लाल पाँव को हिरन का मुख समझ कर उस पर तीर चला दिया।

जिस पीपल-वृक्ष के नीचे कृष्ण बैठे थे, अब वहाँ पर एक मन्दिर है। इस वृक्ष से एक मील की दूरी पर समुद्र तट पर वीर प्रभञ्जन मठ है और यह कहा जाता है कि इसी स्थान से जरा बहेलिये ने तीर साधा था।

महाभारत तात्पर्य निर्णय नामक ग्रंथ के अन्त में श्री मध्वाचार्यपाद ने *मौषल लीला* का तात्पर्य निम्नवत लिखा है। भगवान् ने असुरों को मोहित करने तथा यह निश्चित करने के लिए कि उनके भक्तों के तथा ब्राह्मणों के वचन सत्य हों, उन्होंने मायारूपी देह उत्पन्न की, जिसमें जाकर तीर लगा। किन्तु

भगवान् के चतुर्भुजी रूप को जरा का तीर छू भी नहीं पाया। जरा वास्तव में भगवान् का भक्त भृगु ऋषि था। भूतकाल में भृगु मुनि के भगवान् विष्णु के वक्षस्थल पर लात मारी थी। इस घोर अपराध के फलस्वरूप भृगु को अधम शिकारी का जन्म लेना पड़ा। यद्यपि एक महान् भक्त ऐसा अधम जन्म खुशी खुशी स्वीकार कर लेता है, किन्तु भगवान् अपने भक्त को ऐसी अधम दशा में नहीं देख सकते। अतएव भगवान् ने ऐसी व्यवस्था की कि द्वापर युग के अन्त में, जब भगवान् अपनी प्रकट लीलाएँ समाप्त कर रहे थे, तो जरा बहेलिये के रूप में, उनका भक्त भृगु उनके मायारूपी शरीर पर तीर चलायेगा। इस तरह बहेलिया पश्चाताप करेगा और अपने अधम जन्म से छुटकारा पाकर भगवद्धाम वापस लौट जायेगा।

इसलिए भगवान् ने अपने भक्त भृगु को प्रसन्न करने तथा असुरों को बहकाने के लिए प्रभास में *मौषल लीला* प्रकट की, किन्तु यह समझना चाहिए कि यह एक मायावी लीला है। भगवान् कृष्ण ने इस धरा पर अपने आविर्भाव काल से कभी भी सामान्य मनुष्य के भौतिक गुणों का प्रदर्शन नहीं किया। वे अपनी माता के गर्भ से प्रकट नहीं हुए, प्रत्युत वे अपनी अचिन्त्य शक्ति से प्रसूति–गृह में अवतरित हुए थे। इसी तरह इस मर्त्य लोक का परित्याग करते समय असुरों को मोहग्रस्त करने के लिए मायावी रूप प्रकट किया। अभक्तों को मोहित करने के लिए उन्होंने अपनी माया से मायावी शरीर धारण किया, जबकि उसी के साथ साथ वे अपने *सच्चिदानन्द* शरीर में रहते रहे और इस तरह उन्होंने मायावी भौतिक शरीर का विनष्ट होना प्रकट किया। यह बहाना मूर्ख असुरों को भलीभाँति मोहित करता है, किन्तु श्रीकृष्ण का वास्तविक सच्चिदानन्द शरीर कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।

प्रभास क्षेत्र में ही एक अन्य पवित्र स्थान है, जिसका नाम भृगुतीर्थ है, जिसको परशुराम ने प्रकट किया था। वह स्थान जहाँ पर सरस्वती तथा हिरण्य नदियाँ समुद्र में मिलती हैं, भृगुतीर्थ कहलाता है और यहीं पर बहेलिए ने तीर चलाया था। *स्कन्द पुराण* के *प्रभास खण्ड* में प्रभासतीर्थ विषयक विस्तृत वर्णन है। प्रभासतीर्थ के सम्बन्ध में *महाभारत* में अनेक *फलश्रुतियाँ* भी दी हुई हैं। फलश्रुतियाँ वे शास्त्रीय कथन हैं, जो किसी पुण्यकर्म करने वाले को शुभ फल दिलाने का वचन देती हैं। अगले श्लोकों में भगवान् स्वयं ही प्रभास क्षेत्र जाने और वहाँ धार्मिक कृत्य करने से मिलने वाले विशेष लाभों को बतलाते हैं।

यत्र स्नात्वा दक्षशापाद्गृहीतो यक्ष्मणोदुराट् ।
विमुक्त: किल्बिषात्सद्यो भेजे भूय: कलोदयम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; स्नात्वा—स्नान करके; दक्ष-शापात्—प्रजापति दक्ष के शाप से; गृहीत:—पकड़ा हुआ, पीड़ित; यक्ष्मणा—फेफड़ों के रोग यक्ष्मा से; उडु-राट्—तारों का राजा, चन्द्रमा; विमुक्त:—मुक्त हुआ; किल्बिषात्—अपने पापों से; सद्य:—तुरन्त; भेजे—धारण किया; भूय:—पुन:; कला—अपनी कलाओं की; उदयम्—अभिवृद्धि।

एक बार दक्ष के शाप के कारण चन्द्रमा यक्ष्मा से पीड़ित था, किन्तु प्रभास क्षेत्र में स्नान करने मात्र से चन्द्रमा अपने सारे पापों से तुरन्त विमुक्त हो गया और उसने अपनी कलाओं की अभिवृद्धि भी प्राप्त की।

वयं च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितृन्सुरान् ।
भोजयित्वोषिजो विप्रान्नानागुणवतान्धसा ॥ ३७॥
तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै ।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; च—भी; तस्मिन्—उस स्थान पर; आप्लुत्य—स्नान करके; तर्पयित्वा—भेंट द्वारा तुष्ट करके, तर्पण करके; पितृन्—दिवंगत् पुरखों को; सुरान्—तथा देवताओं को; भोजयित्वा—भोजन कराकर; उषिज:—पूज्य; विप्रान्—ब्राह्मणों को; नाना—विविध; गुण-वता—स्वाद वाले; अन्धसा—भोजन से; तेषु—उन (ब्राह्मणों) में; दानानि—दान, भेंटें; पात्रेषु—दान के योग्य व्यक्ति; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; उप्त्वा—बोकर (उन्हें भेंट करके); महान्ति—महान्; वै—निस्सन्देह; वृजिनानि—संकट; तरिष्याम:—हम लाँघ सकेंगे; दानै:—अपने दान से; नौभि:—नावों से; इव—जैसे; अर्णवम्—समुद्र को।

प्रभास क्षेत्र में स्नान करने, वहाँ पर पितरों तथा देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बलि देने, पूज्य ब्राह्मणों को नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन खिलाने तथा उन्हें ही दान का योग्य पात्र मान कर पर्याप्त दान देने से, हम निश्चय ही इन भीषण संकटों को पार कर सकेंगे, जिस तरह मनुष्य किसी उपयुक्त नाव में चढ़ कर महासागर को पार कर सकता है।

श्रीशुक उवाच
एवं भगवतादिष्टा यादवा: कुरुनन्दन ।
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान्समयूयुजन् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; आदिष्टा:—आदेश दिये गये; यादवा:—यादवगण; कुरु-नन्दन—हे कुरुओं के प्रिय; गन्तुम्—जाने के लिए; कृत-धिय:—मन में संकल्प करके; तीर्थम्—पवित्र स्थान को; स्यन्दनान्—अपने रथों में; समयूयुजन्—घोड़े जोत दिये।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे कुरुनन्दन, इस तरह भगवान् द्वारा आदेश दिये जाने पर यादवों ने उस प्रभास क्षेत्र नामक पवित्र स्थान को जाने का निश्चय किया और उन्होंने अपने अपने रथों में घोड़े जोत दिये।

तन्निरीक्ष्योद्धवो राजन्श्रुत्वा भगवतोदितम् ।
दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः ॥ ४० ॥
विविक्त उपसङ्गम्य जगतामीश्वरेश्वरम् ।
प्रणम्य शिरिसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभाषत ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; निरीक्ष्य—देखकर; उद्धवः—उद्धव; राजन्—हे राजा; श्रुत्वा—सुनकर; भगवता—भगवान् द्वारा; उदितम्—कहा हुआ; दृष्ट्वा—देखकर; अरिष्टानि—अपशकुनों को; घोराणि—भयानक; नित्यम्—सदैव; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण का; अनुव्रतः—श्रद्धालु अनुयायी; विविक्ते—एकान्त में; उपसङ्गम्य—पास जाकर; जगताम्—ब्रह्माण्ड के समस्त चर प्राणियों के; ईश्वर—नियन्ता के; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; प्रणम्य—प्रणाम करके; शिरसा—सिर के बल; पादौ—उनके चरणों पर; प्राञ्जलिः—विनती के लिए हाथ जोड़े; तम्—उनसे; अभाषत—बोले।

हे राजन्, उद्धव भगवान् कृष्ण के सदा से ही श्रद्धावान अनुयायी थे। यादवों के कूच को अत्यन्त निकट देखकर, उनसे भगवान् के आदेशों को सुनकर तथा भयावने अपशकुनों को ध्यान में रखते हुए, वे एकान्त स्थान में भगवान् के पास गये। उन्होंने ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता के चरणकमलों पर अपना शीश झुकाया और हाथ जोड़ कर उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् के निजी धाम में कोई वास्तविक उत्पात नहीं हो सकता। द्वारका में हो रहे महान् उत्पात वास्तव में बाह्य प्रदर्शन थे, जिन्हें भगवान् ने अपनी लीला को सुलभ करने के लिए उत्पन्न किया था। हम मान्य आचार्यों से सुन कर ही कृष्ण की लीलाएँ समझ सकते हैं। कृष्ण कोई संसारी ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं और उनके कार्यकलापों को भौतिक तर्क की क्षुद्र सीमाओं में सीमित नहीं रखा जा सकता। भगवान् कृष्ण की लीलाएँ उनकी *अचिन्त्य शक्ति* का प्रदर्शन हैं, जो अंध बद्ध आत्माओं तथा उनके क्षुद्र भौतिक तर्क से परे उच्चतर आध्यात्मिक नियमों के अनुसार कार्य करती है।

श्रीउद्धव उवाच
देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्तन ।
संहृत्यैतत्कुलं नूनं लोकं सन्त्यक्ष्यते भवान् ।

विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन्न यदीश्वरः ॥ ४२॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; देव-देव—देवताओं में सबसे महान् के; ईश—हे परम ईश्वर; योग-ईश—हे समस्त योगशक्ति के स्वामी; पुण्य—जो पवित्र हैं; श्रवण-कीर्तन—जिसकी महिमा का श्रवण तथा कीर्तन कर रहे आप; संहृत्य—समेट कर; एतत्—इस; कुलम्—वंश को; नूनम्—ऐसा नहीं है; लोकम्—यह जगत; सन्त्यक्ष्यते—सदा के लिए त्यागने वाले हैं; भवान्—आप; विप्र-शापम्—ब्राह्मणों का शाप; समर्थः—सक्षम; अपि—यद्यपि; प्रत्यहन् न—तुमने मिटाया नहीं; यत्—क्योंकि; ईश्वरः-थे सुप्रेमे लोर्द्.

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, हे देवों के परम ईश्वर, आपकी दिव्य महिमा का श्रवण और कीर्तन करने से ही असली दया आती है। हे प्रभु, ऐसा लगता है कि अब आप अपने वंश को समेट लेंगे और आप इस ब्रह्माण्ड में अपनी लीलाएँ भी बन्द कर देंगे। आप सम्स्त माया-शक्ति के परम नियन्ता और स्वामी हैं। यद्यपि आप अपने वंश को दिये गये ब्राह्मणों के शाप को मिटाने में पूर्णतया समर्थ हैं, किन्तु आप ऐसा नहीं कर रहे हैं और आपका तिरोधान सन्निकट है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, कृष्ण के वंश को कभी विनष्ट नहीं किया जा सकता, अतएव *संहृत्य* का अर्थ है कि वे इस भौतिक संसार से प्रयाण करते समय यादवों को अपने साथ लेते जा रहे हैं। किन्तु सामान्य अप्रबुद्ध लोगों की दृष्टि में यदुवंश का समेटा जाना, उसका विनाश लग रहा है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने उद्धव के कथन की बहुत ही उत्तम व्याख्या की है, जो इस प्रकार है—

कृष्ण को *देवदेव* कहा गया है, क्योंकि उन्होंने इस ब्रह्माण्ड में अवतार लेकर देवताओं की सारी समस्याओं का कुशलतापूर्वक समाधान कर दिया। भगवान् ने संसार को असुरों से विहीन कर दिया और अपने भक्तों तथा धर्म दोनों को ही दृढ़तापूर्वक स्थापित किया। यहाँ पर भगवान् कृष्ण को *योगेश* कहा गया है, क्योंकि उन्होंने न केवल देवताओं की ओर से सारे कार्य सम्पन्न किये, अपितु अपने शुद्ध भक्तों के आनन्द हेतु दिव्य गुणों तथा भावों से पूर्ण अपना सुन्दर दिव्य स्वरूप भी प्रकट किया। कृष्ण को *पुण्यश्रवणकीर्तन* कहा गया है, क्योंकि जब उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा मनुष्य जैसे कार्यों का प्रदर्शन किया, तो उन्होंने अपनी लीलाओं के विषय में असंख्य वैदिक शास्त्रों के लिखे जाने के लिए प्रोत्साहित किया। इस तरह भविष्य में उत्पन्न होने वाले हम-जैसे लोग भगवान् के कार्यकलापों के विषय में सुन सकेंगे और भगवद्धाम वापस जा सकेंगे।

अपने सारे भक्तों, यहाँ तक कि जो आगे उत्पन्न होंगे, उन सबके दिव्य आनन्द तथा मोक्ष का पूरा पूरा प्रबन्ध करके कृष्ण ने निश्चय किया कि अब उनके लिए इस भौतिक जगत को छोड़ने का समय आ गया है। उद्धव भगवान् की इच्छा को समझ गये, अतः कृष्ण से बोले, ''आपने यादवों को प्रभास क्षेत्र में स्नान करके ब्राह्मणों के शाप को मिटाने के लिए आदेश दे दिया है, किन्तु पवित्र स्थान में स्नान करना मात्र आप भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन करने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कैसे हो सकता है? चूँकि सारे यादव आपके दिव्य स्वरूप का सदैव दर्शन करते हैं और आप परमेश्वर हैं, तो फिर तथाकथित पवित्र स्थान में उनके स्नान करने से क्या लाभ है? अतएव स्पष्ट है कि आपका कोई अन्य प्रयोजन है। यदि आपकी मंशा शाप को मिटाने की होती तो आपने इतना ही कहा होता, ''यह शाप काम न करे।'' और शाप का निराकरण हो गया होता। इसलिए आप इस ब्रह्माण्ड को छोड़ने की तैयारी कर रहे हैं और इसीलिए आपने इस शाप को मिटाया नहीं।''

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव ।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं हूँ; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि-कमलम्—चरणकमल; क्षण—एक क्षण का; अर्धम्—आधा; अपि—भी; केशव—हे केशी असुर के मारने वाले; त्यक्तुम्—छोड़ पाना; समुत्सहे—सहन करने में समर्थ हूँ; नाथ—हे प्रभु; स्व-धाम—अपने निजी धाम; नय—ले चलिये; माम्—मुझको; अपि—भी।

हे स्वामी, भगवान् कृष्ण, मैं आधे क्षण के लिए भी आपके चरणकमलों का विछोह सहन नहीं कर सकता। मेरी विनती है कि आप मुझे भी अपने साथ अपने धाम लेते चलें।

तात्पर्य : उद्धव समझ गये थे कि कृष्ण यदुवंश को समेटने जा रहे थे, इसीलिए उन्होंने उनसे प्रार्थना की कि वे उन्हें अपने धाम लेते जायें। उन्हें कृष्ण के निर्विशेष तेज में लीन होने की कोई कामना नहीं थी। बजाय इसके वे भगवान् के आध्यात्मिक धाम जाने और कृष्ण के सबसे प्रिय मित्र के रूप में सान्निध्य प्राप्त करने की चाह लिये हुए थे। कृष्ण तो भगवान् हैं और जो भी चाहें वे कर सकते हैं, किन्तु भक्तगण उनसे सेवा करने का अवसर प्रदान करने के लिए ही याचना करते हैं। यद्यपि भगवान् भौतिक जगत में अपने विभिन्न धामों को यथा वृन्दावन, द्वारका तथा मथुरा को प्रकट करते हैं और ये धाम वैकुण्ठ में अपने प्रतिरूपों से अभिन्न हैं, किन्तु बढ़े-चढ़े भक्तगण भगवान् की सेवा करने की इच्छा से अभिभूत होने के कारण भगवान् के आदि आध्यात्मिक धाम को जाना चाहते हैं। जैसाकि

श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कंध में भगवान् कपिल ने कहा है, शुद्ध भक्तों को मोक्ष की कोई अभिलाषा नहीं रहती। सेवा करने की अपनी उत्सुकतावश ही वे भगवान् से अपने समक्ष प्रकट होने के लिए गिड़गिड़ाते हैं। राधा तथा कृष्ण की सेवा करने की प्रगाढ़ उत्सुकता के कारण छहों गोस्वामी उनके नाम पुकारते हुए वृन्दावन के जंगलों में उन्हें ढूँढ़ा करते थे। इसी तरह उद्धव भगवान् से विनती कर रहे हैं कि वे उन्हें अपने धाम लेते जायें, जिससे भगवान् के चरणकमलों की उनकी सेवा में क्षण-भर का भी व्यवधान न आये।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि अपरिपक्व बद्धजीव भगवान् कृष्ण को ऐसा सामान्य जीवात्मा मानते हैं, जो भौतिक कार्यों में लगा रहता है, जिसके कारण वे अपने ही वंश को ब्राह्मणों के शाप से नहीं बचा पाये। उद्धव के कथन से ऐसे अभागे व्यक्तियों के कथन का संशोधन हो जाता है। भगवान् कृष्ण ने ही पुण्यात्माओं को ब्राह्मण परिवारों में जन्म लेने का वर दिया था और उन्होंने ही उन्हें शक्ति प्रदान की थी, जिससे वे उन्हीं के वंश को शाप दें। और तो और, भगवान् कृष्ण ने शाप को अक्षत रखा, यद्यपि वे उसका निराकरण करने में सक्षम थे। इसलिए आदि, मध्य तथा अन्त में, प्रत्यक्ष रूप से तथा अप्रत्यक्ष रूप से, भूत, वर्तमान तथा भविष्य में कृष्ण ही परम सत्य हैं और वे भौतिक मोह या अशक्तता से तनिक भी प्रभावित नहीं होते।

तव विक्रीडितं कृष्ण नृनां परममङ्गलम् ।
कर्णपीयूषमासाद्य त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारी; विक्रीडितम्—लीलाएँ; कृष्ण—हे कृष्ण; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; परम-मङ्गलम्—अत्यन्त शुभ; कर्ण—कानों के लिए; पीयूषम्—अमृत; आसाद्य—आस्वादन करके; त्यजन्ति—त्याग देते हैं; अन्य—अन्य वस्तुओं के लिए; स्पृहाम्—उनकी इच्छाएँ; जनाः—व्यक्ति।

हे कृष्ण, आपकी लीलाएँ मनुष्य प्रजाति के लिए अतीव शुभ हैं और कानों के लिए मादक पेय तुल्य हैं। ऐसी लीलाओं का आस्वादन करने पर लोग अन्य वस्तुओं की इच्छाएँ भूल जाते हैं।

तात्पर्य : *अन्य-स्पृहाम्* अर्थात् ''कृष्ण के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के लिए इच्छा'' सूचक है पत्नी, सन्तान, धन इत्यादि के भोग की भौतिक इच्छा का। अन्ततः भौतिकतावादी व्यक्ति अपने निजी आराम तथा तुष्टि के लिए धार्मिक मोक्ष चाह सकता है, किन्तु ऐसी सारी इच्छाएँ संसारी हैं, क्योंकि आध्यात्मिक स्तर पर शुद्धात्मा केवल भगवान् की प्रसन्नता एवं भगवान् की सेवा के बारे में सोचता है।

अतएव शुद्ध भक्त क्षण-भर के लिए भी कृष्ण को नहीं त्याग सकता। हाँ, कृष्ण की प्रसन्नता के लिए, वह सारे ब्रह्माण्ड को त्याग सकता है।

शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु ।
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेम हि ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सय्या—; आसन—; अटन—; स्थान—; स्नान—; क्रीडा—; आसन—; आदिषु—; कथम्—; त्वाम्—; प्रियम्—; आत्मानम्—; वयम्—; भक्ताः—; त्यजेम—; हि—.

हे प्रभु, आप परमात्मा हैं इसलिए, आप हमें सर्वाधिक प्रिय हैं। हम सभी आपके भक्त हैं, तो भला हम किस तरह आपको त्याग सकते हैं या आपके बिना क्षण-भर भी रह सकते हैं? हम लेटते-बैठते, चलते, खड़े होते, नहाते, खेलते, खाते या अन्य कुछ करते आपकी ही सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् कृष्ण की सेवा में निरन्तर लगे रहना चाहिए। कृष्ण के विषय में श्रवण करके तथा उनकी सेवा द्वारा हम उनसे पृथक् रूप में कुछ भी भोग करने का मोह त्याग सकते हैं। यदि हम इस तरह के सुनने तथा सेवा करने की उपेक्षा करते हैं, तो हमारे मन भगवान् की माया से मोहित हो जायेंगे; और इस जगत को कृष्ण से पृथक् देखने पर इस जगत को अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के निमित्त स्थान मान बैठेंगे। यह निपट अज्ञान जीव को कष्ट के अतिरिक्त ला ही क्या सकता है?

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम्हारे द्वारा; उपभुक्त—पहले भोगा हुआ; स्रक्—माला की; गन्ध—सुगन्ध; वासः—वस्त्र; अलङ्कार—तथा गहने; चर्चिताः—सज्जित; उच्छिष्ट—आपका जूठन; भोजिनः—खाते हुए; दासाः—दास; तव—आपके; मायाम्—माया को; जयेम—हम जीत लेंगे; हि—निस्सन्देह।

आपके द्वारा उपभोग की गई मालाओं, सुगन्धित तेलों, वस्त्रों तथा गहनों से अपने को सजाकर तथा आपका जूठन खाकर हम आपके दास निश्चय ही आपकी माया को जीत सकेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि उद्धव माया से मोक्ष पाने के लिए भगवान् के पास नहीं आये हैं। कृष्ण के निजी विश्वस्त संगी होने से उद्धव निस्सन्देह पहले से पूर्णतया मुक्तात्मा थे। वे कृष्ण से इसलिए प्रार्थना कर रहे हैं, क्योंकि कृष्ण के बिना वे क्षण-भर भी रहने के विचार को नहीं सह सकते।

यह अनुभूति ईश-प्रेम कहलाती है। उद्धव ने कृष्ण को इस प्रकार सम्बोधित किया, ''यदि आपकी माया हम पर आक्रमण करे भी तो हे प्रभु! हम उसे अपने शक्तिशाली हथियारों से आसानी से जीत लेंगे। ये हथियार हैं आपका जूठन, वस्त्र, गहने इत्यादि। दूसरे शब्दों में, हम कृष्ण-प्रसादम् से माया के ऊपर आसानी से विजय पा लेंगे—व्यर्थ के चिन्तन तथा मनोरथ से नहीं।

वातवसना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः ।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः सन्न्यासीनोऽमलाः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

वात-वसनाः—दिगम्बर, नग्न; ये—जो हैं; ऋषयः—ऋषिगण; श्रमणाः—आध्यात्मिक अभ्यास के कट्टर अनुयायी; ऊर्ध्व-मन्थिनः—ऊर्ध्वरेता, जिनका सुरक्षित वीर्य सिर तक चढ़ जाता है; ब्रह्म-आख्यम्—ब्रह्म के नाम से विख्यात; धाम—निर्विशेष दिव्य धाम; ते—वे; यान्ति—जाने के लिए; शान्ताः—शान्त; सन्न्यासिनः—संन्यासी लोग; अमलाः—पापरहित।

आध्यात्मिक अभ्यास में गम्भीरता से प्रयास करने वाले नग्न ऋषिगण, ऊर्ध्वरेता, शान्त तथा निष्पाप सन्यासी आध्यात्मिक धाम को प्राप्त करते हैं, जो ब्रह्म कहलाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के बारहवें अध्याय में कहा गया है—*क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्*—जो लोग निर्विशेष भगवान् में अनुरक्त हैं उन्हें ब्रह्म के नक्षत्र में निर्विशेष मुक्ति पाने के लिए कठिन तपस्या करनी पड़ती है। *भागवत* में भी कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः। पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः। कृच्छ्रेणः*—योगीजन अत्यधिक संघर्ष तथा कष्ट द्वारा बह्मज्योति तक ऊपर जा पाते हैं, किन्तु वे पुनः *ज्योति* से बाहर निकल कर भौतिक जगत में वापस गिर जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करते।

ईर्ष्यालु मूर्खजन भगवान् के ''पितृत्व'' का विरोध करते हैं, किन्तु ये मूर्ख अपना शरीर, मस्तिष्क या शक्ति उत्पन्न करने का न तो श्रेय ले सकते हैं, न ही वे वायु, वर्षा, वनस्पति, फल, सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि के ही श्रेय का दावा कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, वे हर क्षण ईश्वर की दया पर पूरी तरह आश्रित रहते हैं, फिर भी वे अत्यन्त ढीढ़ होकर कहते हैं कि वे भगवान् की शरण में जाना स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि वे आत्मनिर्भर हैं। वस्तुतः कुछ मोहग्रस्त जीव अपने को ईश्वर तक समझ बैठते हैं, किन्तु वे यह नहीं बतला सकते कि ''ईश्वर'' होकर भी उन्हें योग-पद्धति में नगण्य सफलता पाने के लिए कड़ी मेहनत क्यों करनी पड़ती है? इसीलिए उद्धव यह इंगित कर रहे हैं कि निर्विशेषवादियों तथा मध्यमवर्गियों से सर्वथा भिन्न शुद्ध भक्त माया को आसानी से पार कर जाते हैं,

क्योंकि वे कृष्ण के चरणकमलों में पूरी तरह से अनुरक्त रहते हैं। कृष्ण सदैव दिव्य हैं और जो उनके चरणकमलों में दृढ़तापूर्वक अनुरक्त रहता है, वह भी दिव्य होता है। कृष्ण की अहैतुकी कृपा लाखों-करोड़ों वर्षों के संघर्ष तथा श्रम करने से कहीं अधिक मूल्यवान है। मनुष्य को भगवान् की दया पाने का प्रयत्न करना चाहिए फिर तो आध्यात्मिक अनुभूति के मार्ग में हर वस्तु अत्यन्त सुगम हो जायेगी। इस युग में कृष्ण के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन करके मनुष्य उनकी कृपा पा सकता है, जैसी कि शास्त्रों की संस्तुति है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(*बृहन्नारदीय पुराण*)

यदि कोई व्यक्ति नाम के प्रति अपराधों से बचते हुए कृष्ण के पवित्र नामों का निरन्तर कीर्तन करता है, तो उसे निश्चय ही उद्धव जैसा फल मिलेगा। उद्धव को तथाकथित ब्रह्म-साक्षात्कार में कोई रुचि नहीं थी, अपितु वे भगवान् के चन्द्र-मुख की सुन्दर मुसकान रूपी मादक अमृत को छक कर पीना चाहते थे।

वयं त्विह महायोगिन्भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु ।
त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥ ४८ ॥
स्मरन्तः कीर्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च ।
गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; तु—दूसरी ओर; इह—इस जगत में; महा-योगिन्—हे महायोगी; भ्रमन्तः—घूमते हुए; कर्म-वर्त्मसु—भौतिक कर्म के मार्ग पर; त्वत्—तुम्हारा; वार्तया—कथाओं पर विचार-विमर्श द्वारा; तरिष्यामः—पार करेंगे; तावकैः—तुम्हारे भक्तों सहित; दुस्तरम्—दुर्लंघ्य; तमः—अंधकार; स्मरन्तः कीर्तयन्तः—महिमा गान करते; ते—तुम्हारे; कृतानि—कार्यों को; गदितानि—शब्दों को; च—तथा; गति—चाल; उत्स्मित—मुसकान; ईक्षण—चितवन; क्ष्वेलि—तथा मोहक लीलाएँ; यत्—जो हैं; नृ-लोक—मानव समाज की; विडम्बनम्—नकल।

हे महायोगी, यद्यपि हम सकाम कर्म के मार्ग पर विचरण करने वाले बद्धजीव हैं, किन्तु हम आपके भक्तों की संगति में आपके विषय में सुन कर ही इस भौतिक जगत के अंधकार को पार कर जायेंगे। इस तरह आप जो भी अद्भुत कार्य करते हैं और अद्भुत बातें करते हैं, उनको हम सदैव स्मरण करते हैं और उनका यशोगान करते हैं। हम अत्यन्त भावपूर्ण होकर स्मरण करते हैं

कि आप अपने विश्वस्त सुमाधुर्य दाम्पत्य का भक्तों के साथ शृंगारिक लीलाओं तथा ऐसी यौवनपूर्ण लीलाओं में लगे हुए आप किस तरह निर्भीक होकर मुसकाते तथा विचरण करते हैं। हे प्रभु, आपकी प्रेममयी लीलाएँ इस भौतिक जगत के भीतर सामान्य लोगों के कार्यकलापों की ही तरह मोहित करने वाली हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु* कह कर उद्धव अपने को सकाम कर्मों में लगे बद्धजीव के रूप में प्रस्तुत करते हैं। तो भी उद्धव को पूर्ण विश्वास है कि वे माया को अवश्य ही लाँघ जायेंगे, क्योंकि उन्हें कृष्ण के यशस्वी कार्यों तथा शब्दों का कीर्तन करने तथा स्मरण करने की लत है। इसी तरह श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

भले ही बाहर से मनुष्य भौतिक जगत में लीन प्रतीत होते हुए यदि वह प्रतिदिन चौबीसों घंटे भगवान् कृष्ण की सेवा में लगा रहता है, तो उसे मुक्तात्मा माना जाता है। यहाँ पर उद्धव कहते हैं कि कृष्ण के नाम तथा लीलाओं का श्रवण तथा कीर्तन निश्चित रूप से नग्न योगी बनने तथा जंगल में नंगे बन्दर की तरह कामेच्छाओं का शिकार होने से अच्छा है। उद्धव कृष्ण से उनके सुदर्शन चक्र की दया की भीख चाहते हैं, जिसके तेज का प्रतिनिधित्व भगवान् की लीलाओं के स्मरण तथा कीर्तन की प्रक्रिया से होता है। जो व्यक्ति भगवान् के धाम के चिन्तन के अद्वितीय आनन्द में लीन रहता है, वह सारे शोक, मोह तथा भय से मुक्त हो जाता है। श्री उद्धव की यही संस्तुति है।

श्रीशुक उवाच
एवं विज्ञापितो राजन्भगवान्देवकीसुतः ।
एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत ॥५०॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; विज्ञापितः—प्रार्थना किये जाने पर; राजन्—हे राजा; भगवान्—भगवान्; देवकी-सुतः—देवकी के पुत्र; एकान्तिनम्—एकान्त में; प्रियम्—प्रिय; भृत्यम्—दास; उद्धवम्—उद्धव से; समभाषत—बोले।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा परीक्षित, इस तरह सम्बोधित किये जाने पर देवकी-पुत्र कृष्ण अपने प्रिय अनन्य दास उद्धव से गुह्य रूप में उत्तर देने लगे।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार सारे बद्धजीव अपनी चाल-ढाल, हँसी, कार्य तथा वचनों से अपने आपको इस भौतिक जगत से अधिकाधिक जकड़ते जाते हैं। किन्तु यदि वे भगवान् की लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन में अपने को लगायें, तो उन्हें बारम्बार जन्म-मृत्यु के बन्धन से मोक्ष मिल जाय। परम मोक्ष की यह विधि श्रीकृष्ण द्वारा अपने सर्वप्रिय भक्त श्री उद्धव को विस्तार से बतलाई जायेगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''यदुवंश का प्रभास गमन'' नामक छठे अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव को उपदेश

इस अध्याय में यह वर्णन हुआ है कि जब उद्धव ने भगवान् कृष्ण से यह याचना की कि उन्हें भी वे अपने धाम लेते चलें, तो कृष्ण ने उद्धव को सलाह दी कि वे संन्यास ग्रहण कर लें। किन्तु जब उद्धव ने विस्तारपूर्वक उपदेश दिये जाने के प्रति अपनी रुचि प्रकट की, तो भगवान् ने उन्हें *अवधूत* के २८ गुरुओं का वृत्तान्त सुनाया।

उद्धव की यह याचना सुनकर कि वे उन्हें अपने साथ वैकुण्ठ लेते जाँय, भगवान् कृष्ण ने उन्हें बतलाया कि वे अपने निजी धाम जाने के इच्छुक इसलिए हैं, क्योंकि उनके अवतार का प्रयोजन पूरा हो चुका है और कलियुग के संकट शीघ्र ही पृथ्वी पर छाने वाले हैं। इसलिए उन्होंने उद्धव को सलाह दी कि वे अपने मन को उन पर एकाग्र करके सांख्य योग (सैद्धान्तिक और अनुभूत दिव्य ज्ञान) में अपने को स्थापित करके संन्यास अंगीकार कर लें। भगवान् ने यह भी आदेश दिया कि कल्मष द्वारा अस्पृश्य रहते हुए और सभी जीवों पर दयाभाव रखते हुए, वे इस नश्वर जगत में विचरण करना शुरु करें, जो भगवान् की माया और जीव की कल्पना का मिश्रित प्राकट्य मात्र है।

तब उद्धव ने कहा कि वैराग्य की भावना से भौतिक वस्तुओं का परित्याग सर्वोच्च मंगल का स्रोत है, किन्तु ऐसा वैराग्य प्राप्त करना भगवद्भक्तों के अतिरिक्त अन्य जीवों के लिए अत्यन्त कठिन हैं, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं। उद्धव ने कुछ और उपदेश की आवश्यकता

जताई, जिससे उन मूर्ख व्यक्तियों को, जो शरीर को धोखे में आत्मा मान बैठते हैं, आश्वस्त किया जा सके कि वे भगवान् के आदेशों के अनुसार अपना कर्तव्य निभायें। ब्रह्मा जैसे महान् देवता तक पूरी तरह से भगवान् के शरणागत नहीं हैं, किन्तु उद्धव ने यह घोषित किया कि उन्होंने समस्त जीवों के एकमात्र असली मित्र तथा वैकुण्ठ के सर्वज्ञ स्वामी तथा परम सत्य के एकमात्र असली उपदेशक भगवान् नारायण की शरण ग्रहण कर ली है। यह सुनकर भगवान् ने उत्तर दिया कि वस्तुत: *जीवात्मा* ही अपना गुरु है। सारे जीव इस शरीर के भीतर सकारात्मक तथा नकारात्मक विधियों से परमेश्वर को खोज सकते हैं और अन्त में उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए भगवान् को मनुष्य-जीवन अत्यन्त प्रिय है। इस सन्दर्भ में भगवान् कृष्ण ने ब्राह्मण अवधूत तथा महाराज यदु के बीच हुई पुरानी वार्ता बतलानी शुरु कर दी।

एक बार ययाति-पुत्र महाराज यदु की भेंट एक *अवधूत* से हुई, जो अत्यन्त दिव्य भाव में मग्न होकर इधर-उधर विचरण कर रहा था और सनकी जैसे कार्य कर रहा था, मानो वह भूत-प्रेत द्वारा सताया व्यक्ति हो। राजा ने उस पवित्र व्यक्ति से उसके विचरण करने तथा उसकी आनन्दावस्था के विषय में पूछा। अवधूत ने उत्तर दिया कि उसने २४ विभिन्न गुरुओं से—यथा पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि इत्यादि से शिक्षाएँ प्राप्त की हैं। वह उनसे ज्ञान प्राप्त करने के ही कारण मुक्त भाव से पृथ्वी पर विचरण करने में समर्थ है।

उसने पृथ्वी से सीखा कि किस तरह गम्भीर बना जाय। उसने पृथ्वी के दो रूपों, पर्वत तथा वृक्ष, से यह सीखा कि किस तरह अन्यों की सेवा की जाय और किस तरह परोपकार हेतु अपना जीवन अर्पित कर दिया जाय। शरीर के भीतर प्राण-वायु के रूप में प्रकट वायु से उसने यह सीखा कि किस तरह अपने को जीवित रखने मात्र से सन्तुष्ट रहा जाय। उसने बाह्य वायु से यह सीखा कि किस तरह शरीर तथा इन्द्रिय-विषयों से अकलुषित रहा जाय। आकाश से उसने यह सीखा कि सभी भौतिक वस्तुओं में व्याप्त आत्मा अविभाज्य तथा अदृश्य है। जल से उसने यह सीखा कि किस तरह प्राकृतिक रूप से स्वच्छ तथा शुद्ध रहा जाय। अग्नि से उसने यह सीखा कि किस तरह मलिन हुए बिना सभी वस्तुओं को निगल लिया जाय और किस तरह उन लोगों की अशुभ इच्छाओं को नष्ट किया जाय, जो उसे भेंटें देते हैं। अग्नि से उसने यह भी सीखा कि किस तरह आत्मा हर शरीर में प्रवेश करता है और

प्रकाश प्रदान करता है और किस तरह देहधारियों के जन्म तथा मृत्यु का पता नहीं लगाया जा सकता। चन्द्रमा से उसने यह सीखा कि भौतिक देह किस तरह बढ़ता-घटता है। सूर्य से उसने यह सीखा है कि इन्द्रिय-विषयों के सम्पर्क में आने पर भी किस तरह उनमें लिप्त होने से बचना चाहिए। उसने अनुभूति की वे दो विधियाँ भी सीखीं, जो आत्मा के असली रूप को देखने तथा मिथ्या उपाधिवाले आवरणों को देखने पर आधारित हैं। कबूतर से उसने यह सीखा कि अत्यधिक स्नेह तथा अत्यधिक अनुरक्ति अच्छे नहीं हैं। यह मानव-शरीर मुक्ति के लिए खुला द्वार है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति कबूतर की तरह अपने परिवार में लिप्त रहता है, तो उसकी तुलना उस व्यक्ति से की जाती है, जो किसी उच्च स्थान पर पुन: नीचे गिरने के लिए चढ़ा हो।

श्रीभगवानुवाच
यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे ।
ब्रह्मा भवो लोकपाला: स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिण: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यत्—जो कुछ; आत्थ—आपने कहा; माम्—मुझसे; महा-भाग—हे अत्यन्त भाग्यशाली उद्धव; तत्—वह; चिकीर्षितम्—जिसे मैं करने का इच्छुक हूँ; एव—निश्चय ही; मे—मेरा; ब्रह्मा—ब्रह्मा; भव:—शिव; लोक-पाला:—सारे लोकों के नायक; स्व:-वासम्—वैकुण्ठ धाम; मे—मेरा; अभिकाङ्क्षिण:—वे इच्छा कर रहे हैं।

भगवान् ने कहा : हे महाभाग्यशाली उद्धव, तुमने इस पृथ्वी पर से यदुवंश को समेटने की तथा वैकुण्ठ में अपने धाम लौटने की मेरी इच्छा को सही सही जान लिया है। इस तरह ब्रह्मा, शिव तथा अन्य सारे लोक-नायक, अब मुझसे प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं अपने वैकुण्ठ-धाम वापस चला जाऊँ।

तात्पर्य : इसी भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर स्वर्गलोक में प्रत्येक देवता का अपना निवासस्थान है। यद्यपि कभी कभी भगवान् विष्णु की गिनती देवताओं में की जाती है, किन्तु उनका धाम वैकुण्ठ में है। सारे देवता माया के साम्राज्य के अन्तर्गत विश्व के नियामक हैं, किन्तु विष्णु तो माया तथा अन्य अनेक आध्यात्मिक शक्तियों के स्वामी हैं। उनका भव्य निवासस्थान उनकी अकिंचन दासी माया के साम्राज्य के भीतर स्थित नहीं है।

भगवान् विष्णु समस्त देवों के देव हैं अन्य देवता उनके भिन्नांश हैं। सारे देवता क्षुद्र जीव आत्मा होने के कारण मायाशक्ति के वशीभूत रहते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु माया के परम नियन्ता हैं। भगवान्

सारे जगत के मूल तथा आगार हैं और यह भौतिक जगत उनके नित्य आध्यात्मिक निवासस्थान के तेजोमय दृश्य की धुंधली झलक मात्र है, जहाँ हर वस्तु अतीव सुन्दर एवं आनन्ददायक है। विष्णु परम सत्य हैं और कोई जीव न तो उनके समान हो सकता है, न ही उनसे बढ़कर। भगवान् अपनी ही अद्वितीय कोटि के भीतर रहा करते हैं, जिसे *विष्णुतत्त्व* कहते हैं। अन्य सारे प्रधान या असाधारण जीव भगवान् से ही अपनी शक्ति तथा पद प्राप्त करते हैं। अन्ततः विष्णु स्वयं में भगवान् कृष्ण के स्वांश हैं, जो कि समस्त विष्णुतत्त्वों तथा जीवतत्त्वों के मूल उद्गम हैं। इस तरह भगवान् कृष्ण सारी वस्तुओं के आधार हैं।

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः ।
यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; निष्पादितम्—सम्पन्न किया गया; हि—निश्चय ही; अत्र—इस जगत में; देव-कार्यम्—देवताओं के लाभ के लिए कार्य; अशेषतः—पूर्णतया, करने को कुछ भी शेष नहीं रहा; यत्—जिसके; अर्थम्—हेतु; अवतीर्णः—अवतरित हुआ; अहम्—मैं; अंशेन—अपने स्वांश, बलदेव सहित; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; अर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर।

ब्रह्माजी द्वारा प्रार्थना करने पर मैंने इस संसार में अपने स्वांश बलदेव सहित अवतार लिया था और देवताओं की ओर से अनेक कार्य सम्पन्न किये। अब यहाँ पर मैं अपना मिशन पूरा कर चुका हूँ।

कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात् ।
समुद्रः सप्तमे ह्येनां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कुलम्—यह यदुवंश; वै—निश्चित रूप से; शाप—शाप से; निर्दग्धम्—समाप्त; नङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जायेगा; अन्योन्य—परस्पर; विग्रहात्—झगड़े से; समुद्रः—समुद्र; सप्तमे—सातवें दिन; हि—निश्चय ही; एनाम्—इस; पुरीम्—नगरी को; च—भी; प्लावयिष्यति—आप्लावित कर देगा।

अब ब्राह्मणों के शाप से यह यदुवंश निश्चित रूप से परस्पर झगड़ कर समाप्त हो जायेगा और आज से सातवें दिन यह समुद्र उफन कर इस द्वारका नगरी को आप्लावित कर देगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में तथा इसके बाद के श्लोकों में भगवान् कृष्ण उद्धव को संकेत देते हैं कि वे तुरन्त ही भौतिक जगत से अपनी सारी पहचान त्याग कर अपने को तुरन्त आत्म-साक्षात्कार में एकाग्र कर लें। श्रील जीव गोस्वामी ने लिखा है कि वास्तव में यदुवंश का विनाश कृष्ण द्वारा नहीं

हुआ, अपितु ब्राह्मणों के शाप से वह इस जगत की दृष्टि से ओझल हो गया। इसी प्रकार भगवान् का नित्य धाम द्वारका कभी भी समुद्र द्वारा डुबोया नहीं जा सकता। इतने पर भी इस दिव्य नगरी तक पहुँचने वाले बाह्य मार्ग समुद्र से ढक चुके थे। इस तरह भगवान् का धाम कलियुग में मूर्ख लोगों की पहुँच के बाहर रहता है जैसाकि इस स्कन्ध में बाद में बतलाया जाएगा।

भगवान् अपनी योगमाया द्वारा अपने रूप, धाम, साज-सामग्री, लीला, परिकर इत्यादि को प्रकट करते हैं और उपयुक्त समय पर वे इन सारी वस्तुओं को हमारी सांसारिक दृष्टि से ओझल कर देते हैं। यद्यपि मोहग्रस्त बद्धजीव भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति में सन्देह कर सकते हैं, किन्तु शुद्ध भक्तगण उनके दिव्य प्राकट्य तथा तिरोधान की प्रत्यक्ष अनुभूति करके आनन्द उठा सकते हैं, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* में *जन्म कर्म च मे दिव्यम्* के रूप में हुआ है। यदि भगवान् के दिव्य स्वभाव के इस पूर्ण ज्ञान को स्वीकार कर लिया जाय, तो मनुष्य निश्चित रूप से भगवद्धाम वापस जा सकता है और भगवान् कृष्ण का नित्य संगी बन सकता है।

यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः ।
भविष्यत्यचिरात्साधो कलिनापि निराकृतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; एव—निश्चित रूप से; अयम्—यह; मया—मेरे द्वारा; त्यक्तः—छोड़ा हुआ; लोकः—संसार; अयम्—यह; नष्ट-मङ्गलः—समस्त मंगल या दया से विहीन; भविष्यति—हो जायेगा; अचिरात्—शीघ्र ही; साधो—हे साधु-पुरुष; कलिना—कलि के कारण; अपि—स्वयं; निराकृतः—अभिभूत।

हे साधु उद्धव, मैं निकट भविष्य में इस पृथ्वी को छोड़ दूँगा। तब कलियुग से अभिभूत होकर यह पृथ्वी समस्त पवित्रता से विहीन हो जायेगी।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की योजना उद्धव को कुछ समय बाद अपने ही धाम वापस ले जाने की थी। उद्धव के असाधारण आध्यात्मिक गुणों के कारण भगवान् उन्हें उन साधु-पुरुषों के बीच अपना सन्देश प्रचारित-प्रसारित करने के लिए लगाना चाहते थे, जो अभी भी भक्ति की उच्च अवस्था को प्राप्त नहीं हुए थे। तथापि भगवान् ने उद्धव को आश्वास्त किया कि तुम क्षण-भर के लिए भी मेरी संगति से विहीन नहीं होगे। यही नहीं, चूँकि उद्धव अपनी इन्द्रियों के पूर्ण स्वामी बन चुके थे अतएव प्रकृति के तीनों गुणों से प्रघातित नहीं हो सकेंगे। इस तरह उद्धव को अपने धाम वापस ले जाने के पूर्व भगवान् ने उन्हें अपना विशिष्ट गुह्य मिशन पूरा करने का अधिकार सौंप दिया।

जहाँ-जहाँ भगवान् के सर्वोच्च पद को मान्यता नहीं दी जाती, वहाँ व्यर्थ मानसिक चिन्तन का प्राधान्य हो जाता है और पूर्ण वैदिक ज्ञान के श्रवण करने का सुरक्षित तथा निश्चित मार्ग मनोरथ के व्यामोह से आच्छादित हो जाता है। सम्प्रति विशेषकर पाश्चात्य देशों में हजारों विषयों पर लाखों पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, तो भी मनोकल्पनाओं की वृद्धि होने पर भी लोग मानव-जीवन की मूलभूत समस्याओं के बारे में अज्ञानी बने रहते हैं। जैसे—मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ से आया हूँ ? मैं कहाँ जा रहा हूँ ? मेरी आत्मा क्या है ? ईश्वर क्या है ?

भगवान् श्रीकृष्ण असंख्य मनोहारी लीलाओं के आगार हैं। इस तरह वे असंख्य प्रकार के आनन्द के स्रोत हैं। वस्तुत: वे नित्य आनन्द के सागर हैं। जब नित्य आत्मा भगवान् की प्रेमाभक्ति से मिलने वाले स्वाभाविक आनन्द से विहीन हो जाता है, तो भौतिक प्रकृति उसे मोहित कर लेती है। वह असहाय होकर इन्द्रियतृप्ति का पीछा, यह सोच कर करता है कि यह वस्तु अच्छी है और वह वस्तु खराब है। इस तरह वह अच्छे-बुरे का अपना मूल्यांकन बदलता रहता है, जिससे उसे सुख या शान्ति नहीं मिलती, वह निरन्तर चिन्तित रहता है और जन्म-मृत्यु, जरा तथा रोग के रूप में प्रकृति के क्रूर नियमों से बारम्बार प्रताड़ित होता रहता है।

इस तरह से बद्धजीव कलियुग में जन्म लेने का सही पात्र बन जाता है, जो कि दुर्भाग्य का प्रतीक है। कलियुग में पहले से अनेक कष्टों से पीड़ित जीव एक-दूसरे के प्रति निर्दय बन जाते हैं। कलियुग में मानव-समाज असभ्य तरह से हिंसक बन जाता है। मनुष्य लाखों निरीह प्राणियों का वध करने के लिए कसाई-खाने खोलते हैं। बड़े पैमाने पर युद्धों की घोषणा होती है और लाखों मनुष्य, यहाँ तक स्त्रियाँ और बच्चे भी शीघ्र विनष्ट हो जाते हैं।

जब तक जीव भगवान् की सत्ता को मान नहीं लेता, तब तक वह माया के पाश में असहाय बना रहता है। माया से अपने को छुड़ाने के लिए वह अनेक मनगढंत समाधान ढूँढ़ता है, किन्तु ये समाधान भी माया द्वारा रचित होते हैं, अतएव बद्धजीव संभवत: अपने को छुड़ा नहीं पाता। वस्तुत: इनसे उसका कष्ट बढ़ता है। अगले श्लोक में भगवान् कृष्ण उद्धव को कलियुग से बचने और भगवद्धाम जाने की विशेष चेतावनी देते हैं। हममें से वे लोग, जो कलियुग में जन्म ले चुके हैं, उन्हें भी इस उपदेश पर

ध्यान देकर भगवान् के सच्चिदानन्द धाम वापस जाने के लिए सभी आवश्यक कदम उठाने चाहिए। यह भौतिक जगत कभी भी, विशेषतया कलियुग के भयाक्रान्त दिनों में, सुखी स्थान नहीं रहा।

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले ।
जनोऽभद्ररुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे ॥ ५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वस्तव्यम्—रहे आना चाहिए; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—निश्चय ही; इह—इस जगत में; मया—मेरे द्वारा; त्यक्ते—त्यागे हुए; महीतले—पृथ्वी पर; जन:—लोग; अभद्र—पापी, अशुभ वस्तुएँ; रुचि:—लिप्त; भद्र—हे पापरहित एवं मंगलमय; भविष्यति—हो जायेगा; कलौ—इस कलि; युगे—युग में।

हे उद्धव, जब मैं इस जगत को छोड़ चुकूँ, तो तुम्हें इस पृथ्वी पर नहीं रहना चाहिए। हे प्रिय भक्त, तुम निष्पाप हो, किन्तु कलियुग में लोग सभी प्रकार के पापपूर्ण कार्यों में लिप्त रहेंगे, अतएव तुम्हें यहाँ नहीं रुकना चाहिए।

तात्पर्य : इस कलिकाल में मनुष्य इस बात से नितान्त अनभिज्ञ रहते हैं कि भगवान् अपनी दिव्य लीलाएँ उसी रूप में प्रदर्शित करने के लिए पृथ्वी पर आते हैं, जिस रूप में ये लीलाएँ स्वर्ग में सम्पन्न की जाती हैं। भगवान् की सत्ता की परवाह न करते हुए कलियुग के पतित जन कटु कलह में फँस कर एक-दूसरे को सताते हैं। चूँकि कलियुग में लोग दूषित पापपूर्ण कार्यों में लिप्त रहते हैं, इसलिए वे सदैव क्रुद्ध, कामी तथा उद्विग्न रहते हैं। कलियुग में भगवद्भक्तों को, जो भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे हुए हैं, चाहिए कि इस पृथ्वी पर जीवन बिताने के लिए कभी आकृष्ट न हों, क्योंकि इसकी जनता अज्ञान के अंधकार में डूबी हुई है और भगवान् से किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं रखती। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने उद्धव को सलाह दी कि वे कलियुग में इस पृथ्वी पर न रहें। वस्तुत: भगवान् ने *भगवद्गीता* में सारे जीवों को सलाह दी है कि वे किसी भी युग में इस भौतिक विश्व में कहीं भी न रहें। इसलिए हर जीव को कलियुग के दबावों का लाभ उठाकर भौतिक जगत की व्यर्थ-प्रकृति को समझने और स्वयं को भगवान् के चरणकमलों में समर्पित करने का लाभ उठाना चाहिए। श्री उद्धव के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण की शरण ग्रहण करे और भगवद्धाम वापस जाय।

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु ।

मय्यावेश्य मनः संयक्समदृग्विचरस्व गाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—वस्तुतः; सर्वम्—समस्त; परित्यज्य—छोड़ कर; स्नेहम्—स्नेह; स्व-जन-बन्धुषु—अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों के प्रति; मयि—मुझ भगवान् में; आवेश्य—एकाग्र करके; मनः—मन को; संयक्—पूरी तरह; सम-दृक्—हर एक को समान दृष्टि से देखते हुए; विचरस्व—विचरण करो; गाम्—पृथ्वी-भर में।

अब तुम्हें चाहिए कि अपने निजी मित्रों तथा सम्बन्धियों से अपने सारे नाते त्याग कर, अपने मन को मुझ पर एकाग्र करो। इस तरह सदैव मेरी भावना से भावित होकर, तुम्हें सारी वस्तुओं को समान दृष्टि से देखना चाहिए और पृथ्वी-भर में विचरण करना चाहिए।

तात्पर्य : श्रीमद् वीरराघव आचार्य ने समदृष्टि की व्याख्या इस प्रकार की है—*सम-दृक् सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धान-रूप-सम-दृष्टिमान्*—आत्म-साक्षात्कार के पथ पर चलने वाले को सारे जगत की अनन्तिम आध्यात्मिक प्रकृति को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। इस श्लोक में *मयि* शब्द का अर्थ है *परमात्मनि*। मनुष्य को अपना मन भगवान् में एकाग्र करना चाहिए, जो कि समस्त वस्तुओं के स्रोत हैं। इस तरह अपने लिए नियत समय का उपयोग करते हुए, इस पृथ्वी पर अपना जीवन बिताकर मनुष्य को चाहिए कि सारी वस्तुओं तथा सारे लोगों को परम सत्य भगवान् के भिन्नांश रूप में देखने की आदत डाले। चूँकि सारे जीव कृष्ण के भिन्नांश हैं, अतएव उन सबों का अन्ततः एक-सा आध्यात्मिक स्वरूप है। प्रकृति भी कृष्ण से उद्भूत होने से समान आध्यात्मिक पद को प्राप्त रहती है। यद्यपि पदार्थ तथा आत्मा दोनों ही भगवान् से उद्भूत हैं, किन्तु वे पूरी तरह से समान स्तर पर नहीं हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि आत्मा भगवान् की पराशक्ति है, जबकि प्रकृति अपरा शक्ति है। किन्तु चूँकि कृष्ण सभी वस्तुओं में समान रूप से उपस्थित रहते हैं, अतएव इस श्लोक में *सम-दृक्* शब्द यह सूचित करता है कि मनुष्य को चाहिए कि हर वस्तु के भीतर कृष्ण को और कृष्ण के भीतर हर वस्तु को देखे। इस तरह समदृष्टि का मेल इस भौतिक जगत में अनेकता के परिपक्व ज्ञान से होता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : ''इस पृथ्वी पर व्यक्त अपनी लीलाओं की समाप्ति पर भगवान् कृष्ण ने अपने मन में इस प्रकार सोचा, ''इस पृथ्वी पर अपनी लीलाओं के समय मैंने अपने उन भक्तों की सारी इच्छाएँ पूरी कर दी हैं, जो मेरा दर्शन पाने के उत्कण्ठापूर्वक इच्छुक थे। मैंने रुक्मिणी सहित, जिसका मैंने स्वयं परिहरण किया था, कई हजार रानियों से विवाह किया है और अनेक स्थानों तथा अनेक उपायों से मैंने असंख्य असुरों का वध किया

है, मैंने वृन्दावन, मथुरा, द्वारका, हस्तिनापुर तथा मिथिला जैसे नगरों में अनेक सभाओं, मेल-मिलापों तथा मित्रों, सम्बन्धियों एवं हितैषियों के साथ उत्सवों में भाग लिया है। इस तरह लीलाओं को सम्पन्न करने में इधर-उधर दौड़-धूप में मैंने निरंतर अपने को व्यस्त रखा है।''

इसके अतिरिक्त भी मैंने पृथ्वी-लोक के नीचे स्थित अपने बड़े बड़े भक्तों को अपना सान्निध्य प्रदान करने की व्यवस्था की है। अपनी माता देवकी को प्रसन्न करने के लिए तथा कंस द्वारा मारे गये उनके छहों पुत्रों को वापस लाने के लिए मैं सुतल लोक तक गया हूँ और मैंने अपने महान् भक्त बलि महाराज को आशीर्वाद दिया है। अपने गुरु सान्दीपनि मुनि के मृत पुत्र को वापस लाने के लिए मैं स्वयं रविनन्दन यमराज के दरबार में गया, जिससे वह मेरा साक्षात्कार कर सका। मैंने स्वर्ग के निवासियों को, यथा माता अदिति तथा कश्यप मुनि को तब अपने सान्निध्य से कृतज्ञ किया, जब मैंने अपनी पत्नी सत्यभामा के लिए पारिजात पुष्प चुराने के लिए वहाँ की यात्रा की थी। महाविष्णु के धाम के निवासियों, यथा नारद, सुनन्द तथा सुदर्शन को प्रसन्न करने के उद्देश्य से मैंने क्षुब्ध ब्राह्मण के मृत पुत्रों को लाने के लिए महावैकुण्ठ-लोक की यात्रा की। इस तरह उन असंख्य भक्तों को उनकी प्रार्थनाओं का लक्ष्य प्राप्त हुआ, जो मुझे देखने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे।

''दुर्भाग्यवश नर-नारायण ऋषि तथा बदरिकाश्रम में उनके साथ रह रहे परमहंस मुनियों की इच्छाएँ पूरी नहीं हुईं, यद्यपि वे मेरा दर्शन पाने के लिए अतीव उत्सुक थे। मैं पृथ्वी पर १२५ वर्षों से रहता आया हूँ और मेरा नियत समय अब समाप्त हो चुका है। अपनी लीलाओं में अति व्यस्त रहने के कारण मैं इन महामुनियों को आशीर्वाद तक नहीं दे पाया। तो भी, उद्धव मेरे ही समान है। वह महान् भक्त है और मेरे दिव्य ऐश्वर्य में हाथ बँटाता है। अतएव बदरिकाश्रम भेजने के लिए यही व्यक्ति उपयुक्त है। मैं उद्धव को वह पूर्ण ज्ञान दूँगा, जिससे मनुष्य भौतिक जगत से विरक्त हो जाता है और फिर वह माया के संसार को लाँघने वाले इस ज्ञान को, बदरिकाश्रम के सुयोग्य मुनियों को प्रदान कर सकता है। इस तरह वह उन्हें मेरे चरणकमलों पर प्रेमाभक्ति करने की विधि सिखला सकता है। ऐसी भक्ति अमूल्य निधि है और ऐसा ज्ञान सुनकर नर-नारायण जैसे महामुनियों की इच्छाएँ पूर्ण हो सकेंगी।''

''जो महान् आत्माएँ मेरी शरण में आ चुकी हैं, वे सदैव दिव्य ज्ञान से युक्त और भौतिक जगत से विरक्त रहती हैं। कभी कभी अपनी भक्ति में लीन रहने के कारण वे मुझे विस्मरण करती प्रतीत हो

सकती हैं। किन्तु वह शुद्ध भक्त, जिसने मेरे शुद्ध प्रेम के पद को पा लिया है, ऐसी निष्ठावान भक्ति से सदैव सुरक्षा पाता रहेगा। यदि ऐसा भक्त मुझमें अपना ध्यान एकाग्र करने की उपेक्षा करते हुए अपना प्राण छोड़ देता है, तो भी ऐसे भक्त की प्रेममयी भावनाएँ इतनी शक्तिशाली होती हैं कि वे उसे सारी सुरक्षा प्रदान करती हैं। यदि क्षणिक विस्मृति हो भी जाय, तो ऐसी भक्ति उस भक्त को मेरे चरणकमलों पर लायेगी, जो सामान्य भौतिकतावादी व्यक्तियों की दृष्टि से परे हैं। उद्धव मेरा शुद्ध भक्त है। मेरा ज्ञान तथा इस संसार से विरक्ति का उसमें पुन: उद्रेक हुआ है, क्योंकि वह कभी भी मेरी संगति नहीं छोड़ सकता।''

चैतन्य महाप्रभु के निष्ठावान सेवक इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अपने गुरु तथा भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता हेतु प्रसारित करने में बड़े जोर-जोर से प्रयत्नशील हैं। सम्प्रति कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हजारों भक्त विश्व के सभी भागों में दिव्य साहित्य का वितरण करने तथा सामान्य लोगों को प्रबुद्ध करने के लिए विषम परिस्थितियों में काफी समय तक कार्य करते रहते हैं। इस प्रयास में भक्तों का अपना कोई स्वार्थ नहीं है, अपितु वे अपने गुरु की पुस्तकें वितरित करके केवल उन्हें प्रसन्न करने के इच्छुक हैं। जो लोग इस साहित्य को प्राप्त करते हैं, उन्हें कृष्णभावनामृत का पहले से प्राय: कोई अनुभव नहीं होता, फिर भी वे लोग भक्तों की शुद्धता देख कर इतने प्रभावित होते हैं कि वे उत्सुकतापूर्वक पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ खरीद लेते हैं। कृष्णभावनामृत के कठिन कार्य को सम्पन्न करने के उद्देश्य से भक्तगण अहर्निश अथक परिश्रम करते हैं, क्योंकि वे प्रेमाभक्ति के पद को प्राप्त हैं। भले ही ऐसे व्यस्त भक्तगण कभी कभी कृष्ण के चरणकमलों के विषय में प्रत्यक्ष रूप से नहीं भी सोचते हों, किन्तु ऐसी प्रेमाभक्ति उन्हें कृष्ण के चरणकमलों में वापस ले जायेगी और भगवान् उनकी सेवा से प्रसन्न होकर स्वयं ही उन्हें अपने अटल ध्यान में लगा लेंगे। भक्तियोग की यही विशेषता है, जो सर्व-दयालु भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा पर पूर्णतया निर्भर है। भौतिक भोग की गहन इच्छाओं को समूल नष्ट करने, कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम प्राप्त करने तथा भौतिक ब्रह्माण्ड से परे भगवद्धाम जाने का एकमात्र यही पूर्णतया सुरक्षित उपाय है। *भगवद्गीता* (२.४०) में कहा गया है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

इस श्लोक में कृष्ण ने उद्धव को इस जगत में अपने तथाकथित मित्रों तथा अपने परिवार के प्रति भ्रामक लगाव त्यागने की भी सलाह दी। भले ही मनुष्य शारीरिक रूप से अपने परिवार तथा मित्रों का संग त्याग पाने में समर्थ न हो, किन्तु उसे यह समझना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक जीव ईश्वर का भिन्नांश है और वह ईश्वर के आनन्द के निमित्त है। ज्योंही मनुष्य सोचता है कि "यह मेरा परिवार है" त्योंही वह इस जगत को पारिवारिक जीवन की भोग-स्थली मान बैठता है। अपने तथाकथित परिवार से जुड़ते ही, उसमें झूठी प्रतिष्ठा तथा भौतिक स्वामित्व का उदय होता है। वस्तुत: हर व्यक्ति ईश्वर का भिन्नांश है, अतएव आध्यात्मिक स्तर पर वह अन्य समस्त जीवों से सम्बन्धित है, यह *कृष्ण-सम्बन्ध* कहलाता है। सर्वोच्च आध्यात्मिक जागरूकता तक पहुँच पाना और साथ ही समाज, मैत्री तथा प्रेम की क्षुद्र भौतिक संकल्पना को बनाये रख पाना सम्भव नहीं है। मनुष्य को सारे सम्बन्धों का अनुभव उच्चतर आध्यात्मिक स्तर पर करना चाहिए, जो *कृष्ण-सम्बन्ध* का स्तर है और जिसका अर्थ है, हर वस्तु को भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित देखना।

जो कृष्ण के साथ अपने स्वाभाविक सम्बन्धों में स्थित है, वह सारी वस्तुओं को कृष्ण के साथ जोड़कर देखता है। इस तरह वह शरीर, मन तथा वाणी की सांसारिक इच्छाओं को त्याग देता है और भगवद्भक्त के रूप में पृथ्वी-भर में यात्रा करता है। ऐसा उच्च पुरुष *गोस्वामी* कहलाता है। *भगवद्गीता* (१८.५४) में इस अवस्था को *ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा* शब्दों द्वारा बतलाया गया है।

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

यत्—जो; इदम्—इस जगत को; मनसा—मन से; वाचा—वाणी से; चक्षुर्भ्याम्—आँखों से; श्रवण-आदिभि:—कानों तथा अन्य इन्द्रियों से; नश्वरम्—क्षणिक; गृह्यमाणम्—जिसे स्वीकार या अनुभव किया जा रहा हो; च—तथा; विद्धि—तुम्हें जानना चाहिए; माया-मन:-मयम्—माया के प्रभाव से इसे असली करके केवल कल्पित किया जाता है।

हे उद्धव, तुम जिस ब्रह्माण्ड को अपने मन, वाणी, नेत्रों, कानों तथा अन्य इन्द्रियों से देखते हो वह भ्रामक सृष्टि है, जिसे माया के प्रभाव से मनुष्य वास्तविक मान लेता है। वास्तव में, तुम्हें यह जानना चाहिए कि भौतिक इन्द्रियों के सारे विषय क्षणिक हैं।

तात्पर्य : यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब संसार-भर में अच्छे तथा बुरे गुण पाये जाते हैं, तो भगवान् कृष्ण किस तरह उद्धव को सारी वस्तुओं को समान रूप से देखने की सलाह देते हैं? इस

श्लोक में कृष्ण बतलाते हैं कि भौतिक अच्छाई तथा बुराई माया की सृष्टियाँ हैं, जिस तरह स्वप्न की वस्तुएँ मन की उपज हैं।

जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*वासुदेव: सर्वमिति*—भगवान् कृष्ण ही सर्वस्व हैं, क्योंकि वे हर वस्तु में विद्यमान रहते हैं और हर वस्तु उनके भीतर विद्यमान रहती है। कृष्ण *सर्वलोक-महेश्वरम्* हैं अर्थात् सारे जगतों के स्वामी हैं। किसी भी वस्तु को कृष्ण से पृथक् देखना भ्रम है और किसी भी प्रकार के भौतिक भ्रम के प्रति, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, आकृष्ट होना अन्तत: व्यर्थ है, क्योंकि इससे जीव जन्म-मृत्यु के चक्कर में घूमते रहने के लिए बाध्य होता है।

देखना, सुनना, सूँघना, आस्वादन करना तथा स्पर्श करना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के कार्य हैं। इसी तरह वाणी, हाथ, पैर, गुदा तथा लिंग पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये दस इन्द्रियाँ मन के चारों ओर व्यवस्थित हैं, जो भौतिक क्रियाशीलता का केन्द्र है। जब जीव पदार्थ का दोहन करना चाहता है, तो वह प्रकृति के तीन गुणों से आच्छादित हो जाता है। इस तरह वह वास्तविकता के बारे में विभिन्न दार्शनिक, राजनैतिक तथा सामाजिक व्याख्याएँ गढ़ता है, किन्तु वह परम सत्य भगवान् कृष्ण को, जो कि भौतिक इन्द्रियों की दूषित अनुभूति से परे हैं, कभी नहीं समझ पाता। जो व्यक्ति भौतिक उपाधियों के जाल में, यथा जाति, राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिक धर्म, राजनैतिक सम्बन्ध इत्यादि में, फँसा रहता है, वह यह सोचकर अपने शरीर तथा अन्य शरीरों को भौतिक इन्द्रिय-विषयों से जोड़ने में व्यस्त रहता है कि ये इन्द्रिय-विषय सुख तथा तुष्टि के स्रोत हैं। दुर्भाग्यवश यह संसार, इसको अनुभव करने वाली इन्द्रियों समेत, एक नश्वर सृष्टि है, जो परमेश्वर की कालशक्ति द्वारा विनष्ट हो जायेगी। हमारी मूर्खतापूर्ण आशाओं तथा स्वप्नों के उपरान्त भौतिक स्तर पर कोई वास्तविक सुख नहीं है। असली सत्य न तो भौतिक है, न ही क्षणिक। असली सत्य तो *आत्मा* कहलाता है और समस्त आत्माओं में एक ही सर्वोच्च है। वह भगवान् कहलाता है और अपने मूल रूप में वह कृष्ण के रूप में विख्यात है। कृष्ण के अचिन्त्य दिव्य रूप की अनुभूति के साथ ही ज्ञान-संग्रह की विधि का अन्त हो जाता है। जो व्यक्ति हर वस्तु में कृष्ण को और कृष्ण में हर वस्तु का अनुभव नहीं करता, वह निश्चय ही मनोरथ के धरातल पर स्थित होता है। इस श्लोक में कृष्ण उद्धव को चेतावनी देते हैं कि वे संसार के इस भ्रामक पद से बच कर रहें।

**पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ

पुंसः—व्यक्ति का; अयुक्तस्य—जिसका मन सत्य से पराङ्मुख है; नाना—अनेक; अर्थः—अर्थ; भ्रमः—सन्देह; सः—वह; गुण—अच्छाई; दोष—बुराई; भाक्—देहधारण किये; कर्म—अनिवार्य कर्तव्य; अकर्म—नियत कर्तव्यों का न किया जाना; विकर्म—निषिद्ध कर्म; इति—इस प्रकार; गुण—अच्छाइयाँ; दोष—बुराइयाँ; धियः—अनुभव करने वाले की; भिदा—यह अन्तर।

जिसकी चेतना माया से मोहित होती है, वह भौतिक वस्तुओं के मूल्य तथा अर्थ में अनेक अन्तर देखता है। इस प्रकार वह भौतिक अच्छाई तथा बुराई के स्तर पर निरन्तर लगा रहता है और ऐसी धारणाओं से बँधा रहता है। भौतिक द्वैत में लीन रहते हुए, ऐसा व्यक्ति अनिवार्य कर्तव्यों की सम्पन्नता, ऐसे कर्तव्यों की असम्पन्नता तथा निषिद्ध कार्यों की सम्पन्नता के विषय में कल्पना करता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में जगत के भ्रामक मानसिक स्तर का वर्णन हुआ है। *अयुक्तस्य* शब्द उस बद्धजीव का सूचक है, जो अपने मन को भगवान् पर स्थिर नहीं करता। *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य में स्पष्ट वर्णन हुआ है कि परम सत्य कृष्ण हर वस्तु के भीतर हैं और हर वस्तु उनके भीतर है। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि जब कोई स्त्री किसी पुरुष से प्यार करती है, तो वह उसे देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहती है और नित्य ही वह उसे भिन्न भिन्न वस्त्र पहने हुए देखती है। वस्तुतः वह स्त्री वस्त्रों में नहीं, अपितु पुरुष में रुचि रखती है। इसी तरह प्रत्येक भौतिक वस्तु के भीतर भगवान् रहते हैं, अतः जिसमें ईश-प्रेम उत्पन्न हो चुका है, वह सर्वत्र भगवान् को देखता है, भगवान् को आच्छादित करने वाले ऊपरी पदार्थों को ही नहीं देखता।

इस श्लोक में *अयुक्तस्य* शब्द उसका द्योतक है, जो अभी सत्य की अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसा व्यक्ति भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति से वंचित होकर भौतिक अनुभव के असंख्य रूपों तथा स्वादों को भोगने का प्रयास करता है। यह क्षणिक भ्रामक व्यस्तता मोहग्रस्त जीव का स्वाभाविक कर्म नहीं है, जिससे वह परम सत्य भगवान् के विषय में अज्ञानी बना रहता है। इस पदार्थमय जगत के भीतर निस्सन्देह विविधताएँ हैं। जिस तरह कुत्तों में अनेक जातियाँ होती हैं, घोड़ों में भी विविध जातियाँ होती हैं, उसी तरह कुछ मनुष्य सुन्दर तथा शिक्षित होते हैं, तो कुछ आलसी तथा घरेलू। कुछ धनी हैं, तो कुछ निर्धन। प्रकृति में कहीं उर्वर भूमि है, तो कहीं बंजर भूमि, कहीं जंगल हैं, तो कहीं

रेगिस्तान, कहीं अमूल्य रत्न हैं, तो कहीं बदरंग शिलाएँ, कहीं स्वच्छ जल वाली कलकल करती नदियाँ हैं, तो कहीं गंदले स्थिर तालाब। मानव-समाज में हमें सुख तथा दुख, प्रेम तथा घृणा, जय तथा पराजय, युद्ध तथा शान्ति, जीवन तथा मृत्यु इत्यादि मिलते हैं। किन्तु इनमें से किसी अवस्था के साथ हमारा स्थायी सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि हम भगवान् कृष्ण के भिन्नांश नित्य आत्माएँ हैं। वैदिक संस्कृति इस तरह से व्यवस्थित है कि भगवान् की तुष्टि के लिए अपना कर्तव्य निर्वाह करके मनुष्य आत्म-साक्षात्कार में पूर्ण बन सकता है। *स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।* किन्तु कुछ बद्धजीव यह विश्वास करते हैं कि जीवन में पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति परिवार, राष्ट्र, मानवता इत्यादि के लिए सामान्य कर्तव्य करने से हो सकती है। अन्य लोगों की रुचि न तो ईश्वर की सेवा करने में है, न उत्कृष्ट संसारी कर्मों को करने में। और कुछ लोग ऐसे हैं, जो पापमय जीवन बिताते हैं। ऐसे पापी व्यक्ति देर से सोकर अपराह्न उठते हैं और नशीले पदार्थ खाकर तथा अवैध यौन में रत रहकर रात-भर जागे रहते हैं। ऐसे अंधकारमय नारकीय जीवन का कारण *तमोगुण* के प्रति आकर्षण है। तमोगुणी कार्य *विकर्म* कहलाते हैं, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है। दुर्भाग्यवश न तो जिम्मेदार भौतिकतावादी व्यक्तियों को, न गैर-जिम्मेदार भौतिकतावादी व्यक्तियों को और न ही पापी व्यक्तियों को जीवन की असली सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत प्राप्त हो पाती है। यद्यपि विभिन्न समाजों तथा विभिन्न व्यक्तियों में अच्छे तथा बुरे की विभिन्न धारणाएँ हैं, किन्तु शाश्वत स्वार्थ अर्थात् कृष्णभावनामृत की दृष्टि से सारी भौतिक बातें अन्ततः व्यर्थ होती हैं। ऐसा विचार संत सदृश राजा चित्रकेतु द्वारा *भागवत* के छठे स्कंध (६.१७.२०) में व्यक्त हुआ है—

गुणप्रवाह एतस्मिन् कः शापः को न्वनुग्रहः।
कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा॥

"यह भौतिक जगत निरन्तर प्रवाहमान नदी की तरंगों के समान है। अतएव क्या शाप और क्या अनुग्रह? क्या स्वर्ग और क्या नर्क? क्या सुख और क्या दुख? चूँकि तरंगें निरन्तर प्रवाहित होती हैं, अतएव उनमें से किसी का भी शाश्वत प्रभाव नहीं होता।" यह तर्क दिया जा सकता है कि चूँकि वेदों में वैध तथा निषेध कार्य निर्देशित हैं, तब तो वेद भी इस जगत में अच्छाई तथा बुराई की धारणा स्वीकार करते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि वेद नहीं, अपितु बद्धजीव भौतिक द्वन्द्व में बँधे हुए हैं। वैदिक

साहित्य का कार्य है कि वह मनुष्य को किसी विशेष स्तर पर लगाये जिस पर वह सम्प्रति स्थित है, और धीरे धीरे उसे ऊपर उठाकर जीवन की सिद्धि तक पहुँचा दे। सतोगुण स्वयं में आध्यात्मिक नहीं है, किन्तु यह आध्यात्मिक जीवन में बाधक नहीं होता। चूँकि सतोगुण मनुष्य की चेतना को शुद्ध बनाता है और उच्चतर ज्ञान के लिए लालसा उत्पन्न करता है अतएव यह उपयुक्त पद है जहाँ से आध्यात्मिक जीवन का अनुसरण किया जा सकता है, जिस तरह कि हवाई-अड्डा ऐसा उपयुक्त स्थान है, जहाँ से यात्रा की जाती है। यदि कोई व्यक्ति न्यूयॉर्क से लन्दन की यात्रा करना चाहता है, तो न्यूयॉर्क का हवाई-अड्डा निश्चित रूप से यात्रा करने के लिए सर्वोपयुक्त स्थान है। किन्तु यदि उसका वायुयान छूट जाता है, तो वह उन व्यक्तियों की ही तरह लन्दन से उतना ही दूर है, जो हवाई-अड्डे नहीं गये। दूसरे शब्दों में, हवाई-अड्डा तभी सार्थक है, जब वहाँ से कोई अपना वायुयान पकड़ सके। इसी तरह सतोगुण सर्वोपयुक्त स्थिति है, जिससे आध्यात्मिक मंच तक जाया जा सकता है। बद्धजीवों को सतोगुण तक ऊपर उठाने के लिए वेद अनेक कार्यों की संस्तुति तथा निषेध करते हैं, जहाँ से उन्हें दिव्य ज्ञान के बल पर आध्यात्मिक पद तक उठना है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत पद को प्राप्त नहीं हो पाता, तो सतोगुण तक उसका ऊपर उठना उसी तरह व्यर्थ है, जिस तरह हवाई-अड्डे तक की उसकी यात्रा व्यर्थ है, यदि उसका वायुयान छूट जाय। वेदों में अनेक विधियाँ तथा निषेध हैं, जो भौतिक वस्तुओं में से अच्छे तथा बुरे को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु वैदिक विधानों का चरम उद्देश्य आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न करना है। यदि कोई व्यक्ति तुरन्त ही आध्यात्मिक जीवन बिताने लगे, तो फिर उसे सतोगुणी अनुष्ठानों में अपना समय नहीं गँवाना चाहिए। इसलिए *भगवद्गीता* (२.४५) में कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

"वेदों में मुख्यतया प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन हुआ है। हे अर्जुन! इन तीनों गुणों से ऊपर उठो। समस्त द्वैतों, हानि-लाभ तथा सुरक्षा की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्मपरायण बनो।" इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने *महाभारत* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किए हैं—

स्वर्गाद्याश्च गुणा: सर्वे दोषा: सर्वे तथैव च।

आत्मनः कर्तृताभ्रान्त्या जायन्ते नात्र संशयः ॥

"भौतिक जगत में बद्धजीव स्वर्ग के वास को तथा सुन्दर स्त्रियों के साथ पवित्र भोग जैसे दैवी आनन्दों को, अच्छी तथा वांछित वस्तुएँ मानते हैं। इसी तरह दुखदायी या कष्टप्रद अवस्थाओं को बुरा माना जाता है। किन्तु भौतिक जगत में अच्छे-बुरे की ऐसी सारी अनुभूति इस मूलभूत त्रुटि पर आधारित है कि मनुष्य समस्त कार्यों का कर्ता भगवान् को न मानकर, अपने आपको मान बैठता है।"

परमात्मानमेवैकं कर्तारं वेत्ति यः पुमान्।

स मुच्यतेऽस्मात् संसारात् परमात्मानमेति च॥

"दूसरी ओर, जो व्यक्ति यह जानता है कि भगवान् ही भौतिक प्रकृति के वास्तविक नियंता हैं और वे ही हर वस्तु को चला रहे हैं, वह इस संसार के बंधन से छूट सकता है। ऐसा व्यक्ति भगवद्धाम को जाता है।"

तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदम्जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥ ९॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; युक्त—वश में लाकर; इन्द्रिय-ग्रामः—सारी इन्द्रियों को; युक्त—दमन करके; चित्तः—अपना मन; इदम्—यह; जगत्—संसार; आत्मनि—आत्मा के भीतर; ईक्षस्व—देखो; विततम्—विस्तीर्ण (भौतिक भोग की वस्तु के रूप में); आत्मानम्—तथा उस आत्मा को; मयि—मुझ; अधीश्वरे—परम नियन्ता में।

इसलिए अपनी सारी इन्द्रियों को वश में करते हुए तथा मन को दमन करके, तुम सारे जगत को आत्मा के भीतर स्थित देखो, जो सर्वत्र प्रसारित है। यही नहीं, तुम इस आत्मा को मुझ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के भीतर भी देखो।

तात्पर्य : *विततम्* शब्द यह बतलाता है कि जीवात्मा पूरे ब्रह्माण्ड में विद्यमान है। इसी तरह *भगवद्गीता* (२.२४) में कृष्ण कहते हैं *नित्य सर्वगतः*—आत्मा नित्य है और समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में फैला हुआ है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक जीवात्मा सर्वव्यापक है, अपितु यह कि भगवान् कृष्ण ने अपनी तटस्था शक्ति का सर्वत्र विस्तार कर रखा है। इस तरह मनुष्य को आँख मूँद कर यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सूक्ष्म जीव सर्वव्यापक है, प्रत्युत उसे यह समझना चाहिए कि ईश्वर महान् हैं और अपनी निजी शक्ति का सर्वत्र विस्तार करते हैं। इस श्लोक में *आत्मनीक्षस्व विततम्* का यह अर्थ है कि यह जगत, उन बद्धजीवों की इन्द्रियतृप्ति के हेतु बनाया

गया, जो अपने असली स्वामी भगवान् कृष्ण के बिना ही भोग करने का प्रयत्न करते हैं। सारे जीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति का दोहन करने में लगे हुए हैं, किन्तु भौतिक जगत में उनका कार्यक्षेत्र भ्रामक है। यह भौतिक प्रकृति तथा बद्धजीव दोनों ही भगवान् की शक्तियाँ हैं, अतएव वे भगवान् के भीतर स्थित रहती हैं और उनके परम नियंत्रण में होती हैं।

प्रत्येक जीव भगवान् के आनन्द हेतु विद्यमान है और वह भगवान् का नित्य दास होता है। ज्योंही इन्द्रियाँ भौतिक तृप्ति में लीन हो जाती हैं, वे परम सत्य को अनुभव करने की अपनी शक्ति खो देती हैं। इन्द्रिय कर्म का वास्तविक लक्ष्य विष्णु तोषण है और सारी इन्द्रियाँ भगवान् के साकार रूप का अनुभव करके और सेवा करके अपार आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त कर सकती हैं। किन्तु जो लोग ईश्वर की निर्विशेष अनुभूति को मानते हैं, वे सारा इन्द्रिय कर्म बन्द कर देते हैं। किन्तु इन्द्रियाँ सदा के लिए निष्क्रिय नहीं रह सकतीं, अतएव वे भौतिक मोह के जगत में फिर से कर्म करने लगती हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाता है, तो वह भगवान् के दिव्य सौन्दर्य का दर्शन करके असीम आनन्द पाता है। किन्तु जब तक मनुष्य कृष्ण की शुद्ध प्रेमाभक्ति के द्वारा अपने आप को पात्र नहीं बना लेता, तब तक भगवान् उसे यह उच्च अनुभव प्रदान नहीं करते। इसलिए हर बद्धजीव को चाहिए कि वह भगवान् के आनन्दमय सान्निध्य को फिर से प्राप्त करके भगवान् से अनावश्यक वियोग का अन्त कर दे। भगवान् कृष्ण बद्धजीवों की अन्धी आँखें खोलने के लिए स्वयं आते हैं और इसलिए वे स्वयं उद्धव को शिक्षा दे रहे हैं, जिससे भविष्य में निष्ठावान व्यक्ति उनके उपदेशों का लाभ उठा सकें। निस्सन्देह, आज भी लाखों लोग *भगवद्गीता* में अर्जुन को कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेश से आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त करते हैं।

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् ।
अत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—वेदों का निर्णायक ज्ञान; **विज्ञान**—तथा व्यावहारिक ज्ञान; **संयुक्तः**—से युक्त; **आत्म-भूतः**—स्नेह की वस्तु; **शरीरिणाम्**—सारे देहधारी जीवों (देवतादि से शुरु करके) के लिए; **आत्म-अनुभव**—आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा; **तुष्ट-आत्मा**—तुष्ट मन वाला; **न**—कभी नहीं; **अन्तरायैः**—उत्पातों (विघ्नों) से; **विहन्यसे**—तुम्हारी प्रगति रोक दी जायेगी।

वेदों के निर्णायक ज्ञान से समन्वित होकर तथा व्यवहार में ऐसे ज्ञान के चरम उद्देश्य की अनुभूति करके, तुम शुद्ध आत्मा का अनुभव कर सकोगे और इस तरह तुम्हारा मन तुष्ट हो

जायेगा। उस समय तुम देवतादि से लेकर सारे जीवों के प्रिय बन जाओगे और तब तुम जीवन के किसी भी उत्पात से रोके नहीं जाओगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है, जिसका मन भौतिक इच्छाओं से मुक्त होता है, उसे देवताओं की पूजा में अरुचि हो जाती है, क्योंकि ऐसी पूजा का उद्देश्य भौतिक उत्थान होता है। किन्तु देवतागण उस व्यक्ति से कभी नाराज नहीं होते, जो कृष्ण का शुद्ध भक्त बन जाता है और भगवान् की ही पूजा करता है। सारे देवता स्वयं भी भगवान् के विनीत दास हैं, जैसाकि इस धरा पर कृष्ण की लीलाओं से स्पष्ट हो गया था। जो व्यक्ति हर एक के शरीर में नित्य आत्मा का अनुभव करता हो वह निश्चित रूप से सारे जीवों का प्रिय बन जाता है। चूँकि वह हर एक को गुणात्मक दृष्टि से अपने ही समान देखता है, इसलिए वह न तो किसी से ईर्ष्या करता है, न ही किसी पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयास करता है। ईर्ष्यामुक्त होने तथा सबों का हितैषी होने से ऐसा स्वरूपसिद्ध व्यक्ति स्वभावत: हर एक को प्रिय होता है। जैसाकि षड् गोस्वामियों के गीत में कहा गया है—*धीराधीर जनप्रियौ प्रियकरौ निर्मत्सरौ पूजितौ।*

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भक: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दोष-बुद्ध्या—यह सोचने से कि ऐसा काम गलत है; उभय-अतीत:—दोनों (संसारी अच्छे तथा बुरे की धारणाओं) को लाँघ जाने वाला; निषेधात्—जो वर्जित है, उससे; न निवर्तते—अपने को दूर नहीं रखता; गुण-बुद्ध्या—यह सोचकर कि यह ठीक है; च—भी; विहितम्—जिसका आदेश हुआ है, वैध; न करोति—नहीं करता; यथा—जिस तरह; अर्भक:—छोटा बालक।

जो भौतिक अच्छाई तथा बुराई को लाँघ चुका होता है, वह स्वत: धार्मिक आदेशों के अनुसार कार्य करता है और वर्जित कार्यों से बचता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति यह सब अबोध बालक की तरह अपने आप करता है वरन् इसलिए नहीं कि वह भौतिक अच्छाई तथा बुराई के रूप में सोचता रहता है।

तात्पर्य : जिसने दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह मनमाने ढंग से कार्य नहीं करता। श्रील रूप गोस्वामी ने भक्ति की दो अवस्थाएँ बतलाई हैं—*साधन भक्ति* तथा *रागानुग भक्ति।* रागानुग भक्ति ईश्वर के प्रति अपने आप उठने वाले प्रेम की अवस्था है, जबकि *साधन भक्ति* का अर्थ है, भक्ति के विधि-विधानों का विवेकपूर्ण अभ्यास। अधिकांशत:, जो व्यक्ति इस समय दिव्य चेतना का आनन्द उठा रहा

है, उसने भक्ति के विधि-विधानों का दृढ़ता से अभ्यास किया है। इस तरह पूर्व अभ्यास के कारण वह अपने आप पापमय जीवन से बच जाता है और सामान्य पुण्य के मानकों के अनुसार कर्म करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक स्वरूपसिद्ध व्यक्ति, जान-बूझकर पाप से बच रहा है और पुण्य करता है। प्रत्युत अपने स्वरूपसिद्ध स्वभाव के कारण वह उच्च आध्यात्मिक कार्यों में उसी तरह प्रवृत्त रहता है, जिस तरह अबोध बालक में दया, सहिष्णुता आदि के गुण स्वतः प्रकट हो जाते हैं। यह आध्यात्मिक अवस्था *शुद्ध सत्त्व* कहलाती है और भौतिक सतोगुण से पृथक् होती है, जो रजो तथा तमोगुण का कुछ न कुछ मिश्रण होने के कारण प्रदूषित हुआ रहता है। इस तरह यदि सतोगुणी व्यक्ति जगत की दृष्टि में अत्यन्त पवित्र प्रतीत होता है, तो दिव्य सतोगुणी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के निर्मल्य चरित्र के विषय में हम सही अनुमान लगा सकते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

यदि मनुष्य भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त है, तो उसमें अपने आप देवताओं के उच्च गुण आ जायेंगे। शुद्धता की ऐसी अभिव्यक्ति रागानुग है, जैसाकि इस श्लोक में बतलाया गया है।

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।
पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥१२॥

शब्दार्थ

सर्व-भूत—समस्त प्राणियों के प्रति; सु-हृत्—शुभैषी; शान्तः—शान्त; ज्ञान-विज्ञान—ज्ञान तथा दिव्य अनुभूति में; निश्चयः—दृढ़तापूर्वक स्थित; पश्यन्—देखते हुए; मत्-आत्मकम्—मेरे द्वारा व्याप्त; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; न विपद्येत—जन्म-मृत्यु के चक्कर में कभी नहीं पड़ेगा; वै—निस्सन्देह; पुनः—फिर से।

जो व्यक्ति सारे जीवों का शुभैषी है, जो शान्त है और ज्ञान तथा विज्ञान में दृढ़ता से स्थिर है, वह सारी वस्तुओं को मेरे भीतर देखता है। ऐसा व्यक्ति फिर से जन्म-मृत्यु के चक्र में कभी नहीं पड़ता।

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप ।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वं जिज्ञासुरच्युतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिया गया; भगवता—भगवान् द्वारा; महा-भागवतः—भगवान् के महान् भक्त; नृप—हे राजा; उद्धवः—उद्धव ने; प्रणिपत्य—नमस्कार करके; आह—कहा; तत्त्वम्—वैज्ञानिक सत्य; जिज्ञासुः—सीखने के लिए उत्सुक होने से; अच्युतम्—अच्युत भगवान् से।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह भगवान् कृष्ण ने अपने शुद्ध भक्त उद्धव को उपदेश दिया, जो उनसे ज्ञान पाने के लिए उत्सुक थे। तत्पश्चात्, उद्धव ने भगवान् को नमस्कार किया और उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : उद्धव को यहाँ पर *तत्त्वं जिज्ञासुः* कहा गया है। पिछले श्लोकों से स्पष्ट है कि श्री उद्धव भगवान् कृष्ण के शुद्ध भक्त हैं और वे कृष्ण की भक्ति को जीवन की सिद्धि मानते हैं। इस प्रकार *तत्त्वं जिज्ञासुः* शब्द सूचित करते हैं कि चूँकि कृष्ण इस पृथ्वी को छोड़ने वाले हैं, इसलिए उद्धव अत्यन्त उत्सुक हैं कि वे भगवान् विषयक ज्ञान को और प्रखर कर लें, जिससे वे उनके चरणकमलों पर प्रेमाभक्ति करने में अग्रसर हो सकें। शुद्ध भक्त सामान्य दार्शनिक या पंडित की तरह निजी तृप्ति के लिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक नहीं होता है।

श्रीउद्धव उवाच
योगेश योगविन्यास योगात्मन्योगसम्भव ।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः सन्न्यासलक्षणः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; योग-ईश—हे योग के फल को देने वाले; योग-विन्यास—अयोग्यों को भी योगशक्ति प्रदान करने वाले; योग-आत्मन्—योग के द्वारा जाने जानेवाले, हे परम आत्मा; योग-सम्भव—हे समस्त योगशक्ति के उद्गम; निःश्रेयसाय—परम लाभ हेतु; मे—मेरे; प्रोक्तः—आपने, जो कहा है; त्यागः—वैराग्य; सन्न्यास—संन्यास आश्रम स्वीकार करने से; लक्षणः—लक्षण से युक्त।

श्री उद्धव ने कहा : हे स्वामी, आप ही योगाभ्यास के फलों को देने वाले हैं और आप इतने कृपालु हैं कि अपने प्रभाव से आप अपने भक्त को योगसिद्धि वितरित करते हैं। इस तरह आप परमात्मा हैं, जिसकी अनुभूति योग द्वारा होती है और आप ही समस्त योगशक्ति के उद्गम हैं। आपने मेरे उच्चतम लाभ के लिए संन्यास या वैराग्य द्वारा भौतिक जगत त्यागने की विधि बतलाई है।

तात्पर्य : *योगेश* शब्द इसका सूचक है कि भगवान् समस्त योगाभ्यासों का फल देने वाले हैं। चूँकि समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत कृष्ण के दिव्य शरीर से उद्‌भूत होते हैं, अतएव योग द्वारा कृष्ण तथा उनकी शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ पाने के लिए शेष नहीं रहता। और चूँकि भगवान् अपनी शक्तियों के शाश्वत-स्वामी हैं, अतएव कोई भी व्यक्ति योग द्वारा या अन्य किसी आध्यात्मिक अथवा भौतिक विधि से कुछ भी नहीं पा सकता और यदि पा सकता है, तो भगवान् की स्वीकृति से ही पा सकता है। *योग* शब्द का अर्थ है ''जोड़ना'' और जब तक हम अपने आपको परम सत्य से जोड़ते नहीं, तब तक हम अज्ञान के अंधकार से ढके रहते हैं। इस तरह, कृष्ण योग के लक्ष्य हैं।

भौतिक जगत में हम मिथ्या ही अपने को इन्द्रिय-विषयों से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। पुरुष स्त्री से जुड़ना चाहता है और स्त्री पुरुष से। अथवा मनुष्य अपने को राष्ट्रीयता, समाजवाद, पूँजीवाद या भगवान् की माया की अन्य असंख्य सृष्टियों से जुड़ने का प्रयास करता है। चूँकि हम अपने को नश्वर वस्तुओं से जोड़ते हैं, इसलिए ऐसे सम्बन्ध नश्वर हैं, परिणाम भी क्षणिक हैं और मृत्यु के समय, जब माया द्वारा हमारे सारे सम्बन्ध सहसा छिन्न कर दिये जाते हैं, तो हम मोहग्रस्त हो जाते हैं। किन्तु यदि हम अपने को कृष्ण से जोड़ते हैं, तो उनसे हमारा सम्बन्ध मृत्यु के बाद भी बना रहेगा। जैसाकि *भगवद्‌गीता* में बतलाया गया है कि इस जीवन में हम कृष्ण के साथ जो सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वह अगले जीवन में तब तक बढ़ता जायेगा, जब तक हम परम गन्तव्य कृष्ण-लोक में प्रवेश नहीं पा जाते। जो लोग भगवान् द्वारा संस्तुत दिव्य जीवन-शैली का पालन करते हुए चैतन्य महाप्रभु के मिशन की निष्ठापूर्वक सेवा करते हैं, वे अपने जीवन के अन्त में भगवद्धाम में प्रवेश करेंगे।

कोई भी व्यक्ति केवल मानसिक चिन्तन से स्थायी पद प्राप्त नहीं कर सकता। सामान्य इन्द्रियतृप्ति द्वारा उसे प्राप्त करना तो दूर रहा। हठयोग, कर्मयोग, राजयोग, ज्ञानयोग इत्यादि के द्वारा भगवान् की शाश्वत प्रेमाभक्ति सम्पन्न करने की लालसा को जागृत नहीं किया जा सकता। इस तरह मनुष्य आध्यात्मिक भोग के दिव्य स्वाद से वंचित रहता है। कभी कभी बद्धजीव अपनी इन्द्रियों की तृप्ति न कर पाने के कारण कटुतावश इस जगत का परित्याग करने और निर्विशेष पीड़ारहित अध्यात्म में विलीन हो जाने का निश्चय कर लेता है। किन्तु वास्तविक सुखमय स्थिति तो यह है कि भगवान् के चरणकमलों की प्रेमाभक्ति की जाय। सारी योग-विधियाँ मनुष्य को धीरे धीरे भगवत्प्रेम तक ले जाती

हैं और भगवान् कृष्ण का उद्देश्य बद्धजीवों को इस सुखमय स्थिति में पुनः स्थापित करना है। चैतन्य महाप्रभु कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन से, जो कि इस युग की सर्वोच्च योग-विधि है, इस सिद्धि को सुलभ बनाते हैं।

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन्कामानां विषयात्मभिः ।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः ॥ १५॥

शब्दार्थ

त्यागः—वैराग्य; अयम्—यह; दुष्करः—सम्पन्न करना कठिन; भूमन्—हे स्वामी; कामानाम्—भौतिक भोग का; विषय—इन्द्रियतृप्ति; आत्मभिः—समर्पित; सुतराम्—विशेष रूप से; त्वयि—तुममें; सर्व-आत्मन्—हे परमात्मा; अभक्तैः—भक्तिविहीनों द्वारा; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; मतिः—मत।

हे प्रभु, हे परमात्मा, ऐसे लोगों के लिए, जिनके मन इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं और विशेषतया उनके लिए, जो आपकी भक्ति से वंचित हैं, भौतिक भोग को त्याग पाना अतीव कठिन है। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य : जो असली भगवद्भक्त हैं, वे अपनी निजी तृप्ति के लिए कुछ भी स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत वे उन वस्तुओं को स्वीकार करते हैं, जो भगवान् की सेवा में अर्पित करने के लिए उपयुक्त होती हैं। *विषयात्मभिः* शब्द उनका द्योतक है, जो भौतिक वस्तुओं को भगवान् की भक्ति के लिए न चाहकर निजी तृप्ति के लिए चाहते हैं। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों के मन विचलित रहते हैं और ऐसे व्यक्तियों के लिए भौतिक भोग को त्याग पाना असम्भव है। यह श्री उद्धव का मत है।

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे ।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥ १६॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं; मम अहम्—''मैं'' तथा ''मेरा'' का झूठा विचार; इति—इस प्रकार; मूढ—अत्यन्त मूर्ख; मतिः—चेतना; विगाढः—लीन; त्वत्-मायया—आपकी माया से; विरचित—निर्मित; आत्मनि—शरीर में; स-अनुबन्धे—शारीरिक सम्बन्धों सहित; तत्—इसलिए; तु—निस्सन्देह; अञ्जसा—सरलता से; निगदितम्—उपदेश दिया हुआ; भवता—आपके द्वारा; यथा—विधि जिससे; अहम्—मैं; संसाधयामि—सम्पन्न कर सकूँ; भगवन्—हे भगवान्; अनुशाधि—शिक्षा दें; भृत्यम्—अपने सेवक को।

हे प्रभु, मैं स्वयं सबसे बड़ा मूर्ख हूँ, क्योंकि मेरी चेतना आपकी माया द्वारा निर्मित भौतिक देह तथा शारीरिक सम्बन्धों में लीन है। इस तरह मैं सोच रहा हूँ, ''मैं यह शरीर हूँ और ये सारे

सम्बन्धी मेरे हैं।'' अतएव हे स्वामी, अपने इस दीन सेवक को उपदेश दें। कृपया मुझे बतायें कि मैं आपके आदेशों का किस तरह सरलता से पालन करूँ?

तात्पर्य : भौतिक शरीर से अपनी मिथ्या पहचान को त्याग पाना अत्यन्त कठिन है, अतएव हम अपने तथाकथित शारीरिक सम्बन्धों से यथा स्त्री, सन्तान, मित्र इत्यादि से लिप्त रहते हैं। शारीरिक लगाव से हृदय के भीतर विकट पीड़ा होती है और हम शोक तथा लालसा से स्तब्ध रह जाते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त उद्धव यहाँ पर सामान्य पुरुष की भाँति यह दिखाते हुए बोलते हैं कि भगवान् की स्तुति किस तरह की जाय। हम देखते हैं कि अनेक पापी व्यक्ति इस्कॉन में प्रवेश करते हैं और प्रारम्भिक शुद्धि के बाद वे अपने पूर्व अवैध कर्मों पर पश्चाताप करते हैं। उन्हें तब धक्का लगता है, जब वे यह अनुभव करते हैं कि उन्होंने किस तरह माया द्वारा उत्पन्न व्यर्थ के रूपों का पीछा करने के लिए ईश्वर की संगति को त्याग दिया था। अतएव वे गुरु तथा भगवान् कृष्ण से हार्दिक रूप से प्रार्थना करते हैं कि वे दिव्य भक्ति में निरन्तर लगे रहें। आध्यात्मिक प्रगति के लिए ऐसी पश्चातापयुक्त उत्सुक चित्तवृत्ति अत्यन्त शुभ है। भगवान् निश्चित रूप से ऐसे पश्चात्तापपूर्ण भक्त की प्रार्थनाएँ सुनते हैं, जो माया के पाश से छूटने के लिए आतुर रहता है।

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे ।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥ १७॥

शब्दार्थ

सत्यस्य—परम सत्य का; ते—आपके अतिरिक्त; स्व-दृशः—आपको प्रकट करने वाला; आत्मनः—मेरे स्वयं के लिए; आत्मनः—भगवान् की अपेक्षा; अन्यम्—दूसरा; वक्तारम्—योग्य वक्ता; ईश—हे प्रभु; विबुधेषु—देवताओं से; अपि—ही; न—नहीं; अनुचक्षे—मैं देख सकता हूँ; सर्वे—वे सभी; विमोहित—मोहग्रस्त; धियः—उनकी चेतना; तव—तुम्हारी; मायया—माया द्वारा; इमे—ये; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; तनु-भृतः—भौतिक शरीर से युक्त बद्धजीव; बहिः—बाह्य वस्तुओं में; अर्थ—परम मूल्य; भावाः—विचार करते हुए।

हे प्रभु, आप परम सत्य भगवान् हैं और आप अपने भक्तों को अपना रूप दिखलाते हैं। मुझे आपके अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं दिखता जो वास्तव में मुझे पूर्ण ज्ञान बतला सके। ऐसा पूर्ण शिक्षक स्वर्ग में देवताओं के बीच भी ढूँढ़े नहीं मिलता। निस्सन्देह ब्रह्मा इत्यादि सारे देवता

आपकी मायाशक्ति से मोहग्रस्त हैं। वे बद्धजीव हैं, जो अपने भौतिक शरीरों तथा शारीरिक अंशों को सर्वोच्च सत्य मान लेते हैं।

तात्पर्य : उद्धव का कहना है कि ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे बद्धजीव भगवान् की माया द्वारा उत्पन्न भौतिक शरीरों से आच्छादित रहते हैं। स्वर्ग के देवता संसार की व्यवस्था में लीन रहने के कारण अपने विपुल ऐश्वर्य का निरन्तर उपभोग करते हैं। अतएव वे धीरे धीरे अपने मन को अपने योग से शक्तिप्राप्त शरीरों पर तथा अपने शारीरिक अंशों पर—यथा अपनी स्वर्गिक पत्नियों, बच्चों, सहयोगियों तथा मित्रों पर एकाग्र करते हैं। स्वर्ग में रहते-रहते देवतागण भौतिक अच्छाई तथा बुराई के रूप में सोचने के आदी हो जाते हैं, अतएव वे अपने शरीरों के तत्कालिक कल्याण को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मान लेते हैं।

किन्तु देवतागण ईश्वर के नियमों का दृढ़ता से पालन करने का प्रयास करते हैं। और उन्हें इस कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए भगवान्, जिनमें उन देवताओं से कहीं बढ़-चढ़कर शक्तियाँ होती हैं, इन स्वर्गिक प्राणियों को अपने परम व्यक्तित्व का स्मरण कराने के लिए अवतरित होते हैं। भगवान् विष्णु का नित्य शरीर आनन्द, ज्ञान तथा असीम विविध शक्तियों से पूर्ण होता है, जबकि देवताओं के भौतिक रूप भव्य होते हुए भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से पीड़ित रहते हैं।

चूँकि देवतागण इस सृजित ब्रह्माण्ड पर शासन चलाते हैं, अतएव उनकी भगवद्भक्ति भौतिक इच्छाओं से रंजित रहती है। इसलिए वे वैदिक ज्ञान के उन अंशों के प्रति आकृष्ट होते हैं, जो उनके दैवी जीवन के चलते रहने के लिए भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करने वाले हैं। किन्तु उद्धव शुद्ध भगवद्भक्त होने के कारण शाश्वत जीवन पाने हेतु, भगवद्धाम जाने के लिए कृतसंकल्प हैं, अतएव देवताओं के अशुद्ध वैदिक ज्ञान में उनकी रुचि नहीं है। यह भौतिक जगत विराट बन्दीगृह है, जिसके अन्त:वासी जन्म, मृत्यु, जरा तथा मोह के अधीन होते हैं और शुद्ध भक्त इस बन्दीगृह में देवताओं की भाँति प्रथम श्रेणी के बन्दी की तरह रहने का भी इच्छुक नहीं होता। श्री उद्धव भगवद्धाम जाने के इच्छुक हैं इसीलिए वे सीधे भगवान् के पास जाते हैं। भगवान् *स्व-दृश:* हैं अर्थात् अपने भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं। इसलिए या तो भगवान् या उनका शुद्ध भक्त ही, जो भगवान् के संदेश को निष्ठापूर्वक दोहराता

है, किसी को भौतिक आकाश से परे दिव्य लोकों के स्वतंत्र वातावरण में ले जा सकता है, जहाँ पर मुक्तात्माएँ आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन बिताती हैं।

तस्माद्भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।
निर्विण्णधीरहमु हे वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; भवन्तम्—आपको; अनवद्यम्—पूर्ण; अनन्त-पारम्—असीम; सर्व ज्ञम्—सर्वज्ञ; ईश्वरम्—भगवान् को; अकुण्ठ—किसी शक्ति से अविचलित; विकुण्ठ—वैकुण्ठ-लोक; धिष्ण्यम्—जिनका निजी धाम; निर्विण्ण—विरक्त अनुभव करते हुए; धीः—मेरा मन; अहम्—मैं; उ हे—हे (स्वामी); वृजिन—भौतिक कष्ट द्वारा; अभितप्तः—सताया हुआ; नारायणम्—नारायण की; नर-सखम्—अति सूक्ष्म जीव का मित्र; शरणम् प्रपद्ये—शरण में जाता हूँ।

अतएव हे स्वामी, भौतिक जीवन से ऊब कर तथा इसके दुखों से सताया हुआ मैं आपकी शरण में आया हूँ, क्योंकि आप पूर्ण स्वामी हैं। आप अनन्त, सर्वज्ञ भगवान् हैं, जिनका आध्यात्मिक निवास वैकुण्ठ में होने से समस्त उपद्रवों से मुक्त है। वस्तुतः आप समस्त जीवों के मित्र नारायण नाम से जाने जाते हैं।

तात्पर्य : कोई भी व्यक्ति अपने को स्वनिर्मित नहीं कह सकता, क्योंकि हर व्यक्ति प्रकृति द्वारा प्रदत्त शरीर तथा मन से कार्य करता है। प्रकृति के नियमों से संसार में सदैव चिन्ता बनी रहती है और समय समय पर भयंकर दुर्घटनाएँ बद्धजीवों को त्रस्त करती रहती हैं। यहाँ उद्धव यह इंगित करते हैं कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही बद्धजीवों के सही स्वामी, मित्र तथा आश्रय हैं। भले ही हम किसी व्यक्ति विशेष या देवता के सद्गुणों से आकृष्ट हों, किन्तु बाद में हमें उस व्यक्ति के आचरण में कुछ त्रुटियाँ दिख सकती हैं। इसलिए कृष्ण को *अनवद्यम्* कहा गया है। भगवान् के आचरण या चरित्र में किसी प्रकार का दोष नहीं होता। वे शाश्वत दोषरहित हैं।

हो सकता है, हम अपने स्वामी, पिता या देवता की सेवा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक करते रहें, किन्तु जब हमारी सेवा का पुरस्कार मिलने का समय आये, तो स्वामी का देहान्त हो जाय। इसलिए भगवान् कृष्ण को यहाँ पर *अनन्त-पारम्* कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि वे काल या देश से सीमित नहीं हैं। *अन्त* शब्द सूचक है, काल की समाप्ति का और *पार* शब्द दिक् की समाप्ति का सूचक है। अतएव

अनन्त-पारम् का अर्थ है कि कृष्ण काल या देश से बँधे नहीं हैं, अतएव वे अपने श्रद्धालु सेवकों को कर्तव्य समझ कर अवश्य ही पुरस्कार देंगे।

यदि हम भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा करते हैं, तो हो सकता है कि हमारा तथाकथित स्वामी हमारी सेवाओं को भूल जाय या कृतघ्न बन जाय। इसलिए यहाँ पर कृष्ण को *सर्वज्ञम्* अर्थात् सबकुछ जानने वाला बतलाया गया है। वे अपने भक्त की सेवा को कभी भी भूल नहीं सकते। अतएव वे कभी कृतघ्न नहीं होते। वास्तव में, कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण अपने भक्तों के दोषों को स्मरण नहीं रखते। वे उनके द्वारा की गई सेवा का ही स्मरण रखते हैं।

कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा करने का एक दोष यह भी है कि जब हम संकट में हों, तो हो सकता है कि वह हमारी रक्षा न कर सके। यदि हम अपने राष्ट्र की शरण ग्रहण करते हैं, तो हो सकता है कि वह युद्ध में विनष्ट हो जाय। यदि हम अपने परिवार की शरण लें, तो वे भी मर सकते हैं। और जैसाकि वैदिक वाङ्मय में कहा गया है, देवता भी असुरों द्वारा कभी कभी पराजित हो जाते हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण को यहाँ पर *ईश्वर* कहा गया है, अतएव उनके पराजित होने या किसी अन्य शक्ति द्वारा रोके जाने का कोई भय नहीं रहता। इस तरह भगवान् कृष्ण का यह वायदा कि वे अपने भक्त की रक्षा करते हैं, निरन्तर वैध बना रहता है।

यदि हम भगवान् की सेवा नहीं करेंगे, तो हमें अपनी सेवा का अन्तिम परिणाम भी ज्ञात नहीं हो सकेगा। किन्तु यहाँ पर भगवान् कृष्ण को *अकुण्ठ-विकुण्ठ-धिष्ण्यम्* कहा गया है। भगवान् कृष्ण का नित्य धाम वैकुण्ठ कहलाता है और इस धाम में किसी के द्वारा कभी कोई उत्पात नहीं मचाया जाता। कृष्ण के श्रद्धालु सेवक आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण जीवन बिताने के लिए भगवद्धाम अवश्य ही वापस जायेंगे। किन्तु जब देवता तक देर-सवेर विनष्ट होते हैं, तो भला क्षुद्र मनुष्यों के विषय में क्या कहा जाय? फिर ऐसे देवताओं की सेवा करके कौन-सा लाभ प्राप्त किया जा सकता है?

उद्धव अपनी निजी स्थिति का बयान *निर्विण्ण-धी:* तथा *वृजिनाभितप्त:* के रूप में करते हैं। दूसरे शब्दों में, उद्धव यह कहते हैं कि वे भौतिक जीवन के विरोधों तथा मानसिक क्लेश से ऊब चुके हैं। इसलिए उन्हें बाध्य होकर विनीत भाव से उन कृष्ण के चरणकमलों में शरण लेने पड़ रही है, जो कि प्रत्येक जीव के मित्र हैं। भौतिक जगत में बड़े लोगों के पास क्षुद्र व्यक्तियों से मिलने के लिए समय

नहीं मिलता। किन्तु भगवान् महानतम पुरुष होते हुए भी प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं। इस प्रकार वे सर्वाधिक दयालु हैं। भगवान् कृष्ण *नार* अर्थात् इस जगत को उत्पन्न करने वाले भगवान् के पुरुष अंश के भी परम आश्रय हैं। जीव *नर* कहलाता है और उसके भौतिक पद का स्रोत नार या महाविष्णु कहलाता है। *नारायण* शब्द इसका सूचक है कि महाविष्णु भी कृष्ण की शरण में जाते हैं, जो निश्चय ही परम हैं यद्यपि हमारी चेतना इस समय पापपूर्ण लालसाओं से दूषित है, किन्तु यदि हम श्री उद्धव के आदर्श का पालन करें और भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करें, तो सबकुछ ठीक हो जाएगा। कृष्ण की शरण ग्रहण करने का अर्थ है कृष्ण-भक्ति का आश्रय लेना और उनकी आज्ञा का पालन करना। *भगवद्गीता* में कृष्ण ने इसकी माँग की है और यदि हम भगवान् की आज्ञा का पालन करें तो हमारा जीवन पूर्णतया शुभ तथा सफल हो जाय। तब हम आशा से पहले ही कृष्ण-कृपा से आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन के लिए भगवद्धाम में प्रवेश कर सकते हैं।

श्रीभगवानुवाच
प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः ।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् कृष्ण ने कहा; **प्रायेण**—सामान्यतः; **मनुजाः**—मनुष्यगण; **लोके**—इस जगत में; **लोक-तत्त्व**—भौतिक जगत की वास्तविक स्थिति; **विचक्षणाः**—पंडित; **समुद्धरन्ति**—उद्धार करते हैं; **हि**—निस्सन्देह; **आत्मानम्**—अपने से; **आत्मना**—अपनी बुद्धि से; **एव**—निस्सन्देह; **अशुभ-आशयात्**—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा की अशुभ मुद्रा से।

भगवान् ने उत्तर दिया : सामान्यतया वे मनुष्य, जो भौतिक जगत की वास्तविक स्थिति का दक्षतापूर्वक विश्लेषण कर सकते हैं, अपने आपको स्थूल भौतिक तृप्ति के अशुभ जीवन से ऊपर उठाने में समर्थ होते हैं।

तात्पर्य : श्री उद्धव ने पिछले श्लोकों में भगवान् से अपनी पतितावस्था तथा जीवन की भौतिक धारणा में अपने फँसने की बात बतलाई। अब भगवान् कृष्ण उद्धव को पुनः आश्वस्त करते हैं कि उद्धव से कम योग्य व्यक्ति भी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के अशुभ जीवन से अपने को बाहर निकालने में सक्षम होते हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, प्रामाणिक गुरु से उपदेश न प्राप्त करने पर भी मनुष्य प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष विश्लेषण द्वारा यह समझ सकते हैं कि संसार भोग का स्थान नहीं है। प्रत्यक्ष विश्लेषण

का अर्थ है निजी अनुभव तथा अप्रत्यक्ष विश्लेषण का अर्थ है, अन्यों के अनुभवों को सुनना और पढ़ना।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार कृष्ण उद्धव को स्वर्ग के देवताओं से भी अधिक बुद्धिमान मानते थे। किन्तु उद्धव हतोत्साहित हो रहे थे और अपने को भगवान् की सेवा करने के अयोग्य समझ रहे थे। किन्तु भगवान् कृष्ण को गुरु-रूप में पाकर उद्धव पूर्णतया स्थिर थे। इसी प्रकार कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों का मार्गदर्शन समिति के संस्थापकाचार्य ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य अष्टोत्तरशत श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा होता है। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन के निष्ठावान सदस्य को कभी भी हतोत्साहित नहीं होना चाहिए, अपितु उनके आशीर्वादों की गणना करके भगवद्धाम वापस जाने के लिए आवश्यक कर्म करने चाहिए। भौतिक जगत के अन्तर्गत कुछ कर्म शुभ और सुख लाने वाले हैं, जबकि अन्य कर्म पापमय होने से अशुभ होते हैं और अपार कष्ट उत्पन्न करते हैं। यहाँ तक कि वह व्यक्ति, जिसे अपने कृष्ण-भक्त गुरु की कृपा प्राप्त नहीं हुई, उसे अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि सामान्य भौतिक जीवन में कोई सुख नहीं है और असली आत्म-रुचि (स्वार्थ) भौतिक स्तर से परे स्थित है।

श्रील मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि भले ही कोई व्यक्ति न केवल भौतिक ज्ञान में, अपितु आध्यात्मिक ज्ञान में भी दक्ष हो, यदि वह भगवद्भक्तों की संगति की उपेक्षा करता है, तो वह अज्ञान के अंधकार में चला जाता है। इसलिए इस श्लोक की ऐसी व्याख्या नहीं करनी चाहिए, जो शुद्ध भक्त गुरु के महत्त्व को कम करने वाली हो। जो *विचक्षण:* अर्थात् दक्ष है, वह अन्ततोगत्वा पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर को समझ लेगा। ऐसा व्यक्ति अवश्य ही शुद्ध गुरु को पहचानेगा और मानेगा। जो व्यक्ति ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा होता है, वह विनीत बन जाता है। इस तरह दक्ष महापुरुष कभी भी भगवद्भक्तों के चरणकमलों की उपेक्षा नहीं करते।

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।
यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—अपना ही; गुरुः—उपदेश देने वाला गुरु; आत्मा—स्वयं; एव—निस्सन्देह; पुरुषस्य—मनुष्य का; विशेषतः—विशेष अर्थ में; यत्—क्योंकि; प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष अनुभूति से; अनुमानाभ्याम्—तर्क के प्रयोग से; श्रेयः—असली लाभ; असौ—वह; अनुविन्दते—प्राप्त कर सकता है।

बुद्धिमान व्यक्ति, जो अपने चारों ओर के जगत का अनुभव करने तथा ठोस तर्क का प्रयोग करने में निपुण होता है, अपनी ही बुद्धि के द्वारा असली लाभ प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार कभी कभी मनुष्य अपना ही उपदेशक गुरु बन जाता है।

तात्पर्य : जैसाकि इस अध्याय में राजा यदु तथा अवधूत की वार्ता के माध्यम से बताया गया है। संवेदनशील, तर्कपूर्ण व्यक्ति अपने चारों ओर के जगत का निरीक्षण करके असली ज्ञान तथा सुख प्राप्त कर सकता है। अन्य जीवों के सुख और दुख को देखकर मनुष्य यह समझ सकता है कि क्या लाभप्रद है और क्या अनिष्टकर है।

श्रील जीव गोस्वामी ने इस सम्बन्ध में कहा है—*गुर्वनुसरणे प्रवर्तक इत्यर्थः*—अपनी अनुभूति तथा बुद्धि से अर्जित ज्ञान से भगवान् के प्रतिनिधि के महत्त्व को समझा जा सकता है। इस श्लोक में *श्रेयस्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य अपनी बुद्धि से जीवन में आगे बढ़ सकता है। अच्छी संगति से मनुष्य को धीरे धीरे कृष्ण के दास-रूप में अपनी नित्य स्थिति को समझ लेना चाहिए। तब वह अन्य प्रबुद्धजनों के सान्निध्य में रहने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो जाता है। कृष्ण के प्रबुद्ध दास का लक्षण है कि वह ऐसे अन्य महात्माओं की संगति के लिए लालायित रहता है। इस तरह इस भौतिक जगत का संवेदनशील तथा तर्कसंगत निरीक्षण करते हुए मनुष्य को भक्तों की संगति में आध्यात्मिक जीवन के महत्त्व को समझना चाहिए।

पुरुषत्वे च मां धीराः साङ्ख्ययोगविशारदाः ।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पुरुषत्वे—मनुष्य-जीवन में; च—तथा; माम्—मुझको; धीराः—आध्यात्मिक ज्ञान के माध्यम से ईर्ष्या से मुक्त हुए; साङ्ख्य-योग—वैश्लेषिक ज्ञान तथा भगवद्भक्ति से बने आध्यात्मिक विज्ञान में; विशारदाः—दक्ष; आविस्तराम्—प्रत्यक्षतः प्रकट; प्रपश्यन्ति—वे स्पष्ट देखते हैं; सर्व—सभी; शक्ति—मेरी शक्ति से; उपबृंहितम्—प्रदत्त, समन्वित।

मनुष्य-जीवन में जो लोग आत्मसंयमी हैं और सांख्य योग में दक्ष हैं, वे मुझे मेरी सारी शक्तियों समेत प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

तात्पर्य : वेदों में निम्नलिखित कथन पाया जाता है—*पुरुषत्वे चाविस्तराम् आत्मा सहित-प्रज्ञानेन सम्पन्न-तमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतम् ईप्सत्येवं सम्पन्नोऽथेतरेषां पशूनाम् अशना-पिपासे एवभिज्ञानम्*—''मनुष्य-जीवन में आत्मा बुद्धि से समन्वित होता है, जिससे वह आध्यात्मिक ज्ञान को समझ सके। इस प्रकार मनुष्य-जीवन में आत्मा अनुभूत ज्ञान को बोल सकता है, सत्य को देख सकता है, भविष्य को जान सकता है और इस जगत तथा अगले जीवन की वास्तविकता को समझ सकता है। मर्त्य जीवन के अनुभव का लाभ उठाकर मनुष्य-रूप में आत्मा अमरता के लिए प्रयास कर सकता है और मानव-शरीर इसे प्राप्त करने के लिए पूरी तरह तैयार होता है। ऐसी अग्रसर अवस्था में आत्मा पशुओं के सामान्य कार्यों, यथा खाने-पीने से पूर्णतया ज्ञात होता है।''

मनुष्य-जीवन (*पुरुषत्वे*) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह हमें अपने अस्तित्व को पूर्ण बनाने का अवसर प्रदान करता है। यहाँ पर उल्लिखित सांख्य विधि भगवान् कपिल द्वारा अपनी माता देवहूति को दिए उपदेशों में बहुत अच्छी रीति से प्रदर्शित होती है। कपिल भगवान् हैं और उनकी माता यह कहती हुई, उनके पास पहुँचीं—

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसद्-इन्द्रियतर्षणात्।
येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तम: प्रभो॥

''मैं अपनी भौतिक इन्द्रियों द्वारा किये गये उत्पात से अत्यन्त ऊबी हुई हूँ, क्योंकि इसी इन्द्रिय उत्पात से, हे प्रभु! मैं अज्ञान के गर्त में गिर चुकी हूँ।'' (भागवत ३.२५.७) भगवान् कपिल ने अपनी माता को समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक सत्य का उच्च स्तरीय तार्किक सारांश प्रदान किया। यह महत्त्वपूर्ण है कि कपिल ने यह भेदभाव नहीं बरता कि उनकी माता स्त्री हैं, न ही यह माना कि वे इस विस्तृत आध्यात्मिक ज्ञान को समझने में अक्षम हैं। इस प्रकार मुक्तात्माओं के कृष्णभावनाभावित समाज में कोई भी पुरुष, स्त्री या बालक बिना भेदभाव के कृष्ण का भक्त हो सकता है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि भगवान् कपिल द्वारा बतलाई गई अत्यन्त बौद्धिक सांख्य विधि में शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना तथा भगवत्प्रेम ही मुख्य निष्कर्ष होते हैं। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध में भगवान् कपिल इस बात पर बल देते हैं कि शुद्ध भगवद्भक्तों की शरण ग्रहण की जाय। प्रस्तुत श्लोक में

भगवान् कृष्ण कहते हैं *सांख्ययोगविशारदाः*—जो लोग शुद्ध भक्तों की शरण ग्रहण करने में दक्ष हैं और इस तरह इस जगत की वास्तविक स्थिति समझ सकते हैं, वे कृष्ण को साकार रूप में उनकी अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों समेत देख सकते हैं।

कोई गुरु अपने गुरु के पूर्ण शरणागत होकर प्रामाणिक बनता है, किन्तु जैसाकि इस अध्याय में बतलाया गया है, मनुष्य अपना ही गुरु भी बन सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धिमान तथा संवेदनशील पुरुष इस जगत के स्वभाव को तथा अपनी सीमाओं को समझ सकता है। ऐसा व्यक्ति शुद्ध भगवद्भक्तों की संगति करने के लिए तथा कृष्णभावनामृत में अग्रणी लोगों की कृपा पाने के लिए अत्यधिक उन्मुख रहता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यहाँ पर जिस तरह *सांख्ययोग* वर्णित हुआ है, वह ज्ञानयोग की कठोर बौद्धिक प्रगति तथा भक्तियोग का जो शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की कृपा पर बल देता है, द्योतक है।

वस्तुतः ज्ञानयोग भक्तियोग पद्धति में एक कारक होता है क्योंकि कृष्ण *ज्ञानगम्य* हैं अर्थात् समस्त ज्ञान के लक्ष्य हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* में भी (१०.१०) कहा है कि वे निष्ठावान भक्त को सारा ज्ञान स्वयं प्रदान करते हैं। इस अध्याय में भगवान् कृष्ण उद्धव को भौतिक जगत में अपने नित्यप्रति के अनुभवों में भगवान् के साकार रूप को देखने का प्रशिक्षण दे रहे हैं। भगवान् ने पहले ही उद्धव से संकेत कर दिया है कि वे *समाधि* में सारे जगत का भ्रमण करेंगे और अब वे उद्धव को असली संन्यासी के रूप में भगवान् का सर्वत्र दर्शन करते हुए विचरण करने के लिए तैयारी करा रहे हैं।

एकद्वित्रिचतुस्पादो बहुपादस्तथापदः ।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥ २२॥

शब्दार्थ

एक—एक; द्वि—दो; त्रि—तीन; चतुः—चार; पादः—पाँव से युक्त; बहु-पादः—अनेक पाँवों से युक्त; तथा—भी; अपदः—बिना पाँव के; बह्व्यः—अनेक; सन्ति—हैं; पुरः—विभिन्न प्रकार के शरीर; सृष्टाः—निर्मित; तासाम्—उनका; मे—मुझको; पौरुषी—मनुष्य-रूप; प्रिया—अत्यन्त प्रिय।

इस जगत में अनेक प्रकार के सृजित शरीर हैं—कुछ एक पाँव वाले, कुछ दो, तीन, चार या अधिक पाँवों वाले तथा अन्य बिना पाँव के हैं, किन्तु इन सबों में मनुष्य-रूप मुझे वास्तविक प्रिय है।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि का चरम लक्ष्य बद्धजीव को भगवद्धाम वापस जाने के लिए सुविधा प्रदान करना है। चूँकि बद्धजीव का ऐसा मोक्ष केवल मनुष्य-जीवन में सम्भव है, इसलिए स्वभावतः दयालु भगवान् को यह रूप विशेष प्रिय है।

अत्र मां मृगयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ (मनुष्य-रूप में); माम्—मुझे; मृगयन्ति—ढूँढ़ते हैं; अद्धा—सीधे; युक्ताः—स्थित; हेतुभिः—प्रकट लक्षणों से; ईश्वरम्—ईश्वर को; गृह्यमाणैः गुणैः—अनुभव करने वाली बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों से; लिङ्गैः—तथा अप्रत्यक्ष रूप से निश्चित किये गये लक्षणों से; अग्राह्यम्—प्रत्यक्ष अनुभूति की पकड़ से परे; अनुमानतः—तर्क विधि से।

यद्यपि मुझ भगवान् को सामान्य इन्द्रिय अनुभूति से कभी पकड़ा नहीं जा सकता, किन्तु मनुष्य-जीवन को प्राप्त लोग प्रत्यक्ष रूप से मेरी खोज करने के लिए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निश्चित लक्षणों द्वारा अपनी बुद्धि तथा अन्य अनुभूति-इन्द्रियों का उपयोग कर सकते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में *युक्ताः* शब्द उनका सूचक है, जो *भक्तियोग* के नियमित अभ्यास में लगे रहते हैं। भगवद्भक्त अपनी बुद्धि त्याग कर बुद्धिहीन मनचलों की तरह नहीं बन जाते, जैसाकि कुछ मूर्ख सोचते हैं। जैसाकि *अनुमानतः* तथा *गुणैर्लिङ्गैः* शब्दों से सूचित होता है, भक्तियोग में लगा भक्त मानव मस्तिष्क की सभी प्रतिभाओं के माध्यम से भगवान् की गहन खोज करता है। फिर भी *मृगयन्ति* शब्द किसी अनियमित या अवैध विधि का सूचक नहीं है। यदि हमें किसी विशेष व्यक्ति के फोन नम्बर की आवश्यकता होती है, तो हम प्रामाणिक टेलिफोन डाइरेक्टरी में देखते हैं। इसी तरह यदि हम किसी विशेष वस्तु की खोज कर रहे होते हैं, तो हम विशिष्ट स्टोर में जाते हैं, जहाँ खोजी जा रही वस्तु के होने की सम्भावना होती है। श्रील जीव गोस्वामी इंगितकरते हैं कि भगवान् कोई काल्पनिक वस्तु नहीं, अतएव हम यह मनमानी कल्पना नहीं कर सकते कि भगवान् कैसा हो सकता है। अतएव कृष्ण के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों की नियमित खोज करनी होगी। इस श्लोक में *अग्राह्यम्* शब्द यह सूचित करता है कि सामान्य कल्पना से या भौतिक इन्द्रियों के कार्यों द्वारा भगवान् कृष्ण को समझा या पाया नहीं जा सकता। इस सन्दर्भ में श्रील रूप गोस्वामी *भक्तिरसामृतसिन्धु* का (१.२.२३४) निम्नलिखित श्लोक देते हैं—

अत: श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद: ॥

''कोई भी व्यक्ति अपनी भौतिकता द्वारा दूषित इन्द्रियों से श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं की दिव्य प्रकृति को नहीं समझ सकता। भगवद्भक्ति से पूर्णतया संतृप्त होने पर ही उसे भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण, लीलाएँ इत्यादि प्रकट होते हैं।

गृह्यमाणै गुणै शब्द मनुष्य के मस्तिष्क की तर्कशील तथा बौद्धिक विशिष्टताओं के सूचक हैं। इन सबों का उपयोग भगवान् को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से देखने में किया जा सकता है। अप्रत्यक्ष रूप में मनुष्य भगवान् का अनुभव उनकी सृष्टि के माध्यम से कर सकता है। चूँकि हम इस जगत का अनुभव अपनी बुद्धि (तथा इन्द्रियों) से करते हैं अतएव हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि हमारी बुद्धि का भी कोई स्रष्टा है और वह स्रष्टा परम बुद्धिमान है। इस प्रकार सीधे-सादे तर्क से कोई भी विवेकवान् व्यक्ति यह समझ सकता है कि ऐसा एक भगवान् है, जो हर एक का नियंत्रण करता है।

भगवान् के नाम तथा यश के कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भी भगवान् की प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* का अर्थ है कि मनुष्य को सदैव भगवान् के यश का कीर्तन तथा श्रवण करना चाहिए। ठीक से श्रवण तथा कीर्तन करने वाले व्यक्ति को भगवान् का साक्षात्कार अवश्य होगा। कृष्ण सर्वव्यापक हैं, अतएव उनकी खोज सर्वत्र की जानी चाहिए। भक्तियोग द्वारा परिष्कृत दिव्य इन्द्रियों से मनुष्य भगवान् की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त कर सकता है। जैसाकि इस श्लोक में *अद्धा* शब्द से सूचित होता है, यह अनुभूति प्रत्यक्ष है, काल्पनिक नहीं। श्रील प्रभुपाद ने इसकी विशद व्याख्या *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक (२.२.३५) के तात्पर्य में की है—

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षित: स्वात्मना हरि:।

दृश्यै बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकै॥

''भगवान् कृष्ण आत्मा समेत हर जीव में रहते हैं और यह तथ्य हमारे देखने तथा बुद्धि वाले कार्यों से अनुभव तथा कल्पित किया जाता है।''

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अत्र अपि—इस विषय में; उदाहरन्ति—उदाहरण देते हैं; इमम्—इस; इतिहासम्—ऐतिहासिक वृत्तान्त को; पुरातनम्—प्राचीन; अवधूतस्य—सामान्य विधि-विधानों की परिधि से बाहर कार्य करने वाला पवित्र व्यक्ति; संवादम्—वार्ता को; यदोः—तथा राजा यदु की; अमित-तेजसः—असीम शक्ति वाले।

इस सम्बन्ध में साधु-पुरुष अत्यन्त शक्तिशाली राजा यदु तथा एक अवधूत से सम्बद्ध एक ऐतिहासिक वार्ता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उद्धव से यह कथा यह दिखाने के लिए बतलायेंगे कि किस तरह तर्कयुक्त बुद्धि का उपयोग भक्तियोग में वैदिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है और किस तरह बुद्धिमान व्यक्ति अन्ततः भगवान् के चरणकमलों तक जाता है।

अवधूतं द्वियं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् ।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥ २५॥

शब्दार्थ

अवधूतम्—साधु; द्विजम्—ब्राह्मण को; कञ्चित्—कुछ; चरन्तम्—विचरण करते हुए; अकुतः-भयम्—किसी प्रकार के भय के बिना; कविम्—विद्वान; निरीक्ष्य—देखकर; तरुणम्—युवा; यदुः—राजा यदु ने; पप्रच्छ—पूछा; धर्म-वित्—धार्मिक सिद्धान्तों में दक्ष।

महाराज यदु ने एक बार किसी ब्राह्मण अवधूत को देखा, जो तरूण तथा विद्वान प्रतीत होता था और निर्भय होकर विचरण कर रहा था। आध्यात्मिक विज्ञान में अत्यन्त पारंगत होने के कारण राजा ने इस अवसर का लाभ उठाया और उसने इस प्रकार उससे पूछा।

श्रीयदुरुवाच
कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा ।
यामासाद्य भवाल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत् ॥ २६॥

शब्दार्थ

श्री-यदुः उवाच—राजा यदु ने कहा; कुतः—कहाँ से; बुद्धिः—बुद्धि; इयम्—यह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अकर्तुः—किसी काम में न लगे रहने वाले के; सु-विशारदा—अत्यन्त विस्तृत; याम्—जो; आसाद्य—प्राप्त करके; भवान्—आप; लोकम्—संसार में; विद्वान्—ज्ञान से पूर्ण होकर; चरति—विचरण करता है; बाल-वत्—बालक के समान।

श्री यदु ने कहा : हे ब्राह्मण, मैं देख रहा हूँ कि आप किसी व्यावहारिक धार्मिक कृत्य में नहीं लगे हुए हैं, तो भी आपने इस जगत में सारी वस्तुओं तथा सारे लोगों की सही-सही जानकारी प्राप्त कर रखी है। हे महानुभाव, मुझे बतायें कि आपने यह असाधारण बुद्धि कैसे प्राप्त की है और आप सारे जगत में बच्चे की तरह मुक्त रूप से विचरण क्यों कर रहे हैं?

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः ।
हेतुनैव समीहन्त आयुषो यशसः श्रियः ॥ २७॥

शब्दार्थ

प्रायः—सामान्यतया; धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक विकास; कामेषु—तथा इन्द्रियतृप्ति में; विवित्सायाम्—आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में; च—भी; मानवाः—मनुष्यगण; हेतुना—अभिप्राय के लिए; एव—निस्सन्देह; समीहन्ते—प्रयत्न करते हैं; आयुषः—दीर्घायु की; यशसः—यश की; श्रियः—तथा भौतिक ऐश्वर्य की।

सामान्यतया मनुष्य धर्म, अर्थ, काम तथा आत्मा विषयक ज्ञान का अनुशीलन करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। उनका सामान्य मन्तव्य अपनी आयु को बढ़ाना, यश अर्जित करना तथा भौतिक ऐश्वर्य का भोग करना रहता है।

तात्पर्य : बुद्धिमान व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि यदि शरीर से पृथक् कोई नित्य आत्मा है, तो असली सुख प्रकृति के बन्धन से परे हमारी नित्य स्थिति में पाया जाता है। किन्तु सामान्य व्यक्ति आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करते हुए भी, या तो विख्यात बनना चाहते हैं, या ऐसे आध्यात्मिक अभ्यासों से अपनी सम्पत्ति तथा आयु बढ़ाना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, अधिकांश सामान्यजन सोचते हैं कि योग-पद्धति मनुष्य का स्वास्थ्य सुधारने के लिए है, कि मनुष्य धन के लिए ईश्वर से प्रार्थना करे और मनुष्य का आध्यात्मिक ज्ञान समाज में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए है। महाराज यदु यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि युवा ब्राह्मण अवधूत सामान्य व्यक्ति जैसा नहीं है, अपितु वह आध्यात्मिक पद को प्राप्त है, जैसाकि अगले श्लोकों में बतलाया जायेगा।

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः ।
न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥ २८॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—फिर भी; कल्पः—सक्षम; कविः—विद्वान; दक्षः—पटु; सु-भगः—सुन्दर; अमृत-भाषणः—अमृततुल्य वाणी से युक्त; न—नहीं; कर्ता—करने वाला; न ईहसे—तुम इच्छा नहीं करते; किञ्चित्—कोई भी वस्तु; जड—अचर; उन्मत्त—पागल बना हुआ; पिशाच-वत्—पिशाच के समान।

तथापि समर्थ, विद्वान, दक्ष, सुन्दर तथा सुस्पष्ट वक्ता होते हुए भी आप न तो कोई काम करने में लगे हैं, न ही आप किसी वस्तु की इच्छा करते हैं, प्रत्युत जड़वत तथा उन्मत्त प्रतीत होते हैं, मानो कोई पिशाच हो।

तात्पर्य : अज्ञानी लोग प्राय: सोचते हैं कि विरक्त आध्यात्मिक जीवन नपुंसकों, घर में रहने वालों या सांसारिक कार्यों में अकुशल लोगों के निमित्त है। कभी कभी मूर्ख लोग यह कहते हैं कि धार्मिक जीवन उन लोगों के लिए सहारा है, जो समाज में उच्च पद पाने के लिए पर्याप्त दक्ष नहीं हैं। इसीलिए राजा यदु ने साधु-ब्राह्मण के गुणों का वर्णन यहाँ पर यह दिखाने के लिए किया है कि ब्राह्मण ने संन्यास ग्रहण कर लिया है यद्यपि सांसारिक सफलता के लिए उसमें महान् क्षमता है। *अवधूत ब्राह्मण* को दक्ष, विद्वान, सुघड़, वक्ता तथा सांसारिक सफलता के लिए सब प्रकार से योग्य बतलाया गया है। तो भी वह अवधूत भौतिक जीवन त्याग कर कृष्णभावनामृत को अंगीकार किये हुए है। मनुष्य का असली कार्य है कि आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन के लिए वह भगवद्धाम जाय।

श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी एक ही साथ कृष्णभावनामृत का अनुशीलन तथा अन्यों को कृष्णभावनाभावित बनाने के लिए उपदेश-कार्य हेतु कठिन प्रयास करते हैं। प्राय: मूर्ख लोग भक्तों को यह कह कर चिढ़ाते हैं, ''तुम कोई कार्य क्यों नहीं ढूँढ़ लेते?'' वे सोचते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक प्रकाश के लिए निष्ठापूर्वक प्रयास करता है और अन्यों को प्रकाश देता है, वह कोई व्यावहारिक कार्य नहीं करता। मूर्ख भौतिकतावादी कुछ सप्ताह या कुछ महीनों के लिए आयु बढ़ा देने के लिए अस्पताल में लाखों डालर व्यय कर देंगे, किन्तु वे उसकी प्रशंसा नहीं करेंगे, जो शाश्वत जीवन के लिए प्रयत्नशील हैं। भौतिक जीवन में कोई वास्तविक तुक नहीं है। कृष्ण के बिना भोग करने का कार्य घोर अनैतिक है, इसलिए कृष्णभावनामृत से विहीन भौतिकतावादी जीवन में हमें कुछ भी तर्कयुक्त नहीं मिलेगा। अनेक कृष्ण-भक्त धनी, विद्वान तथा प्रतिष्ठाशाली परिवारों से आते हैं और वे अपना जीवन पूर्ण बनाने के लिए कृष्णभावनामृत स्वीकार करते हैं। वे किसी भौतिक उन्नति के लिए अवसर के अभाव से ऐसा नहीं करते। यद्यपि कभी कभी लोग सांसारिक कष्ट होने पर सहायता के लिए भगवान् के पास जाते हैं, किन्तु असली कृष्ण-भक्त स्वेच्छा से सारा भौतिक भोग, यह जानते हुए त्याग देता है कि एकमात्र कृष्ण-प्रेम तथा उनके चरणकमलों की सेवा ही, जीवन की असली सिद्धि हैं।

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना ।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भ:स्थ इव द्विप: ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

जनेषु—समस्त लोगों के; दह्यमानेषु—जलते हुए भी; काम—काम; लोभ—तथा लालच की; दव-अग्निना—जंगल की आग द्वारा; न तप्यसे—जल नहीं जाते; अग्निना—अग्नि से; मुक्तः—स्वतंत्र; गङ्गा-अम्भः—गंगा के जल में; स्थः—खड़े; इव—मानो; द्विपः—हाथी।

यद्यपि भौतिक जगत में सारे लोग काम तथा लोभ की दावाग्नि में जल रहे हैं, किन्तु आप स्वतंत्र रह रहें हैं और उस अग्नि से जलते नहीं। आप उस हाथी के समान हैं, जो दावाग्नि से बचने के लिए गंगा नदी के जल के भीतर खड़े होकर आश्रय लिये हुये हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में दिव्य आनन्द के सहज परिणाम का वर्णन हुआ है। युवा ब्राह्मण शारीरिक रूप से अत्यन्त आकर्षक था और उसकी इन्द्रियाँ भौतिक भोग हेतु शक्ति से परिपूर्ण थीं, तो भी वह भौतिक भोग से तनिक भी प्रभावित नहीं था। यह स्थिति *मुक्ति* कहलाती है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि गंगा के प्रवाह में जल की विशाल धाराएँ होती हैं, जो प्रज्ज्वलित अग्नि को बुझाने में समर्थ होती हैं। यदि कोई हाथी कामोन्मत्त होकर गंगा के भीतर जाकर खड़ा हो जाता है, तो गंगा की शक्तिशाली शीतलकारी धाराएँ उसके काम को शमन कर देती हैं और हाथी शान्त हो जाता है। इसी तरह जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे सामान्य मनुष्य निरन्तर काम तथा लोभ रूपी शत्रुओं द्वारा तंग किये जाते हैं, जो मन को कभी पूरी तरह शान्त नहीं होने देते। किन्तु यदि कोई व्यक्ति हाथी के उदाहरण का पालन करते हुए दिव्य आनन्द की शीतलकारी लहरों में जाकर खड़ा हो जाता है, तो उसकी सारी भौतिक कामनाएँ तुरन्त ही छूमन्तर हो जायेंगी और मनुष्य *शान्त* बन जायेगा। जैसाकि श्री चैतन्य चरितामृत में कहा गया है—*कृष्ण-भक्त निष्काम अतएव शान्त।* इस तरह हर व्यक्ति को चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन को स्वीकार करना चाहिए और अपने को कृष्णभावनामृत के शीतलकारी जल से निर्मल करना चाहिए क्योंकि वही हमारी असली शाश्वत चेतना है।

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् ।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; हि—निश्चय ही; नः—हमसे; पृच्छताम्—पूछ रहे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; आत्मनि—अपने भीतर; आनन्द—आनन्द के; कारणम्—कारण को; ब्रूहि—कहो; स्पर्श-विहीनस्य—भौतिक भोग के स्पर्श से विहीन; भवतः—आपका; केवल-आत्मनः—एकान्त में रहने वाले।

हे ब्राह्मण, हम देखते हैं कि आप भौतिक भोग से किसी प्रकार के स्पर्श से रहित हैं और बिना किसी संगी या पारिवारिक सदस्य के अकेले ही भ्रमण कर रहे हैं। चूँकि हम निष्ठापूर्वक

आपसे पूछ रहे है, इसलिए कृपा करके हमें अपने भीतर अनुभव किये जा रहे महान् आनन्द का कारण बतलायें।

तात्पर्य : यहाँ *केवलात्मन:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब तक मनुष्य को परमात्मा तथा आत्मा की, जो हर जीव के हृदय में एकसाथ रहते हैं, व्यावहारिक अनुभूति नहीं होती, तब तक बनावटी तौर पर संन्यास आश्रम ग्रहण कर पाना और पत्नी, सन्तान या अन्य पारिवारिक सदस्यों की संगति के बिना यात्रा कर पाना अत्यन्त कठिन होता है। हर जीव का स्वभाव है कि वह अन्यों को अपना मित्र बनाता है और उपयुक्त जनों को अपना प्रेम प्रदान करता है। जिसे परम पुरुष की अनुभूति हो चुकती है, वह भगवान् को अपने हृदय में अपने नित्य संगी की तरह हृदय के भीतर वहन करता है। जब तक मनुष्य को यह अनुभूति नहीं हो जाती कि कृष्ण ही उसके एकमात्र असली मित्र हैं और कृष्ण उसके हृदय के भीतर हैं, तब तक वह भौतिक जगत के क्षणिक सम्बन्धों से लिप्त रहता है।

श्रीभगवानुवाच
यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा ।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यदुना—राजा यदु द्वारा; एवम्—इस तरह से; महा-भागः—परम भाग्यशाली; ब्रह्मण्येन—ब्राह्मणों का आदर करने वाला; सु-मेधसा—तथा बुद्धिमान; पृष्टः—पूछा; सभाजितः—सत्कार किया; प्राह—बोला; प्रश्रय—दीनतावश; अवनतम्—अपना सिर झुकाते हुए; द्विजः—ब्राह्मण ने।

भगवान् कृष्ण ने कहा : ब्राह्मणों का सदैव आदर करने वाला बुद्धिमान राजा यदु अपना सिर झुकाये हुए प्रतीक्षा करता रहा और वह ब्राह्मण राजा की मनोवृत्ति से प्रसन्न होकर उत्तर देने लगा।

श्रीब्राह्मण उवाच
सन्ति मे गुरवो राजन्बहवो बुद्ध्युपश्रिताः ।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह तान्शृणु ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; सन्ति—हैं; मे—मेरे; गुरवः—अनेक गुरु; राजन्—हे राजा; बहवः—अनेक; बुद्धि—मेरी बुद्धि; उपश्रिताः—शरणागत; यतः—जिससे; बुद्धिम्—बुद्धि के; उपादाय—प्राप्त करके; मुक्तः—मुक्त; अटामि—विचरण करता हूँ; इह—इस जगत में; तान्—उनको; शृणु—सुनो।

ब्राह्मण ने कहा : हे राजन्, मैंने अपनी बुद्धि से अनेक गुरुओं की शरण ली है। उनसे दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के बाद अब मैं मुक्त अवस्था में पृथ्वी पर विचरण करता हूँ। जिस रूप में मैं आपसे वर्णन करूँ, कृपा करके सुनें।

तात्पर्य : *बुद्ध्युपाश्रिता:* शब्द सूचित करता है कि ब्राह्मण के गुरुओं ने प्रत्यक्ष रूप से उससे नहीं कहा। अपितु उसने अपनी बुद्धि से उनसे सीखा। वे सारे जीव जो कृष्ण से शत्रुता रखते हैं, व्यर्थ की भौतिक वस्तुओं की स्तुति करते हैं और जिन वस्तुओं की झूठे ही पूजा करते हैं, उनके ऊपर अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं। इस तरह बद्धजीव सांसारिक धार्मिकता, आर्थिक विकास तथा स्थूल इन्द्रियतृप्ति द्वारा अपनी आयु के साथ ही यश तथा सौन्दर्य बढ़ाना चाहते हैं। राजा यदु ने देखा कि यह साधु अवधूत उस तरह से आचरण नहीं कर रहा है, इसलिए राजा उस ब्राह्मण की वास्तविक स्थिति जानने के लिए उत्सुक था। राजा को दिये जाने वाले उत्तर में साधु-ब्राह्मण कहता है, ''मैं भौतिक जगत के २४ तत्त्वों को अपनी इन्द्रियतृप्ति के विषय नहीं मानता, अतएव उन्हें मानने या बहिष्कार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्युत मैं भौतिक तत्त्वों को अपने उपदेशक गुरु मानता हूँ। इस तरह सारे जगत में विचरण करते रहने पर भी मैं कभी गुरु-सेवा से वंचित नहीं हुआ हूँ। मैं अपनी आध्यात्मिक बुद्धि के सहारे निरन्तर पृथ्वी पर विचरण करता हूँ। बुद्धि से मैं व्यर्थ की इच्छाओं को लाँघता हूँ और मेरा चरम लक्ष्य भगवान् की प्रेमाभक्ति है। अब मैं आपको अपने चौबीस गुरुओं के विषय में बतलाऊँगा।''

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः ॥ ३३ ॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।
कुमारी शरकृत्सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥ ३४ ॥
एते मे गुरवो राजन्चतुर्विंशतिराश्रिताः ।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

पृथिवी—पृथ्वी; वायुः—वायु; आकाशम्—आकाश; आपः—जल; अग्निः—अग्नि; चन्द्रमाः—चन्द्रमा; रविः—सूर्य; कपोतः—कबूतर; अजगरः—अजगर; सिन्धुः—समुद्र; पतङ्गः—पतिंगा; मधु-कृत्—शहद की मक्खी; गजः—हाथी; मधु-हा—शहद-चोर; हरिणः—हिरन; मीनः—मछली; पिङ्गला—पिंगला नामक वेश्या; कुररः—कुररी पक्षी; अर्भकः—बालक; कुमारी—तरुणी; शर-कृत्—बाण बनाने वाला; सर्पः—साँप; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ी; सुपेश-कृत्—बर्र; एते—ये; मे—मेरे; गुरवः—गुरु; राजन्—हे राजा; चतुः-विंशतिः—चौबीस; आश्रिताः—जिनकी शरण ली है; शिक्षा—उपदेश; वृत्तिभिः—कार्यों से; एतेषाम्—इनके; अन्वशिक्षम्—मैंने ठीक से सीखा है; इह—इस जीवन में; आत्मनः—आत्मा (अपने) के बारे में।

हे राजन्, मैंने चौबीस गुरुओं की शरण ली है। ये हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतिंगा, मधुमक्खी, हाथी, मधु-चोर, हिरण, मछली, पिंगला वेश्या, कुररी पक्षी, बालक, तरुणी, बाण बनाने वाला, साँप, मकड़ी तथा बर्र। हे राजन्, इनके कार्यों का अध्ययन करके ही मैंने आत्म-ज्ञान सीखा है।

तात्पर्य : बर्र को *सुपेश-कृत्* कहा जाता है, क्योंकि यह जिस कीड़े को मारता है, वह अगले जन्म में सुन्दर रूप प्राप्त करता है।

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यतः—जिससे; यत्—जो; अनुशिक्षामि—मैंने सीखा है; यथा—कैसे; वा—तथा; नाहुष-आत्म-ज—हे राजा नहुष (ययाति) के पुत्र; तत्—वह; तथा—इस प्रकार; पुरुष-व्याघ्र—हे पुरुषों में बाघ; निबोध—सुनो; कथयामि—कहूँगा; ते—तुमसे।

हे महाराज ययाति के पुत्र, हे पुरुषों में व्याघ्र, सुनो, क्योंकि मैंने इन गुरुओं से, जो सीखा है, उसे तुम्हें बतला रहा हूँ।

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः ।
तद्विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

भूतैः—विभिन्न प्राणियों द्वारा; आक्रम्यमाणः—सताया जाकर; अपि—यद्यपि; धीरः—धीर; दैव—भाग्य के; वश—नियंत्रण; अनुगैः—अनुयायियों द्वारा; तत्—यह तथ्य; विद्वान्—जाननहारा; न चलेत्—विपथ नहीं होना चाहिए; मार्गात्—पथ से; अन्वशिक्षम्—मैंने सीखा है; क्षितेः—पृथ्वी से; व्रतम्—यह व्रत, दृढ़ अभ्यास।

अन्य जीवों द्वारा सताये जाने पर भी धीर व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि उसके उत्पीड़क ईश्वर के अधीन होकर असहाय रूप से कर्म कर रहे हैं। इस तरह उसे कभी अपने पथ की प्रगति से विपथ नहीं होना चाहिए। मैंने पृथ्वी से यह नियम सीखा है।

तात्पर्य : पृथ्वी सहनशीलता की प्रतीक है। आसुरी जीव तेल के गहरे कुएँ खोदकर, विस्फोटों, प्रदूषण इत्यादि से पृथ्वी को निरन्तर त्रस्त करते रहते हैं, कभी-कभी लालची व्यक्तियों द्वारा व्यापारिक लाभ के लिए हरे-भरे जंगल काट लिये जाते हैं, जिससे भूमि बंजर जाती है। कभी कभी नृशंस युद्ध में लड़ने वाले सिपाहियों के रक्त से पृथ्वी सन जाती है। इतने उत्पातों के बावजूद, पृथ्वी जीवों को सारी

सुविधाएँ प्रदान करती जाती है। इस तरह मनुष्य पृथ्वी का अध्ययन करके सहने की कला सीख सकता है।

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः ।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

शश्वत्—सदैव; पर—दूसरों के; अर्थ—हित के लिए; सर्व-ईहः—सारे प्रयास; पर-अर्थ—दूसरों का लाभ; एकान्त—अकेला; सम्भवः—जीवित रहने का कारण; साधुः—साधु-पुरुष; शिक्षेत—सीखना चाहिए; भू-भृत्तः—पहाड़ से; नग-शिष्यः—वृक्ष का शिष्य; पर-आत्मताम्—अन्यों के प्रति समर्पण।

सन्त-पुरुष को पर्वत से सीखना चाहिए कि वह अपने सारे प्रयास अन्यों की सेवा में लगाये और अन्यों के कल्याण को अपने जीवन का एकमात्र ध्येय बनाये। इसी तरह वृक्ष का शिष्य बनकर उसे स्वयं को अन्यों को समर्पित करना सीखना चाहिए।

तात्पर्य : विशाल पर्वतों में अपार मृदा रहती है, जिसमें असंख्य प्रकार का जीवन—वृक्ष, घास, पक्षी, पशु—पलता है। झरनों तथा नदियों के रूप में पर्वत प्रचुर मात्रा में स्वच्छ जल भी प्रदान करते हैं, जो सबों को जीवन देता है। पर्वतों से मनुष्य को समस्त जीवों को सुख देने की कला सीखनी चाहिए। इसी तरह पवित्र वृक्षों से भी उत्तम शिक्षाएँ ग्रहण की जा सकती हैं, जो हमें फल, फूल, शीतल छाया तथा औषधियों के रस प्रदान करने वाले हैं। जब वृक्ष को सहसा काट डाला जाता है और घसीटा जाता है, तो वह विरोध नहीं करता, अपितु ईंधन के रूप में अन्यों की सेवा करता है। इस तरह मनुष्य को ऐसे वदान्य वृक्षों का शिष्य बनकर उनसे सदाचार के गुण सीखने चाहिए।

श्रील मध्वाचार्य के अनुसार *परार्थैकान्त सम्भवः* शब्द यह सूचित करते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि परोपकार में वह अपनी सारी *सम्पत्ति* तथा धन लगा दे। अपने अर्जित ऐश्वर्य से उसे गुरु तथा भगवान् को प्रसन्न करने का विशेष प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार देवता तथा उन्हीं के साथ सभी सच्चे तौर पर सम्मानित महापुरुष भी स्वतः प्रसन्न हो जायेंगे। इस श्लोक के अनुसार सन्त आचरण विकसित करने पर मनुष्य सहिष्णु बन जायेगा। इससे वह भौतिक इन्द्रियों के व्यर्थ विक्षोभ से बच जायेगा, जो मनुष्य को भौतिक सुख की खोज में विश्व-भर में भ्रमण करने के लिए बाध्य करती हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी वृक्ष की सहिष्णुता पर बल दिया है—*तरोरिव सहिष्णुना, कीर्तनीयः सदाहरिः।*

वृक्ष की भाँति सहिष्णु व्यक्ति ही कृष्ण-नाम का निरन्तर कीर्तन करते हुए नित-नवीन तुष्टि पा सकता है।

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः ।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

प्राण-वृत्त्या—प्राणों के कार्य करते रहने से; एव—ही; सन्तुष्येत्—सन्तुष्ट रहना चाहिए; मुनिः—मुनि; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; इन्द्रिय-प्रियैः—इन्द्रियों को तृप्त करने वाली वस्तुओं से; ज्ञानम्—चेतना; यथा—जिससे कि; न नश्येत—नष्ट न हो सके; न अवकीर्येत—क्षुब्ध न हो सके; वाक्—उसकी वाणी; मनः—तथा मन।

विद्वान मुनि को चाहिए कि वह अपने सादे जीवन-यापन में ही तुष्टि माने। वह भौतिक इन्द्रियों की तृप्ति के द्वारा तुष्टि की खोज न करे। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अपने शरीर की परवाह इस तरह करनी चाहिए कि उसका उच्चतर ज्ञान विनष्ट न हो और उसकी वाणी तथा मन आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से विचलित न हों।

तात्पर्य : बुद्धिमान व्यक्ति कभी भी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के रूप, स्वाद-गंध तथा उत्तेजना में अपनी चेतना को लीन नहीं करता, अपितु खाने तथा सोने जैसे कार्यों को जीवन-यापन के अनिवार्य कार्य मानता है। मनुष्य को चाहिए कि भोजन, निद्रा, सफाई इत्यादि के नियमित कार्यों द्वारा अपने शरीर का उचित निर्वाह करे, अन्यथा मस्तिष्क कमजोर पड़ जायेगा और उसका आध्यात्मिक ज्ञान फीका पड़ जायेगा। यदि कोई व्यक्ति अत्यन्त संयमपूर्वक भोजन करता है या निस्वार्थता के नाम पर अशुद्ध भोजन करता है, तो उसके मन पर उसका नियंत्रण नहीं रह जाता। दूसरी ओर, यदि वह बहुत ही चर्बी वाला या गरिष्ठ भोजन करता है, तो उसमें अनावश्यक निद्रा तथा वीर्य की वृद्धि होगी, जिससे रजो तथा तमो-गुणों के कारण उसके मन तथा वाणी अभिभूत हो उठेंगे। इन सारी बातों को भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में सार रूप में रख दिया है—*युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।* मनुष्य को चाहिए कि अपने सारे शारीरिक कार्यों को बुद्धिमत्तापूर्वक नियमित बनाये, जिससे वे आत्म-साक्षात्कार में सहायक बन सकें। यह विधि प्रामाणिक गुरु द्वारा सिखलाई जाती है। यदि कोई अत्यधिक संयमी बनता है या इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक लिप्त रहता है, तो आत्म-साक्षात्कार असम्भव है।

भगवद्भक्त का कर्तव्य है कि वह किसी भी वस्तु को भगवान् से पृथक् करके न देखे, क्योंकि यह मोह या माया है। कोई भी भद्र व्यक्ति किसी अन्य भद्र व्यक्ति की सम्पत्ति का भोग करना नहीं चाहेगा।

इसी तरह यदि हर वस्तु को कृष्ण से सम्बन्धित देखा जाय, तो इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई गुंजाईश नहीं रहती। किन्तु यदि भौतिक वस्तुओं को कृष्ण से विलग करके देखा जाता है, तो तुरन्त ही भौतिक भोग की लालसा जागृत हो उठती है। मनुष्य को इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वह *प्रेयस्* (क्षणिक तृप्ति) तथा *श्रेयस्* (स्थायी लाभ) में अन्तर कर सके। मनुष्य चाहे तो नियमित तथा सीमित रूप से इन्द्रिय-कर्म स्वीकार कर सकता है, जिससे वह कृष्ण की सेवा करने के लिए बलवान् हो, किन्तु यदि वह इन्द्रियों में अत्यधिक लिप्त रहता है, तो आध्यात्मिक जीवन की उसकी गम्भीरता जाती रहेगी और वह सामान्य भौतिकतावादी की तरह कार्य करेगा। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है, चरम लक्ष्य तो *ज्ञानम्* अर्थात् परम सत्य भगवान् कृष्ण की स्थिर चेतना है।

विषयेष्वाविशन्योगी नानाधर्मेषु सर्वतः ।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विषयेषु—भौतिक वस्तुओं के सम्पर्क में; आविशन्—प्रवेश करके; योगी—जिसने आत्म-संयम प्राप्त कर लिया है; नाना-धर्मेषु—विभिन्न गुणों वाले; सर्वतः—सर्वत्र; गुण—सद्गुण; दोष—तथा दोष; व्यपेत-आत्मा—वह व्यक्ति जिसने लाँघ लिया है; न विषज्जेत—नहीं फँसना चाहिए; वायु-वत्—वायु की तरह।

यहाँ तक कि योगी भी ऐसी असंख्य भौतिक वस्तुओं से घिरा रहता है, जिनमें अच्छे तथा बुरे गुण पाये जाते हैं। किन्तु जिसने भौतिक अच्छाई तथा बुराई लाँघ ली है, उसे भौतिक वस्तुओं के सम्पर्क में रहते हुए भी, उनमें फँसना नहीं चाहिए, प्रत्युत उसे वायु की तरह कार्य करना चाहिए।

तात्पर्य : वायु हवा का बाह्य स्वरूप है और *प्राण* आन्तरिक स्वरूप। जब वायु झरनों के ऊपर से बहती है, तो स्वच्छ जल की बूँदे अपने साथ लेकर मन को प्रसन्न करने वाली बन जाती है। कभी कभी वायु सुन्दर जंगल से होकर बहती है, तो वह फूलों-फलों की सुगन्धि ले लेती है, किन्तु वही वायु अन्य अवसर पर अग्नि को दहकाकर उसी जंगल को जला डालती है। किन्तु वायु अपने स्वभाव को बनाये रखकर शुभ तथा अशुभ कार्यों में निष्पक्ष बनी रहती है। इसी तरह हमें इस भौतिक जगत के भीतर हर्ष तथा विषाद दोनों ही परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा। किन्तु यदि हम कृष्णभावनामृत में स्थिर रहें, तो हमें कोई भी अशुभ कार्य विचलित नहीं कर सकेगा, न ही हम किसी भौतिक शुभ कार्य में आसक्त होंगे। अपने आध्यात्मिक कार्यों को सम्पन्न करते समय कभी कभी भक्त हरे कृष्ण

कीर्तन करते हुए अपने को उत्तम ग्रामीण वातावरण में पाता है, तो कभी नारकीय शहरी अवस्था में। दोनों ही दशाओं में भक्त अपने मन को कृष्ण में स्थिर करके दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। यद्यपि वायु गहरे से गहरे अंधकारमय तथा वर्जित स्थानों के ऊपर से गुजरती है, किन्तु वह विचलित या भयभीत नहीं होती। इसी तरह कृष्ण-भक्त को कभी भी भयभीत या चिन्तित नहीं होना चाहिए चाहे वह कितनी ही कठिन स्थिति में क्यों न हो। जो व्यक्ति मनोहारी रूप, स्वाद, गंध, ध्वनि तथा स्पर्श के प्रति लिप्त होता है, वह भी इनके विपरीत होने पर विकर्षित हो उठेगा। इस तरह भौतिकतावादी व्यक्ति अपने को असंख्य अच्छी तथा बुरी वस्तुओं से घिरा हुआ देखकर निरन्तर विचलित रहता है। जब वायु सहसा अनेक दिशाओं में बहने लगती है, तो वायु-मण्डल क्षुब्ध हो उठता है। इसी तरह यदि मन निरन्तर भौतिक वस्तुओं द्वारा आकर्षित-विकर्षित होता रहता है, तो मन में ऐसा तूफान उठता है कि परम सत्य का चिन्तन कर पाना असंभव हो जाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह बहती वायु से बिना अनुरक्ति के भौतिक जगत में चलने-फिरने की कला सीखे।

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पार्थिवेषु—पृथ्वी (तथा अन्य तत्त्वों) से बना; **इह**—इस संसार में; **देहेषु**—शरीरों में; **प्रविष्टः**—प्रवेश करके; **तत्**—उनके; **गुण**—लाक्षणिक गुण; **आश्रयः**—धारण करके; **गुणैः**—उन गुणों से; **न युज्यते**—अपने को फँसाता नहीं; **योगी**—योगी; **गन्धैः**—विभिन्न गंधों से; **वायुः**—वायु; **इव**—सदृश; **आत्म-दृक्**—अपने को ठीक से देखने वाला (इस पदार्थ से पृथक् रूप में)।

इस जगत में स्वरूपसिद्ध आत्मा विविध भौतिक शरीरों में उनके विविध गुणों तथा कार्यों का अनुभव करते हुए रह सकता है, किन्तु वह उनमें कभी उलझता नहीं, जिस तरह कि वायु विविध सुगंधों को वहन करती है, किन्तु वह उनमें घुल-मिल नहीं जाती।

तात्पर्य : यद्यपि हम वायु को उसके द्वारा वाहित गन्ध के अनुसार सुगन्धपूर्ण या दुर्गंधपूर्ण अनुभव करते हैं, किन्तु वायु कभी भी अपने वास्तविक स्वभाव को नहीं बदलती। इसी तरह भले ही हम किसी व्यक्ति को सबल या निर्बल, बुद्धिमान या मन्द, सुन्दर या असुन्दर, अच्छा या बुरा कहें किन्तु शुद्ध आत्मा, जो कि वास्तविक पुरुष है, शरीर के किसी भी गुण से युक्त नहीं होता, अपितु उनके द्वारा प्रच्छन्न रहता है, जिस तरह वायु विभिन्न सुगन्धियों से आच्छादित रहती है। इस तरह कृष्णभावनाभावित

व्यक्ति सदैव जानता रहता है कि वह नश्वर शरीर से भिन्न है। वह बाल्यावस्था, कुमारावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था जैसे विविध शरीर-विकारों का अनुभव करता है और यद्यपि वह उस शरीर की पीड़ा, हर्ष, गुण तथा कर्म का अनुभव करता है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी अपने को शरीर नहीं सोचता। वह यही समझता रहता है कि वह नित्य आत्मा है और भगवान् कृष्ण का भिन्नांश है। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को शारीरिक उपाधि के रूप में न माने, अपितु उसे भगवान् के नित्य सेवक के रूप में देखे।

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अन्तर्हितः—भीतर उपस्थित; च—भी; स्थिर—सारे जड़ जीव; जङ्गमेषु—तथा चेतन जीव; ब्रह्म-आत्म-भावेन—अपने को शुद्ध आत्मा अनुभव करते हुए; समन्वयेन—विभिन्न शरीरों के साथ भिन्न भिन्न सम्पर्कों के परिणामस्वरूप; व्याप्त्या—व्याप्त होने के कारण; अव्यवच्छेदम्—अविभक्त होने का गुण; असङ्गम्—लिप्त न रहने से; आत्मनः—परमात्मा से युक्त; मुनिः—मुनि; नभस्त्वम्—आकाश साम्य; विततस्य—विराट का; भावयेत्—ध्यान करना चाहिए।

भौतिक शरीर के भीतर रहते हुए भी विचारवान साधु को चाहिए कि वह अपने आपको शुद्ध आत्मा समझे। इसी तरह मनुष्य को देखना चाहिए कि आत्मा सभी प्रकार के सजीवों—चरों तथा अचरों के भीतर प्रवेश करता है और इस तरह व्यष्टि आत्मा सर्वव्यापी है। साधु को यह भी देखना चाहिए कि परमात्मा रूप में भगवान् एक ही समय सारी वस्तुओं के भीतर उपस्थित रहते हैं। आत्मा तथा परमात्मा को आकाश के स्वभाव से तुलना करके समझा जा सकता है। यद्यपि आकाश सर्वत्र फैला हुआ है और सारी वस्तुएँ आकाश के भीतर टिकी हैं किन्तु आकाश किसी भी वस्तु से न तो घुलता-मिलता है, न ही किसी वस्तु के द्वारा विभाजित किया जा सकता है।

तात्पर्य : यद्यपि वायु आकाश के अन्दर रहती है, किन्तु आकाश वायु से भिन्न रहता है। वायु की अनुपस्थिति में भी आकाश उपस्थित रहता है। सारी भौतिक वस्तुएँ विशाल भौतिक आकाश या दिक् के भीतर स्थित हैं, किन्तु आकाश अविभाज्य रहता है और सारी वस्तुओं को अपने भीतर समाये हुए भी, उनमें से किसी से भी मिश्रित नहीं होता। आत्मा तथा परमात्मा की भी स्थिति इसी तरह है। आत्मा

सर्वव्यापक है, क्योंकि *जीवात्माएँ* असंख्य हैं, जो समस्त वस्तुओं के भीतर प्रवेश करती हैं, फिर भी जैसाकि वैदिक वाङ्मय द्वारा पुष्टि हुई है, प्रत्येक व्यष्टिक *आत्मा* सूक्ष्म रहता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (५.९) में कहा गया है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चनन्त्याय कल्पते॥

''यदि बाल के अगले भाग को सौ भागों में विभक्त किया जाय और इनमें से प्रत्येक भाग को फिर से सौ भागों में विभक्त किया जाय तो ऐसा प्रत्येक भाग आत्मा की माप होता है।'' *श्रीमद्भागवत* में भी यही बात कही गई है—

केशाग्रशतभागस्य शतांश सादृशात्मकः।

जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः॥

''आध्यात्मिक अणुओं के असंख्य कण हैं, जो बाल के अग्र भाग के दस हजारवें भाग के तुल्य होते हैं।''

किन्तु भगवान् सर्वव्यापी हैं, क्योंकि वे साक्षात् सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। भगवान् *अद्वैत* अर्थात् अविभाज्य कहलाते हैं। इस तरह एक ही भगवान् आकाश की भाँति सर्वत्र विद्यमान रहता है फिर भी वह किसी वस्तु से लिप्त नहीं हैं यद्यपि हर वस्तु उन्हीं के भीतर टिकी है। स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.६) में अपने इस सर्वव्यापकत्व की विवेचना की पुष्टि की है—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

''जिस प्रकार सर्वत्र प्रवाहमान प्रबल वायु सदैव आकाश में स्थित रहती है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों को मुझमें स्थित जानो।''

अतः यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्मा सर्वव्यापी कहे जाते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि व्यष्टिक जीवात्माएँ असंख्य हैं, जबकि भगवान् एक है। भगवान् सदा महानतम हैं और जो वास्तव में विचारवान साधु होता है, वह भगवान् के परम पद के बारे में कभी शंका नहीं करता।

**तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः ।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत्कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥ ४३ ॥**

शब्दार्थ

तेजः—अग्नि; अप्—जल; अन्न—तथा पृथ्वी; मयैः—युक्त; भावैः—वस्तुओं से; मेघ-आद्यैः—बादल इत्यादि से; वायुना—वायु से; ईरितैः—उड़ाये जाने वाले; न स्पृश्यते—स्पर्श नहीं हो पाता; नभः—आकाश; तत्-वत्—उसी तरह से; काल-सृष्टैः—काल द्वारा भेजे गये; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा; पुमान्—मनुष्य।

यद्यपि प्रबल वायु आकाश से होकर बादलों तथा झंझावातों को उड़ाती है, किन्तु आकाश इन कार्यों से कभी प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा भौतिक प्रकृति के स्पर्श से परिवर्तित या प्रभावित नहीं होती। यद्यपि जीव पृथ्वी, जल तथा अग्नि से बने शरीर में प्रवेश करता है और यद्यपि वह शाश्वत काल द्वारा उत्पन्न तीन गुणों के द्वारा बाध्य किया जाता है, किन्तु उसका शाश्वत आध्यात्मिक स्वभाव कभी भी प्रभावित नहीं होता।

तात्पर्य : यद्यपि ऐसा लगता है कि वायु, वर्षा, अंधड़, बिजली तथा गर्जन इत्यादि की प्रबल गतिविधियों से आकाश प्रभावित हो रहा है, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण आकाश प्रभावित नहीं होता, अपितु वह ऐसे दृश्य कार्यकलापों के लिए पृष्ठभूमि है। इसी प्रकार यद्यपि भौतिक शरीर और मन में असंख्य परिवर्तन आते हैं, जैसे जन्म-मृत्यु, सुख-दुख, प्रेम-घृणा, किन्तु शाश्वत जीव तो इन कार्यकलापों की पृष्ठभूमि मात्र है। सूक्ष्म होने के कारण आत्मा प्रभावित नहीं होता। मात्र शरीर तथा मन के ऊपरी कार्यों की गलत पहचान से जीवात्मा को भौतिक जगत में घोर यातना सहनी पड़ती है।

इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने इंगित किया है कि प्रत्येक जीव को अपने दैवी आध्यात्मिक गुण फिर से पाने के लिए संघर्ष करना चाहिए। जीव परम पुरुष कृष्ण का अंश है, फलतः आत्मा भी दैवी गुणों का आगार है। किन्तु भगवान् बिना किसी अवरोध के इन गुणों को स्वत:प्रकट करते हैं जबकि बद्धजीव को इन गुणों को पुनरुज्जीवित करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इस तरह भगवान् तथा जीव दोनों शाश्वत तथा दिव्य हैं, किन्तु भगवान् सदैव सर्वश्रेष्ठ हैं। स्वच्छ बुद्धि से ऐसी अनुभूति होने पर ही बद्धजीव आध्यात्मिक पद तक उठ सकता है।

**स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम् ।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥ ४४ ॥**

शब्दार्थ

स्वच्छः—शुद्ध; प्रकृतितः—प्रकृति से; स्निग्धः—कोमल या कोमल हृदय वाला; माधुर्यः—मधुर या मधुर वाणी; तीर्थ-भूः—तीर्थस्थान; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; मुनिः—मुनि; पुनाति—पवित्र करता है; अपाम्—जल का; मित्रम्—प्रतिरूप; ईक्षा—देखे जाने से; उपस्पर्श—सादर स्पर्श होने से; कीर्तनैः—तथा वाणी से प्रशंसित किये जाने से।

हे राजन्, सन्त-पुरुष जल के सदृश होता है, क्योंकि वह कल्मषरहित, स्वभाव से मृदुल तथा बोलने में बहते जल की कलकल ध्वनि सदृश होता है। ऐसे सन्त-पुरुष के दर्शन, स्पर्श या श्रवण मात्र से ही जीव उसी तरह पवित्र हो जाता है, जिस तरह शुद्ध जल का स्पर्श करने से मनुष्य स्वच्छ हो जाता है। इस तरह सन्त-पुरुष तीर्थस्थान की तरह उन सबों को शुद्ध बनाता है, जो उसके सम्पर्क में आते हैं, क्योंकि वह सदैव भगवान् की महिमा का कीर्तन करता है।

तात्पर्य : *अपाम् मित्रम्* का दूसरा पाठ *अघान् मित्रम्* भी मिलता है, जिसका अर्थ है कि सन्त-पुरुष सारे जीवों को अपने मित्र रूप में स्वीकार करके, उन्हें पवित्र बनाता है और उनके पापकर्मों से उन्हें (*अघात्*) बचाता है। बद्धजीव झूठे ही अपने स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन से अपनी पहचान मानकर आध्यात्मिक ज्ञान के पद से नीचे गिर जाता है। बद्धजीव सदैव भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए भूखा रहता है और उसकी पूर्ति न होने पर वह कुपित हो जाता है। कभी कभी वह अपनी भौतिक तृप्ति से वंचित होने के भय से इतना त्रस्त हो जाता है कि पागलपन की स्थिति में आ जाता है।

किन्तु सन्त-पुरुष शुद्ध जल के समान समस्त कल्मष से रहित होता है और सारी वस्तुओं को शुद्ध करने की क्षमता रखता है। जिस तरह स्वच्छ जल पारदर्शी होता है उसी तरह सन्त-पुरुष अपने हृदय के भीतर से भगवान् को झलकाता रहता है। जिस तरह जल कलकल ध्वनि करके बहता है, उसी तरह भगवान् की महिमा से सराबोर भगवद्भक्त की वाणी अत्यन्त मनोहारी तथा सुन्दर होती है। इस प्रकार जल के स्वभाव का अध्ययन करके भगवान् के शुद्ध भक्त के लक्षणों को समझा जा सकता है।

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः ।
सर्वभक्ष्योऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तेजस्वी—तेजवान्; तपसा—अपनी तपस्या से; दीप्तः—चमकता हुआ; दुर्धर्ष—अचल; उदर-भाजनः—पेट पालने के लिए ही खाने वाला; सर्व—हर वस्तु; भक्ष्यः—खाते हुए; अपि—यद्यपि; युक्त-आत्मा—आध्यात्मिक जीवन में स्थिर; न आदत्ते—धारण नहीं करता; मलम्—कल्मष; अग्नि-वत्—अग्नि की तरह।

सन्त-पुरुष तपस्या करके शक्तिमान बनते हैं। उनकी चेतना अविचल रहती है क्योंकि वे भौतिक जगत की किसी भी वस्तु का भोग नहीं करना चाहते। ऐसे सहज मुक्त सन्त-पुरुष भाग्य

द्वारा प्रदत्त भोजन को स्वीकार करते हैं और यदि कदाचित् दूषित भोजन कर भी लें तो उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिस तरह अग्नि उन दूषित वस्तुओं को जला देती है, जो उसमें डाली जाती हैं।

तात्पर्य : *उदर-भाजन* शब्द यह बतलाता है कि सन्त-पुरुष इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं अपितु उदर-पोषण के लिए ही भोजन करता है। मनुष्य को अपना मन प्रसन्न रखने के लिए स्वादिष्ट भोजन करना चाहिए फिर भी उसे बहुत विलासी भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे कामोत्तेजना उत्पन्न होगी और आलस्य सतायेगा। सन्त-पुरुष पूरी तरह से भद्रजन होता है और कभी भी लोभी या कामी नहीं होता। यद्यपि माया विभिन्न प्रकार के भौतिक प्रलोभन देकर उसे पराजित करना चाहती है किन्तु सन्त-पुरुष की आध्यात्मिक शक्ति से ये सारे आकर्षण स्वत: परास्त हो जाते हैं। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से बढ़े-चढ़े पुरुष का कभी भी अनादर नहीं करना चाहिए, वरन् आदरपूर्वक उसकी पूजा करनी चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के पास असावधानी के साथ जाना अग्नि के पास असावधानी से जाने के समान है, जो तुरन्त ही जला देती है, यदि उसके साथ सावधानी न बरती जाए। शुद्ध भक्त के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार को भगवान् कभी माफ नहीं करते।

क्वचिच्छन्न: क्वचित्स्पष्ट उपास्य: श्रेय इच्छताम् ।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां दहन्प्रागुत्तराशुभम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; छन्न:—ढका हुआ; क्वचित्—कभी; स्पष्ट:—प्रकट; उपास्य:—पूज्य; श्रेय:—सर्वोच्च मंगल; इच्छताम्—चाहने वालों के लिए; भुङ्क्ते—निगल जाता है; सर्वत्र—सभी दिशाओं में; दातृणाम्—बलि चढ़ाने वालों के; दहन्—जलाते हुए; प्राक्—विगत; उत्तर—तथा भविष्य; अशुभम्—पापों को।

सन्त-पुरुष अग्नि के ही समान, कभी प्रच्छन्न रूप में, तो कभी प्रकट रूप में दिखता है। असली सुख चाहने वाले बद्धजीवों के कल्याण हेतु सन्त-पुरुष गुरु का पूजनीय पद स्वीकार कर सकता है और इस तरह वह अग्नि के सदृश अपने पूजकों की बलियों को दयापूर्वक स्वीकार करके विगत तथा भावी पापों को भस्म कर देता है।

तात्पर्य : सन्त-पुरुष अपने उच्च पद को प्रच्छन्न रखना पसन्द करता है, किन्तु कष्ट भोग रहे लोगों को उपदेश देने के लिए कभी कभी वह अपनी महानता प्रकट कर देता है। इसकी तुलना उस अग्नि से की जा सकती है, जो कभी कभी राख के भीतर बिना देखे हुए जलती है, किन्तु कभी कभी खुल कर

जलने लगती है। जिस तरह अग्नि यज्ञकर्ता द्वारा अग्नि में डाले गये घी तथा अन्य बलियों को लील जाती है, उसी तरह सन्त-पुरुष अपने बद्ध अनुयायियों द्वारा की गई प्रशंसा को यह जानते हुए भी स्वीकार करता है कि यह सारी प्रशंसा वास्तव में भगवान् कृष्ण के निमित्त है। यद्यपि सामान्य व्यक्ति प्रशंसा किये जाने पर फूलकर कुप्पा हो जाता है और मूर्ख बनता है, किन्तु परम सत्य के प्रति अनुरक्त होने से सन्त-पुरुष में ऐसी अशुभ प्रवृत्तियाँ भस्म हो जाती हैं। इस तरह वह अग्नि जैसा होता है।

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः ।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥ ४७॥

शब्दार्थ

स्व-मायया—अपनी माया से; सृष्टम्—सृजित; इदम्—यह (जीव का शरीर); सत्-असत्—देवता, पशु इत्यादि के रूप में; लक्षणम्—लक्षणों से युक्त; विभुः—सर्वशक्तिमान; प्रविष्टः—प्रवेश करके; ईयते—प्रकट होता है; तत्-तत्—उसी-उसी रूप में; स्वरूपः—पहचान बनाकर; अग्निः—अग्नि के; इव—सदृश; एधसि—ईंधन में।

जिस तरह अग्नि विभिन्न आकारों तथा गुणों वाले काष्ठ-खण्डों में भिन्न भिन्न रूप से प्रकट होती है, उसी तरह सर्वशक्तिमान परमात्मा अपनी शक्ति से उत्पन्न किये गये उच्च तथा निम्न योनियों के शरीरों में प्रवेश करके प्रत्येक के स्वरूप को ग्रहण करता प्रतीत होता है।

तात्पर्य : यद्यपि परमेश्वर हर वस्तु के भीतर है, किन्तु प्रत्येक वस्तु परमेश्वर नहीं होती। भगवान् सतोगुण से देवताओं तथा ब्राह्मणों के शरीर को उत्पन्न करते हैं। उसी तरह वे तमोगुण का विस्तार करके पशुओं, शूद्रों तथा अन्य निम्न जीवों को उत्पन्न करते हैं। भगवान् इन सारी उच्च तथा निम्न सृष्टियों में प्रवेश करते हैं, किन्तु वे *विभु* अर्थात् सर्वशक्तिमान भगवान् बने रहते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि यद्यपि सुलगते काष्ठ के भीतर अग्नि उपस्थित रहती है किन्तु अच्छी तरह हिलाने पर ही वह जलने लगती है। इसी तरह यद्यपि भगवान् प्रत्यक्ष रूप से सर्वत्र उपस्थित हैं, किन्तु जब हम कीर्तन करते हैं और उनकी महिमा का प्रेम और भक्तिपूर्वक श्रवण करते हैं, तो भगवान् अपने भक्तों के समक्ष प्रकट हाते हैं।

मूर्ख बद्धजीव हर एक के भीतर भगवान् की उपस्थिति की उपेक्षा करते हैं और अपनी मध्यम दर्जे की चेतना को अपने नश्वर भौतिक आवरण में ही लीन किये यह सोचते रहते हैं, ‘‘मैं प्रबल पुरुष हूँ, मैं सुन्दर स्त्री हूँ, मैं इस नगर का सबसे धनी व्यक्ति हूँ और मैं पी. एच. डी हूँ इत्यादि, इत्यादि। मनुष्य

को व्यर्थ के उलझाव का परित्याग कर देना चाहिए इस यथार्थ को स्वीकार कर लेना चाहिए कि मनुष्य विशुद्ध आत्मा, भगवान् कृष्ण का नित्य आनन्दमय दास है।

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः ।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

विसर्ग—जन्म; आद्याः—इत्यादि; श्मशान—मृत्यु का समय, जब शरीर भस्म कर दिया जाता है; अन्ताः—अन्तिम; भावाः—दशाएँ; देहस्य—शरीर की; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा का; कलानाम्—विभिन्न अवस्थाओं का; इव—सदृश; चन्द्रस्य—चन्द्रमा की; कालेन—समय के साथ; अव्यक्त—न दिखने वाला; वर्त्मना—गति से।

जन्म से लेकर मृत्यु तक भौतिक जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ शरीर के गुणधर्म हैं और ये आत्मा को उसी तरह प्रभावित नहीं करतीं, जिस तरह चन्द्रमा की घटती-बढ़ती कलाएँ चन्द्रमा को प्रभावित नहीं करतीं। ऐसे परिवर्तन काल की अव्यक्त गति द्वारा लागू किये जाते हैं।

तात्पर्य : शरीर में छह परिवर्तन होते हैं—जन्म, वृद्धि, पालन, विकारों की उत्पत्ति, क्षीणता तथा मृत्यु। इसी तरह चन्द्रमा पहले बढ़ता है, फिर घटता है और अन्त में विलोप होता प्रतीत होता है। चूँकि चाँदनी सूर्य-प्रकाश का प्रतिबिम्ब है, इसलिए यह समझा जाता है कि चन्द्रमा अपने आप नहीं बढ़ता-घटता अपितु हम चाँद के प्रतिबिम्ब को विभिन्न कलाओं में देखते हैं। इसी तरह नित्य आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (२.२०) में हुई है—*न जायते म्रियते वा कदाचित्।* हम आत्मा के प्रतिबिम्ब को स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन के रूप में देखते हैं, जिनमें कई भौतिक परिवर्तन होते रहते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार सूर्य एक अग्नितुल्य लोक है और चन्द्रमा जलमय लोक है। इसकी पुष्टि श्रील जीव गोस्वामी द्वारा भी की जाती है। इससे चन्द्रलोक की वास्तविक स्थिति के विषय में आधुनिक विज्ञान के अज्ञान का प्रदर्शन होता है।

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

कालेन—समय के द्वारा; हि—निस्सन्देह; ओघ—बाढ़ के सदृश; वेगेन—चाल से; भूतानाम्—जीवों के; प्रभव—जन्म; अप्ययौ—तथा मृत्यु; नित्यौ—स्थायी; अपि—यद्यपि; न दृश्येते—नहीं देखे जाते; आत्मनः—आत्मा के; अग्नेः—अग्नि की; यथा—जिस तरह; अर्चिषाम्—लपटों को।

अग्नि की लपटें प्रतिक्षण प्रकट तथा लुप्त होती रहती हैं, और यह सृजन तथा विनाश सामान्य प्रेक्षकों द्वारा देखा नहीं जाता। इसी तरह काल की बलशाली लहरें नदी की प्रबल धाराओं की तरह निरन्तर बहती रहती हैं और अव्यक्त रूप से असंख्य भौतिक शरीरों को जन्म, वृद्धि तथा मृत्यु प्रदान करती रहती हैं। फिर भी आत्मा, जिसे निरन्तर अपनी स्थिति बदलनी पड़ती है, काल की करतूतों को देख नहीं पाता।

तात्पर्य : राजा यदु को उपदेश देते हुए ब्राह्मण अवधूत चन्द्रमा का उदाहरण देने के बाद पुन: अग्नि के उदाहरण पर उतर आता है। यह वैश्लेषिक विधि *सिंहावलोकन* कहलाती है, जिसमें एक ही साथ आगे तथा पीछे की ओर नजरें डालकर देखा जाता है कि कहीं कुछ छूट तो नहीं गया। इस तरह वह मुनि विश्लेषण को आगे बढ़ाता है, किन्तु त्याग की आवश्यकता बतलाने के लिए पुन: अग्नि के उदाहरण पर लौट आता है। भौतिक शरीर निश्चित रूप से क्षणभंगुर है और भगवान् की बहिरंगा शक्ति का मायाजाल है। अग्नि की लपटें निरन्तर उत्पन्न और लुप्त होती रहती हैं, फिर भी अग्नि को हम सतत सचाई के रूप में अनुभव करते हैं। इसी तरह आत्मा सतत सच्चाई है, यद्यपि समय के प्रभाव से उसके भौतिक शरीर निरन्तर प्रकट तथा लुप्त होते रहते हैं। कहा जाता है कि सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि कोई यह नहीं सोचता कि उसे मरना पड़ेगा। चूँकि आत्मा नित्य है, इसलिए जीव किसी भी क्षणिक स्थिति को स्थायी मानने के लिए तैयार रहता है और यह भूल जाता है कि उसके नित्य स्वभाव को वैकुण्ठ-लोक के शाश्वत वातावरण में ही ठीक ढंग से अनुभव किया जा सकता है। यदि मनुष्य को इस तथ्य में विश्वास हो जाता है, तो उसमें *वैराग्य* गुण उत्पन्न होता है।

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति ।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

गुणैः—अपनी इन्द्रियों से; गुणान्—इन्द्रिय-विषयों को; उपादत्ते—स्वीकार करता है; यथा-कालम्—उपयुक्त समय पर; विमुञ्चति—छोड़ देता है; न—नहीं; तेषु—उनमें; युज्यते—फँस जाता है; योगी—स्वरूपसिद्ध मुनि; गोभिः—अपनी किरणों से; गाः—जलाशयों; इव—सदृश; गो-पतिः—सूर्य।

जिस तरह सूर्य अपनी प्रखर किरणों से पर्याप्त मात्रा में जल को भाप बना कर उड़ा देता है और बाद में उस जल को वर्षा के रूप में पृथ्वी पर लौटा देता है, उसी तरह सन्त-पुरुष अपनी भौतिक इन्द्रियों से सभी प्रकार की भौतिक वस्तुओं को स्वीकार करता है और जब सही व्यक्ति

उन्हें लौटवाने के लिए उसके पास जाता है, तो उन भौतिक वस्तुओं को वह लौटा देता है। इस तरह वह इन्द्रिय-विषयों को स्वीकारने तथा त्यागने दोनों में ही फँसता नहीं।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार हेतु भगवान् कृष्ण के द्वारा सौंपे गये ऐश्वर्य के ऊपर अपना प्रभुत्व नहीं जताता। भगवान् कृष्ण के भक्त को चाहिए कि न केवल भौतिक सम्पदा का संग्रह करे, अपितु भगवान् कृष्ण के ऐश्वर्य को इस तरह बाँट दे कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन असीम रूप से फैल जाय। सूर्य से यही शिक्षा लेनी चाहिए।

बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः ।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

बुध्यते—सोचा जाता है; स्वे—अपने मूल रूप में; न—नहीं; भेदेन—विविधता से; व्यक्ति—पृथक् प्रतिबिम्बित पदार्थों पर; स्थः—स्थित; इव—ऊपर से; तत्-गतः—उनके भीतर प्रवेश करके; लक्ष्यते—प्रकट होता है; स्थूल-मतिभिः—मन्द बुद्धि वालों के लिए; आत्मा—आत्मा; च—भी; अवस्थितः—स्थित; अर्कवत्—सूर्य की तरह।

विविध वस्तुओं से परावर्तित होने पर भी सूर्य न तो कभी विभक्त होता है, न अपने प्रतिबिम्ब में लीन होता है। जो मन्द बुद्धि वाले हैं, वे ही सूर्य के विषय में ऐसा सोचते हैं। इसी प्रकार आत्मा विभिन्न भौतिक शरीरों से प्रतिबिम्बित होते हुए भी अविभाजित तथा अभौतिक रहता है।

तात्पर्य : सूर्य अनेक वस्तुओं में यथा खिड़की, दर्पण, चमकदार धातु, तेल, जल इत्यादि में प्रतिबिम्बित होता है, तो भी सूर्य एक तथा अविभाज्य रहता है। इसी तरह शरीर के भीतर नित्य आत्मा भौतिक शरीर के पर्दे से होकर प्रतिबिम्बित होता रहता है। इस तरह आत्मा वृद्ध या युवा, मोटा या दुबला, सुखी या दुखी प्रतीत होता है। भले ही आत्मा अमरीकी, रूसी, अफ्रीकी, हिन्दू या ईसाई प्रतीत हो, किन्तु फिर भी आत्मा अपने सहज रूप में किसी भी भौतिक उपाधि से रहित होता है।

इस श्लोक में *स्थूल-मतिभिः* शब्द उनका सूचक है, जिनकी बुद्धि स्थूल तथा मन्द है। हमें एक कुत्ते का व्यावहारिक अनुभव है, जो खुले स्थान पर किसी बाहर लगी कला प्रदर्शिनी के किसी अमूल्य चित्र पर पेशाब कर रहा था। मन्द बुद्धि होने से कुत्ते को चित्र के वास्तविक मूल्य का पता नहीं था। इसी तरह जब तक कोई मनुष्य कृष्णभावनामृत ग्रहण नहीं करता, तब तक वह मनुष्य-जीवन के अमूल्य अवसर का दुरुपयोग करता है। मनुष्य-जीवन आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला है, अतः हमें अपना समय पूँजीवादी, साम्यवादी, अमरीकी, रूसी, इत्यादि भौतिक उपाधियों के बारे में लड़ने-

झगड़ने में नहीं बिताना चाहिए, अपितु सारे लोगों को चाहिए कि ईश्वर की प्रेमाभक्ति ग्रहण करके अपने नित्य शुद्ध स्वरूप का अनुभव करें। मनुष्य को चाहिए कि सूर्य को प्रत्यक्ष देखकर उसे समझें, न कि भौतिक वस्तुओं में पड़ने वाले उसके विकृत प्रतिबिम्बों के द्वारा। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक जीव को उसके शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप में पहचाने, न कि भौतिक उपाधियों के विकृत रूपों से।

इस श्लोक में भी *आत्मा* शब्द भगवान् का द्योतक है। जिस तरह हम सामान्य जीवात्माओं को भौतिक शरीर के प्रतिबिम्बों से होकर देखते हैं, उसी तरह हम भगवान् को अपने भौतिक मन के विकृत करने वाले परदे से होकर देखते हैं। इस प्रकार हम ईश्वर को निर्विशेष, भौतिक या अज्ञेय मानते हैं। जब आकाश बादल से ढका रहता है, तो सूर्य की सर्वोच्च सम्भव अनुभूति धूप है, जो बादलों से ढकी है। इसी तरह जब मनुष्य का मन मनोरथ के कुहासे से ढका रहता है, तो वह ईश्वर के दिव्य शरीर से निकलने वाले प्रकाश को ही सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य मान बैठता है। किन्तु जब मन नीले मेघरहित आकाश की तरह निर्मल रहता है, तो वह भगवान् कृष्ण के वास्तविक रूप को देख सकता है। परम सत्य को बद्धजीव के प्रच्छन्न मन द्वारा भलीभाँति नहीं समझा जा सकता, प्रत्युत मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध कृष्णभावनामृत रूपी निर्मल नीले आकाश से होकर देखे, जो सकाम इच्छाओं तथा मनोरथों से मुक्त है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—

जीवेर कल्याणसाधन-काम

जगते आसि ए मधुरनाम।

अविद्या-तिमिर-तापन-रूपे

हृद-गगने विराजे॥

"भगवान् कृष्ण का पवित्र नाम बद्धजीवों को वर देने के लिए ही भौतिक जगत के अंधकार में उतरता है। भगवान् कृष्ण का पवित्र नाम उस सूर्य के समान है, जो भक्तों के हृदय रूपी निर्मल आकाश में उदय होता है। ऐसा तेजस्वी ज्ञान उन लोगों की समझ में नहीं आयेगा, जो शुद्धता या नास्तिकता के नाम पर ईश्वर की भौतिक सृष्टि का दोहन करने में लगे हैं। मनुष्य को पहले कृष्ण का शुद्ध भक्त बनना

होगा तब उसका ज्ञान हर वस्तु को चतुर्दिक् प्रकाशित करेगा—*कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति* (मुण्डक उपनिषद् १.३)।

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन्विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः ॥५२॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अति-स्नेहः—अत्यधिक स्नेह; प्रसङ्गः—घनिष्ठ संग; वा—अथवा; कर्तव्यः—प्रकट करना चाहिए; क्व अपि—कभी; केनचित्—किसी से; कुर्वन्—ऐसा करते हुए; विन्देत—अनुभव करेगा; सन्तापम्—महान् दुख; कपोतः—कबूतर; इव—सदृश; दीन-धीः—मन्द बुद्धि।

मनुष्य को चाहिए कि किसी व्यक्ति या किसी वस्तु के लिए अत्यधिक स्नेह या चिन्ता न करे। अन्यथा उसे महान् दुख भोगना पड़ेगा, जिस तरह कि मूर्ख कबूतर भोगता है।

तात्पर्य : संस्कृत में *अति* उपसर्ग ऐसे स्नेह या लगाव को सूचित करता है, जिसमें कृष्णभावनामृत नहीं होता। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं *सुहृदं सर्वभूतानाम्*—भगवान् प्रत्येक जीव के नित्य हितैषी हैं। भगवान् इतने स्नेहिल हैं कि वे प्रत्येक बद्धजीव के हृदय में स्थित रहते हैं और माया के राज्य में उसकी पूरी अनन्त यात्रा में उसके साथ रहकर धैर्यपूर्वक बद्धजीव के भगवद्धाम वापस जाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इस तरह भगवान् प्रत्येक जीव के शाश्वत सुख के लिए सारी व्यवस्था करते हैं। समस्त प्राणियों के प्रति दया तथा स्नेह प्रदर्शित करने का सर्वोत्तम तरीका है कृष्ण की ओर से उपदेशक बन जाना और पतितात्माओं का उद्धार करने में भगवान् की मदद करना। यदि अन्यों के प्रति हमारा स्नेह या अनुराग शारीरिक इन्द्रियतृप्ति पर, समाज, मैत्री तथा प्रेम के नाम पर आधारित है, तो वह *अति स्नेह,* सम्बन्ध टूटते समय, विकट पीड़ा उत्पन्न करेगा। अब मूर्ख कबूतर की कथा बतलाई जायेगी। ऐसी ही कथा *श्रीमद्भागवत* के सप्तम स्कंध के द्वितीय अध्याय में यमराज द्वारा राजा सुयज्ञ की शोकातुर विधवा पत्नियों से कही गई है।

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित्समाः ॥५३॥

शब्दार्थ

कपोतः—कबूतर ने; कश्चन—किसी; अरण्ये—जंगल में; कृत-नीडः—अपना घोंसला बनाकर; वनस्पतौ—वृक्ष में; कपोत्या—कबूतरी के साथ; भार्यया—अपनी पत्नी; स-अर्धम्—अपने संगी के रूप में; उवास—रहने लगा; कतिचित्—कुछ; समाः—वर्षों तक।

एक कबूतर था, जो अपनी पत्नी के साथ जंगल में रहता था। उसने एक वृक्ष के भीतर अपना घोंसला बनाया और कबूतरी के साथ कई वर्षों तक वहाँ रहता रहा।

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ ।
दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

कपोतौ—कबूतर का जोड़ा; स्नेह—स्नेह से; गुणित—मानो रस्सी से बँधे हुए; हृदयौ—उनके हृदय; गृह-धर्मिणौ—अनुरक्त गृहस्थ; दृष्टिम्—दृष्टि; दृष्ट्या—चितवन से; अङ्गम्—शरीर को; अङ्गेन—दूसरे के शरीर से; बुद्धिम्—मन; बुद्ध्या—दूसरे के मन से; बबन्धतुः—एक-दूसरे को बाँध लिया।

कबूतर का यह जोड़ा अपने गृहस्थ कार्यों के प्रति अत्यधिक समर्पित था। उनके हृदय भावनात्मक स्नेह से परस्पर बँधे थे, वे एक-दूसरे की चितवनों, शारीरिक गुणों तथा मन की अवस्थाओं से आकृष्ट थे। इस तरह उन्होंने एक-दूसरे को स्नेह से पूरी तरह बाँध रखा था।

तात्पर्य : नर तथा मादा कबूतर एक-दूसरे से इतने आकृष्ट थे कि वे क्षण-भर का भी विछोह सहन नहीं कर सकते थे। इसे *भगवद्-विस्मृति* अर्थात् निर्जीव पदार्थ के प्रति अनुराग तथा ईश्वर का विस्मरण कहते हैं। जीव को भगवान् से शाश्वत प्रेम होता है, किन्तु विकृत होने पर वही प्रेम मिथ्या भौतिक स्नेह के रूप में दिखता है। इस तरह वास्तविक आनन्द का धूमिल प्रतिबिम्ब ही मिथ्या जीवन की नींव बन जाता है, जो परम सत्य की विस्मृति पर टिका रहता है।

शय्यासनाटनस्थान वार्ताक्रीडाशनादिकम् ।
मिथुनीभूय विश्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

शय्या—लेटते; आसन—बैठते; अटन—चलते-फिरते; स्थान—खड़े होते; वार्ता—बातें करते; क्रीडा—खेलते; अशन—भोजन करते; आदिकम्—इत्यादि; मिथुनी-भूय—दम्पति के रूप में; विश्रब्धौ—एक-दूसरे पर विश्वास करते; चेरतुः—उन्होंने सम्पन्न किया; वन—जंगल के; राजिषु—वृन्दों के कुंजों के बीच।

भविष्य पर निश्छल भाव से विश्वास करते हुए वे प्रेमी युगल की भाँति जंगल के वृक्षों के बीच लेटते, बैठते, चलते-फिरते, खड़े होते, बातें करते, खेलते, खाते-पीते रहे।

यं यं वाञ्छति सा राजन्तर्पयन्त्यनुकम्पिता ।
तं तं समनयत्कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यम् यम्—जो कुछ भी; वाञ्छति—चाहती; सा—वह कबूतरी; राजन्—हे राजन; तर्पयन्ती—प्रसन्न करती हुई; अनुकम्पिता—दया दिखाई गई; तम् तम्—वह-वह; समनयत्—ले आया; कामम्—अपनी इच्छा; कृच्छ्रेण—बड़ी मुश्किल से; अपि—भी; अजित-इन्द्रियः—अपनी इन्द्रियों को वश में करना न सीखा हुआ।

हे राजन्, जब भी कबूतरी को किसी वस्तु की इच्छा होती, तो वह अपने पति की चाटुकारिता करके उसे बाध्य करती और वह स्वयं भारी मुश्किलें उठाकर भी उसे तृप्त करने के लिए वही करता, जो वह चाहती थी। इस तरह वह उसके संग में अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं रख सका।

तात्पर्य : *तर्पयन्ती* शब्द सूचित करता है कि कबूतरी अपने पति को अपनी मुसकान-भरी चितवनों तथा प्रेम-भरी बातों से मोहने में पटु थी। इस तरह उसकी उत्तम भावनाओं को उभाड़ कर उसने उसे अपना आज्ञाकारी सेवक बना लिया। बेचारा कबूतर *अजितेन्द्रिय* था अर्थात् उसे अपनी इन्द्रियों पर काबू नहीं था और उसका हृदय स्त्री के सौन्दर्य से द्रवित था। ब्राह्मण अवधूत कबूतरद्वय की यह कथा कह कर अमूल्य उपदेश दे रहा है और बता रहा है कि अनिवार्य विछोह के कारण उन्हें दारुण कष्ट सहना पड़ा। यदि मनुष्य की बुद्धि इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की सेवा में समर्पित नहीं रहती, तो वह शारीरिक तृप्ति के अज्ञान में डूब जाता है। तब वह मूर्ख कबूतर की तरह हो जाता है।

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णन्ती काल आगते ।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्तपत्युः सन्निधौ सती ॥५७॥

शब्दार्थ

कपोती—कबूतरी; प्रथमम्—प्रथम; गर्भम्—गर्भावस्था; गृह्णन्ती—धारण करती हुई; काले—(प्रसव का) समय के; आगते—आने पर; अण्डानि—अंडे; सुषुवे—दिये; नीडे—घोंसले में; स्व-पत्युः—अपने पति की; सन्निधौ—उपस्थिति में; सती—साध्वी।

तत्पश्चात्, कबूतरी को पहले गर्भ का अनुभव हुआ। जब समय आ गया, तो उस साध्वी कबूतरी ने अपने पति की उपस्थिति में घोंसले में कई अंडे दिये।

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः ।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः ॥५८॥

शब्दार्थ

तेषु—उन अंडों से; काले—समय आने पर; व्यजायन्त—उत्पन्न हुए; रचित—निर्मित; अवयवाः—बच्चों के अंग; हरेः—भगवान् हरि की; शक्तिभिः—शक्तियों से; दुर्विभाव्याभिः—अचिन्त्य; कोमल—मुलायम; अङ्ग—अंग; तनूरुहाः—तथा पंख।

जब समय पूरा हो गया, तो उन अंडों से भगवान् की अचिन्त्य शक्तियों से निर्मित मुलायम अंगो तथा पंखों के साथ बच्चे उत्पन्न हुए।

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

प्रजाः—सन्तान; पुपुषतुः—उन्होंने पाला-पोषा; प्रीतौ—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; दम्-पती—युग्म; पुत्र—अपने बच्चों को; वत्सलौ—दयालु; शृण्वन्तौ—सुनते हुए; कूजितम्—चहचहाना; तासाम्—उन बच्चों की; निर्वृतौ—अत्यन्त सुखी; कल-भाषितैः—भद्दी ध्वनि से।

कबूतर का यह जोड़ा अपने बच्चों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल बन गया और उनकी अढपटी चहचहाहट को सुनकर अत्यन्त हर्षित होता, क्योंकि उन माता-पिता को यह अतीव मधुर लगती। इस तरह वह जोड़ा उन छोटे-छोटे बच्चों का पालन-पोषण करने लगा।

तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

तासाम्—छोटे पक्षियों के; पतत्रैः—पंखों द्वारा; सु-स्पर्शैः—छूने में अच्छा; कूजितैः—उनकी चहचहाहट; मुग्ध—आकर्षक; चेष्टितैः—कार्यों से; प्रत्युद्गमैः—फुदकने के प्रयासों से; अदीनानाम्—सुखी (बच्चों) के; पितरौ—माता-पिता; मुदम् आपतुः—हर्षित हो गये।

यें माता-पिता अपने पक्षी बच्चों के मुलायम पंखों, उनकी चहचहाहट, घोंसले के आसपास उनकी कूद-फाँद करना, उनका उछलने और उड़ने का प्रयास करना देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। अपने बच्चों को सुखी देखकर माता-पिता भी सुखी थे।

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया ।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून्पुपुषतुः प्रजाः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

स्नेह—स्नेह से; अनुबद्ध—बँधे हुए; हृदयौ—हृदयों वाले; अन्योन्यम्—परस्पर; विष्णु-मायया—भगवान् विष्णु की माया से; विमोहितौ—पूर्णतः मोहग्रस्त; दीन-धियौ—मन्द बुद्धि वाले; शिशून्—अपने बच्चों को; पुपुषतुः—पाला-पोषा; प्रजाः—अपनी सन्तान।

स्नेह से बँधे हुए हृदयों वाले ये मूर्ख पक्षी भगवान् विष्णु की माया द्वारा पूर्णतः मोहग्रस्त होकर अपने छोटे-छोटे बच्चों का लालन-पालन करते रहे।

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ ।
परित: कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; जग्मतु:—गये; तासाम्—बच्चों के; अन्न—भोजन; अर्थम्—हेतु; तौ—वे दोनों; कुटुम्बिनौ—परिवार के मुखिया; परित:—चारों ओर; कानने—जंगल में; तस्मिन्—उस; अर्थिनौ—उत्सुकतापूर्वक ढूँढ़ते हुए; चेरतु:—विचरते रहे; चिरम्—काफी समय तक।

एक दिन परिवार के दोनों मुखिया अपने बच्चों के लिए भोजन तलाश करने बाहर चले गये। अपने बच्चों को ठीक से खिलाने की चिन्ता में वे काफी समय तक पूरे जंगल में विचरते रहे।

दृष्ट्वा तान्लुब्धक: कश्चिद्यदृच्छातो वनेचर: ।
जगृहे जालमातत्य चरत: स्वालयान्तिके ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; तान्—उन बच्चों को; लुब्धक:—बहेलिये ने; कश्चित्—कोई; यदृच्छात:—संयोगवश; वने—जंगल में; चर:—गुजरते हुए; जगृहे—पकड़ लिया; जालम्—जाल को; आतत्य—फैलाकर; चरत:—विचरण करते; स्व-आलय-अन्तिके—उनके घर के पड़ोस में।

उस समय संयोगवश जंगल में विचरण करते हुए किसी बहेलिये ने कबूतर के इन बच्चों को उनके घोंसले के निकट विचरते हुए देखा। उसने अपना जाल फैलाकर उन सबों को पकड़ लिया।

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतु: ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

कपोत:—कबूतर; च—तथा; कपोती—कबूतरी; च—तथा; प्रजा—उनके बच्चों के; पोषे—पालन-पोषण में; सदा—सदैव; उत्सुकौ—उत्सुकतापूर्वक; गतौ—गये हुए; पोषणम्—भोजन; आदाय—लाकर; स्व—अपने; नीडम्—घोंसले में; उपजग्मतु:—पहुँचे।

कबूतर तथा उसकी पत्नी अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिए सदैव चिन्तित रहते थे और इसी उद्देश्य से वे जंगल में भटकते रहे थे। समुचित अन्न पाकर अब वे अपने घोंसले पर लौट आये।

कपोती स्वात्मजान्वीक्ष्य बालकान्जालसम्वृतान् ।
तानभ्यधावत्क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदु:खिता ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

कपोती—कबूतरी; स्व-आत्म-जान्—अपने से उत्पन्न; वीक्ष्य—देखकर; बालकान्—बच्चों को; जाल—जाल से; संवृतान्—घिरे हुए; तान्—उनकी ओर; अभ्यधावत्—दौड़ी; क्रोशन्ती—पुकारती हुई; क्रोशत:—चिल्ला रहे हों, जो उनकी ओर; भृश—अत्यधिक; दु:खिता—दुखी।

जब कबूतरी ने अपने बच्चों को बहेलिये के जाल में फँसे देखा, तो वह व्यथा से अभिभूत हो गई और चिल्लाती हुई उनकी ओर दौड़ी। वे बच्चे भी उसके लिए चिल्लाने लगे।

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया ।
स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान्पश्यन्त्यपस्मृति: ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; असकृत्—निरन्तर; स्नेह—स्नेह से; गुणिता—बँधी; दीन-चित्ता—पंगु बुद्धि वाली; अज—अजन्मा भगवान् की; मायया—माया से; स्वयम्—स्वयं; च—भी; अबध्यत—बँधा लिया; शिचा—जाल से; बद्धान्—बँधे हुए (बच्चों को); पश्यन्ती—देखती हुई; अपस्मृति:—अपने को भूली हुई।

चूँकि कबूतरी ने अपने को गहन स्नेह के बन्धन से सदा बाँध रखा था, इसलिए उसका मन व्यथा से विहल था। भगवान् की माया के चंगुल में होने से, वह अपने को पूरी तरह भूल गई और अपने असहाय बच्चों की ओर दौड़ती हुई, वह भी तुरन्त बहेलिये के जाल में बँध गई।

कपोत: स्वात्मजान्बद्धानात्मनोऽप्यधिकान्प्रियान् ।
भार्यां चात्मसमां दीनो विललापातिदु:खित: ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

कपोत:—कबूतर; स्व-आत्म-जान्—अपने ही बच्चों को; बद्धान्—बँधा हुआ; आत्मन:—अपनी अपेक्षा; अपि—ही; अधिकान्—अधिक; प्रियान्—प्रिय; भार्याम्—अपनी पत्नी को; च—तथा; आत्म-समाम्—अपने समान; दीन:—अभागा व्यक्ति; विललाप—शोक करने लगा; अति-दु:खित:—अत्यन्त दुखी।

अपने प्राणों से भी प्यारे अपने बच्चों को तथा साथ में अपने ही समान अपनी पत्नी को बहेलिये के जाल में बुरी तरह बँधा देखकर बेचारा कबूतर दुखी होकर विलाप करने लगा।

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मते: ।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हत: ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

अहो—हाय; मे—मेरा; पश्यत—देखो तो; अपायम्—विनाश; अल्प-पुण्यस्य—अपर्याप्त पुण्य वाले के; दुर्मते:—दुर्बुद्धि; अतृप्तस्य—असंतुष्ट; अकृत-अर्थस्य—जिसने जीवन के उद्देश्य को पूरा नहीं किया, उसका; गृह:—पारिवारिक जीवन; त्रै-वर्गिक:—सभ्य जीवन के तीन उद्देश्यों (धर्म, अर्थ तथा काम) वाले; हत:—विनष्ट।

कबूतर ने कहा : हाय! देखो न, मैं किस तरह बरबाद हो गया हूँ। स्पष्ट है कि मैं महामूर्ख हूँ, क्योंकि मैंने समुचित पुण्यकर्म नहीं किये। न तो मैं अपने को संतुष्ट कर सका, न ही मैं जीवन के

लक्ष्य को पूरा कर सका। मेरा प्रिय परिवार, जो मेरे धर्म, अर्थ तथा काम का आधार था, अब बुरी तरह नष्ट हो गया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि *अतृप्तस्य* शब्द यह सूचित करता है कि कबूतर अपनी इन्द्रियतृप्ति से तुष्ट नहीं था। यद्यपि वह अपनी पत्नी, बच्चों तथा घोंसले के प्रति पूर्णतया अनुरक्त था, किन्तु वह पूरी तरह से उनको भोग नहीं सका था, क्योंकि ऐसी वस्तुओं से कभी तुष्टि नहीं होती। *अकृतार्थस्य* सूचित करता है कि उसकी इन्द्रियतृप्ति के भावी विस्तार की आशाएँ तथा सपने भी अब नष्ट हो गये थे। लोग सामान्य रूप से ''घर, प्रिय घर'' की चर्चा अपने घोंसले के रूप में चलाते हैं और वे भविष्य के लिए संचित धन को घोंसले का अंडा कहते हैं। इसलिए भौतिक जगत के प्रेम-पक्षियों को यह जान लेना चाहिए कि उनके तथाकथित बच्चे, पत्नी तथा सम्पत्ति बहेलिये के जाल में खींच लिये जायेंगे। दूसरे शब्दों में, मृत्यु सबकुछ समाप्त कर देगी।

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता ।
शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

अनुरूपा—उपयुक्त; अनुकूला—स्वामिभक्त; च—तथा; यस्य—जिसका; मे—मेरा; पति-देवता—जिसने पति को देवता-रूप में पूज्य मान लिया है; शून्ये—रिक्त; गृहे—घर में; माम्—मुझको; सन्त्यज्य—पीछे छोड़कर; पुत्रैः—अपने पुत्रों के साथ; स्वः—स्वर्ग को; याति—जा रही है; साधुभिः—सन्त जैसे।

''मैं तथा मेरी पत्नी आदर्श जोड़ा थे। वह सदैव मेरी आज्ञा का पालन करती थी और मुझे अपने पूज्य देवता की तरह मानती थी, किन्तु अब वह अपने बच्चों को नष्ट हुआ और अपने घर को रिक्त देखकर मुझे छोड़ गई और हमारे सन्त स्वभाव वाले बच्चों के साथ स्वर्ग चली गई।''

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः ।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं; शून्ये—रिक्त; गृहे—घर में; दीनः—दुखी; मृत-दारः—जिसकी पत्नी मर चुकी है; मृत-प्रजः—जिसके बच्चे मर चुके हैं; जिजीविषे—मैं जीवित रहना चाहूँगा; किम् अर्थम्—किस हेतु; वा—निस्सन्देह; विधुरः—विछोह भोगते हुए; दुःख—दुखी; जीवितः—मेरा जीवन।

अब मैं विरान घर में रहने वाला दुखी व्यक्ति हूँ। मेरी पत्नी मर चुकी है, मेरे बच्चे मर चुके हैं। मैं भला क्यों जीवित रहना चाहूँ? मेरा हृदय अपने परिवार के विछोह से इतना पीड़ित है कि मेरा जीवन मात्र कष्ट बनकर रह गया है।

तांस्तथैवावृताञ्शिग्भिर्मृत्युग्रस्तान्विचेष्टतः ।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; तथा—भी; एव—निस्सन्देह; आवृतान्—घिरे हुए; शिग्भिः—जाल से; मृत्यु—मृत्यु द्वारा; ग्रस्तान्—पकड़े हुए; विचेष्टतः—स्तम्भित; स्वयम्—स्वयं; च—भी; कृपणः—दुखी; शिक्षु—जाल के भीतर; पश्यन्—देखते हुए; अपि—भी; अबुधः—अज्ञानी; अपतत्—गिर पड़ा।

जब पिता कबूतर अपने बेचारे बच्चों को जाल में बँधा और मृत्यु के कगार पर दीन भाव से उन्हें अपने को छुड़ाने के लिए करुणावस्था में संघर्ष करते देख रहा था, तो उसका मस्तिष्क शून्य हो गया और वह स्वयं भी बहेलिए के जाल में गिर पड़ा।

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम् ।
कपोतकान्कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; लब्ध्वा—लेकर; लुब्धकः—बहेलिया; क्रूरः—निष्ठुर; कपोतम्—कबूतर को; गृह-मेधिनम्—भौतिकतावादी गृहस्थ; कपोतकान्—कबूतर के बच्चों को; कपोतीम्—कबूतरी को; च—भी; सिद्ध-अर्थः—अपना प्रयोजन सिद्ध करके; प्रययौ—चल पड़ा; गृहम्—अपने घर के लिए।

वह निष्ठुर बहेलिया उस कबूतर को, उसकी पत्नी को तथा उनके सारे बच्चों को पकड़ कर अपनी इच्छा पूरी करके अपने घर के लिए चल पड़ा।

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत् ।
पुष्णन्कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुटुम्बी—परिवार वाला मनुष्य; अशान्त—अशान्त; आत्मा—उसकी आत्मा; द्वन्द्व—भौतिक द्वैत (यथा नर-नारी); आरामः—आनंदित; पतत्रि-वत्—इस पक्षी की तरह; पुष्णन्—पालन-पोषण करते हुए; कुटुम्बम्—अपने परिवार को; कृपणः—कंजूस; स-अनुबन्धः—अपने सम्बन्धियों सहित; अवसीदति—अत्यधिक कष्ट उठायेगा।

इस तरह जो व्यक्ति अपने पारिवारिक जीवन में अत्यधिक अनुरक्त रहता है, वह हृदय में क्षुब्ध रहता है। कबूतर की ही तरह वह संसारी यौन-आकर्षण में आनन्द ढूँढता रहता है। अपने

परिवार का पालन-पोषण करने में बुरी तरह व्यस्त रहकर कंजूस व्यक्ति अपने परिवार वालों के साथ अत्यधिक कष्ट भोगता है।

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥ ७४॥

शब्दार्थ

यः—जो; प्राप्य—पाकर; मानुषम् लोकम्—मनुष्य-जीवन; मुक्ति—मुक्ति का; द्वारम्—दरवाजा; अपावृतम्—खुला हुआ; गृहेषु—घरेलू मामलों में; खग-वत्—इस कथा के पक्षी की ही तरह; सक्तः—लिप्त; तम्—उसको; आरूढ—ऊँचे चढ़कर; च्युतम्—नीचे गिरते हुए; विदुः—मानते हैं।.

जिसने मनुष्य-जीवन पाया है, उसके लिए मुक्ति के द्वार पूरी तरह से खुले हुए हैं। किन्तु यदि मनुष्य इस कथा के मूर्ख पक्षी की तरह अपने परिवार में ही लिप्त रहता है, तो वह ऐसे व्यक्ति के समान है, जो ऊँचे स्थान पर केवल नीचे गिरने के लिए ही चढ़ा हो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव को उपदेश'' नामक सातवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

पिंगला की कथा

भगवान् कृष्ण ने उद्धव को यह बतलाया कि उस अवधूत ब्राह्मण ने किस तरह महाराज यदु को उन उपदेशों को समझाया, जिन्हें उसने अजगर इत्यादि नौ गुरुओं से प्राप्त किया था।

अजगर से प्राप्त उपदेश यह हैं कि बुद्धिमान व्यक्ति को विरक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए और जो कुछ अपने आप या आसानी से मिल जाय, उसी को स्वीकार करके अपने शरीर का पालन-पोषण करना चाहिए। इस तरह उसे सदैव भगवान् की पूजा में व्यस्त रहना चाहिए। यदि भोजन न भी मिले तो भी भगवान् की पूजा में व्यस्त रहने के इच्छुक व्यक्ति को भीख नहीं माँगनी चाहिए, प्रत्युत उसे यह सोचकर कि ''मुझे जो भी आनन्द मिलना है, वह स्वत: आयेगा और मुझे शेष जीवन व्यर्थ ही इन वस्तुओं की चिन्ता में नहीं बिताना है।'' इसको विधि का विधान समझना चाहिए। यदि उसे भोजन नहीं मिलता, तो वह अजगर की तरह लेटा रहकर अपने मन को भगवान् के ध्यान में स्थिर करे।

उस अवधूत ब्राह्मण को सागर से यह उपदेश मिला कि भगवान् की भक्ति में लगे मुनि का मन शान्त सागर के जल की भाँति अत्यन्त निर्मल तथा गम्भीर होता है। वर्षाऋतु में जब सारी बढ़ी हुई नदियाँ अपना अपना जल लाकर समुद्र में उड़ेलती हैं, तो वह न तो उमड़ता है, न ही ग्रीष्मऋतु में जब नदियाँ जल नहीं लातीं, तो सूखता है। इसी तरह जब मुनि को मनवांछित वस्तुएँ मिल जाती हैं, तो वह न तो फूलकर कुप्पा होता है, न ही उनके न मिलने से दुखी होता है।

पतंगे का उपदेश यह है कि जिस तरह वह अग्नि से मुग्ध होकर अपना प्राण गँवा देता है, उसी तरह अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकने वाला मूर्ख सोने के आभूषणों से लदी तथा सुन्दर वस्त्र पहिने औरतों के रूपों पर मुग्ध हो जाता है। भगवान् की दैवी माया के इन देहधारियों का पीछा करते हुए, वह असमय ही अपना प्राण गँवा देता है और घोर नरक में जा गिरता है।

भौंरा तथा मधुमक्खी ये दो तरह के कीट हैं, भौंरे से यह शिक्षा मिलती है कि मुनि को अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन एकत्र करना चाहिए और अपना जीवन बनाये रखने के लिए *मधुकरी* का पेशा अपनाना चाहिए। मुनि को समस्त शास्त्रों से, चाहे वे छोटे हों या बड़े, अनिवार्य सत्य का भी संग्रह करना चाहिए। दुसरे कीट मधुमक्खी से यह शिक्षा मिलती है कि भिक्षुक संन्यासी को भिक्षा से प्राप्त भोजन, न तो रात्रि के लिए, न ही अगले दिन के लिए रख छोड़ना चाहिए, क्योंकि यदि वह ऐसा करता है, तो वह, लालची मधुमक्खी की तरह उसके झुंड समेत, नष्ट कर दिया जायेगा।

हाथी से अवधूत को यह शिक्षा मिली थी कि जिस तरह शिकारी लोग नर-हाथियों को बंदिनी हथिनियों की ओर जाते समय गड्ढे में गिराकर धोखे से पकड़ लेते हैं, उसी तरह स्त्री के रूप पर मुग्ध पुरुष भौतिक जीवन के गहरे कूप में गिरकर नष्ट हो जाता है।

मधुचोर से यह शिक्षा मिली थी कि जिस तरह वह मधुमक्खियों द्वारा बड़े ही यत्न से संचित मधु को चुराता है, उसी तरह संन्यास आश्रम को प्राप्त व्यक्ति को अन्य गृहस्थों की गाढ़ी कमाई से खरीदी वस्तुओं तथा भोजन का, दूसरों से पूर्व, भोग करने का अधिकार है।

हिरन से यह शिक्षा मिलती है कि जिस तरह वह शिकारी की बाँसुरी की तान सुनकर विकल हो उठता है और अपने प्राण गँवा देता है, उसी तरह संसारी संगीत के प्रति आकृष्ट होने वाला कोई भी व्यक्ति व्यर्थ ही अपना जीवन गँवा देता है।

मछली से यह शिक्षा मिलती है कि जिस तरह वह स्वादेन्द्रिय के वशीभूत होने से चारा लगी कँटिया में फँसकर मर जाती है, उसी तरह अज्ञानी व्यक्ति, जिसकी भूख कभी पूरी नहीं होती, अपना जीवन गँवा बैठता है।

किसी समय विदेह नगर में पिंगला नाम की एक वेश्या थी, जिससे उस अवधूत ने अन्य शिक्षा प्राप्त की। एक दिन पिंगला ने खूब आकर्षक वस्त्र तथा आभूषण पहने और सूर्यास्त से लेकर अर्धरात्रि तक किसी ग्राहक की प्रतीक्षा करती रही। वह आशान्वित होकर प्रतीक्षा करती गई, किन्तु समय बीतने के साथ उसका मन अशान्त हो उठा। उसके पास कोई पुरुष नहीं आया, अतएव घृणा से वह विरक्त हो गई और उसने अपने चाहने वाले किसी ग्राहक के आने की प्रतीक्षा छोड़ दी। तत्पश्चात्, उसने अपने को एकमात्र भगवान् हरि के चिन्तन में लगा दिया, तब उसके मन को परम शान्ति मिली। इससे यह शिक्षा मिलती है कि इन्द्रियतृप्ति की आशाएँ ही सारे कष्ट की जड़ हैं। इसलिए जिस किसी ने ऐसी लालसा त्याग दी है, वही भगवान् के ध्यान में अपने को स्थिर कर सकता है और दिव्य शान्ति पा सकता है।

श्रीब्राह्मण उवाच
सुखमैन्द्रियकं राजन्स्वर्गे नरक एव च ।
देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—उस साधु-ब्राह्मण ने कहा; सुखम्—सुख; ऐन्द्रियकम्—इन्द्रियों से उत्पन्न; राजन्—हे राजा; स्वर्गे—स्वर्ग में; नरके—तथा नरक में; एव—निश्चय ही; च—भी; देहिनाम्—देहधारी जीवों के; यत्—चूँकि; यथा—जिस तरह; दुःखम्—दुख; तस्मात्—इसलिए; न—नहीं; इच्छेत—इच्छा करे; तत्—वह; बुधः—जाननहारा।

साधु-ब्राह्मण ने कहा : हे राजन्, देहधारी जीव स्वर्ग या नरक में स्वतः दुख का अनुभव करता है। इसी तरह बिना खोजे ही सुख का भी अनुभव होता है। इसलिए बुद्धिमान तथा विवेकवान व्यक्ति ऐसे भौतिक सुख को पाने के लिए कभी कोई प्रयास नहीं करता।

तात्पर्य : मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति के पीछे अपना जीवन व्यर्थ ही नहीं गँवाना चाहिए, क्योंकि उसके विगत तथा वर्तमान सकाम कर्मों के फलस्वरूप उसे स्वतः ही भौतिक सुख की विशेष मात्रा उपलब्ध होगी। यह शिक्षा उस अजगर से प्राप्त की जाती है, जो लेटा रहता है और जो कुछ स्वयमेव आता है, उसी से वह अपना उदर-पोषण करता है। उल्लेखनीय बात तो यह है कि स्वर्ग तथा नरक दोनों में सुख तथा दुख स्वतः ही हमारे पूर्वकर्मों के फलस्वरूप आते हैं, यद्यपि सुख-दुख का अनुपात बदलता रहता

है। चाहे स्वर्ग में हो या नरक में, मनुष्य खाना, पीना, सोना और संभोग कर सकता है, किन्तु ये कर्म भौतिक देह पर आधारित होने के कारण क्षणभंगुर तथा असंगत हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को देखना चाहिए कि अच्छा से अच्छा भौतिक पद भी ईश्वर-भक्ति के क्षेत्र से बाहर किये गये पिछले अवैध कर्मों के लिए दंडस्वरूप हैं। बद्धजीव को स्वल्प सुख पाने के लिए घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। विपत्ति तथा दिखावे से पूर्ण भौतिक जीवन में संघर्ष करने के बाद भले ही किसी को थोड़ी-सी इन्द्रियतृप्ति मिल सके, किन्तु यह भ्रामक आनन्द उस कष्ट को कम नहीं कर पाता, जो उसे पाने के लिए सहना पड़ता है। कुछ भी हो, एक सुन्दर टोपी से सीधा-सादा, भोला चेहरा, सुन्दर नहीं हो जाता। यदि कोई सचमुच ही जीवन की समस्याओं को हल करना चाहता है, तो उसे सादा जीवन बिताना चाहिए और जीवन का अधिकांश भाग कृष्ण की प्रेमाभक्ति के लिए बचा रखना चाहिए। जो लोग ईश्वर की सेवा नहीं करते, उन्हें भी वे पालन-पोषण का एक स्तर प्रदान करते हैं इसलिए हम भगवान् द्वारा प्रदत्त उस सुरक्षा की कल्पना कर सकते हैं, जो उनकी भक्ति में अपना जीवन अर्पित कर देते हैं।

अपरिष्कृत सकाम कर्मी वर्तमान जीवन के विषय में व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं, जबकि अधिक पवित्र कर्मीजन भावी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए उद्धृत होकर विस्तृत व्यवस्था करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ऐसा सारा भोग-विलास क्षणिक है। किन्तु असली समाधान तो यह समझ लेना है कि समस्त इन्द्रियों तथा समस्त इच्छाओं के स्वामी भगवान् को प्रसन्न करके मनुष्य स्थायी सुख पा सकता है। ऐसे ज्ञान से जीवन की समस्याएँ आसानी से हल हो जाती हैं।

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा ।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ २॥

शब्दार्थ

ग्रासम्—भोजन; सु-मृष्टम्—स्वच्छ तथा स्वादिष्ट; विरसम्—स्वादरहित; महान्तम्—बड़ी मात्रा में; स्तोकम्—छोटी मात्रा; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; यदृच्छया—बिना निजी प्रयास के; एव—निस्सन्देह; आपतितम्—प्राप्त किया गया; ग्रसेत्—खा लेना चाहिए; आजगरः—अजगर की तरह; अक्रियः—निष्क्रिय, बिना प्रयास के उदासीन बने रहना।

अजगर का अनुकरण करते हुए मनुष्य को भौतिक प्रयास का परित्याग कर देना चाहिए और अपने उदर-पोषण के लिए उस भोजन को स्वीकार करना चाहिए, जो अनायास मिल जाय, चाहे वह स्वादिष्ट हो या स्वादरहित, पर्याप्त हो या स्वल्प।

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः ।
यदि नोपनयेद्ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३॥

शब्दार्थ

शयीत—शान्तिपूर्वक रहता रहे; अहानि—दिनों तक; भूरीणि—अनेक; निराहारः—उपवास करते हुए; अनुपक्रमः—बिना प्रयास के; यदि—यदि; न उपनयेत्—नहीं आता; ग्रासः—भोजन; महा-अहिः—अजगर; इव—सदृश; दिष्ट—भाग्य द्वारा प्रदत्त; भुक्—खाते हुए।

यदि कभी भोजन न भी मिले, तो सन्त-पुरुष को चाहिए कि बिना प्रयास किये वह अनेक दिनों तक उपवास रखे। उसे यह समझना चाहिए कि ईश्वर की व्यवस्था के कारण उसे उपवास करना चाहिए। इस तरह अजगर का अनुसरण करते हुए उसे शान्त तथा धीर बने रहना चाहिए।

तात्पर्य : यदि ईश्वर की व्यवस्था द्वारा किसी को कठिनाई का सामना करना पड़े, तो उसे यह सोचना चाहिए, ''मैं अपने विगत पापमय कर्मों के कारण दण्डित हो रहा हूँ। ईश्वर दयापूर्वक इस तरह मुझे विनीत बना रहे हैं।'' *शयीत्* शब्द का अर्थ है कि मनुष्य क्षुब्ध हुए बिना शान्त तथा धीर बना रहे। *दिष्ट-भुक्* का अर्थ है कि मनुष्य भगवान् को परम नियन्ता माने और भौतिक असुविधा होने पर मूर्खतापूर्वक श्रद्धा को त्यागे नहीं। *तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्* (भागवत १०.१४.८)। भगवद्भक्त सदा ही भौतिक कष्ट को भगवान् कृष्ण की कृपा मानता है और इस तरह वह परम मुक्ति का पात्र बन जाता है।

ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद्देहमकर्मकम् ।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ ४॥

शब्दार्थ

ओजः—काम-शक्ति; सहः—मानसिक शक्ति; बल—शारीरिक शक्ति; युतम्—से युक्त; बिभ्रत्—पालन-पोषण करते हुए; देहम्—शरीर को; अकर्मकम्—बिना प्रयास के; शयानः—शान्त रहते हुए; वीत—मुक्त; निद्रः—अज्ञान से; च—तथा; न—नहीं; ईहेत—प्रयास करे; इन्द्रिय-वान्—पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा काम-शक्ति से युक्त; अपि—यद्यपि।

सन्त-पुरुष को शान्त रहना चाहिए और भौतिक दृष्टि से अक्रिय रहना चाहिए। उसे बिना अधिक प्रयास के अपने शरीर का पालन-पोषण करना चाहिए। पूर्ण काम, मानसिक तथा शारीरिक शक्ति से युक्त होकर भी सन्त-पुरुष को भौतिक लाभ के लिए सक्रिय नहीं होना चाहिए, अपितु अपने वास्तविक स्वार्थ के लिए सदैव सतर्क रहना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में *वीत-निद्रः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *निद्रा* का अर्थ है ''नींद'' अथवा ''अविद्या'' तथा *वीत* का अर्थ है ''से मुक्त''। दूसरे शब्दों में योगी को सदैव भगवान् से अपने नित्य

सम्बन्ध के प्रति जागरूक रहना चाहिए और सतर्कता से कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करना चाहिए। भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति आश्वस्त होकर उसे यह जानते हुए कि भगवान् सब प्रकार से उसकी रक्षा करेंगे, अपने निजी निर्वाह के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि अजगर का उदाहरण दिया गया है, जिससे मनुष्य व्यर्थ ही अपने शारीरिक लालन-पालन में समय न गँवाये।

किन्तु मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि जीवन का लक्ष्य जमीन पर अजगर की तरह लेटे रहना है या शरीर को भूखों मारने का प्रदर्शन करना है। अजगर के उदाहरण से मनुष्य को पूर्णतया निष्क्रिय होने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। प्रत्युत उसे आध्यात्मिक उन्नति में सक्रिय और भौतिक इन्द्रियतृप्ति में निष्क्रिय होना चाहिए। यदि कोई पूर्णतया निष्क्रिय हो जाता है, तो वह निश्चित रूप से *निद्रा* या अविद्या का अंधकार है, जिसमें मनुष्य भगवान् के नित्यदास के रूप में अपने स्वरूप को नहीं पहचान पाता।

योगी भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक रहता है, अतएव जब भगवान् ऐसी सेवा के लिए भौतिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं, तो वह अत्यन्त कृतज्ञ हो जाता है। भौतिक जगत का केवल परित्याग *फल्गु वैराग्य* है। मनुष्य को *युक्त वैराग्य* प्राप्त करना चाहिए, जिसमें वह हर वस्तु भगवान् की सेवा में लगाता है। यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि कृष्णभावनामृत का प्रसार करने में लीन भक्त अपने निजी पालन-पोषण के लिए स्वतः ही सारी सुविधाएँ प्राप्त करता है।

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मुनिः—मुनि; प्रसन्न—प्रसन्न; गम्भीरः—अत्यन्त गम्भीर; दुर्विगाह्यः—अगाध; दुरत्ययः—दुर्लंघ्य; अनन्त-पारः—असीम; हि—निश्चय ही; अक्षोभ्यः—अक्षुब्ध; स्तिमित—शान्त; उदः—जल; इव—सदृश; अर्णवः—समुद्र।

मुनि अपने बाह्य आचरण में सुखी और मधुर होता है, किन्तु भीतर से अत्यन्त गम्भीर तथा विचारवान होता है। चूँकि उसका ज्ञान अगाध तथा असीम होता है, अतः वह कभी क्षुब्ध नहीं होता। इस तरह वह सभी प्रकार से अगाध तथा दुर्लंघ्य सागर के शान्त जल की तरह होता है।

तात्पर्य : घोर विपत्ति में भी, स्वरूपसिद्ध मुनि अपना संयम नहीं खोता, न ही उसका आध्यात्मिक ज्ञान समाप्त होता है। इस तरह वह *अक्षोभ्य* अर्थात् अक्षुब्ध रहता है। उसका मन भगवान् पर स्थिर रहता है, जो असीम आध्यात्मिक आनन्द के आगार हैं। अपनी चेतना को परम चेतना से जोड़ने के कारण उसका ज्ञान मापा नहीं जा सकता। भगवान् के चरणकमलों की शरण ले लेने के बाद शुद्ध भक्त में महान् आध्यात्मिक शक्ति आ जाती है, अतएव वह दुर्लंघ्य बन जाता है। वस्तुत: अपना आध्यात्मिक शरीर विकसित कर लेने पर वह काल की क्षयकारी क्रिया से प्रभावित नहीं होता। यद्यपि बाहर से वह हर एक से मैत्रीभाव रखता है तथा मधुर रहता है, किन्तु भीतर से उसका मन परम सत्य पर स्थिर रहता है और कोई भी व्यक्ति उसके वास्तविक उद्देश्य या उसकी योजना को समझ नहीं सकता। यहाँ तक कि सबसे बुद्धिमान व्यक्ति तक उस स्वरूपसिद्ध भक्त की मानसिक क्रियाओं को नहीं समझ पाता, जिसने काम तथा लोभ पर आधारित भौतिक जीवन का परित्याग कर दिया है और भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है। ऐसे महात्मा की उपमा विशाल समुद्र से दी जा सकती है। समुद्र में असंख्य शक्तिशाली नदियाँ प्रवेश करती हैं, किन्तु समुद्र शान्त रहा करता है। इस प्रकार समुद्र की तरह सन्त-पुरुष को मधुर, अगाध, गम्भीर, दुर्लंघ्य, असीम तथा अचल समझना चाहिए।

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः ।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

समृद्ध—सम्पन्न; कामः—भौतिक ऐश्वर्य; हीनः—रहित, विहीन; वा—अथवा; नारायण—भगवान्; परः—परम मानते हुए; मुनिः—सन्त भक्त; न—नहीं; उत्सर्पेत—बढ़ जाता है; न—नहीं; शुष्येत—सूख जाता है; सरिद्भिः—नदियों के द्वारा; इव—सदृश; सागरः—समुद्र।

वर्षाऋतु में उफनती हुई नदियाँ सागर में जा मिलती हैं और ग्रीष्मऋतु में उथली होने से उनमें जल की मात्रा बहुत कम हो जाती है। फिर भी समुद्र न तो वर्षाऋतु में उमड़ता है, न ही ग्रीष्मऋतु में सूखता है। इसी तरह से जिस सन्त-भक्त ने भगवान् को अपने जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया है, उसे कभी तो भाग्य से प्रचुर भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है और कभी वह अपने को भौतिक दृष्टि से कंगाल पाता है। फिर भी भगवान् का ऐसा भक्त न तो प्रोन्नति के समय हर्षित होता है, न दरिद्र बनने पर खिन्न होता है।

तात्पर्य : भगवान् का निष्ठावान भक्त प्रभु से मिलने के लिए तथा उनकी दिव्य सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। वह भगवान् के चरणकमलों पर एक क्षुद्र कण की तरह स्थिर रहना चाहता है, क्योंकि भगवान् कृष्ण या नारायण समस्त आनन्द के आगार हैं। शुद्ध कृष्णभावनामृत का अनुभव करके वह हर्षित होता है और खिन्न तब होता है, जब उसके मन में कृष्ण उपस्थित नहीं होते। भौतिक जगत के साथ अपने बर्तावों में भक्त उन सामान्य भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा उसी तरह क्षुब्ध नहीं किये जा सकते, जो कभी कभी उसका अपमान करते हैं और इन्द्रियतृप्ति की उपेक्षा करने का दोषारोपण करते हैं, जिस तरह समुद्र को उसमें प्रवेश करने वाली असंख्य नदियाँ विक्षुब्ध नहीं कर पातीं। कभी कभी काम-वासना से युक्त स्त्रियाँ शुद्ध भक्त के पास जा पहुँचती हैं और कभी कभी निर्विशेष दार्शनिक भगवान् के विरुद्ध तर्क करने का प्रयास करते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त ऐसे सामान्य लोगों से विरक्त रहता है और अपने आनन्दमय कृष्णभावनामृत में अविचल रहता है।

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः ।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; स्त्रियम्—स्त्री को; देव-मायाम्—भगवान् की माया से, जिसका रूप निर्मित हुआ है; तत्-भावैः—स्त्री के मोहक कार्यों से; अजित—जिसने वश में नहीं किया; इन्द्रियः—अपनी इन्द्रियाँ; प्रलोभितः—मुग्ध; पतति—नीचे गिरता है; अन्धे—अज्ञान के अंधकार में; तमसि—नरक के अंधकार में; अग्नौ—अग्नि में; पतङ्ग-वत्—पतिंगे की तरह।

जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता, वह परमेश्वर की माया से उत्पन्न स्त्री के स्वरूप को देखकर तुरन्त आकृष्ट हो जाता है। दरअसल जब कोई स्त्री मोहक शब्द बोलती है, नखरे से हँसती है और अपने शरीर को काम-वासना से युक्त होकर मटकाती है, तो मनुष्य का मन तुरन्त मुग्ध हो जाता है और वह भव-अंधकार में उसी तरह जा गिरता है, जिस तरह पतिंगा अग्नि पर मदान्ध होकर उसकी लपटों में तेजी से गिर पड़ता है।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि जिस तरह पतिंगा अग्नि के रूप से आकृष्ट होकर मारा जाता है, उसी तरह भौंरा भी फूलों की सुगन्धि के आकर्षण से मारा जा सकता है। यही नहीं, शिकारी लोग हाथी द्वारा बन्दिनी हथिनी का स्पर्श पाने की इच्छा का लाभ उठाकर उसे फँसा कर मार डालते हैं। वे अपने वाद्यों की आवाज से हिरन को भी आकृष्ट करके मार सकते हैं। मछली काँटे में लगे चारे को खाने की इच्छा के कारण मारी जाती है। इस तरह जो व्यक्ति माया से विरक्त होना

सीखना चाहता है, उसे इन पाँचों असहाय प्राणियों को अपना गुरु मान लेना चाहिए और जो आवश्यक हो वह सीखना चाहिए। यह निश्चित है कि जो व्यक्ति स्त्री के माया रूप का भोग करने के लिए कामातुर होता है, वह तुरन्त ही माया में विलीन हो जाता है। पाँच प्रकार के भौतिक ऐन्द्रिय पदार्थों के घातक आकर्षणों में, *रूप* से मिलने वाली शिक्षा इस श्लोक में प्रदर्शित है।

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ ८॥

शब्दार्थ

योषित्—स्त्री के; हिरण्य—सुनहरे; आभरण—गहने; अम्बर—वस्त्र; आदि—इत्यादि; द्रव्येषु—ऐसी वस्तुओं के देखने पर; माया—भगवान् की माया द्वारा; रचितेषु—निर्मित; मूढः—विवेकहीन मूर्ख; प्रलोभित—काम-वासना से जाग्रत; आत्मा—ऐसा व्यक्ति; हि—निश्चय ही; उपभोग—इन्द्रियतृप्ति के लिए; बुद्ध्या—इच्छा से; पतङ्ग-वत्—पतिंगा की तरह; नश्यति—नष्ट हो जाता है; नष्ट—नष्ट हो गई है; दृष्टिः—जिसकी बुद्धि।

विवेकरहित मूर्ख व्यक्ति सुनहले गहनों, सुन्दर वस्त्रों और अन्य प्रसाधनों से युक्त कामुक स्त्री को देखकर तुरन्त ललचा हो उठता है। ऐसा मूर्ख इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्सुक होने से अपनी सारी बुद्धि खो बैठता है और उसी तरह नष्ट हो जाता है, जिस तरह जलती अग्नि की ओर दौड़ने वाला पतिंगा।

तात्पर्य : वस्तुतः, स्त्रियों में पुरुषों को सभी भौतिक इन्द्रियों से आकृष्ट करने की शक्ति होती है। पुरुष लोग स्त्री के शरीर को देखकर, उसकी सुगन्ध को सूँघकर, उसकी वाणी सुनकर, उसके अधरों का आस्वादन करके तथा उसका शरीर स्पर्श करके कामासक्त हो उठते हैं। किन्तु यौन-आकर्षण पर आधारित मूर्खतापूर्ण सम्बन्ध की शुरुआत देखने से होती है। इस तरह किसी की बुद्धि को नष्ट करने की प्रक्रिया में *रूप* का बहुत बड़ा हाथ रहता है। आधुनिक काल में इस तथ्य का दुरुपयोग विशाल अश्लील साहित्य के व्यापार में किया गया है, जो बेचारे पुरुषों तथा स्त्रियों को अपना शिकार बनाता है। इस सन्दर्भ में अग्नि में प्रविष्ट होकर अपने को नष्ट करने वाले पतिंगे का दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि जो भी क्षणिक काम-सुख का अभ्यस्त हो जाता है, वह नीरस पदार्थ के पीछे छुपी आध्यात्मिक सचाई को समझने की शक्ति खो बैठता है।

कामी पुरुष यौन-लत के कारण अन्धा तथा मूर्ख बन जाता है और उसकी आत्मा इन्द्रियतृप्ति की अग्नि में नष्ट हो जाती है। इस सारी आपदा से बचा जा सकता है, यदि भगवन्नाम के कीर्तन को गम्भीरतापूर्वक अपनाया जाये। श्री चैतन्य महाप्रभु तथा श्रील प्रभुपाद जैसे उनके शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधियों ने लोगों को भौतिक जीवन के गर्त से उबारने के लिए एक आन्दोलन चलाया है। हमें इस अवसर का पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिए।

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद्ग्रासं देहो वर्तेत यावता ।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद्वृत्तिं माधुकरीं मुनिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

स्तोकम् स्तोकम्—थोड़ा थोड़ा करके; ग्रसेत्—खाये; ग्रासम्—भोजन; देहः—शरीर; वर्तेत—जिससे जीवित रह सके; यावता—उतने से; गृहान्—गृहस्थों को; अहिंसन्—तंग न करते हुए; आतिष्ठेत्—अभ्यास करे; वृत्तिम्—पेशा, व्यवसाय; माधुकरीम्—मधुमक्खी का; मुनिः—सन्त-पुरुष।

सन्त-पुरुष को उतना ही भोजन स्वीकार करना चाहिए, जितने से उसका जीवन-निर्वाह हो सके। उसे द्वार-द्वार जाकर प्रत्येक परिवार से थोड़ा-थोड़ा भोजन स्वीकार करना चाहिए। इस तरह उसे मधुमक्खी की वृत्ति का अभ्यास करना चाहिए।

तात्पर्य : कभी कभी मधुमक्खी किसी विशेष कमल पुष्प की असाधारण सुगंध से आकृष्ट होकर वहीं मँडराती रहती है और वह एक फूल से दूसरे फूल पर मँडराते रहने के सामान्य कार्य की उपेक्षा कर देती है। दुर्भाग्यवश सूर्यास्त होने पर कमल का फूल बन्द हो जाता है और इस तरह लालची मधुमक्खी उसी में बन्दी बन जाती है। इसी प्रकार संन्यासी या ब्रह्मचारी यह पता लगाकर कि किसी विशेष घर से उत्तम भोजन मिल सकता है, द्वार द्वार न जाकर उस विशेष धनाढ्य घर का वासी बन सकता है। इस तरह वह गृहस्थ-जीवन की माया से मोहित हो जाता है और वैराग्य के पद से नीचे गिर जाता है। यही नहीं, यदि कोई संन्यासी या साधु दान की वैदिक प्रथा का बुरा लाभ उठाता है और प्राय: एक ही घर से दान लेता रहता है, तो इससे जो क्रोध पैदा होगा उससे सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जायेगी। आदर्श मुनि को मधुमक्खी की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते रहना चाहिए, किन्तु उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि अनेक घरों में जाकर वह हर घर से प्रचुर भोजन खाकर मोटी-ताजी मधुमक्खी न बन जाये। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ऐसी तुन्दिल मक्खी निस्संदेह माया के जाल में फँस जाएगी। किसी को भी अपनी जीभ की तृप्ति के लिए अत्यधिक

अनुरक्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे पेट में अधिक भोजन जायेगा और अनियंत्रित काम-वासना उत्पन्न होगी। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए अधिक प्रयास नहीं करना चाहिए, बल्कि भगवान् कृष्ण की महिमा को प्रसारित करने में अत्यधिक प्रयत्न करना चाहिए। मानव-शक्ति का यही उचित उपयोग है।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अणुभ्यः—छोटे से छोटे से लेकर; च—तथा; महद्भ्यः—सबसे बड़े से; च—भी; शास्त्रेभ्यः—शास्त्रों से; कुशलः—बुद्धिमान; नरः—मनुष्य; सर्वतः—सबों से; सारम्—निचोड़, सार; आदद्यात्—ग्रहण करे; पुष्पेभ्यः—फूलों से; इव—सदृश; षट्पदः—मधुमक्खी।

जिस तरह मधुमक्खी बड़े तथा छोटे सभी प्रकार के फूलों से मधु ग्रहण करती है, उसी तरह बुद्धिमान मनुष्य को समस्त धार्मिक शास्त्रों से सार ग्रहण करना चाहिए।

तात्पर्य : मानव समाज में मूल ज्ञान वेद कहलाता है और वेद का मुख्य अंश कृष्णभावनामृत है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* मनुष्य को चाहिए कि मधुमक्खी से समस्त ज्ञान का सार या मधु ग्रहण करना सीखे। मधुमक्खी पूरी झाड़ी या बगीचे को ले जाने में अपना समय नष्ट नहीं करती प्रत्युत वह आवश्यक मधु ले जाती है। इस तरह हम मधुमक्खी तथा भारी बोझ ढोने वाले गधे में जो अन्तर है उसका अध्ययन कर सकते हैं। शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि व्यर्थ के ज्ञान का गट्ठर ढोकर बौद्धिक गधा बना जाय अपितु मनुष्य को ऐसा आवश्यक ज्ञान ग्रहण करना चाहिए, जिससे आनन्द तथा ज्ञान का नित्य जीवन प्राप्त हो।

सम्प्रति लोगों में धर्म की साम्प्रदायिक धारणा पाई जाती है, फिर भी उनमें परम सत्य की कोई वैज्ञानिक जानकारी नहीं होती ऐसे असतर्क रूढ़िवादी साम्प्रदायिक धर्मविद् इस श्लोक में दिये गये मधुमक्खी के दृष्टान्त से निश्चय ही कुछ न कुछ सीख सकते हैं।

सायन्तनं श्वस्तनं वा न सङ्गृह्णीत भिक्षितम् ।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सायन्तनम्—रात के निमित्त; श्वस्तनम्—कल के लिए; वा—अथवा; न—नहीं; सङ्गृह्णीत—स्वीकार करे; भिक्षितम्—भिक्षा; पाणि—हाथ से; पात्र—स्तरी के रूप में; उदर—पेट से; अमत्र:—संग्रह पात्र (कोठार) की तरह; मक्षिका—मधुमक्खी; इव—सदृश; न—नहीं; सङ्ग्रही—संग्रह करने वाला।.

सन्त-पुरुष को यह नही सोचना चाहिए "मैं इस भोजन को आज रात के लिए रखूँगा और इस दूसरे भोजन को कल के लिए बचा लूँगा।" दूसरे शब्दों में, सन्त-पुरुष को भीख से प्राप्त भोज्य सामग्री का संग्रह नहीं करना चाहिए। प्रत्युत उसे अपने हाथ को ही पात्र बनाकर उसमें जितना आ जाय उसी को खाना चाहिए। उसका एकमात्र कोठार उसका पेट होना चाहिए और उसके पेट में आसानी से जितना आ जाय वही उसका भोजन-संग्रह होना चाहिए। इस तरह उसे लोभी मधुमक्खी का अनुकरण नहीं करना चाहिए, जो अधिक से अधिक मधु एकत्र करने के लिए उत्सुक रहती है।

तात्पर्य : मधुमक्खियाँ दो प्रकार की होती हैं एक वे जो फूलों से रस एकत्र करती हैं और दूसरी वे जो छत्ते में मधु तैयार करती हैं। इस श्लोक में दूसरे प्रकार की मधुमक्खी का उल्लेख हुआ है। लोभी मधुमक्खी अन्तत: इतना मधु एकत्र कर लेती है कि वह अपने छत्ते में फँस जाती है। इसी तरह भौतिकतावादी व्यक्ति अनावश्यक भौतिक संचय के भार के नीचे दब जाता है। आध्यात्मिक उन्नति चाहने वाले को ऐसी स्थिति से बचना चाहिए। किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि कृष्णभावनामृत का विस्तार करने के लिए मनुष्य अपार भौतिक ऐश्वर्य संचित कर सकता है। यह *युक्त वैराग्य* कहलाता है अर्थात् हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगाया जाना। जो सन्त-पुरुष श्री चैतन्य महाप्रभु के मिशन में कार्य करने में अक्षम होता है, उसे तपस्या करनी चाहिए और उसे उतना ही संग्रह करना चाहिए जितना कि वह अपने हाथों में तथा उदर में भर सके। किन्तु जिसने अपना जीवन कृष्ण को समर्पित कर दिया है, वह कृष्ण की ओर से असीम संग्रह कर सकता है। वस्तुत: भौतिक ऐश्वर्य को प्राप्त किये बिना संसार-भर में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार कर पाना कैसे सम्भव हो सकता है ? किन्तु यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत आन्दोलन के मिशनरी कार्यों के लिए एकत्र धन या सुविधाओं का भोग अपने लिये करता है, तो वह घोरतम अपराध करता है। अत: कृष्ण के नाम पर भी मनुष्य उतना ही संग्रह करे जितना कि वह तुरन्त ही व्यावहारिक भक्ति में लगा दे; अन्यथा वह सामान्य लोभ के स्तर पर गिर जाएगा।

सायन्तनं श्वस्तनं वा न सङ्गृह्णीत भिक्षुकः ।
मक्षिका इव सङ्गृह्णन्सह तेन विनश्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सायन्तनम्—रात के लिए; श्वस्तनम्—कल के लिए; वा—अथवा; न—नहीं; सङ्गृह्णीत—स्वीकार करे; भिक्षुकः—सन्त-साधु; मक्षिका—मधुमक्खी; इव—सदृश; सङ्गृह्णन्—एकत्र करते हुए; सह—साथ; तेन—उससंग्रह के; विनश्यति—नष्ट हो जाता है।

साधु-संत को उसी दिन या अगले दिन खाने के लिए भी भोजन का संग्रह नहीं करना चाहिए। यदि वह इस आदेश की अवहेलना करता है और मधुमक्खी की तरह अधिक से अधिक स्वादिष्ट भोजन एकत्र करता है, तो उसने, जो कुछ एकत्र किया है, वह निस्सन्देह उसे नष्ट कर देगा।

तात्पर्य : *भ्रमर* द्योतक है उस मधुमक्खी का जो एक फूल से दूसरे फूल में मँडराती रहती है, जबकि *मक्षिका* वह मधुमक्खी है, जो छत्ते में बड़े ही लगाव के साथ अधिकाधिक शहद संचित करती है। साधु संत को *भ्रमर* के समान होना चाहिए, क्योंकि यदि वह *मक्षिका* का अनुकरण करता है, तो उसकी आध्यात्मिक चेतना नष्ट हो जायेगी। यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसे इस श्लोक में दुहराया गया है।

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि ।
स्पृशन्करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पदा—पाँव से; अपि—भी; युवतीम्—युवती को; भिक्षुः—साधु संत; न—नहीं; स्पृशेत्—छूना चाहिए; दारवीम्—लकड़ी की बनी; अपि—भी; स्पृशन्—स्पर्श करते हुए; करी—हाथी; इव—सदृश; बध्येत—बँधा लेता है; करिण्याः—हथिनी के; अङ्ग-सङ्गतः—शरीर के स्पर्श से।

सन्त-पुरुष को चाहिए कि वह किसी युवती का स्पर्श न करे। वस्तुतः, उसे काठ की बनी स्त्री के स्वरूप वाली गुड़िया को भी अपने पाँव से भी स्पर्श नहीं होने देना चाहिए। स्त्री के साथ शारीरिक सम्पर्क होने पर वह निश्चित ही उसी तरह माया द्वारा बन्दी बना लिया जायेगा, जिस तरह हथिनी के शरीर का स्पर्श करने की इच्छा के कारण हाथी पकड़ लिया जाता है।

तात्पर्य : जंगल में हाथियों को निम्नलिखित ढंग से पकड़ा जाता है। एक बड़ा-सा गड्ढा खोदा जाता है और उसे घास, पत्तियों, कीचड़ इत्यादि से ढँक दिया जाता है। तब हाथी के सामने हथिनी लाई जाती है, तो वह कामुक होकर वासना के कारण उसका पीछा करता है और गड्ढे में गिर जाता है और तब पकड़ लिया जाता है। हाथी से यह शिक्षा ग्रहण की जा सकती है कि स्पर्श की अनुभूति का

आस्वादन करने की इच्छा मनुष्य के जीवन को निश्चय ही चौपट कर देती है। बुद्धिमान मनुष्य हाथी द्वारा हथिनी के साथ केलि करने की तीव्र इच्छा को देखकर इस उत्तम दृष्टान्त को हृदयस्थ कर लेगा। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि स्त्री के कामोत्तेजक रूप के सम्मोहन से कभी धोखा न खाये। मनुष्य को यौन-आनन्द के वासनामय सपनों में अपने मन को खोने नहीं जाने देना चाहिए। पुरुषों तथा स्त्रियों के मध्य अनेक प्रकार की इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लिया जा सकता है—जिनमें वार्तालाप, सोच विचार, स्पर्श करना तथा संभोग इत्यादि सम्मिलित हैं। ये सभी माया के जाल को बुनते हैं, जिसके द्वारा मनुष्य पशु की तरह असहाय होकर बाँध लिया जाता है। मनुष्य को चाहिए कि जैसे-तैसे यौन-आनन्दस्वरूपा इन्द्रियतृप्ति से दूर रहे अन्यथा आध्यात्मिक जगत को समझा जाना संभव नहीं हो सकता।

नाधिगच्छेत्स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा ॥ १४॥

शब्दार्थ

न अधिगच्छेत्—आनन्द पाने के लिए नहीं जाये; स्त्रियम्—स्त्री; प्राज्ञः—जो बुद्धिमत्तापूर्वक भेदभाव कर सके; कर्हिचित्—किसी समय; मृत्युम्—साक्षात् मृत्यु; आत्मनः—अपने लिए; बल—बल में; अधिकैः—जो श्रेष्ठ हैं उनके द्वारा; सः—वह; हन्येत—विनष्ट कर दिया जायेगा; गजैः—हाथियों के द्वारा; अन्यैः—अन्यों के लिए; गजः—हाथी; यथा—जिस तरह।

विवेकवान् व्यक्ति को किसी भी परिस्थिति में अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए स्त्री के सुन्दर रूप का लाभ उठाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जिस तरह हथिनी से संभोग करने का प्रयास करने वाला हाथी उसके साथ संभोग कर रहे अन्य हाथियों के द्वारा मार डाला जाता है, उसी तरह, जो व्यक्ति किसी नारी के साथ संभोग करना चाहता है, वह किसी भी क्षण उसके अन्य प्रेमियों द्वारा मार डाला जा सकता है, जो उससे अधिक बलिष्ठ होते हैं।

तात्पर्य : जिस तरह कोई व्यक्ति किसी स्त्री के सुन्दर रूप द्वारा मोहित हो जाता है, उसी तरह अनेक अन्य पुरुष भी मोहित हो सकते हैं और इसका खतरा रहता है कि वे उस व्यक्ति से अधिक बलवान् हों और ईर्ष्यावश उसे मार भी डालें। काम-वासना के अपराध अत्यन्त सामान्य हैं। भौतिक जीवन का यह दूसरी अकारथ है।

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद्दुःखसञ्चितम् ।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥ १५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; देयम्—अन्यों को दान में दिये जाने के लिए; न—नहीं; उपभोग्यम्—स्वयं भोगे जाने के लिए; च—भी; लुब्धैः—लोभीजनों के द्वारा; यत्—जो; दुःख—अत्यन्त संघर्ष तथा कष्ट से; सञ्चितम्—एकत्र किया जाता है; भुङ्क्ते—भोग करता है; तत्—वह; अपि—तिस पर भी; तत्—वह; च—भी; अन्यः—अन्य कोई; मधु-हा—छत्ते से शहद चुराने वाला; इव—सदृश; अर्थ—धन; वित्—जो यह जानता है कि किस तरह पहचाना जाय; मधु—शहद।

लोभी व्यक्ति बहुत संघर्ष तथा कष्ट से प्रचुर मात्रा में धन एकत्र करता है, किन्तु इस धन को एकत्र करने वाले व्यक्ति को इसका भोग करने या अन्यों को दान हमेशा करने नहीं दिया जाता। लोभी व्यक्ति उस मधुमक्खी के समान है, जो प्रचुर मात्रा में शहद उत्पन्न करने के लिए संघर्ष करती है, किन्तु इसे उस व्यक्ति द्वारा चुरा लिया जाता है, जो या तो स्वयं उसका भोग करता है या अन्यों को बेच देता है। कोई चाहे कितनी सावधानी के साथ अपनी कठिन कमाई को क्यों न छिपाये या उसकी रक्षा करने का प्रयास करे, किन्तु मूल्यवान वस्तुओं का पता लगाने वाले पटु लोग उसे चुरा ही लेंगे।

तात्पर्य : कोई यह तर्क कर सकता है कि धनी व्यक्ति अपने धन को बैंकों, स्टॉकों, जायदादों इत्यादि में लगाकर इतनी खूबी से छिपा सकता है कि चोरी का कोई खतरा नहीं रहता। जो मूर्ख हैं, वे ही धन को धरती में गाड़कर या चटाई के नीचे रखकर छिपायेंगे। किन्तु इस तथ्य के बावजूद कि विश्व की अधिकांश सम्पत्ति अत्यन्त विकसित पूँजीवादी देशों में संचित की जाती है, ऐसे अनेक शत्रु हैं, जो इन देशों को बुरी तरह से चुनौती देते हैं और जो किसी भी समय पूँजीवादियों को विनष्ट करने और उनकी सम्पत्ति चुराने के लिए हुँकारते रहते हैं। इसी तरह प्राय: देखा जाता है कि धनी लोगों के बच्चों का अपहरण कर लिया जाता है और तब उनके माता-पिता छुड़ाने के लिए फिरौती में प्रचुर धन देते हैं। कभी कभी माता-पिता का भी अपहरण हो सकता है। फिर कुछ तथाकथित पूँजी-निवेश सलाहकार होते हैं, जो धनी लोगों के धन को चुराने में दक्ष होते हैं और आधुनिक युग में तो सरकारें भी कर लगाकर धन चुराने में दक्ष बन गई हैं। इस प्रकार *अर्थ-वित्* शब्द सूचक है, उसका जो अन्य लोगों की गाढ़ी कमाई को किसी न किसी तरह चुराने में पटु हैं। मक्खियाँ शहद बनाने में जी-तोड़ मेहनत करती हैं, किन्तु उन्हें अपने शहद का भोग करने को नहीं मिलता। जैसाकि भगवान् कृष्ण कहते हैं *मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—मैं साक्षात् मृत्यु बनकर हर वस्तु चुरा लूँगा (भगवद्गीता १०.३४)। मनुष्य की

गाढ़ी कमाई किसी न किसी रूप में चुरा ली जाती है, अतएव जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है मनुष्य को मूर्ख मधुमक्खी की तरह व्यर्थ ही परिश्रम नहीं करना चाहिए।

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः ।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सु-दुःख—अत्यधिक संघर्ष से; उपार्जितैः—अर्जित किया गया; वित्तैः—भौतिक ऐश्वर्य से; आशासानाम्—अत्यधिक इच्छा रखने वालों के; गृह—घरेलू भोग से सम्बद्ध; आशिषः—आशीर्वाद, वर; मधु-हा—शहद-चोर; इव—सदृश; अग्रतः—प्रथम, औरों से पहले; भुङ्क्ते—भोग करता है; यतिः—भिक्षु, साधु-संत; वै—निश्चय ही; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थ-जीवन के प्रति समर्पित लोगों के।

जिस प्रकार शहद-चोर मधुमक्खियों द्वारा बड़े ही परिश्रमपूर्वक एकत्र की गई शहद को निकाल लेता है, उसी तरह ब्रह्मचारी तथा संन्यासी जैसे साधु-संत पारिवारिक भोग में समर्पित गृहस्थों द्वारा बहुत ही कष्ट सहकर संचित किये गये धन का भोग करने के अधिकारी हैं।

तात्पर्य : शास्त्रों का कथन है, "सन्यास आश्रम के भिक्षु तथा ब्रह्मचारी जनों को गृहस्थों द्वारा तैयार किया गया अच्छे से अच्छा भोजन खाने का पहला अधिकार होता है। यदि गृहस्थ ऐसे भोजन को भिक्षुकों को दान दिये बिना स्वयं खाता है, तो ऐसे असावधान गृहस्थों को *चान्द्रायण* उपवास रखना पड़ता है।" गृहस्थ-जीवन में प्रचुर दान देकर ही स्वार्थोन्मुखी सहज प्रवृत्ति पर विजय पाई जा सकती है। आधुनिक समाज मूर्खतावश ऐसे वैदिक आदेशों का पालन नहीं करता फलस्वरूप यह संसार ईर्ष्यालु *गृहमेधियों* से—निजी इन्द्रियतृप्ति में मस्त रहने वालों से पट चुका है। इसीलिए सारा जगत हिंसा तथा कष्ट की अनियंत्रित टूटन से पीड़ित है। यदि कोई व्यक्ति शान्तिपूर्वक जीना चाहता है, तो उसे गृहस्थ-जीवन को नियमित बनाने वाले वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए। यद्यपि गृहस्थ लोग धन संग्रह करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं, किन्तु संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को अधिकार प्राप्त है कि वे ऐसे परिश्रम के फल का भोग सबसे पहले करें। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक उन्नति को प्राथमिकता दे और इस प्रकार अपने जीवन को पूर्ण बनाए। तब बिना किसी निजी प्रयास के भगवान् की कृपा से मनुष्य की सभी आवश्यकताएँ पूरी हो जायेंगी।

**ग्राम्यगीतं न शृणुयाद्यतिर्वनचरः क्वचित् ।
शिक्षेत हरिणाद्बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥ १७॥**

शब्दार्थ

ग्राम्य—इन्द्रियतृप्ति से सम्बद्ध; गीतम्—गीत; न—नहीं; शृणुयात्—सुने; यतिः—साधु-संत; वन—जंगल में; चरः—विचरण करते; क्वचित्—कभी; शिक्षेत—सीखे; हरिणात्—हिरन से; बद्धात्—बाँधे गये; मृगयोः—शिकारी के; गीत—गीत द्वारा; मोहितात्—मोहित किये गये।

वनवासी सन्यासी को चाहिए कि भौतिक भोग को उत्तेजित करने वाले गीत या संगीत को कभी भी न सुने। प्रत्युत सन्त पुरुष को चाहिए कि ध्यान से उस हिरन के उदाहरण का अध्ययन करे, जो शिकारी के वाद्य के मधुर संगीत से विमोहित होने पर पकड़ लिया जाता है और मार डाला जाता है।

तात्पर्य : यदि मनुष्य भौतिकतावादी संगीत तथा गीतों से होने वाली इन्द्रियतृप्ति में अनुरक्त हो जाता है, तो उसमें भौतिक बन्धन के सारे गुण उत्पन्न हो जायेंगे। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् द्वारा गाया गया गीत अर्थात् *भगवद्गीता* को सुने।

**नृत्यवादित्रगीतानि जुषन्ग्राम्याणि योषिताम् ।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥ १८॥**

शब्दार्थ

नृत्य—नाच; वादित्र—वादन; गीतानि—गीतों को; जुषन्—अनुशीलन करते हुए; ग्राम्याणि—इन्द्रियतृप्ति विषयक; योषिताम्—स्त्रियों की; आसाम्—उनके; क्रीडनकः—क्रीड़ा की वस्तु; वश्यः—पूरी तरह वशीभूत; ऋष्य-शृङ्गः—ऋष्यशृंग मुनि; मृगी-सुतः—मृगी का पुत्र।

सुन्दर स्त्रियों के सांसारिक गायन, नृत्य तथा संगीत-मनोरंजन से आकृष्ट होकर मृगी-पुत्र ऋष्यशृंग मुनि तक उनके वश में आ गये, मानों कोई पालतू पशु हों।

तात्पर्य : मृगी ऋषि के तरुण पुत्र ऋष्यशृंग को उनके पिता ने जान-बूझकर नितान्त अबोधता के वातावरण में पाला-पोषा था। मृगी ऋषि ने सोचा था कि यदि उनका पुत्र स्त्रियों को कभी नहीं देखेगा, तो वह पूर्ण ब्रह्मचारी बना रहेगा। किन्तु संयोगवश निकटवर्ती राज्य के निवासी दीर्घकालीन दुर्भिक्ष से पीड़ित थे, अतएव उन्हें दैवी आदेश मिला कि उनके राज्य में तभी वर्षा होगी यदि ऋष्यशृंग नामक ब्राह्मण उस राज्य में पदार्पण करें। इसलिए उन्होंने ऋष्यशृंग को मोहने के लिए मृगी की कुटिया में सुन्दर स्त्रियाँ भेजीं, जो उन्हें अपने साथ वापस ले आयें। चूँकि ऋष्यशृंग ने कभी भी स्त्रियों के बारे में सुना तक न था, इसलिए वे उनके जाल में आसानी से फँस गये।

ऋष्यशृंग नाम सूचित करता है कि जन्म से ही इस ऋषि के सिर पर हिरन जैसे सींग उगे थे। यदि कोई ऋषि हिरन की तरह इन्द्रियतृप्ति को देने वाले मधुर संगीत द्वारा आकृष्ट हो जाता है, तो हिरन की तरह वह शीघ्रता से नष्ट भी हो जाता है। विचारवान व्यक्ति को उस हिरन से विनीत होकर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जो संगीतमय इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकर्षण के कारण विनष्ट हो जाता है।

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः ।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

जिह्वया—जीभ से; अति-प्रमाथिन्या—जो अत्यधिक मथने वाली है; जनः—पुरुष; रस-विमोहितः—स्वाद के प्रति आकर्षण से मोहित हुआ; मृत्युम्—मृत्यु; ऋच्छति—प्राप्त करता है; असत्—व्यर्थ; बुद्धिः—जिसकी बुद्धि; मीनः—मछली; तु—निस्सन्देह; बडिशैः—काँटे द्वारा; यथा—जिस तरह।

जिस तरह जीभ का भोग करने की इच्छा से प्रेरित मछली मछुआरे के काँटे में फँस कर मारी जाती है, उसी तरह मूर्ख व्यक्ति जीभ की अत्यधिक उद्वेलित करने वाली उमंगों से मोहग्रस्त होकर विनष्ट हो जाता है।

तात्पर्य : मछुआरा पैनी कँटिया के सिरे पर मांस का टुकड़ा लगाकर दुर्बुद्धि मछली को आकृष्ट करता है, जो कि अपनी जीभ का भोग करने के लिए लालायित रहती है। इसी तरह लोग अपनी जीभ की तुष्टि के पीछे पागल हुए रहते हैं और खाने की आदतों में सारा विवेक खो देते हैं। क्षणिक तृप्ति के लिए वे बड़े-बड़े कसाईघर बनाते हैं और लाखों निरीह पशुओं का वध करते हैं। इस तरह दूसरों को घोर दुख प्रदान करके वे अपने भविष्य को वीभत्स बना देते हैं। किन्तु यदि वेदों द्वारा अधिकृत भोजन ही किया जाय, तो भी खतरा रहता है। अधिक खाने से कृत्रिम रूप से भरा गया पेट कामेन्द्रियों पर बल डालता है। इससे मनुष्य निम्न गुणों में जा गिरता है और पापकर्म करने लगता है, जिससे आध्यात्मिक जीवन नष्ट हो जाता है। मछली से मनुष्य को सावधानी से यह सीखना चाहिए कि असली खतरा जीभ की तुष्टि करने में है।

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः ।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; जयन्ति—जीत लेती हैं; आशु—शीघ्रतापूर्वक; निराहाराः—जो लोग इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकते हैं; मनीषिणः—विद्वान; वर्जयित्वा—के अतिरिक्त; तु—लेकिन; रसनम्—जीभ; तत्—उसकी इच्छा; निरन्नस्य—उपवास करने वाले की; वर्धते—बढ़ाती है।

उपवास द्वारा विद्वान पुरुष जीभ के अतिरिक्त अन्य सारी इन्द्रियों को जल्दी से अपने वश में कर लेते हैं, क्योंकि ऐसे लोग अपने को खाने से दूर रखकर स्वादेन्द्रिय को तृप्त करने की प्रबल इच्छा से पीड़ित हो उठते हैं।

तात्पर्य : दक्षिणी अमेरिका की कहावत है कि जब पेट भरा रहता है, तो हृदय संतुष्ट रहता है। इस प्रकार जो व्यक्ति अच्छा भोजन करता है, वह प्रसन्नचित्त रहता है और यदि किसी को भोजन न दिया जाय, तो उसकी भूख और भी बढ़ जाती है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जीभ के वशीभूत नहीं होता, प्रत्युत वह कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने का प्रयास करता है। भगवान् को अर्पित भोजन के जूठन (*प्रसादम्*) को खाने से धीरे धीरे हृदय शुद्ध हो जाता है और मनुष्य सरल तथा संयमी बन जाता है।

इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि जीभ का कार्य है विविध प्रकार के रस से अपने को तृप्त करना, किन्तु व्रजमण्डल (वृन्दावन) के बारह पवित्र वनों का भ्रमण करने से मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति के बारह रसों से मुक्त हो जाता है। भौतिक सम्बन्ध के पाँच मुख्य विभाग हैं तटस्थ प्रशंसा, दास्य, मैत्री, वात्सल्य तथा माधुर्य। सात गौण भौतिक सम्बन्ध हैं भौतिक हास्य, आश्चर्य, पराक्रम, दया, क्रोध, भय तथा वीभत्सता। मूलतः इन बारह *रसों* या सम्बन्धों के स्वादों का आध्यात्मिक जगत में भगवान् तथा जीव के मध्य आदान-प्रदान होता है। वृन्दावन के बारह वनों में भ्रमण करके मनुष्य अपने जीवन में इन बारह रसों को पुनः आध्यात्मिक बना सकता है। इस तरह वह मुक्तात्मा बन जाता है। यदि कोई बनावटी रीति से इन्द्रियतृप्ति को, विशेष रूप से जीभ-तृप्ति को त्यागना चाहता है, तो उसका प्रयास विफल होगा और इससे बनावटी रोकथाम के कारण, उसकी इन्द्रियतृप्ति की इच्छा बढ़ेगी। केवल कृष्ण के साथ असली आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करके ही ऐसी भौतिक इच्छाएँ त्यागी जा सकती हैं।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; जित-इन्द्रियः—जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय पा ली है; न—नहीं; स्यात्—हो सकता है; विजित-अन्य-इन्द्रियः—जिसने अन्य इन्द्रियों पर विजय पा ली है; पुमान्—मनुष्य; न जयेत्—नहीं जीत सकता; रसनम्—जीभ को; यावत्—जब तक; जितम्—जीता हुआ; सर्वम्—हर वस्तु; जिते—जीत लेने पर; रसे—जीभ को।

भले ही कोई मनुष्य अन्य सारी इन्द्रियों को क्यों न जीत ले, किन्तु जब तक जीभ को नहीं जीत लिया जाता, तब तक वह इन्द्रियजित नहीं कहलाता। किन्तु यदि कोई मनुष्य जीभ को वश में करने में सक्षम होता है, तो उसे सभी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण करने वाला माना जाता है।

तात्पर्य : भोजन करने से मनुष्य सारी इन्द्रियों को शक्ति तथा क्रियाशीलता प्रदान करता है और यदि जीभ वश में नहीं रहती, तो सारी इन्द्रियाँ भौतिक पद को प्राप्त हो जाएगी। इसलिए सभी प्रकार से जीभ को वश में करना चाहिए। यदि मनुष्य उपवास करता है, तो अन्य सारी इन्द्रियाँ दुर्बल पड़ जाती हैं और अपनी शक्ति खो देती हैं। किन्तु जीभ स्वादिष्ट व्यंजनों का स्वाद लेने के लिए और भी ललचाती है और जब मनुष्य अन्त में जीभ को मनमानी करने देता है, तो सारी इन्द्रियाँ शीघ्र ही वश से बाहर हो जाती हैं। इसलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर सलाह देते हैं कि मध्यम मात्रा में महाप्रसाद ग्रहण किया जाय। चूँकि जीभ का काम उच्चारण करना भी है, अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के यशस्वी नामों का उच्चारण करे और शुद्ध कृष्णभावनामृत के आनन्द का आस्वाद ले। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है *रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते*—मनुष्य कृष्णभावनामृत के उच्चतर आस्वादन से ही उस घातक निम्न स्वाद का परित्याग कर सकता है, जो मनुष्य को भवबन्धन में बन्दी बनाए रखता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि जब तक मनुष्य की बुद्धि भौतिक रूप से प्रच्छन्न रहती है, तब तक वे कृष्णभावनामृत के स्वाद को नहीं समझ सकता। कृष्ण के बिना ही भोग करने के प्रयास में जीव भगवद्धाम व्रजभूमि को त्याग कर भौतिक जगत में उतर आता है, जहाँ वह अपनी इन्द्रियों का नियंत्रण खो बैठता है। वह जीभ, पेट तथा जननेन्द्रिय का शिकार बन जाता है, जो बद्धजीव पर असह्य दबाव डालते हैं। किन्तु जब मनुष्य आनन्दकन्द भगवान् के साथ पुन: आनन्दमय सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तो ये इच्छाएँ ठण्डी पड़ जाती हैं। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के आस्वाद के प्रति अनुरक्त होता है, वह विशुद्ध सत्त्व के प्रति रागानुग आकर्षण के कारण धार्मिक जीवन के विधि-विधानों का स्वत: पालन करने लगता है। ऐसे रागानुग आकर्षण के बिना मनुष्य इन्द्रियों की ठेलपेल से मोहग्रस्त हो जाता है।

भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था, जिसे *साधन भक्ति* कहते हैं, इतनी प्रबल होती है कि वह मनुष्य को *अनर्थ निवृत्ति* पद पर ला देती है, जहाँ व्यक्ति अवांछित पापमय आदतों से मुक्त हो जाता है और जीभ, उदर तथा जननेन्द्रिय के दबाव से छूट जाता है। इस तरह वह भौतकि लत के बन्धन से उबर आता है और माया के सम्मोहनों से और अधिक प्रवंचित नहीं होता। जैसा कहा जाता है, हर चमकने वाली वस्तु सोना नहीं होती है, इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की यह संस्तुति है कि हम उनके पिता श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा लिखित निम्नलिखित गीत पर विचार करें—

शरीर अविद्याजाल, जड़ेन्द्रिय ताहे काल

जीवे फेले विषय-सागरे।

ता'र मध्ये जिह्वा अति-, लोभमय सुदुर्मति

ता'के जेता कठिन संसारे॥

कृष्ण बड़ दयामय, करिबारे जिह्वा जय

स्व-प्रसादान्न दिल भाइ।

सेइ अन्नामृत पाओ, राधा-कृष्ण-गुण गाओ

प्रेमे डाको चैतन्य-निताइ॥

"हे प्रभु! यह भौतिक शरीर अज्ञान का पुंज है और इन्द्रियाँ मृत्यु के पास जाने वाले मार्गों का जाल है। हम न जाने कैसे भौतिक इन्द्रिय-भोग के इस सागर में गिर गये हैं और समस्त इन्द्रियों में से जीभ अत्यन्त लोभी तथा वश में न रहने वाली है। इस संसार में जीभ पर विजय पाना बहुत कठिन है। किन्तु प्यारे कृष्ण! आप हम पर अत्यन्त कृपालु हैं और जीभ पर नियंत्रण रखने के लिए आपने हमें ऐसा उत्तम प्रसाद दिया है। अब हम इस प्रसादम् को जी-भरकर खाते हैं और श्री श्री राधाकृष्ण का गुणगान करते हैं और प्रेम में हम श्री चैतन्य तथा नित्यानन्द प्रभु की सहायता के लिए पुकार लगाते हैं।"

पिङ्गला नाम वेश्यासीद्विदेहनगरे पुरा ।
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥ २२॥

शब्दार्थ

पिङ्गला नाम—पिंगला नाम की; वेश्या—वेश्या; आसीत्—थी; विदेह-नगरे—विदेह नामक नगर में; पुरा—प्राचीन काल में; तस्याः—उससे; मे—मेरे द्वारा; शिक्षितं—जो कुछ सीखा गया; किञ्चित्—जो कुछ; निबोध—अब सीखो; नृप-नन्दन—हे राजा के पुत्र।

हे राजपुत्र, पूर्वकाल में विदेह नामक शहर में पिंगला नामकी एक वेश्या रहती थी। अब कृपा करके, वह सुनिये, जो मैंने उस स्त्री से सीखा है।

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं सङ्केत उपनेष्यती ।
अभूत्काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; स्वैरिणी—वेश्या; एकदा—एक बार; कान्तम्—ग्राहक, प्रेमी; सङ्केते—रमण स्थान में; उपनेष्यती—लाने के लिए; अभूत्—खड़ी रही; काले—रात में; बहिः—बाहर; द्वारे—दरवाजे पर; बिभ्रती—पकड़े हुए; रूपम्—अपना रूप; उत्तमम्—अत्यन्त सुन्दर।

एक बार वह वेश्या अपने घर में किसी प्रेमी को लाने की इच्छा से रात के समय अपना सुन्दर रूप दिखलाते हुए दरवाजे के बाहर खड़ी रही।

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान्पुरुषर्षभ ।
तान्शुल्कदान्वित्तवतः कान्तान्मेनेऽर्थकामुकी ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मार्गे—उस गली में; आगच्छतः—आने वाले; वीक्ष्य—देखकर; पुरुषान्—पुरुषों को; पुरुष-ऋषभ—हे श्रेष्ठ पुरुष; तान्—उनको; शुल्क-दान्—जो मूल्य चुका सके; वित्त-वतः—धनवान; कान्तान्—प्रेमियों या ग्राहकों को; मेने—विचार किया; अर्थ-कामुकी—धन चाहने वाले।

हे पुरुष-श्रेष्ठ, यह वेश्या धन पाने के लिए अत्यधिक आतुर थी और जब वह रात में गली में खड़ी थी, तो वह उधर से गुजरने वाले सारे व्यक्तियों का अध्ययन यह सोचकर करती रही कि, "ओह, इसके पास अवश्य ही धन होगा। मैं जानती हूँ यह मूल्य चुका सकता है और मुझे विश्वास है कि वह मेरे साथ अत्यधिक भोग कर सकेगा।" वह वेश्या गली पर के सभी पुरुषों के बारे में ऐसा ही सोचती रही।

आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी ।
अप्यन्यो वित्तवान्कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ॥ २५ ॥
एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती ।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

आगतेषु—जब वे आये; अपयातेषु—तथा वे चले गये; सा—उसने; सङ्केत-उपजीविनी—वेश्यावृत्ति ही जिसकी आमदनी थी; अपि—हो सकता है; अन्यः—दूसरा; वित्त-वान्—धनवान; कः अपि—कोई भी; माम्—मेरे पास; उपैष्यति—प्रेम के लिए आयेगा; भूरि-दः—तथा वह प्रचुर धन देगा; एवम्—इस प्रकार; दुराशया—व्यर्थ की आशा से; ध्वस्त—नष्ट; निद्रा—उसकी नींद; द्वारि—दरवाजे पर; अवलम्बती—टेक लगाये; निर्गच्छन्ती—गली की ओर जाती हुई; प्रविशती—अपने घर वापस आती; निशीथम्—अर्धरात्रि; समपद्यत—हो गई।

जब वेश्या पिंगला द्वार पर खड़ी हो गई, कई पुरुष आये और उसके घर के सामने से टहलते हुए चले गये। उसकी जीविका का एकमात्र साधन वेश्यावृत्ति था, अतएव उसने उत्सुकतापूर्वक सोचा "हो सकता है कि अब जो आ रहा है, वह बहुत धनी हो...हाय! वह तो रुक ही नहीं रहा, किन्तु मुझे विश्वास है कि अन्य कोई अवश्य आयेगा। अवश्य ही यह जो आ रहा है मेरे प्रेम का मूल्य चुकायेगा और शायद प्रचुर धन दे।" इस प्रकार व्यर्थ की आशा लिए वह द्वार पर टेक लगाये खड़ी रही और अपना धंधा पूरा न कर सकी और सोने भी न जा सकी। उद्विग्नता से वह कभी गली में जाती और कभी अपने घर के भीतर लौट आती। इस तरह धीरे धीरे अर्धरात्रि हो आई।

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः ।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसकी; वित्त—धन के लिए; आशया—इच्छा से; शुष्यत्—सूख गया; वक्त्रायाः—मुख; दीन—खिन्न; चेतसः—मन; निर्वेदः—विरक्ति; परमः—अत्यधिक; जज्ञे—जागृत हो उठी; चिन्ता—चिन्ता; हेतुः—के कारण; सुख—सुख; आवहः—लाते हुए।

ज्यों ज्यों रात बीतती गई, वह वेश्या, जो कि धन की अत्यधिक इच्छुक थी, धीरे-धीरे हताश हो उठी और उसका मुख सूख गया। इस तरह धन की चिन्ता से युक्त तथा अत्यन्त निराश होकर वह अपनी स्थिति से अत्यधिक विरक्ति अनुभव करने लगी और उसके मन में सुख का उदय हुआ।

तात्पर्य : इन श्लोकों से प्रतीत होना है कि उस रात वेश्या पिंगला अपने घर पर ग्राहकों को आकृष्ट करने में समर्थ हुई ही नहीं। पूर्णतया निराश होने से वह धीरे-धीरे अपनी स्थिति से अन्यमनस्क हो उठी। इस तरह कभी-कभी महान् कष्ट से मनुष्य को प्रकाश के मार्ग की ओर ले जाता है अथवा संस्कृत लोकोक्ति के अनुसार, निराशा में ही परम सन्तोष मिलता है।

यह वेश्या अनेक पुरुषों की कामवासनाएँ पूरी करने के लिए समर्पित नहीं थी। वह तन, मन तथा वाणी से अपने ग्राहकों में लगी रहने के कारण भगवान् की भक्ति पूरी तरह भूल गई, जिससे उसका मन अत्यन्त अस्थिर तथा विक्षुब्ध था। अन्त में, पूर्णतया निराश होने पर उसका मुख तथा गला सूखने लगा, वह अपनी स्थिति से अन्यमनस्क हो उठी तथा उसके मन में सुख का उदय हुआ।

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम ।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसका; निर्विण्ण—क्षुब्ध; चित्तायाः—मन; गीतम्—गीत; शृणु—सुनो; यथा—मानो; मम—मुझसे; निर्वेदः—विरक्ति; आशा—आशाओं एवं इच्छाओं के; पाशानाम्—बन्धनों के; पुरुषस्य—पुरुष को; यथा—जिस तरह; हि—निश्चय ही; असिः—तलवार।

वह वेश्या अपनी भौतिक स्थिति से ऊब उठी और इस तरह वह अन्यमनस्क हो गई। दरअसल, विरक्ति तलवार का काम करती है। यह भौतिक आशाओं तथा इच्छाओं के बन्धन को खण्ड-खण्ड कर देती है। अब मुझसे वह गीत सुनो, जो उस स्थिति में वेश्या ने गाया।

तात्पर्य : भौतिक इच्छाओं का ताना-बाना तब उत्पन्न होता है, जब कोई व्यक्ति झूठे यह सोचता है कि वह इस जगत में स्थायी रूप से रह सकता है। इस बन्धन को विरक्ति रूपी तलवार से काट डालना चाहिए, अन्यथा मनुष्य माया के मोहक बन्धन में रहने के लिए बाध्य होगा और उसे दिव्य पद पर मुक्त जीवन की कोई जानकारी नहीं होगी।

न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति ।
यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अङ्ग—हे राजा; अजात—जिसने उत्पन्न नहीं किया; निर्वेदः—विरक्ति; देह—भौतिक शरीर का; बन्धम्—बन्धन; जिहासति—त्यागने का इच्छुक होता है; यथा—जिस तरह; विज्ञान—अनुभूत ज्ञान; रहितः—विहीन; मनुजः—मनुष्य; ममताम्—स्वामित्व का मिथ्या भाव; नृप—हे राजा।

हे राजन्, जिस तरह आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन व्यक्ति कभी भी अनेक भौतिक वस्तुओं पर अपने मिथ्या स्वामित्व को त्यागना नहीं चाहता, उसी तरह जिस व्यक्ति में विरक्ति उत्पन्न नहीं हुई वह कभी भी भौतिक शरीर के बन्धन को त्यागने के लिए तैयार नहीं होता।

पिङ्गलोवाच
अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः ।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पिङ्गला—पिंगला ने; उवाच—कहा; अहो—ओह; मे—मेरा; मोह—मोह का; विततिम्—विस्तार; पश्यत—देखो तो; अविजित-आत्मनः—जिसका मन वश में नहीं है, उसका; या—जो (मैं); कान्तात्—अपने प्रेमी से; असतः—व्यर्थ, तुच्छ; कामम्—विषय-सुख; कामये—चाहती हूँ; येन—क्योंकि; बालिशा—मूर्ख हूँ।

पिंगला वेश्या ने कहा : जरा देखो न, मैं कितनी मोहग्रस्त हूँ। चूँकि मैं अपने मन को वश में नहीं रख सकती, इसलिए मैं मूर्ख की तरह किसी तुच्छ व्यक्ति से विषय-सुख की कामना करती हूँ।

तात्पर्य : भौतिक जगत में सारी इन्द्रियाँ विभिन्न वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होती हैं, जिससे बद्धजीव निपट मूर्ख बन जाता है। भौतिक जीवन का कारण परम सत्य के प्रति अन्यमनस्कता है। बद्धजीव अपने को ही भौतिक जगत का स्वामी और भोक्ता मान बैठता है और इन्द्रियतृप्ति को जीवन का उद्देश्य समझता है। वह जितना ही अधिक भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, उसका मोह उतना ही बढ़ता जाता है।

इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि पिंगला न केवल वेश्यावृत्ति से जीविकोपार्जन कर रही थी, अपितु असंख्य लोगों से अवैध सम्बन्ध बनाये हुए थी। *कान्ताद् असतः* शब्द सूचित करते हैं कि वह अत्यन्त सामान्य तथा व्यर्थ व्यक्तियों को अपना "प्रेमी" मानकर बिना भेदभाव के अपने को बेच रही थी। इसीलिए वह कहती है, "मैं महान् मूर्ख थी।" *बालिशा* शब्द का अर्थ है बाल-स्वभाव वाला जिसे अच्छे-बुरे का व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता।

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय ।
अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सन्तम्—होते हुए; समीपे—अत्यन्त निकट (मेरे हृदय में); रमणम्—अत्यन्त प्रिय; रति—वास्तविक प्रेम या आनन्द; प्रदम्—देने वाला; वित्त—धन; प्रदम्—देने वाला; नित्यम्—नित्य; इमम्—उसको; विहाय—त्याग कर; अकाम-दम्—जो किसी की इच्छाओं को कभी नहीं पूरा कर सकता; दुःख—कष्ट; भय—डर; आधि—मानसिक क्लेश; शोक—शोक; मोह—मोह; प्रदम्—देने वाला; तुच्छम्—अत्यन्त तुच्छ; अहम्—मैं; भजे—सेवा करती हूँ; अज्ञा—अज्ञानी मूर्ख।

मैं ऐसी मूर्ख निकली कि मेरे हृदय में जो शाश्वत स्थित है और मुझे अत्यन्त प्रिय है उस पुरुष की मैंने सेवा छोड़ दी। वह अत्यन्त प्रिय ब्रह्माण्ड का स्वामी है, जो कि असली प्रेम तथा सुख का दाता है और समस्त समृद्धि का स्रोत है। यद्यपि वह मेरे ही हृदय में है, किन्तु मैंने उसकी पूर्णरूपेण अनदेखी की है। बजाय इसके मैंने अनजाने ही तुच्छ आदमियों की सेवा की है, जो मेरी असली इच्छाओं को कभी भी पूरा नहीं कर सकते और जिन्होंने मुझे दुख, भय, चिन्ता, शोक तथा मोह ही दिया है।

तात्पर्य : पिंगला शोक कर रही है कि उसने अत्यन्त पापी तथा व्यर्थ के लोगों की सेवा की है। उसने व्यर्थ ही ऐसा सोचा कि वे उसे सुख देंगे और इस तरह उसने अपने हृदय के असली स्वामी, कृष्ण, की सेवा करने में उपेक्षा की। उसे यह समझ में आ गया कि उसने मूर्खतावश धन के लिए इतना संघर्ष किया, क्योंकि उसे ज्ञात न था कि भगवान् अपने निष्ठावान भक्त को समृद्धि प्रदान करने के इच्छुक रहते हैं। इस गणिका (वेश्या) को गर्व था कि उसमें मनुष्यों को रिझाने की क्षमता है, किन्तु अब वह पछता रही है कि उसने प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास क्यों नहीं किया। भगवान् भौतिक जगत के समस्त लेन-देनों से सर्वथा पृथक् रहने वाले हैं। भगवान् कृष्ण ही हर वस्तु के भोक्ता हैं, किन्तु मनुष्य को यह सीखना होगा कि शुद्ध प्रेमभाव से उन्हें किस तरह प्रसन्न किया जा सकता है।

अहो मयात्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ।
स्त्रैणान्नराद्यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती ॥ ३२॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मया—मेरे द्वारा; आत्मा—आत्मा; परितापितः—कष्ट दिया गया; वृथा—व्यर्थ ही; साङ्केत्य—वेश्या की; वृत्त्या—वृत्ति या पेशे द्वारा; अति-विगर्ह्य—अत्यन्त निन्दनीय; वार्तया—वृत्ति द्वारा; स्त्रैणात्—कामुक व्यक्तियों द्वारा; नरात्—मनुष्यों से; या—जो (मैं); अर्थ-तृषः—लोभी; अनुशोच्यात्—दयनीय; क्रीतेन—बिके हुए; वित्तम्—धन; रतिम्—मैथुन सुख; आत्मना—अपने शरीर से; इच्छती—चाहती हुई।

ओह! मैंने अपनी आत्मा को व्यर्थ ही पीड़ा पहुँचाई। मैंने ऐसे कामुक, लोभी पुरुषों के हाथ अपने शरीर को बेचा जो स्वयं दया के पात्र हैं। इस प्रकार मैंने वेश्या के अत्यन्त गर्हित पेशे को अपनाते हुए धन तथा मैथुन का आनन्द पाने की आशा की थी।

तात्पर्य : वेश्यावृत्ति की कला पुरुषों में भोग की लालसा जागृत करने पर आधारित है। स्पष्ट है कि यह वेश्या इतनी मूर्ख थी कि अपने पेशे के बारे में रूमानी धारणा बनाये थी और अपने ग्राहकों के साथ प्रेम-व्यापार द्वारा भोग करना चाहती थी। उसे इसकी अनुभूति नहीं थी कि वे अधम हैं और उनके मन्तव्य गर्हित हैं। पिंगला वेश्या की ही तरह मनुष्य को समझना चाहिए कि भगवान् की भक्ति त्यागने से वह माया का शिकार बनता है और अत्यधिक कष्ट भोगता है।

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंस्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम् ।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; अस्थिभिः—हड्डियों से; निर्मित—बना हुआ; वंश—रीढ़; वंश्य—पसलियाँ; स्थूणम्—हाथ-पैर की हड्डियाँ; त्वचा—चमड़ी से; रोम-नखैः—बाल तथा नाखूनों से; पिनद्धम्—ढका; क्षरत्—टपकता हुआ; नव—नौ; द्वारम्—द्वारों; अगारम्—घर; एतत्—यह; विट्—मल; मूत्र—मूत्र, पेशाब से; पूर्णम्—भरा हुआ; मत्—मेरे अतिरिक्त; उपैति—अपने को लगाती है; का—कौन; अन्या—अन्य स्त्री।

यह भौतिक शरीर एक घर के सदृश है, जिसमें आत्मा रूप में मैं रह रही हूँ। मेरी रीढ़, पसलियों, हाथ तथा पाँव को बनाने वाली हड्डियाँ इस घर की आड़ी तथा पड़ी शहतीरें, थूनियाँ तथा ख भें हैं और पूरा ढाँचा मल-मूत्र से भरा हुआ है तथा चमड़ी, बाल तथा नाखूनों से आच्छादति है। इस शरीर के भीतर जाने वाले नौ द्वार निरन्तर गन्दी वस्तुएँ निकालते रहते हैं। भला मेरे अतिरिक्त कौन स्त्री इतनी मूर्ख होगी कि वह इस भौतिक शरीर के प्रति यह सोचकर अनुरक्त होगी कि उसे इस युक्ति से आनन्द तथा प्रेम मिल सकेगा?

तात्पर्य : शरीर के नौ द्वार, जो भीतर-बाहर खुलते हैं, दो आँखें, दो नथुने, मुँह, दो कान, जननेन्द्रिय तथा मलद्वार हैं। *वंश* का अर्थ रीढ़ के अलावा "बाँस" भी है। हड्डी का ढाँचा बाँस के बने ढाँचे से समानता रखता है। जिस प्रकार बाँस जलकर तुरन्त राख हो जाता है अथवा उसके खंड-खंड किये जा सकते हैं, उसी तरह निरन्तर क्षय होने वाले भौतिक शरीर को किसी भी क्षण पीस कर चूर्ण किया जा सकता है, टुकड़े-टुकड़े किया जा सकता है, डुबोया, जलाया या उसका दम घोटा जा सकता है। अन्ततोगत्वा शरीर को छिन्न-भिन्न होना है, अतएव जो व्यक्ति अप्रिय तत्त्वों से भरे इस तुच्छ शरीर के प्रति अनुरक्ति दिखलाता है, उसके समान अभागा कोई नहीं है।

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः ।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात्काममच्युतात् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

विदेहानाम्—विदेह के निवासियों के; पुरे—नगर में; हि—निश्चय ही; अस्मिन्—इस; अहम्—मैं; एका—अकेली; एव—निस्सन्देह; मूढ—मूर्ख; धीः—बुद्धि वाली; या—जो (मैं ही); अन्यम्—दूसरी; इच्छन्ती—चाहती हुई; असती—नितान्त व्यभिचारिणी होकर; अस्मात्—उन; आत्म-दात्—हमें असली आध्यात्मिक रूप प्रदान करने वाला; कामम्—इन्द्रियतृप्ति; अच्युतात्—भगवान् अच्युत के अतिरिक्त।

निश्चित रूप से इस विदेह नगरी में मैं ही अकेली निपट मूर्ख हूँ। मैंने उन भगवान् की उपेक्षा की है, जो हमें सब कुछ देते हैं, यहाँ तक कि हमारा मूल आध्यात्मिक स्वरूप भी देते हैं। मैंने उन्हें छोड़ कर अनेक पुरुषों से इन्द्रियतृप्ति का भोग करना चाहा है।

सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् ।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ॥ ३५॥

शब्दार्थ

सु-हृत्—शुभेच्छु मित्र; प्रेष्ठ-तमः—नितान्त प्रिय; नाथः—प्रभु; आत्मा—आत्मा; च—भी; अयम्—वह; शरीरिणाम्—समस्त शरीरधारियों के; तम्—उसको; विक्रीय—मोल लेकर; आत्मना—अपने आपको शरणागत करके; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं; रमे—रमण करूँगी; अनेन—भगवान् के साथ; यथा—जिस तरह; रमा—लक्ष्मीदेवी।

भगवान् समस्त जीवों के लिए नितान्त प्रिय हैं, क्योंकि वे हर एक के शुभेच्छु तथा स्वामी हैं। वे हर एक के हृदय में स्थित परमात्मा हैं। अतएव मैं पूर्ण शरणागति का मूल्य चुकाकर तथा भगवान् को मोल लेकर उनके साथ उसी तरह रमण करूँगी, जिस तरह लक्ष्मीदेवी करती हैं।

तात्पर्य : समस्त बद्धजीवों के असली मित्र भगवान् हैं और वे ही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्रदान कर सकते हैं। भगवान् के चरणकमलों में सदैव रहने वाली लक्ष्मीदेवी के आदर्श का अनुगमन करते हुए मनुष्य शाश्वत सुख पा सकता है। मनुष्य को चाहिए कि शरीर रूपी बुरे सौदे का अधिक से अधिक लाभ उठाये और मनसावाचाकर्मणा भगवान् को अपना शरीर अर्पित कर दे। इतना मूल्य चुकाने पर वह भगवान् को मोल ले सकता है, जो हर एक के अत्यन्त प्रिय सुहृद हैं। इस तरह इन्द्रियतृप्ति विषयक मनुष्य की पुरानी लालसा स्वयमेव नियंत्रित हो सकेगी।

कियत्प्रियं ते व्यभजन्कामा ये कामदा नराः ।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

कियत्—कितना; प्रियम्—वास्तविक सुख; ते—वे; व्यभजन्—प्रदान किया है; कामाः—इन्द्रियतृप्ति; ये—तथा जो; काम-दाः—इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले; नराः—पुरुष; आदि—प्रारम्भ; अन्त—तथा अन्त; वन्तः—से युक्त; भार्यायाः—पत्नी के; देवाः—देवतागण; वा—अथवा; काल—काल द्वारा; विद्रुताः—विलग किये गये, अतएव क्षुब्ध।

पुरुष स्त्रियों को इन्द्रियतृप्ति प्रदान करते हैं, किन्तु इन सारे पुरुषों का तथा स्वर्ग में देवताओं का भी आदि और अन्त है। वे सभी क्षणिक सृष्टियाँ हैं, जिन्हें काल घसीट ले जायेगा। अतएव इनमें से कोई भी अपनी पत्नियों को कितना वास्तविक आनन्द या सुख प्रदान कर सकता है?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में हर व्यक्ति मूलतः अपनी इन्द्रियतृप्ति के पीछे लगा रहता है और इस तरह हर व्यक्ति काल के प्रभाव से विनष्ट होता है। भौतिक स्तर पर कोई किसी दूसरे की सहायता नहीं करता। जैसाकि पिंगला को अब पता चल रहा है, तथाकथित भौतिक प्रेम मात्र धोखाधड़ी है।

नूनं मे भगवान्प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा ।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; मे—मुझसे; भगवान्—भगवान्; प्रीतः—प्रसन्न है; विष्णुः—भगवान्; केन अपि—किसी; कर्मणा—कर्म के द्वारा; निर्वेदः—इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति; अयम्—यह; दुराशायाः—भौतिक भोगकी बुरी तरह से आशा करने वाले में; यत्—क्योंकि; मे—मुझमें; जातः—उत्पन्न हुआ है; सुख—सुख; आवहः—लाते हुए।

यद्यपि मैंने भौतिक जगत को भोगने की दुराशा की थी, किन्तु न जाने क्यों मेरे हृदय में विरक्ति उत्पन्न हो चुकी है और यह मुझे अत्यन्त सुखी बना रही है। इसलिए भगवान् विष्णु अवश्य ही मुझ पर प्रसन्न होंगे। मैंने इसे जाने बिना ही उनको तुष्ट करने वाला कोई कर्म अवश्य किया होगा।

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः ।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति ॥ ३८॥

शब्दार्थ

मा—नहीं; एवम्—इस प्रकार; स्युः—हों; मन्द-भाग्यायाः—अभागिनियों के; क्लेशाः—कष्ट; निर्वेद—विरक्ति के; हेतवः—कारण; येन—जिस विरक्ति से; अनुबन्धम्—बन्धन; निर्हृत्य—हटाकर; पुरुषः—पुरुष; शमम्—असली शान्ति; ऋच्छति—प्राप्त करता है।

जिस व्यक्ति में विरक्ति उत्पन्न हो चुकी है, वह भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम के बन्धन त्याग सकता है और जो पुरुष महान् कष्ट भोगता है, वह निराशा के कारण धीरे-धीरे विरक्त हो जाता है तथा भौतिक जगत के प्रति अन्यमनस्क हो उठता है। मेरे महान् कष्ट के कारण ही मेरे हृदय में

ऐसी विरक्ति जागी है; अन्यथा यदि मैं सचमुच अभागिन होती, तो मुझे ऐसी दयार्द्र पीड़ा क्यों झेलनी पड़ती? इसलिए मैं सचमुच भाग्यशालिनी हूँ और मुझे भगवान् की दया प्राप्त हुई है। वे अवश्य ही मुझ पर प्रसन्न हैं।

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः ।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तेन—उनके (भगवान् के) द्वारा; उपकृतम्—अधिक सहायता की; आदाय—स्वीकार करके; शिरसा—मेरे सिर पर, भक्ति से; ग्राम्य—सामान्य इन्द्रियतृप्ति; सङ्गताः—सम्बन्धित; त्यक्त्वा—त्याग कर; दुराशाः—पापपूर्ण इच्छाएँ; शरणम्—शरण में; व्रजामि—अब आ रही हूँ; तम्—उसको; अधीश्वरम्—भगवान्।

भगवान् ने मुझ पर जो महान् उपकार किया है, उसे मैं भक्तिपूर्वक स्वीकार करती हूँ। मैंने सामान्य इन्द्रियतृप्ति के लिए पापपूर्ण इच्छाएँ त्यागकर अब भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है।

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती ।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टा—पूर्णतया तुष्ट; श्रद्दधती—पूर्ण श्रद्धा से युक्त; एतत्—भगवान् की कृपा में; यथा-लाभेन—जो कुछ अपने आप मिल जाय उसी से; जीवती—जीवित; विहरामि—विहार करूँगी; अमुना—उसी एक से; एव—एकमात्र; अहम्—मैं; आत्मना—भगवान् से; रमणेन—प्रेम तथा सुख के असली स्रोत हैं, जो; वै—इसमें कोई सन्देह नहीं।

अब मैं पूर्ण तुष्ट हूँ और मुझे भगवान् की दया पर पूर्ण श्रद्धा है। अतएव जो कुछ मुझे स्वतः मिल जायेगा, उसी से मैं अपना भरण-पोषण (निर्वाह) करूँगी। मैं एकमात्र भगवान् के साथ विहार करूँगी, क्योंकि वे प्रेम तथा सुख के असली स्रोत हैं।

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् ।
ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

संसार—भौतिक जगत; कूपे—अन्धे कुएँ में; पतितम्—गिरा हुआ; विषयैः—इन्द्रियतृप्ति द्वारा; मुषित—चुराई गई; ईक्षणम्—दृष्टि; ग्रस्तम्—पकड़ा हुआ; काल—काल के; अहिना—सर्प द्वारा; आत्मानम्—जीवको; कः—कौन; अन्यः—दूसरा; त्रातुम्—उद्धार करने में समर्थ है; अधीश्वरः—भगवान्।

इन्द्रियतृप्ति के कार्यों द्वारा जीव की बुद्धि हर ली जाती है और तब वह भौतिक जगत के अंधे कुएँ में गिर जाता है। फिर इस कुएँ में उसे कालरूपी भयानक सर्प पकड़ लेता है। बेचारे जीव को ऐसी निराश अवस्था से भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन बचा सकता है?

तात्पर्य : किसी पिछले श्लोक में पिंगला ने कहा था कि देवतागण भी स्त्री को वास्तविक सुख प्रदान कर पाने में अक्षम होते हैं। कोई यह पूछ सकता है कि इस स्त्री को किसने अधिकार दिया है कि वह ब्रह्मा, शिव तथा अन्य महापुरुषों को भी त्याग दे? इसका उत्तर यह दिया गया है कि यदि कोई व्यक्ति सचमुच जीवन की सारी समस्याओं को हल करना चाहता है और भगवद्धाम वापस जाना चाहता है, तो भगवान् के चरणकमलों में शरण लेना ही इसका एकमात्र समाधान है। यह भलीभाँति ज्ञात है कि देवता भी जन्म लेते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जैसाकि स्वयं शिवजी ने कहा है *मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः*—इसमें सन्देह नहीं है कि विष्णु ही हर एक के उद्धारक हैं।

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात् ।
अप्रमत्त इदं पश्येद्ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा; एव—एकमात्र; हि—निश्चय ही; आत्मनः—अपना; गोप्ता—रक्षक; निर्विद्येत—विरक्त हो जाता है; यदा—जब; अखिलात्—सारी भौतिक वस्तुओं से; अप्रमत्तः—भौतिक ज्वर से रहित; इदम्—यह; पश्येत्—देख सकता है; ग्रस्तम्—पकड़ा हुआ; काल—काल के; अहिना—सर्प द्वारा; जगत्—ब्रह्माण्ड।

जब जीव देखता है कि समस्त ब्रह्माण्ड कालरूपी सर्प द्वारा पकड़ा जा चुका है, तो वह गम्भीर तथा विवेकवान् बन जाता है और तब वह अपने को समस्त भौतिक इन्द्रियतृप्ति से विरक्त कर लेता है। उस अवस्था में जीव अपना ही रक्षक बनने का पात्र हो जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में पिंगला कहती है कि भगवान् की कृपा से स्वरूपसिद्ध जीव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को कालरूपी विकराल सर्प के मुख में स्थित देख सकता है। निश्चय ही यह अच्छी स्थिति नहीं है और जो इसे देखता है, उसकी इन्द्रियतृप्ति-इच्छा जाती रहती है। इस तरह भगवत्कृपा से आध्यात्मिक रूप से विवेकशील जीव अपने को माया से बचा सकता है।

चूँकि अब पिंगला मोक्ष के लिए भगवान् की दया हेतु परमेश्वर का महिमागान कर रही है, अतएव यह प्रश्न उठ सकता है : क्या वह प्रेमवश भगवान् की पूजा कर रही है या वह केवल मोक्ष चाहने वाली है और इस संसार से मुक्ति की इच्छुक है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वह अपनी कृष्णभावनाभावित स्थिति में पहले से मुक्त हो चुकी है, भले ही वह इस जगत में क्यों न रह रही हो। अब वह बिना किसी निजी इच्छा के, जिसमें मोक्ष सम्मिलित है, भगवान् की प्रेमाभक्ति मात्र करेगी।

श्रीब्राह्मण उवाच
एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम् ।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—अवधूत ने कहा; एवम्—इस प्रकार; व्यवसित—कृतसंकल्प; मतिः—उसका मन; दुराशाम्—पापी इच्छा; कान्त—प्रेमी; तर्ष—लालायित रहना; जाम्—द्वारा उत्पन्न; छित्त्वा—काट कर; उपशमम्—शान्ति में; आस्थाय—स्थित होकर; शय्याम्—अपनी सेज पर; उपविवेश—बैठ गई; सा—वह।

अवधूत ने कहा : इस तरह अपने मन में संकल्प करके, पिंगला ने अपने प्रेमियों से संभोग करने की पापपूर्ण इच्छाओं को त्याग दिया और वह परम शान्ति को प्राप्त हुई। तत्पश्चात्, वह अपनी सेज पर बैठ गई।

आशा हि परमं दु:खं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

आशा—भौतिक इच्छा; हि—निश्चय ही; परमम्—सबसे बड़ा; दुःखम्—दुख; नैराश्यम्—भौतिक इच्छाओं से मुक्ति; परमम्—सबसे बड़ा; सुखम्—सुख; यथा—जिस तरह; सञ्छिद्य—पूरी तरह काट कर; कान्त—प्रेमियों के लिए; आशाम्—इच्छा; सुखम्—सुखपूर्वक; सुष्वाप—सो गई; पिङ्गला-थे फोर्मेर् प्रोस्तितुते, पिङ्गला.

निस्सन्देह भौतिक इच्छा ही सर्वाधिक दुख का कारण है और ऐसी इच्छा से मुक्ति सर्वाधिक सुख का कारण है। अतएव तथाकथित प्रेमियों से विहार करने की अपनी इच्छा को पूरी तरह छिन्न करके पिंगला सुखपूर्वक सो गई।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''पिंगला की कथा'' नामक आठवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत शिष्यों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

पूर्ण वैराग्य

अब अवधूत ब्राह्मण कुरर पक्षी इत्यादि शेष सात गुरुओं का वर्णन करता है। वह एक अतिरिक्त गुरु, अपने ही शरीर, का भी वर्णन करता है।

कुरर पक्षी से प्राप्त उपदेश यह है कि अनुरक्ति से क्लेश उत्पन्न होता है, किन्तु जो व्यक्ति अनुरक्त नहीं रहता और जिसके कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं होती, वह असीम सुख पाने का पात्र है।

अवधूत ब्राह्मण ने मूर्ख आलसी बालक से यह सीखा कि चिन्तामुक्त होने से मनुष्य भगवान् की पूजा करने में समर्थ होता है और परम आनन्द का अनुभव करता है।

एक युवती से जिसने अपने हाथ की कलाइयों में शंख की केवल एक-एक चूड़ी पहन रखी थी, उसे यह शिक्षा मिली कि मनुष्य को अकेले रहना चाहिए और अपने मन को स्थिर करना चाहिए। तभी मन को भगवान् पर पूरी तरह टिकाया जा सकता है। एक बार इस युवती से शादी करने के इच्छुक कई लोग उसके घर पहुँचे, किन्तु संयोगवश उसके सम्बन्धी घर से जा चुके थे। वह घर के भीतर गई और धान कूट कर उन अप्रत्याशित अतिथियों के लिए भोजन पकाने लगी। उस समय उसकी शंख की चूड़ियाँ एक दूसरे से टकराकर खनक रही थीं, अतएव इस आवाज को रोकने के लिए उसने एक एक करके सारी चूड़ियाँ तोड़ डालीं, जिससे उसके हाथ में एक एक चूड़ी रह गई। जिस तरह दो या इससे अधिक चूड़ियाँ आवाज करती हैं, उसी तरह एक ही स्थान पर यदि दो भी व्यक्ति रहें, अधिक का तो कहना ही क्या, तो उनमें परस्पर झगड़ा हो सकता है और व्यर्थ की गपशप हो सकती है।

अवधूत ब्राह्मण ने बाण बनाने वाले से भी शिक्षा ली। यह व्यक्ति बाण बनाने में इतना खोया हुआ था कि उसने सड़क से गुजर रहे राजा को भी नहीं देखा। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि श्री हरि की पूजा में अपने मन को एकाग्र करे।

अवधूत ब्राह्मण ने सर्प से यह सीख ली कि साधु को चाहिए कि अकेले भ्रमण करे, किसी पूर्व निश्चित स्थान में न ठहरे, सदैव सतर्क तथा गम्भीर रहे, अपनी गतिविधियों को प्रकट नहीं करे, किसी से सहायता न ले और बहुत ही कम बोले।

मकड़ी अपने मुँह से जाला निकालती है और उसे पुन: निगल जाती है। उसने मकड़ी से यह सीख ली कि भगवान् इसी तरह से अपने में से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं और फिर अपने में ही समेट लेते हैं।

पेशस्कृत बर्र जैसा ही रूप धारण करने वाले दुर्बल कीट से अवधूत ब्राह्मण ने यह सीखा कि जीव स्नेह, घृणा तथा भय में से, जिस पर वह अपनी बुद्धि स्थिर कर देता है अगले जन्म में वही स्वरूप प्राप्त करता है।

यह देखते हुए कि क्षणभंगुर शरीर जन्म-मृत्यु के अधीन है, गम्भीर मनुष्य को चाहिए कि इस शरीर से भौतिक अनुरक्ति त्याग दे और अपने उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ज्ञान की खोज में मनुष्य-जीवन के इस दुर्लभ उपहार का ठीक से उपयोग करे।

श्रीब्राह्मण उवाच
परिग्रहो हि दु:खाय यद्यत्प्रियतमं नृणाम् ।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान्यस्त्वकिञ्चन: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मण: उवाच—साधु-ब्राह्मण ने कहा; परिग्रह:—लगाव; हि—निश्चय ही; दु:खाय—दुख देने वाली; यत् यत्—जो जो; प्रिय-तमम्—सर्वाधिक प्रिय है; नृणाम्—मनुष्यों के; अनन्तम्—असीम; सुखम्—सुख; आप्नोति—प्राप्त करता है; तत्—वह; विद्वान्—जानते हुए; य:—जो कोई; तु—निस्सन्देह; अकिञ्चन:—ऐसे लगाव से मुक्त है, जो।

साधु-ब्राह्मण ने कहा : भौतिक जगत में हर व्यक्ति कुछ वस्तुओं को अत्यन्त प्रिय मानता है और ऐसी वस्तुओं के प्रति लगाव के कारण अन्तत: वह दीन-हीन बन जाता है। जो व्यक्ति इसे समझता है, वह भौतिक सम्पत्ति के स्वामित्व तथा लगाव को त्याग देता है और इस तरह असीम आनन्द प्राप्त करता है।

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनोऽन्ये निरामिषा: ।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स-आमिषम्—मांस लिये हुए; कुररम्—बड़ा बाज; जघ्नु:—आक्रमण किया; बलिन:—अत्यन्त बलवान; अन्ये—अन्य; निरामिषा:—मांस से रहित; तदा—उस समय; आमिषम्—मांस; परित्यज्य—छोड़कर; स:—उसने; सुखम्—सुख; समविन्दत—प्राप्त किया।

एक बार बड़े बाजों की एक टोली ने कोई शिकार न पा सकने के कारण एक अन्य दुर्बल बाज पर आक्रमण कर दिया जो थोड़ा-सा मांस पकड़े हुए था। उस समय अपने जीवन को संकट में देखकर बाज ने मांस को छोड़ दिया। तब उसे वास्तविक सुख मिल सका।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों से प्रेरित होकर पक्षी उग्र हो उठते हैं और अन्य पक्षियों को खा जाने के लिए या उनके द्वारा पकड़े हुए मांस को छीनने के लिए मार डालते हैं। बाज, गिध, चील्ह इत्यादि इसी श्रेणी के पक्षी हैं। किन्तु मनुष्य को चाहिए कि अन्यों के साथ हिंसा करने की ईर्ष्यालु प्रवृत्ति का परित्याग कर दे और कृष्णभावनामृत को अंगीकार करे, जिससे वह हर जीव को अपने समान देख

सके। वास्तविक सुख के इस पद पर मनुष्य किसी से ईर्ष्या नहीं करता और किसी को अपना शत्रु नहीं मानता।

न मे मानापमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

न—नहीं; मे—मुझमें; मान—आदर; अपमानौ—अनादर; स्तः—है; न—नहीं है; चिन्ता—चिन्ता; गेह—घरवालों के; पुत्रिणाम्—तथा बच्चों के; आत्म—अपने से; क्रीडः—खिलवाड़ करते हुए; आत्म—अपने में ही; रतिः—भोग करते हुए; विचरामि—विचरण करता हूँ; इह—इस जगत में; बाल-वत्—बच्चे की तरह।

पारिवारिक जीवन में माता-पिता सदैव अपने घर, अपने बच्चों तथा अपनी प्रतिष्ठा के विषय में चिन्तित रहते हैं। किन्तु मुझे इन बातों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। मैं न तो किसी परिवार के लिए चिन्ता करता हूँ, न ही मैं मान-अपमान की परवाह करता हूँ। मैं आत्म जीवन का ही आनन्द उठाता हूँ और मुझे आध्यात्मिक पद पर प्रेम मिलता है। इस तरह मैं पृथ्वी पर बालक की भाँति विचरण करता रहता हूँ।

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो; एव—निश्चय ही; चिन्तया—चिन्ता से; मुक्तौ—मुक्त; परम-आनन्दे—परम सुख में; आप्लुतौ—निमग्न; यः—जो; विमुग्धः—अज्ञानी है; जडः—कार्यकलाप के अभाव में मन्द हुआ; बालः—बालकों जैसा; यः—जो; गुणेभ्यः—प्रकृति के गुणों के प्रति; परम्—भगवान्, जो दिव्य है; गतः—प्राप्त किया हुआ।

इस जगत में दो प्रकार के लोग समस्त चिन्ताओं से मुक्त होते हैं और परम आनन्द में निमग्न रहते हैं—एक तो वे, जो मन्द बुद्धि हैं तथा बालकों के समान अज्ञानी हैं तथा दूसरे वे जो तीनों गुणों से अतीत परमेश्वर के पास पहुँच चुके हैं।

तात्पर्य : जो बड़े ही जोश के साथ भौतिक इन्द्रियतृप्ति की खोज में लगे रहते हैं, वे धीरे धीरे जीवन की दयनीय स्थिति में ठेल दिये जाते हैं, क्योंकि ज्योंही कोई व्यक्ति प्रकृति के नियमों का तनिक भी उल्लंघन करता है, उसे पापों का फल भोगना पड़ता है। इस तरह भौतिक रूप से सतर्क तथा महत्त्वाकांक्षी लोग भी निरन्तर चिन्तामग्न रहते हैं और समय समय पर वे महान् कष्ट में डूबे रहते हैं। किन्तु जो लोग निकम्मे तथा मन्द बुद्धि हैं, वे अपनी ही दुनिया में रहते हैं, किन्तु जो लोग कृष्ण के

शरणागत होते हैं, वे दिव्य आनन्द से ओतप्रोत रहते हैं। अत: मूर्ख तथा भक्त दोनों को इस विचार से शान्त कहा जा सकता है कि वे महत्त्वाकांक्षी लोगों वाली सामान्य चिन्ता से मुक्त रहते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि मन्द बुद्धि मूर्ख तथा भक्त समान पद पर होते हैं। मूर्ख की शान्ति जड़ पत्थर के तुल्य है, जबकि भक्त की तुष्टि पूर्ण ज्ञान पर आधारित होती है।

क्वचित्कुमारी त्वात्मानं वृणानान्गृहमागतान् ।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—एक बार; कुमारी—तरुणी; तु—निस्सन्देह; आत्मानम्—अपने आपको; वृणानान्—पत्नी के रूप में चाहती हुई; गृहम्—घर में; आगतान्—आये हुए; स्वयम्—अपने आप; तान्—उन पुरुषों को; अर्हयाम् आस—सत्कार किया; क्व अपि—अन्य स्थान को; यातेषु—चले गये हुए; बन्धुषु—अपने सारे सम्बन्धियों के।

एक बार, विवाह योग्य एक तरुणी अपने घर में अकेली थी, क्योंकि उसके माता-पिता तथा सम्बन्धी उस दिन किसी अन्य स्थान को चले गये थे। उस समय कुछ व्यक्ति उससे विवाह करने की विशेष इच्छा से उसके घर आये। उसने उन सबों का सत्कार किया।

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन्रहसि पार्थिव ।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—अतिथियों का; अभ्यवहार-अर्थम्—उन्हें खिलाने के वास्ते; शालीन्—धान; रहसि—अकेली होने से; पार्थिव—हे राजा; अवघ्नन्त्याः—कूट रही; प्रकोष्ठ—अपनी कलाइयों में; स्थाः—स्थित; चक्रुः—बनाया; शङ्खाः—शंख से बनी चूड़ियाँ; स्वनम्—आवाज; महत्—अत्यधिक।

वह लड़की एकान्त स्थान में चली गई और अप्रत्याशित अतिथियों के लिए भोजन बनाने की तैयारी करने लगी। जब वह धान कूट रही थी, तो उसकी कलाइयों की शंख की चूड़ियाँ एक-दूसरे से टकराकर जोर से खड़खड़ा रही थीं।

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती वृईडिता ततः ।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान्द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; तत्—उस आवाज को; जुगुप्सितम्—लज्जास्पद; मत्वा—सोचकर; महती—अत्यन्त बुद्धिमती; व्रीडिता—शर्मीली; ततः—उसकी बाँहों से; बभञ्ज—उसने तोड़ दिया; एक-एकशः—एक-एक करके; शङ्खान्—शंख की चूड़ियाँ; द्वौ द्वौ—प्रत्येक में दो-दो; पाण्योः—अपने दोनों हाथों में; अशेषयत्—छोड़ दिया।

उस लड़की को भय था कि ये लोग उसके परिवार को गरीब समझेंगे, क्योंकि उनकी पुत्री धान कूटने के तुच्छ कार्य में लगी हुई है। अत्यन्त चतुर होने के कारण शर्मीली लड़की ने अपनी बाँहों में पहनी हुई शंख की चूड़ियों में से प्रत्येक कलाई में केवल दो दो चूड़ियाँ छोड़कर शेष सभी चूड़ियाँ तोड़ दीं।

उभयोरप्यभूद्घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्वशङ्खयोः ।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद्ध्वनिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उभयोः—(प्रत्येक हाथ में) दो से; अपि—फिर भी; अभूत्—हो रहा था; घोषः—शब्द, आवाज; हि—निस्सन्देह; अवघ्नन्त्याः—धान कूट रही; स्व-शङ्खयोः—शंख की दो-दो चूड़ियों में से; तत्र—वहाँ; अपि—निस्सन्देह; एकम्—केवल एक; निरभिदत्—उसने अलग कर दिया; एकस्मात्—उस एक आभूषण से; न—नहीं; अभवत्—हुआ; ध्वनिः—शब्द।

तत्पश्चात्, ज्योंही वह लड़की धान कूटने लगी प्रत्येक कलाई की दो-दो चूड़ियाँ टकराकर आवाज करने लगीं। अतएव उसने हर कलाई में से एक-एक चूड़ी उतार ली और जब हर कलाई में एक-एक चूड़ी रह गई, तो फिर आवाज नहीं हुई।

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम ।
लोकाननुचरन्नेताल्लोकतत्त्वविवित्सया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अन्वशिक्षम्—मैंने अपनी आँखों से देखा है; इमम्—इस; तस्याः—उस लड़की के; उपदेशम्—शिक्षा; अरिम्-दम—हे शत्रु का दमन करने वाले; लोकान्—संसारों में; अनुचरन्—घूमते हुए; एतान्—इन; लोक—संसार का; तत्त्व—सत्य; विवित्सया—जानने की इच्छा से।

हे शत्रुओं का दमन करने वाले, मैं इस जगत के स्वभाव के बारे में निरन्तर सीखते हुए पृथ्वी-भर में विचरण करता हूँ। इस तरह मैंने उस लड़की से स्वयं शिक्षा ग्रहण की।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्राह्मण यदुराज से बतला रहा है कि वह कोई सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं प्रस्तुत कर रहा। प्रत्युत संसार-भर में विचरण करते हुए इस सतर्क विचारवान ब्राह्मण ने उपर्युक्त समस्त गुरुओं से स्वयं शिक्षा ग्रहण की है। इस प्रकार अपने को ईश्वर की तरह सर्वज्ञ न मानकर वह विनीत भाव से बतलाता है कि उसने अपनी यात्रा के दौरान इन उपदेशों को निष्ठापूर्वक सीखा है।

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव वसेत्तस्मात्कुमार्या इव कङ्कणः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

वासे—घर में; बहूनाम्—अनेक लोगों के; कलहः—झगड़ा; भवेत्—होगा; वार्ता—बातचीत; द्वयोः—दो लोगों के; अपि—भी; एकः—अकेला; एव—निश्चय ही; वसेत्—रहना चाहिए; तस्मात्—इसलिए; कुमार्याः—कुमारी (लड़की) के; इव—सदृश; कङ्कणः—चूड़ी।

जब एक स्थान पर अनेक लोग साथ साथ रहते हैं, तो निश्चित रूप से झगड़ा होगा। यहाँ तक कि यदि केवल दो लोग ही एक साथ रहें, तो भी जोर-जोर से बातचीत होगी और आपस में मतभेद रहेगा। अतएव झगड़े से बचने के लिए मनुष्य को अकेला रहना चाहिए, जैसा कि हम लड़की की चूड़ी के दृष्टान्त से शिक्षा पाते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में एक अच्छा-सा उदाहरण दिया है। चूँकि इस कथा में उल्लिखित लड़की का कोई पति न था, इसलिए उसे अपनी चूड़ियाँ उतार कर आतिथेय का कर्तव्य निभाना था, जिससे उसकी कलाई में केवल एक-एक चूड़ी रह गई थी। इसी तरह *ज्ञानयोग* विधि की माँग है कि चिन्तन में लगे साधु अकेले रहें, किसी अन्य के साथ न रहें। चूँकि ज्ञानी लोग चिन्तन पर अपना जीवन अर्पित करते हैं, अतएव यदि अनेक ज्ञानी एक साथ रहें, तो उनमें लगातार तर्क-वितर्क चलता रहेगा। इसलिए शान्त वातावरण बनाये रखने के लिए उन्हें अकेले रहना चाहिए। दूसरी ओर एक राजकुमारी किसी भव्य राजकुमार के साथ विवाहित किये जाने के बाद आकर्षक वस्त्र एवं आभूषण धारण कर प्रेम करने के लिए राजकुमार के पास जाती है। इसी तरह भक्तिदेवी अपने को उन असंख्य वैष्णव रूपी आभूषणों से सँवारती है, जो भगवन्नाम की मधुर ध्वनि का आस्वादन करने के लिए एकत्र होते हैं। चूँकि शुद्ध वैष्णवजन कभी भी अभक्तों के साथ घनिष्ठतापूर्वक मिलते-जुलते नहीं, अत: यह कहा जा सकता है कि वे अकेले रहते हैं, अतएव वे भी इस श्लोक के अभिप्राय को पूरा करते हैं। शुद्ध वैष्णवों के बीच कोई झगड़ा नहीं हो सकता, क्योंकि वे इच्छाहिनता के वास्तविक पद पर होते हैं उन्हें मोक्ष या योगशक्ति की भी इच्छा नहीं रहती, इन्द्रियतृप्ति की तो कहना ही क्या! चूँकि वे सभी कृष्ण-भक्त होते हैं, अतएव भगवान् का गुणगान करने के लिए वे एक-दूसरे से खुलकर मिल-जुल सकते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.२५.३४) में कहा गया है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्

मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।

येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य

सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

''भक्ति-कार्यों में अनुरक्त तथा मेरे चरणकमलों की सेवा में सदैव लगा रहने वाला शुद्ध भक्त कभी भी मुझसे एकाकार नहीं होना चाहता। ऐसा भक्त जो अटल भक्ति में लगा रहता है मेरी लीलाओं तथा कार्यकलापों का सदैव गुणगान करता है।''

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है ''इस कथा की लड़की ने अपनी प्रत्येक कलाई में एक-एक चूड़ी इसीलिए रखी, जिससे चूड़ियों में जोर-जोर का झगड़ा न हो सके। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि वह उन लोगों की संगति छोड़ दे, जो भगवान् की भक्ति नहीं करते।'' सीखने योग्य वास्तविक उपदेश यही है। असली वैष्णव सदैव शुद्ध और निर्मल चरित्र वाला होता है। किन्तु उन स्थानों में जहाँ अभक्तगण जुटेंगे, वहाँ निश्चित रूप से भगवद्भक्ति की ईर्ष्यापूर्ण आलोचना होगी और जो लोग भगवत्विहीन सच्चाई का विश्लेषण करना चाहते हैं, वे दर्शन के नाम पर काफी उधम तथा शोर मचाएँगे। इसलिए मनुष्य को उन स्थानों में रहना चाहिए, जहाँ भगवान् की पूजा वैदिक मानकों के अनुसार उचित तरीके से की जाती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् कृष्ण की महिमा का वर्णन करता है, तो पारस्परिक संगति में कोई बाधा नहीं आएगी। किन्तु जहाँ भगवान् के अतिरिक्त नाना प्रकार के कार्य करने होते हैं, वहाँ सामाजिक आदान-प्रदान में बाधा पहुँचेगी।

अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह उन लोगों से दूर रहे, जो भक्ति के शत्रु हैं, अन्यथा जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करना दूभर हो जायेगा। जो व्यक्ति सदा भगवद्भक्तों की संगति में रहता है, वह एक तरह से अकेले ही रहता है। यदि वह ऐसे समुदाय में रहता है, जहाँ भगवान् की इच्छा ही सर्वोपरि होती है, तो वह ऐसी विरोधी स्थितियों से दूर रह सकता है, जो अपनी भौतिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए होड़ में लगे अनेक व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न होती हैं। ब्राह्मण ने लड़की की चूड़ियों से बुद्धिमानी से यह शिक्षा ली।

इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य निम्नलिखित उद्धरण देते हैं—

असज्जनैस्तु संवासो न कर्तव्यः कथञ्चन।

यावद् यावच्च बहुभिः सज्जनै स तु मुक्ति-दः॥

"मनुष्य को किसी भी दशा में उन व्यक्तियों के साथ नहीं रहना चाहिए, जो भगवद्भक्त नहीं हैं। दूसरी ओर, उसे अनेक भक्तों के साथ रहना चाहिए, क्योंकि ऐसी संगति मुक्ति देने वाली है।"

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः ।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; एकत्र—एक स्थान में; संयुञ्ज्यात्—स्थिर करे; जित—जीता हुआ; श्वासः—साँस; जित—जीता हुआ; आसनः—योगासन; वैराग्य—वैराग्य द्वारा; अभ्यास-योगेन—योगाभ्यास से; ध्रियमाणम्—स्थिर किया हुआ मन; अतन्द्रितः—अत्यन्त सावधानीपूर्वक।

योगासनों में दक्षता प्राप्त कर लेने तथा श्वास-क्रिया पर नियंत्रण पा लेने पर मनुष्य को चाहिए कि वैराग्य तथा नियमित योगाभ्यास द्वारा मन को स्थिर करे। इस तरह मनुष्य को योगाभ्यास के एक लक्ष्य पर ही सावधानी से अपने मन को स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : यह देखते हुए कि सभी वस्तुएँ नष्ट होनी हैं, मनुष्य को वैराग्य उत्पन्न करना चाहिए। इस तरह उसे नियमित योगाभ्यास करना चाहिए, जिसका इस युग में अर्थ है कि वह हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह अवधूत ब्राह्मण *भक्ति-मिश्र अष्टांगयोग* की संस्तुति कर रहा है।

भौतिक जगत की भोगेच्छा इतनी प्रबल होती है कि मन बिना लगाम के इधर-उधर विचरण करता है। इसीलिए *ध्रियमाणम्* कहा गया है, अर्थात् मन को जीवन के लक्ष्य भगवान् में स्थिर करना चाहिए। मानसिक एकाग्रता की पूर्णावस्था *समाधि* कहलाती है, जिसमें आन्तरिक तथा बाह्य दृष्टि में कोई भेद नहीं रह जाता, क्योंकि परम सत्य को सर्वत्र देखा जा सकता है।

योग-विधि में मनुष्य को ठीक से बैठना होता है, तभी शरीर के भीतर के विभिन्न प्राणों को वश में किया जा सकता है। श्वास पर नियंत्रण पा लेने पर, मन को उच्चतर चेतना में आसानी से स्थिर किया जा सकता है, क्योंकि मन शारीरिक प्राणों की क्रियाओं पर आश्रित होता है। भले ही मन को क्षणिक रूप से नियंत्रण में कर लिया जाय, किन्तु यदि मनुष्य इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से अभिभूत हो जाता है, तो मन पुनः हाथ से निकल जाता है। इस तरह यह श्लोक भौतिक मोह से वैराग्य पर बल देता है। इसे *अभ्यास योग* द्वारा अर्थात् कृष्णभावनामृत के नियमित अभ्यास द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और यही सर्वोच्च योग पद्धति है, जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४७) में पुष्टि हुई है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत:॥

"और समस्त योगियों में से, जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण है, अपने अन्त:करण में मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है, वह योग में मुझसे परम अन्तरंग रूप से जुड़ा रहता है और सबों में सर्वोच्च है। यही मेरा मत है।"

यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेत-
च्छनै: शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून् ।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें (भगवान् में); मन:—मन; लब्ध—प्राप्त किया हुआ; पदम्—स्थायी पद; यत् एतत्—वही मन; शनै: शनै:—धीरे-धीरे, एक-एक पग करके; मुञ्चति—त्याग देता है; कर्म—सकाम कर्मों के; रेणून्—कल्मष को; सत्त्वेन—सतोगुण द्वारा; वृद्धेन—प्रबल हुए; रज:—रजोगुण; तम:—तमोगुण; च—भी; विधूय—त्यागकर; निर्वाणम्—दिव्य स्थिति, जिसमें मनुष्य अपने ध्यातव्य से संयुक्त हो जाता है; उपैति—प्राप्त करता है; अनिन्धनम्—बिना ईंधन के।

जब मन भगवान् पर स्थिर हो जाता है, तो उसे वश में किया जा सकता है। स्थायी दशा को प्राप्त करके मन भौतिक कार्यों को करने की दूषित इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। इस तरह सतोगुण के प्रबल होने पर मनुष्य रजो तथा तमोगुण का पूरी तरह परित्याग कर सकता है और धीरे धीरे सतोगुण से भी परे जा सकता है। जब मन प्रकृति के गुण-रूपी ईंधन से मुक्त हो जाता है, तो संसार-रूपी अग्नि बुझ जाती है। तब उसका सीधा सम्बन्ध दिव्य स्तर पर अपने ध्यान के लक्ष्य, परमेश्वर, से जुड़ जाता है।

तात्पर्य : प्रकृति के तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर बड़ी बड़ी बाधाएँ उत्पन्न करती है और यह खतरा बना रहता है कि मनुष्य कहीं अज्ञान के अंधकार में न जा गिरे। जो लोग व्यावहारिक मनोविज्ञान में अनुभवी हैं, वे अनियंत्रित मन के खतरों से परचिति रहते हैं और मन को वश में लाने का निरन्तर प्रयास करते हैं। यदि मनुष्य अपने को रजो तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त कर ले, तो जीवन अत्यन्त मंगलमय हो जाय। मन को वश में करना तथा इस तरह प्रकृति के गुणों के प्रभाव से अपने को मुक्त कर लेना ही जीवन में वास्तविक प्रगति करने का एकमात्र साधन है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में *यस्मिन्* शब्द भगवान् का द्योतक है, जो समस्त आनन्द के

आगार हैं। मन की लालसाओं का परित्याग यह नहीं बतलाता कि निर्विशेष से तादाम्य हो गया है, जैसाकि स्वप्नरहित निद्रा में अनुभव किया जाता है। जैसे कि इस श्लोक में कहा गया है *सत्त्वेन वृद्धेन* पहले सतोगुण में दृढ़ता से स्थापित होकर, तब धीरे-धीरे आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठा जाय, जहाँ मनुष्य भगवान् के साथ रह सके।

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद्बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; एवम्—इस प्रकार; आत्मनि—भगवान् में; अवरुद्ध—स्थिर; चित्तः—मन; न—नहीं; वेद—जानता है; किञ्चित्—कुछ भी; बहिः—बाहरी; अन्तरम्—आन्तरिक; वा—अथवा; यथा—जिस तरह; इषु—बाणों का; कारः—बनाने वाला; नृ-पतिम्—राजा को; व्रजन्तम्—जाते हुए; इषौ—बाण में; गत-आत्मा—लीन होकर; न ददर्श—नहीं देखा; पार्श्वे—अपनी बगल में।

इस प्रकार जब मनुष्य की चेतना परम सत्य भगवान् पर पूरी तरह स्थिर हो जाती है, तो उसे द्वैत अथवा आन्तरिक और बाह्य सच्चाई नहीं दिखती। यहाँ पर एक बाण बनाने वाले का दृष्टान्त दिया गया है, जो एक सीधा बाण बनाने में इतना लीन था कि उसने अपने बगल से गुजर रहे राजा तक को नहीं देखा।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब राजा किसी जन-मार्ग में से होकर चलता है, तो उसके आगे आगे नगाड़े तथा अन्य बाज-गाजे बजते रहते हैं और उसके साथ सिपाही तथा अन्य लोग रहते हैं। किन्तु बाण बनाने वाला अपनी कर्मशाला के पास से गुजरती हुई इस शाही धूमधाम को नहीं देख पाया, क्योंकि वह बाण को तेज तथा सीधा करने के इस निर्धारित कार्य में लीन था। जो व्यक्ति परम सत्य श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति में लीन रहता है, वह भौतिक मोह पर ध्यान नहीं देता। इस श्लोक में *बहिस्* शब्द इन्द्रियतृप्ति की असंख्य वस्तुओं यथा भोजन, पेय, यौन इत्यादि का द्योतक है, जो बद्धजीव की इन्द्रियों को भौतिक द्वन्द्व में खींच लाती हैं। *अन्तरम्* शब्द विगत इन्द्रियतृप्ति की स्मृति अथवा भविष्य की भौतिक अवस्थाओं के स्वप्नों एवं आशाओं का द्योतक है। जो व्यक्ति सर्वत्र परम सत्य श्रीकृष्ण को देखता है, वह आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के मोहों का बहिष्कार कर देता है। यह *मुक्तिपद* कहलाता है। इस पद पर, न तो इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकर्षण रहता है, न विकर्षण, प्रत्युत परम

सत्य कृष्ण में प्रेमपूर्ण तल्लीनता एवं भक्ति द्वारा उन्हें प्रसन्न करने की महती इच्छा रहती है। जो व्यक्ति कृष्ण की सत्यता को त्यागता है, उसे मानसिक चिन्तन के राज्य में व्यर्थ घूमना पड़ता है। जो व्यक्ति यह नहीं देख पाता कि प्रत्येक वस्तु के आधार-रूप परम सत्य भगवान् कृष्ण हैं, वह इस भ्रान्त धारणा से मोहग्रस्त होता रहेगा कि कुछ ऐसा है, जो कृष्ण नहीं है। प्रत्येक वस्तु भगवान् से उद्भूत है और वे ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं। यह साधारण ज्ञान ही वास्तविक अस्तित्व की स्थिति है।

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः ।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥ १४॥

शब्दार्थ

एक—अकेला; चारी—विचरणशील; अनिकेतः—बिना स्थिर निवास के; स्यात्—होए; अप्रमत्तः—अत्यन्त सतर्क होने से; गुहा-आशयः—एकान्त रहते हुए; अलक्ष्यमाणः—बिना पहचाना जाकर; आचारैः—अपने कार्यों से; मुनिः—मुनि; एकः—संगी रहित; अल्प—बहुत कम; भाषणः—बोलते हुए।

सन्त-पुरुष को अकेले रहना चाहिए और किसी स्थिर आवास के बिना, निरन्तर विचरण करते रहना चाहिए। सतर्क होकर, उसे एकान्तवास करना चाहिए और इस तरह से कार्य करना चाहिए कि वह अन्यों द्वारा पहचाना या देखा न जा सके। उसे संगियों के बिना इधर-उधर जाना चाहिए और जरूरत से ज्यादा बोलना नहीं चाहिए।

तात्पर्य : युवा लड़की की शंख-चूड़ियों से सम्बन्धित पूर्ववर्ती कथा यह बतलाती है कि सामान्य योग-विधियों में लगे हुए साधु-पुरुषों को भी अकेले रहना चाहिए जिससे झगड़े या उत्पात से बचा जा सके। दूसरे शब्दों में, सामान्य योग-विधियों में लगे हुए व्यक्तियों को एक-दूसरे की भी संगति नहीं करनी चाहिए। यह श्लोक परोक्ष रूप से उस सर्प को बतलाता है, जो मनुष्यों से हमला किये जाने के भय से एकान्त में रहता है। इस दृष्टान्त से हम यह सीखते हैं कि सन्त-पुरुष को सामान्य भौतिकतावादी व्यक्तियों की संगति नहीं करनी चाहिए। उसे स्थायी आवास बनाने से भी बचना चाहिए और उसे अन्यों द्वारा अनदेखा रहकर विचरण करना चाहिए।

संसार में हमारी व्यस्तता ही हमारे दुख का कारण है। ऐसी व्यस्तता से हमारे जीवन का असली उद्देश्य, कृष्णभावनामृत, नष्ट होता है। मनुष्य को चाहे, जैसे भी हो सके, भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम से गहरे लगाव को छोड़ देना चाहिए। उसे वैराग्य का अभ्यास करना चाहिए और कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों की शरण लेने से उसका मंगलमय जीवन शुरू होगा। अपने जीवन को वर्णाश्रम पद्धति के

अनुसार व्यवस्थित करके मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की दिशा में पहला डग भर सकता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को ईमानदारी का पेशा अपनाना चाहिए और उसे अपना यौन-जीवन या तो ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी की भाँति पूर्णतया त्याग कर या फिर विवाहित गृहस्थ के रूप में व्यवस्थित करना चाहिए। अपना पेशा तथा अपने निजी जीवन को नियमित बनाये बिना कुव्यवस्था बनी रहेगी और आध्यात्मिक प्रगति कर पाना कठिन हो जायेगा। भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम के प्रति लगावों का आधार भौतिक जगत में दीर्घकालीन अनुभव होते हैं। वे आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग में रोड़े बनते हैं और यदि उन्हें उसी रूप में रहने दिया जाता है, तो आध्यात्मिक प्रगति अत्यन्त कठिन हो जाती है। चैतन्य महाप्रभु ने अपने उदाहरण तथा उपदेश से यह शिक्षा दी है कि भक्त को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इन सिद्धान्तों का पालन करने से परम सिद्धि के मार्ग में अग्रसर हुआ जा सकता है। इस तरह मनुष्य को सामान्य सामाजिक प्रथा से ऊपर उठना होगा, जो जीव को व्यर्थ की इन्द्रियतृप्ति की ओर ले जाती है।

गृहारम्भो हि दुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

गृह—घर का; आरम्भः—निर्माण; हि—निश्चय ही; दुःखाय—दुखदायी; विफलः—व्यर्थ; च—भी; अध्रुव—अस्थायी; आत्मनः—जीव का; सर्पः—साँप; परकृतम्—अन्यों द्वारा बनाया गया; वेश्म—घर; प्रविश्य—घुस कर; सुखम्—सुखपूर्वक; एधते—दिन काटता है।

जब नश्वर शरीर में वास करने वाला मनुष्य सुखी घर बनाने का प्रयास करता है, तो उसका परिणाम व्यर्थ तथा दुखमय होता है। किन्तु साँप अन्यों द्वारा बनाये गये घर में घुस जाता है और सुखपूर्वक रहता है।

तात्पर्य : सर्प में अपना घर बनाने की प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु वह अन्य प्राणियों द्वारा बनाये गये उपयुक्त स्थान में रहता है। इस तरह वह घर बनाने की झंझट अपने सिर मोल नहीं लेता। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती, इंगित करते हैं कि यद्यपि भौतिकतावादी लोग बिजली, परिवहन, हवाई जहाज इत्यादि का आविष्कार करने और उनका बड़े पैमाने पर उत्पादन करने में अपार कष्ट झेलते हैं, किन्तु अन्ततः ये सारी वस्तुएँ उन वैष्णवों की सुविधा के लिए हैं, जो कृष्णभावनामृत का प्रचार कर रहे हैं। कर्मीजन सदैव ऐसा कष्ट उठायेंगे और भक्तगण ऐसे श्रमपूर्ण उत्पादन को भगवान् की सेवा में लगाकर

उन्हें ही अर्पित करते रहेंगे। भक्तगण जीवन की परम सिद्धि की चिन्ता में लगे रहने से भौतिक प्रगति के लिए स्वयं संघर्ष नहीं करते। दूसरी ओर, भक्तों को प्राचीनकाल की संयमित जीवन-शैली का बनावटी रूप से अनुकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। भक्त का लक्ष्य अच्छे से अच्छे तरीके से कृष्ण की सेवा करना है, इसलिए भक्तगण सुन्दर महलों को एवं सभी प्रकार के ऐश्वर्य को किसी निजी लगाव के कारण नहीं ग्रहण करते, अपितु इसलिए कि इन वस्तुओं को भगवान् की सेवा में लगाया जा सके। यदि कोई व्यक्ति ऐसी वस्तुओं का भोग करने की इच्छा रखता है, तो वह शुद्ध भक्ति के पद से नीचे गिर जाता है। भौतिकतावादी लोग तथाकथित योगाभ्यास का दुरुपयोग अपनी काम-शक्ति को जागृत करने अथवा अपने विगत बद्ध जीवन का व्यर्थ ही स्मरण करने के लिए करते हैं। इस तरह वे इन्द्रियतृप्ति की अनन्त खोज के लिए योग का उपयोग करते हुए मावन-जीवन के वास्तविक लक्ष्य को नहीं समझ पाते।

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया ।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ।
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एकः—एकमात्र; नारायणः—भगवान्; देवः—ईश्वर; पूर्व—पहले; सृष्टम्—उत्पन्न किया गया; स्व-मायया—अपनी ही शक्ति से; संहृत्य—अपने में समेट कर; काल—समय के; कलया—अंश से; कल्प-अन्ते—संहार के समय; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; ईश्वरः—परम नियन्ता; एकः—एकमात्र; एव—निस्सन्देह; अद्वितीयः—अनुपम; अभूत्—बन गया; आत्म-आधारः—हर वस्तु के आगार तथा आश्रय स्वरूप; अखिल—समस्त शक्तियों के; आश्रयः—आगार।

ब्रह्माण्ड के स्वामी नारायण सभी जीवों के आराध्य ईश्वर हैं। वे किसी बाह्य सहायता के बिना ही अपनी शक्ति से इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं और संहार के समय वे ब्रह्माण्ड को अपने कालरूपी स्वांश से नष्ट करते हैं और बद्धजीवों समेत समस्त ब्रह्माण्डों को अपने में समेट लेते हैं। इस तरह उनका असीम आत्मा ही समस्त शक्तियों का आगार तथा आश्रय है। सूक्ष्म प्रधान, जो समस्त विराट जगत का आधार है, भगवान् के ही भीतर सिमट जाता है और इस तरह उनसे भिन्न नहीं होता। संहार के फलस्वरूप वे अकेले ही रह जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि इस अध्याय के श्लोक २१ में बतलाया जायेगा भगवान् द्वारा ब्रह्माण्ड के स्वतंत्र सृजन तथा संहार की तुलना मकड़ी द्वारा अपना जाल बनाने तथा उसे समेटने से की जा सकती है। इस

श्लोक में *एक* शब्द दो बार इसलिए आया है कि भगवान् केवल एक हैं और ब्रह्माण्ड का सारा कार्य तथा उनकी आध्यात्मिक लीलाएँ उनकी ही शक्ति से संचालित है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में कारणार्णवशायी विष्णु का उल्लेख है। *आत्माधार* तथा *अखिलाश्रय* ये दोनों ही शब्द यह सूचित करते हैं कि नारायण समस्त जीवों के आगार अथवा आश्रय हैं। *आत्माधार* बतलाता है कि भगवान् का निजी शरीर हर वस्तु का आश्रय है। महाविष्णु आदि भगवान् कृष्ण के स्वांश हैं, जिनके शरीर से असंख्य शक्तियाँ विस्तार पाकर भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों को प्रकट करती हैं। *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार ये असंख्य लोक भगवान् के शरीर से ही उद्भूत ब्रह्मज्योति के ही भीतर टिके रहते हैं। इस तरह कृष्ण ईश्वर, अर्थात् परम नियन्ता हैं।

कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ १७॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः ।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कालेन—काल द्वारा; आत्म-अनुभावेन—भगवान् की निजी शक्ति द्वारा; साम्यम्—सन्तुलन को; नीतासु—लाया जाकर; शक्तिषु—भौतिक शक्ति में; सत्त्व-आदिषु—सतो इत्यादि गुण.; आदि-पुरुषः—शाश्वत भगवान्; प्रधान-पुरुष-ईश्वरः—प्रधान तथा जीवों के परम नियन्ता; पर—मुक्तजीवों या देवताओं के; अवराणाम्—सामान्य बद्धजीवों के; परमः—परम आराध्य; आस्ते—विद्यमान है; कैवल्य—मुक्त जीवन; संज्ञितः—संज्ञा वाला, के नाम वाला; केवल—निर्मल; अनुभव—अन्तर्ज्ञात का अनुभव; आनन्द—आनन्द; सन्दोहः—समग्रता; निरुपाधिकः—उपाधिधारी सम्बन्धों से रहित।.

जब भगवान् काल के रूप में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं और सतोगुण जैसी अपनी भौतिक शक्तियों को प्रधान (निरपेक्ष साम्य अवस्था) तक ले जाते हैं, तो वे उस निरपेक्ष अवस्था (प्रधान) तथा जीवों के भी परम नियन्ता बने रहते हैं। वे समस्त जीवों के भी आराध्य हैं, जिनमें मुक्त आत्मा, देवता तथा सामान्य बद्धजीव सम्मिलित हैं। भगवान् शाश्वत रूप से किसी भी उपाधि से मुक्त रहते हैं और वे आध्यात्मिक आनन्द की समग्रता से युक्त हैं, जिसका अनुभव भगवान् के आध्यात्मिक स्वरूप का दर्शन करने पर होता है। इस तरह भगवान् ''मुक्ति'' का पूरा पूरा अर्थ प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : जो व्यक्ति परम सत्य या भगवान् में अपने मन को स्थिर करता है, वह भौतिक चिन्ता की तरंगों से तुरन्त मुक्त हो जाता है, क्योंकि भगवान् का दिव्य रूप किसी भी तरह के कल्मष या

उपाधि से सर्वथा रहित होता है। अल्पज्ञ व्यक्ति इस तर्कहीन सिद्धान्त को मानते हैं कि भगवान् अपनी सृष्टि में रूपान्तरित हो जाते हैं और उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। वे भ्रमवश यह कल्पना करते हैं कि वे अपने व्यक्तित्व को विराट में लीन करके भगवान् के ही तुल्य बन सकते हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* के मतानुसार भगवान् निर्विशेष नहीं होते, अपितु दिव्य गुणों से युक्त होते हैं। प्रकृति के तीनों गुण उनकी कनिष्ठ शक्ति हैं और सर्वशक्तिमान काल जिस पर सारे गुण आश्रित होते हैं, भगवान् का साक्षात् अंश है। इस प्रकार भगवान् भौतिक जगत का सृजन, पालन और संहार करते हैं, फिर भी उससे बिल्कुल विलग रहते हैं। उन बद्धजीवों को, जो भगवान् की कनिष्ठ सृष्टि का लाभ उठाना चाहते हैं, भगवान् ऐसा करने के लिए प्रेरित करते हैं और इस तरह वे नश्वर भौतिक जगत के नकली भोक्ता बन जाते हैं। किन्तु जब मनुष्य को यह व्यावहारिक अनुभव प्राप्त होता है कि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर, तो शाश्वत आत्मा के आवरण मात्र हैं, तो वह भौतिक अनुरक्ति की मूर्खता त्याग कर भगवान् में अनुरक्त हो जाता है। वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझने लगता है कि वह न तो पदार्थ का भोग करने की है, न भगवान् में लीन होने की। उसकी असली स्थिति तो ईश्वर के दास होने की है। भगवान् के प्रति की गई सेवा शाश्वत, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण होती है और ऐसी सेवा के बल पर मनुष्य मुक्त हो जाता है तथा उसके कार्यकलाप यशस्वी होते हैं। ऐसी सेवा शाश्वत होती है और इससे वह धीरे धीरे *केवलानुभवानन्द-सन्दोह* के पद को प्राप्त होता है, अर्थात् भगवान् के साकार रूप का दर्शन करके आनन्द के सागर में लीन हो जाता है।

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।
सङ्क्षोभयन्सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

केवल—शुद्ध; आत्म—स्वयं की; अनुभावेन—शक्ति से; स्व-मायाम्—अपनी ही शक्ति को; त्रि—तीन; गुण—गुण; आत्मिकाम्—से निर्मित; सङ्क्षोभयन्—क्षुब्ध करते हुए; सृजति—प्रकट करता है; आदौ—सृष्टि के समय; तया—उस शक्ति से; सूत्रम्—महत-तत्त्व को, जो कर्म की शक्ति से पहचाना जाता है; अरिन्दम—हे शत्रुओं का दमन करने वाले।

हे शत्रुओं के दमनकर्ता, सृष्टि के समय भगवान् अपनी दिव्य शक्ति का विस्तार काल रूप में करते हैं और वे तीन गुणों से बनी हुई अपनी भौतिक शक्ति, अर्थात् माया को क्षुब्ध करके महत तत्त्व को उत्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : *केवल* शब्द का अर्थ है "शुद्ध" और यह सूचित करता है कि *काल-शक्ति* दिव्य शक्ति है, जो उनके निजी शरीर से अभिन्न है। ब्राह्मण यहाँ पर यदुराज को *अरिन्दम* कहकर सम्बोधित करता है, जो यह इंगित करता है कि यद्यपि माया की चर्चा चल रही है, किन्तु राजा को इससे तनिक भी चिन्तित नहीं होना चाहिए, क्योंकि भगवान् का सच्चा भक्त होने से वह जीवन के उन असली शत्रुओं काम, क्रोध, लोभ को दमित करने में समर्थ है, जो मनुष्य को माया के राज्य में बन्दी बनाते हैं। *सूत्रम्* शब्द *महत् तत्त्व* का सूचक है, जिस पर अनेक भौतिक सृष्टियाँ टिकी रहती हैं, जिस तरह धागे में रत्न पिरोये रहते हैं। *प्रधान* या भौतिक साम्यावस्था में प्रकृति के गुण अन्योन्य क्रिया नहीं करते। *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध में भगवान् कपिल ने अपने सांख्य उपदेश में बतलाया है कि भगवान् प्रकृति की निष्क्रिय अवस्था को क्षुब्ध करते हैं, तो सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रकृति का वह सृष्ट रूप जिसमें सकाम कर्मों को प्रोत्साहन मिलता है, *महत् तत्त्व* कहलाता है, जैसाकि इस श्लोक में इंगित हुआ है।

यदि कोई व्यक्ति निर्विशेष वेदान्त दर्शन की आड़ लेकर भगवान् की मायामयी सृष्टि को त्यागने का प्रयास करता है और इस तरह भगवान् की अनन्त चेतना तथा बद्धजीव की अति सूक्ष्म चेतना को कृत्रिम रूप से एक समान बताता है, तो उसका यह विश्लेषण सत्य से कोसों दूर होगा। इस श्लोक में *स्व-मायाम्* शब्द सूचित करता है कि बद्धजीवों को प्रच्छन्न करने वाली मायाशक्ति सदैव ही भगवान् के अधीनस्थ होती है, क्योंकि भगवान् की चेतना अच्युत तथा अनन्त होती है और वे सदा पुरुष होते हैं।

तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ।
यस्मिन्प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ताम्—महत्-तत्त्व को; आहुः—कहते हैं; त्रि-गुण—प्रकृति के तीन गुण; व्यक्तिम्—कारण रूप में प्रकट; सृजन्तीम्—उत्पन्न करते हुए; विश्वतः-मुखम्—विराट जगत की अनेक कोटियाँ; यस्मिन्—जिस महत् तत्त्व के भीतर; प्रोतम्—गुँथा हुआ; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; येन—जिससे; संसरते—भौतिक संसार में आना पड़ता है; पुमान्—जीवित प्राणी।

महान् मुनियों के अनुसार, जो प्रकृति के तीन गुणों का आधार है और जो विविध रंगी ब्रह्माण्ड प्रकट करता है, वह सूत्र या महत् तत्त्व कहलाता है। निस्सन्देह, यह ब्रह्माण्ड उसी महत् तत्त्व के भीतर टिका हुआ रहता है और इसकी शक्ति के कारण जीव को भौतिक जगत में आना पड़ता है।

तात्पर्य : विराट जगत एक वास्तविकता है, क्योंकि यह परम सत्य भगवान् से उद्‌भूत है। तथापि भौतिक जगत नश्वर है और समस्याओं से पूर्ण है। बद्धजीव मूर्खतावश इस कनिष्ठ सृष्टि का स्वामी बनना चाहता है और वह अपने असली मित्र, परमेश्वर से विलग हो जाता है। ऐसी दशा में उसका एकमात्र व्यापार भौतिक इन्द्रियतृप्ति रह जाता है और उसका असली ज्ञान जाता रहता है।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः ।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; ऊर्न-नाभिः—मकड़ी; हृदयात्—अपने भीतर से; ऊर्णाम्—धागे को; सन्तत्य—फैलाकर; वक्त्रतः—अपने मुख से; तया—उस धागे से; विहृत्य—भोग करने के बाद; भूयः—फिर; ताम्—उस धागे को; ग्रसति—निगल जाती है; एवम्—उसी तरह; महा-ईश्वरः—परमेश्वर।

जिस तरह मकड़ी अपने ही भीतर से (मुख में से) धागा निकाल कर फैलाती है, कुछ काल तक उससे खेलती है और अन्त में निगल जाती है, उसी तरह भगवान् अपनी निजी शक्ति को अपने भीतर से ही विस्तार देते हैं। इस तरह भगवान् विराट जगत रूपी जाल को प्रदर्शित करते हैं, अपने प्रयोजन के अनुसार उसे काम में लाते हैं और अन्त में उसे पूरी तरह से अपने भीतर समेट लेते हैं।

तात्पर्य : जो बुद्धिमान होता है, उसे मकड़ी जैसे तुच्छ प्राणी से भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह, जिसकी आँखें कृष्णभावनामृत में खुली रहती हैं, उसे दिव्य ज्ञान का सर्वत्र दर्शन होता है।

यत्र यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया ।
स्नेहाद्द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्स्वरूपताम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ जहाँ; मनः—मन को; देही—बद्धजीव; धारयेत्—स्थिर करता है; सकलम्—पूर्ण एकाग्रता के साथ; धिया—बुद्धि से; स्नेहात्—स्नेहवश; द्वेषात्—द्वेष के कारण; भयात्—भयवश; वा अपि—अथवा; याति—जाता है; तत्-तत्—उस उस; स्वरूपताम्—विशेष अवस्था को।

यदि देहधारी जीव प्रेम, द्वेष या भयवश अपने मन को बुद्धि तथा पूर्ण एकाग्रता के साथ किसी विशेष शारीरिक स्वरूप में स्थिर कर दे, तो वह उस स्वरूप को अवश्य प्राप्त करेगा, जिसका वह ध्यान करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह समझना कठिन नहीं है कि यदि कोई व्यक्ति निरन्तर भगवान् का ध्यान करता है, तो उसे भगवान् जैसा ही आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होगा। *धिया* शब्द विशेष अर्थ में पूर्ण बौद्धिक संकल्प को सूचित करता है। इसी तरह *सकलम्* शब्द मन की एकाग्रता का सूचक है। चेतना की ऐसी तल्लीनता से मनुष्य को अगले जीवन में वैसा ही स्वरूप प्राप्त होगा, जिसका वह चिन्तन करता रहता है। यह अन्य शिक्षा है, जो कीट-जगत से सीखी जा सकती है, जैसाकि अगले श्लोक में बतलाया गया है।

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन्कुड्यां तेन प्रवेशितः ।
याति तत्सात्मतां राजन्पूर्वरूपमसन्त्यजन् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कीटः—कीड़ा; पेशस्कृतम्—बर्र, भृंगी; ध्यायन्—ध्यान करती; कुड्याम्—अपने छत्ते में; तेन—बर्र द्वारा; प्रवेशितः—घुसने के लिए बाध्य की गई; याति—जाती है; तत्—बर्र का; स-आत्मताम्—वही स्थिति; राजन्—हे राजा; पूर्व-रूपम्—पूर्व शरीर; असन्त्यजन्—त्याग न करते हुए।

हे राजन्, एक बार एक बर्र ने एक कमजोर कीड़े को अपने छत्ते में जबरन घुसेड़ दिया और उसे वहीं बन्दी बनाये रखा। उस कीड़े ने भय के कारण अपने बन्दी बनाने वाले का निरन्तर ध्यान किया और उसने अपना शरीर त्यागे बिना ही धीरे धीरे बर्र जैसी स्थिति प्राप्त कर ली। इस तरह मनुष्य अपने निरन्तर ध्यान के अनुसार स्वरूप प्राप्त करता है।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है चूँकि इस कथा में कमजोर कीड़े ने अपना भौतिक शरीर नहीं बदला तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उसने बर्र का-सा शरीर प्राप्त कर लिया? वास्तव में किसी विशेष वस्तु का निरन्तर ध्यान करते रहने से मनुष्य की चेतना उस वस्तु के गुणों से पूरित हो जाती है। अत्यन्त भय के कारण छोटा कीड़ा बड़े बर्र के लक्षणों तथा कार्यों में ही लीन था और इस तरह वह बर्र के अस्तित्व में प्रवेश कर गया। ऐसे ध्यान के कारण उसे अगले जीवन में बर्र का ही शरीर प्राप्त हो गया।

इसी तरह यद्यपि हम बद्धजीव हैं, किन्तु यदि हम अपनी चेतना को कृष्ण में लीन करें, तो हम अपना वर्तमान शरीर त्यागने के पूर्व ही मुक्त हो सकते हैं। यदि यह समझ कर कि भगवान् कृष्ण ही सर्वेसर्वा हैं, हमारी बुद्धि आध्यात्मिक पद पर स्थिर हो जाती है, तो हम बाह्य शरीर की व्यर्थ चेतना को त्याग सकते हैं और वैकुण्ठ की आध्यात्मिक लीलाओं में अपने को लीन कर सकते हैं। इस तरह मृत्यु

के पूर्व ही अपने को आध्यात्मिक पद तक उठाकर मुक्तजीव के रूप में जीवन का आनन्द उठाया जा सकता है। अथवा यदि कोई निपट मूर्ख है, तो इसी जीवन में भोजन तथा यौन-जीवन का निरन्तर चिन्तन करते हुए, वह शूकर या कूकर जैसा पशु बन सकता है। किन्तु मनुष्य-जीवन चेतना के विज्ञान एवं अपने ध्यान के भावी फल को समझने के लिए मिला है।

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः ।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गुरुभ्यः—गुरुओं से; एतेभ्यः—इन; एषा—यह; मे—मेरे द्वारा; शिक्षिता—सीखा हुआ; मतिः—ज्ञान; स्व-आत्म—अपने ही शरीर से; उपशिक्षिताम्—सीखा हुआ; बुद्धिम्—ज्ञान; शृणु—सुनो; मे—मुझसे; वदतः—कहा जाता; प्रभो—हे राजा।.

हे राजन्, मैंने इन आध्यात्मिक गुरुओं से महान् ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अब मैंने अपने शरीर से जो कुछ सीखा है, उसे बतलाता हूँ, उसे तुम ध्यान से सुनो।

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
र्बिभ्रत्स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम् ।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; गुरुः—गुरु; मम—मेरा; विरक्ति—वैराग्य का; विवेक—तथा विवेक का; हेतुः—कारण; बिभ्रत्—पालन करते हुए; स्म—निश्चय ही; सत्त्व—अस्तित्व; निधनम्—विनाश; सतत—सदैव; आर्ति—कष्ट; उदर्कम्—भावी परिणाम; तत्त्वानि—इस जगत की सच्चाइयाँ; अनेन—इस शरीर से; विमृशामि—मैं विचार करता हूँ; यथा—यद्यपि; तथा अपि—फिर भी; पारक्यम्—अन्यों से सम्बन्धित; इति—इस प्रकार; अवसितः—आश्वस्त होकर; विचरामि—विचरण करता हूँ; असङ्गः-विथोउत् अत्तछ्मेन्त्.

भौतिक शरीर भी मेरा गुरु है, क्योंकि यह मुझे वैराग्य की शिक्षा देता है। सृष्टि तथा संहार से प्रभावित होने के कारण, इसका कष्टमय अन्त होता रहता है। यद्यपि ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने शरीर का उपयोग करते हुए मैं सदैव स्मरण रखता हूँ कि यह अन्ततः अन्यों द्वारा विनष्ट कर दिया जायेगा, अतः मैं विरक्त रहकर इस जगत में इधर-उधर विचरण करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में *यथा तथापि* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि शरीर से बहुत बड़ा लाभ यह है कि इससे इस जगत के बारे में जाना जा सकता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि इसके दुखमय अपरिहार्य भविष्य का सदैव स्मरण रखे। जलाने पर यह जलकर राख हो जाता है; यदि एकान्त स्थान

में खो जाय तो इसे सियार तथा गीध खा जाते हैं। यदि इसे भव्य शव पेटिका में रखकर गाड़ दिया जाय, तो यह सड़ जाता है और तुच्छ कीड़े-मकोड़े चट कर जाते हैं। इस तरह इसे *पारक्यम्* या "अन्यों द्वारा खा लिया जाने वाला" कहा जाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत सम्पन्न करने के लिए मनुष्य को शारीरिक स्वास्थ्य बनाए रखना चाहिए किन्तु उससे अधिक स्नेह या अनुराग नहीं रखना चाहिए। शरीर के जन्म तथा मृत्यु का अध्ययन करके मनुष्य को *विरक्ति-विवेक* अर्थात् अनावश्यक वस्तुओं से विरक्त होने का विवेक प्राप्त हो सकता है। *अवसित* शब्द विश्वास का सूचक है। मनुष्य को कृष्णभावनामृत की सारी सच्चाइयों के प्रति आश्वस्त होना चाहिए।

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन् ।
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जाया—पत्नी; आत्म-ज—सन्तानें; अर्थ—धन; पशु—पालतू पशु; भृत्य—नौकर; गृह—घर; आप्त—सम्बन्धीजन तथा मित्र; वर्गान्—ये सारी कोटियाँ; पुष्णाति—पुष्ट करता है; यत्—शरीर; प्रिय-चिकीर्षया—प्रसन्न करने की इच्छा से; वितन्वन्—फैलाते हुए; स्व-अन्ते—मृत्यु के समय; स-कृच्छ्रम्—अत्यधिक संघर्ष से; अवरुद्ध—एकत्रित; धनः—धन; सः—वह; देहः—शरीर; सृष्ट्वा—सृजन करके; अस्य—जीव का; बीजम्—बीज; अवसीदति—नीचे गिरकर मरता है; वृक्ष—पेड़; धर्मः—के स्वभाव का अनुकरण करते हुए।

शरीर से आसक्ति रखने वाला व्यक्ति अपनी पत्नी, बच्चों, संपत्ति, पालतू पशुओं, नौकरों, घरों, संबंधियों, मित्रों इत्यादि की स्थिति को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के लिए अत्यधिक संघर्ष के साथ धन एकत्र करता है। वह अपने ही शरीर की तुष्टि के लिए यह सब करता है। जिस प्रकार एक वृक्ष नष्ट होने के पूर्व भावी वृक्ष का बीज उत्पन्न करता है, उसी तरह मरने वाला शरीर अपने संचित कर्म के रूप में अपने अगले शरीर का बीज प्रकट करता है। इस तरह भौतिक जगत के नैरन्तर्य से आश्वस्त होकर भौतिक शरीर समाप्त हो जाता है।

तात्पर्य : यह तर्क किया जा सकता है कि "अभी तक जितने गुरुओं का उल्लेख हुआ, उनमें से शरीर निश्चय ही सर्वोत्तम है, क्योंकि यह विरक्ति तथा उत्तम बुद्धि प्रदान करता है, जिससे मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग सकता है। इसलिए हमें अत्यधिक अनुरक्ति के साथ शरीर की सेवा करनी चाहिए यद्यपि यह नश्वर है, अन्यथा कृतज्ञता का अपराध लगेगा। जब शरीर इतने अदभुत गुणों

से युक्त है, तो फिर शरीर से विरक्ति की संस्तुति किस तरह की जा सकती है?'' इसका उत्तर इस श्लोक में दिया हुआ है। यह शरीर उपकारी गुरु की तरह विरक्ति तथा ज्ञान प्रदान नहीं करता, प्रत्युत इतनी पीड़ा तथा कष्ट देता है कि कोई भी विवेकवान व्यक्ति भौतिक जीवन की व्यर्थता से आश्वस्त हो जायेगा। जिस तरह एक वृक्ष अगले वृक्ष के बीज उत्पन्न करता है और तब नष्ट हो जाता है, उसी तरह शरीर की कामेच्छाएँ बद्धजीव को अगले कर्म की शृंखला उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करती हैं। अन्त में यह शरीर इस जगत में अपार कष्ट का मार्ग प्रशस्त करके समाप्त हो जाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *देह* स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मानसिक शरीर दोनों का ही द्योतक है। जो लोग शरीर तथा आत्मा के अन्तर को स्पष्ट रूप से नहीं समझते, वे झूठे ही सोचते हैं कि शरीर तथा आत्मा अभिन्न हैं और मनुष्य शारीरिक इन्द्रियतृप्ति में पूर्ण सुख पा सकता है। किन्तु जो लोग मूर्खतावश नश्वर शरीर को सर्वप्रधान मान लेते हैं, उनकी तुलना उन स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों से नहीं की जा सकती, जो नित्य आत्मा की श्रेष्ठता को भलीभाँति समझते हैं।

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक्क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ २७॥

शब्दार्थ

जिह्वा—जीभ; एकतः—एक ओर; अमुम्—शरीर या शरीर के साथ अपनी पहचान करने वाला बद्धजीव; अपकर्षति—दूर खींच ले जाता है; कर्हि—कभी कभी; तर्षा—प्यास; शिश्नः—जननेन्द्रिय; अन्यतः—दूसरी ओर; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय; उदरम्—उदर; श्रवणम्—कान; कुतश्चित्—या अन्यत्र कहीं से; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; अन्यतः—दूसरी ओर से; चपल-दृक्—चंचल आँखें; क्व च—अन्यत्र कहीं; कर्म-शक्तिः—शरीर के अन्य सक्रिय अंग; बह्व्यः—अनेक; स-पत्न्यः—सौतें; इव—सदृश; गेह-पतिम्—घर के मुखिया को; लुनन्ति—अनेक दिशाओं में खींचती हैं।

जिस व्यक्ति की कई पत्नियाँ होती हैं, वह उनके द्वारा निरन्तर सताया जाता है। वह उनके पालन-पोषण के लिए जिम्मेदार होता है। इस तरह सारी पत्नियाँ उसे निरन्तर भिन्न-भिन्न दिशाओं में खींचती रहती हैं, और हर पत्नी अपने स्वार्थ के लिए संघर्ष करती है। इसी तरह भौतिक इन्द्रियाँ बद्धजीव को एकसाथ विभिन्न दिशाओं में खींचती रहती हैं और सताती रहती हैं। एक ओर जीभ स्वादिष्ट भोजन की व्यवस्था करने के लिए खींचती है, तो प्यास उसे उपयुक्त पेय प्रदान करने के लिए घसीटती रहती है। उसी समय यौन-अंग उनकी तुष्टि के लिए शोर मचाते हैं

और स्पर्शेन्द्रिय कोमल वासनामय पदार्थ की माँग रखती हैं। उदर उसे तब तक तंग करता रहता है, जब तक वह भर नहीं जाता। कान मनोहर ध्वनि सुनना चाहते हैं, घ्राणेन्द्रिय सुहावनी सुगँधियों के लिए लालायित रहती हैं और चंचल आँखें मनोहर दृश्य के लिए शोर मचाती हैं। इस तरह सारी इन्द्रियाँ तथा शरीर के अंग तुष्टि की इच्छा से जीव को अनेक दिशाओं में खींचते रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उल्लेख करते हैं कि इस श्लोक को समझ लेने के बाद अपने शरीर रूपी गुरु की कम से कम आवश्यकताओं की बिना आसक्ति के पूर्ति करनी चाहिए। मनुष्य को सरल से सरल ढंग द्वारा अपना शरीर स्वस्थ तथा काम करने के योग्य बनाये रखना चाहिए। यही तथाकथित गुरु की सेवा का सारांश है। यदि मनुष्य निष्ठापूर्वक शरीर की सेवा करना चाहता है, तो उसे विचार करना चाहिए कि शरीर बद्धजीव की चेतना को एक साथ अनेक प्रकार से खींचता है और इसलिए शरीर के दास से ईश्वर को समझ पाने या शान्त रहने तक की आशा करना व्यर्थ है।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदन्दशूकान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—सृजन करके; पुराणि—बद्धजीवों को आवास देने वाले भौतिक शरीर; विविधानि—अनेक प्रकार के; अजया—माया के माध्यम से; आत्म-शक्त्या—अपनी शक्ति से; वृक्षान्—वृक्षों को; सरीसृप—रेंगने वाले जीवों को; पशून्—पशुओं को; खग—पक्षियों को; दन्द-शूकान्—साँपों को; तैः तैः—शरीर की विभिन्न किस्मों (योनियों) द्वारा; अतुष्ट—असन्तुष्ट; हृदयः—उसका हृदय; पुरुषम्—मनुष्य को; विधाय—उत्पन्न करके; ब्रह्म—परम सत्य; अवलोक—दर्शन; धिषणम्—के उपयुक्त बुद्धि; मुदम्—सुख को; आपा—प्राप्त किया; देवः—भगवान्।

भगवान् ने अपनी ही शक्ति, माया शक्ति का विस्तार करके बद्धजीवों को बसाने के लिए असंख्य जीव-योनियाँ उत्पन्न कीं। किन्तु वृक्षों, सरीसृपों, पशुओं, पक्षियों, सर्पों इत्यादि के स्वरूपों को उत्पन्न करके भगवान् अपने हृदय में तुष्ट नहीं थे। तब उन्होंने मनुष्य को उत्पन्न किया, जो बद्ध आत्मा को पर्याप्त बुद्धि प्रदान करने वाला होता है, जिससे वह परम सत्य को देख सके। इस तरह भगवान् सन्तुष्ट हो गये।

तात्पर्य : ईश्वर ने मनुष्य को विशेष रूप से इसीलिए उत्पन्न किया कि बद्ध आत्मा की मुक्ति सहज ही हो सके। इसलिए जो व्यक्ति मनुष्य-जीवन का दुरुपयोग करता है, वह नरक जाता है। जैसाकि वेदों में कहा गया है *पुरुषत्वे चाविस्तराम् आत्मा* मनुष्य-जीवन में नित्य आत्मा को समझने की अच्छी सम्भावना है। वेद यह भी कहते हैं :

ताभ्यो गाम् आनयत् ता अब्रुवन्
न वै नोऽयम् अलम् इति।
ताभ्योऽश्वमानयत् ता अब्रुवन्
न वै नोऽयम् अलम् इति।
ताभ्यः पुरुषम् आनयत् ता
अब्रुवन् सु-कृतं बत॥

इस श्रुति मंत्र का तात्पर्य यह है कि गाय तथा घोड़े जैसी निम्न योनियाँ सृष्टि के उद्देश्य को पूरा करने के लिए उपयुक्त नहीं हैं। किन्तु मनुष्य-जीवन ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझने का अवसर प्रदान करता है। इस तरह मनुष्य को भौतिक इन्द्रियों को वश में रखकर मनुष्य-जीवन के असली उद्देश्य को पूरा करना चाहिए। यदि वह कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, तो स्वयं भगवान् प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और धीरे धीरे भक्त को अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं।

भगवान् की भौतिक सृष्टि में जीव तथा मृत पदार्थ होते हैं और जो अल्पज्ञ हैं, वे ही सृष्टि का भोग करना चाहते हैं। किन्तु भगवान् उन योनियों से प्रसन्न नहीं होते, जो आध्यात्मिक प्रकृति को समझे बिना इन्द्रियतृप्ति के लिए आँख मूँदकर प्रयत्न करते हैं। हम कृष्ण तथा उनके धाम की आनन्दमयी स्थिति की विस्मृति के कारण ही कष्ट पा रहे हैं। यदि हम भगवान् को संरक्षक तथा आश्रय के रूप में मान लें और उनके आदेश का पालन करें, तो हम भगवान् के भिन्नांश रूप में अपना नित्य आनन्दमय पद पुनः आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। इसी उद्देश्य से भगवान् ने मनुष्य-जीवन बनाया है।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-

न्रि:श्रेयसाय विषय: खलु सर्वत: स्यात् ॥ २९॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; सु-दुर्लभम्—जिसको पाना अत्यन्त कठिन है; इदम्—यह; बहु—अनेक; सम्भव—जन्म; अन्ते—बाद में; मानुष्यम्—मनुष्य-जीवन; अर्थ-दम्—महान् महत्त्व प्रदान करने वाला; अनित्यम्—क्षणभंगुर; अपि—यद्यपि; इह—इस भौतिक जगत में; धीर:—गम्भीर बुद्धि वाला; तूर्णम्—तुरन्त; यतेत—प्रयत्न करे; न—नहीं; पतेत्—गिर चुका है; अनु-मृत्यु—सदैव मरणशील; यावत्—जब तक; नि:श्रेयसाय—चरम मोक्ष (मुक्ति) के लिए; विषय:—इन्द्रियतृप्ति; खलु—सदैव; सर्वत:—सभी दशाओं में; स्यात्—सम्भव है।

अनेकानेक जन्मों और मृत्यु के पश्चात् यह दुर्लभ मानव-जीवन मिलता है, जो अनित्य होने पर भी मनुष्य को सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है। इसलिए धीर मनुष्य को तब तक चरम जीवन सिद्धि के लिए शीघ्र प्रयत्न कर देना चाहिए, जब तक उसका मरणशील शरीर क्षय होकर मर नहीं जाता। इन्द्रियतृप्ति तो सबसे गर्हित योनि में भी प्राप्य है, किन्तु कृष्णभावनामृत मनुष्य को ही प्राप्त हो सकता है।

तात्पर्य : भौतिक जीवन का अर्थ ही है बारम्बार जन्म तथा मृत्यु। निम्नतम योनियों, यथा सरीसृप, कीड़े, शूकर तथा कूकर तक को इन्द्रियतृप्ति के लिए पर्याप्त अवसर मिलता है। यहाँ तक कि घर की सामान्य मक्खियों में भी व्यस्त यौन-जीवन होता है और वे तेजी से बढ़ती हैं। किन्तु मनुष्य-जीवन मनुष्य को परम सत्य को समझने योग्य बनाता है, अतएव वह गम्भीर उत्तरदायित्व से पूर्ण है। चूँकि मूल्यवान मानव-जीवन शाश्वत नहीं हैं, अतएव सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत पाने के लिए हमें आवश्यक काम करना चाहिए। मृत्यु आने के पूर्व हमें अपने असली स्वार्थ का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन करना चाहिए।

मनुष्य भगवद्भक्तों की संगति में कृष्णभावनामृत का अनुभव कर सकता है। उनकी संगति के बिना मनुष्य निर्विशेष विचारधारा की ओर आकृष्ट हो सकता है, जो परम सत्य की भक्ति से दूर ले जाने वाली है। अथवा परम सत्य को समझ न पाने से हतोत्साहित होकर मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के मिथ्या धरातल की ओर लौट सकता है। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य-जीवन अनुभवी स्वरूपसिद्ध भगवद्भक्त के निर्देशन में कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करने के निमित्त है।

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि ।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्क त: ॥ ३०॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सञ्जात—पूर्णतया उत्पन्न; वैराग्य:—वैराग्य; विज्ञान—अनुभूत ज्ञान; आलोक:—दृष्टि से युक्त; आत्मनि—भगवान् में; विचरामि—विचरण करता हूँ; महीम्—पृथ्वी पर; एताम्—इस; मुक्त—स्वच्छन्द; सङ्गः—आसक्ति से; अनहङ्कृत:—मिथ्या अहंकार के बिना।

अपने गुरुओं से शिक्षा पाकर मैं भगवान् की अनुभूति में स्थित रहता हूँ और पूर्ण वैराग्य तथा आध्यात्मिक ज्ञान से प्रकाशित, मैं आसक्ति या मिथ्या अहंकार से रहित होकर पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण करता हूँ।

न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात्सुपुष्कलम् ।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; एकस्मात्—एक; गुरोः—गुरु से; ज्ञानम्—ज्ञान; सु-स्थिरम्—अत्यधिक स्थिर; स्यात्—हो सकता है; सु-पुष्कलम्—अत्यन्त पूर्ण; ब्रह्म—परम सत्य; एतत्—यह; अद्वितीयम्—अद्वितीय; वै—निश्चय ही; गीयते—यशोगान किया गया; बहुधा—अनेक प्रकार से; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा।

यद्यपि परम सत्य अद्वितीय हैं, किन्तु ऋषियों ने अनेक प्रकार से उनका वर्णन किया है। इसलिए हो सकता है कि मनुष्य एक गुरु से अत्यन्त स्थिर या पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर पाये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है ''यह कथन कि मनुष्य को अनेक गुरुओं की आवश्यकता होती है, व्याख्या की अपेक्षा रखता है, क्योंकि भूतकाल के लगभग तमाम सन्त-पुरुषों ने अनेक गुरुओं की शरण नहीं ली, प्रत्युत एक ही गुरु स्वीकार किया। *गीयते बहुधार्षिभिः* शब्द परम सत्य के साकार तथा निराकार ज्ञान को बतलाने वाले हैं। दूसरे शब्दों में, कुछ ऋषि भगवान् के निर्विशेष प्रत्रा का वर्णन करते हैं जिसमें आध्यात्मिक विविधता नहीं है, जबकि अन्य ऋषि भगवान् के प्रकट रूप का वर्णन करते हैं। इस तरह विभिन्न विद्वानों से मात्र सुनकर ही मनुष्य अपने जीवन की परम सिद्धि को नहीं सीख सकता। गुरुओं की विविधता जीव की अतीव भौतिकतावादी प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही लाभप्रद है। विभिन्न आध्यात्मिक दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न कराते हैं और उन्हें इस स्तर पर स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु जैसाकि बाद के श्लोकों से प्रकट होगा कि पूर्ण ज्ञान प्रदान करने वाला गुरु केवल एक होता है।''

श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है ''चूँकि यह सामान्यतया ज्ञात है कि मनुष्य को एक ही गुरु बनाना चाहिए, तो फिर यह संस्तुति क्यों की गई है कि मनुष्य अनेक तथाकथित गुरुओं से सीखें जो साधारण भौतिक वस्तुओं के रूप में दिखते हैं? इसकी व्याख्या यह है कि मनुष्य

का पूज्य गुरु ज्ञान के अनेक विभागों में उपदेश देगा जो उसने सामान्य वस्तुओं से बटोरा है। जैसाकि ब्राह्मण अवधूत ने संस्तुति की है मनुष्य अपने आचार्य से प्राप्त शिक्षाओं को पुष्ट कर सकता है और प्रकृति में सामान्य वस्तुओं को देखकर उसके आदेशों का उल्लँघन करने से बच सकता है। मनुष्य को अपने गुरु से यांत्रिक रूप में शिक्षाएँ ग्रहण नहीं करनी चाहिए। शिष्य को विचारवान होना चाहिए और अपनी बुद्धि से अपने गुरु से जो कुछ सुना है उसे अपने चारों ओर के जगत को देखते हुए व्यवहार में लाना चाहिए। इस दृष्टि से मनुष्य अनेक गुरु बना सकता है, किन्तु ऐसे लोगों को नहीं, जो प्रामाणिक गुरु से प्राप्त ज्ञान का विरोध करते हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को चाहिए कि नास्तिक कपिल जैसे व्यक्तियों से श्रवण न करे।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी इस श्लोक की टीका की है, जो इस प्रकार है'' *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*—यदि जीवन में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करनी है, तो प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। इसी तरह इस स्कन्ध के अध्याय १०, श्लोक ५ में भगवान् ने कहा है *मद्अभिज्ञं गुरुं शान्तम् उपासीत मद्-आत्मकम्*—मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु की सेवा करे, जो मेरे ज्ञान से पूर्ण होता है और मुझसे भिन्न नहीं होता। वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक श्लोक हैं, जो यह इंगित करते हैं कि एक ही प्रामाणिक गुरु की शरण लेनी चाहिए। हमारे पास महान् सन्त-पुरुषों के ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिन्होंने एक से अधिक गुरु नहीं बनाया। इस तरह यह तथ्य है कि हमें एक प्रामाणिक गुरु बनाना चाहिए और उसी से उच्चरित होने वाले विशिष्ट मंत्र भी ग्रहण करने चाहिए। निश्चय ही, मैं स्वयं इस सिद्धान्त का अनुसरण करता हूँ और अपने प्रामाणिक गुरु की पूजा करता हूँ। किन्तु अपने आचार्य की पूजा करने में मनुष्य अच्छे तथा बुरे उदाहरणों से सहायता ले सकता है। अच्छे आचरण के उदाहरणों का पालन करने से भक्ति प्रबल होगी और बुरे उदाहरणों से आगाह हुआ जा सकेगा तथा संकट से बचा जा सकेगा। इस तरह मनुष्य अनेक सामान्य पदार्थों को गुरु मान सकता है और उन्हें शिक्षा-गुरु या गुरु कह सकता है, जो आध्यात्मिक प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण उपदेश देते हैं।''

इस तरह भगवान् के ही शब्दों में *मद्अभिज्ञं गुरुं शान्तम् उपासीत मद्-आत्मकम्*—मनुष्य को चाहिए कि एक ही प्रामाणिक गुरु के पास जाये जो कि भगवान् के विषय में पूरा ज्ञान रखता हो और

उसे ही *मद्-आत्मकम्* अर्थात् भगवान् से अभिन्न मानकर उसी की निष्ठा से पूजा करे। यह कथन उस बात का खंडन कहीं करता, जिसे भगवान् ने अवधूत ब्राह्मण की शिक्षाओं में प्रस्तुत किया है। यदि कोई व्यक्ति अपने आचार्य की शिक्षाएँ प्राप्त करके उन्हें सैद्धान्तिक विचार मानकर मस्तिष्क में बन्द रखता है, तो वह प्रगति नहीं कर पायेगा। स्थिर तथा पूर्ण ज्ञान उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि अपने आचार्य की शिक्षाओं को सर्वत्र देखे। इस तरह एक वैष्णव अपने प्रामाणिक गुरु की जो भगवान् कृष्ण से अभिन्न है, पूजा करने के मार्ग में प्रकाश देने वाले किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु का आदर करता है।

ब्राह्मण ने जिन अनेक गुरुओं का उल्लेख किया, उनमें से कुछ अच्छा उपदेश देते हैं और कुछ बुरा। पिंगला वेश्या तथा वह लड़की जिसने अपनी चूड़ियाँ उतार ली थीं उचित आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जबकि अभागा कबूतर तथा मूर्ख शहद की मक्खी ऐसे आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जिससे बचना चाहिए। दोनों ही प्रसंगों से मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होती है। इसलिए इस श्लोक का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि यह भगवान् के इस कथन—*मद्अभिज्ञं गुरुं शान्तं उपासीत मद्-आत्मकम्* (भागवत् ११.१०.५) का विरोधाभास है।

श्रीभगवानुवाच
इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः ।
वन्दितः स्वर्चितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; सः—उसने; यदुम्—राजा यदु से; विप्रः—ब्राह्मण; तम्—राजा को; आमन्त्र्य—विदा करके; गभीर—अत्यन्त गहरी; धीः—बुद्धि; वन्दितः—नमस्कार किया जाकर; सु-अर्चितः—ठीक से पूजित होकर; राज्ञा—राजा द्वारा; ययौ—चला गया; प्रीतः—प्रसन्न मन से; यथा—जिस तरह; आगतम्—आया था।

भगवान् ने कहा : राजा यदु से इस प्रकार कहने के बाद विद्वान ब्राह्मण ने राजा के नमस्कार तथा पूजा को स्वीकार किया और भीतर से प्रसन्न हुआ। तब वह विदा लेकर उसी तरह चला गया, जैसे आया था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी *श्रीमद्भागवत* से ही प्रमाण देते हैं कि वह ब्राह्मण अवधूत वास्तव में दत्तात्रेय का अवतार था। *भागवत* का (२.७.४) कथन है—

यत्पादपंकजपरागपवित्रदेहा

योगर्धिम् आपुरुभयीं यदु-हैहयाधा: ।

''दत्तात्रेय के चरणकमलों के प्रताप से अनेक यदु, हैहय इत्यादि इतने शुद्ध बन गये कि उन्हें भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार के वर प्राप्त हुए।'' यह श्लोक बताता है कि यदु दत्तात्रेय के चरणकमलों के स्पर्श से शुद्ध हो गया। इसी तरह प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है—*वन्दितो स्वर्चितो राज्ञा*—राजा यदु ने ब्राह्मण के चरणकमलों की पूजा की। इस प्रकार श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अवधूत ब्राह्मण स्वयं भगवान् हैं और इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा की गई है।

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः ।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अवधूत—अवधूत ब्राह्मण के; वचः—शब्द; श्रुत्वा—सुनकर; पूर्वेषाम्—पूर्वजों के; नः—हमारे; सः—वह; पूर्वजः—स्वयं पूर्वज; सर्व—समस्त; सङ्ग—आसक्ति से; विनिर्मुक्तः—मुक्त होने पर; सम-चित्तः—आध्यात्मिक पद पर चेतना होने से सर्वत्र समान; बभूव—हो गया; ह—निश्चय ही।

हे उद्धव, उस अवधूत के शब्दों को सुनकर साधु राजा यदु, जो कि हमारे पूर्वजों का पुरखा है, समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो गया और उसका मन आध्यात्मिक पद पर समान भाव से स्थिर (समदर्शी) हो गया।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् अपने ही वंश, यदुवंश, की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि इसमें अनेक महान् स्वरूपसिद्ध राजा हुए हैं। राजा यदु को ब्राह्मण अवधूत के रूप में दत्तात्रेय ने यह शिक्षा दी कि वह ईश्वर की सृष्टि को देखकर ही अपनी चेतना को वैराग्य के आध्यात्मिक पद पर स्थिर करे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''पूर्ण वैराग्य'' नामक नौवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

सकाम कर्म की प्रकृति

इस अध्याय में श्रीकृष्ण जैमिनि के अनुयायियों के दर्शन का खंडन करते हैं और उद्धव से बतलाते हैं कि किस तरह भौतिक शरीर के भीतर बद्ध आत्मा शुद्ध दिव्य ज्ञान उत्पन्न कर सकता है।

वैष्णव, अर्थात् भगवान् विष्णु के शरणागत हुए व्यक्ति को पञ्चरात्र तथा अन्य प्रामाणिक शास्त्रों में दिये गये विधि-विधानों का पालन करना चाहिए। अपने ही प्राकृतिक गुणों तथा कर्म के अनुसार उसे मुक्त भाव से वर्णाश्रम की संहिता का पालन करना चाहिए। भौतिक इन्द्रियों, मन, तथा बुद्धि से प्राप्त किया जाने वाला तथाकथित ज्ञान इन्द्रियतृप्ति में आसक्त सोते व्यक्ति द्वारा देखे स्वप्न के समान व्यर्थ है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए किये जाने वाले कर्म को त्याग कर कर्म को कर्तव्य-रूप में ग्रहण करना चाहिए। जब मनुष्य ने आत्मा के विषय में कुछ सच्चाई जान ली हो, तो उसे कर्तव्य के रूप में किये जाने वाले कर्म का परित्याग करके केवल प्रामाणिक गुरु की सेवा में लग जाना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् का प्रतिनिधि होता है। गुरु के सेवक को अपने गुरु के प्रति दृढ़ स्नेह होना चाहिए, उसे अपने गुरु से परम सत्य विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहना चाहिए और उसे ईर्ष्या से तथा मूर्खवत् बोलने की प्रवृत्ति से मुक्त होना चाहिए। उसे व्यर्थ की बातें नहीं करनी चाहिए। आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से भिन्न होता है। जो आत्मा भौतिक शरीर में प्रवेश करता है, वह अपने पूर्व कर्मफलों के अनुसार शारीरिक कर्म स्वीकार करता है। अत: एकमात्र प्रामाणिक गुरु ही आत्मा विषयक शुद्ध ज्ञान का प्रदर्शन कर सकने में समर्थ होता है।

जैमिनि तथा अन्य नास्तिक दार्शनिकों के अनुयायी नियमित कर्म को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। किन्तु कृष्ण यह बतलाते हुए इसका खण्डन करते हैं कि देहधारी आत्मा खण्डित भौतिक काल के सम्पर्क में आने से निरन्तर जन्म-मृत्यु की शृंखला को ग्रहण कर लेता है, जिससे वह बाद में मिलने वाले सुख-दुख को भोगने के लिए बाध्य हो जाता है। इसलिए जो व्यक्ति अपने कर्म के फलों के प्रति अनुरक्त होता है, उसे जीवन का कोई ठोस लक्ष्य प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। स्वर्ग तथा यज्ञ अनुष्ठानों से प्राप्त होने वाले अन्य लक्ष्यों को अल्पकाल तक ही अनुभव किया जा सकता है। इस भोग के समाप्त होने के बाद मनुष्य को शोक तथा कष्ट में लिपटने के लिए इसी मर्त्यलोक में लौटना होता है। भौतिकतावाद के मार्ग में अनवरत या स्वाभाविक सुख नहीं होता।

श्रीभगवानुवाच
मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मया—मेरे द्वारा; उदितेषु—कहा गया; अवहितः—अत्यन्त सावधानी से; स्व-धर्मेषु—भगवान् की भक्ति के कार्यों में; मत्-आश्रयः—मेरा शरणागत; वर्ण-आश्रम—वैदिक वर्णाश्रम प्रणाली; कुल—समाज के; आचारम्—आचरण; अकाम—भौतिक इच्छाओं से रहित; आत्मा—ऐसा पुरुष; समाचरेत्—अभ्यास करे।

भगवान् ने कहा : पूर्णतया मेरी शरण में आकर तथा मेरे द्वारा वर्णित भगवद्भक्ति में अपने मन को सावधानी से एकाग्र करके मनुष्य को निष्काम भाव से रहना चाहिए तथा वर्णाश्रम प्रणाली का अभ्यास करना चाहिए।

तात्पर्य : पिछले अध्यायों में भगवान् कृष्ण ने अवधूत ब्राह्मण की कहानी के माध्यम से सन्त-पुरुष के गुणों तथा चरित्र का वर्णन किया। अब वे ऐसे साधु-पद को प्राप्त करने के लिए व्यावहारिक साधनों का वर्णन कर रहे हैं। *पञ्चरात्र* तथा अन्य शास्त्रों में भगवान् ने भक्ति करने के आदेश दिये हैं। इसी तरह *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् ने कहा है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—मैंने ही वर्णाश्रम प्रणाली बनाई है। वर्णाश्रम प्रणाली में असंख्य विधि-विधान हैं और भक्त को चाहिए कि वह उनको सम्पन्न करे, जिनसे भक्ति-विधि का खण्डन न होता हो। *वर्ण* शब्द विभिन्न वर्गों के मनुष्यों का सूचक है, जिनमें कुछ तमोगुणी हैं, कुछ रजोगुणी और कुछ सतोगुणी। भगवद्भक्ति तो मुक्तावस्था में सम्पन्न होती है, अतएव रजो तथा तमोगुणी लोगों के लिए कुछ ऐसे आदेश हो सकते हैं, जो मुक्तावस्था वाले लोगों के सर्वथा प्रतिकूल हों। इसलिए प्रामाणिक गुरु जो भगवान् से अभिन्न है, के मार्गदर्शन में ही वर्णाश्रम के मूलभूत सिद्धान्तों को इस तरह सम्पन्न करना चाहिए, जो कृष्णभावनामृत को अग्रसर करने के अनुकूल हो।

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् ।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ २॥

शब्दार्थ

अन्वीक्षेत—देखे; विशुद्ध—शुद्ध किया हुआ; आत्मा—आत्मा; देहिनाम्—देहधारी जीवों का; विषय-आत्मनाम्—इन्द्रियतृप्ति के प्रति समर्पित लोगों का; गुणेषु—आनन्द देने वाली भौतिक वस्तुओं में; तत्त्व—सत्य रूप में; ध्यानेन—ध्यान द्वारा; सर्व—समस्त; आरम्भ—प्रयत्न; विपर्ययम्—अनिवार्य असफलता।

शुद्ध आत्मा को यह देखना चाहिए कि चूँकि इन्द्रियतृप्ति के प्रति समर्पित होने से बद्ध आत्माओं ने इन्द्रिय-सुख की वस्तुओं को धोखे से सत्य मान लिया है, इसलिए उनके सारे प्रयत्न असफल होकर रहेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् ने निष्काम होने की विधि बतलाई है। सारे इन्द्रिय-विषय, जिनमें रूप, स्वाद, गंध, स्पर्श या शब्द द्वारा अनुभूत इन्द्रिय-विषय सम्मिलित हैं, क्षणिक होते हैं। अभी हम अपने परिवार तथा राष्ट्र को देख रहे हैं किन्तु अन्ततः ये अदृश्य हो जायेंगे। यहाँ तक कि हमारा यह शरीर, जिससे हम उन्हें अनुभव करते हैं, वह भी अदृश्य हो जायेगा। इस तरह भौतिक भोग का अपरिहार्य परिणाम *विपर्यय* अर्थात् महान् कष्ट है। *विशुद्धात्मा* शब्द उनको बताता है, जिन्होंने भक्ति के नियमित कर्तव्यों को सम्पन्न करके अपने को शुद्ध बनाया है। वे स्पष्ट रूप में भौतिक जीवन के नैराश्य को देख सकते हैं और इस तरह वे *अकामात्मा* अर्थात् भौतिक इच्छा से रहित महान् आत्मा बन जाते हैं।

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ।
नानात्मकत्वाद्विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सुप्तस्य—सोने वाले के; विषय—इन्द्रियतृप्ति; आलोकः—देखना; ध्यायतः—ध्यान करने वाले का; वा—अथवा; मनः-रथः—मात्र मनगढंत; नाना—तमाम तरह के; आत्मकत्वात्—स्वभाव होने के कारण; विफलः—असली सिद्धि से विहीन; तथा—उसी तरह; भेद-आत्म—भिन्न रूप से बने हुए में; धीः—बुद्धि; गुणैः—भौतिक इन्द्रियों द्वारा।

सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में इन्द्रियतृप्ति की अनेक वस्तुएँ देख सकता है, किन्तु ऐसी आनन्ददायक वस्तुएँ मनगढंत होने के कारण अन्ततः व्यर्थ होती हैं। इसी तरह, जो जीव अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रति सोया हुआ रहता है, वह भी अनेक इन्द्रिय-विषयों को देखता है, किन्तु क्षणिक तृप्ति देने वाली ये असंख्य वस्तुएँ भगवान् की माया द्वारा निर्मित होती हैं, तथा इनका स्थायी अस्तित्व नहीं होता। जो व्यक्ति इन्द्रियों से प्रेरित होकर इनका ध्यान करता है, वह अपनी बुद्धि को व्यर्थ के कार्य में लगाता है।

तात्पर्य : चूँकि भौतिक कर्म का फल क्षणिक होता है, अतएव इसका कोई अर्थ नहीं होता कि मनुष्य उसे प्राप्त करता है या नहीं—अन्तिम परिणाम एक-सा होता है। भौतिकतावादी कर्म कभी भी जीवन की सर्वोच्च सिद्धि—कृष्णभावनामृत प्रदान नहीं कर सकते। इन्द्रियों से प्रेरित होकर भौतिक बुद्धि इन्द्रियतृप्ति की प्रबल कामना करती है। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है (*भेदात्म-धीः*) ऐसी बुद्धि मनुष्य को उसके असली स्वार्थ से विलग करने वाली है। इस तरह भौतिक रूप से अनुकूल तथा प्रतिकूल कर्मों में लीन रहकर बुद्धि भौतिक उन्नयन की असंख्य कोटियों के पीछे लगने से विभक्त हो

जाती है। ऐसी विभक्त बुद्धि अशक्त होती है और वह परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं समझ सकती। किन्तु भगवद्भक्त अपनी बुद्धि को एक ही विन्दु—भगवान् कृष्ण—पर स्थिर करते हैं। वे भगवान् के ही रूप, गुण, लीलाओं तथा भक्तों का ध्यान करते हैं, जिससे उनकी बुद्धि परब्रह्म से कभी विलग नहीं हो पाती। *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

"जो इस मार्ग पर चलते हैं, वे प्रयोजन में दृढ़ रहते हैं और उनका लक्ष्य भी एक होता है। हे कुरुनन्दन, जो दृढ़-प्रतिज्ञ नहीं हैं उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है।"

यदि कोई कृष्णभावनाभावित नहीं है, तो वह अपनी नित्य स्थिति को समझे बिना व्यर्थ स्वप्न देखता है। भौतिक बुद्धि सुख प्राप्त करने के विचित्र साधन ढूँढ़ लेती है, इसलिए मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के एक व्यर्थ कार्यक्रम से दूसरे में कूदता रहता है और यह भूल जाता है कि सारी भौतिक वस्तुएँ नश्वर हैं और ये लुप्त हो जायेंगी। इस तरह उसकी बुद्धि भौतिक काम तथा लोभ से संदूषित हो जाती है और संदूषित बुद्धि कभी किसी को जीवन के असली लक्ष्य तक नहीं ले जा पाती। मनुष्य को शुद्ध बुद्धि वाले प्रामाणिक गुरु से उपदेश ग्रहण करना चाहिए, तभी वह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि—कृष्णभावनामृत—को प्राप्त होगा।

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ।
जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

निवृत्तम्—विधि-कर्तव्य; कर्म—ऐसा कार्य; सेवेत—करना चाहिए; प्रवृत्तम्—इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य; मत्-परः—मुझमें समर्पित; त्यजेत्—छोड़ दे; जिज्ञासायाम्—आध्यात्मिक सत्य की खोज में; सम्प्रवृत्तः—पूर्णतया संलग्न; न—नहीं; आद्रियेत्—स्वीकार करना चाहिए; कर्म—कोई भौतिक कार्य; चोदनाम्—आदेश।

जिसने अपने मन में मुझे अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में बिठा लिया है, उसे इन्द्रियतृप्ति पर आधारित कर्म त्याग देने चाहिए और उन्नति के लिए विधि-विधानों द्वारा अनुशासित कर्म करना चाहिए। किन्तु जब कोई व्यक्ति आत्मा के चरम सत्य की खोज में पूरी तरह लगा हो, तो उसे सकाम कर्मों को नियंत्रित करने वाले शास्त्रीय आदेशों को भी नहीं मानना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है कि *जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तः* शब्द *योग-आरूढ* व्यक्ति के द्योतक हैं। *भगवद्गीता* (६.३-४) में कहा गया है कि—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

"अष्टांग योग के नवसाधक के लिए कर्म को साधन कहा गया है और योगसिद्ध पुरुष के लिए समस्त भौतिक कार्यकलापों का परित्याग ही साधन कहा जाता है। जब कोई पुरुष समस्त भौतिक इच्छाओं का त्याग करके न तो इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है और न सकाम कर्मों में प्रवृत्त होता है, तो वह योगारूढ़ कहलाता है।" यहाँ पर यह उदाहरण दिया जा सकता है कि सामान्य व्यक्ति भौतिक इन्द्रिय-सुख के लिए स्त्रियों की संगति का आनन्द लेना चाहेगा। इसे प्रवृत्त कर्म कहते हैं। धार्मिक व्यक्ति भी स्त्री की संगति का आनन्द लेगा, किन्तु वर्णाश्रम पद्धति के विधि-विधानों के अन्तर्गत ही ऐसा करेगा। किन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति में पूरी तरह लीन रहता है, वह यौन-संग से प्राप्त होने वाली सारी इन्द्रियतृप्ति को त्याग देगा, चाहे वह वैध हों या अवैध। इसी तरह प्रवृत्त-कर्म की अवस्था में, जो कि सामान्य इन्द्रियतृप्ति है, मनुष्य जीभ को अच्छी लगने वाली हर वस्तु खायेगा। इसके विपरीत भौतिकतावादी भक्त कभी कभी अच्छे अच्छे पकवान तैयार करके अर्चाविग्रह को अर्पित करेगा, जिसका उद्देश्य अपनी जीभ तथा उदर की तुष्टि होता है, भगवान् की तुष्टि नहीं। किन्तु जो सम्प्रवृत्त होता है, अर्थात् आध्यात्मिक चेतना में पूरी तरह लगा रहता है, वह अपनी जीभ की तृप्ति में कभी रुचि नहीं लेता। वह भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा पकाये भोजन से दूर रहता है। वह उतना ही भोजन करता है, जितने से वह कृष्ण की सेवा करने लायक बना रहे और जिस भोजन को अर्चाविग्रह को उनकी प्रसन्नता हेतु अर्पित किया जा चुका हो।

आध्यात्मिक साक्षात्कार की विधि बद्धजीव को भौतिकतावादी चेतना के निम्नतम बिन्दु से ऊपर उठाकर भगवान् की भक्ति में पूर्ण तल्लीनता तक ले जाती है। प्रारम्भ में उसे यह शिक्षा दी जाती है कि वह अपने कर्मफल को सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित करके अपनी भोग-लालसाओं को उनसे जोड़ दे।

किन्तु प्रगत अवस्था में सकाम कर्म करने की प्रेरणा (*कर्म-चोदनम्*) समाप्त हो जाती है और मनुष्य बिना किसी स्वार्थमय उद्देश्य के भगवान् की प्रेमाभक्ति में लग जाता है। उदाहरणार्थ, कृष्णभावनामृत का उपदेश देने वाले विरक्त संन्यासी को अथवा विरक्त गृहस्थ को भी गृहस्थ-जीवन में इन्द्रियतृप्ति के लिए आवश्यक समस्त आदेशों को पूरा नहीं करना होता। अन्ततः हर मनुष्य को कृष्णभावनामृत का दिव्य कर्तव्य स्वीकार करना चाहिए। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर्म करके तब कृष्ण को उनका फल अर्पित करने की बजाय मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की अपनी घनिष्ठ इच्छाओं के अनुसार, उन्हें प्रसन्न करने में पूरी तरह लग जाय।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भौतिक जगत को भोगने का कोई भी प्रयास, चाहे धार्मिक दृष्टि से हो या अधार्मिक दृष्टि से हो, अन्ततः विरोधों से पूर्ण होता है। मनुष्य को सच्चा निष्काम पद, अर्थात् शुद्ध भगवत्प्रेम का पद प्राप्त करना चाहिए और जीवन की सारी समस्याओं को हल करना चाहिए।

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित् ।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यमान्—मुख्य-मुख्य विधि-विधान, यथा हिंसा न करना; अभीक्ष्णम्—सदैव; सेवेत—पालन करना चाहिए; नियमान्—गौण नियम, यथा शरीर स्वच्छ रखना; मत्-परः—मेरा भक्त; क्वचित्—यथासम्भव; मत्-अभिज्ञम्—मेरे स्वरूप को जानने वाला; गुरुम्—गुरु को; शान्तम्—शान्त; उपासीत—सेवा करनी चाहिए; मत्-आत्मकम्—जो मुझसे भिन्न नहीं है।

जिसने मुझे अपने जीवन का परम लक्ष्य मान लिया है, उसे चाहिए कि पापकर्मों का निषेध करने वाले शास्त्रीय आदेशों का कठोरता से पालन करे और जहाँ तक हो सके गौण नियमों को यथा स्वच्छता की संस्तुति करने वाले आदेशों को सम्पन्न करे। किन्तु अन्ततः उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए, जो मेरे साकार रूप के ज्ञान से पूर्ण होता है, जो शान्त होता है और जो आध्यात्मिक उत्थान के कारण मुझसे भिन्न नहीं होता।

तात्पर्य : *यमान्* शब्द मनुष्य की शुद्धता को बनाये रखने के लिए आवश्यक प्रमुख विधि-विधानों को बतलाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में समस्त प्रामाणिक सदस्यों को मांस, मछली तथा अंडा खाना छोड़ देना चाहिए और उन्हें नशा, जुआ खेलने तथा अवैध यौन से भी बचना चाहिए। *अभिज्ञम्* शब्द यह सूचित करता है कि मनुष्य कठिन परिस्थितियों में भी ऐसे निषिद्ध कार्यों को किसी समय

सम्पन्न नहीं कर सकता। *नियमान्* शब्द कम अनिवार्य आदेशों का द्योतक है—यथा दिन में तीन बार स्नान करना। कतिपय कठिन परिस्थितियों में मनुष्य प्रतिदिन तीन बार स्नान नहीं कर सकता फिर भी वह अपना आध्यात्मिक पद बनाये रखता है। किन्तु यदि कोई कठिन परिस्थितियों में भी पापपूर्ण निषिद्ध कार्यों में संलग्न होता है, तो उसका आध्यात्मिक पतन अवश्यम्भावी है। अन्त में, जैसाकि *उपदेशामृत* में कहा गया है, मात्र विधि-विधानों में चिपके रहने से आध्यात्मिक सिद्धि नहीं मिल सकती। उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए, जो *मद्-अभिज्ञम्* होता है अर्थात् ईश्वर के साकार रूप के ज्ञान से युक्त होता है। *मत्* (मुझको) शब्द प्रामाणिक गुरु को परम सत्य की निर्विशेष धारणा से युक्त होने की सम्भावना का निषेध करता है। यही नहीं, गुरु को अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए, इसलिए वह *शान्त* कहलाता है। भगवान् के उद्देश्य के प्रति पूर्ण शरणागत होने से ऐसा गुरु *मद्-आत्मकम्* होता है अर्थात् भगवान् से अभिन्न होता है।

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अमानी—मिथ्या अहंकार से रहित; अमत्सरः—अपने को कर्ता न मानते हुए; दक्षः—आलस्य रहित; निर्ममः—पत्नी, बच्चों, घर, समाज के ऊपर स्वामित्व के भाव के बिना.; दृढ-सौहृदः—अपने पूज्य अर्चाविग्रह स्वरूप गुरु से मैत्री के भाव में स्थिर हुआ; असत्वरः—भौतिक काम के कारण मोहग्रस्त हुए बिना; अर्थ-जिज्ञासुः—परम सत्य का ज्ञान चाहने वाला; अनसूयुः—ईर्ष्या से मुक्त; अमोघ-वाक्—व्यर्थ की बातचीत से सर्वथा मुक्त।

गुरु के सेवक अथवा शिष्य को झूठी प्रतिष्ठा से मुक्त होना चाहिए और अपने को कभी भी कर्ता नहीं मानना चाहिए। उसे सदैव सक्रिय रहना चाहिए और कभी भी आलसी नहीं होना चाहिए। उसे पत्नी, बच्चे, घर तथा समाज सहित समस्त इन्द्रिय-विषयों के ऊपर स्वामित्व के भाव को त्याग देना चाहिए। उसे अपने गुरु के प्रति प्रेमपूर्ण मैत्री की भावना से युक्त होना चाहिए और उसे कभी भी न तो पथभ्रष्ट होना चाहिए, न मोहग्रस्त। सेवक या शिष्य में सदैव आध्यात्मिक ज्ञान में आगे बढ़ने की इच्छा होनी चाहिए। उसे किसी से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए और व्यर्थ की बातचीत से बचना चाहिए।

तात्पर्य : कोई भी व्यक्ति अपने को तथाकथित पत्नी, परिवार, घर, समाज इत्यादि का स्थायी स्वामी नहीं कह सकता। ऐसे भौतिक सम्बन्ध समुद्र की सतह पर उठने वाले बुलबुलों के समान प्रकट

तथा अप्रकट होते रहते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने को घर, समाज तथा परिवार को बनाने वाले भौतिक तत्त्वों का स्रष्टा नहीं कह सकता। यदि यह तथ्य होता कि माता-पिता ही अपने बच्चों के शरीर के निर्माता हैं, तो वे अपने माता-पिता से पहले कभी न मरते। माता-पिता बच्चों के लिए दूसरा शरीर गढ़ देते। इसी तरह माता-पिता स्वयं भी न मरते, क्योंकि वे अपने लिए पुराने शरीरों के स्थान पर नये शरीर गढ़ लेते। वस्तुत: हर एक के शरीरों को तथा भौतिक समाजों को निर्मित करने वाले सारे तत्त्वों को ईश्वर ही बनाता है। इसलिए इसके पूर्व कि मृत्यु इन वस्तुओं को हमारे अधिकार से खींच ले, हमें इनका उपयोग स्वेच्छा से उस गुरु की प्रेमाभक्ति में करना चाहिए, जो भगवान् कृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है। तब ऐसी वस्तुएँ शोक का कारण न बन कर सुख के कारण बन सकेंगी।

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ।
उदासीन: समं पश्यन्सर्वेष्वर्थमिवात्मन: ॥ ७॥

शब्दार्थ

जाया—पत्नी; अपत्य—सन्तान; गृह—घर; क्षेत्र—भूमि; स्वजन—सम्बन्धी तथा मित्र; द्रविण—बैंक खाता; आदिषु—इत्यादि में; उदासीन:—अन्यमनस्क रहकर; समम्—समान रूप से; पश्यन्—देखते हुए; सर्वेषु—समस्त; अर्थम्—उद्देश्य; इव—सदृश; आत्मन:—अपना।

मनुष्य को सभी परिस्थितियों में अपने जीवन के असली स्वार्थ (उद्देश्य) को देखना चाहिए और इसीलिए पत्नी, सन्तान, घर, भूमि, रिश्तेदारों, मित्र, सम्पत्ति इत्यादि से विरक्त रहना चाहिए।

तात्पर्य : भगवद्भक्त की मान्यता होती है कि उसकी पत्नी, बच्चे, घर, भूमि, मित्र तथा धन भगवान् की सेवा में लगाये जाने के निमित्त हैं। अतएव वह अपने परिवार तथा मित्रों की इन्द्रियतृप्ति के लिए उन्मत्तता से प्रबन्ध नहीं करता। वह न तो अपनी पत्नी तथा अपने बच्चों का स्वामी होने की झूठी प्रतिष्ठा भोगने का इच्छुक रहता है, न ही अपने मित्रों तथा समाज से प्रतिष्ठा पाने के लिए चिन्तित रहता है। इस तरह वह किसी से द्वेष नहीं रखता और आत्म-साक्षात्कार के मामले में आलस्य नहीं करता। वह स्वामित्व के झूठे ज्ञान से मुक्त रहता है और भगवान् का ज्ञान विकसित करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। वह झूठे अहंकार से मुक्त रहता है और व्यर्थ की भौतिक बातों से अपने को दूर रखता है। इस तरह वह स्थिर होता है, सनकी नहीं होता और अपने गुरु के चरणकमलों पर प्रेमपूर्ण मित्रता के भाव से दृढ़ रहता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कोई व्यक्ति झूठे स्वामित्व से अपने को किस तरह मुक्त रख सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है। सामान्य व्यक्ति अधिकाधिक धन एकत्र करने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहता है और वह स्टॉक, बाँड, प्रतिभूतियों, बैंक खातों, जायदाद, सोना इत्यादि के रूप में अपनी सम्पत्ति संचय करता है। जब तक ये विभिन्न संपत्तियाँ उसकी आर्थिक सम्पन्नता में योगदान करती हैं, तब तक वह इन सबों को समान दृष्टि से देखता है और उन्हें अपनी मानता है। किन्तु यदि सरकार कर के रूप में इनमें से कुछ संपत्तियों को ले लेती है या दुर्भाग्यवश व्यापार में उनकी हानि हो जाती है, तो उसे इनका स्वामित्व छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसी तरह हर व्यक्ति को समझदार होना चाहिए कि असंख्य वस्तुओं पर उसका स्वामित्व स्थायी नहीं है, अतएव उसे इन वस्तुओं के प्रति विरक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। यदि वह भगवान् तथा उनके शुद्ध-भक्त गुरु के साथ सख्य भाव उत्पन्न नहीं करता, तो निश्चित रूप से वह समाज, मैत्री तथा प्रेम के जंजाल में फँसा रहेगा। तब वह भौतिक पद में ही बँधा रहेगा और स्थायी सुख की कोई आशा नहीं कर सकता।

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विलक्षणः—विभिन्न गुणों वाला; स्थूल—स्थूल; सूक्ष्मात्—तथा सूक्ष्म; देहात्—शरीर से; आत्मा—आत्मा; ईक्षिता—द्रष्टा; स्व-दृक्—स्वतः प्रकाशित; यथा—जिस तरह; अग्निः—अग्नि; दारुणः—लकड़ी से; दाह्यात्—जलाई जाने वाली; दाहकः—जलने वाली; अन्यः—दूसरी; प्रकाशकः—प्रकाश देने वाली।

जिस तरह जलने और प्रकाश करने वाली अग्नि उस लकड़ी (ईंधन) से भिन्न होती है, जो प्रकाश देने के लिए जलाई जाती है, उसी तरह शरीर के भीतर का द्रष्टा, स्वतः प्रकाशित आत्मा, उस भौतिक शरीर से भिन्न होता है, जिसे चेतना से प्रकाशित करना पड़ता है। इस तरह आत्मा तथा शरीर में भिन्न भिन्न गुण होते हैं और वे पृथक् पृथक् हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर विश्लेषण विधि से यह प्रदर्शित किया गया है कि मनुष्य को झूठे ही अहंकार की पहचान शरीर से नहीं करनी चाहिए। ऐसी गलत पहचान मिथ्या अहंकार या भौतिक मोह कहलाती है। इस प्रसंग में यह प्रश्न किया जा सकता है—चूँकि यह भलीभाँति ज्ञात है कि भगवान् बद्ध आत्मा को प्रकाशित करते हैं, तो फिर इस श्लोक में *स्व-दृक्* शब्द का प्रयोग क्यों हुआ है? श्रील विश्वनाथ

चक्रवर्ती ठाकुर ने व्याख्या की है कि यद्यपि भगवान् ही जीव को चेतना प्रदान करते हैं, किन्तु भगवान् की शक्ति से युक्त होने के कारण स्वयं जीव में अपनी शुद्ध चेतना को पुनर्जागृत करने और बढ़ाने की क्षमता होती है। इस तरह गौण रूप में उसे स्वतः प्रकाशित माना जा सकता है। यहाँ सोने या चाँदी के बने गुम्बद का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है, जो सूर्य की प्रकाशमय किरणों को परावर्तित कर देता है। यद्यपि प्रकाश सूर्य से आता है, किन्तु सोना तथा चाँदी में निहित स्वाभाविक गुणों को चमकीले परावर्तन का कारण माना जा सकता है, क्योंकि अन्य वस्तुओं में सूर्य के प्रकाश को परावर्तित करने के उपयुक्त गुण नहीं पाये जाते। इसी तरह आत्मा को *स्व-दृक्* माना जा सकता है, क्योंकि उसमें वह गुण पाया जाता है, जिससे वह भगवान् की शक्ति को चमकीले रूप में परावर्तित कर सकता है, ठीक उसी तरह जैसे सोने अथवा चाँदी का गुम्बद अपने परावर्तन गुणों के कारण चमकता है।

इस श्लोक में शरीर तथा आत्मा के विभिन्न गुणों को बतलाने वाला अच्छा उदाहरण दिया गया है। जलने और प्रकाश करने वाली अग्नि उस काठ से भिन्न होती है, जिसे प्रकाश पाने के लिए जलाया जाता है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि काठ के भीतर अग्नि अप्रकट रूप में उपस्थित रहती है। इसी प्रकार अज्ञान के बद्ध जीवन में आत्मा शरीर में उपस्थित रहता है, यद्यपि वह अप्रकट रहता है। जीव की प्रकाशित अवस्था की तुलना काठ के भीतर से अग्नि को जगाने से की जा सकती है। जिस तरह अग्नि काठ को जलाकर तुरन्त राख कर देती है, उसी तरह प्रकाशित किये जाने पर आत्मा अज्ञान के अंधकार को जलाकर राख कर देता है। चूँकि हम शरीर के प्रति सचेत हैं, इसलिए हम कह सकते हैं कि शरीर चेतना द्वारा प्रकाशित है और यह चेतना आत्मा की शक्ति या उसका लक्षण है। शरीर तथा आत्मा को एक मानना वैसी ही मूर्खता है, जिस तरह अग्नि तथा काठ को एक मान लेना। अग्नि तथा काठ अथवा आत्मा तथा शरीर के मध्य जो घनिष्ठ आकस्मिक सम्बन्ध है, उससे इस बात में कोई अन्तर नहीं आता कि अग्नि काठ से भिन्न है अथवा आत्मा सदैव ही शरीर से भिन्न है।

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान्गुणान् ।
अन्तः प्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान्परः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

निरोध—प्रसुप्ति; उत्पत्ति—प्राकट्य; अणु—लघु; बृहत्—विशाल; नानात्वम्—लक्षणों का प्रकार; तत्-कृतान्—उसके द्वारा उत्पन्न; गुणान्—गुण; अन्तः—भीतर; प्रविष्टः—प्रवेश करके; आधत्ते—स्वीकार करता है; एवम्—इस प्रकार; देह—भौतिक शरीर के; गुणान्—गुणों को; परः—दिव्य जीव (आत्मा)।

ईंधन की दशा के अनुसार अग्नि जिस तरह सुप्त, प्रकट, क्षीण, तेज जैसे विविध रूपों में प्रकट हो सकती है, उसी तरह आत्मा भौतिक शरीर में प्रवेश करता है और शरीर के विशिष्ट लक्षणों को स्वीकार करता है।

तात्पर्य : यद्यपि किसी वस्तु विशेष में अग्नि प्रकट और लुप्त हो सकती है, किन्तु अग्नि तत्त्व सदैव विद्यमान रहता है। इसी प्रकार नित्य आत्मा उपयुक्त शरीर के भीतर प्रकट होता है और फिर उस शरीर से लुप्त हो जाता है, परन्तु आत्मा का अस्तित्व सदैव बना रहता है। जिस प्रकार अग्नि अपने ईंधन से भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न है। दियासलाई की काड़ी से लघु अग्नि प्रकट होती है किन्तु गैसोलीन की टंकी के विस्फोट से आकाश तक लपटें फैल जाती हैं। तो भी अग्नि एक है। इसी तरह एक आत्मा ब्रह्मा के शरीर में प्रकट हो सकता है और दूसरा चींटी के शरीर में, किन्तु गुण की दृष्टि से आत्मा प्रत्येक शरीर में एक-सा है। अज्ञान के कारण हम आत्मा पर शरीर के लक्षणों को आरोपित करते हैं और इस तरह हम यह कहते हैं कि यह व्यक्ति अमरीकी, रूसी, चीनी, अफ्रीकी या मेक्सिकोई है या यह कि वह व्यक्ति जवान है या बूढ़ा है। यद्यपि ऐसी उपाधियाँ शरीर पर लागू होती हैं, किन्तु वे आत्मा पर लागू नहीं होतीं, जिसे यहाँ पर *परः* या दिव्य जीव कहा गया है। जब तक मोहग्रस्त आत्मा भगवान् से शत्रु-भाव रखता है, तब तक स्थूल तथा सूक्ष्म देहों की उपाधियाँ उसे प्रच्छन्न किये रहेंगी और उसे अंधकार में रखेंगी। यदि मनुष्य बौद्धिक रूप से अपनी पहचान जीवन के विविध भौतिकतावादी विचारों से करता है, तो वह सूक्ष्म मन द्वारा प्रच्छन्न हो जाता है। अन्ततोगत्वा हर वस्तु जिसका अस्तित्व है, वह परब्रह्म कृष्ण का अंश होती है। जब जीव इसे समझ लेता है, तो वह *निरुपाधि* बन जाता है। यही उसकी स्वाभाविक स्थिति है।

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्या च्छिदात्मनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; असौ—वह (सूक्ष्म शरीर); गुणैः—भौतिक गुणों द्वारा; विरचितः—निर्मित; देहः—शरीर; अयम्—यह (स्थूल शरीर); पुरुषस्य—भगवान् का; हि—निश्चय ही; संसारः—जगत; तत्-निबन्धः—उससे बँधा हुआ; अयम्—यह; पुंसः—जीव का; विद्या—ज्ञान; छित्—छिन्न करने वाला; आत्मनः—आत्मा का।

सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की उत्पत्ति प्रकृति के गुणों से होती है, जो भगवान् की शक्ति से विस्तार पाते हैं। जब जीव झूठे ही स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के गुणों को अपने ही असली स्वभाव के रूप में मान लेता है, तो संसार का जन्म होता है। किन्तु यह मोहमयी अवस्था असली ज्ञान द्वारा नष्ट की जा सकती है।

तात्पर्य : जहाँ तक ईंधन तथा अग्नि की उपमा शरीर तथा आत्मा से दिये जाने की बात है, यह तर्क किया जा सकता है कि कुछ हद तक अग्नि ईंधन पर निर्भर करती है और वह उसके बिना नहीं रह सकती। चूँकि हमें अग्नि के अस्तित्व का अनुभव ईंधन से पृथक् रूप में नहीं है, तो भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह किस तरह सम्भव है कि जीव शरीर से पृथक् रहे, उससे प्रच्छन्न होकर अन्त में पृथक् हो जाय। जीव के स्वभाव को भगवान् की *विद्या* द्वारा ही समझा जा सकता है। *विद्या* अर्थात् असली ज्ञान से भौतिक जगत को खण्ड खण्ड किया जा सकता है और इसी जीवन में आध्यात्मिक सत्य का अनुभव हो सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, हमारा अस्तित्व कृत्रिम रूप से आरोपित है। भगवान् की अचिन्त्य अविद्या द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के गुण जीव पर मनोवैज्ञानिक रूप से लादे जाते हैं और शरीर के साथ गलत पहचान करने से जीव अनेक मोहयुक्त कर्म करने लगता है। जैसाकि पिछले अध्याय में बतलाया गया है, वर्तमान शरीर वृक्ष तुल्य है, जो अगले शरीर के कर्म–बीज उत्पन्न करता है। किन्तु इस अज्ञान के चक्र को दिव्य ज्ञान के द्वारा खण्ड खण्ड किया जा सकता है, जैसाकि भगवान् ने बतलाया है।

दुर्भाग्य से बद्धजीव, भगवान् से शत्रुतावश, उनके द्वारा बतलाये पूर्ण ज्ञान को ग्रहण नहीं करते। बजाय इसके वे स्थूल तथा सूक्ष्म मोह में पड़े रहते हैं। किन्तु यदि जीव भगवान् के ज्ञान को मान ले, तो उसकी सारी स्थिति सुधर सकती है और वह भगवान् के साथ सीधे संपर्क द्वारा पूर्ण ज्ञान का सच्चिदानन्द स्वरूप जीवन प्राप्त कर सकता है।

तस्माज्जिज्ञासयात्मानमात्मस्थं केवलं परम् ।
सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; जिज्ञासया—ज्ञान के अनुशीलन द्वारा; आत्मानम्—भगवान् को; आत्म—अपने भीतर; स्थम्—स्थित; केवलम्—शुद्ध; परम्—दिव्य तथा सर्वश्रेष्ठ; सङ्गम्य—विज्ञान द्वारा पास जाकर; निरसेत्—त्याग दे; एतत्—यह; वस्तु—भौतिक वस्तुओं के भीतर; बुद्धिम्—वास्तविकता की धारणा; यथा-क्रमम्—धीरे धीरे, पदश: ।.

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह अपने भीतर स्थित भगवान् के निकट पहुँचे। भगवान् के शुद्ध दिव्य अस्तित्व को समझ लेने पर मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे धीरे भौतिक जगत को स्वतंत्र सत्ता मानने के झूठे विचार को त्याग दे।

तात्पर्य : *यथाक्रमम्* शब्द का अर्थ है कि मनुष्य अपने को स्थूल भौतिक शरीर से भिन्न अनुभव करते हुए धीरे धीरे भौतिक मानसिक कार्यों से विरक्त कर ले। इस श्लोक में *एतद् वस्तु-बुद्धिम्* का अर्थ है भौतिक जगत के पृथक् अस्तित्व को देखना, न कि हर वस्तु को वस्तुत: परब्रह्म से उद्‌भूत देखना।

जब मनुष्य अपने को शाश्वत आध्यात्मिक रूप में पहचान लेता है, तो उसे ज्ञान का असली फल प्राप्त होता है। भगवान् तो शाश्वत रूप से अपने नित्य रूप में प्रकट होते हैं और इसी तरह जीव भी भगवान् के प्रेमी सेवक के रूप में अपने नित्य रूप में प्रकट होता है। जब हम यह झूठी कल्पना कर लेते हैं कि नश्वर, मोहमय भौतिक पदार्थ सत्य है, तो हमारे नित्य आध्यात्मिक रूप का ज्ञान अज्ञान से आच्छादित रहता है। किन्तु यदि मनुष्य हर वस्तु के भीतर भगवान् की परम उपस्थिति का ध्यान करता है, तो वह अपने सामान्य आनन्दमय आध्यात्मिक जीवन में लौट सकता है। जैसाकि इस श्लोक में *जिज्ञासया* शब्द से सूचित होता है, हर मनुष्य को परम सत्य को समझने का गम्भीर प्रयास करना चाहिए।

आचार्योऽरणिराद्य: स्यादन्तेवास्युत्तरारणि: ।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धि: सुखावह: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आचार्य:—गुरु; अरणि:—यज्ञ अग्नि जलाने में प्रयुक्त पवित्र काष्ठ; आद्य:—नीचे रखा; स्यात्—माना जाता है; अन्ते-वासी—शिष्य; उत्तर—सब से ऊपर; अरणि:—जलाने वाला काष्ठ; तत्-सन्धानम्—ऊपरी तथा निचले काष्ठ को जोड़ने वाली बीच की लकड़ी, (मंथन काष्ठ); प्रवचनम्—आदेश; विद्या—दिव्य ज्ञान; सन्धि:—घर्षण से उत्पन्न अग्नि, जो पूरे काष्ठ में फैल जाती है; सुख—सुख; आवह:—लाकर।.

गुरु की उपमा यज्ञ-अग्नि के निचले काष्ठ से, शिष्य की उपमा ऊपरी काष्ठ से तथा गुरु द्वारा दिये जाने वाले प्रवचनों की उपमा इन दोनों काष्ठों के बीच में रखी तीसरी लकड़ी (मंथन काष्ठ) से दी जा सकती है। गुरु द्वारा शिष्य को दिया गया दिव्य ज्ञान इनके संसर्ग से उत्पन्न होने वाली

अग्नि के समान है, जो अज्ञान को जलाकर भस्म कर डालता है और गुरु तथा शिष्य दोनों को परम सुख प्रदान करता है।

तात्पर्य : जब अज्ञान का अंधकार जलाकर राख कर दिया जाता है, तो अज्ञान का घातक जीवन भी समूल नष्ट हो जाता है और तब मनुष्य पूरे ज्ञान से अपने सही स्वार्थ के लिए कर्म कर सकता है। इस श्लोक में *आद्य:* का अर्थ है ''आदि'' और यह गुरु का सूचक है, जिसकी उपमा निचले काष्ठ से दी गई है। दिव्य ज्ञान अग्नि के समान गुरु से शिष्य तक फैलता है। जिस तरह दो काष्ठ-खण्डों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी तरह कृष्ण के प्रतिनिधि गुरु तथा निष्ठावान शिष्य के मध्य प्रामाणिक संसर्ग से ज्ञान की अग्नि उत्पन्न होती है। जब शिष्य गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, तो वह अपने आदि आध्यात्मिक रूप का पूर्ण ज्ञान स्वयमेव प्राप्त कर लेता है।

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धि-
धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम् ।
गुनांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्
स्वयं च शांयत्यसमिद्यथाग्नि: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वैशारदी—दक्ष (विशारद) से प्राप्त; सा—यह; अति-विशुद्ध—नितान्त शुद्ध; बुद्धि:—बुद्धि या ज्ञान; धुनोति—विकर्षित करता है; मायाम्—माया या मोह को; गुण—प्रकृति के गुणों से; सम्प्रसूताम्—उत्पन्न; गुणान्—प्रकृति के गुणों को; च—भी; सन्दह्य—भस्म करके; यत्—जिन गुणों से; आत्मम्—निर्मित; एतत्—यह (जगत); स्वयम्—अपने आप; च—भी; शांयति—शान्त कर दिया जाता है; असमित्—ईंधन के बिना; यथा—जिस तरह; अग्नि:—अग्नि।

दक्ष गुरु से विनयपूर्वक श्रवण करने से दक्ष शिष्य में शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न भौतिक मोह के प्रहार को पीछे भगा देता है। अन्त में यह शुद्ध ज्ञान स्वयं ही समाप्त हो जाता है, जिस तरह ईंधन का कोष जल जाने पर अग्नि ठंडी पड़ जाती है।

तात्पर्य : *वैशारदी* शब्द का अर्थ है *विशारद* (दक्ष) से व्युत्पन्न। पूर्ण ज्ञान तो दक्ष गुरु से मिलता है और जब ऐसा ज्ञान दक्ष शिष्य द्वारा सुना जाता है, तो यह भौतिक मोह की तरंगों को मोड़ देता है। चूँकि भगवान् की माया-शक्ति भौतिक जगत के भीतर शाश्वत क्रियाशील रहती है, अतएव मोह को विनष्ट करने की सम्भावना नहीं रहती। फिर भी मनुष्य अपने हृदय के भीतर के मोह को तो नष्ट कर ही सकता है। इसमें सफल होने के लिए शिष्य को चाहिए कि वह दक्ष गुरु को प्रसन्न करने में पटु हो। ज्यों ज्यों मनुष्य कृष्णभावनामृत की पूर्णावस्था के निकट पहुँचता जाता है और सर्वत्र भगवान् की

उपस्थिति का अनुभव करने लगता है, त्यों त्यों उसका ध्यान दिव्य पद की ओर खिसक जाता है। उस समय शुद्ध ज्ञान अर्थात् मोह की सतत् सैद्धान्तिक जागरूकता स्वयं ही कम हो जाता है, जिस तरह अग्नि मन्द पड़ जाती है और ईंधन समाप्त हो जाने पर बुझ जाती है।

श्रील मध्वाचार्य ने अनेक वैदिक शास्त्रों से यह दिखाने के लिए उद्धरण दिये हैं कि माया उस डाइन के समान है, जो बद्धजीवों का पीछा करती रहती है। बद्धजीवों को तीन गुणों में से, जो भी गुण अच्छा लगता है, उसे ही माया प्रदान करती है, किन्तु ऐसी भेंटें उस अग्नि के तुल्य होती हैं, जो हृदय को भस्म कर देती है। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि यह जगत नरक तुल्य है, जिसमें किसी को कोई स्थायी पद नहीं मिलता। बाहर से हमें अनेक वस्तुओं का अनुभव होता है, भीतर भीतर हम अपने अनुभव का मनन करते हैं और भावी कार्य की योजनाएँ बनाते हैं। इस प्रकार हम बाहर तथा भीतर से अज्ञान के शिकार हैं। असली ज्ञान वेदों से आता है या फिर पूर्ण विद्या के रूप में भगवान् से। यदि हम भगवान् की शरण में जाकर पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं, तो आनन्द की कमी नहीं रहती, क्योंकि भगवान् आनन्द के आगार हैं और उनके भक्त इस आगार के भीतर मुक्त भाव से विचरण करते हैं।

अथैषाम्कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः ।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् ॥ १४॥
मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा ।
तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः ॥ १५॥
एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः ।
कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥ १६॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; एषाम्—इनका; कर्म—सकाम कर्म; कर्तॄणाम्—कर्ताओं के; भोक्तृणाम्—भोक्ताओं के; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख में; नानात्वम्—विविधता; अथ—और भी; नित्यत्वम्—नित्यता; लोक—भौतिकतावादी जगत की; काल—समय की; आगम—सकाम कर्म की संस्तुति करने वाला वैदिक वाड्मय; आत्मनाम्—तथा आत्मा; मन्यसे—यदि तुम सोचते हो; सर्व—समस्त; भावानाम्—भौतिक वस्तुओं का; संस्था—वास्तविक स्थिति; हि—निश्चय ही; औत्पत्तिकी—आदि, मूल; यथा—जिस तरह; तत्-तत्—विभिन्न वस्तुओं में से; आकृति—उनके रूपों के; भेदेन—अन्तर से; जायते—उत्पन्न होता है; भिद्यते—बदलता है; च—भी; धीः—बुद्धि या ज्ञान; एवम्—इस प्रकार; अपि—यद्यपि; अङ्ग—हे उद्धव; सर्वेषाम्—समस्त; देहिनाम्—देहधारियों में से; देह-योगतः—भौतिक शरीर के संपर्क से; काल—समय के; अवयवतः—अंग अंग या अंश अंश करके; सन्ति—हैं; भावाः—दशाएँ; जन्म—जन्म; आदयः—इत्यादि; असकृत्—निरन्तर।

हे उद्धव, मैंने तुम्हें पूर्ण ज्ञान बतला दिया। किन्तु ऐसे भी दार्शनिक हैं, जो मेरे निष्कर्ष का प्रतिवाद करते हैं। उनका कहना है कि जीव का स्वाभाविक पद तो सकाम कर्म में निरत होना है और वे जीव को उसके कर्म से उत्पन्न सुख-दुख के भोक्ता के रूप में देखते हैं। इस भौतिकतावादी दर्शन के अनुसार जगत, काल, प्रामाणिक शास्त्र तथा आत्मा—ये सभी विविधतायुक्त तथा शाश्वत हैं और विकारों के निरन्तर प्रवाह के रूप में विद्यमान रहते हैं। यही नहीं, ज्ञान एक अथवा नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह विविध एवं परिवर्तनशील पदार्थों से उत्पन्न होता है। फलस्वरूप ज्ञान स्वयं भी परिवर्तनशील होता है। हे उद्धव, यदि तुम इस दर्शन को मान भी लो, तो भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग सदा बने रहेंगे, क्योंकि सारे जीवों को काल के प्रभाव के अधीन भौतिक शरीर स्वीकार करना होगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में भगवान् कृष्ण ने उद्धव से यह कहा, ''हे उद्धव! अभी मैंने जो उपदेश दिये, उनमें मैंने जीवन के वास्तविक उद्देश्य की स्पष्टोक्ति कर दी है। किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं, विशेष रूप से जैमिनि कवि के अनुयायी, जो मेरे निष्कर्ष का प्रतिवाद करते हैं। यदि तुम उनके ज्ञान को उपयुक्त समझते हो और मेरे उपदेशों को स्वीकार नहीं करते, तो निम्नलिखित व्याख्या सुनो।

जैमिनि के अनुयायियों के अनुसार जीव मूलतः तथा स्वभावतः सकाम कर्मों का कर्ता है और उसके सुख-दुख उसके अपने कर्मों के फल होते हैं। जीवों द्वारा भोग प्राप्त किये जाने वाला यह जगत, उनके द्वारा भोगा गया समय, भोग प्राप्त करने के साधन बतलाने वाले प्रामाणिक शास्त्र तथा वे सूक्ष्म शरीर, जिनसे जीव भोग का अनुभव करता है—ये सारे के सारे न केवल नाना रूपों में विद्यमान रहते हैं, अपितु वे शाश्वत भी हैं।

जीव को भौतिक पदार्थों तथा स्थितियों की नश्वरता देखकर अथवा जगत को माया के रूप में देखकर भौतिक इन्द्रियतृप्ति से विराग उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे भौतिकतावादी दर्शन के अनुसार फूलमाला, चन्दन या सुन्दर स्त्री जैसे भौतिक पदार्थ विशिष्ट प्राकट्यों में क्षणिक होते हैं, किन्तु सृष्टि तथा संहार के प्राकृतिक प्रवाह के माध्यम से वे निरन्तर विद्यमान रहते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि किसी स्त्रीविशेष का स्वरूप नश्वर है, किन्तु भौतिक जगत में सुन्दर स्त्रियाँ सदैव रहेंगी ही। इस

तरह धर्मशास्त्रों के अनुसार सकाम अनुष्ठान (कर्मकाण्ड) सावधानी से करने से मनुष्य जन्म-जन्मांतर स्त्रियों तथा सम्पत्ति से भोग्य सम्पर्क बनाये रह सकता है। इस तरह मनुष्य की इन्द्रियतृप्ति शाश्वत बनी रहेगी।

''जैमिनि दार्शनिकों का यह भी कहना है कि ऐसा कोई समय नहीं था, जब यह जगत उस रूप में विद्यमान न रहा हो, जैसाकि आज है, जिसका अर्थ यह है कि इस जगत के बनाने वाला कोई परम नियन्ता नहीं है। उनका दावा है कि इस जगत की व्यवस्था सत्य तथा उपयुक्त है—वह मायामय नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी कहना है कि आत्मा के आदि शाश्वत रूप का कोई नित्य ज्ञान नहीं है। उनका कहना है कि ज्ञान वस्तुत: किसी परम सत्य से नहीं अपितु भौतिक वस्तुओं के अन्तर से उत्पन्न होता है। इसलिए ज्ञान शाश्वत नहीं प्रत्युत परिवर्तनशील है। इस कथन में निहित कल्पना यह है कि ऐसा आत्मा नहीं, जो एक अपरिवर्तनशील सत्य के शाश्वत अविरत ज्ञान से युक्त हो। प्रत्युत चेतना अथवा ज्ञान स्वभाव से ही निरन्तर रूपान्तरणशील है। किन्तु उनका कहना है कि चेतना के निरन्तर रूपान्तरित होने से नित्यता का खण्डन नहीं होता। उनका कहना है कि चेतना शाश्वत रूप से विद्यमान रहती है, किन्तु एक ही रूप में नहीं।

''इस तरह जैमिनि के अनुयायी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान का रूपान्तरण उसकी नित्यता का निषेध नहीं करता, प्रत्युत उनका कहना है कि ज्ञान अपने रूपान्तरण के निरन्तर स्वभाव के भीतर शाश्वत रूप से विद्यमान रहता है। इसलिए ये अनुयायी वैराग्य के पथ पर न आकर नियमित इन्द्रियतृप्ति के पथ पर आते हैं, क्योंकि *मुक्ति* की अवस्था में जीव के अनेक इन्द्रियाँ नहीं होंगी और तब भौतिक ज्ञान का रूपान्तर सम्भव नहीं हो पायेगा। ऐसे दार्शनिकों का विचार है कि मुक्ति की ऐसी अपरिवर्तनशील अवस्था की प्राप्ति जीव की सहज क्रियाशीलता को पंगु बना देगी और यह उसके हित में नहीं होगा। ऐसे भौतिकतावादी दार्शनिकों को *निवृत्ति* मार्ग रोचक नहीं लगता। ऐसे भौतिकतावादी दर्शन को यदि हम तर्क के तौर पर वैध मान भी लें, तो यह आसानी से दिखलाया जा सकता है कि नियमित इन्द्रियतृप्ति के मार्ग से जीव को तमाम अवांछित और कष्टकारक परिणाम उठाने पड़ सकते हैं। इसलिए भौतिकतावादी दृष्टिकोण से भी वैराग्य वांछनीय है। भौतिक काल दिन, सप्ताह, मास, वर्ष जैसे विभागों में बँटा हुआ है और इस भौतिक काल द्वारा ही जीव को बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा तथा

व्याधि का कष्ट उठाना पड़ता है। ऐसे वास्तविक कष्ट पूरे विश्व को उठाने पड़ते हैं, यह सर्वविदित है।'' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कहना है कि इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने उद्धव को भौतिकतावादी दर्शन के दोष बतलाये।

हम इसके आगे यह कह सकते हैं कि यदि कोई झूठे तौर पर जैमिनि तथा उनके असंख्य आधुनिक अनुयायियों के नास्तिक दर्शन को स्वीकार करता है, जो जीव जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के कष्ट में सदा फँसा रहता है। यह घटिया नास्तिक दर्शन इन्द्रियतृप्ति को जीवन के एकमात्र लक्ष्य के रूप में प्रोत्साहन देता है, किन्तु ऐसा होने पर जीव नियमित इन्द्रियतृप्ति को अपनाने की गलती करेगा, तो उसे अन्ततः नरक जाना पड़ेगा। भगवान् कृष्ण उद्धव से स्वयं कह रहे हैं कि यह भौतिकतावादी दर्शन मिथ्या है और जीव के वास्तविक हित में नहीं है।

तत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते ।
भोक्तुश्च दुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तत्र—सुख प्राप्त करने की क्षमता के मामले में; अपि—इससे भी आगे; कर्मणाम्—सकाम कर्मों के; कर्तुः—कर्ता के; अस्वातन्त्र्यम्—स्वतंत्रता का अभाव; च—भी; लक्ष्यते—स्पष्ट दिखाता है; भोक्तुः—भोक्ता का; च—भी; दुःख-सुखयोः—दुख तथा सुख; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; अर्थः—महत्त्व; विवशम्—असंयमी के लिए; भजेत्—प्राप्त किया जा सकता है।

यद्यपि सकाम कर्म करने वाला शाश्वत सुख की इच्छा करता है, किन्तु यह स्पष्ट देखने में आता है कि भौतिकतावादी कर्मीजन प्रायः दुखी रहते हैं और कभी-कभी ही तुष्ट होते हैं। इस तरह यह सिद्ध होता है कि वे न तो स्वतंत्र होते हैं, न ही अपना भाग्य उनके नियंत्रण में होता है। जब कोई व्यक्ति सदा ही दूसरे के नियंत्रण में रह रहा हो, तो फिर वह अपने सकाम कर्मों से किसी महत्वपूर्ण परिणाम की आशा कैसे रख सकता है?

तात्पर्य : यद्यपि भौतिकतावादी लोग कृष्णभावनामृत का बहिष्कार करके क्षणिक इन्द्रियतृप्ति के पीछे लगे रहते हैं, किन्तु यह इन्द्रियतृप्ति भी प्रायः उनकी पहुँच के बाहर होती है। यदि कोई व्यक्ति अपने भाग्य को वश में कर पाता, तो फिर वह अपने लिए समस्याएँ क्यों उत्पन्न करता? कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अपने या अपने प्रियजनों पर मृत्यु, बुढ़ापा या रोग क्यों लादेगा? मनुष्य को यह मानना होगा कि ये अवांछित कष्ट किसी उच्च शक्ति द्वारा उस पर लादे जा रहे हैं। चूँकि हम स्पष्टतया सर्वोच्च

सत्ता के अधीन हैं, इसलिए ऐसा नास्तिकतावादी दर्शन, जो मनुष्य को केवल सकाम कर्म करने और सुखी जीवन लाने का उपदेश देता हो, नितान्त अपूर्ण है।

सुख-दुख तो काल के प्रभाव से उत्पन्न हैं। जब कोई स्त्री गर्भवती होती है, तो उसका पति, उसके सम्बन्धी तथा इष्टमित्र उत्सुकतापूर्वक शिशु-जन्म की प्रतीक्षा करते हैं। समय बीतने पर जब शिशु जन्मता है, तो सबों को परम सुख होता है। किन्तु ज्यों ज्यों बालक वृद्ध होता है और अन्त में जब वह मरता है, तो वही कालक्रम कष्ट का कारण बन जाता है। अज्ञानी व्यक्ति व्यर्थ ही उन वैज्ञानिकों की सहायता के लिए मुँह ताकते हैं, जो मृत्यु को रोकने के लिए अपनी प्रयोगशालाओं में बड़ी तेजी से तथा निरर्थक ही कार्य करते हैं। आधुनिककाल में जीवन की असुविधाओं को दूर करने के लिए अविष्कार किये गये हैं, किन्तु इनसे विश्व-भर के करोड़ों लोगों को असहनीय असुविधा ही हुई है। केवल महामूर्ख व्यक्ति ही यह प्रस्ताव करेगा कि परम नियन्ता कोई नहीं है और मनुष्य कुशल भौतिक कार्यों के द्वारा अनुकूल फल पा सकता है। अन्ततोगत्वा सारे कार्यकलाप व्यर्थ हैं, क्योंकि उनकी चरम परिणति संहार होती है। यदि मोटर-कार चलाने वालों के पास सीमित नियंत्रण रहे, तो स्थिति और भी गम्भीर होती है, क्योंकि इससे दुर्घटना होनी अनिवार्य है। इसी तरह यद्यपि हम शरीर को सुख की ओर ले जाना चाहते हैं, किन्तु शारीरिक आवश्यकताओं पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता, अतएव दुर्घटना अवश्यम्भावी है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३) में कहा गया है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

"हे परन्तप! जो लोग भक्ति में श्रद्धा नहीं रखते वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वे इस भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु के मार्ग पर वापस आते रहते हैं।" यदि कोई भगवान् कृष्ण का भक्त नहीं है, तो उसके कर्मों का अन्तिम परिणाम 'मृत्यु-संसार' मात्र है अर्थात् बारम्बार जन्म तथा मृत्यु।

न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि ।
तथा च दुःखं मूढानां वृथाहङ्करणं परम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; देहिनाम्—देहधारी जीवों के; सुखम्—सुख; किञ्चित्—थोड़ा; विद्यते—है; विदुषाम्—बुद्धिमानों के; अपि—भी; तथा—उसी तरह; च—भी; दुःखम्—दुख; मूढानाम्—महामूर्खों के; वृथा—व्यर्थ; अहङ्करणम्—मिथ्या अहंकार; परम्—एकमात्र या पूरी तरह से।

संसार में यह देखा जाता है कि कभी कभी बुद्धिमान व्यक्ति भी सुखी नहीं रहता। इसी तरह कभी कभी महा मूर्ख भी सुखी रहता है। भौतिक कार्यों को दक्षतापूर्वक संपन्न करके सुखी बनने की विचारधारा मिथ्या अहंकार का व्यर्थ प्रदर्शन मात्र है।

तात्पर्य : ऐसा तर्क किया जा सकता है कि बुद्धिमान व्यक्ति इस संसार में दक्षतापूर्वक पुण्यकार्य कर सकता है और इस तरह वह कभी कष्ट नहीं पायेगा, क्योंकि दुख तो पापपूर्ण या अपवित्र कार्यों से उत्पन्न होता है। किन्तु प्राय: पवित्र, बुद्धिमान व्यक्तियों को भी महान् कष्ट भोगते देखा गया है, क्योंकि कभी कभी वे अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर पाते और कभी कभी जाने या अनजाने निषिद्ध कर्म करते हैं। इस तर्क से भगवान् इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं कि भौतिक शुद्धता के बल पर ही मनुष्य बिना कृष्णभावनामृत के निरन्तर सुखी रह सकता है।

दूसरी ओर, यह देखा जाता है कि महा मूर्ख या पापी व्यक्ति भी कभी कभी सुख का अनुभव करते हैं, क्योंकि पाप में लगे व्यक्ति भी कभी कभी किसी तीर्थस्थान की यात्रा करके अथवा किसी सन्त-पुरुष की सहायता करके संयोगवश कुछ पुण्यकर्म कर लेते हैं। ईश्वर की भौतिक सृष्टि इतनी जटिल और मोहग्रस्त करनेवाली है कि जो लोग शुद्धता के प्रति समर्पित होते हैं, वे भी कभी कभी पुण्यकर्म कर लेते हैं। इसलिए हमें भौतिक जगत में न तो परम सुख मिलता है, न परम दुख। प्रत्युत हर व्यक्ति पूर्ण ज्ञान के बिना इधर-उधर भ्रमित-सा मँडराता रहता है। शुद्धता तथा पाप सापेक्ष भौतिक विचार हैं, जो सापेक्ष सुख तथा दुख प्रदान करते हैं। परम सुख का अनुभव कृष्णभावनामृत के पूर्ण पद पर या ईश-प्रेम के पद पर किया जाता है। भौतिक जीवन सदैव ही द्विधापूर्ण तथा सापेक्ष रहा है, जबकि कृष्णभावनामृत पूर्ण सुख का वास्तविक पद है।

यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः ।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद्यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; प्राप्तिम्—उपलब्धि; विघातम्—नाश, हटाया जाना; च—भी; जानन्ति—वे जानते हैं; सुख—सुख; दुःखयोः—तथा दुख को; ते—वे; अपि—फिर भी; अद्धा—प्रत्यक्ष; न—नहीं; विदुः—जानते हैं; योगम्—विधि; मृत्युः—मृत्यु; न—नहीं; प्रभवेत्—अपनी शक्ति दिखलाते हैं; यथा—जिससे।

यदि लोग यह जान भी लें कि किस तरह सुख प्राप्त किया जाता है और किस तरह दुख से बचा जाता है, तो भी वे उस विधि को नहीं जानते, जिससे मृत्यु उनके ऊपर अपनी शक्ति का प्रभाव न डाल सके।

तात्पर्य : यदि तथाकथित बुद्धिमान भौतिकतावादी लोग सुख प्राप्त करने तथा दुख को नष्ट करने का साधन जानते हैं, तो उन्हें चाहिए कि अवश्यम्भावी मृत्यु से लोगों का उद्धार करें। विज्ञानीजन इस समस्या को हल करने में जुटे हुए हैं, किन्तु क्योंकि वे पूरी तरह असफल रहे हैं, अत: यह मानना होगा कि वे वास्तव में बुद्धिमान नहीं हैं और वे सुख प्राप्त करने तथा कष्ट दूर करने के साधन नहीं जानते। यह सोचना निरी मूर्खता होगी कि गर्दन के ऊपर तलवार लटकती रहे और मनुष्य सुखी रहे। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है—*मृत्यु: सर्वहरश्चाहम्*—मैं तुम्हारे समक्ष मृत्यु-रूप में उपस्थित होता हूँ और प्रत्येक वस्तु को हर ले जाता हूँ—हमें आँख मूँदकर भौतिक जीवन के संकट की अनदेखी नहीं करनी चाहिए, अपितु भगवान् की अहैतुकी कृपा को स्वीकार करना चाहिए, जिसे उन्होंने चैतन्य महाप्रभु के अवतार-रूप में हमें उदारता से प्रदान किया है। हमें चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों में अपने को समर्पित करना चाहिए, जो मुँहमाँगा सुख प्राप्त करने का वास्तविक साधन—भगवन्नाम का कीर्तन—प्रदान करने वाले हैं। यह प्रभु की इच्छा है और इस विधि को अपनाना हमारे स्वार्थ में है।

कोऽन्वर्थ: सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिद: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

क:—कौन; नु—निश्चय ही; अर्थ:—भौतिक पदार्थ; सुखयति—सुख देता है; एनम्—पुरुष को; काम:—भौतिक वस्तुओं से मिलने वाली इन्द्रियतृप्ति; वा—अथवा; मृत्यु:—मृत्यु; अन्तिके—पास ही खड़ी; आघातम्—घटनास्थल तक; नीयमानस्य—ले जाये जाने वाले का; वध्यस्य—वध किये जाने वाले का; इव—सदृश; न—तनिक भी नहीं; तुष्टि-द:—सन्तोष प्रदान करता है।.

मृत्यु अच्छी नहीं लगती, और क्योंकि हर व्यक्ति फाँसी के स्थान पर ले जाये जाने वाले दण्डित व्यक्ति के समान है, तो फिर भौतिक वस्तुओं या उनसे प्राप्त तृप्ति से लोगों को कौन-सा संभव सुख मिल सकता है?

तात्पर्य : सारे विश्व में यह प्रथा है कि फाँसी देने से पहले व्यक्ति को अन्तिम सुस्वादु भोजन कराया जाता है। किन्तु ऐसे व्यक्ति के लिए ऐसा भोजन उसकी आसन्न मृत्यु को दुखद् स्मरण दिलाने वाला होता है अतएव वह उसका आनन्द नहीं उठा पाता। इसी प्रकार कोई भी विवेकवान् व्यक्ति

भौतिक जीवन से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि मृत्यु निकट ही खड़ी रहती है और वह किसी भी क्षण दबोच सकती है। यदि कोई व्यक्ति अपने रिहायशी कमरे में बैठा हो और पास ही एक कोने पर विषधर सर्प बैठा हो, तो भला कोई शान्तिपूर्वक किस तरह टेलीविजन देख सकता है या पुस्तक पढ़ सकता है, जबकि वह जानता है कि विषैले दन्त किसी क्षण भी उसके शरीर को डस सकते हैं? इसी तरह जब तक कोई न्यूनाधिक सनकी न हो, भला वह भौतिक जीवन के प्रति उत्साहपूर्ण या शान्त कैसे हो सकता है? मृत्यु की अपरिहार्यता के ज्ञान से मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन के प्रति दृढ़-संकल्प बनने के लिए प्रोत्साहित होना चाहिए।

श्रुतं च दृष्टवदुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।
बह्वन्तरायकामत्वात्कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्रुतम्—सुना हुआ भौतिक सुख; च—भी; दृष्ट-वत्—मानो पहले से देखा हुआ हो; दुष्टम्—कलुषित; स्पर्धा—ईर्ष्या से; असूया—द्वेष से; अत्यय—मृत्यु से; व्ययैः—क्षय द्वारा; बहु—अनेक; अन्तराय—व्यवधान; कामत्वात्—सुख को स्वीकार करने से; कृषि-वत्—खेती की तरह; च—भी; अपि—ही; निष्फलम्—फलरहित।

वह भौतिक सुख, जिसके बारे में हम सुनते रहते हैं, (यथा दैवी सुख-भोग के लिए स्वर्गलोक की प्राप्ति), हमारे द्वारा अनुभूत भौतिक सुख के ही समान है। ये दोनों ही ईर्ष्या, द्वेष, क्षय तथा मृत्यु से दूषित रहते हैं। इसलिए जिस तरह फसल के रोग, कीट या सूखा जैसी समस्याएँ उत्पन्न होने पर फसलें उगाना व्यर्थ हो जाता है, उसी तरह पृथ्वी पर या स्वर्गलोक में भौतिक सुख प्राप्त करने का प्रयास अनेक व्यवधानों के कारण निष्फल हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है—"सामान्य रूप से, यदि कोई विशेष व्यवधान न पड़े, तो कृषि विषयक प्रयत्न सफल होते हैं। किन्तु यदि बीज में कोई दोष हो या फिर भूमि अधिक खारी या बंजर हो या कि सूखा, प्लेग, मौसम के प्रतिकूल अधिक वर्षा या अधिक गर्मी पड़े या फिर पशु, पक्षी या कीड़े उत्पात मचायें तो कृषि-कर्म से वांछित फसल प्राप्त नहीं होगी। इसी तरह जो लोग भौतिक जगत का विश्लेषण करने में दक्ष होते हैं, वे देखते हैं कि वेदों में, जो स्वर्ग की स्थितियाँ बतलायी गयी हैं, वे पृथ्वी के जीवन से भिन्न नहीं हैं। बद्धजीवों में परस्पर मेल-मिलाप से ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न होना अनिवार्य है, जब कोई व्यक्ति ऊँचा उठ जाता है और दूसरा नीचे रह जाता है। समय के साथ ये पद उलट जाते हैं, इसलिए स्वर्गलोक में भी

हिंसा, झगड़े तथा षड्यंत्र होने से उपद्रव मचा रहता है। वस्तुत: स्वर्गलोक तक पहुँचने के प्रयास अपने आप में समस्याओं तथा उत्पातों से पूर्ण हैं। इसलिए यह समझ लेना होगा कि वैकुण्ठ, जो कि ईश्वर का धाम है, इस जगत द्वारा लागू होने वाले प्रकृति के कानूनों की सीमाओं तथा झगड़ों से परे है। यदि कोई यह गलत ही सोचे कि वैकुण्ठ में भी ये सारी अपूर्णताएँ पाई जाती हैं, तो वह भौतिक कल्मष से कलुषित हो जायेगा।''

अन्तरायैरविहितो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः ।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अन्तरायैः—अवरोधों तथा न्यूनताओं से; अविहितः—अप्रभावित; यदि—यदि; धर्मः—वैदिक आदेशों के अनुसार नियमित कर्तव्यों का पालन; स्व्-अनुष्ठितः—ढंग से सम्पादित; तेन—उसके द्वारा; अपि—भी; निर्जितम्—सम्पन्न; स्थानम्—पद; यथा—जिस तरह से; गच्छति—नष्ट होता है; तत्—उसे; शृणु—सुनो।

यदि कोई व्यक्ति किसी त्रुटि या कल्मष के बिना वैदिक यज्ञ तथा कर्मकाण्ड सम्पन्न करता है, तो उसे अगले जीवन में स्वर्ग में स्थान मिलेगा। किन्तु कर्मकांड द्वारा प्राप्त किया जाने वाला यह फल भी काल के द्वारा नष्ट कर दिया जायेगा। अब इसके विषय में सुनो।

तात्पर्य : *गच्छति* शब्द का अर्थ है ''जा रहा है।'' *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*आगमापायिनोऽनित्याः*—अच्छे या बुरे सभी प्रकार के अनुभव आते-जाते रहते हैं। इसलिए *गच्छति* शब्द अच्छे से अच्छे सम्पन्न हुए सकाम यज्ञ के फल के लुप्त होने का सूचक है। कोई भी भौतिक पद, चाहे कितना भी बुरा या अच्छा हो, अपूर्ण होता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध कृष्णभावनामृत के लिए ही प्रयास करे।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान्दिव्यान्निजार्जितान् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—पूजा करके; इह—इस जगत में; देवताः—देवतागण; यज्ञैः—यज्ञ द्वारा; स्वः-लोकम्—स्वर्गलोक को; याति—जाता है; याज्ञिकः—यज्ञ करने वाला; भुञ्जीत—भोग सकता है; देव-वत्—देवता के समान; तत्र—जिसमें; भोगान्—आनन्द; दिव्यान्—दिव्य; निज—अपने से; अर्जितान्—अर्जित किये हुए।

यदि पृथ्वी पर कोई व्यक्ति देवताओं की तुष्टि के लिए यज्ञ सम्पन्न करता है, तो वह स्वर्गलोक जाता है, जहाँ वह देवताओं की ही तरह अपने कार्यों से अर्जित सभी प्रकार के स्वर्ग-सुख का भोग करता है।

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ।
गन्धर्वैर्विहरन्मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक् ॥ २४॥

शब्दार्थ

स्व—अपने; पुण्य—पुण्यकर्मों से; उपचिते—संचित; शुभ्रे—चमकीले; विमाने—वायुयान में; उपगीयते—गीतों द्वारा महिमा गाई जाती है; गन्धर्वैः—गन्धर्वों द्वारा; विहरन्—जीवन का आनन्द मनाते; मध्ये—बीच में; देवीनाम्—स्वर्ग की देवियों के; हृद्य—मनोहर; वेष—वस्त्र; धृक्—धारण किये।

स्वर्ग प्राप्त कर लेने के बाद यज्ञ करने वाला व्यक्ति चमचमाते वायुयान में बैठ कर यात्रा करता है, जो उसे पृथ्वी पर उसके पुण्यकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होता है। वह गन्धर्वों द्वारा यशोगान किया जाकर तथा अतीव मोहक वस्त्र पहने स्वर्ग की देवियों से घिर कर जीवन का आनन्द लेता है।

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किनीजालमालिना ।
क्रीडन्न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥ २५॥

शब्दार्थ

स्त्रीभिः—स्वर्ग की स्त्रियों के साथ; काम-ग—इच्छानुसार भ्रमण करते हुए; यानेन—वायुयान द्वारा; किङ्किणी-जाल-मालिना—बजती घंटियों के मंडलों से अलंकृत; क्रीडन्—विहार करते; न—नहीं; वेद—विचार करता है; आत्म—निजी; पातम्—पतन को; सुर—देवताओं के; आक्रीडेषु—विहार-उद्यानों में; निर्वृतः—अत्यन्त सुखी तथा आराम का अनुभव करता।

यज्ञ फल का भोक्ता स्वर्ग की सुन्दरियों को साथ लेकर ऐसे अद्‌भुत विमान में चढ़कर सैर सपाटे के लिए जाता है, जो रुनझुन शब्द करती घंटियों से गोलाकार में सजाया रहता है और जहाँ भी चाहे उड़ जाता है। वह स्वर्ग के विहार-उद्यानों में नितान्त सुख एवं आराम का अनुभव करते हुए इस पर विचार ही नहीं करता कि वह अपने पुण्यकर्मों के फल को समाप्त कर रहा है और शीघ्र ही मर्त्यलोक में जा गिरेगा।

तावत्स मोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुन्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कालचालितः ॥ २६॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; सः—वह; मोदते—आनन्द मनाता है; स्वर्गे—स्वर्ग में; यावत्—जब तक; पुण्यम्—उसके पवित्र फल; समाप्यते—समाप्त हो जाते हैं; क्षीण—घट जाते हैं; पुण्यः—उसका पुण्य; पतति—गिर जाता है; अर्वाक्—स्वर्ग से; अनिच्छन्—न चाहते हुए; काल—समय के द्वारा; चालितः—नीचे धकेला गया।

यज्ञकर्ता तब तक स्वर्गलोक में जीवन का आनन्द लेता है, जब तक उसके पुण्यकर्मों का फल समाप्त नहीं हो जाता। किन्तु जब पुण्यफल चुक जाते हैं, तो नित्य काल की शक्ति द्वारा वह उसकी इच्छा के विरुद्ध स्वर्ग के विहार स्थलों से धकिया कर नीचे गिरा दिया जाता है।

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः ।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ॥ २७॥
पशूनविधिनालभ्य प्रेतभूतगणान्यजन् ।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥ २८॥
कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन्देहेन तैः पुनः ।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥ २९॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; अधर्म—अधर्म में; रतः—लगा हुआ; सङ्गात्—संगति के फलस्वरूप; असताम्—भौतिकतावादी लोगों की; वा—अथवा; अजित—न जीतने के कारण; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; काम—भौतिक कामेच्छाएँ; आत्मा—के लिए जीवित; कृपणः—कंजूस; लुब्धः—लोभी; स्त्रैणः—स्त्रियों के पीछे पड़ने वाला; भूत—अन्य जीवों के विरुद्ध; विहिंसकः—हिंसा करते हुए; पशून्—पशुओं को; अविधिना—वैदिक आदेशों के अधिकार के बिना; आलभ्य—मारकर; प्रेत-भूत—भूत-प्रेत; गणान्—समूहों; यजन्—पूजा करते हुए; नरकान्—नरकों को; अवशः—निरुपाय, सकाम कर्मों के अधीन; जन्तुः—जीव; गत्वा—जाकर; याति—पहुँचता है; उल्बणम्—घने; तमः—अंधकार में; कर्माणि—कर्म; दुःख—दुख; उदर्काणि—भविष्य में लाने वाले; कुर्वन्—करते हुए; देहेन—ऐसे शरीर से; तैः—ऐसे कर्मों से; पुनः—फिर; देहम्—शरीर; आभजते—स्वीकार करता है; तत्र—वहाँ; किम्—क्या; सुखम्—सुख; मर्त्य—मरणशील; धर्मिणः—कर्म करने वाले का।

यदि मनुष्य बुरी संगति के कारण अथवा इन्द्रियों को अपने वश में न कर पाने के कारण पापमय अधार्मिक कार्यों में लिप्त रहता है, तो ऐसा व्यक्ति निश्चित ही भौतिक इच्छाओं से पूर्ण व्यक्तित्व को जन्म देता है। इस तरह वह अन्यों के प्रति कंजूस, लालची तथा स्त्रियों के शरीरों का लाभ उठाने का सदैव इच्छुक बन जाता है। जब मन इस तरह दूषित हो जाता है, तो वह हिंसक तथा उग्र हो उठता है और वेदों के आदेशों के विरुद्ध अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए निरीह पशुओं का वध करने लगता है। भूत-प्रेतों की पूजा करने से ऐसा मोहग्रस्त व्यक्ति अवैध कार्यों की गिरफ्त में आ जाता है और नरक को जाता है, जहाँ उसे तमोगुण से युक्त भौतिक शरीर प्राप्त होता है। ऐसे अधम शरीर से वह दुर्भाग्यवश अशुभ कर्म करता रहता है, जिससे उसका भावी दुख बढ़ता जाता है, अतएव वह पुनः वैसा ही भौतिक शरीर स्वीकार करता है। ऐसे व्यक्ति के

लिए ऐसा कौन-सा सुख हो सकता है, जिसके लिए वह अपने को ऐसे कार्यों में लगाता है, जो अपरिहार्य रूप से मृत्यु पर समाप्त हो जाते हैं?

तात्पर्य : सभ्य जीवन हेतु वैदिक विश्लेषण से दो मार्ग निकलते हैं। जो व्यक्ति *निवृत्ति मार्ग* को ग्रहण करता है, वह तुरन्त ही भौतिक इन्द्रियतृप्ति का परित्याग कर देता है और तपस्या तथा भक्ति-कर्मों के द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाता है। *प्रवृत्ति मार्ग* में वह इन्द्रियों को निरन्तर इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति कराता रहता है, किन्तु वह इन इन्द्रिय-विषयों का उपयोग कठोर विधि-विधानों तथा कर्मकाण्ड के अनुसार करता है, जिससे उसका हृदय क्रमश: शुद्ध हो जाता है और भौतिक इन्द्रियों की प्यास बुझती है। जैसाकि इस श्लोक में तथा पिछले श्लोक में बतलाया गया है, दुर्भाग्यवश प्रवृत्ति मार्ग अत्यन्त चलायमान है, जिससे जीव विरक्त होने की बजाय अपने वश से बाहर होता जाता है और इन्द्रियतृप्ति में अधिकाधिक लिप्त हो जाता है। पिछले श्लोक में नियमित वैध इन्द्रियतृप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया था और इस श्लोक में अवैध आसुरी इन्द्रियतृप्ति के मार्ग का वर्णन हुआ है।

इस श्लोक में *सङ्गाद् असतां वाजितेन्द्रिय:* पद महत्त्वपूर्ण है। बुरी संगति से मनुष्य पापमय जीवन में गिर सकता है, अथवा अच्छी संगति में भी हो सकता है वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असफल रह जाते है। अन्ततोगत्वा हर जीव अपने अस्तित्व के लिए उत्तरदायी है। इस श्लोक का *अधर्मरत:* शब्द अत्यधिक यौन-जीवन, मांसाहार, सुरापान तथा मानव आचार संहिता का उल्लंघन करने वाले अन्य अशुभ कार्यों में अत्यधिक संलग्न होने को इंगित करने वाला है। तमोगुणी होने के कारण ऐसे लोगों में क्रूर मनोवृत्ति विकसित होती है, जिसस वे किसी भी उत्सव को असहाय पशुओं के वध से प्राप्त प्रचुर मांस के उपभोग के बिना व्यर्थ मानते हैं। अन्तत: ऐसे लोग भूत-प्रेतों के वशीभूत होते हैं, जो उनके अच्छे-बुरे के विवेक को हर लेते हैं। समस्त प्रकार की शालीनता खोकर ऐसे व्यक्ति भौतिक जीवन के घने अंधकार में जाने के पात्र बन जाते हैं। कभी कभी ऐसे कामी, उन्मत्त मांसभक्षी अपने को पवित्र मानकर व्यर्थ ही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। वे असंख्य भौतिक इच्छाओं से पीड़ित होकर एक शरीर से दूसरे में चक्कर काटते रहते हैं और उन्हें सही सुख नहीं मिल पाता। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने लिखा है कि भौतिक जीवन इतना विचलित करने वाला होता है कि ब्रह्मा के पूरे दिन—लगभग ८,६४,००,००,००० वर्ष का जीवन पाकर भी वह मृत्यु के भय से पीड़ित

रहता रहेगा। वस्तुत: साक्षात् ब्रह्मा भी मृत्यु-भय से विक्षुब्ध रहते हैं, तो फिर ७०-८० वर्षों तक जीवित रहने वाले क्षुद्र मनुष्यों के विषय में क्या कहा जा सकता है? इसीलिए यहाँ पर कहा गया है—*किं सुखं मर्त्यधर्मिण:*—जो लोग भौतिक मोह के दुखदाई मुट्ठी में हैं, वे कौन-सा सुख पा सकते हैं?

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम् ।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुष: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

लोकानाम्—समस्त लोकों में; लोक-पालानाम्—तथा समस्त लोक-नायकों यथा देवताओं के लिए; मत्—मेरा; भयम्—भय रहता है; कल्प-जीविनाम्—एक कल्प अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन की आयु वालों के लिए; ब्रह्मण:—ब्रह्मा का; अपि—भी; भयम्—डर है; मत्त:—मुझसे; द्वि-परार्ध—दो परार्ध जो मिलाकर ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष होते हैं; पर—परम; आयुष:—आयु वाले।

स्वर्ग से लेकर नरक तक सभी लोकों में तथा उन समस्त महान् देवताओं के लिए जो १,००० चतुर्युग तक जीवित रहते हैं, मुझ कालरूप के प्रति भय व्याप्त रहता है। यहाँ तक कि ब्रह्माजी, जिनकी आयु ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष है भी मुझसे डरे रहते हैं।

तात्पर्य : वैदिक वाङ्मय ऐसे कथनों से भरा पड़ा है, जो यह सिद्ध करते हैं कि बड़े बड़े देवता तक भगवान् की कालशक्ति से भयभीत रहते हैं। यहाँ तक कि स्वर्गलोक तक में भौतिक जीवन के कष्टों से पिंड नहीं छूटता। कोई भी बद्धजीव शाश्वत रूप से जीवित नहीं रह सकता, जैसाकि हिरण्यकशिपु तथा अन्य असुरों की मृत्युओं से प्रदर्शित होता है। चूँकि देवतागण भी भगवान् की कालशक्ति से भयभीत रहते हैं, अत: सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कृष्ण ही परम सत्य हैं और वे हर वस्तु के परम नियन्ता हैं। एकमात्र भगवान् कृष्ण असली आश्रय हैं।

गुणा: सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गुणा:—भौतिक इन्द्रियाँ; सृजन्ति—उत्पन्न करती हैं; कर्माणि—शुभ तथा अशुभ कर्मों को; गुण:—प्रकृति के तीन गुण; अनुसृजते—गति प्रदान करते हैं; गुणान्—भौतिक इन्द्रियों को; जीव:—सूक्ष्म जीव; तु—निस्सन्देह; गुण—भौतिक इन्द्रिय अथवा गुण; संयुक्त:—संलग्न; भुङ्क्ते—अनुभव करता है; कर्म—कर्मों के; फलानि—विविध परिणाम; असौ—वह आत्मा।

भौतिक इन्द्रियाँ पवित्र या पापमय कर्म उत्पन्न करती हैं और प्रकृति के गुण भौतिक इन्द्रियों को गति प्रदान करते हैं। जीव इन भौतिक इन्द्रियों तथा प्रकृति के गुणों में पूरी तरह संलग्न रहकर सकाम कर्म के विविध फलों का अनुभव करता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में बतलाया गया है कि सकाम कर्मों के वशीभूत होने से जीव को नरक में धकेल दिया जाता है। इस श्लोक में सकाम कर्मों पर जीव की अधीनता की वास्तविक प्रकृति का वर्णन हुआ है। यह देखा जा सकता है कि मनुष्य के कर्म भौतिक इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं और जीव ऐसे कर्मों से केवल अवगत ही रहता है। चाहे वह देवताओं की पूजा करता हो, यौन का भोग करता हो या कृषी अथवा बौद्धिक कार्य करता हो, प्रत्येक दशा में भौतिक इन्द्रियाँ ही कार्य करती हैं।

कोई यह तर्क कर सकता है कि आत्मा इन्द्रियों के कार्यों का शुभारम्भ करता है, अतएव वही अनन्तिम कर्ता है, किन्तु ऐसे मिथ्या अहंवाद का निराकरण *गुणा: सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्*—इस कथन से हो जाता है। प्रकृति के तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—भौतिक इन्द्रियों के कार्यों को उत्तेजित करते हैं और जीव किसी एक गुण के वशीभूत होकर अपने कर्म के अच्छे या बुरे फल को केवल अनुभव करता है। इससे स्वेच्छा का निषेध नहीं होता, क्योंकि जीव विभिन्न गुणों से संगति करना चाहता है। खाने, बोलने, संभोग करने इत्यादि से जीव प्रकृति के विविध गुणों से संगति करता है और विशिष्ट मनोवृत्ति विकसित करता है। किन्तु इन सबों में प्रकृति के गुण कर्म करते हैं, न कि जीव। इस श्लोक का *असौ* शब्द इंगित करता है कि जीव मिथ्या ही प्रकृति द्वारा सम्पन्न कार्य के लिए अपने को कर्ता मानता है। *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश: ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

''जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।'' जीवन के इस मिथ्या अहंकार को त्याग करके तथा भगवद्भक्ति को ग्रहण करके ही बद्धजीव को मुक्त बनाया जा सकता है, जिससे जीव अर्थात् भगवान् की तटस्था शक्ति, उनकी बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया के विक्षोभकारी प्रभाव से बच जाता है। भगवद्भक्ति में मुक्त जीव अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव करता है।

अच्छा फल पाने के लिए कर्म करना स्वाभाविक है। किन्तु सर्वोत्तम फल उसे प्राप्त हो सकता है, जो भगवान् के दास रूप में अपने स्वाभाविक पद में पुन: स्थापित होने की इच्छा से भक्ति करता है। इस तरह किसी विशेष फल के लिए अपने ही कर्मों का दुष्प्रयोग करने की प्रवृत्ति को शुद्ध बनाया जा सकता है। तब प्रकृति के गुण तथा भौतिक इन्द्रियाँ जीव को माया में नहीं लगा सकेंगी। जीव स्वभाव से आनन्दमय है और जब उसका मोह समाप्त हो जाता है, तो सारे कष्टों का अन्त हो जाता है। तब मुक्त आत्मा वैकुण्ठ में रहने के लिए उपयुक्त होता है।

यावत्स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः ।
नानात्वमात्मनो यावत्पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥ ३२॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; स्यात्—है; गुण—प्रकृति के गुणों का; वैषम्यम्—पृथक् अस्तित्व; तावत्—तब तक रहेगा; नानात्वम्—विविधता; आत्मनः—आत्मा की; नानात्वम्—विविधता; आत्मनः—आत्मा की; यावत्—जब तक हैं; पारतन्त्र्यम्—पराधीनता; तदा—तब होंगे; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह।

जब तक जीव यह सोचता है कि प्रकृति के गुणों का अलग अलग अस्तित्व है, तब तक वह अनेक रूपों में जन्म लेने के लिए बाध्य होगा और वह अनेक प्रकार के भौतिक जीवन का अनुभव करेगा। इसलिए जीव प्रकृति के गुणों के अधीन सकाम कर्मों पर पूरी तरह आश्रित रहता है।

तात्पर्य : *गुण-वैषम्यम्* शब्द भगवान् कृष्ण के विस्मरण का सूचक है, जिसके कारण मनुष्य विभिन्न भौतिक विविधताओं को पृथक् सत्ता के रूप में देखता है। जीव इन भौतिक विविधताओं के प्रति आकृष्ट होने तथा उनमें श्रद्धा रखने के कारण इन विविधताओं को विभिन्न भौतिक शरीरों में यथा देवता, शूकर, व्यापारी, कीट इत्यादि में अनुभव करने के लिए बाध्य हो जाता है। कर्ममीमांसा दार्शनिकों के अनुसार ऐसा कोई दिव्य जीव नहीं, जो सारे जगत का मूलाधार हो। वे भौतिक विविधता को अन्तिम सत्य मानते हैं। किन्तु हर वस्तु के वास्तविक आधार, तो भगवान् कृष्ण हैं। हर वस्तु उनमें है और वे हर वस्तु में हैं। भगवान् का शुद्ध भक्त कृष्ण को सर्वत्र देखता है और प्रकृति के विविध गुणों को भगवान् कृष्ण की शक्ति के रूप में मानता है। जो कृष्ण को नहीं देखता, वह निश्चय ही विविधता को परम सत्य के रूप में देखेगा। ऐसी दृष्टि माया कहलाती है और वह पशु-दृष्टि के समान है।

पारतन्त्रयम् का अर्थ है कि मनुष्य तब तक सकाम कर्मों के जाल में जकड़ा रहेगा, जब तक वह अपनी उथली विभाजक दृष्टि को छोड़ नहीं देता।

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् ।
य एतत्समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; अस्य—जीव का; अस्वतन्त्रत्वम्—प्रकृति के गुणों पर निर्भरता से स्वतंत्र नहीं है; तावत्—तब होगा; ईश्वरतः—परम नियन्ता से; भयम्—डर; ये—जो; एतत्—इस जीवन धारणा को; समुपासीरन्—उपासना करते हुए; ते—वे; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त रहते हैं; शुचा—शोक में; अर्पिताः—सदैव लीन।.

जो बद्धजीव प्रकृति के गुणों के अधीन होकर सकाम कर्मों पर निर्भर रहता है, वह मुझ भगवान् से डरता रहता है, क्योंकि मैं उसके सकाम कर्मों के फल को लागू करता हूँ। जो लोग प्रकृति के गुणों की विविधता को यथार्थ मानकर भौतिकवादी जीवन की अवधारणा स्वीकार करते हैं, वे भौतिक-भोग में अपने को लगाते हैं, फलस्वरूप वे सदैव शोक तथा दुख में डूबे रहते हैं।

तात्पर्य : जीव मोह या माया के पाश में बँधा है। वह, यद्यपि यह समझ सकता है कि वह परम शक्ति के आश्रित है, वह परमेश्वर की सेवा नहीं करना चाहता। इस तरह वह जीवन से ही भयभीत हो उठता है। भौतिक इन्द्रियतृप्ति की इच्छा करते हुए जीव कंसासुर की तरह सदैव अपनी भौतिक व्यवस्था के नष्ट होने से डरता है। इस तरह भौतिक प्रकृति के स्वाद-गंध में लिप्त रहकर वह धीरे-धीरे अविवेकी जीवन के भीतर धँस जाता है।

माया की दो शक्तियाँ हैं—पहली जीव को प्रच्छन्न करती है और दूसरी उसे नारकीय जीवन में गिरा देती है। माया से प्रच्छन्न होने पर मनुष्य विवेक-शक्ति खो बैठता है और तब माया उस मूर्ख को अज्ञान के अंधकार में डाल देती है। जब मनुष्य झूठे ही अपने को भगवान् कृष्ण से स्वतंत्र मान बैठता है, तो वह भौतिक इन्द्रियतृप्ति की भोगेच्छा से नाशवान् भौतिक वस्तुओं का उपासक बन जाता है और ज्यों ज्यों वह बड़ा होता जाता है, त्यों त्यों उसका जीवन भय और चिन्ता से भर जाता है। बद्धजीव अपने जीवन को अपने वश में मानता है, किन्तु उसके पास कोई नियामक शक्ति न होने से उसकी दशा इसके विपरीत हो जाती है और यह तनिक भी अच्छी नहीं लगती। ज्यों ज्यों काल द्वारा उसकी सारी

सम्पत्ति छीन ली जाती है, वह शोकाकुल हो उठता है। कुल मिलाकर भौतिक जीवन सचमुच गर्हित है। केवल गहन मोह के कारण हम इसे सन्तोषजनक मान लेते हैं।

काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च ।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥ ३४॥

शब्दार्थ

कालः—काल, समय; आत्मा—आत्मा; आगमः—वैदिक ज्ञान; लोकः—ब्रह्माण्ड; स्वभावः—विभिन्न जीवों की विभिन्न प्रकृतियाँ; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; एव—निश्चय ही; च—भी; इति—इस प्रकार; माम्—मुझको; बहुधा—कई प्रकार से; प्राहुः—पुकारते हैं; गुण—प्रकृति के गुणों के; व्यतिकरे—क्षोभ; सति—जब होता है।.

जब प्रकृति के गुणों में उद्वेलन तथा अन्योन्य क्रिया होती है, तो जीव मेरा वर्णन सर्वशक्तिमान काल, आत्मा, वैदिक ज्ञान, ब्रह्माण्ड, स्वयं अपना स्वभाव, धार्मिक उत्सव आदि अनेक प्रकारों से करते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् की शक्ति का अनुभव यह देखकर हो सकता है कि किस तरह विभिन्न योनियाँ—देवता, मनुष्य, पशु, मछली, पक्षी, कीट, पौधे इत्यादि—अपने स्वभाव तथा कार्यकलाप विकसित करती हैं। प्रत्येक योनि इन्द्रियतृप्ति की विशिष्ट प्रक्रिया को पूरा करती है और यह कार्य उस योनि का *धर्म* कहलाता है। भगवान् का ज्ञान न होने से, सामान्य लोग उपर्युक्त अभिव्यक्तियों में भगवान् की शक्ति का दर्शन करते हैं। श्रील मध्वाचार्य ने *तन्त्र भागवत* से निम्नलिखित जानकारी उद्धृत की है—भगवान् *काल* कहलाते हैं, क्योंकि वे समस्त भौतिक गुणों के चलाने वाले तथा नियंत्रक हैं। पूर्ण होने से वे *आत्मा* कहलाते हैं। वे समस्त ज्ञान के साक्षात् रूप हैं। *स्वभाव* शब्द सूचित करता है कि भगवान् अपने भाग्य पर पूरा नियंत्रण रखते हैं। हर वस्तु के धारण करने वाला होने के कारण वे *धर्म* कहलाते हैं। मुक्त पद पर होने वाला व्यक्ति भगवान् की पूजा करके असीम आनन्द प्राप्त कर सकता है, किन्तु जो भगवान् से अनजान है, वह अन्य वस्तुओं की कल्पना करके उनका अर्थ ढूँढ़ने का प्रयास करता है। यदि कोई दृढ़तापूर्वक यह कल्पना करता है कि कोई भी वस्तु भगवान् से स्वतंत्र है, तो वह भगवान् की माया के जाल में फँसा रहेगा। भौतिक वस्तुओं के विनाश को अवश्यम्भावी देखते हुए, मनुष्य अज्ञान के अंधकार में निरन्तर शोकमग्न रहता है। ऐसे अंधकार में सुख का प्रश्न भी नहीं उठता, इसलिए किसी को यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि कोई वस्तु भगवान् से स्वतंत्र है। ज्योंही किसी ने किसी वस्तु को ईश्वर से स्वतंत्र माना कि वह भगवान् के मोहजाल में

जकड़ा जाता है, जिसे *माया* कहते हैं। मनुष्य को मुक्त हो जाने पर भी विनीत एवं भगवान् का आज्ञाकारी बने रहना चाहिए। इस तरह उसे परम आध्यात्मिक सुख प्राप्त होगा।

श्रीउद्धव उवाच
गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः ।
गुणैर्न बध्यते देही बध्यते वा कथं विभो ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; वर्तमानः—स्थित होकर; अपि—यद्यपि; देह—भौतिक शरीर से; जेषु—उत्पन्न; अनपावृतः—अप्रच्छन्न होकर; गुणैः—गुणों से; न—नहीं; बध्यते—बाँधा जाता है; देही—भौतिक शरीर के भीतर जीव; बध्यते—बाँधा जाता है; वा—अथवा; कथम्—यह कैसे होता है; विभो—हे प्रभु।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, भौतिक शरीर के भीतर स्थित जीव प्रकृति के गुणों तथा इन गुणों से उत्पन्न कर्मों के द्वारा उपजे सुख तथा दुख से घिरा रहता है। यह कैसे सम्भव है कि वह इस भौतिक पाश से बँधा न हो? यह भी कहा जा सकता है कि जीव तो अन्ततः दिव्य है और उसे इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं है। तो फिर वह भौतिक प्रकृति द्वारा कभी बद्ध कैसे हो सकता है?

तात्पर्य : शरीर प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर सकाम कर्म करता है, जिनसे भौतिक सुख-दुख उत्पन्न होते हैं। इस शृंखला को *देह-जेषु* शब्द से सूचित किया गया है। भगवान् ने उद्धव को दिखलाया है कि जीवन का वास्तविक लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति न होकर, मोक्ष है। यद्यपि भगवान् ने यह इंगित किया है कि ज्ञान तथा वैराग्यपूर्वक की गई भक्ति से जीव मुक्त हो जाता है, किन्तु उद्धव को पूर्णता प्राप्त करने के विशिष्ट साधन समझ में नहीं आए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव के प्रश्न का अर्थ यह है कि हम मुक्तात्माओं के कार्यों में भी ऐसे बाह्य कर्म यथा खाना, सोना, चलना-फिरना, सुनना, बोलना इत्यादि पाते हैं, जो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कार्य हैं। अतः यदि मुक्त आत्माएँ भी स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के भीतर स्थित हैं, तो वे प्रकृति के गुणों से किस तरह बद्ध नहीं हो सकती है? यदि यह तर्क किया जाय कि जीव आकाशतुल्य है, जो किसी वस्तु से न मिलने के कारण बद्ध नहीं है, तब यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि फिर दिव्य जीव किस तरह भौतिक प्रकृति द्वारा बद्ध हो सकता है? दूसरे शब्दों में, यह जगत कैसे सम्भव है? कृष्णभावनामृत के मार्ग को सुस्पष्ट करने के लिए उद्धव ने परम आध्यात्मिक अधिकारी भगवान् कृष्ण के समक्ष यह प्रश्न रखा।

माया के साम्राज्य में भगवान् के विषय में असंख्य कल्पनाएँ हैं, जिन्हें निराकार, सगुण, निर्गुण, हिजड़े की भाँति नपुंसक वस्तु आदि कहा गया है। किन्तु ऐसी सांसारिक कल्पनाओं से भगवान् के स्वभाव को नहीं समझा जा सकता। इसलिए उद्धव मुक्ति-मार्ग को स्पष्ट करना चाहते हैं, जिससे लोग वास्तव में समझ सकें कि कृष्ण ही भगवान् हैं। किन्तु जब तक मनुष्य प्रकृति के गुणों के द्वारा प्रभावित रहता है तब तक पूर्ण ज्ञान हो पाना सम्भव नहीं है। अब भगवान् कृष्ण उद्धव को भगवद्धाम वापस जाने के लिए आध्यात्मिक मुक्ति के विषय में विस्तार से बतलायेंगे।

कथं वर्तेत विहरेत्कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः ।
किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा ॥ ३६ ॥
एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
नित्यबद्धो नित्यमुक्त एक एवेति मे भ्रमः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; वर्तेत—स्थित है; विहरेत्—विहार करता है; कैः—किससे; वा—अथवा; ज्ञायेत—जाना जायेगा; लक्षणैः—लक्षणों से; किम्—क्या; भुञ्जीत—खायेगा; उत—तथा; विसृजेत्—मल त्याग करता है; शयीत—लेटेगा; आसीत—बैठेगा; याति—जाता है; वा—अथवा; एतत्—यह; अच्युत—हे अच्युत; मे—मुझको; ब्रूहि—बतलायें; प्रश्नम्—प्रश्न; प्रश्न-विदाम्—जो प्रश्नों का उत्तर देने में पटु हैं उनके; वर—हे श्रेष्ठ; नित्य-बद्धः—नित्य बद्ध; नित्य-मुक्तः—नित्य मुक्त; एकः—अकेला; एव—निश्चय ही; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; भ्रमः—सन्देह।

हे अच्युत भगवान्, एक ही जीव कभी तो नित्य बद्ध कहा जाता है, तो कभी नित्य मुक्त। इसलिए जीव की वास्तविक स्थिति मेरी समझ में नहीं आ रही। हे प्रभु, आप दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर देने वालों में सर्वोपरि हैं। कृपा करके मुझे वे लक्षण समझाएँ, जिनसे यह बतलाया जा सके कि नित्य बद्ध तथा नित्य मुक्त जीव में क्या अन्तर है। वे किन विधियों से स्थित रहते हैं, जीवन का भोग करते हैं, खाते हैं, मल त्याग करते हैं, लेटते हैं, बैठते हैं या इधर-उधर जाते हैं?

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने उद्धव को यह बतलाया कि नित्य मुक्तात्मा प्रकृति के तीन गुणों से परे है। चूँकि मुक्तात्मा को सतोगुण से भी परे माना जाता है, तो फिर उसे पहचाना कैसे जाय? प्रकृति के गुणों से जो मनुष्य का भौतिक शरीर उत्पन्न करते हैं, झूठी पहचान करने पर मनुष्य माया से बद्ध हो जाता है। दूसरी ओर गुणों को पार कर जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है। किन्तु खाने, मल-विसर्जन करने, आराम करने, बैठने, सोने जैसे सामान्य कार्यों में मुक्तात्मा तथा बद्ध आत्मा एक जैसे लगते हैं। इसीलिए उद्धव प्रश्न कर रहे हैं, ''मैं किन लक्षणों से यह पहचान सकता हूँ कि कोई

जीव बिना अहंकार के ऐसे बाह्य कर्म कर रहा है और किन लक्षणों से यह पहचान सकता हूँ कि कोई माया के बन्धन में रहकर कार्य कर रहा है ? यह कठिन है, क्योंकि मुक्तात्मा तथा बद्धात्मा के सामान्य शारीरिक कार्य एक-जैसे लगते हैं।'' कृष्ण को अपना निजी आध्यात्मिक गुरु मानकर उद्धव उनके पास गये हैं और यह जानना चाहते हैं कि भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के अन्तर को कैसे समझा जाय।

चूँकि जीव को कभी कभी नित्य बद्ध कहा जाता है, तो फिर उसे नित्य मुक्त अथवा नित्य मुक्त को नित्य बद्ध कैसे कहा जा सकता है ? यह विरोधाभास है, जिसे भगवान् स्पष्ट करेंगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''सकाम कर्म की प्रकृति'' नामक दसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

बद्ध तथा मुक्त जीवों के लक्षण

इस अध्याय में भगवान् कृष्ण उद्धव को बद्ध तथा मुक्त जीवों का अन्तर, साधु-पुरुष के लक्षण तथा भक्ति सम्पादन के विविध पक्ष बतलाते हैं।

पिछले अध्याय में उद्धव ने बद्ध तथा मुक्त आत्माओं के विषय में प्रश्न किये थे। भगवान् श्रीकृष्ण इन प्रश्नों के उत्तर में बतलाते हैं कि यद्यपि आत्मा भगवान् का भिन्नांश है, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण वह भौतिक शक्ति के सम्पर्क में आ जाता है, जिसके कारण उसे सतो, रजो तथा तमोगुणों की आच्छादक उपाधियों को स्वीकार करना पड़ता है। इस तरह आत्मा अनन्तकाल से बद्ध रहा है। किन्तु जब उसे शुद्ध भक्ति का आश्रय मिल जाता है, तो वह नित्य मुक्त कहलाने लगता है। इसलिए दिव्य ज्ञान जीव की मुक्ति का कारण है और अज्ञान उसके बन्धन का। ज्ञान तथा अज्ञान दोनों ही भगवान् श्रीकृष्ण की माया-शक्ति से उत्पन्न होते हैं और ये उनकी नित्य शक्तियाँ हैं। जो जीव प्रकृति के गुणों के प्रति आकृष्ट होते हैं, वे मिथ्या अहंकार से मोहित हो जाते हैं, जिससे वे अपने आपको दुख, संभ्रांति, सुख, कष्ट, भय इत्यादि के भोक्ता के रूप में देखते हैं। इस तरह वे इनके बारे में चिन्तन करते हैं, यद्यपि ये वस्तुएँ वास्तविक या आध्यात्मिक संसार में होती ही नहीं। आत्मा तथा परमात्मा एक ही शरीर के भीतर निवास करते हैं। अन्तर इतना ही रहता है कि भिज्ञ होने के कारण परमात्मा कर्म के

फल भोगने में लिप्त नहीं होते प्रत्युत साक्षी मात्र बने रहते हैं जबकि लघु बद्धजीव अज्ञानी होने के कारण अपने कर्म के फल भुगतता है। मुक्त जीव अपने पूर्वकर्मों के बचे हुए फलों के कारण भौतिक शरीर के भीतर रहकर भी शरीर के सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता। वह ऐसे शारीरिक अनुभवों को उसी तरह देखता है, जिस तरह स्वप्न से जगा हुआ व्यक्ति अपने स्वप्न के अनुभवों को देखता है। दूसरी ओर यद्यपि बद्धजीव स्वभावत: शरीर के सुख-दुख का भोक्ता नहीं है, किन्तु वह अपने को शारीरिक अनुभवों का वैसा ही भोक्ता मानता है, जिस तरह स्वप्न में मनुष्य अपने स्वप्न-अनुभवों को यथार्थ मानता है। जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित होने वाला सूर्य जल से बद्ध नहीं होता और जिस तरह वायु आकाश के किसी एक खण्ड तक ही सीमित नहीं रहता, उसी तरह विरक्त मनुष्य अपने विस्तृत सांसारिक अनुभव का लाभ उठाकर अपने सारे संशयों को *युक्त वैराग्य* की तलवार से छिन्न कर देता है। चूँकि उसकी जीवन-शक्ति, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि की प्रवृत्ति इन्द्रिय-विषयों पर टिकने की नहीं होती, इसलिए भौतिक शरीर के भीतर स्थित होकर भी वह मुक्त रहता जाता है। चाहे वह सताया जाय या पूजा जाय इसकी परवाह न करके वह समभाव रहता जाता है। इसलिए वह इसी जीवन में मुक्त माना जाता है। मुक्त पुरुष को इस संसार के पाप-पुण्य से किसी तरह का लेना-देना नहीं रहता। वह हर वस्तु को समभाव से देखता है। आत्माराम साधु न तो किसी की प्रशंसा करता है, न निन्दा। वह किसी से व्यर्थ नहीं बोलता और अपने मन को भौतिक वस्तुओं पर नहीं टिकाता। प्रत्युत वह भगवान् के ध्यान में सदैव मग्न रहता है, जिससे मूर्खों की दृष्टि में वह मौन पागल व्यक्ति लगता है।

कोई कितना ही वैदिक वाङ्मय पढ़ ले या उनका उपदेश दे किन्तु यदि उसने भगवान् की सेवा के प्रति शुद्ध आकर्षण उत्पन्न नहीं किया, तो समझो कि उसने अपने श्रम से आगे कुछ भी प्राप्त नहीं किया। मनुष्य को केवल वे ही शास्त्र पढ़ने चाहिए, जिनमें भगवान् के स्वभाव, उनकी मोहक लीलाओं तथा उनके विविध अवतारों की अमृतमय कथाएँ वैज्ञानिक ढंग से विवेचित हों। इस प्रकार से उसे परम सौभाग्य प्राप्त होता है। किन्तु इन शास्त्रों के अतिरिक्त अन्यों का अध्ययन करने से दुर्भाग्य ही हाथ लगता है।

मनुष्य को दृढ़ संकल्प के साथ आत्मा की ठीक ठीक पहचान करनी चाहिए और इस भौतिक शरीर की मिथ्या पहचान का परित्याग कर देना चाहिए। उसके बाद ही वह प्रेम के आगार भगवान्

श्रीकृष्ण के चरणकमलों पर अपने हृदय को न्यौछावर करे और असली शान्ति प्राप्त करे। जब मन तीन गुणों के वश में हो जाता है, तो वह परब्रह्म का ध्यान अच्छी तरह नहीं कर सकता। जो श्रद्धालु लोग धर्म, अर्थ तथा काम प्राप्त करने के लिए वैदिक यज्ञ सम्पन्न कर चुके होते हैं, वे अनेक जन्मों के बाद जगत को शुद्ध करने वाली भगवान् की मंगलकारी लीलाओं के श्रवण, कीर्तन तथा नित्य चिन्तन में अपने को लगाते हैं। तब ऐसे मनुष्यों को प्रामाणिक गुरु तथा सन्त-भक्तों की संगति प्राप्त होती है। इसके बाद गुरु-कृपा से वे महाजनों द्वारा नियत आदर्श अधिकारियों का अनुगमन करने लगते हैं और वे अपनी सही पहचान करने में सफल होते हैं।

इन उपदेशों को भगवान् कृष्ण से सुन लेने पर उद्धव ने वास्तविक सन्त-पुरुष के लक्षणों तथा भक्ति के विभिन्न पक्षों को जानने की इच्छा व्यक्त की। भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया कि असली साधु या वैष्णव निम्नांकित गुणों के होने पर योग्य बनता है। वह दयालु, ईर्ष्यारहित, सदा सत्यवादी, संयमी, दोषरहित, विशाल-हृदय, भद्र, स्वच्छ, अपरिग्रही, सबों का सहायक, शान्त, एकमात्र कृष्ण पर आश्रित, काम-रहित, भौतिक प्रयास से रहित, स्थिर, मन के छह शत्रुओं को वश में करने वाला, अधिक भोजन न करने वाला, कभी मोहग्रस्त न होने वाला, अन्यों का आदर करने वाला, कभी अपना सम्मान न चाहने वाला, गम्भीर, कृपालु, मित्रवत् कवित्वमय, पटु तथा चुप रहने वाला होता है। साधु का प्रमुख गुण यह है कि वह एकमात्र कृष्ण की शरण लेता है। जो एकमात्र कृष्ण की सेवा में लगा रहता है और उन्हें असीम, अन्तर्यामी सच्चिदानन्द भगवान् मानता है, वह सर्वोच्च भक्त है। भक्तियोग में ६४ प्रकार के कर्म रहते हैं। ये हैं(१-६) दर्शन, स्पर्श, पूजन, सेवा, महिमा-गान तथा भगवान् के अर्चाविग्रह एवं उनके भक्तों को नमस्कार करना, (७) भगवान् के गुणों, लीलाओं आदि के कीर्तन को सुनने की ओर अनुरक्ति उत्पन्न करना (८) सदैव भगवान् के ध्यान में रहना (९) प्राप्त होने वाली हर वस्तु को भगवान् को अर्पित करना (१०) अपने को भगवान् का दास समझना (११) भगवान् को अपना हृदय तथा आत्मा भेंट करना (१२) भगवान् के जन्म तथा कार्यकलापों के महिमा-गायन में अपने को लगाना (१३) भगवान् से सम्बन्धित छुट्टियों को मनाना (१४) अन्य भक्तों के साथ संगीत, गायन तथा नर्तन द्वारा भगवान् के मन्दिर में उत्सव करना (१५) सभी प्रकार के वार्षिक उत्सव मनाना (१६) भगवान् को खाद्य वस्तुएँ अर्पित करना (१७) वेदों तथा तंत्रों के अनुसार दीक्षा ग्रहण करना (१८) भगवान् से

सम्बन्धित व्रत लेना (१९) भगवान् के अर्चाविग्रह स्थापित करने के लिए उत्सुक रहना (२०) अकेले या अन्यों के साथ मिलकर भगवान् की सेवा के लिए बाग, मन्दिर, शहर इत्यादि का निर्माण करना (२१) भगवान् के मन्दिर की नम्रतापूर्वक सफाई करना (२२) भगवान् की सेवा हेतु भगवान् के आवास को रँगना, जल से धोना तथा शुभ बेलबूटों से सजाना।

इसके बाद भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा-विधि का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

श्रीभगवानुवाच
बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; बद्धः—बन्धन में; मुक्तः—मुक्त हुआ; इति—इस प्रकार; व्याख्या—जीव की विवेचना; गुणतः—प्रकृति के गुणों के अनुसार; मे—जो मेरी शक्ति है; न—नहीं; वस्तुतः—वास्तव में; गुणस्य—प्रकृति के गुणों का; माया—मेरी मोहक शक्ति; मूलत्वात्—कारण होने से; न—नहीं; मे—मेरा; मोक्षः—मुक्ति; न—न तो; बन्धनम्—बन्धन।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, मेरे अधीन प्रकृति के गुणों के प्रभाव से जीव कभी बद्ध कहा जाता है, तो कभी मुक्त। किन्तु वस्तुतः आत्मा न तो कभी बद्ध होता है, न मुक्त और चूँकि मैं प्रकृति के गुणों की कारणस्वरूप माया का परम स्वामी हूँ, इसलिए मुझे भी मुक्त या बद्ध नहीं माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् कृष्ण बद्ध तथा मुक्त जीवन के विभिन्न गुणों की व्याख्या करते हैं। ये ऐसे लक्षण हैं, जिनसे मनुष्य सन्त-पुरुषों को एवं भगवान् की भक्ति की विविध विधियों को पहचान सकता है। पिछले अध्याय में उद्धव ने भगवान् से पूछा था कि बद्ध तथा मुक्त जीवन कैसे सम्भव हैं? अब भगवान् उत्तर देते हैं कि उद्धव का प्रश्न सतही है, क्योंकि शुद्ध आत्मा भगवान् की भौतिक शक्ति में कभी नहीं फँसता। जीव प्रकृति के तीन गुणों से मिथ्या सम्बन्ध की कल्पना करता है और भौतिक शरीर को आत्मा मान लेता है। इसलिए आत्मा अपनी ही कल्पना के परिणामों को भुगतता है, जिस तरह मनुष्य स्वप्न के भ्रामक कार्यों से कष्ट पाता है। इससे यह नहीं सूचित होता कि भौतिक जगत उस रूप में भ्रामक (मायायुक्त) है, जिससे कि अस्तित्व रहित जान पड़े। भौतिक जगत निश्चित रूप से सत्य है, क्योंकि यह भगवान् की शक्ति है और जीव भी ईश्वर की पराशक्ति होने से सत्य है। किन्तु जीव का यह स्वप्न कि वह भौतिक जगत का भिन्नांश है ऐसा मोह (भ्रम) है, जो उसे विरोधी

अवस्था में खींच ले जाता है, जिसे भौतिक बद्ध जीवन कहते हैं। जीव वास्तव में कभी भी बद्ध नहीं है, क्योंकि वह भौतिक जगत से झूठे सम्बन्ध की कल्पना करता है।

चूँकि जीव तथा पदार्थ में अन्ततः कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं होता, अतएव वास्तविक मुक्ति नहीं होती। जीव भगवान् की अपरा शक्ति से नित्य परे होने के कारण नित्य मुक्त है। भगवान् कृष्ण यह उद्‌घाटित करते हैं कि एक विचार से जीव यथार्थ में बद्ध है ही नहीं, अतएव वह मुक्त नहीं किया जा सकता। किन्तु दूसरे विचार से बन्धन तथा मोक्ष जैसे शब्दों को भगवान् की तटस्था शक्ति रूप व्यष्टि आत्मा की विशेष अवस्था को दर्शाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यद्यपि व्यष्टि आत्मा कभी भी पदार्थ से बद्ध नहीं रहता, किन्तु उसे मिथ्या पहचान के कारण प्रकृति द्वारा दिये गये फल भोगने होते हैं। इस तरह *बद्ध* शब्द का प्रयोग भगवान् की अपरा शक्ति के भीतर जीव के अनुभव को सूचित करने के लिए किया जाता है। चूँकि *बद्ध* शब्द मिथ्या अवस्था को बताता है, इसलिए ऐसी मिथ्या स्थिति से स्वतंत्र होने को *मोक्ष* कहा जा सकता है। इसलिए बद्ध तथा मोक्ष शब्द स्वीकार्य होते हैं, यदि वे मोह द्वारा उत्पन्न क्षणिक स्थिति के द्योतक हों और जीव के परम स्वभाव के द्योतक न हों। इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं *गुणस्य मायामूलत्वान् न मे मोक्षो न बन्धनम्—बन्धन* तथा *मोक्ष* शब्दों को कभी भी भगवान् पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे परम सत्य हैं और हर एक के परम नियन्ता हैं। भगवान् कृष्ण शाश्वत रूप से परम दिव्य सत्ता हैं, जिन्हें मोह द्वारा कभी भी बाँधा नहीं जा सकता। यह तो भगवान् की मोहिनी शक्ति का कर्तव्य है कि वह भगवान् कृष्ण की पृथक् आनन्दमय स्थिति का झूठा बोध कराकर जीवों को अज्ञान की ओर आकृष्ट करे। भगवान् से पृथक् अस्तित्व की मोहमयी धारणा माया या भौतिक मोह कहलाता है। चूँकि कृष्ण माया के परम नियन्ता हैं, इसलिए भगवान् पर माया का किसी तरह से किसी प्रकार का प्रभाव पड़ने की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए *बन्धन* शब्द को सच्चिदानन्द रूप भगवान् पर लागू नहीं किया जा सकता। बन्धन से स्वतंत्र होने का सूचक शब्द *मोक्ष* ईश्वर के प्रसंग में समान रूप से अप्रासंगिक है।

इस श्लोक की टीका श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस प्रकार की है। भगवान् महान् आध्यात्मिक शक्तियों से युक्त हैं। किन्तु संसारी मनोरथ के कारण बद्धजीव सोचता है कि परम सत्य उन विविध आध्यात्मिक शक्तियों से रहित हैं, जिससे वे आनन्दमय जीवन बिता सकें। यद्यपि जीव भगवान्

की आध्यात्मिक शक्ति है, किन्तु सम्प्रति वह अपरा मायाशक्ति के पद पर स्थित है और कल्पना करने से वह बद्ध जीवन में बँध जाता है। मोक्ष का अर्थ है कि जीव अपने को भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति में स्थानान्तरित कर दे। यह आध्यात्मिक शक्ति तीन कोटियों में विभाजित की जा सकती है—*ह्लादिनी, सन्धिनी* तथा *संवित्।* चूँकि भगवान् शुद्ध आनन्द तथा ज्ञान से युक्त हैं, अतएव वे कभी भी बद्ध या मुक्त नहीं होते। किन्तु भगवान् की भौतिक शक्ति में फँसने के कारण जीव कभी बद्ध होता है, तो कभी मुक्त।

प्रकृति के तीन गुणों की आदि निरपेक्ष अवस्था माया कहलाती है। जब तीनों गुण परस्पर क्रिया करते हैं, तो इनमें से कोई एक गुण शक्तिशाली बन जाता है और अन्य दो गुणों को तब तक दबाता रहता है, जब तक कोई अन्य गुण प्रधान नहीं हो जाता। इस तरह इन तीनों को उनकी अनेक प्रकार की अभिव्यक्ति के द्वारा पहचाना जा सकता है। यद्यपि तीन प्रकार की भौतिक शक्तियाँ भगवान् से विस्तार पाती हैं, किन्तु भगवान् अपने साकार रूप में तीनों आध्यात्मिक शक्तियों—सत, चित तथा आनन्द—के असली धाम होते हैं। यदि कोई व्यक्ति माया का साम्राज्य कहलाने वाले भौतिक आकाश में बद्ध जीवन के पाश से मुक्त होना चाहता है, तो उसे आध्यात्मिक आकाश तक जाना होगा, जहाँ सारे जीव आनन्द से परिपूरित रहते हैं, नित्य आध्यात्मिक शरीरों वाले होते हैं और भगवान् की प्रेमाभक्ति में संलग्न रहते हैं। भगवान् की प्रेमाभक्ति में अपने नित्य आध्यात्मिक स्वरूप को विकसित करके मनुष्य बद्ध जीवन तथा निर्विशेष मुक्ति के द्वैत को लाँघ जाता है और भगवान् की आध्यात्मिक शक्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। उस समय भौतिक जगत से झूठी पहचान की कोई सम्भावना नहीं रहती।

जीव अपने को नित्य आत्मा समझ करके यह जान सकता है कि वह सत्य रूप से पदार्थ से कभी सम्बद्ध नहीं रहा है, क्योंकि वह भगवान् की पराशक्ति का अंश है। इस तरह आध्यात्मिक आकाश की सत्यता की परिधि में बन्धन तथा मोक्ष दोनों ही अर्थहीन हैं। जीव तो भगवान् की तटस्था शक्ति है। उसे भगवान् की शुद्ध भक्ति में संलग्न होने के लिए स्वेच्छा का प्रयोग करना चाहिए। अपने नित्य आध्यात्मिक शरीर को पुनरुज्जीवित करके मनुष्य यह समझ सकेगा कि वह भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति का लघुकण मात्र है। दूसरे शब्दों में जीव सच्चिदानन्द का लघुकण है और इस तरह पूर्ण कृष्णभावनामृत में प्रकृति के तीन गुणों के मोह द्वारा हाँके जाने की सम्भावना नहीं रहती। निष्कर्षत:

यह कहा जा सकता है कि व्यष्टि जीव कभी भी पदार्थ से बँधा नहीं होता, इसलिए मुक्त नहीं होता, यद्यपि उसकी मोहमयी स्थिति को वास्तव में बद्ध तथा मुक्त कहा जा सकता है। दूसरी ओर, भगवान् शाश्वत रूप से अपनी आध्यात्मिक शक्तियों में स्थित होते हैं और कभी भी बद्ध नहीं कहे जा सकते। अतएव ऐसी अस्तित्वरहित दशा से ईश्वर द्वारा अपने को मुक्त बनाने का कोई अर्थ नहीं निकलता।

शोकमोहौ सुखं दु:खं देहापत्तिश्च मायया ।
स्वप्नो यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥ २॥

शब्दार्थ

शोक—शोक; मोहौ—तथा मोह; सुखम्—सुख; दु:खम्—दुख; देह-आपत्तिः—भौतिक शरीर धारण करना; च—भी; मायया—माया के प्रभाव से; स्वप्नः—स्वप्न; यथा—जिस तरह; आत्मनः—बुद्धि के; ख्यातिः—मात्र एक विचार; संसृतिः—संसार; न—नहीं है; तु—निस्सन्देह; वास्तवी—असली, सत्य।

जिस तरह स्वप्न मनुष्य की बुद्धि की सृष्टि है किन्तु वास्तविक नहीं होता, उसी तरह भौतिक शोक, मोह, सुख, दुख तथा माया के वशीभूत होकर भौतिक शरीर ग्रहण करना—ये सभी मेरी मोहिनी शक्ति (माया) की सृष्टियाँ हैं। दूसरे शब्दों में, भौतिक जगत में कोई असलियत नहीं है।

तात्पर्य : *देह-आपत्तिः* शब्द सूचित करता है कि जीव अपनी झूठी पहचान बाह्य भौतिक शरीर से करता है और इस तरह एक शरीर से दूसरे में जाता रहता है। *आपत्ति* शब्द महान् कष्ट या दुर्भाग्य को भी बतलाने वाला है। मोहवश ऐसी झूठी पहचान के कारण जीव यहाँ पर वर्णित कष्टप्रद लक्षणों का अनुभव करता है। माया का अर्थ है यह मिथ्या धारणा कि कोई भी वस्तु भगवान् कृष्ण के बिना या भगवान् के आनन्द के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए विद्यमान रहती है। यद्यपि बद्धजीव मिथ्या इन्द्रियतृप्ति भोगने का प्रयास करते हैं, किन्तु परिणाम सदैव पीड़ादायक ही होता है और ऐसे पीड़ाप्रद अनुभव बद्धजीवों को भगवान् के पास वापस जाने के लिए मोड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, भौतिक सृष्टि का चरम उद्देश्य जीव को भगवद्भक्ति तक वापस लाना है। इसलिए भौतिक जगत के कष्टों को भी भगवान् की कृपा ही समझना चाहिए। बद्धजीव भौतिक वस्तुओं को अपने भोग की वस्तुएँ मानकर उनकी क्षति पर अत्यधिक शोक करता है। इस श्लोक में उस स्वप्न का उदाहरण दिया गया है, जिसमें भौतिक बुद्धि अनेक मोहक वस्तुओं को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार हमारी दूषित भौतिक चेतना भौतिक इन्द्रियतृप्ति की झूठी भावना उत्पन्न कर देती है। किन्तु यह मृगमरीचिका कृष्णभावनामृत से विहीन होने के कारण सत्य नहीं होती। दूषित भौतिक चेतना के वशीभूत होने से जीव को असंख्य कष्ट सहने पड़ते हैं।

इसका एकमात्र हल यही है कि प्रत्येक वस्तु के भीतर कृष्ण का और कृष्ण के भीतर हर वस्तु का दर्शन किया जाय। इस तरह वह समझ सकेगा कि भगवान् कृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के परम भोक्ता तथा स्वामी हैं और समस्त जीवों के शुभचिन्तक मित्र हैं।

भौतिक मोह में मनुष्य को न तो अपने नित्य आध्यात्मिक शरीर की समझ रहती है, न परम सत्य का ज्ञान रहता है। इसलिए यह संसार अपने अत्यन्त पवित्र रूप में भी सदैव मूर्खता है। हमें स्वप्न के उदाहरण से यह नहीं मान बैठना चाहिए कि भौतिक जगत का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। भौतिक प्रकृति भगवान् की बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है, जिस तरह आध्यात्मिक आकाश (वैकुण्ठ) भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है। यद्यपि भौतिक वस्तुएँ रूपान्तरित होती रहती हैं, जिसके कारण उनका स्थायी अस्तित्व नहीं होता, किन्तु भौतिक शक्ति वास्तविक होती है, क्योंकि यह परम सत्य भगवान् कृष्ण से उत्पन्न होती है। शरीर को झूठे ही वास्तविक आत्मा और भौतिक जगत को अपने भोग की वस्तु मान बैठने के कारण ही ऐसा है। ये तो हमारे मनोरथ हैं। मनुष्य को चाहिए कि समस्त भौतिक उपाधियों से मुक्त होकर सर्वव्यापी सत्य भगवान् कृष्ण के प्रति सजग हो ले।

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् ।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

विद्या—ज्ञान; अविद्ये—तथा अज्ञान; मम—मेरा; तनू—प्रकट शक्तियाँ; विद्धि—जानो; उद्धव—हे उद्धव; शरीरिणाम्—देहधारी जीवों का; मोक्ष—मोक्ष; बन्ध—बन्धन; करी—उत्पन्न करने वाला; आद्ये—आदि, नित्य; मायया—शक्ति द्वारा; मे—मेरा; विनिर्मिते—उत्पन्न किया गया।.

हे उद्धव, ज्ञान (विद्या) तथा अज्ञान (अविद्या) दोनों ही माया की उपज होने के कारण मेरी शक्ति के विस्तार हैं। ये दोनों अनादि हैं और देहधारी जीवों को शाश्वत मोक्ष तथा बन्धन प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : विद्या के प्रसार से बद्धजीव माया के बन्धन से छूटता है। इसी तरह अविद्या के विस्तार से बद्धजीव मोह तथा बन्धन में फँसता जाता है। विद्या तथा अविद्या दोनों ही भगवान् की प्रबल शक्ति से उत्पन्न हैं। जब जीव अपने को सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक शरीरों का स्वामी मानने लगता है, तो वह मोह से बँध जाता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार जीव को *जीवमाया* और पदार्थ को *गुणमाया* की उपाधि दी जा सकती है। जीव अपनी जीवमाया को सांसारिक गुणात्मक शक्ति अर्थात् गुणमाया की

मुट्ठी में रख देता है और झूठे ही स्वप्न देखता है कि वह भौतिक जगत का अंशरूप है। ऐसा कृत्रिम मेल मोह या अज्ञान कहलाता है। जब भगवान् की समस्त शक्तियों को सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है, तो जीव भौतिक बन्धन से छूट जाता है और वैकुण्ठ में अपने आनन्दमय नित्य धाम को लौट जाता है।

भगवान् अपनी शक्तियों से भिन्न नहीं हैं, किन्तु परम नियन्ता के रूप में वे सदैव उनसे ऊपर रहते हैं। केवल यह बतलाने के लिए कि भगवान् सदैव भौतिक कल्मष से रहित हैं, उन्हें मुक्त कहा जा सकता है, किन्तु यह बतलाने के लिए हरगिज नहीं कि संसार के वास्तविक बन्धन से वे मुक्त हैं। श्रील मध्वाचार्य के अनुसार विद्या भगवान् की अन्तरंगा शक्ति लक्ष्मी देवी की सूचक है और अविद्या भगवान् की बहिरंगा शक्ति दुर्गा की। किन्तु जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने *श्रीमद्भागवत* की टीका (१.३.३४) में बतलाया है, भगवान् अपनी शक्तियों को इच्छानुसार रूपान्तरित कर सकते हैं, ''चूँकि भगवान् परब्रह्म हैं, अतएव उनके सारे रूप, नाम, लीलाएँ, लक्षण, संगी तथा शक्तियाँ उनसे अभिन्न हैं। उनकी दिव्य शक्ति उनकी सर्वशक्तिमत्ता के अनुसार कार्य करती है। वही शक्ति अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों के रूप में कार्य करती है और भगवान् अपनी सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा उपर्युक्त शक्तियों में से किसी के माध्यम से कोई भी कार्य कर सकते हैं। वे अपनी इच्छा से बहिरंगा शक्ति को अन्तरंगा शक्ति में रूपान्तरित कर सकते हैं।''

इस सम्बन्ध में श्रील श्रीधर स्वामी लिखते हैं कि भगवान् ने इस अध्याय के पहले श्लोक में बतलाया है कि जीव वास्तव में कभी भी बन्धन में नहीं रहता, अतएव वह कभी भी मुक्त नहीं होता। अत: बन्धन तथा मोक्ष शब्दों का प्रयोग यह स्मरण रखते हुए किया जा सकता है कि जीव भगवान् का दिव्य अंश है। यही नहीं, *मायया मे विनिर्मिते* शब्दों से ऐसा अर्थ भी नहीं निकाला जाना चाहिए कि बन्धन तथा मोक्ष भगवान् की शक्ति से उत्पन्न होने के कारण क्षणिक अवस्थाएँ हैं। इसीलिए *आद्ये* शब्द का प्रयोग इस श्लोक में हुआ है। विद्या तथा अविद्या नामक भगवान् की शक्तियों को माया की सृष्टियाँ कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् की शक्तियों का कार्य करती हैं। विद्या-शक्ति जीवों को भगवान् की लीलाओं में लगाती है, जबकि अविद्या उसे भगवान् को भूलने तथा अंधकार में लिन हो जाने में लगाती है। वस्तुत: ज्ञान तथा अज्ञान भगवान् की तटस्था शक्ति के शाश्वत विकल्प हैं और इस अर्थ में यह कहना गलत न होगा कि जीव या तो शाश्वत बद्ध है या शाश्वत मुक्त है। इस प्रसंग में *विनिर्मिते* शब्द

बतलाता है कि भगवान् अपनी शक्ति का विस्तार ज्ञान तथा अज्ञान के रूप में करते हैं, जो भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों के कार्यों को प्रदर्शित करते हैं। ऐसे प्रदर्शन विभिन्न देशों, कालों तथा परिस्थितियों के अनुसार प्रकट तथा अप्रकट हो सकते हैं, किन्तु भौतिक बन्धन तथा आध्यात्मिक मोक्ष तो भगवान् की तटस्था शक्ति के शाश्वत विकल्प हैं।

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥ ४॥

शब्दार्थ

एकस्य—एक के; एव—निश्चय ही; मम—मेरे; अंशस्य—अंश के; जीवस्य—जीव के; एव—निश्चय ही; महा-मते—हे परम बुद्धिमान; बन्धः—बन्धन; अस्य—उसका; अविद्यया—अज्ञान से; अनादिः—आदि-रहित; विद्यया—ज्ञान से; च—तथा; तथा—उसी तरह; इतरः—बन्धन का उल्टा, मोक्ष।

हे परम बुद्धिमान उद्धव, जीव मेरा भिन्नांश है, किन्तु अज्ञान के कारण वह अनादि काल से भौतिक बन्धन भोगता रहा है। फिर भी ज्ञान द्वारा वह मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : जिस तरह सूर्य अपने ही प्रकाश से प्रकट होता है अथवा अपने द्वारा उत्पन्न बादलों से ढक जाता है, उसी तरह भगवान् ज्ञान तथा अज्ञान से, जो कि उनकी शक्ति के अंश है, अपने को प्रकट तथा अप्रकट करते हैं। *भगवद्गीता* (७.५) में कहा गया है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

"हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक अन्य पराशक्ति है, जो उन जीवों से युक्त है, जो प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं और ब्रह्माण्ड का पालन कर रहे हैं।" इस श्लोक के बारे में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, "परमेश्वर कृष्ण ही एकमात्र नियन्ता हैं और सारे जीव उन्हीं के द्वारा नियंत्रित हैं। ये सारे जीव उनकी पराशक्ति हैं, क्योंकि उनके गुण परमेश्वर के समान हैं, किन्तु शक्ति की मात्रा के मामले में वे कभी भी समान नहीं हैं।"

शक्ति की मात्रा की निकृष्टता के कारण ही जीव माया से आच्छादित हो जाता है और भगवान् की शरण में जाने पर पुनः मुक्त होता है। *अंश* शब्द का उल्लेख *भगवद्गीता* (१५.७) में भी हुआ है—*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।* जीव *अंश* है, अतएव वह मोक्ष तथा बन्धन के अधीन है। जैसाकि *विष्णु पुराण* में कहा गया है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।

अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

"भगवान् विष्णु के पास उनकी श्रेष्ठ अन्तरंगा शक्ति के साथ ही *क्षेत्रज्ञा शक्ति* भी होती है। यह क्षेत्रज्ञा शक्ति आध्यात्मिक शक्ति भी है, किन्तु कभी कभी यह एक तीसरी या भौतिक शक्ति द्वारा आच्छादित रहती है, जिसे अज्ञान या अविद्या कहते हैं। इस तरह आच्छादन की विभिन्न अवस्थाओं के कारण दूसरी अर्थात् तटस्था शक्ति विभिन्न विकासात्मक रूपों में प्रकट होती है।"

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने लिखा है कि जीव अनादि काल से सकाम कर्म करता आया है। इस तरह उसके बद्ध-जीवन को अनादि कहा जा सकता है। किन्तु ऐसा बद्ध-जीवन अन्तहीन नहीं है, क्योंकि जीव भगवद्भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। चूँकि जीव मोक्ष-लाभ कर सकता है, इसलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि उसका मुक्त जीवन एक विन्दु से प्रारम्भ होता है, किन्तु होता है अन्तहीन, क्योंकि मुक्त जीवन को नित्य माना जाता है। जो भी हो—जिसने भी भगवान् कृष्ण की शरण प्राप्त कर ली है उसे नित्य मुक्त माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक आकाश के नित्य वायुमण्डल में प्रवेश कर चुकता है। चूँकि आध्यात्मिक आकाश में भौतिक काल नहीं होता, अतः जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण के लोक में नित्य आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर लेता है, वह काल से प्रभावित नहीं होता। कृष्ण के साथ उसके शाश्वत आनन्दमय जीवन को भौतिक भूत, वर्तमान तथा भविष्य नहीं कहा जा सकता, इसलिए वह नित्य मोक्ष कहलाता है। आध्यात्मिक आकाश में भौतिक काल अनुपस्थित रहता है और हर जीव परम पद प्राप्त करके शाश्वत मुक्त रहता है। ऐसा मोक्ष *विद्या* अर्थात् सम्यक् ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जिसे तीन अवस्थाओं में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में जाना जाता है और इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। विद्या या ज्ञान की चरम अवस्था है भगवान् को समझना। *भगवद्गीता* में ऐसे ज्ञान को *राज-विद्या* अर्थात् समस्त ज्ञान का राजा कहा गया है और यह परम मोक्ष दिलाने वाला है।

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि ॥५॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; बद्धस्य—बद्धजीव के; मुक्तस्य—मुक्त भगवान् के; वैलक्षण्यम्—विभिन्न लक्षण; वदामि—अब मैं कहूँगा; ते—तुमसे; विरुद्ध—विपरीत; धर्मिणोः—जिसके दो स्वभाव; तात—हे उद्धव; स्थितयोः—स्थित दो के; एक-धर्मिणि—एक शरीर में अपने भिन्न भिन्न लक्षण प्रकट करता है।

इस तरह हे उद्धव, एक ही शरीर में हम दो विरोधी लक्षण—यथा महान् सुख तथा दुख पाते हैं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि नित्य मुक्त भगवान् तथा बद्ध आत्मा दोनों ही शरीर के भीतर हैं। अब मैं तुमसे उनके विभिन्न लक्षण कहूँगा।

तात्पर्य : पिछले अध्याय के ३६वें श्लोक में उद्धव ने मुक्त तथा बद्ध-जीवन के लक्षणों के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की थी। श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि बन्धन तथा मोक्ष को दो विभागों में समझा जा सकता है—या तो सामान्य बद्धात्मा तथा नित्य मुक्त भगवान् के मध्य अन्तर के रूप में अथवा जीव कोटि के बद्ध तथा मुक्त जीवों के अन्तर के रूप में। भगवान् सर्वप्रथम सामान्य जीव तथा भगवान् के बीच के अन्तर को बतलायेंगे, जिसे नियंत्रित तथा नियन्ता के अन्तर के रूप में समझा जा सकता है।

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सुपर्णौ—दो पक्षी; एतौ—ये; सदृशौ—एक समान; सखायौ—मित्र; यदृच्छया—संयोगवश; एतौ—ये दोनों; कृत—बनाये हुए; नीडौ—घोंसला; च—तथा; वृक्षे—वृक्ष पर; एकः—एक; तयोः—दोनों में से; खादति—खा रहा है; पिप्पल—वृक्ष के; अन्नम्—फलों को; अन्यः—दूसरा; निरन्नः—न खाते हुए; अपि—यद्यपि; बलेन—शक्ति से; भूयान्—श्रेष्ठ है।

संयोगवश दो पक्षियों ने एक ही वृक्ष पर एक साथ घोंसला बनाया है। दोनों पक्षी मित्र हैं और एक जैसे स्वभाव के हैं। किन्तु उनमें से एक तो वृक्ष के फलों को खा रहा है, जबकि दूसरा, जो कि इन फलों को नहीं खा रहा है, अपनी शक्ति के कारण श्रेष्ठ पद पर है।

तात्पर्य : एक ही वृक्ष पर दो पक्षियों का दृष्टान्त भौतिक शरीर के हृदय के भीतर आत्मा तथा परमात्मा दोनों की उपस्थिति का परिचायक है। जिस प्रकार पक्षी किसी वृक्ष में घोंसला बनाता है, उसी तरह जीव हृदय के भीतर स्थित है। यह दृष्टान्त उपयुक्त है, क्योंकि पक्षी सदैव वृक्ष से पृथक् होता है। इसी तरह आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं और नश्वर शरीर से पृथक् हैं। *बलेन* शब्द सूचित करता है कि भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से तुष्ट रहते हैं, जो कि सच्चिदानन्द स्वरूप है। जैसाकि *भूयान्* शब्द से सूचित होता है, परमेश्वर सदैव श्रेष्ठ पद पर आसीन हैं, जबकि जीव कभी

मोहग्रस्त रहता है, तो कभी प्रबुद्ध रहता है। *बलेन* शब्द बतलाता है कि भगवान् कभी भी अंधकार या अज्ञान में नहीं रहते, अपितु पूर्ण आनन्दमय चेतना में रहते हैं।

इस तरह भगवान् *निरन्न* हैं अर्थात् भौतिक कर्मों के तिक्त फलों में अरुचि रखते हैं, जबकि सामान्य बद्धजीव तिक्त फलों को मीठा समझ कर खाने में लगा रहता है। अन्ततः समस्त भौतिक प्रयास का फल मृत्यु है, किन्तु जीव मूर्खतावश सोचता है कि भौतिक वस्तुओं से उसे आनन्द मिलेगा। *सखायौ* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। हमारे असली मित्र भगवान् कृष्ण हैं, जो हमारे हृदय के भीतर स्थित हैं। एकमात्र वे ही हमारी आवश्यकताओं को जानते हैं और वे ही हमें असली सुख प्रदान कर सकते हैं।

कृष्ण इतने दयालु हैं कि वे हृदय में धैर्यरूप में स्थित होकर बद्धजीव को भगवद्धाम वापस ले जाने का मार्गदर्शन करते हैं। यह निश्चित है कि कोई भी संसारी मित्र अपने मूर्ख मित्र के साथ लाखों वर्षों तक नहीं रहता रहेगा, विशेषतया तब जबकि वह उसकी उपेक्षा करे या उसे कोसे भी। किन्तु भगवान् कृष्ण इतने श्रद्धालु प्रेमी-मित्र हैं कि वे असुर से असुर जीव के साथ भी रहते हैं और एक कीट, शूकर तथा कूकर के भी हृदय में रहते हैं। इसका कारण यह है कि भगवान् कृष्ण अत्यधिक कृष्णभावनाभावित हैं और प्रत्येक जीव को अपने अंश के रूप में देखते हैं। हर सजीव प्राणी को इस संसार रूपी वृक्ष के तिक्त फलों का परित्याग कर देना चाहिए। उसे अपने हृदय के भीतर स्थित भगवान् की ओर मुख मोड़ना चाहिए और अपने असली मित्र भगवान् कृष्ण के साथ प्रेममय सम्बन्ध को पुनः जागृत करना चाहिए। *सदृशौ* शब्द बतलाता है कि जीव तथा भगवान् दोनों ही चेतन प्राणी हैं। भगवान् का अंश होने से हम उनके स्वभाव के भागीदार होते हैं, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में। इस तरह भगवान् तथा जीव *सदृशौ* होते हैं। ऐसा ही कथन *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (४.६) में पाया जाता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकषीति॥

"एक वृक्ष पर दो पक्षी हैं। उनमें से एक पक्षी वृक्ष के फल खा रहा है, जबकि दूसरा पक्षी उसके कार्यों का साक्षी है। यह साक्षी भगवान् है और फल खाने वाला जीव है।"

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-

नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ।
योऽविद्यया युक्स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; अन्यम्—दूसरा; च—भी; सः—वह; वेद—जानता है; विद्वान्—सर्वज्ञ होने से; अपिप्पल-अदः—वृक्ष के फलों को नहीं खाने वाला; न—नहीं; तु—लेकिन; पिप्पल-अदः—वृक्ष के फलों को खाने वाला; यः—जो; अविद्यया—अज्ञान से; युक्—परिपूर्ण; सः—वह; तु—निस्सन्देह; नित्य—शाश्वत रूप से; बद्धः—बद्ध; विद्या मयः—पूर्ण ज्ञान से पूरित; यः—जो; सः—वह; तु—निस्सन्देह; नित्य—नित्य; मुक्तः—मुक्त।

जो पक्षी वृक्ष के फल नहीं खा रहा वह भगवान् है, जो अपनी सर्वज्ञता के कारण अपने पद को तथा उस बद्धजीव के पद को, जो कि फल खा रहे पक्षी द्वारा दर्शाया गया है, समझते हैं। किन्तु दूसरी ओर, वह जीव न तो स्वयं को समझता है, न ही भगवान् को। वह अज्ञान से आच्छादित है, अतः नित्य बद्ध कहलाता है, जबकि पूर्ण ज्ञान से युक्त होने के कारण भगवान् नित्य मुक्त हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विद्यामय* शब्द भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का सूचक है, उनकी बहिरंगा शक्ति *महामाया* का नहीं। भौतिक जगत में विद्या तथा अविद्या दोनों हैं, किन्तु इस श्लोक में *विद्या* उस अन्तरंगा आध्यात्मिक ज्ञान की सूचक है, जिससे भगवान् सर्वज्ञ हैं। वृक्ष पर के दो पक्षियों का दृष्टान्त, जो कि अनेक वैदिक ग्रंथों में पाया जाता है, *नित्यो नित्यानाम्* कथन को प्रत्यक्ष करता है कि नित्य जीवों की दो कोटियाँ हैं—भगवान् तथा सूक्ष्म जीवात्मा। बद्ध जीवात्मा, भगवान् के नित्य दास के रूप में अपनी पहचान भूलकर अपने कर्मों के फल का भोग करना चाहता है और इस तरह अज्ञान के पाश में आ जाता है। अज्ञान का यह बन्धन अनादि काल से चला आ रहा है और इसका परिष्कार भगवद्भक्ति ग्रहण करके ही किया जा सकता है, क्योंकि भगवद्भक्ति आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है। बद्ध-जीवन में जीव को प्रकृति के नियमों द्वारा बाध्य होकर पवित्र तथा अपवित्र सकाम कर्म करने पड़ते हैं, किन्तु जीव अपनी मुक्तावस्था में अपने कर्म के फल परम भोक्ता भगवान् को अर्पित करता है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि जीव का ज्ञान अपनी मुक्तावस्था में भी मात्रा में भगवान् के तुल्य नहीं होता। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ जीव ब्रह्मा भी भगवान् तथा उनकी शक्तियों का केवल आंशिक ज्ञान ही प्राप्त कर पाते हैं। *भगवद्गीता* (४.५) में भगवान् ने अर्जुन से इस श्रेष्ठ ज्ञान का वर्णन किया है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

"भगवान् ने कहा : तुम्हारे तथा मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। मुझे तो उन सबका स्मरण है किन्तु हे परन्तप! तुम्हें उनका स्मरण नहीं है।"

बद्ध शब्द जीव की भगवान् पर शाश्वत निर्भरता को बताने वाला है, चाहे वह बद्ध अथवा मुक्त अवस्था में हो। माया के संसार में जीव जन्म-मृत्यु के क्रूर नियमों से बँधा रहता है, जबकि वैकुण्ठ में जीव भगवान् के प्रेम-बन्धन से बँधा होता है। मोक्ष का अर्थ है जीवन के कष्टों से मुक्ति, किन्तु इसका अर्थ भगवान् के साथ प्रेममय सम्बन्ध से मुक्ति कदापि नहीं होता, क्योंकि यह सम्बन्ध शाश्वत जीवन का सार है। श्रील मध्वाचार्य के अनुसार, एकमात्र भगवान् ही नित्य मुक्त जीव हैं और अन्य सारे जीव आनन्दमय भक्ति से अथवा माया के बन्धन से भगवान् के आश्रित और बद्ध हैं। बद्ध आत्मा को संसाररूपी वृक्ष के तिक्त फलों का आस्वादन त्याग देना चाहिए और अपने हृदय में स्थित अपने परम प्रिय मित्र भगवान् कृष्ण की ओर ध्यान देना चाहिए। भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति के तुल्य या इससे बढ़कर कोई आनन्द नहीं और कृष्ण-प्रेम रूपी फल का आस्वादन करने पर मुक्त जीव आनन्द सागर में प्रवेश करता है।

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान्स्वप्नाद्यथोत्थितः ।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग्यथा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

देह—भौतिक शरीर में; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; न—नहीं; देह—शरीर में; स्थः—स्थित; विद्वान्—बुद्धिमान व्यक्ति; स्वप्नात्—स्वप्न से; यथा—जिस तरह; उत्थितः—जाग कर; अदेह—शरीर में नहीं; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; देह—शरीर में; स्थः—स्थित; कु-मतिः—मूर्ख व्यक्ति; स्वप्न—स्वप्न; दृक्—देख रहा; यथा—जिस तरह।

जो व्यक्ति स्वरूपसिद्ध है, वह भौतिक शरीर में रहते हुए भी अपने को शरीर से परे देखता है, जिस तरह मनुष्य स्वप्न से जाग कर स्वप्न-शरीर से अपनी पहचान त्याग देता है। किन्तु मूर्ख व्यक्ति यद्यपि वह अपने भौतिक शरीर से पहचान नहीं रखता किन्तु इसके परे होता है, अपने भौतिक शरीर में उसी प्रकार स्थित सोचता है, जिस तरह स्वप्न देखने वाला व्यक्ति अपने को काल्पनिक शरीर में स्थित देखता है।

तात्पर्य : बद्ध तथा मुक्त जीवों के विभिन्न लक्षणों की व्याख्या करते हुए भगवान् कृष्ण ने सर्वप्रथम नित्य मुक्त भगवान् तथा उनकी तटस्था शक्ति—असंख्य जीव, जो कभी बद्ध, तो कभी मुक्त होते हैं—के अन्तर को स्पष्ट किया। इस श्लोक में तथा अगले नौ श्लोकों में भगवान् ने मुक्त तथा बद्ध जीवात्माओं के विभिन्न लक्षणों का वर्णन किया है। मनुष्य स्वप्न के समय अपने को एक काल्पनिक शरीर में देखता है, किन्तु जागने पर वह उस शरीर से अपनी पहचान करना छोड़ देता है। इसी तरह, जो कृष्णभावनामृत के प्रति जागृत हो जाता है, वह अपनी पहचान न तो स्थूल या सूक्ष्म शरीर से करता है, न ही भौतिक जीवन के सुख या दुख से प्रभावित होता है। दूसरी ओर, मूर्ख व्यक्ति (*कुमति*) संसाररूपी स्वप्न से जागता नहीं और स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों की मिथ्या पहचान के कारण असंख्य समस्याओं से पीड़ित होता रहता है। मनुष्य को अपनी नित्य आध्यात्मिक पहचान (*नित्य स्वरूप*) में स्थित होना चाहिए। अपनी सही पहचान कृष्ण के नित्य दास के रूप में कर लेने पर मनुष्य झूठी भौतिक पहचान से मुक्त हो जाता है, फलतः मोहमय संसार के कष्ट तुरन्त समाप्त हो जाते हैं, जिस तरह जागने पर कष्टप्रद स्वप्न की चिन्ता समाप्त हो जाती है। किन्तु यह समझ लेना होगा कि स्वप्न से जागृत होने की यह उपमा भगवान् पर कभी लागू नहीं होती, क्योंकि वे कभी भी मोह में नहीं रहते। वे अपनी अद्वितीय कोटि में जिसे *विष्णु तत्त्व* कहते हैं, नित्य जागृत तथा प्रबुद्ध रहते हैं। जो विद्वान होता है, वह ऐसे ज्ञान को सरलता से समझ सकता है।

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च ।
गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान्यस्त्वविक्रियः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियैः—इन्द्रियों द्वारा; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; अर्थेषु—पदार्थों में; गुणैः—गुणों से उत्पन्न हुए; अपि—भी; गुणेषु—उन्हीं गुणों से उत्पन्न में से; च—भी; गृह्यमाणेषु—ग्रहण किये जाकर; अहम्—मिथ्या अभिमान; कुर्यात्—उत्पन्न करना चाहिए; न—नहीं; विद्वान्—प्रबुद्ध; यः—जो; तु—निस्सन्देह; अविक्रियः—भौतिक इच्छा से अप्रभावित।

भौतिक इच्छाओं के कल्मष से मुक्त प्रबुद्ध व्यक्ति अपने आपको शारीरिक कार्यों का कर्ता नहीं मानता, प्रत्युत वह जानता है कि ऐसे कार्यों में प्रकृति के गुणों से उत्पन्न इन्द्रियाँ ही उन्हीं गुणों से उत्पन्न इन्द्रिय-विषयों से सम्पर्क करती हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२८) में भगवान् कृष्ण ने ऐसे ही वचन कहे हैं—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

"हे महाबाहु! भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म के भेद को भलीभाँति जानते हुए, जो परम सत्य को जानने वाला है, वह कभी भी अपने आपको इन्द्रियों में तथा इन्द्रियतृप्ति में नहीं लगाता।"

भौतिक शरीर इन्द्रिय-विषयों से अन्योन्य क्रिया करता है, क्योंकि शरीर को जीवित रखने के लिए खाना, पीना, बोलना, सोना इत्यादि आवश्यक है, किन्तु प्रबुद्ध व्यक्ति, जो कृष्णभावनामृत के विज्ञान को जानता है, यह कभी नहीं सोचता "मैं इन इन्द्रिय-विषयों को अपनी सम्पत्ति मानता हूँ और ये मेरे आनन्द के लिए हैं।" इसी प्रकार यदि शरीर कोई अद्भुत कर्म करता है, तो कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी गर्वित नहीं होता, न ही वह शरीर द्वारा किसी प्रकार से कार्य करने में असफल होने पर हताश होता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत का अर्थ है स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से पहचान का परित्याग। मनुष्य को चाहिए कि वह इन्हें भगवान् की बहिरंगा शक्ति के रूप में देखे, जो कि भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधि माया के निर्देशन में कार्य करती है। सकाम कर्मों में लीन रहने वाला व्यक्ति *महामाया* के अथवा बहिरंगा माया के प्रभाव-क्षेत्र में कार्य करता है और भौतिक जगत के कष्टों का अनुभव करता है। दूसरी ओर, भक्त अन्तरंगा शक्ति अर्थात् *योगमाया* के प्रभाव में कर्म करता है और भगवान् को अपनी प्रेमाभक्ति अर्पित करके तुष्ट रहता है। प्रत्येक अवस्था में भगवान् अपनी विविध शक्तियों के द्वारा कर्म के चरम कर्ता हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, जो व्यक्ति अपने को देहात्म बुद्धि से ऊपर बताता है, किन्तु उसी के साथ ही भौतिक इच्छा तथा मानसिक विकार के वशीभूत रहता है, वह वंचक तथा अधम बद्धजीव माना जाता है।

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन्गुणभाव्येन कर्मणा ।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबध्यते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

दैव—मनुष्य के पूर्व सकाम कर्मों के; अधीने—अधीन; शरीरे—भौतिक शरीर में; अस्मिन्—इस; गुण—गुणों से; भाव्येन—उत्पन्न; कर्मणा—सकाम कर्मों द्वारा; वर्तमानः—स्थित होकर; अबुधः—मूर्ख; तत्र—शारीरिक कार्यों में; कर्ता—करने वाला; अस्मि—हूँ; इति—इस प्रकार; निबध्यते—बँध जाता है।

अपने पूर्व सकाम कर्मों द्वारा उत्पन्न शरीर के भीतर स्थित, अज्ञानी व्यक्ति सोचता है कि मैं ही कर्म का कर्ता हूँ। इसलिए ऐसा मूर्ख व्यक्ति मिथ्या अहंकार से मोहग्रस्त होकर, उन सकाम कर्मों से बँध जाता है, जो वस्तुतः प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

जीव परम पुरुष भगवान् कृष्ण पर आश्रित होता है, लेकिन मिथ्या अहंकार के कारण वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपेक्षा करके अपने को कर्म का कर्ता तथा प्रत्येक वस्तु का भोक्त मानता है। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार राजा उत्पात करने वाली प्रजा को दण्ड देता है, उसी तरह परमेश्वर पापी जीव को माया के जंजाल में डालकर एक शरीर से दूसरे में देहान्तर के लिए बाध्य करके दण्ड देता है।

एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने ।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ।
न तथा बध्यते विद्वान्तत्र तत्रादयन्गुणान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विरक्तः—भौतिक भोग से विलग हुआ; शयने—लेटने या सोने में; आसन—बैठने में; अटन—चलते हुए; मज्जने—अथवा स्नान में; दर्शन—देखने में; स्पर्शन—स्पर्श करने; घ्राण—सूँघने; भोजन—खाने; श्रवण—सुनने; आदिषु—इत्यादि में; न—नहीं; तथा—इस प्रकार; बध्यते—बाँधा जाता है; विद्वान्—बुद्धिमान व्यक्ति; तत्र तत्र—जहाँ भी जाता है; आदयन्—अनुभव कराते; गुणान्—प्रकृति के गुणों से उत्पन्न, इन्द्रियाँ।

प्रबुद्ध व्यक्ति विरक्त रहकर शरीर को लेटने, बैठने, चलने, नहाने, देखने, छूने, सूँघने, खाने, सुनने इत्यादि में लगाता है, लेकिन वह कभी भी ऐसे कार्यों में फँसता नहीं। निस्सन्देह, वह समस्त शारीरिक कार्यों का साक्षी बनकर अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों में लगाता है और वह मूर्ख व्यक्ति की भाँति उसमें फँसता नहीं।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में उद्धव ने भगवान् कृष्ण से यह प्रश्न पूछा था कि प्रबुद्ध व्यक्ति बद्धजीव की तरह अपने को बाह्य शारीरिक कार्यों में क्यों लगाता है? यहाँ पर उसका उत्तर भगवान् द्वारा दिया गया है। मूर्ख व्यक्ति शारीरिक कार्यों में लगा रहकर भौतिक जीवन के कारणों तथा फल में

लिप्त रहता है, अतएव उसे उत्कट शोक तथा हर्ष का सामना करना पड़ता है। किन्तु स्वरूपसिद्ध व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों की हार तथा पीड़ा का अध्ययन करता है और शारीरिक कार्यों को भोगने का भूलकर भी प्रयास नहीं करता, उल्टे वह विरक्त साक्षी बनकर अपनी इन्द्रियों को शरीर-पालन के सामान्य कार्यों में लगाता है। जैसाकि *आदयन्* शब्द से सूचित होता है, वह भौतिक अनुभव में वास्तविक स्व अर्थात अपने आपको न लगाकर और कुछ को लगाता है।

प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ।
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः ।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद्विनिवर्तते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रकृति—भौतिक जगत में; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; असंसक्तः—इन्द्रियतृप्ति से पूर्णतया विरक्त; यथा—जिस तरह; खम्—आकाश; सविता—सूर्य; अनिलः—वायु; वैशारद्या—अत्यन्त कुशल द्वारा; ईक्षया—दृष्टि; असङ्ग—विरक्ति द्वारा; शितया—तेज किया हुआ; छिन्न—खण्ड खण्ड; संशयः—सन्देह; प्रतिबुद्धः—जाग्रत; इव—सदृश; स्वप्नात्—स्वप्न से; नानात्वात्—संसार के विविधत्व के द्वन्द्व से; विनिवर्तते—मुख मोड़ता है या परित्याग कर देता है।

यद्यपि आकाश हर वस्तु की विश्राम-स्थली है, किन्तु वह न तो किसी वस्तु से मिलता है, न उसमें उलझता है। इसी प्रकार सूर्य उन नाना जलाशयों के जल में लिप्त नहीं होता, जिनमें से वह प्रतिबिम्बित होता है। इसी तरह सर्वत्र बहने वाली प्रबल वायु उन असंख्य सुगंधियों तथा वातावरणों से प्रभावित नहीं होती, जिनमें से होकर वह गुजरती है। ठीक इसी तरह स्वरूपसिद्ध आत्मा भौतिक शरीर तथा अपने आसपास के भौतिक जगत से पूर्णतया विरक्त रहता है। वह उस मनुष्य की तरह है, जो स्वप्न से जगा है। स्वरूपसिद्ध आत्मा विरक्ति द्वारा प्रखर की गई कुशल दृष्टि से आत्मा के पूर्ण ज्ञान से समस्त संशयों को छिन्न-भिन्न कर देता है और अपनी चेतना को भौतिक विविधता के विस्तार से पूर्णतया विलग कर लेता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार प्रबुद्ध व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा समस्त संशयों को छिन्न कर देता है। श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनसे पृथक् किसी अस्तित्व की संभावना नहीं हो सकती। ऐसे कुशल ज्ञान से सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तः*—आकाश, सूर्य अथवा वायु की तरह स्वरूपसिद्ध व्यक्ति भगवान् की सृष्टि में रहते हुए भी उसमें बँधता नहीं। *नानात्व* मनुष्य के भौतिक

शरीर, अन्यों के शरीरों तथा शारीरिक एवं मानसिक इन्द्रियतृप्ति की असंख्य साज-सामग्री का द्योतक है। कृष्णभावनामृत के प्रति जागरूक होने से मनुष्य मोहमय इन्द्रियतृप्ति से विलग हो जाता है और शरीर के भीतर स्थित आत्मा के उत्तरोत्तर साक्षात्कार में लीन रहने लगता है। जैसाकि वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों के दृष्टान्त से प्रकट होता है आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से सर्वथा पृथक् हैं। यदि मनुष्य भगवान् पर पूर्णत: आश्रित हो जाय, तो इस जगत के भीतर रहते हुए भी उसे कोई कष्ट या चिन्ता नहीं होगी। भौतिक पदार्थों के असीम अनुभव से मनुष्य की चिन्ता में वृद्धि ही होती है, जबकि परम सत्य भगवान् कृष्ण की अनुभूति से मनुष्य को तुरन्त शान्ति-लाभ होता है। इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति पदार्थ-जगत से विरक्त होकर पूर्णतया स्वरूपसिद्ध तथा कृष्णभावनाभावित बन जाता है।

यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; स्युः—हैं; वीत—रहित; सङ्कल्पाः—भौतिक इच्छा से; प्राण—प्राण; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; धियाम्—बुद्धि के; वृत्तयः—कार्य; सः—ऐसा व्यक्ति; विनिर्मुक्तः—पूर्णतया मुक्त; देह—शरीर में; स्थः—स्थित; अपि—होते हुए भी; हि—निश्चय ही; तत्—शरीर के; गुणैः—गुणों से।

वह व्यक्ति स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से पूर्णतया मुक्त माना जाता है, जब उसके प्राण, इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के सारे कर्म किसी भौतिक इच्छा के बिना सम्पन्न किये जाते हैं। ऐसा व्यक्ति शरीर में स्थित रहकर भी बद्ध नहीं होता।

तात्पर्य : भौतिक शरीर तथा मन को शोक, मोह, भूख, काम, लोभ, पागलपन, हताशा इत्यादि सताते रहते हैं, किन्तु जो व्यक्ति आसक्तिरहित होकर इस जगत में रहता है, वह *विनिर्मुक्त* है। भगवान् कृष्ण की सेवा में लगे रहने पर प्राण, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि विमल हो जाते हैं, जैसाकि सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* में स्थान-स्थान पर पुष्टि हुई है।

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद्यदृच्छया ।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः ॥ १५॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; आत्मा—शरीर; हिंस्यते—आक्रमण किया जाता है; हिंस्रैः—पापी व्यक्तियों या उग्र पशुओं द्वारा; येन—जिससे; किञ्चित्—कुछ कुछ; यदृच्छया—किसी न किसी तरह; अर्च्यते—रूपान्तरित या प्रभावित होता है; वा—अथवा; क्वचित्—कहीं; तत्र—वहाँ; न—नहीं; व्यतिक्रियते—परिवर्तित अथवा प्रभावित होता है; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति।

कभी कभी अकारण ही मनुष्य के शरीर पर क्रूर व्यक्तियों या उग्र पशुओं द्वारा आक्रमण किया जाता है। अन्य अवसरों तथा अन्य स्थानों पर उसी व्यक्ति का दैवयोग से अत्यन्त सम्मान या पूजन होता है। जो व्यक्ति आक्रमण किये जाने पर क्रुद्ध नहीं होता, न ही पूजा किये जाने पर प्रमुदित होता है, वही वास्तव में बुद्धिमान है।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति अकारण ही अपने ऊपर आक्रमण किये जाने पर क्रुद्ध नहीं होता और अपनी पूजा किये जाने पर हर्षित नहीं होता, तो यह समझिये कि वह आत्म-साक्षात्कार की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया है और आध्यात्मिक बुद्धि के पद को प्राप्त है। उद्धव ने भगवान् कृष्ण से पूछा—*कैर्वा ज्ञायेत लक्षणै*—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति को किन लक्षणों से पहचाना जा सकता है? भगवान् कृष्ण ने जिस तरह अर्जुन को ज्ञान दिया था, उसी तरह अब वे उद्धव को वही विषय समझा रहे हैं। इस श्लोक में भगवान् उन लक्षणों को बतलाते हैं, जिनसे सन्त-पुरुष को आसानी से पहचाना जा सकता है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति आलोचना किये जाने पर अथवा आक्रमण किये जाने पर क्रुद्ध हो उठता है और अन्यों द्वारा प्रशंसित होने पर हर्ष के मारे फूल कर कुप्पा हो जाता है। ऐसा ही कथन याज्ञवल्क्य का मिलता है, जिसमें कहा गया है कि वास्तविक बुद्धिमान व्यक्ति न तो काँटा चुभाने पर क्रुद्ध होता है न चन्दन-लेप जैसी शुद्ध सामग्री से पूजित होने पर मन में प्रसन्न होता है।

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न स्तुवीत—प्रशंसा नहीं करता; न निन्देत—आलोचना नहीं करता; कुर्वतः—काम करने वाले; साधु—उत्तम; असाधु—दुष्ट; वा—अथवा; वदतः—बोलने वाले; गुण-दोषाभ्याम्—अच्छे तथा बुरे गुणों से; वर्जितः—मुक्त हुए; सम-दृक्—समानदर्शी; मुनिः—सन्त-साधु।

सन्त पुरुष समान दृष्टि से देखता है, अतएव भौतिक दृष्टि से अच्छे या बुरे कर्म से प्रभावित नहीं होता। यद्यपि वह अन्यों को अच्छा तथा बुरा कार्य करते और उचित तथा अनुचित बोलते देखता है, किन्तु वह किसी की प्रशंसा या आलोचना नहीं करता।

न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

न कुर्यात्—नहीं करे; न वदेत्—नहीं बोले; किञ्चित्—कुछ भी; न ध्यायेत्—चिन्तन नहीं करे; साधु असाधु वा—अच्छी अथवा बुरी वस्तुएँ; आत्म-आरामः—आत्म-साक्षात्कार में आनन्द प्राप्त करने वाला; अनया—इस; वृत्त्या—जीवन-शैली द्वारा; विचरेत्—उसे भ्रमण करना चाहिए; जड-वत्—जड़ व्यक्ति की तरह; मुनिः—साधु-पुरुष।

मुक्त साधु-पुरुष को अपने शरीर-पालन के लिए भौतिक अच्छाई या बुराई की दिशा हेतु न तो कर्म करना चाहिए, न बोलना या सोच-विचार करना चाहिए। प्रत्युत उसे सभी भौतिक परिस्थितियों में विरक्त रहना चाहिए और आत्म-साक्षात्कार में आनन्द लेते हुए उसे इस मुक्त जीवन-शैली में संलग्न होकर विचरण करना चाहिए और बाहरी लोगों को मन्दबुद्धि-व्यक्ति जैसा लगना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में ज्ञान-योगियों के लिए अनुशासन जैसी संस्तुति हैं, जो अपनी बुद्धि से यह समझने का प्रयास करते हैं कि वे भौतिक शरीर नहीं हैं। किन्तु जो व्यक्ति भगवद्भक्ति में लगा हुआ है, वह भौतिक वस्तुओं को भगवान् कृष्ण की सेवा में उपादेय होने के अनुसार ग्रहण करता या बहिष्कार करता है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत का प्रचार करना चाहता हो, उसे अत्यन्त बुद्धिमान समझा जाना चाहिए, *जड़वत्* नहीं, जैसाकि इस श्लोक में बतलाया गया है। यद्यपि भगवद्भक्त अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए न तो कर्म करता है, न बोलता है, न ही सोचता-विचारता है, किन्तु वह भगवान् की भक्ति के लिए कार्य करने, बोलने और ध्यान करने में बहुत व्यस्त रहता है। भक्त समस्त पतित बद्धजीवों को भगवान् की सेवा में लगाने के लिए बड़ी बड़ी योजनाएँ बनाता है, जिससे वे भी शुद्ध बन सकें और भगवद्धाम जा सकें। भौतिक वस्तुओं का केवल परित्याग ही पूर्ण चेतना नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि हर वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति तथा भगवान् के आनन्द के लिए उत्पन्न समझे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में लगे व्यक्ति के पास इतना समय नहीं रहता कि वह भौतिक भेद-भाव कर सके, अतएव वह स्वतः ही मुक्त पद को प्राप्त होता है।

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि ।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥ १८॥

शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्मणि—वैदिक साहित्य में; निष्णातः—पूर्ण अध्ययन से निपुण; न निष्णायात्—मन को लीन नहीं करता; परे—परम में; यदि—यदि; श्रमः—परिश्रम; तस्य—उसका; श्रम—महत्प्रयास का; फलः—फल; हि—निश्चय ही; अधेनुम्—दूध न देने वाली गाय; इव—सदृश; रक्षतः—रखवाले का।

यदि कोई गहन अध्ययन करके वैदिक साहित्य के पठन-पाठन में निपुण बन जाता है, किन्तु भगवान् में मन को स्थिर करने का प्रयास नहीं करता, तो उसका श्रम वैसा ही होता है, जिस तरह दूध न देने वाली गाय की रखवाली करने में अत्यधिक श्रम करने वाले व्यक्ति का। दूसरे शब्दों में, वैदिक ज्ञान के श्रमपूर्ण अध्ययन का फल कोरा श्रम ही निकलता है। उसके कोई अन्य सार्थक फल प्राप्त नहीं होगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने बतलाया है कि इस श्लोक में आया *परे* शब्द भगवान् का सूचक है, न कि निर्विशेष ब्रह्म का, क्योंकि इन उपदेशों के दाता भगवान् कृष्ण ने अगले श्लोकों में अपने को *परम* कहा है। इसकी निर्विशेषवादी व्याख्या *एकदेशान्वयउत्तरश्लोकार्थतात्पर्यविरोध:* अर्थात् विरोधमूलक व्याख्या होगी, जो इसी प्रसंग में कहे गये अन्य श्लोकों से विरोध उत्पन्न करेगी।

गाय की रखवाली में अत्यधिक श्रम की आवश्यकता होती है। गाय को खिलाने के लिए या तो अन्न उगाना पड़ता है या उपयुक्त चरागाह रखना पड़ता है। यदि चरागाह को ठीक से नहीं रखा जाता, तो विषैले खर-पतवार उगेंगे या फिर सर्प बढ़ने लगेंगे और खतरा उत्पन्न हो जायेगा। गायों को कई तरह के रोग तथा किलनियाँ लग जाती हैं, अत: उन्हें लगातार नहलाना-धुलाना पड़ता है और रोगाणुओं से मुक्त करना पड़ता है। इसी प्रकार गाय की चरागाह के चारों ओर बाड़ लगानी पड़ती है। इस तरह और भी कई कार्य करने होते हैं। किन्तु यदि गाय दूध न दे, तो सारा श्रम व्यर्थ जाता है। इसी तरह वैदिक मंत्रों के सूक्ष्म तथा गूढ़ अर्थ जानने के लिए संस्कृत भाषा सीखने में परिश्रम करना पड़ता है। यदि इतने परिश्रम के बाद भगवान् के दिव्य रूप को न समझा जा सके, जो कि जीवन के समस्त सुख का स्रोत है और यदि मनुष्य समस्त वस्तुओं के परम आश्रय भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करता, तो उसका श्रम व्यर्थ जाता है। यहाँ तक कि मुक्तात्मा भी, जिसने देह-आत्म-बुद्धि का परित्याग कर दिया होता है, यदि भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करता, तो नीचे गिर जाता है। *निष्णात* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को अन्तत: जीवन-लक्ष्य प्राप्त करना होगा अन्यथा वह निपुण नहीं है। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*प्रेमा पुमर्थो महान्*—मानव-जीवन का वास्तविक लक्ष्य भगवत्प्रेम है और इस लक्ष्य को प्राप्त किये बिना कोई निपुण नहीं कहला सकता।

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च ।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

गाम्—गाय को; दुग्ध—जिसका दूध; दोहाम्—पहले दुहा जा चुका हो; असतीम्—कुलटा, व्यभिचारिणी; च—भी; भार्याम्—पत्नी को; देहम्—शरीर को; पर—अन्यों के; अधीनम्—आश्रित; असत्—व्यर्थ; प्रजाम्—बच्चों को; च—भी; वित्तम्—सम्पत्ति को; तु—लेकिन; अतीर्थी-कृतम्—योग्य पात्र को न दिया जाकर; अङ्ग—हे उद्धव; वाचम्—वैदिक ज्ञान; हीनाम्—रहित; मया—मेरे ज्ञान का; रक्षति—रखवाली करता है; दुःख-दुःखी—एक कष्ट के बाद दूसरा कष्ट सहन करने वाला।

हे उद्धव, वह व्यक्ति निश्चय ही अत्यन्त दुखी होता है, जो दूध न देने वाली गाय, कुलटा पत्नी, पूर्णतया पराश्रित शरीर, निकम्में बच्चों या सही कार्य में न लगाई जाने वाली धन-सम्पदा की देखरेख करता है। इसी तरह, जो व्यक्ति मेरी महिमा से रहित वैदिक ज्ञान का अध्ययन करता है, वह भी सर्वाधिक दुखियारा है।

तात्पर्य : वह व्यक्ति वास्तव में विद्वान या निपुण है, जो यह समझता है कि सारी भौतिक वस्तुएँ, जिनकी अनुभूति विविध इन्द्रियों द्वारा होती है, भगवान् की अंश हैं और भगवान् के आश्रय के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। इस श्लोक में अनेक दृष्टान्तों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यदि वाक्-शक्ति का उपयोग भगवान् के समर्थन में नहीं होता, तो वह व्यर्थ है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक का भावार्थ यह है कि विविध इन्द्रियों के कार्य व्यर्थ होते हैं, यदि उनका उपयोग ईश्वर के महिमा-गायन में नहीं किया जाता। निस्सन्देह अवधूत ब्राह्मण ने पहले ही राजा यदु से कहा था कि यदि जिव्हा को वश में नहीं रखा जाता है, तो आत्मसंयम का सारा कार्यक्रम विफल हुआ समझो। जब तक भगवान् की महिमा का उच्चारण नहीं किया जाता, तब तक जीभ को वश में नहीं किया जा सकता।

दूधरहित गाय का दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण है। भद्र पुरुष कभी भी गाय को नहीं मारता, अतएव जब गाय बाँझ हो जाती है और दूध नहीं देती, तो उसकी रक्षा के कार्य में लग जाना चाहिए, क्योंकि व्यर्थ गाय को कोई नहीं खरीदेगा। बाँझ गाय का लोभी मालिक कुछ काल तक सोचता रह सकता है, ''मैं इस गाय के पालने में काफी धन लगा चुका हूँ और निकट भविष्य में यह पुनः गाभिन होगी तो दूध

देगी।'' किन्तु जब यह आशा व्यर्थ जाती है, तो वह गाय के स्वास्थ्य तथा उसकी सुरक्षा के प्रति अन्यमनस्क तथा उपेक्षा से पूर्ण हो जाता है। ऐसी पापपूर्ण अवमानना से मनुष्य को अगले जन्म में दुख भोगना पड़ सकता है, यद्यपि वह इस जीवन में बाँझ गाय के कारण पहले ही काफी दुख उठा चुका होता है।

इसी तरह यह जानकर कि उसकी पत्नी, न तो साध्वी है, न स्नेहिल, तो वह सन्तान पाने के लिए इतना उत्सुक हो उठता है कि वह ऐसी व्यर्थ पत्नी की देखरेख यह सोचकर करता रहता है कि ''मैं अपनी पत्नी को सती स्त्री के धार्मिक कार्य सिखलाऊँगा। महान् स्त्रियों के ऐतिहासिक दृष्टान्त सुनकर उसका हृदय अवश्यमेव परिवर्तित हो जायेगा और वह मेरी अद्‌भुत पत्नी बन जायेगी।'' दुर्भाग्यवश कई बार कुलटा स्त्री बदलती नहीं और कई व्यर्थ की सन्तानों को जन्म देती है, जो उसी के समान मूर्ख तथा अधार्मिक होती हैं। ऐसी सन्तानें कभी भी पिता को कोई सुख नहीं पहुँचातीं, फिर भी पिता अत्यधिक श्रम करके उनकी देखरेख करता है।

इतना ही नहीं, जिसने भगवत्कृपा से धन संचित कर लिया है, उसे उचित व्यक्ति को तथा उचित कार्य के लिए दान देने के लिए सतर्क रहना होगा। यदि ऐसा उपयुक्त व्यक्ति या कारण प्रकट होता है और तब यदि कोई संकोच करता है और स्वार्थ-भाव में आकर दान नहीं देता, तो उसकी ख्याति जाती रहती है और अगले जीवन में वह निर्धन होगा। जो व्यक्ति समुचित रीति से दान नहीं देता, तो वह अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने में पूरा जीवन बिता देता है, जिससे उसे कोई यश या सुख हाथ नहीं लगता।

पिछले सारे दृष्टान्त उस वैदिक ज्ञान का श्रमपूर्वक अध्ययन करने की व्यर्थता को बतलाने वाले हैं, जो भगवान् की महिमा का गान नहीं करता। श्रील जीव गोस्वामी टीका करते हैं कि वेदों की आध्यात्मिक ध्वनि का उद्देश्य मनुष्य को भगवान् कृष्ण के चरणकमलों तक लाना है। उपनिषदों तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में परम सत्य को पाने के लिए अनेक विधियों की संस्तुति की गई है, किन्तु परस्पर विरोधी तथा अनेक व्याख्याओं, टीकाओं और आदेशों के कारण मनुष्य ऐसे साहित्य के अध्ययन मात्र से परम सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु यदि मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण को समस्त कारणों का परम कारण समझता है और उपनिषदों तथा अन्य वैदिक साहित्य को परमेश्वर के महिमा-गान के रूप

में पढ़ता है, तो वह निश्चय ही भगवान् के चरणकमलों में स्थिर हो सकता है। उदाहरणार्थ, श्रील प्रभुपाद ने *श्री ईशोपनिषद* का तथा टीका इस प्रकार किए हैं कि पाठक भगवान् के निकट पहुँच जाता है। निस्सन्देह, भगवान् कृष्ण के चरणकमल ही एकमात्र विश्वसनीय नाव है, जिससे संसाररूपी तरंगित सागर को पार किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कन्ध में ब्रह्मा तक ने कहा है कि यदि कोई व्यक्ति भक्ति के मंगलप्रद मार्ग को छोड़ देता है और वैदिक चिन्तन में व्यर्थ श्रम करता है, तो वह उस मूर्ख के तुल्य है, जो खाली भूसी को पीट कर चावल पाने की आशा करता है। श्रील जीव गोस्वामी की संस्तुति है कि मनुष्य शुष्क वैदिक चिन्तन का पूर्णरूपेण परित्याग कर दे, क्योंकि इससे उसे परम सत्य भगवान् कृष्ण की भक्ति नहीं मिल सकती।

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—जिस (साहित्य) में; न—नहीं; मे—मेरा; पावनम्—पवित्रकारी; अङ्ग—हे उद्धव; कर्म—कर्म; स्थिति—पालन; उद्भव—सृष्टि; प्राण-निरोधम्—तथा संहार; अस्य—भौतिक जगत का; लीला-अवतार—लीला-अवतारों में से; ईप्सित—अभीष्ट; जन्म—प्राकट्य; वा—अथवा; स्यात्—है; वन्ध्याम्—बंजर; गिरम्—वाणी; ताम्—यह; बिभृयात्—समर्थन करे; न—नहीं; धीरः—बुद्धिमान पुरुष।

हे उद्धव, बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह कभी भी ऐसा ग्रंथ न पढ़े, जिनमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाले मेरे कार्यकलापों का वर्णन न हो। निस्सन्देह मैं सम्पूर्ण जगत का सृजन, पालन तथा संहार करता हूँ। मेरे समस्त लीलावतारों में से कृष्ण तथा बलराम सर्वाधिक प्रिय हैं। ऐसा कोई भी तथाकथित ज्ञान, जो मेरे इन कार्यकलापों को महत्व नहीं देता, वह निरा बंजर है और वास्तविक बुद्धिमानों द्वारा स्वीकार्य नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर *लीलावतारेप्सित-जन्म* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अद्भुत लीलाएँ सम्पन्न करने के लिए भगवान् का अवतार *लीलावतार* कहलाता है और विष्णु के ऐसे अद्भुत रूप रामचन्द्र नृसिंहदेव, कूर्म, वराह जैसे नामों से प्रशंसित होते हैं। किन्तु इन समस्त लीलावतारों में से आज भी सर्वाधिक प्रिय भगवान् कृष्ण हैं, जो कि *विष्णु-तत्त्व* के आदि स्रोत हैं। भगवान् का प्राकट्य कंस के बंदीगृह में होता है और वे तुरन्त ही वृन्दावन के ग्रामीण परिवेश में स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं, जहाँ

पर वे अपने ग्वालमित्रों, सखियों, माता-पिता तथा शुभचिन्तकों के साथ अद्‌भुत बाल-लीलाएँ प्रदर्शित करते हैं। कुछ काल बाद, भगवान् की लीलाएँ मथुरा तथा द्वारका में स्थानान्तरित हो जाती हैं और वृन्दावनवासियों का असामान्य प्रेम भगवान् कृष्ण के कष्टमय विरह में लक्षित होता है। भगवान् की ऐसी लीलाएँ *ईप्सित* अर्थात् परम सत्य के साथ समस्त प्रेम के विनिमय के आगार हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त अत्यन्त बुद्धिमान तथा निपुण होते हैं और वे ऐसे व्यर्थ तथा निकृष्ट ग्रंथों पर ध्यान ही नहीं देते, जो सर्वोच्च सत्य भगवान् कृष्ण की उपेक्षा करते हैं। यद्यपि ऐसे ग्रंथ सारे संसार में भौतिकतावादी व्यक्तियों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय हैं, किन्तु शुद्ध वैष्णव समुदाय द्वारा वे पूर्णतया उपेक्षित हैं। इस श्लोक में भगवान् बतलाते हैं कि भक्तों के लिए जिन ग्रंथों की संस्तुति की गई है वे ऐसे होते हैं, जो भगवान् की लीलाओं का गुणगान *पुरुष-अवतार* तथा *लीलावतारों* के रूप में करते हैं और इनका अन्त भगवान् कृष्ण के साक्षात् प्राकट्य में होता है, जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३९) में हुई है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो साक्षात् कृष्ण के रूप में तथा राम, नृसिंह, वामन आदि विभिन्न अवतारों के रूप में संसार में प्रकट हुए।"

यहाँ तक कि जो वैदिक ग्रंथ भगवान् की उपेक्षा करते हों, उनकी भी उपेक्षा करनी चाहिए। जब वेदों के रचियता वेदव्यास अपनी कृति से असन्तुष्ट हो रहे थे, तो यही बात नारद मुनि ने व्यासदेव को समझाई थी।

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि ।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह (जैसाकि मैंने अभी कहा); **जिज्ञासया**—वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा; **अपोह्य**—त्याग कर; **नानात्व**—विविधता के; **भ्रमम्**—घूमने की त्रुटि; **आत्मनि**—अपने में; **उपारमेत**—भौतिक जीवन समाप्त कर देना चाहिए; **विरजम्**—शुद्ध; **मनः**—मन; **मयि**—मुझमें; **अर्प्य**—स्थिर करके; **सर्व-गे**—सर्वव्यापी में।

समस्त ज्ञान के निष्कर्ष रूप में मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक विविधता की मिथ्या धारणा को त्याग दे, जिसे वह आत्मा पर थोपता है और इस तरह अपने भौतिक अस्तित्व को समाप्त कर दे। चूँकि मैं सर्वव्यापी हूँ, इसलिए मुझ पर मन को स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि पिछले श्लोकों में भगवान् ने उन निर्विशेष दार्शनिकों की जीवन-शैली तथा पहुँच का वर्णन किया है, जो पदार्थ और आत्मा के अन्तर पर ध्यान करते हैं, किन्तु यहाँ पर वे ज्ञान के पथ का बहिष्कार करते हैं और अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जो कि *भक्तियोग* है। ज्ञान-मार्ग उसे ही भाता है, जो यह नहीं जानता कि कृष्ण ही भगवान् है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

वासुदेवः सर्वमिति अर्थात् वासुदेव ही सर्वस्व हैं—यह पद इसी श्लोक में आए *सर्वगे* जैसा ही है। मनुष्य को जानना चाहिए कि भगवान् क्यों सर्वव्यापी हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम श्लोक में कहा गया है—*जन्माद्यस्य यतः*—भगवान् हर वस्तुके स्रोत हैं। जैसाकि इस अध्याय के पिछले श्लोक में कहा गया है, वे हर वस्तु का सृजन, पालन तथा संहार करने वाले हैं। इस प्रकार भगवान् वायु या सूर्य-प्रकाश की तरह सर्वव्यापक नहीं हैं, प्रत्युत वे परम नियन्ता के रूप में सर्वव्याप्त होते हैं, जो हर जीव के भाग्य को अपने हाथों में रखते हैं।

अन्ततोगत्वा हर वस्तु कृष्ण का अंश है, अतएव कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई आराध्य वस्तु नहीं है। अन्य किसी वस्तु का चिन्तन भी कृष्ण का चिन्तन है, किन्तु वह अपूर्ण रहता है, जैसाकि *अविधिपूर्वकम्* शब्द द्वारा *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है। *गीता* में भगवान् कृष्ण यह भी कहते हैं कि सारे जीव भगवद्धाम जाने के मार्ग पर हैं। किन्तु अज्ञान के कारण उनमें से कुछ मूर्खतावश यह सोचकर रास्ते में रुक जाते हैं या पीछे चले आते हैं कि उनकी यात्रा समाप्त हो गई है, जबकि वास्तव में वे भगवान् की किसी लघु-शक्ति में लटके रह जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति परम सत्य के स्वभाव को ठीक से जानना चाहता है, तो उसे भगवत्प्रेम का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

"केवल भक्ति से मुझ भगवान् को यथारूप में जाना जा सकता है। जब मनुष्य ऐसी भक्ति से परम पुरुष के पूर्ण भावनामृत में होता है, तो वह वैकुण्ठ जगत में प्रवेश कर सकता है।"

इस श्लोक में *नानात्व-भ्रमम्* स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शरीरों से झूठी पहचान का सूचक है। *भ्रमम्* शब्द भूल को बताने वाला है। इसका अर्थ भ्रमण या चक्कर लगाना भी हो सकता है। बद्धजीव मोह में गिरने की भूल से भौतिक शरीरों की एक शृंखला में लगातार घूमता रहता है—कभी देवता-रूप में, तो कभी मल के कीट-रूप में प्रकट होता है। *उपारमेत्* शब्द का अर्थ है कि मनुष्य को इस तरह निरर्थक भटकना बन्द करके अपने मन को परम सत्य पर टिकाना चाहिए, जो हर एक के प्रेम के वास्तविक लक्ष्य हैं। ऐसा निष्कर्ष भावनात्मक नहीं, अपितु वैश्लेषिक बुद्धि (*जिज्ञासया*) का फल है। इस तरह उद्धव से जिज्ञासा के अनेक पहलुओं की व्याख्या करने के बाद अब कृष्ण शुद्ध भगवत्प्रेम अर्थात् कृष्णभावनामृत के अन्तिम निष्कर्ष पर आते हैं। ऐसे प्रेम के बिना भगवान् पर मन को नित्य रूप में स्थिर करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

विवेक से उद्धरण देते हुए श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि *नानात्वभ्रमम्* निम्नलिखित मोहों का सूचक है—जीवात्मा को परम मानना, सारे जीवों को बिना पृथक् अस्तित्व के एक जीव मानना, अनेक ईश्वरों का होना, कृष्ण को ईश्वर न मानना, ब्रह्माण्ड को परम सत्य मानना। ये सभी *भ्रम* या त्रुटियाँ कहलाते हैं, किन्तु ऐसे अज्ञान को कृष्ण-नाम कीर्तन द्वारा तुरन्त समाप्त किया जा सकता है : हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् ।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; अनीशः—असमर्थ; धारयितुम्—स्थिर करने के लिए; मनः—मन; ब्रह्मणि—आध्यात्मिक पद पर; निश्चलम्—इन्द्रियतृप्ति से मुक्त; मयि—मुझमें; सर्वाणि—समस्त; कर्माणि—कर्म; निरपेक्षः—फल भोगने का प्रयास किये बिना; समाचर—सम्पन्न करो।

हे उद्धव, यदि तुम अपने मन को समस्त भौतिक उहापोहों से मुक्त नहीं कर सकते और इसे आध्यात्मिक पद पर पूर्णतया लीन नहीं कर सकते, तो अपने सारे कार्यों को, उनका फल भोगने का प्रयास किये बिना, मुझे अर्पित भेंट के रूप में सम्पन्न करो।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति अपने कर्मों का फल भोगने का प्रयास किये बिना उन्हें भगवान् कृष्ण को अर्पित करता है, तो उसका मन शुद्ध बन जाता है। जब मन शुद्ध हो जाता है, तो दिव्य ज्ञान स्वयमेव प्रकट होता है, क्योंकि ऐसा ज्ञान शुद्ध चेतना का गौण फल है। जब मन पूर्ण ज्ञान में लीन होता है, तो उसे आध्यात्मिक पद तक उठाया जा सकता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में वर्णन हुआ है—

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

''इस प्रकार जो दिव्य पद पर स्थित है, वह तुरन्त परब्रह्म का अनुभव करता है। वह कभी न तो शोक करता है, न किसी वस्तु की कामना करता है। वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति को प्राप्त करता है।''

भगवान् कृष्ण के दिव्य रूप में मन को लीन करके मनुष्य सामान्य दिव्य ज्ञान की अवस्था को पार कर सकता है, जिससे वह अपने को स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से पृथक् समझता है। भगवान् की प्रेमा भक्ति द्वारा आध्यात्मिक रूप से पुष्ट होकर, मन मोह के सारे कलुषों से पूरी तरह विमल हो जाता है। इस तरह भगवान् के साथ गहन एकाग्रता से सम्बद्ध होकर मनुष्य ज्ञान के सर्वोच्च मानक को प्राप्त करता है और भगवान् का घनिष्ठ संगी बन जाता है।

भगवान् को अपने कर्म समर्पित करने से मनुष्य कुछ हद तक अपने मन को शुद्ध बनाता है और इस तरह आध्यात्मिक सजगता की प्रारम्भिक अवस्था को प्राप्त करता है। इतने पर भी वह अपने मन को पूरी तरह आध्यात्मिक पद पर स्थिर करने में समर्थ नहीं भी हो सकता है। यहाँ तक पहुँच कर मनुष्य मन के भीतर छिपे हुए कल्मष को देख कर अपनी स्थिति का मूल्यांकन करे। तब इस श्लोक में बतायी गई विधि से अपने भक्ति-कार्यों को भगवान् की सेवा में लगाये। यदि वह अपने को कृत्रिम रूप

से परम मुक्त मानता है अथवा आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर कारणस्वरूप होता है, तो नीचे गिरने का गंभीर खतरा है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् ने उद्धव को इसके पूर्व *ज्ञानमिश्रा भक्ति* की व्याख्या की। इस श्लोक में वे स्पष्ट बतलाते हैं कि दिव्य ज्ञान भगवद्भक्ति का *स्वत: गौण* उत्पाद है। अगले श्लोक में वे शुद्ध भक्ति की व्याख्या आरम्भ करते हैं, जो आत्म-साक्षात्कार के लिए पर्याप्त है। आध्यात्मिक ज्ञान की भोगेच्छा भौतिक इच्छा है, क्योंकि इसका उद्देश्य निजी तुष्टि होता है, न कि भगवान् का आनन्द। इसलिए भगवान् कृष्ण उद्धव को सावधान करते हैं कि यदि कोई व्यक्ति समाधि में अपने मन को आध्यात्मिक पद पर एकाग्र नहीं कर पाता, तो उसे ब्रह्म क्या है और क्या ब्रह्म नहीं है ऐसे सैद्धान्तिक वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। प्रत्युत उसे भगवद्भक्ति में लगे रहना चाहिए और तब आध्यात्मिक ज्ञान स्वत: ही हृदय में उत्पन्न होगा। *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो प्रेमपूर्वक मेरी भक्ति और उपासना करने में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ तक आ सकते हैं।''

इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कंध में ब्रह्माजी सावधान करते हैं कि भक्ति के शुभ मार्ग की उपेक्षा करके मानसिक चिन्तन का व्यर्थ श्रम नहीं करना चाहिए। मात्र दार्शनिक चिन्तन से आध्यात्मिक पद पर मन को एकाग्र नहीं किया जा सकता। इतिहास ऐसे अनेक महान् दार्शनिकों से परिपूर्ण है जिनकी निजी आदतें कुत्सित थीं, जिससे सिद्ध होता है कि मात्र दार्शनिक चिन्तन से वे अपने को आध्यात्मिक पद पर स्थिर नहीं रख सके। यदि किसी व्यक्ति को विगत जीवन में भगवद्भक्ति का अवसर प्राप्त नहीं हुआ और वह पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर पर ही चिन्तन करने में लगा रहता है, तो वह आध्यात्मिक पद पर अपने मन को स्थिर नहीं रख पायेगा। ऐसे व्यक्ति को व्यर्थ चिन्तन का परित्याग करके चौबीसों घण्टे भगवान् के मिशन में लीन रहकर कृष्णभावनामृत के व्यावहारिक कार्य में लग जाना चाहिए। भगवान् के ऐसे मिशन-कार्य में लगने पर उसे अपने कर्मफल को भोगने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपने कर्मफल भगवान् को अर्पित करे, तो उसका मन

पूर्णतया शुद्ध न रहने पर भी शुद्ध निष्काम पद को प्राप्त हो जायेगा, जिसमें उसकी एकमात्र इच्छा भगवान् की तुष्टि ही होती है।

श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि यदि किसी को भगवान् के साकार रूप तथा कार्यकलापों में श्रद्धा नहीं होती, तो उसमें दिव्य पद पर निरन्तर बने रहने का आध्यात्मिक बल नहीं होगा। इस श्लोक में उद्धव तथा अन्य सारे जीवों को भगवान् समस्त दर्शन के निष्कर्ष पर लाते हैं, जो कि कृष्ण की शुद्ध भक्ति है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि जो व्यक्ति मिथ्या अहंकार से मोहग्रस्त रहता है, हो सकता है कि वह अपने कर्म भगवान् को अर्पित न करना चाहे, यद्यपि प्रकृति के गुणों से ऊपर उठने का यह वास्तविक ढंग है। अपने अज्ञान के कारण वह यह नहीं जानता कि वह कृष्ण का नित्य दास है, अपितु वह भौतिक मोह के द्वंद्व के प्रति आकृष्ट होता है। कोई व्यक्ति सैद्धान्तिक चिन्तन से ऐसे मोह से छूट नहीं सकता, किन्तु यदि वह अपने कर्म भगवान् को अर्पित करता है, तो वह भगवान् के नित्य दास के रूप में अपनी नित्य दिव्य स्थिति को स्पष्टतया समझ सकेगा।

श्रद्धालुर्मत्कथाः शृण्वन्सुभद्रा लोकपावनीः ।
गायन्ननुस्मरन्कर्म जन्म चाभिनयन्मुहुः ॥ २३ ॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन्मदपाश्रयः ।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्रद्धालुः—श्रद्धावान व्यक्ति; मत्-कथाः—मेरी कथाएँ; शृण्वन्—सुनते हुए; सु-भद्राः—सर्वमंगलमय; लोक—सारे जगत को; पावनीः—पवित्र बनाते हुए; गायन्—गाना; अनुस्मरन्—निरन्तर स्मरण करना; कर्म—मेरे कार्य; जन्म—मेरा जन्म; च—भी; अभिनयन्—नाटक करके.; मुहुः—पुनः पुनः; मत्-अर्थे—मेरे आनन्द के लिए; धर्म—धार्मिक कार्य; काम—इन्द्रिय-कर्म; अर्थान्—तथा व्यापारिक कार्य; आचरन्—सम्पन्न करते हुए; मत्—मुझमें; अपाश्रयः—आश्रय बनाकर; लभते—प्राप्त करता है; निश्चलाम्—अटल; भक्तिम्—भक्ति; मयि—मुझमें; उद्धव—हे उद्धव; सनातने—मेरे सनातन रूप।

हे उद्धव, मेरी लीलाओं तथा गुणों की कथाएँ सर्वमंगलमय हैं और समस्त ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाली हैं। जो श्रद्धालु व्यक्ति ऐसी दिव्य लीलाओं को निरन्तर सुनता है, उनका गुणगान करता है तथा उनका स्मरण करता है और मेरे प्राकट्य से लेकर सारी लीलाओं का

अभिनय करता है, तथा मेरी तुष्टि के लिए अपने धार्मिक, ऐन्द्रिय तथा वृत्तिपरक कार्यों को मुझे अर्पित करता है, वह निश्चय ही मेरी अविचल भक्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जिन लोगों की श्रद्धा केवल भगवान् के निर्विशेष तेजोमय पक्ष में होती है और जो लोग उन अन्तर्यामी परमात्मा में ही श्रद्धा रखते हैं, जो प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित, योगिक ध्यान के लिए पूर्ण हैं, उनका साक्षात्कार सीमित तथा अपूर्ण माना जाता है। योगिक ध्यान तथा निर्विशेष दार्शनिक चिन्तन दोनों ही वास्तविक भगवत्प्रेम से रहित हैं, अतएव इन्हें मनुष्य-जीवन की सिद्धि नहीं माना जा सकता। जो व्यक्ति भगवान् में पूर्ण श्रद्धा रखता है, वही भगवद्धाम जाने का पात्र है।

प्रोढ़-वय गोपियों से मक्खन चुराना, ग्वालबालों तथा तरुण गोपियों के साथ जीवन का आनन्द लूटना, वंशी बजाना तथा रास-नृत्य करना इत्यादि कृष्ण की लीलाएँ सर्वमंगलदायक आध्यात्मिक कार्य हैं, जिनका विस्तृत वर्णन इसी ग्रंथ के दसवें स्कंध में हुआ है। भगवान् की इन लीलाओं की महिमा का वर्णन करने वाले अनेक प्रामाणिक गीत तथा प्रार्थनाएँ हैं, जिनका निरन्तर कीर्तन करने से मनुष्य स्वत: *स्मरणम्* को प्राप्त होता है। भगवान् ने अपना ऐश्वर्य अपने जन्म के समय कंस के कारागार में तथा बाद में नन्द महाराज द्वारा गोकुल में मनाये गये जन्मोत्सव के समय प्रकट किया। इसके बाद भगवान् ने अनेक साहसिक कार्य किये—यथा कालिय सर्प तथा अनेक अविवेकी असुरों को दण्ड देना। मनुष्य को कृष्ण के लीलोत्सवों में यथा जन्माष्टमी उत्सव में नियमपूर्वक भाग लेना चाहिए। ऐसे अवसरों पर कृष्ण के अर्चाविग्रह तथा गुरु की पूजा करनी चाहिए और इस प्रकार प्रभु की लीलाओं का स्मरण करना चाहिए।

इस श्लोक में *धर्म* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को कृष्ण से सम्बन्धित धार्मिक कृत्य करने चाहिए। इसलिए उसे वैष्णवों तथा ब्राह्मणों को अन्न, वस्त्र इत्यादि के रूप में दान देना चाहिए और जब भी सम्भव हो सके, तो गौवों की रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए जो भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। *काम* शब्द बताता है कि मनुष्य को भगवान् के दिव्य साज-सामान से अपनी इच्छाएँ पूरी करनी चाहिए। उसे महाप्रसाद खाना चाहिए और भगवान् की फूल-मालाओं, तथा चन्दन-लेप से अपने को सजाना चाहिए तथा अर्चाविग्रह के उतारे गये वस्त्र धारण करने चाहिए। जो व्यक्ति विलासमय महल में रह रहा हो, उसे उस महल को भगवान् का मन्दिर बनाकर, उसमें अन्य लोगों को आमंत्रित करके अर्चाविग्रह के

सामने कीर्तन करना और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सुनना चाहिए और भगवान् के भोजन का जूठन खाना चाहिए। अथवा उसे वैष्णव-समुदाय के साथ सुन्दर मन्दिर में रहकर ऐसे कार्यों में लगे रहना चाहिए। इस श्लोक में *अर्थ* शब्द यह सूचित करता है कि जो व्यक्ति व्यापार के प्रति झुकाव रखता हो, उसे भगवद्भक्तों के प्रचार-कार्य को बढ़ावा देने के लिए धन एकत्र करना चाहिए, अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। इस तरह मनुष्य के वृत्तिपरक कार्य भी कृष्ण की भक्ति माने जायेंगे। *निश्चलाम्* शब्द बताता है कि चूँकि भगवान् कृष्ण शाश्वत रूप से पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द को प्राप्त रहते हैं, अत: उनकी पूजा करने वाले को किसी उत्पात की सम्भावना नहीं रहती। यदि हम भगवान् को छोड़कर अन्य किसी की पूजा करते हैं, तो पूज्य अर्चाविग्रह पर किसी अशोभनीय स्थिति आ पड़ने पर हमारी पूजा विचलित हो सकती है। किन्तु भगवान् तो सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव उनकी पूजा समस्त उत्पातों से मुक्त है।

जो व्यक्ति भगवान् की लीलाओं के श्रवण, गायन, स्मरण तथा अभिनय में अपने को लगाता है, वह तुरन्त ही सारी भौतिक इच्छा से मुक्त हो जाएगा। इस सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में बढ़ा-चढ़ा रहता है, वह वैकुण्ठ-लोक में भगवान् की किसी विशिष्ट रूप से सेवा में लगे किसी भक्त की लीलाओं के प्रति आकृष्ट हो सकता है। इस जगत में बढ़ा-चढ़ा भक्त भगवान् की वैसी ही सेवा करने की इच्छा कर सकता है और वह अपने पूज्य भक्त-गुरु की सेवा का अभिनय कर सकता है। यही नहीं, वह उत्सवों, भगवान् कृष्ण की लीला-विशेष को करने या भगवान् के अन्य भक्तों के कार्यों को करने में रुचि ले सकता है। इस तरह वह भगवान् के प्रति अपनी श्रद्धा में निरन्तर वृद्धि कर सकता है। जिन लोगों को भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को सुनने, उनका गायन करने या स्मरण करने की इच्छा नहीं होती, वे निश्चित रूप से कल्मषग्रस्त होते हैं और कभी भी सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाते। ऐसे लोग छोटी-छोटी सांसारिक बातों में जिनसे कोई शाश्वत लाभ नहीं होता, अपने को उलझा कर मनुष्य-जीवन के सुअवसर को नष्ट कर देते हैं। धर्म का असली अर्थ है सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् की निरन्तर सेवा करना। जिसने भगवान् की पूर्ण शरणागति स्वीकार कर ली है, वह ईश्वर के निर्विशेषवादी चिन्तन में तनिक भी रुचि नहीं रखता और वह अपना समय भक्ति-कार्यों के असीम आनंद में अधिकाधिक बढ़न आगे में लगाता है।

सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सत्—भगवद्भक्तों की; सङ्ग—संगति से; लब्धया—प्राप्त की हुई; भक्त्या—भक्ति द्वारा; मयि—मुझमें; माम्—मेरा; सः—वह; उपासिता—उपासक; सः—वही व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; मे—मेरा; दर्शितम्—बताये गये; सद्भिः—मेरे शुद्ध भक्तों द्वारा; अञ्जसा—आसानी से; विन्दते—प्राप्त करता है; पदम्—मेरे चरणकमल अथवा मेरा नित्य धाम।

जिसने मेरे भक्तों की संगति से शुद्ध भक्ति प्राप्त कर ली है, वह निरन्तर मेरी पूजा में लगा रहता है। इस तरह वह आसानी से मेरे धाम को जाता है, जिसे मेरे शुद्ध भक्तगणों द्वारा प्रकट किया जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने अपनी प्रेमाभक्ति में समर्पण करने के महत्त्व पर बल दिया। कोई यह पूछ सकता है कि ऐसा समर्पण या भक्ति कैसे प्राप्त की जाती है? भगवान् इस श्लोक में इसी का उत्तर देते हैं। मनुष्य को भक्तों की संगति में रहना चाहिए। इस तरह वह स्वत: ही *श्रवणम् कीर्तनम्* तथा *स्मरणम्* जैसी भक्ति-विधियों में चौबीसों घण्टे लगा रहेगा। भगवान् के शुद्ध भक्त अपनी दिव्य ध्वनि से वैकुण्ठ को व्यक्त कर सकते हैं, जिससे नवदीक्षित भक्त भी भगवान् के धाम का अनुभव कर सकता है। इस प्रकार प्रोत्साहति होकर नवदीक्षित आगे प्रगति करते हुए स्वयं वैकुण्ठ में भगवान् की सेवा करने के योग्य बन सकता है। भक्तों की निरन्तर संगति करने तथा उनसे भक्तियोग के विषय में सीखने से मनुष्य को भगवान् में तथा भगवत्सेवा में प्रगाढ़ आसक्ति हो जाती है और ऐसी आसक्ति क्रमश: शुद्ध भगवत्प्रेम में बदल जाती है।

मूर्ख लोग कहते हैं कि ईश्वर के नामों से युक्त विविध मंत्र तथा अन्य सारे मंत्र महत्त्वरहित हैं और निरी भौतिक कृतियाँ हैं, इसलिए तथाकथित मंत्र या योग-विधि से अन्त में वही परिणाम प्राप्त होगा। ऐसी ओछी विचारधारा का खण्डन करने के उद्देश्य से ही भगवान् ने यहाँ पर भगवद्धाम वापस जाने के विज्ञान का वर्णन किया है। मनुष्य को निर्विशेषवादियों की बुरी संगति स्वीकार नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनका कहना है कि भगवान् के नाम, रूप, गुण तथा लीलाएँ माया हैं। वास्तव में माया सर्वशक्तिमान भगवान् की तुच्छ शक्ति है और यदि कोई बेसमझी में माया को परम सत्य से ऊपर उठाना चाहता है, तो उसे कभी भी ईश्वर-प्रेम का अनुभव नहीं होगा और वह भगवान् की गहन विस्मृति में डाल दिया जायेगा। मनुष्य को उन लोगों की संगति नहीं करनी चाहिए, जो भगवद्धाम जाने वाले

भाग्यशाली भक्तों से ईर्ष्या करते हैं। ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्ति उस भगवद्धाम का उपहास करते हैं, जिसका उद्घाटन शुद्ध भक्तों द्वारा उन लोगों को किया जाता है, जिन्हें भगवान् के सन्देश में श्रद्धा होती है। ईर्ष्यालु व्यक्ति ऐसी आम जनता में उत्पात मचाते हैं, जिन्हें भगवान् के श्रद्धालु भक्तों की शरण लेनी होती है। जब तक आम जनता शुद्ध भक्तों से नहीं सुनेगी, तब तक वह यह नहीं समझ पायेगी कि कोई भगवान् हैं, जो अपने धाम में नित्य स्थित रहते हैं, जो स्व-तेजोमय, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण हैं। इस श्लोक में *सङ्ग* की महत्ता को पूरी तरह समझाया गया है।

श्रीउद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो ।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता ॥ २६ ॥
एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो ।
प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; साधुः—सन्त-पुरुष; तव—तुम्हारा; उत्तम-श्लोक—हे प्रभु; मतः—विचार; कीदृक्-विधः—वह किस तरह का होगा; प्रभो—हे भगवान्; भक्तिः—भक्ति; त्वयि—तुममें; उपयुज्येत—सम्पन्न करने योग्य है; कीदृशी—किसी तरह की है; सद्भिः—आपके शुद्ध भक्तों, यथा नारद द्वारा; आदृता—समादरित; एतत्—यह; मे—मुझसे; पुरुष-अध्यक्ष—हे विश्व-नियन्ताओं के शासक; लोक-अध्यक्ष—हे वैकुण्ठ के स्वामी; जगत्-प्रभो—हे ब्रह्माण्ड के ईश्वर; प्रणताय—आपके शरणागतों के; अनुरक्ताय—अनुरक्त; प्रपन्नाय—जिनके आपके अलावा कोई अन्य आश्रय नहीं है; च—भी; कथ्यताम्—कहें।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, हे भगवान्, आप किस तरह के व्यक्ति को सच्चा भक्त मानते हैं और आपके भक्तों द्वारा किस तरह की भक्ति समर्थित है, जो आपको अर्पित की जा सके? हे ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं के शासक, हे वैकुण्ठ-पति तथा ब्रह्माण्ड के सर्वशक्तिमान ईश्वर, मैं आपका भक्त हूँ और चूँकि मैं आपसे प्रेम करता हूँ, इसलिए आपको छोड़ कर मेरा अन्य कोई आश्रय नहीं है। अतएव कृपा करके आप इसे मुझे समझायें।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कहा गया था कि भक्तों की संगति से मनुष्य भगवान् के परम धाम को पा सकता है। इसलिए स्वाभाविक है कि उद्धव उस विशिष्ट भक्त के लक्षणों के बारे में पूछताछ करे, जिसकी संगति से भगवद्धाम जाया जा सके। श्रील जीव गोस्वामी लिखते हैं कि भगवान् जानते हैं कि वास्तव में कौन निष्ठावान भक्त है, क्योंकि भगवान् अपने प्रेमी-सेवकों पर सदैव अनुरक्त रहते हैं। इसी तरह शुद्ध भक्तगण भगवान् कृष्ण की भक्ति की उचित विधियाँ बता सकते हैं, क्योंकि वे पहले से

कृष्ण-प्रेम में निमग्न रहते हैं। यहाँ पर उद्धव भगवान् से अनुरोध करते हैं कि वे भक्त के गणों का वर्णन करें तथा उस भक्ति को बतलायें, जो भगवान् को अर्पित करने योग्य हो और जिसकी स्वीकृति भक्तगण स्वयं देते हों।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि *पुरुषाध्यक्ष* शब्द यह बतलाता है कि भगवान् कृष्ण महाविष्णु इत्यादि ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं के परम शासक हैं और इसलिए अनन्त सत्ता रखते हैं। *लोकाध्यक्ष* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण समस्त वैकुण्ठ-लोकों के परम अध्यक्ष हैं, अतएव वे असीम यशस्वी तथा पूर्ण हैं। उद्धव कृष्ण को *जगत्प्रभु* कह कर भी सम्बोधित करते हैं, क्योंकि वे इस मायामय भौतिक जगत में भी बद्धजीवों को उबारने के लिए स्वयं अवतार लेकर अपनी असीम कृपा प्रदर्शित करते हैं। *प्रणताय* शब्द बतलाता है कि उद्धव सामान्य मूर्खों जैसे घमंडी नहीं हैं, जो भगवान् के समक्ष नतमस्तक होकर आनन्दित नहीं होते। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव बतलाते हैं कि वे *अनुरक्ताय* हैं अर्थात् कृष्ण के प्रेम में पूर्णरूपेण बँधे हैं, क्योंकि उद्धव अर्जुन जैसे अन्य महान् भक्तों के समान नहीं हैं, जो सामाजिक प्रथाओं को पूरा करने या ग्रह-व्यवस्था की योजना में उनके स्थानों के लिए आदर प्रदर्शित करने के लिए कभी कभी देवताओं को पूजते हैं। उद्धव ने कभी भी किसी देवता की पूजा नहीं की। इसलिए उद्धव *प्रपन्नाय* हैं अर्थात् एकमात्र कृष्ण के शरणागत हैं।

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः ।
अवतीर्णोऽसि भगवन्स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; ब्रह्म परमम्—परब्रह्म; व्योम—आकाश की तरह (हर वस्तु से पृथक्); पुरुषः—भगवान्; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; परः—दिव्य; अवतीर्णः—अवतार लिया; असि—हो; भगवन्—प्रभु; स्व—अपने (भक्तों); इच्छा—इच्छा के अनुसार; उपात्त—स्वीकार किया; पृथक्—भिन्न; वपुः—शरीर।

हे प्रभु, परब्रह्म-रूप में आप प्रकृति से परे हैं और आकाश की तरह किसी तरह से बद्ध नहीं हैं। तो भी, अपने भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर आप अनेक प्रकार के रूपों में प्रकट होते हैं और अपने भक्तों की इच्छानुसार अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्त सारे संसार में भक्ति का प्रसार करते हैं, अतएव वे ईश्वर के साकार रूप से पृथक् होकर भी ईश्वर की कृपा तथा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ माने जाते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य ७.११) में कहा गया है : *कृष्णशक्ति विना नहे तार प्रवर्तन।*

भगवान् आकाश (*व्योम*) के समान हैं, क्योंकि सर्वत्र विस्तृत होकर भी वे किसी वस्तु से बद्ध नहीं हैं। वे *प्रकृते: पर:* हैं अर्थात् भौतिक प्रकृति से पूर्णत: परे हैं। भगवान् आत्माराम हैं, अतएव वे भौतिक जगत के मामलों से उदासीन रहते हैं। फिर भी, अपनी अहैतुकी कृपा के कारण भगवान् अपनी शुद्ध भक्ति का विस्तार करना चाहते हैं और इसी हेतु वे पतित बद्धात्माओं को ऊपर उठाने के लिए इस भौतिक जगत में अवतीर्ण होते हैं।

भगवान् अपने प्रिय भक्तों को प्रसन्न करने के लिए चुने हुए दिव्य शरीरों में अवतरित होते हैं। कभी कभी वे अपने आदि-रूप, कृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं। यहाँ तक कि कृष्ण भी विशेष भक्तों के लिए विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं, जिससे ये भक्त उनके प्रति पूर्ण प्रेमभाव उत्पन्न कर सकें। श्रील जीव गोस्वामी भगवान् द्वारा अपने भक्तों पर दिखाई जाने वाली कृपा के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण स्वयं जाम्बवान् के घर गये और अपना कुछ-कुछ क्रुद्ध रूप दिखलाया। इस रूप में भगवान् ने अपने भक्त से युद्ध का आनन्द लूटा; अत्रि मुनि को दत्तात्रेय के रूप में अपना स्वरूप दिखलाया। इसी तरह उन्होंने ब्रह्मा पर, देवताओं, अक्रूर तथा अन्य असंख्य भक्तों पर विशेष कृपा की। वृन्दावन में उन्होंने गोविन्द के रूप में वहाँ के निवासियों को अपना सुन्दरतम रूप दिखलाया।

श्रील मध्वाचार्य ने *प्रकाश संहिता* से निम्नलिखित उद्धरण दिया है : "भगवान् अपने भक्तों की इच्छानुसार विभिन्न आध्यात्मिक शरीर धारण करते हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने वसुदेव तथा देवकी का पुत्र बनना स्वीकार किया। इस तरह नित्य आनन्दमय दिव्य रूप होने पर भी कृष्ण उस भक्त के शरीर में प्रवेश करते प्रतीत होते हैं, जो उनकी माता बनती है। यद्यपि हम यह कहते हैं कि भगवान् ने 'शरीर धारण किया', किन्तु वे उन बद्धजीवों की तरह अपना रूप नहीं बदलते, जिन्हें अपने शरीर बदलने पड़ते हैं। भगवान् अपने नित्य अपरिवर्तनीय रूपों में प्रकट होते हैं। भगवान् हरि सदैव उन्हीं रूपों में प्रकट होते हैं, जो उनके भक्त चाहते हैं। वे कभी भी अन्य रूपों में प्रकट नहीं होते। किन्तु यदि कोई यह सोचता है कि भगवान् सामान्य पुरुषों की तरह जन्म लेकर वसुदेव या अन्य भक्तों के सशरीर पुत्र बनते हैं, तो उसे मोह का शिकार समझना चाहिए। भगवान् अपनी आध्यात्मिक शक्ति का विस्तार ही करते हैं, जिससे उनके भक्त सोचते हैं कि "कृष्ण अब मेरे पुत्र हैं।" मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् न तो कोई शरीर ग्रहण करते हैं, न उसका परित्याग करते हैं, न ही वे अपने नित्य

आध्यात्मिक रूपों को कभी त्यागते हैं, प्रत्युत वे अपने नित्य शुद्ध भक्तों की प्रेममयी अनुभूतियों के अनुसार अपना आनन्दमय शरीर प्रकट करते हैं।''

श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि *व्योम* शब्द भगवान् के नाम परव्योम का भी सूचक है। इस श्लोक का गलत अर्थ लगाकर यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् कृष्ण भौतिक आकाश की तरह निर्विशेष हैं या यह कि कृष्ण का रूप अन्य किसी चुने हुए अवतार के समकक्ष है। ऐसे आकस्मिक तथा मनमाने विचारों को आध्यात्मिक ज्ञान नहीं माना जा सकता। श्रीकृष्ण तो आदि भगवान् हैं (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। भगवान् ने *भगवद्गीता* में विस्तार से बतलाया है कि वे हर वस्तु के आदि स्रोत हैं। इसलिए भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् के आदि रूप कृष्ण की प्रेममयी सेवा में पूर्ण ज्ञान और आनन्द में नित्य लगे रहते हैं। *श्रीमद्भागवत* का सारा अभिप्राय कृष्ण के प्रति हमारे प्रेम को जागृत करना है। किसी को मूर्खतावश इस अभिप्राय को अन्यथा नहीं समझना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच
कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥ २९॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक्शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥ ३०॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥ ३१॥
आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स तु सत्तमः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; कृपालुः—अन्यों के कष्ट को सहन न कर सकने वाले; अकृत-द्रोहः—अन्यों को हानि न पहुँचाने वाले; तितिक्षुः—क्षमा करने वाले; सर्व-देहिनाम्—सारे जीवों को; सत्य-सारः—सत्य पर जीवित रहने वाले तथा सत्य से ही दृढ़ता प्राप्त करने वाले; अनवद्य-आत्मा—ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त आत्मा; समः—सुख-दुख में समान चेतना वाला; सर्व-उपकारकः—अन्यों के कल्याण के लिए प्रयत्नशील; कामैः—भौतिक इच्छाओं द्वारा; अहत—अविचल; धीः—बुद्धि वाले; दान्तः—बाह्य इन्द्रियों को वश में करने वाले; मृदुः—कठोर मनोवृत्ति से रहित; शुचिः—अच्छे व्यवहार वाला; अकिञ्चनः—किसी भी सम्पत्ति से विहीन; अनीहः—सांसारिक कार्यकलापों से मुक्त; मित-भुक्—संयम से खानेवाला; शान्तः—मन को वश में रखने वाला; स्थिरः—अपने नियत कार्य में दृढ़ रहने वाला; मत्-शरणः—मुझे ही एकमात्र शरण स्वीकार करने वाला; मुनिः—विचारवान; अप्रमत्तः—सतर्क; गभीर-आत्मा—दिखाऊ न होने के कारण अपरिवर्तित; धृति-मान्—विपत्ति के समय भी दुर्बल या दुखी न होने वाला; जित—विजय प्राप्त; षट्-गुणः—छः गुण, भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु; अमानी—प्रतिष्ठा की इच्छा से रहित; मान-दः—अन्यों का आदर करने वाला; कल्यः—अन्यों की कृष्णभावना को जगाने में पटु; मैत्रः—दूसरों को धोखा न देने वाला, अतः असली मित्र; कारुणिकः—निजी महत्त्वाकांक्षा से नहीं, अपितु करुणा के वशीभूत होकर कर्म करने वाला; कविः—पूर्ण विद्वान; आज्ञाय—जानते हुए; एवम्—इस प्रकार; गुणान्—अच्छे गुणों; दोषान्—बुरे गुणों को; मया—मेरे द्वारा; आदिष्टान्—शिक्षा दिए गये; अपि—भी; स्वकान्—अपने ही; धर्मान्—धार्मिक

सिद्धान्तों को; सन्त्यज्य—त्याग कर; यः—जो; सर्वान्—समस्त; माम्—मुझको; भजेत—पूजता है; सः—वह; तु—निस्सन्देह; सत्-तमः—सन्त-पुरुषों में श्रेष्ठ।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, सन्त-पुरुष दयालु होता है और वह कभी दूसरों को हानि नहीं पहुँचाता। दूसरों के आक्रामक होने पर भी वह सहिष्णु होता है और सारे जीवों को क्षमा करने वाला होता है। उसकी शक्ति तथा जीवन की सार्थकता सत्य से मिलती है। वह समस्त ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त होता है और भौतिक सुख-दुख में उसका मन समभाव रहता है। इस तरह वह अन्य लोगों के कल्याण हेतु कार्य करने में अपना सारा समय लगाता है। उसकी बुद्धि भौतिक इच्छाओं से मोहग्रस्त नहीं होती और उसकी इन्द्रियाँ अपने वश में रहती हैं। उसका व्यवहार सदैव मधुर, मृदु तथा आदर्श होता है। वह स्वामित्व (संग्रह) भाव से मुक्त रहता है। वह कभी भी सामान्य सांसारिक कार्यकलापों के लिए प्रयास नहीं करता और भोजन में संयम बरतता है। इसलिए वह सदैव शान्त तथा स्थिर रहता है। सन्त-पुरुष विचारवान होता है और मुझे ही अपना एकमात्र आश्रय मानता है। ऐसा व्यक्ति अपने कर्तव्य-पालन में अत्यन्त सतर्क रहता है, उसमें कभी भी ऊपरी विकार नहीं आ पाते, क्योंकि दुखद परिस्थितियों में भी वह स्थिर तथा नेक बना रहता है। उसने भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु इन छह भौतिक गुणों पर विजय पा ली होती है। वह अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा से मुक्त होता है और अन्यों को आदर प्रदान करता है। वह अन्यों की कृष्ण-चेतना को जाग्रत करने में कुशल होता है, अतएव कभी किसी को ठगता नहीं। प्रत्युत वह सबों का शुभैषी मित्र होता है और अत्यन्त दयालु होता है। ऐसे सन्त-पुरुष को विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। वह भलीभाँति समझता है कि विविध शास्त्रों में मैंने, जो धार्मिक कर्तव्य नियत किये हैं, उनमें अनुकूल गुण रहते हैं जो उनके करने वालों को शुद्ध करते हैं और वह जानता है कि इन कर्तव्यों की उपेक्षा से जीवन में त्रुटि आती है। फिर भी, सन्त-पुरुष मेरे चरणकमलों की शरण ग्रहण करके सामान्य धार्मिक कार्यों को त्याग कर एकमात्र मेरी पूजा करता है। इस तरह वह जीवों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

तात्पर्य : २९वें से लेकर ३१वें श्लोक तक सन्त-पुरुष के २८ गुणों का वर्णन हुआ है और ३२वें श्लोक में जीवन की सर्वोच्च सिद्धि बतलाई गई है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार सत्रहवाँ गुण (*मत्शरण*) सबसे महत्त्वपूर्ण है। शेष सत्ताईस गुण शुद्ध भगवद्भक्त में स्वत: प्रकट होते

हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में कहा गया है—*यस्यास्ति भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।* अट्ठाइस सन्त-गुणों का वर्णन निम्न प्रकार है—

(१) *कृपालु :* भक्त कभी भी संसार को अज्ञान में डूबे तथा माया के कोड़े खाते देख नहीं सकता, अतएव वह कृष्णभावनामृत वितरित करने में जुट जाता है और *कृपालु* या दयालु कहलाता है।

(२) *अकृत-द्रोह :* यदि कोई भक्त के प्रति आक्रामक बनता है, तो भी भक्त पलट कर आक्रमण नहीं करता। वह कभी भी किसी जीव के हित के विपरीत कार्य नहीं करता। यह तर्क किया जा सकता है कि महान् वैष्णव-राजाओं ने, यथा महाराज युधिष्ठिर तथा परीक्षित महाराज ने, अनेक अपराधियों को दण्डित किया। किन्तु जब राज्य द्वारा उचित रीति से न्याय किया जाता है, तो पापी विध्वंसकारी लोगों को वास्तव में उनके द्वारा दिये जाने वाले दण्ड से लाभ होता है, क्योंकि वे अपने अवैध कार्यों के घोर कर्मफल से मुक्त हो जाते हैं। वैष्णव शासक किसी ईर्ष्या-द्वेषवश दण्ड नहीं देता, अपितु ईश्वर के नियमों का ठीक से पालन करने के कारण देता है। मायावादी दार्शनिक, जो यह कल्पना करके ईश्वर को मार डालना चाहते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है, निश्चय ही *कृत-द्रोह* हैं अर्थात् अपने लिए तथा अन्यों के लिए अत्यन्त घातक हैं। निर्विशेषवादी यह कल्पना करता है कि वही सर्वोच्च है और इस तरह वह अपने लिए तथा अपने अनुयायियों के लिए अत्यन्त घातक स्थिति उत्पन्न कर लेता है। इसी तरह कर्मी भी, जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं आत्महन्ता हैं, क्योंकि भौतिक चेतना में लीन होने से वे परम सत्य तथा अपनी आत्मा के सत्य का अनुभव करने का अवसर अपने हाथ से चले जाने देते हैं। अतएव सारे जीव, जो भौतिकतावादी विधानों तथा कर्तव्यों के वशीभूत रहते हैं, वे व्यर्थ ही अपने को तथा अन्यों को सताते रहते हैं। किन्तु शुद्ध वैष्णव उनके लिए अत्यधिक दया तथा चिन्ता का अनुभव करता है। भक्त कभी भी मनसा-वाचा-कर्मणा किसी जीव के कल्याण के प्रति कोई हानिकारक कर्म नहीं करता।

(३) *तितिक्षु :* भक्त अपने प्रति किये गये किसी भी अपराध को क्षमा कर देता है और भूल जाता है। वैष्णव अपने को मल-पुरीष से भरे भौतिक शरीर से विलग रखता है। इसलिए जब प्रचार-कार्य के दौरान भक्त के साथ कोई दुर्व्यवहार करता है, तो वह उसकी अनदेखी करके भद्रपुरुष की तरह लोगों

के साथ बर्ताव करता है। वैष्णव भगवन्नाम का ऊँची आवाज में कीर्तन करता है और उन पतित बद्धात्माओं को सहता तथा क्षमा करता है, जो शुद्ध भक्त के साथ ठीक से आदान-प्रदान नहीं कर पाते।

(४) *सत्य-सार :* भक्त सदैव स्मरण रखता है कि वह उन भगवान् का नित्य दास है, जो सर्वज्ञ, समस्त आनन्द के आगार तथा समस्त कर्मों के चरम भोक्ता हैं। भक्ति से बाहर कार्यों से दूर रहकर भक्त सत्य पर अटल रहता है, वह व्यर्थ समय नहीं गँवाता और वह निर्भीक, शक्तिशाली तथा स्थिर रहता है।

(५) *अनवद्यात्मा :* भक्त जानता है कि भौतिक जगत नश्वर मायाजाल है, अतएव वह कभी किसी से ईर्ष्या नहीं करता। वह व्यर्थ ही किसी को क्षुब्ध करना अथवा किसी की आलोचना करना नहीं चाहता।

(६) *समः :* एक भक्त भौतिक सुख या दुख, यश या अपयश में स्थिर तथा समभाव बनाये रखता है। उसका असली धन कृष्ण-चेतना होती है। वह समझता है कि उसका असली स्वार्थ भौतिक प्रकृति के दायरे से बाहर है। वह बाह्य घटनाओं से उत्तेजित या अवसन्न नहीं होता, अपितु कृष्ण की सर्वशक्ति सम्पन्न चेतना में स्थिर रहता है।

(७) *सर्वोपकारक :* अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की उपेक्षा करना और अन्यों की तुष्टि के लिए कार्य करना *परोपकार* कहलाता है, जबकि अपनी तृप्ति के लिए अन्यों को तंग करना *परापकार* कहलाता है। भक्त सदैव भगवान् कृष्ण के आनन्द हेतु कार्य करता है, जो सभी जीवों के आश्रय हैं। फलतः भक्त के कार्य अन्ततः हर एक को अच्छे लगते हैं। भगवान् कृष्ण के प्रति भक्ति करना कल्याण-कार्य की पूर्णावस्था है, क्योंकि कृष्ण ही हर एक के सुख-दुख के परम नियन्ता हैं। मूर्ख लोग मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर अपने को अन्यों का परम हितैषी मान कर अन्यों के नित्य सुख में हाथ न बँटाकर दिखावटी भौतिकतावादी कार्यों में लगे रहते हैं। शुद्ध रहने तथा प्रचार-कार्यों में लगे रहने के कारण भक्त हर एक का सर्वश्रेष्ठ मित्र होता है।

(८) *कामैरहत-धी :* सामान्य लोग सारी वस्तुओं को अपनी तुष्टि के साधन के रूप में देखते हैं और इस तरह वे उन्हें प्राप्त करना अथवा अपने नियंत्रण में रखना चाहते हैं। अन्ततोगत्वा मनुष्य चाहता है कि उसके पास स्त्री हो, जिससे वह संभोग कर सके। मनुष्य के हृदय में पीड़ा-युक्त कामाग्नि को

जलते रहने के लिए भगवान् वांछित ईंधन प्रदान करते हैं, किन्तु वे ऐसे दिग्भ्रमित लोगों को आत्म-साक्षात्कार प्रदान नहीं करते। भगवान् कृष्ण दिव्य तथा निरपेक्ष हैं, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् की सृष्टि का दुरुपयोग करना चाहता है, तो वे माया के माध्यम से उसे यह सुविधा प्रदान करते हैं और मनुष्य अपने को संसार का महान् और कामी भोक्ता मानकर उसमें फँस जाने से असली सुख से वंचित हो जाता है। दूसरी ओर, जिसने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है, वह पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द से युक्त हो जाता है और भौतिक जगत के मोहक बहकावे से ठगा नहीं जाता। शुद्ध भक्त उस मूर्ख हिरन के मार्ग का अनुसरण नहीं करता, जो शिकारी की वेणु से मोहित होकर मारा जाता है। भक्त कभी भी सुन्दर स्त्री की कामुक याचनाओं से आकृष्ट नहीं होता और वह मोहग्रस्त कर्मियों से भौतिक उपलब्धि की तथाकथित महिमा सुनने से कतराता है। इसी तरह शुद्ध भक्त सुगन्ध या स्वाद से मोहित नहीं होता। न तो वह विलासी भोजन के प्रति अनुरक्त होता है, न ही शारीरिक सुख के लिए दिन-भर प्रबन्ध करता है। ईश्वर की सृष्टि का असली भोक्ता स्वयं भगवान् है। जीव तो गौण भोक्ता हैं, जो भगवान् के आनन्द के माध्यम से असीम आनन्द का अनुभव करते हैं। आनन्द का अनुभव करने की यह पूर्ण विधि *भक्तियोग* कहलाती है और भक्त कभी भी स्थिर बुद्धि के इस शुभ पद को हाथ से नहीं जाने देता, भले ही उसके सामने तथाकथित भौतिक अवसर खड़े हों।

(९) *दान्त :* भक्त पापकर्मों से सहज ही विकर्षित होता है और अपने सारे कार्य कृष्ण को अर्पित करके अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है। इसके लिए स्थिर एकाग्रता तथा सतर्क मानसिकता चाहिए।

(१०) *मृदु :* भौतिकतावादी व्यक्ति लोगों को मित्र या शत्रु के रूप में देखता है और इस तरह अपने विपक्षियों का दमन करने के लिए अपने क्रूर अथवा क्षुद्र आचरण को कभी कभी सही सिद्ध करता है। चूँकि भक्त कृष्ण की शरण में रहता है, अतएव वह किसी को अपना शत्रु नहीं मानता और कभी भी अन्यों के कष्ट की कामना करने या उससे आनन्द पाने की प्रवृत्ति से क्षुब्ध नहीं होता। इस तरह वह *मृदु* या शालीन होता है।

(११) *शुचि :* जो अशुद्ध या अनुचित है, उसे भक्त कभी नहीं छूता। ऐसे शुद्ध भक्त के स्मरण मात्र से मनुष्य पाप की प्रवृत्ति से छूट जाता है। अपने सम्यक आचरण के कारण ही भक्त *शुचि* या शुद्ध कहलाता है।

(१२) *अकिञ्चन :* भक्त संग्रह-भावना से मुक्त होता है और किसी वस्तु को भोगने या त्यागने के लिए उत्सुक नहीं होता, क्योंकि वह हर वस्तु को कृष्ण की सम्पत्ति मानता है।

(१३) *अनीह :* भक्त कभी भी अपने लिए नहीं, अपितु कृष्ण की सेवा के लिए कार्य करता है। इसलिए वह सामान्य सांसारिक मामलों से दूर रहता है।

(१४) *मित-भुक् :* भक्त जहाँ तक सम्भव होता है आवश्यकता-भर ही भौतिक इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करता है, जिससे वह स्वस्थ रहे और ठीक से कृष्ण की सेवा कर सके। इसलिए वह अपने इन्द्रिय-कार्यों में फँसता नहीं और अपने आत्म-साक्षात्कार को हानि पहुँचने नहीं देता। आवश्यकता पड़ने पर कृष्ण की सेवा के लिए भक्त कोई भी वस्तु त्याग सकता है, किन्तु अपनी प्रतिष्ठा के लिए वह किसी वस्तु को स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता।

(१५) *शान्त :* जो लोग भगवान् की सृष्टि का दुरुपयोग करना चाहते हैं, वे सदैव अशान्त रहते हैं। किन्तु भक्त ऐसे व्यर्थ-कार्यों से सदैव विरक्त रहता है और इन्द्रियतृप्ति को अपने स्वार्थ के लिए सर्वथा विपरीत मानता है। भगवान् की इच्छानुसार सदैव संलग्न रहने से वह शान्त रहता है।

(१६) *स्थिर :* भगवान् कृष्ण को ही हर वस्तु का आधार मान कर भक्त कभी भयभीत या अधीर नहीं होता।

(१७) *मत्-शरण :* भक्त को भगवान् कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त कोई कार्य अच्छा नहीं लगता और अपना कर्तव्य करने के लिए सदैव सावधान रहता है। भक्त जानता है कि एकमात्र कृष्ण ही उसकी रक्षा कर सकते हैं और उसे उपयोगी कार्य में लगा सकते हैं।

(१८) *मुनि :* भक्त विचारवान होता है और बुद्धिमत्तापूर्ण चिन्तन से अपनी आध्यात्मिक प्रगति से विपथ होने से बचता है। बुद्धि से ही वह कृष्ण के विषय में संशयों से मुक्त होता है और स्थिर कृष्णभावनामृत से जीवन की सारी समस्याओं का सामना करता है।

(१९) *अप्रमत्त :* जो व्यक्ति परमेश्वर को भूलता है, वह न्यूनाधिक सनकी होता है, किन्तु भक्त अपने समस्त कर्म भगवान् कृष्ण को अर्पित करके विवेकवान बना रहता है।

(२०) *गभीरात्मा :* ज्यों ज्यों भक्त कृष्णभावनामृत के सागर में डूबता जाता है, त्यों त्यों उसकी चेतना गहराती जाती है। सांसारिक स्तर पर मँडराने वाले सतही लोग भक्त की सतर्कता का अनुमान नहीं लगा सकते।

(२१) *धृतिमान् :* जीभ तथा जननेन्द्रियाँ के वेगों को वश में करते हुए भक्त स्थिर तथा धीर बना रहता है और भावावेश में आकर अपनी स्थिति नहीं बदलता।

(२२) *जित-षड्-गुण :* आध्यात्मिक ज्ञान के बल पर भक्त भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु—इन छह आवेगों को जीत लेता है।

(२३) *अमानी :* भक्त कभी गर्वित नहीं होता और यदि विख्यात भी होता है, तो उस ख्याति की बहुत परवाह नहीं करता।

(२४) *मान-द :* भक्त अन्यों का आदर करता है, क्योंकि हर व्यक्ति भगवान् कृष्ण का अंश है।

(२५) *कल्य :* कृष्णभावनामृत की सच्चाई को अन्य लोगों को समझाने में भक्त दक्ष होता है।

(२६) *मैत्र :* भक्त किसी को भी देहात्मबोध में प्रोत्साहित करके धोखा नहीं देता। प्रत्युत वह अपने प्रचार-कार्य से हर एक का मित्र होता है।

(२७) *कारुणिक :* भक्त लोगों को विवेकशील बनाने का प्रयत्न करता है, अतएव अत्यन्त दयालु होता है। वह *पर-दु:ख-दु:खी* होता है, या ऐसा जो दूसरों के दुख को देख कर स्वयं दुखी हो।

(२८) *कवि :* भक्त भगवान् कृष्ण के दिव्य गुणों का अध्ययन करने में पटु होता है और भगवान् के ऊपर से विरोधी दिखने वाले गुणों में सामञ्जस्य एवं समन्वय दिखलाने में समर्थ होता है। भगवान् के परम स्वभाव का ज्ञान होने पर ही ऐसा सम्भव है। श्री चैतन्य महाप्रभु गुलाब के फूल से भी मृदु और वज्र से भी कठोर हैं, किन्तु इन विरोधी गुणों को भगवान् के दिव्य स्वभाव तथा कार्य के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। जो व्यक्ति बिना किसी विरोध या भ्रम के, कृष्णभावनामृत के सत्य को समझ सकता है, वह *कवि* या अत्यन्त विद्वान कहलाता है।

उपर्युक्त गुणों के विकास के अनुसार ही आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वालों की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अन्ततोगत्वा सबसे महत्त्वपूर्ण गुण भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करना है, क्योंकि भगवान् अपने निष्ठावान भक्त को सारे गुण प्रदान कर सकते हैं। भक्ति की निम्नतम अवस्था में

मनुष्य इन्द्रियतृप्ति भोगने की अभिलाषा से कर्म करता है, किन्तु उसी के साथ वह कर्मफलों को भगवान् को अर्पित करने का प्रयास करता है। यह अवस्था *कर्म-मिश्र-भक्ति* कहलाती है। ज्यों ज्यों मनुष्य भक्ति में शुद्ध बनता जाता है, त्यों त्यों वह ज्ञान के माध्यम से विरक्त और चिन्तामुक्त हो जाता है। इस अवस्था में वह दिव्य ज्ञान के प्रति अनुरक्त हो जाता है अतएव यह अवस्था *ज्ञान-मिश्र-भक्ति* कहलाती है। किन्तु जीव के लिए शुद्ध कृष्ण-प्रेम सर्वोच्च सुख तथा स्वाभाविक स्थिति होती है, इसलिए निष्ठावान भक्त क्रमशः इन्द्रियतृप्ति तथा ज्ञान का भोग करने की अपनी इच्छा को जीत कर शुद्ध भक्ति-अवस्था को प्राप्त होता है, जो निजी इच्छा से रहित होती है। *न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिस्त्यज्यते हि सः*—योगी को कर्म नहीं छोड़ना चाहिए, प्रत्युत उसे विरक्ति का अनुशीलन करना चाहिए, जिससे उसके कर्म स्वतः ओझल हो जायेंगे। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अपने नियत कर्म करने चाहिए, भले ही वे अपूर्ण क्यों न रहे। यदि वह कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने में निष्ठा रखता है, तो भक्तियोग के बल पर उसके कर्म क्रमशः शुद्ध भक्ति में परिणत हो जायेंगे।

ऐसे अनेकानेक कर्मी, मनोधर्मी तथा भौतिकतावादी भक्त हैं, जो भक्ति के बल पर पूर्ण बने हैं। कृष्ण-भक्ति करने से मनुष्य को स्वतः जीवन का परमानन्द मिलता है और वह पूर्ण ज्ञान से युक्त हो जाता है। शुद्ध भक्ति की विधि में कोई अभाव नहीं है और इन्द्रिय-सुख या दार्शनिक तुष्टि प्राप्त करने के लिए किसी बाह्य प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। हाँ, मनुष्य को पूर्णतया आश्वस्त होना होगा कि कृष्ण की सेवा मात्र से उसे जीवन की सारी सिद्धि मिल जायेगी। यदि किसी में उपर्युक्त गुणों में से कोई गुण न भी रहे तो भी उसे सच्चे मन से कृष्ण की भक्ति में लग जाना चाहिए। इससे धीरे धीरे उसका चरित्र पूर्ण हो जायेगा। जो व्यक्ति कृष्ण का निष्ठावान भक्त होगा, उसमें भगवत्कृपा से ये सारे गुण स्वतः उत्पन्न हो जायेंगे और उपर्युक्त गुणों से युक्त, जो व्यक्ति पहले से कृष्ण-भक्ति कर रहा है, वह तो महानतम भक्त समझा जाना चाहिए। जैसाकि श्लोक ३२ में संकेत किया गया है, भगवान् का शुद्ध भक्त वर्णाश्रम पद्धति के अन्तर्गत कर्म करने के शुद्ध लाभों से पूरी तरह ज्ञात रहता है और इसी तरह वह इन कर्मों की उपेक्षा करने की हानिकारक गलती से भी परिचित होता है। तो भी भगवान् पर पूर्ण श्रद्धा रख कर भक्त अपने सारे सामाजिक तथा धार्मिक कर्म छोड़ देता है और पूरी तरह से भक्ति में लग जाता है, वह जानता है कि भगवान् कृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के परम स्रोत हैं और सारी सिद्धि

कृष्ण से ही प्राप्त होती है। अपनी असामान्य श्रद्धा के कारण भक्त *सत्तम* अर्थात् समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ कहलाता है।

जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* में बतलाया है, जिस व्यक्ति में उपर्युक्त गुण अभी तक उत्पन्न नहीं हुए, किन्तु जो कृष्णभावनामृत के लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्नशील रहता है, उसे उत्कृष्ट वैष्णवों की कृपा प्राप्त होनी चाहिए। मनुष्य को शुद्ध भक्ति के ऐसे इच्छुक की घनिष्ठ संगति करनी आवश्यक नहीं है, अपितु उसे आश्वस्त होना चाहिए कि कृष्ण-नाम का कीर्तन करते रहने से सारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इन श्लोकों में हुए वर्णन के अनुसार सन्त-पुरुषों के समाज के सौन्दर्य की कल्पना की जा सकती है। कृष्णभावनामृत के उपर्युक्त अद्‌भुत गुण शान्त तथा सम्पन्न समाज के आधार हैं और यदि सारे लोग कृष्णभक्ति करने लगें तो भय, हिंसा, काम, लोभ तथा अज्ञानता का वर्तमान वातावरण ऐसी दैवी स्थिति में परिणत हो सकता है, जिसमें सभी नेता तथा नागरिक सुखी होंगे। यहाँ पर मुख्य बातें हैं *मत्शरण* तथा *मां भजेत।* इस तरह सम्पूर्ण जगत *सत्तम*—अर्थात् अत्यन्त पूर्ण हो सकता है।

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जान कर; **अज्ञात्वा**—न जान कर; **अथ**—इस प्रकार; **ये**—जो; **वै**—निश्चय ही; **माम्**—मुझको; **यावान्**—जब तक; **यः**—जो; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **यादृशः**—जैसा मैं हूँ; **भजन्ति**—पूजा करते हैं; **अनन्य-भावेन**—अनन्य भक्ति से; **ते**—वे; **मे**—मेरे द्वारा; **भक्त-तमाः**—सर्वश्रेष्ठ भक्तगण; **मताः**—माने जाते हैं।

भले ही मेरे भक्त यह जानें या न जानें कि मैं क्या हूँ, मैं कौन हूँ और मैं किस तरह विद्यमान हूँ, किन्तु यदि वे अनन्य प्रेम से मेरी पूजा करते हैं, तो मैं उन्हें भक्तों में सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यद्यपि *यावान्* शब्द यह सूचित करता है कि कृष्ण को देश-काल में बाँधा नहीं जा सकता, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्तों के प्रेम में बँध जाते हैं। उदाहरणार्थ, वृन्दावनवासियों के प्रति अगाध प्रेम के कारण कृष्ण वृन्दावन के बाहर एक पग भी नहीं रखते। इस तरह भगवान् अपने भक्तों के प्रेम के वशीभूत रहते हैं। *यः* शब्द बताता है कि कृष्ण परम सत्य हैं, जो वसुदेव के पुत्र अर्थात् श्यामसुन्दर के रूप में प्रकट होते हैं। *यादृश* शब्द बताता है कि भगवान् *आत्माराम* हैं और *आप्तकाम* भी हैं। फिर भी अपने भक्तों के प्रेमवश वे कभी कभी *अनात्माराम* तथा *अनाप्तकाम* के रूप में प्रकट होते हैं। वस्तुत: भगवान् कृष्ण सदैव स्वतंत्र हैं, किन्तु वे

अपने भक्तों के गहन प्रेम से आदान-प्रदान करते हैं, जिससे वे आश्रितप्रतीत होते हैं, जिस तरह वृन्दावन में अपनी बाल-लीलाओं के समय वे नन्द महाराज तथा यशोदा पर आश्रित थे। *अज्ञात्वा* शब्द सूचित करता है कि कभी कभी भक्त को भगवान् का सही दार्शनिक बोध नहीं हो सकता अथवा प्रेमवश वह भगवान् की स्थिति को भूल सकता है। *भगवद्गीता* (११.४१) में अर्जुन कहता है—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥

''आपको अपना मित्र मानते हुए मैंने पहले आपको हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा जैसे सम्बोधनों से पुकारा है क्योंकि मैं आपकी महिमा को नहीं जानता था। मैंने मूर्खतावश या प्रेमवश जो कुछ भी किया है, कृपया उसके लिए मुझे क्षमा कर दें।'' *अजानता महिमानम्*—अर्जुन के ये शब्द वही अर्थ रखते हैं, जो *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में भगवान् कृष्ण के शब्द *अज्ञात्वा माम्* के हैं। दोनों ही कृष्ण के यश के अपूर्ण ज्ञान के सूचक हैं। *भगवद्गीता* में अर्जुन कहता है—*प्रणयेन*—उनके प्रति प्रेम के कारण ही वह कृष्ण के परम पद को भूल गया था। इस श्लोक में कृष्ण अपने भक्तों की ऐसी त्रुटि को *अज्ञात्वा माम्* शब्दों द्वारा क्षमा कर देते हैं—अर्थात् यद्यपि भक्त उनके परम पद को ठीक से नहीं जानता, तो भी कृष्ण उनकी भक्ति को स्वीकार करते हैं। इस तरह इस श्लोक से भक्ति की सर्वोच्च स्थिति प्रकट हो जाती है। *भगवद्गीता* (११.५४) में कृष्ण यह भी कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

''हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति द्वारा मुझे उस रूप में समझा जा सकता है, जिस रूप में मैं तुम्हारे समक्ष खड़ा हूँ और इसी प्रकार मेरा साक्षात् दर्शन भी किया जा सकता है। केवल इसी विधि से तुम मेरे ज्ञान के रहस्य को पा सकते हो।''

कोई भले ही असंख्य सन्त सदृश गुण उत्पन्न कर ले, किन्तु कृष्ण-प्रेम के बिना उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। उसे भगवान् को यथारूप में समझना चाहिए और उनसे प्रेम करना चाहिए। यदि वह ईश्वर की स्थिति को विश्लेषणात्मक रूप से समझने में अक्षम है, तो भी कृष्ण से प्रेम करने से वह पूर्ण हो जाता है। वृन्दावन के अनेक वासियों को इसकी कल्पना भी नहीं थी कि कृष्ण भगवान् हैं, न ही वे

कृष्ण की शक्तियों या अवतारों को जानते थे। वे अपने हृदय से कृष्ण से मात्र प्रेम करते थे, इसलिए उन्हें परम पूर्ण समझा जाता है।

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥ ३४॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥ ३५ ॥
मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥ ३६ ॥
यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥ ३७॥
ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥ ३८ ॥
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥ ३९ ॥
अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥ ४० ॥
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मत्-लिङ्ग—अर्चाविग्रह के रूप में इस जगत में मेरा प्राकट्य.; मत्-भक्त जन—मेरे भक्त; दर्शन—देखना; स्पर्शन—स्पर्श; अर्चनम्—तथा पूजा; परिचर्या—सेवा-कार्य; स्तुतिः—महिमा की प्रार्थनाएँ; प्रह्व—नमस्कार; गुण—मेरे गुण; कर्म—तथा कर्म; अनुकीर्तनम्—निरन्तर महिमा-गायन; मत्-कथा—मेरे विषय में कथाएँ; श्रवणे—सुनने में; श्रद्धा—प्रेम के कारण श्रद्धा; मत्-अनुध्यानम्—सदैव मेरा ध्यान करते हुए; उद्धव—हे उद्धव; सर्व-लाभ—सभी उपार्जित वस्तुएँ; उपहरणम्—भेंट; दास्येन—अपने को मेरा दास मानते हुए; आत्म-निवेदनम्—आत्म-समर्पण; मत्-जन्म-कर्म-कथनम्—मेरे जन्म तथा कर्मों की प्रशंसा करना; मम—मेरा; पर्व—जन्माष्टमी जैसे उत्सवों में; अनुमोदनम्—परम हर्ष मनाते हुए; गीत—गीतों; ताण्डव—नृत्य; वादित्र—संगीत के वाद्यों; गोष्ठीभिः—तथा भक्तों के मध्य विचार-विमर्श; मत्-गृह—मेरे मन्दिर में; उत्सवः—उत्सव, पर्व; यात्रा—उत्सव मनाना; बलि-विधानम्—आहुति डालना; च—भी; सर्व—समस्त; वार्षिक—साल में एक बार, प्रत्येक वर्ष; पर्वसु—उत्सवों में; वैदिकी—वेदों में उल्लिखित; तान्त्रिकी—पञ्चरात्र जैसे ग्रंथों में वर्णित; दीक्षा—दीक्षा; मदीय—मेरा; व्रत—उपवास; धारणम्—रखते हुए; मम—मेरे; अर्चा—अर्चाविग्रह का; स्थापने—स्थापना में; श्रद्धा—श्रद्धा रखते हुए; स्वतः—अपने से; संहत्य—अन्यों के साथ; च—भी; उद्यमः—प्रयास; उद्यान—फूल के बगीचों के; उपवन—छोटा बगीचा; आक्रीड—लीलाओं के स्थान; पुर—भक्ति के शहर; मन्दिर—तथा मन्दिर; कर्मणि—निर्माण में; सम्मार्जन—ठीक से झाड़ना-बुहारना; उपलेपाभ्याम्—लीप-पोत कर; सेक—सुगन्धित जल छिड़क कर; मण्डल-वर्तनैः—मण्डल बनाकर; गृह—मन्दिर का, जो कि मेरा घर है; शुश्रूषणम्—सेवा; मह्यम्—मेरे लिए; दास-वत्—दास की तरह; यत्—जो; अमायया—द्वैत-रहित; अमानित्वम्—झूठी प्रतिष्ठा के बिना; अदम्भित्वम्—गर्व से रहित होकर; कृतस्य—भक्ति-कर्म; अपरिकीर्तनम्—विज्ञापन न करना; अपि—भी; दीप—दीपकों के; अवलोकम्—प्रकाश; मे—मेरा; न—नहीं; उपयुञ्ज्यात्—लगाना चाहिए; निवेदितम्—अन्यों को पहले ही भेंट की जा चुकी वस्तुएँ; यत् यत्—जो जो; इष्ट-तमम्—अभीष्ट; लोके—संसार में; यत् च—तथा जो भी; अति-प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; आत्मनः—अपना; तत् तत्—वह वह; निवेदयेत्—भेंट करे; मह्यम्—मुझको; तत्—वह भेंट; आनन्त्याय—अमरता के लिए; कल्पते—योग्य बनाती है।

हे उद्धव, निम्नलिखित भक्ति-कार्यों में लगने पर मनुष्य मिथ्या अभिमान तथा प्रतिष्ठा का परित्याग कर सकता है। वह मेरे अर्चाविग्रह को के रूप में मुझे तथा मेरे शुद्ध भक्तों को देख कर, छू कर, पूजा करके, सेवा करके, स्तुति करके तथा नमस्कार करके अपने को शुद्ध बना सकता है। उसे मेरे दिव्य गुणों एवं कर्मों की भी प्रशंसा करनी चाहिए, मेरे यश की कथाओं को प्रेम तथा श्रद्धा के साथ सुनना चाहिए तथा निरन्तर मेरा ध्यान करना चाहिए। उसे चाहिए कि जो भी उसके पास हो, वह मुझे अर्पित कर दे और अपने को मेरा नित्य दास मान कर मुझ पर ही पूरी तरह समर्पित हो जाये। उसे मेरे जन्म तथा कार्यों की सदैव चर्चा चलानी चाहिए और जन्माष्टमी जैसे उत्सवों में, जो मेरी लीलाओं की महिमा को बतलाते हैं, सम्मिलित होकर जीवन का आनन्द लेना चाहिए। उसे मेरे मन्दिर में गा कर, नाच कर, बाजे बजाकर तथा अन्य वैष्णवों से मेरी बातें करके उत्सवों तथा त्योहारों में भी भाग लेना चाहिए। उसे वार्षिक त्योहारों में होने वाले उत्सवों में, यात्राओं में तथा भेंटें चढ़ाने में नियमित रूप से भाग लेना चाहिए। उसे एकादशी जैसे धार्मिक व्रत भी रखने चाहिए और वेदों, पंचरात्र तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथों में उल्लिखित विधियों से दीक्षा लेनी चाहिए। उसे श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक मेरे अर्चाविग्रह की स्थापना का अनुमोदन करना चाहिए और अकेले अथवा अन्यों के सहयोग से कृष्णभावनाभावित मन्दिरों तथा नगरों के साथ ही साथ फूल तथा फल के बगीचों एवं मेरी लीला मनाये जाने वाले विशेष क्षेत्रों के निर्माण में हाथ बँटाना चाहिए। उसे बिना किसी द्वैत के अपने को मेरा विनीत दास मानना चाहिए और इस तरह मेरे आवास, अर्थात् मन्दिर को साफ करने में सहयोग देना चाहिए। सर्वप्रथम उसमें झाड़ू-बुहारा करना चाहिए और तब उसे जल तथा गोबर से स्वच्छ बनाना चाहिए। मन्दिर को सूखने देने के बाद सुगन्धित जल का छिड़काव करना चाहिए और मण्डलों से सजाना चाहिए। उसे मेरे दास की तरह कार्य करना चाहिए। उसे कभी भी अपने भक्ति-कार्यों का ढिंढ़ोरा नहीं पीटना चाहिए। इस तरह उसकी सेवा मिथ्या अभिमान का कारण नहीं होगी। उसे मुझे अर्पित किए गए दीपकों का प्रयोग अन्य कार्यों के लिए अर्थात् मात्र उजाला करने की आवश्यकता से नहीं करना चाहिए। इसी तरह मुझे ऐसी कोई वस्तु भेंट न की जाय, जो अन्यों पर चढ़ाई जा चुकी हो या अन्यों द्वारा काम में लाई जा चुकी हो। इस संसार में जिसे जो भी वस्तु

सब से अधिक चाहिए और जो भी वस्तु उसे सर्वाधिक प्रिय हो उसे, वही वस्तु मुझे अर्पित करनी चाहिए। ऐसी भेंट चढ़ाने से वह नित्य जीवन का पात्र बन जाता है।

तात्पर्य : इन आठ श्लोकों में भगवान् कृष्ण सन्त-गुणों की सामान्य व्याख्या समाप्त करते हैं और भगवद्भक्तों के विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हैं। भगवान् कृष्ण ने यहाँ पर तथा *भगवद्गीता* में भी स्पष्ट कहा है कि जीवन का चरम लक्ष्य पूरी तरह से भगवान् की शरण ग्रहण करना तथा उनका शुद्ध भक्त बनना है। यहाँ पर भगवान् भक्तियोग का विस्तार से वर्णन करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि उसे जो भी वस्तु प्राप्त हो उसे यह सोचते हुए वह भगवान् को अर्पित करे, ''भगवान् कृष्ण ने इन वस्तुओं को भेजा है, जिससे मैं ठीक से उनकी सेवा कर सकूँ।'' मनुष्य को अन्तत: समझना चाहिए कि सूक्ष्म आत्मा भगवान् कृष्ण का अंश है, अतएव उसे अपने आपको भगवान् को समर्पित कर देना चाहिए। जिस तरह सामान्य नौकर अपने स्वामी के प्रति विनीत तथा नम्र होता है, उसी तरह भक्त को अपने गुरु का आज्ञाकारी होना चाहिए जो भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधि होता है। उसे यह मान होना चाहिए कि किस तरह उसका शरीर तथा मन अपने गुरु के दर्शन मात्र से अथवा उसके चरणोदक को सिर पर चढ़ाने से शुद्ध बन जाते हैं। इन श्लोकों में इस बात पर बल दिया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह वैष्णव उत्सवों में भाग ले। जहाँ तक सम्भव हो सके, विशाल उत्सवों का आयोजन विश्व-भर में किया जाय, जिससे लोग धीरे-धीरे सीख सकें कि मनुष्य-जीवन को कैसे पूर्ण बनाया जाय। *ममार्चास्थापने श्रद्धा* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को उनके अर्चाविग्रह की पूजा में श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि भगवान् अर्चाविग्रह में साकार रूप में उपस्थित रहते हैं। *उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि* शब्दों से सूचित होता है कि सुन्दर मन्दिर तथा पर्याप्त पार्कों, बगीचों तथा फूल के उद्यानों से युक्त वैष्णव नगर बनाने के गम्भीर प्रयास होने चाहिए। ऐसे प्रयासों का अद्वितीय उदाहरण सम्प्रति भारत में स्थित मायापुर चन्द्रोदय मन्दिर में देखा जा सकता है।

दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान् निवेदितम् से सूचित होता है कि अर्चाविग्रह की साज-सामग्री को अपनी इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में नहीं लगाना चाहिए। यदि घर में बिजली या दीपकों की कमी हो, तो अर्चाविग्रह के दीपकों को काम में नहीं लिया जाना चाहिए। न ही अन्यों द्वारा प्रयुक्त या पहले चढ़ाई गई साज-सामग्री को भगवान् कृष्ण पर चढ़ाना चाहिए। इन श्लोकों में अर्चाविग्रह की पूजा तथा

वैष्णव-उत्सवों की महत्ता पर अनेक प्रकार से बल दिया गया है। भगवान् कृष्ण वचन देते हैं कि जो भी निष्ठापूर्वक इन कार्यों को करता है, वह अवश्य ही भगवद्धाम जाता है (*तदानन्त्याय कल्पते*)। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सर्वप्रिय वस्तु कृष्ण को अर्पित करे, फिजूल या अनचाही वस्तु को नहीं। यदि कोई अपने परिवार से अच्छी प्रकार से जुड़ा हुआ है, तो उसे यह देखना चाहिए कि उसका परिवार कृष्ण की सेवा में लगे। यदि कोई धन में सर्वाधिक लिप्त रहता है, तो वह कृष्णभावनामृत का प्रसार करने में उसका दान दे। और यदि कोई अपनी बुद्धि को सबसे मूल्यवान समझता है, तो उसे तर्कपूर्वक कृष्णभावनामृत का प्रचार करना चाहिए। यदि हम अपनी सबसे मूल्यवान वस्तु भगवान् कृष्ण को अर्पित करते हैं, तो हम स्वत: उनके प्रिय बनकर भगवद्धाम जा सकेंगे।

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणा गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सूर्यः—सूर्य; अग्निः—अग्नि; ब्राह्मणाः—तथा ब्राह्मणगण; गावः—गौवें; वैष्णवः—भगवद्भक्त; खम्—आकाश; मरुत्—वायु; जलम्—जल; भूः—पृथ्वी; आत्मा—व्यष्टि आत्मा; सर्व-भूतानि—सारे जीव; भद्र—हे साधु उद्धव; पूजा—पूजा के; पदानि—स्थान; मे—मेरी।

हे साधु-पुरुष उद्धव, यह जान लो कि तुम मेरी पूजा सूर्य, अग्नि, ब्राह्मणों, गौवों, वैष्णवों, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा में तथा सारे जीवों में कर सकते हो।

तात्पर्य : जब तक कोई यह नहीं समझ लेता कि भगवान् कृष्ण सर्वव्यापी हैं और हर वस्तु उनमें समाई हुई है, तब तक उसकी कृष्ण-चेतना अधम कोटि की और भौतिकतावादी है। सारे वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया है कि परम सत्य ही हर वस्तु के स्रोत हैं। हर वस्तु उनके भीतर है और वे हर वस्तु के भीतर समाए हुए हैं। भगवान् कृष्ण के विषय में भौतिकतावादी धारणा से बचने के लिए यह समझना होगा कि भगवान् किसी विशेष देश तथा काल में ही स्थित नहीं होते प्रत्युत वे सभी कालों तथा देशों में विद्यमान रहते हैं और सारी वस्तुओं के भीतर उन्हें खोजा जा सकता है। *पूजा-पदानि* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण सर्वव्यापी हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तुएँ कृष्ण हैं। इस श्लोक में कृष्ण अपनी सर्वव्यापकता की सर्वश्रेष्ठता का स्पष्टीकरण करते हैं और पूर्ण आत्म-साक्षात्कार का मार्ग दिखाते हैं।

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राछ्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥ ४३ ॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरःसरैः ॥ ४४ ॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सूर्ये—सूर्य में; तु—निस्सन्देह; विद्यया त्रय्या—प्रशंसा, पूजा तथा नमस्कार की चुनी हुई वैदिक स्तुतियों द्वारा; हविषा—घी की आहुतियों से; अग्नौ—अग्नि में; यजेत—पूजा करे; माम्—मुझको; आतिथ्येन—अतिथि के रूप में स्वागत करके; तु—निस्सन्देह; विप्र—ब्राह्मणों के; अछ्ये—सर्वश्रेष्ठ, अग्रणी; गोषु—गौवों में; अङ्ग—हे उद्धव; यवस-आदिना—उनके पालन के लिए घास आदि देना; वैष्णवे—वैष्णव में; बन्धु—प्रेमपूर्ण मैत्री के साथ; सत्-कृत्या—सत्कार करने से; हृदि—हृदय में; खे—आन्तरिक आकाश में; ध्यान—ध्यान में; निष्ठया—स्थिर होने से; वायौ—वायु में; मुख्य—प्रमुख; धिया—बुद्धि से मानते हुए; तोये—जल में; द्रव्यैः—भौतिक तत्त्वों द्वारा; तोय-पुरः-सरैः—जल इत्यादि से.; स्थण्डिले—पृथ्वी पर; मन्त्र-हृदयैः—मंत्रों के प्रयोग से; भोगैः—भोग्य वस्तुएँ प्रदान करने से; आत्मानम्—जीवात्मा; आत्मनि—शरीर के भीतर; क्षेत्र-ज्ञम्—परमात्मा; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों के भीतर; समत्वेन—सर्वत्र समभाव से देखते हुए; यजेत—पूजा करना चाहिए; माम्—मुझको।

हे उद्धव, मनुष्य को चाहिए कि चुने हुए वैदिक मंत्रोच्चार तथा पूजा और नमस्कार द्वारा सूर्य में मेरी पूजा करे। वह अग्नि में घी की आहुति डाल कर मेरी पूजा कर सकता है। वह अनामंत्रित अतिथियों के रूप में ब्राह्मणों का आदरपूर्वक स्वागत करके उनमें मेरी पूजा कर सकता है। मेरी पूजा गायों में उन्हें घास तथा उपयुक्त अन्न एवं उनके स्वास्थ्य एवं आनन्द के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान करके की जा सकती है। वैष्णवों में मेरी पूजा उन्हें प्रेमपूर्ण मैत्री प्रदान करके तथा सब प्रकार से उनका आदर करके की जा सकती है। स्थिरभाव से ध्यान के माध्यम से हृदय में मेरी पूजा होती है और वायु में मेरी पूजा इस ज्ञान के द्वारा की जा सकती है कि तत्त्वों में प्राण ही प्रमुख है। जल में मेरी पूजा जल के साथ फूल तथा तुलसी-दल जैसे अन्य तत्त्वों को चढ़ाकर की जा सकती है। पृथ्वी में गुह्य बीज मंत्रों के समुचित प्रयोग से मेरी पूजा हो सकती है। भोजन तथा अन्य भोज्य वस्तुएँ प्रदान करके व्यष्टि जीव में मेरी पूजा की जा सकती है। सारे जीवों में परमात्मा का दर्शन करके तथा इस तरह समदृष्टि रखते हुए मेरी पूजा की जा सकती है।

तात्पर्य : महत्त्व की बात यह है कि इन तीन श्लोकों में भगवान् इस बात पर बल देते हैं कि समस्त जीवों के भीतर व्याप्त भगवान् की पूजा की जानी चाहिए। इनमें इसकी संस्तुति नहीं की गई है कि भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य भौतिक या आध्यात्मिक वस्तु को सर्वोच्च माना जाय। भगवान् को उनके सर्वव्यापक रूप में अपनी चेतना में रखते हुए मनुष्य चौबीसों घण्टे पूजा के भाव में रह

सकता है। इस तरह वह समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति में लगाने का प्रयास करता रहेगा। यदि अज्ञानवश कोई व्यक्ति भगवान् को भूल जाता है, तो वह भगवान् से भिन्न किसी शक्तिशाली भौतिक तत्त्व की पूजा करने लग सकता है या फिर मूर्खतावश अपने को सर्वोच्च मानने लग सकता है। मनुष्य को चाहिए कि विवेकवान् बने रहकर हर वस्तु के भीतर भगवान् की पूज्य उपस्थिति को स्वीकार करे।

धिष्ण्येष्वित्येषु मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत्समाहितः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

धिष्ण्येषु—पूर्व वर्णित पूजा-स्थलों में; इति—इस प्रकार (पूर्व वर्णित विधियों से); एषु—उनमें; मत्-रूपम्—मेरा दिव्य रूप; शङ्ख—शंख; चक्र—सुदर्शन चक्र; गदा—गदा; अम्बुजैः—तथा कमल-फूल से; युक्तम्—सज्जित; चतुः-भुजम्—चार भुजाओं सहित; शान्तम्—शान्त; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; अर्चेत्—पूजा करे; समाहितः—मनोयोग से।

इस तरह पूर्व वर्णित पूजा-स्थलों में तथा मेरे द्वारा वर्णित विधियों से मनुष्य को मेरे शान्त, दिव्य तथा चतुर्भुज रूप का, जो शंख, सुदर्शन चक्र, गदा तथा कमल से युक्त है, ध्यान करना चाहिए। इस तरह उसे मनोयोगपूर्वक मेरी पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् पहले ही बता चुके हैं कि वे अपने भक्तों के लिए विभिन्न दिव्य रूपों में प्रकट होते हैं, जिससे वे भगवान् के प्रति असीम प्रेम बढ़ा सकें। यहाँ पर नारायण के चतुर्भुजी रूप का सामान्य वर्णन हुआ है, जो संसार में परमात्मा रूप में व्याप्त हैं। किन्तु शुद्ध भक्तगण भगवान् का ध्यान हृदय में नहीं करते, अपितु भगवान् के विशिष्ट रूप की यथा राम या कृष्ण की सेवा करते हैं और इस तरह भगवान् के साक्षात्कार को पूर्ण बनाते हैं, जो अपने भक्तों के साथ वैकुण्ठ-लोक में दिव्य लीलाओं में व्यस्त रहते हैं। फिर भी भौतिक जगत के अन्तर्गत कोई भी मनुष्य हर एक के भीतर परमेश्वर का दर्शन करके तथा उनके निरन्तर ध्यान द्वारा उनकी पूजा करके, अपने जीवन को आध्यात्मिक बना सकता है। जैसाकि पिछले श्लोकों में कहा गया है, मनुष्य को मन्दिर में जाकर भी अर्चाविग्रह की पूजा करनी चाहिए और आध्यात्मिक उत्सवों में भाग लेना चाहिए। उसे गर्वित नहीं होना चाहिए और यह दावा नहीं करना चाहिए कि मन्दिर जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह प्रकृति में भगवान् का ध्यान करता है। मन्दिर-पूजा पर स्वयं भगवान् ने बारम्बार बल दिया है। इस श्लोक में *समाहित* शब्द *समाधि* का सूचक है। यदि मनुष्य ध्यानपूर्वक अर्चाविग्रह की पूजा करता है

या भगवान् कृष्ण की लीलाओं का श्रवण और कीर्तन करता है, तो वह निश्चय ही समाधि में होता है। चौबीसों घंटे भगवान् की पूजा करने से और उनकी महिमा का गान करने से मनुष्य मुक्तात्मा बन जाता है और इस जगत के प्रभाव से धीरे धीरे पूरी तरह ऊपर उठ जाता है। जीव को *आत्मा* कहते हैं, क्योंकि उसका सम्बन्ध परमात्मा अर्थात् भगवान् से है। भगवान् की पूजा करने से हमारा शाश्वत स्वभाव पुनरुज्जीवित होता है और ज्यों ज्यों भक्ति में हमारा उत्साह तथा स्थैर्य बढ़ता जाता है, यह भौतिक जगत समाप्त होता जाता है।

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः ।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥ ४७॥

शब्दार्थ

इष्टा—अपने लाभ के लिए यज्ञ करके; पूर्तेन—तथा अन्यों के लाभ के लिए शुभ कार्य करना तथा कुएँ खुदवाना; माम्—मुझको; एवम्—इस प्रकार; यः—जो; यजेत—पूजा करता है; समाहितः—मुझमें मन स्थिर करके; लभते—प्राप्तकरता है; मयि—मुझमें; सत्-भक्तिम्—दृढ़ भक्ति; मत्-स्मृतिः—मेरा स्वरूपसिद्ध ज्ञान; साधु—उत्तम गुणों से युक्त; सेवया—सेवा द्वारा।.

मेरी तुष्टि के लिए जिसने यज्ञ तथा शुभ कार्य किये हैं और इस तरह से एकाग्र ध्यान से मेरी पूजा करता है, वह मेरी अटल भक्ति प्राप्त करता है। ऐसा पूजक उत्तम कोटि की अपनी सेवा के कारण मेरा स्वरूपसिद्ध ज्ञान प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *इष्टापूर्तेन* शब्द का अर्थ है "यज्ञ तथा शुभ कार्य"। इससे शुद्ध भक्ति के मार्ग से किसी प्रकार का विचलन सूचित नहीं होता। भगवान् कृष्ण या विष्णु यज्ञ या यज्ञ के स्वामी कहलाते हैं। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं— *भोक्तारं यज्ञतपसाम्*—"मैं समस्त यज्ञ का वास्तविक भोक्ता हूँ।" सर्वोच्च यज्ञ भगवन्नाम का कीर्तन है। भगवन्नाम की शरण ग्रहण करने से मनुष्य को अचल भक्ति तथा परम सत्य का स्वरूपसिद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। स्वरूपसिद्ध भक्त अपनी भक्ति के मामले में बहुत सावधान रहता है और उसे वह अपना प्राण समझता है। वह अपने गुरु तथा भगवान् के चरणकमलों की निरन्तर पूजा करके तथा महिमा-गान करके अपने को भक्ति के योग्य बनाये रखता है। *हरिनाम कीर्तन* तथा *गुरु पूजा* ऐसे व्यावहारिक साधन हैं, जिनसे शुद्ध भक्ति प्राप्त की जा सकती है। जब हरिनाम कीर्तन का विस्तार किया जाता है, तो वह *कृष्णसङ्कीर्तन* कहलाता है। मनुष्य को अप्रामाणिक तपस्या या यज्ञ करके शुष्क नहीं बन जाना चाहिए, प्रत्युत उसे श्रीकृष्ण संकीर्तन रूपी

महान् यज्ञ में उत्साह के साथ जुट जाना चाहिए, जिससे मनुष्य-जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।
नोपायो विद्यते सम्यक्प्रायणं हि सतामहम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—प्राय:; भक्ति-योगेन—मेरी भक्ति से; सत्-सङ्गेन—मेरे भक्तों की संगति से सम्भव होने वाली; विना—रहित; उद्धव—हे उद्धव; न—नहीं; उपाय:—कोई उपाय; विद्यते—है; सम्यक्—जो वास्तव में कारगर हो; प्रायणम्—जीवन का असली मार्ग या वास्तविक आश्रय; हि—क्योंकि; सताम्—मुक्तात्माओं का; अहम्—मैं।

हे उद्धव, सन्त स्वभाव के मुक्त पुरुषों के लिए मैं ही अनन्तिम आश्रय तथा जीवन-शैली हूँ, अतएव यदि कोई व्यक्ति मेरे भक्तों की संगति से सम्भव मेरी प्रेमाभक्ति में प्रवृत्त नहीं होता, तो सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के दृष्टिकोण से प्राय: भौतिक जगत से बचने का कोई उपाय उसके पास नहीं रह जाता।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने उद्धव से ज्ञानयोग तथा भक्तियोग के लक्षण बतलाये क्योंकि ये दोनों आध्यात्मिक विधियाँ मानी जाती हैं। किन्तु अब भगवान् स्पष्ट सूचित करते हैं कि संसार से अपने को मुक्त करने के लिए भक्तियोग ही असली उपाय है और यह भक्तियोग वैष्णवों की संगति—*सत्संग* के बिना सम्भव नहीं है। *भक्तिमिश्र ज्ञान* के मार्ग में तब भी तीन गुण प्रभाव डालते हैं। शुद्ध आत्मा को दार्शनिक मनोधर्म, कठोर तपस्या या निर्विशेष ध्यान में प्रवृत्त होने की कोई इच्छा नहीं होती, क्योंकि वह सभी भौतिक गुणों से मुक्त होता है। वह तो मात्र कृष्ण से प्रेम करता है और उन्हीं की निरन्तर सेवा करना चाहता है। *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'।* भगवान् की शुद्ध भक्ति *केवल-भक्ति* कहलाती है, जबकि ज्ञानमिश्रित भक्ति *गुणभूतभक्ति* कहलाती है। जो वास्तव में बुद्धिमान है, वह दार्शनिक जादूगरी का प्रदर्शन नहीं करता, अपितु भगवान् के शुद्ध प्रेम की श्रेष्ठता को ढूँढ़ लेता है और *केवल-भक्ति* के मार्ग को अपनाता है। जो तथाकथित बौद्धिक उपलब्धियों पर बल देता है, वह वास्तव में अल्पज्ञ है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति शुद्ध आत्मा की अपेक्षा बुद्धि की ओर आकृष्ट होता है, जबकि शुद्ध आत्मा श्रेष्ठ है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि शुद्ध भक्ति ज्ञानरहित या बौद्धिकता-विरोधी नहीं है। परम सत्य तो आंशिक सत्य से कहीं अधिक व्यापक हैं। अतएव जिसे भगवान् कृष्ण का पूर्ण ज्ञान होता है, वह दार्शनिक विश्लेषण में आसानी से लग सकता है, क्योंकि शुद्ध भक्त अवधारणाओं की पूरी

श्रेणियों के साथ कार्य कर रहा होता है। जो लोग भगवान् कृष्ण को नहीं जानते, वे निर्विशेष ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के प्रति आकृष्ट होते हैं, किन्तु वे ज्ञान की चरम कोटि भगवान् से ज्ञात नहीं होते। भगवान् के ज्ञान के अभाव में ऐसे अपूर्ण दार्शनिक भगवान् की असंख्य शक्तियों के घात-प्रतिघात को नहीं समझ सकते, अतएव उनका पूरा पूरा विश्लेषण नहीं कर सकते। भगवान् कृष्ण के हर वचन को परम सत्य मानकर कोई भी व्यक्ति दर्शन की प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होता है और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है।

शुद्ध भक्ति दार्शनिक अथवा बौद्धिक ज्ञान के अतिरिक्त जीवन के अन्य सारे भौतिक अथवा आध्यात्मिक लाभ भी देने वाली होती है, अतएव जो व्यक्ति किसी भी कारण से भक्ति को छोड़ कर अन्य कोई विधि अपनाता है, वह दुर्भाग्यवश कृष्ण-भक्ति को नहीं समझता है। यहाँ इस पर बल दिया गया है कि अन्य भक्तों की संगति से भक्ति का अनुशीलन किया जाय। दूसरी ओर, *ज्ञान योग* का अकेले ही अनुशीलन किया जाता है, क्योंकि किन्हीं भी दो मनोधर्मी चिन्तकों का किसी वाद-विवाद में फँसे बिना एकमत होना सम्भव नहीं है। आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियों की तुलना बकरी के गलस्तन से की जाती है। वे स्तन जैसे तो लगते हैं, किन्तु उनसे दूध नहीं निकलता। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं, जो क्रमशः श्री उद्धव, शुकदेव गोस्वामी तथा नारद मुनि द्वारा कहे गये हैं।

तापत्रयेणाभिहितस्य घोरे सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीह।

पश्यामि नान्यच्छरणं तवांघ्रि द्वन्द्वातपत्रादमृतभिवर्षात्॥

"हे प्रभु! जो व्यक्ति संसाररूपी जंजाल में गिरकर भौतिक कष्टों की अग्नि में जलाया जा रहा हो, उसके लिए मुझे आपके दो चरणकमलों के अतिरिक्त कोई अन्य आश्रय नहीं दिखता, क्योंकि वे कष्ट की अग्नि को बुझाने के लिए अमृत की वर्षा के तुल्य हैं। (भागवत ११.१९.९)

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-

र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।

लीलाकथारसनिषेवनमन्तरेण

पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्धितस्य॥

''यह संसार सागर के समान है, जिसको पार करना अत्यन्त कठिन है। बद्धजीव इस सागर में गिरे हुए हैं, जो कि शीतल नहीं है, अपितु कष्ट की आग उन्हें जला रही है। जो इस समुद्र में गिर चुका है और उसमें से निकलना चाहता है, उसके पास पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं का आस्वादन करने के सिवाय कोई अन्य रक्षा-नाव नहीं है।'' (भागवत १२.४.४०)

किं वा योगेन सांख्येन न्यास स्वाध्याययोरपि।

किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः॥

''योग पद्धति, दार्शनिक चिन्तन, संसार का मात्र परित्याग या वैदिक अध्ययन से क्या लाभ? वस्तुतः हमारे अस्तित्व के स्रोत भगवान् कृष्ण के बिना किसी तथाकथित शुभ विधि से क्या लाभ है?'' (भागवत ४.३१.१२)

जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, यदि सामान्यतया (*प्रायेण*) भक्तों की संगति द्वारा भक्ति के बिना भौतिक बन्धन से छूट पाना असम्भव है, तो कलियुग में कृष्णभावनामृत आन्दोलन के बिना मोक्ष की सम्भावना नहीं के बराबर है। कोई मानसिक स्तर पर मोक्ष की किसी विधि की कल्पना कर सकता है या वह पारस्परिक चापलूसी के तथाकथित आध्यात्मिक समाज में रह सकता है, किन्तु यदि वह वास्तव में भगवद्धाम वापस जाना चाहता है और अपनी दिव्य आँखों से कृष्ण-लोक नामक ईश्वर के मनोहर धाम को देखना चाहता है, तो उसे श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन को अपनाना चाहिए और भक्तगणों के साथ भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए।

अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन ।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अथ—**इस प्रकार**; एतत्—**यह**; परमम्—**परम**; गुह्यम्—**गुप्त**; शृण्वतः—**सुनने वाले तुमको**; यदु-नन्दन—**हे यदुकुल के प्रिय**; सु-गोप्यम्—**अत्यन्त गुह्य**; अपि—**भी**; वक्ष्यामि—**मैं कहूँगा**; त्वम्—**तुम**; मे—**मेरा**; भृत्यः—**सेवक हो**; सु-हृत्—**शुभचिन्तक**; सखा—**तथा मित्र**।

हे उद्धव, हे यदुकुल के प्रिय, चूँकि तुम मेरे सेवक, शुभचिन्तक तथा सखा हो, अतएव अब मैं तुमसे अत्यन्त गुह्य ज्ञान कहूँगा। अब इसे सुनो, क्योंकि मैं इन महान् रहस्यों को तुम्हें बतलाने जा रहा हूँ।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के प्रथम अध्याय (१.१.८) में कहा गया है—*ब्रूयु: स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत*—प्रामाणिक गुरु अपने निष्ठावान् शिष्य को सारे दिव्य रहस्य बतला देता है। श्री उद्धव ने पूरी तरह से भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली थी। केवल ऐसी अवस्था में ही भगवान् उन्हें ऐसे रहस्य बतला सकते थे, क्योंकि बिना पूर्ण श्रद्धा के आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान कर पाना असम्भव है। आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियाँ, यथा दार्शनिक चिन्तन अपूर्ण तथा अस्थिर हैं, क्योंकि कर्ता की निजी इच्छाएँ होती हैं और ऐसी कोई निश्चित विधि नहीं है, जिससे भगवान् की पूरी पूरी कृपा प्राप्त की जा सके। दूसरी ओर, भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति अपने में पर्याप्त विधि है, जिससे वांछित फल की गारण्टी रहती है। मनुष्य को शुद्ध भक्तों की संगति करना सीखना चाहिए। इससे उसका जीवन सफल हो सकेगा। यही इस अध्याय का सार-समाहार है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''बद्ध तथा मुक्त जीवों के लक्षण'' नामक ग्यारहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

वैराग्य तथा ज्ञान से आगे

इस अध्याय में वृन्दावनवासियों की पवित्र संगति तथा उनके शुद्ध प्रेम की सर्वोत्कृष्टता की महिमा का वर्णन हुआ है।

सन्त-भक्तों की संगति से भौतिक जीवन के प्रति आत्मा की अनुरक्ति नष्ट होती है और इससे भगवान् कृष्ण तक वश में हो जाते हैं। न तो योग, सांख्य दर्शन, सामान्य धार्मिक कृत्य, शास्त्रों का अध्ययन, तपस्या, त्याग, इष्टा तथा पूर्तम् के कार्य, दान, उपवास, अर्चापूजा, गुप्त मंत्र, तीर्थस्थानों का भ्रमण, न ही बड़े या छोटे विधि-विधानों के पालन से ऐसा फल मिल सकता है। प्रत्येक युग में असुर, दैत्य, पक्षी तथा पशु होते रहे हैं, जो रजो तथा तमोगुणी थे और मनुष्यों में भी व्यापारी, स्त्रियाँ, मजदूर तथा अछूत श्रेणी के लोग थे, जो वैदिक शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकते थे। तो भी भक्तों की संगति के शुद्धीकरण प्रभाव से वे सभी भगवद्धाम प्राप्त कर सके। किन्तु ऐसी साधु-संगति के बिना योग,

सांख्य अध्ययन, दान, व्रत तथा संन्यास-आश्रम में उद्यमशील लोग भगवान् को पाने में असमर्थ रहते हैं।

व्रज की तरुणियाँ, भगवान् कृष्णचन्द्र के असली स्वरूप से अज्ञानी रहने के कारण, उन्हें अपना आनन्ददाता जारपति मानती थीं। फिर भी श्रीकृष्ण के साथ अपनी निरन्तर संगति के कारण वे परम-पूर्ण सत्य प्राप्त कर सकीं, जिसे ब्रह्मा जैसे बड़े बड़े देवता तक प्राप्त नहीं कर पाते। वृन्दावन की तरुणियों ने भगवान् कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ अनुराग प्रदर्शित किया, जिससे उनके साथ होने के आनन्द से अभिभूत उनके मन उनके साथ बिताई गई सारी रात को एक क्षण का भी अंश मानती थीं। किन्तु जब अक्रूर श्रीकृष्ण को बलराम समेत मथुरा ले गये, तो गोपियों ने उनके बिना प्रत्येक रात्रि को देवताओं के कल्प के समान बिताया। भगवान् कृष्ण के बिछोह से पीड़ित वे यह कल्पना न कर सकीं कि उनकी वापसी के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उन्हें सन्तोष प्रदान कर सकती है। यह ईश्वर के प्रति गोपियों के शुद्ध प्रेम की अद्वितीय श्रेष्ठता है।

उद्धव को ये उपदेश दे चुकने के बाद श्रीकृष्ण ने उद्धव को यह सलाह दी कि परम सत्य प्राप्त करने के लिए श्रुतियों तथा स्मृतियों में बताये गये धर्म-अधर्म के सारे विचारों को त्यागकर, वे वृन्दावन की स्त्रियों की तरह शरण ग्रहण करें।

श्रीभगवानुवाच
न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ १ ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; न रोधयति—नियंत्रित नहीं करता; माम्—मुझको; योगः—अष्टांग योग पद्धति; न—न तो; साङ्ख्यम्—भौतिक तत्त्वों का वैश्लेषिक अध्ययन; धर्मः—अहिंसा जैसी सामान्य करुणा; एव—निस्सन्देह; च—भी; न—न तो; स्वाध्यायः—वेदों का उच्चारण; तपः—तपस्या; त्यागः—सन्यास-आश्रम; न—न तो; इष्टा-पूर्तम्—यज्ञ करना तथा कुएँ खुदवाना या वृक्ष लगाना जैसे आम जनता के कल्याण-कार्य; न—न तो; दक्षिणा—दान; व्रतानि—व्रत रखना तथा एकादशी का उपवास; यज्ञः—देवताओं की पूजा; छन्दांसि—गुह्य मंत्रों का उच्चारण; तीर्थानि—तीर्थस्थानों का भ्रमण; नियमाः—आध्यात्मिक जीवन के लिए मुख्य आदेशों का पालन करना; यमाः—तथा गौण-विधान भी; यथा—जिस तरह; अवरुन्धे—अपने वश में करता है; सत्-सङ्गः—मेरे भक्तों की संगति; सर्व—समस्त; सङ्ग—भौतिक संगति; अपहः—हटाने वाला; हि—निश्चय ही; माम्—मुझको।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, मेरे शुद्ध भक्तों की संगति करने से इन्द्रियतृप्ति के सारे पदार्थों के प्रति आसक्ति को नष्ट किया जा सकता है। शुद्धि करने वाली ऐसी संगति मुझे मेरे भक्त के वश में कर देती है। कोई चाहे अष्टांग योग करे, प्रकृति के तत्त्वों का दार्शनिक विश्लेष्ण करने में लगा रहे, चाहे अहिंसा तथा शुद्धता के अन्य सिद्धान्तों का अभ्यास करे, वेदोच्चार करे, तपस्या करे, संन्यास ग्रहण करे, कुँआ खुदवाने, वृक्ष लगवाने तथा जनता के अन्य कल्याण-कार्यों को सम्पन्न करे, चाहे दान दे, कठिन व्रत करे, देवताओं की पूजा करे, गुह्य मंत्रों का उच्चारण करे, तीर्थस्थानों में जाय या छोटे-बड़े अनुशासनात्मक आदेशों को स्वीकार करे, किन्तु इन सब कार्यों को सम्पन्न करके भी कोई मुझे अपने वश में नहीं कर सकता।

तात्पर्य : इन दो श्लोकों पर श्रील जीव गोस्वामी की टीका का सारांश इस प्रकार है कोई व्यक्ति भगवद्भक्तों की औपचारिक पूजा द्वारा अथवा संगति करके उनकी सेवा कर सकता है। शुद्ध भक्तों की संगति आत्म-साक्षात्कार के लिए पर्याप्त है, क्योंकि ऐसे भक्तों से आध्यात्मिक प्रगति के विषय में हर बात सीखी जा सकती है। पूर्ण ज्ञान होने पर मनुष्य की मनोवांछित वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, क्योंकि भक्ति की प्रक्रिया से भगवान् का आशीर्वाद तुरन्त प्राप्त होता है। शुद्ध भक्ति प्रकृति के गुणों से परे है, अतएव इन गुणों द्वारा बद्ध किये गये आत्माओं को यह रहस्यमय प्रतीत होती है।

पिछले अध्याय में भगवान् ने कहा है *हविषाग्नौ यजेत माम्* घी की आहुति देकर मनुष्य अग्नि में मेरी पूजा कर सकता है (भागवत ११.११.४३)। पिछले अध्याय के श्लोक ३८ में यह उल्लेख हुआ है कि मनुष्यों को बाग-बगीचे, मनोरंजन स्थल, उद्यान, इत्यादि बनवाने चाहिए। इनसे लोग कृष्ण-मन्दिरों के प्रति आकृष्ट होते हैं, जहाँ पर वे भगवन्नाम का कीर्तन कर सकते हैं। ऐसी निर्माण योजनाओं को *पूर्तम्* कहा जाता है। यद्यपि इन दोनों श्लोकों में भगवान् कृष्ण यह उल्लेख करते हैं कि उनके शुद्ध भक्तों की संगति योग, दार्शनिक चिन्तन, यज्ञ तथा जन-कल्याण-कार्यों की तुलना में अधिक शक्तिशाली है, किन्तु ये गौण कार्य भी भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने वाले हैं, यद्यपि कुछ कम मात्रा में। ये कार्य विशेष रूप से तब भगवान् को प्रसन्न करने वाले होते हैं जब सामान्य भौतिकतावादी लोगों द्वारा सम्पन्न न होकर भक्तों द्वारा किये जाते हैं। इसीलिए *यथा* तुलनात्मक शब्द का प्रयोग हुआ है। दूसरे शब्दों में, यज्ञ, तप तथा दार्शनिक अध्ययन जैसे कार्य मनुष्य को भक्ति करने के योग्य बना सकते

हैं और जब ऐसे कार्य आध्यात्मिक प्रगति के इच्छुक भक्तों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, तो वे भगवान् को अच्छे लगते हैं।

व्रतानि के उदाहरण अध्ययन किया जा सकता है। यह आदेश कि मनुष्य एकादशी व्रत समस्त वैष्णवों के लिए स्थायी व्रत है, अतः इन श्लोकों से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि एकादशी व्रत की उपेक्षा की जा सकती है। भगवत्प्रेम का फल प्रदान करने में सत्संग की श्रेष्ठता का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि अन्य विधियों का परित्याग कर दिया जाय या कि ये गौण विधियाँ भक्तियोग के स्थायी कारक नहीं हैं। ऐसे अनेक वैदिक आदेश हैं, जो अग्निहोत्र यज्ञ करने का उपदेश देते हैं तथा चैतन्य महाप्रभु के आधुनिक अनुयायी भी कभी कभी अग्निहोत्र यज्ञ करते हैं। ऐसे यज्ञ की संस्तुति स्वयं भगवान् ने पिछले अध्याय में की है अतएव भगवद्भक्तों को इसका परित्याग नहीं करना चाहिए। वैदिक अनुष्ठान तथा शुद्धि-अनुष्ठान करने से मनुष्य क्रमशः भक्ति-पद तक ऊपर उठता है, जहाँ वह परम सत्य की प्रत्यक्ष पूजा कर सकता है। एक वैदिक आदेश है "छः विभिन्न अवसरों पर एक एक मास का लगातार उपवास करने से जो फल प्राप्त होता है, वह भगवान् विष्णु को अर्पित मुट्ठी-भर चावल से मिल सकता है। यह सुविधा कलियुग में विशेष रूप से उपलब्ध है।" तो भी एकादशी पर नियमित व्रत रखना आध्यात्मिक प्रगति में बाधक नहीं है। प्रत्युत भक्ति का यह शाश्वत पक्ष है और इसे भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्तों के पूजन के मुख्य सिद्धान्त का सहायक सिद्धान्त माना जा सकता है। चूँकि ऐसे गौण सिद्धान्तों से मनुष्य प्रारम्भिक भक्ति-विधियाँ पूरी करने के योग्य बनता है, अतएव वे भी अत्यन्त उपयोगी हैं। इसीलिए ऐसे गौण सिद्धान्तों का उल्लेख पूरे वैदिक वाङ्मय में पाया जाता है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऐसे गौण सिद्धान्त कृष्णभावनामृत की प्रगति के लिए अनिवार्य हैं, अतएव मनुष्य को व्रत का परित्याग नहीं करना चाहिए।

पिछले अध्याय (भागवत ११.११.३२) में श्रील श्रीधर स्वामी ने उल्लेख किया है कि *आज्ञायैवं गुणान् दोषान्* से यह सूचित होता है कि भक्त को चाहिए कि ऐसे वैदिक सिद्धान्तों का चुनाव करे, जिनका भगवद्भक्ति से कोई विरोध नहीं है। उपवास, देवपूजा तथा योगाभ्यास की अनेक जटिल विधियाँ तथा विस्तृत वैदिक अनुष्ठान *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* की विधि में बाधा उत्पन्न करते हैं, इसलिए वैष्णवजन उनका वहिष्कार करते हैं। किन्तु जो विधियाँ भक्ति में सहायक हों, उन्हें स्वीकार करना

चाहिए। यहाँ पर महाराज युधिष्ठिर का उदाहरण दिया जा सकता है, जिन्हें मृत्यु-शय्या पर लेटे भीष्मदेव ने उपदेश दिया। *श्रीमद्भागवत* (१.९.२७) में भीष्म ने महाराज युधिष्ठिर को दान-धर्म, राज-धर्म, मोक्ष-धर्म, स्त्री-धर्म तथा भागवत्-धर्म की शिक्षा दी। भीष्म ने अपना विवेचन *भागवत धर्म* तक ही सीमित नहीं रखा, क्योंकि कृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर को राजा रूप में कार्य करने की भक्ति प्रदान की और इस सेवा को सम्पन्न करने के लिए महाराज युधिष्ठिर को नागरिक मामलों का विस्तृत ज्ञान आवश्यक था। किन्तु जो व्यक्ति समाज में ऐसी नियत भक्ति का सम्पादन नहीं करता है, उसे अनावश्यक रूप से भौतिक जगत में हाथ नहीं डालना चाहिए। भगवान् कृष्ण को तुष्ट करने के चरम उद्देश्य से उसे कोई रोक नहीं सकता।

नियत व्रतों को न त्यागने के सिद्धान्तों को महाराज अम्बरीष के उदाहरण से भी दर्शाया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के नवें स्कन्ध में हम पाते हैं कि यद्यपि महाराज अम्बरीष ने विस्तृत वैदिक यज्ञ सम्पन्न किये थे, किन्तु उनका उद्देश्य भगवान् को सदैव तुष्ट रखना था। उनके राज्य के नागरिक स्वर्ग नहीं जाना चाहते थे, क्योंकि वे वैकुण्ठ की महिमा का श्रवण निरन्तर करते थे। अम्बरीष महाराज ने अपनी महारानी समेत एक वर्ष तक एकादशी तथा द्वादशी का व्रत रखा। चूँकि अम्बरीष महाराज को वैष्णवों का शिरोमणि माना जाता है और चूँकि उनका आचरण आदर्शमय था, अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि एकादशी पर उपवास रखने जैसे व्रत वैष्णवों के लिए अनिवार्य हैं। वैदिक वाङ्मय में यह भी कहा गया है "यदि लापरवाही से कोई वैष्णव एकादशी पर व्रत नहीं रखता, तो उसकी भगवान् विष्णु की पूजा व्यर्थ रहती है और वह नरक को जाता है।" इस्कॉन के सदस्यों को एकादशी के दिन अन्न तथा फलियाँ नहीं खानी चाहिए और सारे सदस्यों को यह व्रत सदा रखना चाहिए।

यदि कोई मिथ्या ही यह सोचता है कि वह महान् तपस्या, संस्कृत साहित्य के प्रखर अध्ययन, दान के वदान्य कर्मों द्वारा भगवान् कृष्ण की संगति प्राप्त कर सकता है, तो उसकी कृष्ण-चेतना विरूपित होकर क्षीण हो जायेगी। मनुष्य को चाहिए कि श्री चैतन्य महाप्रभु के उदाहरण को याद रखे, जिन्होंने भगवान् कृष्ण के विषय में निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन द्वारा कृष्णभावनामृत का अभ्यास किया। यदि कोई व्यक्ति उपवास, अध्ययन, तपस्या, अथवा यज्ञ द्वारा चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन में भाग लेने के लिए अधिक उपयुक्त बनता है, तो ऐसे कार्य भी भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने वाले होते हैं।

किन्तु यहाँ पर भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि भक्तियोग में ऐसे कार्य कभी भी *केन्द्रीय* महत्त्व के नहीं बन सकते। उन्हें *सत्संग* की परम विधि के सहायक के रूप में ही रहना पड़ेगा। श्रील मध्वाचार्य ने वैदिक साहित्य से उद्धरण दिया है कि यदि कोई व्यक्ति भगवद्भक्तों का अपमान करता है और उनकी संगति करना नहीं सीखता, तो भगवान् विष्णु ऐसे व्यक्ति के मार्ग में विघ्न डालते हैं, जिससे वह भगवान् की संगति प्राप्त न कर पाये।

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥ ३॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन्युगे युगे ॥ ४॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥ ५॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥ ६॥

शब्दार्थ

सत्-सङ्गेन—मेरे भक्तों की संगति से; हि—निश्चय ही; दैतेयाः—दिति के पुत्र; यातुधानाः—असुरगण; मृगाः—पशु; खगाः—पक्षी; गन्धर्व—गन्धर्वगण; अप्सरसः—स्वर्गलोक की वेश्याएँ; नागाः—सर्प; सिद्धाः—सिद्धलोक के वासी; चारण—चारण; गुह्यकाः—गुह्यक; विद्याधराः—विद्याधर लोक के वासी; मनुष्येषु—मनुष्यों में से; वैश्याः—व्यापारी लोग; शूद्राः—श्रमिक; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अन्त्य-जाः—असभ्य लोग; रजः-तमः-प्रकृतयः—रजो तथा तमोगुणों से बँधे हुए; तस्मिन् तस्मिन्—उसी उसी प्रत्येक में; युगे युगे—युग में; बहवः—अनेक जीव; मत्—मेरे; पदम्—धाम को; प्राप्ताः—प्राप्त हुए; त्वाष्ट्र—वृत्रासुर; कायाधव—प्रह्लाद महाराज; आदयः—इत्यादि; वृषपर्वा—वृषपर्वा नामक; बलिः—बलि महाराज; बाणः—बाणासुर; मयः—मय दानव; च—भी; अथ—इस प्रकार; विभीषणः—रावण का भाई विभीषण; सुग्रीवः—वानरराज सुग्रीव; हनुमान्—महान् भक्त हनुमान; ऋक्षः—जाम्बवान; गजः—गजेन्द्र नामक भक्त हाथी; गृध्रः—जटायु गृद्ध; वणिक्पथः—तुलाधार नामक बनिया; व्याधः—धर्म व्याध; कुब्जा—कुब्जा नामक वेश्या, जिसकी रक्षा कृष्ण ने की; व्रजे—वृन्दावन में; गोप्यः—गोपियाँ; यज्ञ-पत्न्यः—यज्ञकर्ता ब्राह्मणों की पत्नियाँ; तथा—उसी प्रकार; अपरे—अन्य।

प्रत्येक युग में रजो तथा तमोगुण में फँसे अनेक जीवों ने मेरे भक्तों की संगति प्राप्त की। इस प्रकार दैत्य, राक्षस, पक्षी, पशु, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक तथा विद्याधर जैसे जीवों के साथ साथ वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ तथा अन्य निम्न श्रेणी के मनुष्य मेरे धाम को प्राप्त कर सके। वृत्रासुर, प्रह्लाद महाराज तथा उन जैसे अन्यों ने मेरे भक्तों की संगति के द्वारा मेरे धाम को प्राप्त किया। इसी तरह वृषपर्वा, बलि महाराज, बाणासुर, मय, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार, धर्मव्याध, कुब्जा, वृन्दावन की गोपियाँ तथा यज्ञ कर रहे ब्राह्मणों की पत्नियाँ भी मेरा धाम प्राप्त कर सकीं।

तात्पर्य : भगवान् ने यह दिखाने के लिए कि किस तरह वे अपने शरणागतों के वश में होते हैं, वृन्दावन की गोपियों जैसे भक्तों तथा बाणासुर जैसे असुरों का उल्लेख किया है। यह ज्ञात है कि यहाँ पर उल्लिखित गोपियों तथा अन्य भक्तों को शुद्ध कृष्ण–प्रेम प्राप्त हुआ था, जबकि असुरों को केवल मोक्ष प्राप्त हुआ था। कई असुर भगवद्भक्तों की संगति से शुद्ध हुए थे और अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्यों में भगवान् की भक्ति को स्वीकार किया था। किन्तु प्रह्लाद तथा बलि महाराज जैसे महान् भक्त भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते और इसे ही वे अपने प्राण के तुल्य मानते हैं। फिर भी सुधरे हुए असुरों का भी उल्लेख किया गया है, जिससे *श्रीमद्भागवत* के पाठक भगवद्भक्तों की संगति से मिलने वाले अपार लाभ को समझ सकें।

वृत्रासुर असुर अपने पूर्वजन्म में पवित्र राजा चित्रकेतु था और उसने श्री नारद मुनि, श्री अंगिरा मुनि तथा भगवान् संकर्षण का सान्निध्य प्राप्त किया था। हिरण्यकशिपु के पुत्र होने से प्रह्लाद महाराज दैत्य समझे जाते हैं। फिर भी जब वे अपनी माता कयाधू के गर्भ में थे, तो उन्हें ध्वनि के माध्यम से नारद मुनि की संगति प्राप्त हुई थी। वृषपर्वा असुर को उसकी माता ने जन्म देते ही त्याग दिया था। किन्तु वह किसी मुनि द्वारा पाला जाकर भगवान् विष्णु का भक्त बना। बलि महाराज ने अपने पितामह प्रह्लाद महाराज की तथा भगवान् वामन देव की भी संगति प्राप्त की थी। बलि महाराज का पुत्र बाणासुर अपने पिता तथा शिवजी की संगति से रक्षा प्राप्त कर सका। वह भगवान् कृष्ण की संगति में भी आया, जब उन्होंने उसके एक हजार हाथों में से दो को छोड़कर शेष हाथ काट दिये, जिन्हें शिवजी ने वर के रूप में प्रदान किया था। भगवान् कृष्ण की महिमा समझ लेने पर बाणासुर भी महान् भक्त बन गया। मय दानव ने पाण्डवों के लिए सभाभवन तैयार किया और भगवान् कृष्ण की संगति में भी आया और अन्त में भगवान् की शरण ग्रहण की। विभीषण रावण का भाई था और पवित्र स्वभाव का असुर था। उसने हनुमान तथा रामचन्द्र की संगति की।

सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान तथा गजेन्द्र ऐसे पशुओं के उदाहरण हैं, जिन्होंने भगवान् की कृपा प्राप्त की। जाम्बवान् या ऋक्षराज एक वानर जाति का सदस्य था। उसे भगवान् कृष्ण की संगति तब प्राप्त हुई थी जब उसने स्यमंतक मणि के लिए उनसे युद्ध किया था। गजेन्द्र हाथी ने अपने पूर्व जीवन में भक्तों की संगति की थी और अपने इस जीवन के अन्त में भगवान् द्वारा बचाया गया था। जटायु पक्षी ने,

जिसने अपना प्राण देकर भगवान् रामचन्द्र की सहायता की, श्री गरुड़ तथा महाराज दशरथ और रामलीला में अन्य भक्तों की भी सहायता की थी। उसने सीता तथा रामचन्द्र से भेंट की थी। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, सिद्धों, चारणों, गुह्यकों तथा विद्याधरों ने भक्तों से जिस तरह की संगति की वह बहुत प्रमुख न थी, इसलिए उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। वणिकपथ एक वैश्य है, जिसकी कथा महाभारत में जाजलि मुनि के अभिमान के प्रसंग में उल्लिखित है।

धर्मव्याध, एक अहिंसक व्याध, की कथा वराह पुराण में वर्णित है, जिसमें भक्तों की संगति की महत्ता बताई गई है। अपने पूर्व जीवन में वह ब्रह्म राक्षस बन गया था, किन्तु अन्त में उसका उद्धार हो गया। पूर्व कलियुग में उसकी संगति वासु नामक वैष्णव राजा से हुई थी। कुब्जा को भगवान् की प्रत्यक्ष संगति प्राप्त हुई। वह अपने पूर्वजन्म में श्री नारद मुनि के सान्निध्य में थी। वृन्दावन की गोपियों ने अपने पूर्वजन्मों में साधु-पुरुषों की सेवाएँ की थीं। भक्तों के साथ प्रचुर संगति के फलरूप वे अगले जन्म में वृन्दावन में गोपियाँ बनीं और वहाँ पर अवतरित मुक्त गोपियों की संगति में आईं। उनकी संगति तुलसी देवी या वृन्दा देवी से भी थीं। यज्ञकर्ता ब्राह्मणों की पत्नियों को कृष्ण द्वारा भेजी गई फूल-माला तथा सुपारी बेचने वाली स्त्रियों की संगति प्राप्त हुई थी, जिनसे उन्होंने भगवान् कृष्ण के विषय में सुना था।

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः मत्सङ्गान्मामुपागताः ॥ ७॥

शब्दार्थ

ते—वे; न—नहीं; अधीत—अध्ययन करके; श्रुति-गणाः—वैदिक वाङ्मय; न—नहीं; उपासित—पूजा किया हुआ; महत्-तमः—महान् सन्त; अव्रत—व्रत के बिना; अतप्त—बिना किये; तपसः—तपस्या; मत्-सङ्गात्—मेरे तथा मेरे भक्तों की संगति से; माम्—मुझको; उपागताः—उन्होंने प्राप्त किया।

मैंने जिन व्यक्तियों का उल्लेख किया है, उन्होंने न तो वैदिक वाङ्मय का गहन अध्ययन किया था, न महान् सन्तों की पूजा की थी, न कठिन व्रत या तपस्या ही की थी। मात्र मेरे तथा मेरे भक्तों की संगति से, उन्होंने मुझे प्राप्त किया।

तात्पर्य : जैसाकि पहले उल्लेख हुआ है, वैदिक वाङ्मय का अध्ययन श्रुति मंत्रों की शिक्षा देने वालों की पूजा, व्रत तथा तपस्या करना इत्यादि ऐसी सहायक विधियाँ हैं, जो भगवान् को प्रसन्न करने वाली हैं। किन्तु इस श्लोक में भगवान् पुनः बतलाते हैं कि ऐसी सारी विधियाँ भगवान् तथा उनके भक्तों की संगति करने की मुख्य विधि से गौण हैं। मनुष्य अन्य विधियों से भगवान् तथा उनके भक्तों

की संगति प्राप्त कर सकता है, जिससे जीवन की सिद्धि मिल सकती है। *मत्-संगात्* शब्द को *सत्-संगात्* भी पढ़ा जा सकता है, जिसका भी वही अर्थ निकलता है। *मत्-संगात्* पाठ में *मत्* से यह भी अर्थ निकलता है ''जो मेरे हैं'' अर्थात् भक्त। श्रील श्रीधर स्वामी उल्लेख करते हैं कि शुद्ध भक्त अपनी ही संगति से कृष्णभावनामृत में प्रगति कर सकता है, क्योंकि अपने कार्यों तथा चेतना से संगति करने से ही वह भगवान् से संगति करता है।

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

केवलेन—शुद्ध; हि—निस्सन्देह; भावेन—प्रेम से; गोप्यः—गोपियाँ; गावः—वृन्दावन की गाएँ; नगाः—वृन्दावन के जड़ प्राणी यथा यमलार्जुन वृक्ष; मृगाः—अन्य पशु; ये—जो; अन्ये—अन्य; मूढ-धियः—जड़ बुद्धि वाले; नागाः—वृन्दावन के सर्प, यथा कालिय; सिद्धाः—जीवन की सिद्धि पाकर; माम्—मेरे पास; ईयुः—आये; अञ्जसा—अत्यन्त सरलता से।

गोपियों समेत वृन्दावन के वासी, गौवें, अचर जीव यथा यमलार्जुन वृक्ष, पशु, जड़ बुद्धि वाले जीव यथा झाड़ियाँ तथा जंगल और सर्प यथा कालिय—इन सबों ने मुझसे शुद्ध प्रेम करने के ही कारण जीवन की सिद्धि प्राप्त की और इस तरह आसानी से मुझे प्राप्त किया।

तात्पर्य : यद्यपि असंख्य जीवों ने भगवान् तथा उनके भक्तों की संगति से मोक्ष प्राप्त किया, किन्तु ऐसे अनेक पुरुषों ने तपस्या, दान, चिन्तन इत्यादि जैसी अन्य विधियाँ भी अपनाईं। किन्तु जैसाकि हम कह चुके हैं, ये विधियाँ गौण हैं। किन्तु वृन्दावन के वासी यथा गोपियाँ कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानती थीं और उनके जीवन का सारा उद्देश्य कृष्ण से प्रेम करना था, जैसाकि *केवलेन हि भावेन* शब्दों से सूचित होता है। यहाँ तक कि वृक्ष, झाड़ियाँ तथा गोवर्धन पर्वत भगवान् कृष्ण से प्रेम करते थे। भगवान् *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कंध (१०.१५.५) में अपने भाई श्री बलदेव को बतलाते हैं—

अहो अमी देववरामरार्चितं पदाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।

नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस् तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥

''हे बलदेव! देखो न! ये वृक्ष किस तरह अपनी शाखाएँ झुकाकर आपके उन चरणकमलों को नमस्कार कर रहे हैं, जो देवताओं द्वारा भी पूज्य हैं। हे भ्राता! आप परमेश्वर हैं, इसीलिए इन वृक्षों ने आपकी भेंटस्वरूप फलों तथा फूलों को उत्पन्न किया है। यद्यपि जीव तमोगुण के कारण वृक्ष के रूप में

जन्म लेता हैं, किन्तु वृन्दावन में इस तरह जन्म लेकर, ये वृक्ष आपके चरणकमलों की सेवा करके अपने जीवन का सारा अंधकार नष्ट कर रहे हैं।''

यद्यपि अनेक जीवों ने अनेक प्रकार से भगवान् तथा उनके भक्तों की संगति के द्वारा भगवान् कृष्ण की कृपा प्राप्त की है, किन्तु जो भगवान् कृष्ण को सर्वस्व मानते हैं, वे आध्यात्मिक साक्षात्कार की सर्वोच्च विधि को प्राप्त होते हैं। इसलिए भगवान् ने इस श्लोक में मिश्र विधियों से सिद्धि पाने वालों की चर्चा न करके वृन्दावन के शुद्ध भक्तों की प्रशंसा की है, जिनमें गोपियाँ सर्वप्रमुख हैं, जो कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ जानती ही नहीं। वृन्दावनवासी कृष्ण के साथ अपने सम्बन्धों से इतने सन्तुष्ट रहते थे कि उन्होंने मनोधर्म या सकाम कर्म द्वारा अपनी प्रेमाभक्ति को दूषित नहीं होने दिया। गोपियों ने भगवान् कृष्ण की सेवा माधुर्य रस में की, जबकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार गौवों ने वात्सल्य रस में कृष्ण से प्रेम किया, क्योंकि गौवें बालक कृष्ण के लिए सदैव दूध देती थीं। गोवर्धन पर्वत तथा अन्य पर्वत जैसे जड़ पदार्थ कृष्ण से सखा के रूप में प्रेम करते थे और वृन्दावन के सामान्य पशु, वृक्ष तथा झाड़ियाँ कृष्ण से दास्यरस में प्रेम करते थे। कालिय जैसे सर्प भी इसी रस में प्रेम करते थे, इन सबों ने भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति का आस्वाद करने के पश्चात् भगवद्धाम प्राप्त किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार वृन्दावन के इन सारे वासियों को नित्य मुक्तात्माएँ मानना चाहिए जैसाकि *सिद्धा* शब्द द्वारा व्यक्त हुआ है।

यं न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिनको; न—नहीं; योगेन—योग द्वारा; साङ्ख्येन—दार्शनिक चिन्तन द्वारा; दान—दान; व्रत—व्रत; तपः—तपस्या; अध्वरैः—अथवा वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा; व्याख्या—अन्यों से वैदिक ज्ञान की विवेचना द्वारा; स्वाध्याय—वेदों का निजी अध्ययन; सन्न्यासैः—अथवा संन्यास ग्रहण करके; प्राप्नुयात्—प्राप्त कर सकता है; यत्न-वान्—महान् प्रयास से; अपि—भी।

योग, चिन्तन, दान, व्रत, तपस्या, कर्मकाण्ड, अन्यों को वैदिक मंत्रों की शिक्षा, वेदों का निजी अध्ययन या संन्यास में बड़े-बड़े प्रयास करते हुए लगे रहने पर भी मनुष्य, मुझे प्राप्त नहीं कर सकता।

तात्पर्य : यहाँ भगवान् कृष्ण बतलाते हैं कि कोई परम सत्य तक पहुँचने के लिए कितना ही गम्भीर प्रयास क्यों न करें, भगवान् की संगति प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन है। वृन्दावनवासी यथा

गोपियाँ तथा गौवें भगवान् कृष्ण के साथ सदैव रहती थीं, अतएव उनकी संगति *सत्संग* कहलाती है। जो कोई भगवान् के साथ ठीक से रहता है, वह *सत्* अर्थात् नित्य बन जाता है, अतएव ऐसे व्यक्ति की संगति अन्य लोगों को तुरन्त ही भक्ति प्रदान कर सकती है। *चान्द्रायण* नामक तप में चन्द्रमा के घटने के साथ भोजन की मात्रा प्रतिदिन एक एक कौर घटाई जाती है और चन्द्रमा के बढ़ने के साथ साथ प्रतिदिन एक एक कौर बढ़ाई जाती है। इसी तरह अनेक कष्टप्रद कर्मकाण्ड हैं और संस्कृत के कठिन वैदिक मंत्र हैं, जो अन्यों को सिखलाये जा सकते हैं। ये कठिन कार्य तब तक जीवन की परम सिद्धि नहीं प्रदान कर सकते जब तक उसे भगवद्भक्तों की अहैतुकी कृपा प्राप्त न हो। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२-८) में कहा गया है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

‘‘अपने पद के अनुसार व्यक्ति द्वारा किये गये वृत्तिपरक कार्य यदि भगवान् के सन्देश के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं कर पात तो ये व्यर्थ के श्रम होते।’’

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोग
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥ १० ॥

शब्दार्थ

रामेण—बलराम के; सार्धम्—साथ; मथुराम्—मथुरा नगरी के; प्रणीते—लाये गये; श्वाफल्किना—अक्रूर द्वारा; मयि—मुझमें; अनुरक्त—निरन्तर लिप्त; चित्ताः—चेतना वाले; विगाढ—प्रगाढ़; भावेन—प्रेम से; न—नहीं; मे—मेरी अपेक्षा; वियोग—विछोह का; तीव्र—गहन; आधयः—मानसिक कष्ट, चिन्ता आदि का अनुभव करने वाले; अन्यम्—अन्यों को; ददृशुः—देखा; सुखाय—उन्हें सुखी बनाने के लिए।

गोपियाँ इत्यादि वृन्दावनवासी गहन प्रेम से सदैव मुझमें अनुरक्त थे। अतएव जब मेरे चाचा अक्रूर मेरे भ्राता बलराम सहित मुझे मथुरा नगरी में ले आये, तो वृन्दावनवासियों को मेरे विछोह के कारण अत्यन्त मानसिक कष्ट हुआ और उन्हें सुख का कोई अन्य साधन प्राप्त नहीं हो पाया।

तात्पर्य : इस श्लोक में वृन्दावन की गोपियों के मनोभावों का विशेष रूप से वर्णन हुआ है और यहाँ पर कृष्ण उनके द्वारा अनुभव किये जाने वाले अद्वितीय प्रेम को प्रकट करते हैं। जैसाकि दसवें स्कन्ध में बतलाया गया है कंस द्वारा भेजे गये भगवान् कृष्ण के चाचा अक्रूर वृन्दावन आये और कुश्ती

दिखलाने के लिए कृष्ण तथा बलराम को मथुरा ले आये। गोपियाँ कृष्ण को इतना चाहती थीं कि उनकी अनुपस्थिति में उनकी चेतना उनके आध्यात्मिक प्रेम में पूर्णतया लीन हो गई। इस तरह उनकी कृष्ण-चेतना जीवन की चरम सिद्धावस्था मानी जाती है। वे सदैव आशान्वित रहीं कि भगवान् कृष्ण असुरों को मारने का कार्य पूरा करके उनके पास लौट आयेंगे, अतएव उनकी चिन्ता उनके प्रेम की अत्यन्त हृदय विदारक अभिव्यक्ति थी। असली सुख चाहने वाले व्यक्ति को भगवान् के आनन्द के लिए प्रत्येक वस्तु का त्याग करते हुए गोपियों की तरह कृष्ण की भक्ति करनी चाहिए।

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ताः ताः—वे सभी; क्षपाः—रातें; प्रेष्ठ-तमेन—अत्यन्त प्रिय के साथ; नीताः—बिताई गई; मया—मेरे द्वारा; एव—निस्सन्देह; वृन्दावन—वृन्दावन में; गो-चरेण—जिसे जाना जा सकता है; क्षण—एक पल; अर्ध-वत्—आधे के समान; ताः—वे रातें; पुनः—फिर; अङ्ग—हे उद्धव; तासाम्—गोपियों के लिए; हीनाः—रहित; मया—मुझसे; कल्प—ब्रह्मा का दिन (४,३२,००,००,०००); समाः—तुल्य; बभूवुः—हो गया।.

हे उद्धव, वे सारी रातें, जो वृन्दावन भूमि में गोपियों ने अपने अत्यन्त प्रियतम मेरे साथ बिताईं, वे एक क्षण से भी कम में बीतती प्रतीत हुईं। किन्तु मेरी संगति के बिना बीती वे रातें गोपियों को ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य लम्बी खिंचती सी प्रतित हुई।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका इस प्रकार है : कृष्ण की अनुपस्थिति में गोपियों को अत्यन्त चिन्ता हुई। ऊपर से अन्यन्त मोहग्रस्त प्रतीत होती हुईं उन्होंने वास्तव में *समाधि* की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त कर ली थी। उनकी चेतना भगवान् कृष्ण में प्रगाढ़ता से अनुरक्त थी और ऐसी कृष्ण-चेतना में उनके शरीर उनसे बहुत दूर लगते थे, यद्यपि लोग शरीर को अपने सबसे निकट पाते हैं। वस्तुतः गोपियाँ अपने अस्तित्व के बारे में नहीं सोचती थीं। यद्यपि साधारणतया एक युवती अपने पति तथा अपनी सन्तान को अपनी सबसे प्रिय पूँजी मानती है, किन्तु गोपियाँ अपने तथाकथित परिवारों के अस्तित्व को भी नहीं मानती थीं। न ही वे इस संसार के बारे में, अथवा मृत्यु के बाद के जीवन के विषय में सोच पाती थीं। दरअसल, उन्हें इन बातों का बिल्कुल ध्यान नहीं था। जिस तरह ऋषि मुनि सांसारिक नाम तथा रूप से विरक्त हो जाते हैं, गोपियाँ भी किसी वस्तु के बारे में नहीं सोच पाती थीं,

क्योंकि वे कृष्ण की प्रेममयी स्मृति से अभिभूत रहती थीं। जिस तरह नदियाँ समुद्र में मिलती हैं, उसी तरह गोपियाँ अपने गहन प्रेम से कृष्ण-चेतना में पूर्णतया विलीन थीं।''

इस तरह कृष्ण के उनके साथ रहने पर गोपियों को ब्रह्मा का एक दिन एक क्षण के तुल्य लगता था, किन्तु कृष्ण की अनुपस्थिति में एक क्षण ब्रह्मा के एक दिन जैसा प्रतीत होने लगा। गोपियों की कृष्ण-चेतना आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि है और यहाँ पर ऐसी सिद्धि के लक्षणों का वर्णन हुआ है।

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे (गोपियाँ); न—नहीं; अविदन्—अवगत; मयि—मुझमें; अनुषङ्ग—घनिष्ठ सम्पर्क द्वारा; बद्ध—बँधी; धियः—चेतना वाली; स्वम्—निजी; आत्मानम्—शरीर या आत्मा; अदः—दूर की वस्तु; तथा—इस तरह विचार करते हुए; इदम्—अत्यन्त निकट यह; यथा—जिस तरह; समाधौ—योग समाधि में; मुनयः—मुनिगण; अब्धि—सागर के; तोये—जल में; नद्यः—नदियाँ; प्रविष्टाः—प्रवेश करके; इव—सदृश; नाम—नाम; रूपे—तथा रूप।

हे उद्धव, जिस तरह योग समाधि में मुनिगण आत्म-साक्षात्कार में लीन रहते हैं और उन्हें भौतिक नामों तथा रूपों का भान नहीं रहता और जिस तरह नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी तरह वृन्दावन की गोपियाँ अपने मन में मुझसे इतनी अनुरक्त थीं कि उन्हें अपने शरीर की अथवा इस जगत की या अपने भावी जीवनों की सुध-बुध नहीं रह गई थी। उनकी सम्पूर्ण चेतना मुझमें बँधी हुई थी।

तात्पर्य : *स्वम् आत्मानम् अदस्तथेदम्* से यह सूचित होता है कि जहाँ सामान्य लोगों को अपना शरीर अत्यन्त प्रिय लगता है, वहाँ गोपियाँ अपने शरीर को अत्यन्त दूर मानती थीं, जिस तरह समाधिस्थ योगी अपने शरीर को या उसके चारों ओर की सामान्य वस्तुओं को अपने से बहुत दूर मानता है। जब रात गये कृष्ण अपनी बाँसुरी बजाते, तो गोपियाँ अपने तथाकथित पतियों तथा बच्चों के बारे में सबकुछ भूल कर कृष्ण के साथ जंगल में नृत्य करने चली जाती थीं। इन विवादास्पद बातों की स्पष्ट व्याख्या *भगवान् कृष्ण* नामक पुस्तक में श्रील प्रभुपाद ने की है। मुख्य विवेचना यह है कि भगवान् कृष्ण हर वस्तु के स्रोत हैं और गोपियाँ भगवान् की निजी शक्ति हैं। इस तरह अपनी ही प्रकट शक्तिरूपा गोपियों

के साथ परम शक्तिशाली भगवान् का प्रेमाचार न तो कोई त्रुटि है, न अनैतिकता है, क्योंकि गोपियाँ ईश्वर की सृष्टि में सर्वाधिक सुन्दर तरुणियाँ हैं।

गोपियों को तनिक भी मोह नहीं है, क्योंकि कृष्ण के प्रति वे इतनी आकृष्ट हैं कि वे किसी चीज के बारे में सोचने की परवाह नहीं करतीं। चूँकि सारा जगत भगवान् कृष्ण के शरीर के भीतर स्थित है, अतएव जब गोपियाँ कृष्ण पर ध्यान एकाग्र करती हैं, तो उनको कोई क्षति नहीं होती। प्रगाढ़ प्रेम का स्वभाव है कि प्रिय के अतिरिक्त अन्य सारी वस्तुओं का बहिष्कार कर दिया जाता है। किन्तु भौतिक जगत में, जहाँ हम अपने राष्ट्र, परिवार या शरीर जैसी सीमित नश्वर वस्तु से प्रेम करना चाहते हैं, तो अन्य वस्तुओं के बहिष्कार का अर्थ अज्ञान होता है। किन्तु जब हमारा प्रेम हर वस्तु के उद्‌गम भगवान् पर केन्द्रित होता है, तो ऐसी एकाग्रता को अज्ञान या अल्पज्ञता नहीं माना जा सकता।

यहाँ पर समाधि प्राप्त मुनियों का उदाहरण यह दिखलाने के लिए दिया गया है कि एक ही वस्तु पर एकाग्रता है। अन्यथा गोपियों के भावमय प्रेम तथा योगियों के शुष्क चिन्तन की कोई तुलना नहीं है, क्योंकि योगी केवल यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने भौतिक शरीर नहीं हैं। चूँकि गोपियों के कोई भौतिक शरीर नहीं थे जिनसे विरक्त हुआ जाय और वे परम सत्य के साथ नाच रही थीं तथा आलिंगन कर रही थीं, अतएव गोपियों के उच्च पद की तुलना योगियों मात्र के पद से नहीं की जा सकती। यह कहा जाता है कि निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति के आनन्द की तुलना कृष्ण-प्रेम के आनन्दमय सागर के एक क्षुद्र अंश से भी नहीं की जा सकती। घनिष्ठ अनुरक्ति उस मजबूत रस्सी की तरह है, जो मन तथा हृदय को बाँधती है। हम भौतिक जीवन में नश्वर तथा मोहमय वस्तुओं से बँधे होते हैं, अतएव हृदय का ऐसा बन्धन महान् पीड़ा उत्पन्न करता है। किन्तु यदि हम अपने मन तथा हृदय को समस्त आनन्द तथा सौन्दर्य के आगार भगवान् कृष्ण से बाँध देते हैं, तो हमारे हृदय दिव्य आनन्द के सागर में असीम विस्तार करते हैं।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि गोपियाँ किसी भी तरह से निर्विशेष ध्यान के प्रति उन्मुख नहीं थीं, जिसमें विविधतामय सृष्टि की सत्यता से इनकार किया जाता है। गोपियों ने किसी वस्तु से इनकार नहीं किया। उन्हें केवल कृष्ण से प्रेम था। वे अन्य कुछ भी नहीं सोच सकती थीं। उन्होंने भगवान् कृष्ण के ध्यान में बाधक हर वस्तु का बहिष्कार किया, यहाँ तक कि अपनी पलकों को भी कोसा जिनके

झपकने से कृष्ण क्षण-भर के लिए उनकी दृष्टि से विलग हो जाते थे। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि भगवान् के सभी निष्ठावान भक्तों को चाहिए कि अपने जीवन से उस वस्तु को दूर करने का साहस जुटायें, जो भगवद्धाम की ओर बढ़ने में बाधक होती है।

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबला: ।
ब्रह्म मां परमं प्रापु: सङ्गाच्छतसहस्रश: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

मत्—मुझ; कामा:—चाहने वाले; रमणम्—मोहक प्रेमी को; जारम्—दूसरे की पत्नी का प्रेमी; अस्वरूप-विद:—मेरे वास्तविक पद को न जानते हुए; अबला:—स्त्रियाँ; ब्रह्म—ब्रह्म; माम्—मुझको; परमम्—परम; प्रापु:—प्राप्त किया; सङ्गात्—संगति से; शत-सहस्रश:—सैकड़ों हजारों में।

वे सैकड़ों हजारों गोपियाँ मुझे ही अपना सर्वाधिक मनोहर प्रेमी जान कर तथा इस तरह मुझे अत्यधिक चाहते हुए मेरे वास्तविक पद से अपरिचित थीं। फिर भी मुझसे घनिष्ठ संगति करके गोपियों ने मुझ परम सत्य को प्राप्त किया।

तात्पर्य : *अस्वरूपविद:* शब्द सूचित करता है कि सुन्दर गोपियाँ कृष्ण के माधुर्य प्रेम में इतनी अधिक लीन थीं कि वे भगवान् के रूप में उनकी असीम शक्तियों से अपरिचित थीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अस्वरूपविद:* शब्द का यह अर्थ तथा इसके अतिरिक्त अन्य अर्थ भी दिये हैं। *विद्* का अर्थ "प्राप्त करना" भी होता है। इस तरह *अस्वरूपविद:* यह सूचित करता है कि भगवान् के अन्य भक्तों की तरह गोपियाँ *सारूप्य मुक्ति* प्राप्त करने की इच्छुक नहीं थीं। यदि गोपियों को भगवान् जैसा शारीरिक स्वरूप प्राप्त हो जाता, तो भगवान् किस तरह गोपियों के साथ नाचने और उनका आलिंगन करने की माधुर्य लीला कर पाते? चूँकि गोपियों को भगवान् की सेविकाओं के रूप में अपने स्वरूपों की अनुभूति हो चुकी थी, अतएव *स्वरूप* शब्द उनके ही आध्यात्मिक शरीरों को सूचित कर सकता है। इस प्रकार *अस्वरूपविद:* का अर्थ होगा कि गोपियों ने अपने शारीरिक सौन्दर्य के विषय में कभी नहीं सोचा, जैसाकि भौतिकतावादी करते हैं। यद्यपि गोपियाँ भगवान् की सृष्टि में सर्वाधिक सुन्दर बालाएँ हैं, किन्तु उन्होंने अपने शरीर के विषय में न सोच कर सदैव भगवान् कृष्ण के दिव्य शरीर का ध्यान किया। यद्यपि हम गोपियों के उच्च माधुर्य भावों का अनुकरण नहीं कर सकते, किन्तु हम व्यावहारिक कृष्णभावनामृत के उत्कृष्ट उदाहरण को अपना सकते हैं। उन्होंने कृष्ण की शरण ग्रहण की और जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की।

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥ १४॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥ १५॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; त्वम्—तुम; उद्धव—हे उद्धव; उत्सृज्य—त्याग कर; चोदनाम्—वेदों के आदेशों को; प्रतिचोदनाम्—वेदांगों के आदेशों को; प्रवृत्तिम्—आदेश; च—तथा; निवृत्तिम्—निषेध; च—तथा; श्रोतव्यम्—सुनने योग्य; श्रुतम्—सुना हुआ; एव—निस्सन्देह; च—भी; माम्—मुझको; एकम्—अकेला; एव—वास्तव में; शरणम्—शरण; आत्मानम्—हृदय में परमात्मा; सर्व-देहिनाम्—समस्त बद्धजीवों का; याहि—जाओ; सर्व-आत्म-भावेन—एकान्तिक भक्ति से; मया—मेरी कृपा से; स्याः—होओ; हि—निश्चय ही; अकुतः-भयः—भय से रहित।

अतएव हे उद्धव, तुम सारे वैदिक मंत्रों तथा वेदांगों की विधियों एवं उनके सकारात्मक तथा निषेधात्मक आदेशों का परित्याग करो। जो कुछ सुना जा चुका है तथा जो सुना जाना है, उसकी परवाह न करो। केवल मेरी ही शरण ग्रहण करो, क्योंकि मैं ही समस्त बद्धात्माओं के हृदय के भीतर स्थित भगवान् हूँ। पूरे मन से मेरी शरण ग्रहण करो और मेरी कृपा से तुम समस्त भय से मुक्त हो जाओ।

तात्पर्य : श्री उद्धव ने भगवान् कृष्ण से सन्त-पुरुषों तथा मुक्तात्माओं के लक्षण पूछे थे और कृष्ण ने आध्यात्मिक उन्नति के विभिन्न स्तरों के रूप में उनका उत्तर दिया। उन्होंने अपने उत्तर में बताया कि जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण को अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य समझ सकते हैं और जो प्रिय भक्त भगवान् कृष्ण को और उनकी भक्ति को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं, उन दोनों में क्या अन्तर है। भगवान् कृष्ण ने यह भी बताया कि वे अपने प्रिय भक्तों के द्वारा तथा उन भक्तों की संगति करने वालों के द्वारा भी बन्दी बना लिये जाते हैं। भक्तों में से वृन्दावन की गोपियों को ऐसी शुद्ध भक्ति की अवस्था प्राप्त किये हुए बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण स्वयं अपने को निरन्तर उनका ऋणी अनुभव करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् कृष्ण ने पहले अपने प्रति गोपियों के प्रेम को रहस्यमय होने के कारण तथा अपने गुरुत्व के कारण अपने हृदय में छिपा रखा। किन्तु अन्त में भगवान् कृष्ण भी गोपियों के प्रगाढ़ प्रेम के प्रति मौन नहीं रह पाये, अतएव इन श्लोकों में उद्धव से भगवान् प्रकट करते हैं कि किस तरह गोपियाँ वृन्दावन में उनसे प्रेम करती थीं और किस तरह उन्हें पूर्णतया

अपने वश में कर लिया था। भगवान् सुन्दर गोपियों के साथ गुप्त स्थानों में विहार करते और माधुर्य रागानुग स्नेह के कारण उनमें महान् प्रेम का आदान-प्रदान होता।

जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में बतलाया है, मनुष्य भौतिक जगत का परित्याग करके अथवा सामान्य धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करके जीवन-सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्य को वास्तविक रूप में भगवान् के स्वरूप को समझना चाहिए और उनके शुद्ध भक्तों की संगति में रह कर भगवान् को उनके आदि साकार रूप से प्रेम करना सीखना चाहिए। यह प्रेम माधुर्य, वात्सल्य, सख्य या दास्य रस में व्यक्त किया जा सकता है। भगवान् ने उद्धव को विस्तार से भौतिक जगत की दार्शनिक विश्लेषण पद्धति बतलाई और अब वे उद्धव से कहते हैं कि सकाम कर्म या मनोधर्म में समय नष्ट करना व्यर्थ है। वस्तुतः कृष्ण उद्धव को बता रहे हैं कि वे गोपियों के उदाहरण को आत्मसात् करें और व्रज की गोपियों के पदचिह्नों पर चलते हुए कृष्णभावनामृत में प्रगति करें। प्रकृति के क्रूर नियम जो व्याधि, जरा तथा मृत्यु थोपते हैं, इनसे असन्तुष्ट किसी भी बद्धजीव को यह समझना चाहिए कि भगवान् कृष्ण सारे जीवों को संसार की समस्याओं से उबार सकते हैं। उसे अवैध साम्प्रदायिक अनुष्ठानों, आदेशों या निषेधों में फँसने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें साक्षात् भगवान् कृष्ण-रूप श्री चैतन्य महाप्रभु की तरह भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए। वैध भक्तियोग विधि के द्वारा मनुष्य को सरलता से आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

श्रीउद्धव उवाच
संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर ।
न निवर्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; संशयः—सन्देह; शृण्वतः—सुनने वाले का; वाचम्—शब्द; तव—तुम्हारे; योग-ईश्वर—योगशक्ति के स्वामियों के; ईश्वर—स्वामी; न निवर्तते—बाहर नहीं जायेगा; आत्म—हृदय में; स्थः—स्थित; येन—जिससे; भ्राम्यति—मोहग्रस्त रहता है; मे—मेरा; मनः—मन।

श्री उद्धव ने कहा : हे योगेश्वरों के ईश्वर, मैंने आपके वचन सुने हैं, किन्तु मेरे मन का सन्देह जा नहीं रहा है, अतः मेरा मन मोहग्रस्त है।

तात्पर्य : इस स्कन्ध के दसवें अध्याय के प्रथम श्लोक में भगवान् ने यह कहा था कि मनुष्य को चाहिए कि उनकी शरण ग्रहण करके निष्काम भाव से वर्णाश्रम प्रणाली के अन्तर्गत अपने कर्तव्य करे।

उद्धव ने इस कथन का अर्थ यह लगाया कि *कर्म-मिश्र भक्ति* अर्थात् सकाम कर्मो की प्रवृत्ति के साथ भक्ति की संस्तुति की गई है। यह तथ्य है कि जब तक कृष्ण को सर्वस्व नहीं समझ लिया जाता, तब तक सामान्य संसारी कर्तव्यों से विरक्त हो पाना सम्भव नहीं है। हाँ, इससे अपने कर्मफल भगवान् को अर्पित करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। दसवें अध्याय के चौथे श्लोक में भगवान् ने संस्तुति की थी कि मनुष्य को सांसारिक कर्तव्यों से विरक्त होकर भगवान् के परम ज्ञान का विधिवत् अनुशीलन करना चाहिए। उद्धव ने इस उपदेश से यह समझा कि यह *ज्ञान-मिश्र भक्ति* को सूचित करने वाला है। दसवें अध्याय के ३५वें श्लोक से शुरू करके उद्धव ने भौतिक बन्धन तथा भौतिक जीवन से मोक्ष के विषय में जिज्ञासा की। भगवान् ने यह कहते हुए विस्तृत उत्तर दिया कि भक्ति के बिना दार्शनिक चिन्तन कभी पूर्ण नहीं हो सकता। ग्यारहवें अध्याय के श्लोक १८ में भगवान् पर श्रद्धा के महत्त्व को और श्लोक २३ में भक्ति की विस्तृत व्याख्या करते हुए इस पर बल दिया गया है कि मनुष्य को श्रद्धावान् होना चाहिए और भगवान् की महिमा का श्रवण एवं कीर्तन करना चाहिए। भगवान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भक्ति का विकास तथा भक्ति की पूर्णता भक्तों की संगति पर निर्भर करती है। ग्यारहवें अध्याय के २६वें श्लोक में उद्धव ने भक्ति के वास्तविक साधनों के विषय में तथा भक्ति की सिद्धि के लक्षणों के विषय में पूछताछ की। श्लोक ४८ में भगवान् कृष्ण ने यह कहा कि भक्ति ग्रहण किये बिना मोक्ष का प्रयास व्यर्थ है। मनुष्य को चाहिए कि भगवद्भक्तों की संगति करे और उनके चरण-चिह्नों का अनुगमन करे। अन्त में इस अध्याय के १४वें श्लोक में भगवान् ने सकाम कर्म तथा मनोकल्पना का स्पष्ट तिरस्कार किया है और श्लोक १५ में यह संस्तुति की है कि अपने हृदय से उनकी शरण ग्रहण करे।

जीवन-सिद्धि के विषय में ऐसे विस्तृत तथा शास्त्रीय उपदेश पाकर उद्धव मोहग्रस्त हो गये हैं और उनका मन संशयग्रस्त है कि वे क्या करें। भगवान् कृष्ण ने कई विधियाँ तथा उनके फल बतलाये हैं, जो एक ही लक्ष्य भगवान् कृष्ण तक ले जाने वाले हैं। इसलिए उद्धव चाहते हैं कि भगवान् कृष्ण साफ-साफ शब्दों में बतलायें कि क्या किया जाना चाहिए। अर्जुन ने *भगवद्गीता* के तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् से ऐसा ही अनुरोध किया है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव यहाँ यह कह रहे हैं कि "हे मित्र कृष्ण! पहले तो आपने वर्णाश्रम प्रणाली के अन्तर्गत मुझसे सांसारिक कर्म

करने के लिए संस्तुति की और उसके बाद यह सलाह दी कि मैं ऐसे कर्मों का बहिष्कार करके ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करूँ। अब ज्ञान के मार्ग का बहिष्कार करके मुझे भक्तियोग में अपनी शरण में आने की संस्तुति कर रहे हैं। यदि मैं आपके निर्णय को मान लूँ, तो भविष्य में आप फिर से अपने पहले तथ्य पर आकर सांसारिक कर्म करने की संस्तुति कर सकते हैं। अपने मन की बात को प्रकट करने की अपनी निर्भीकता द्वारा उद्धव भगवान् कृष्ण से अपनी घनिष्ठ मित्रता प्रकट करते हैं।

श्रीभगवानुवाच
स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सः एषः—साक्षात् वे; जीवः—सभी को जीवन देने वाले, भगवान्; विवर—हृदय के भीतर; प्रसूतिः—प्रकट; प्राणेन—प्राण के साथ; घोषेण—ध्वनि की सूक्ष्म अभिव्यक्ति द्वारा; गुहाम्—हृदय में; प्रविष्टः—प्रविष्ट हुए; मनः-मयम्—मन से अनुभव किये जाने वाले अथवा शिव जैसे महान् देवताओं के भी मन को वश में करते हुए; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; उपेत्य—स्थित होकर; रूपम्—स्वरूप; मात्रा—विभिन्न मात्राएँ; स्वरः—विभिन्न स्वर; वर्णः—अक्षर की विभिन्न ध्वनियाँ; इति—इस प्रकार; स्थविष्ठः—स्थूल रूप।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, भगवान् हर एक को जीवन प्रदान करते हैं और प्राण-वायु तथा आदि ध्वनि (नाद) के सहित हृदय के भीतर स्थित हैं। भगवान् को उनके सूक्ष्म रूप में हृदय के भीतर मन के द्वारा देखा जा सकता है, क्योंकि भगवान् हर एक के मन को वश में रखते हैं, चाहे वह शिवजी जैसा महान् देवता ही क्यों न हो। भगवान् वेदों की ध्वनियों के रूप में जो ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों तथा विभिन्न स्वरविन्यास वाले व्यंजनों से बनी होती हैं स्थूल रूप धारण करते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कृष्ण तथा उद्धव के मध्य हुई वार्ता पर अपनी टीका इस प्रकार दी है। उद्धव संशयग्रस्त तथा मोहग्रस्त थे, क्योंकि कृष्ण ने भक्ति, ज्ञान, त्याग, योग, तपस्या, पुण्यकर्म आदि विभिन्न विधियाँ बतलाई थीं। किन्तु ये सारी विधियाँ जीवों को भगवान् कृष्ण की शरण प्राप्त करने में सहायता प्रदान करने के निमित्त हैं। अन्ततः किसी वैदिक विधि को अन्य किसी प्रकार से नहीं समझना चाहिए। इस तरह कृष्ण ने सम्पूर्ण वैदिक प्रणाली को उचित क्रम में रखते हुए बतलाया। वस्तुतः कृष्ण को आश्चर्य हो रहा था कि उद्धव मूर्खतापूर्ण क्योंकर सोचते हैं कि उन्हें हर

विधि का अभ्यास करना चाहिए जैसे कि हर विधि उन्हीं के निमित्त है? इसलिए भगवान् कृष्ण अपने भक्त को बताना चाहते हैं, "हे उद्धव! जब मैंने तुमसे यह कहा था कि सांख्य का अभ्यास किया जाय, पुण्यकर्म किये जाय, भक्ति आवश्यक है, योग-विधियों का पालन हो, तपस्या की जाय, तो मैं तुम्हारे माध्यम से सारे जीवों को उपदेश दे रहा था। मैं जो कह चुका हूँ, जो कह रहा हूँ और जो कुछ कहूँगा वह विभिन्न पदों पर स्थित सारे जीवों के लिए मार्गदर्शन के रूप में समझा जाना चाहिए। तुम यह कैसे सोच सकते हो कि तुम्हीं समस्त वैदिक विधियों का अभ्यास करने के लिए हो? जिस रूप में अभी तुम हो उसी रूप में मैं तुम्हें अपना शुद्ध भक्त मान रहा हूँ। तुम इन सारी विधियों को सम्पन्न करने के लिए नहीं हो।" इस तरह श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् कृष्ण मृदु तथा उत्साहप्रद शब्दों से वैदिक विधियों की विविधता के पीछे छिपे गूढ़ार्थ को उद्धव को प्रकट करते हैं।

भगवान् कृष्ण ब्रह्मा के मुख से वेदों के रूप में प्रकट हुए। इस श्लोक का *विवर-प्रसूति* शब्द यह भी सूचित करता है कि ब्रह्माजी के शरीर के भीतर स्थित *आधारादिचक्र* के भीतर प्रकट होते हैं। *घोषेण* शब्द का अर्थ है "सूक्ष्म ध्वनि" और *गुहां प्रविष्टः* शब्द भी सूचित करता है कि भगवान् आधारचक्र के भीतर प्रविष्ट होते हैं। भगवान् अन्य चक्रों के भीतर भी, यथा *मणिपूरक चक्र* तथा *विशुद्धि चक्र* में भी देखे जा सकते हैं। संस्कृत अक्षर दीर्घ तथा ह्रस्व स्वरों तथा उदात्त और अनुदात्त व्यञ्जनों से बने हैं। वैदिक ग्रंथों की विविध शाखाओं में इन ध्वनियों से भगवान् का स्थूल रूप प्रकट किया जाता है। *भगवद्गीता* के अनुसार ऐसे ग्रंथों में तीन गुणों का वर्णन मिलता है—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।* श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि माया के नियंत्रण के कारण भगवान् बद्धात्मा को ब्रह्माण्ड के अंशरूप में प्रतीत होते हैं। भगवान् पर काल्पनिक स्थूल तथा सूक्ष्म गुणों का आरोप *अविद्या* कहलाता है और ऐसी अविद्या से जीव अपने को अपने कर्मों का कर्ता मानने लगता है तथा कर्म-बन्धन में बँध जाता है। इसलिए बद्ध आत्मा को शुद्ध करने के लिए वेदों में *प्रवृत्ति मार्ग* तथा निवृति का आदेश है। जब मनुष्य शुद्ध हो जाता है, तो वह सकाम कर्म की इस अवस्था का परित्याग कर देता है, क्योंकि शुद्ध भक्ति सम्पन्न करने में यह बाधक है। तब वह अचल श्रद्धा द्वारा भगवान् की पूजा कर सकता है। जिसने पूर्ण कृष्णभावनामृत विकसित कर लिया है, वह कर्मकाण्ड में प्रवृत्त नहीं होता। जैसा *भगवद्गीता* में कहा गया है—*तस्य कार्यं न विद्यते।*

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक को दूसरी तरह से भी समझा जा सकता है। *जीव* शब्द भगवान् कृष्ण का द्योतक है, जो वृन्दावनवासियों को जीवन प्रदान करने वाले हैं। *विवर-प्रसूति* बताता है कि यद्यपि भगवान् अपनी लीलाएँ बद्धजीवों की दृष्टि से परे वैकुण्ठ-लोक में नित्य करते रहते हैं, किन्तु इन्हीं लीलाओं को प्रदर्शित करने के लिए वे भौतिक जगत में भी प्रविष्ट होते हैं। *गुहां प्रविष्टः* यह सूचित करता है कि ऐसी लीलाएँ प्रदर्शित करके भगवान् उन्हें समेट लेते हैं और ऐसी अप्रकट लीलाओं में प्रवेश करते हैं, जो बद्धजीवों के लिए प्रकट नहीं हैं। इस प्रसंग में *मात्रा* शब्द भगवान् की दिव्य इन्द्रियों का सूचक है और *स्वर* भगवान् की दिव्य ध्वनि तथा गायन का सूचक है। *वर्ण* भगवान् के दिव्य रूप का सूचक है। *स्थविष्ठः* शब्द यह बतलाता है कि इस जगत में भगवान् उन भक्तों के लिए भी प्रकट होते हैं, जो कृष्णभावनामृत में बढ़े-चढ़े नहीं हैं और जिनकी दृष्टि पूरी तरह से शुद्ध नहीं हुई है। *मनोमय* बताता है कि भगवान् को जिस-तिस भाँति मन में रखना होता है। अभक्तों के लिए भगवान् कृष्ण *सूक्ष्म* हैं, क्योंकि उन्हें जाना नहीं जा सकता। इस तरह विभिन्न आचार्यों ने इस श्लोक की दिव्य ध्वनि के माध्यम से भगवान् कृष्ण की महिमा भिन्न भिन्न प्रकारों से बतलाई है।

यथानलः खेऽनिलबन्धुरुष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।
अणुः प्रजातो हविषा समेधते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अनलः—अग्नि; खे—काठ के भीतर रिक्त स्थान में; अनिल—वायु; बन्धुः—जिसकी सहायता; उष्मा—गर्मी; बलेन—दृढ़ता से; दारुणि—काठ के भीतर; अधिमथ्यमानः—रगड़ से जलाई जाने पर; अणुः—अत्यन्त सूक्ष्म; प्रजातः—उत्पन्न होती है; हविषा—घी के साथ; समेधते—बढ़ती है; तथा—उसी तरह; एव—निस्सन्देह; मे—मेरा; व्यक्तिः—अभिव्यक्ति; इयम्—यह; हि—निश्चय ही; वाणी—वैदिक ध्वनि।

जब काठ के टुकडों को जोर से आपस में रगड़ा जाता है, तो वायु के सम्पर्क से उष्मा उत्पन्न होती है और अग्नि की चिनगारी प्रकट होती है। एक बार अग्नि जल जाने पर उसमें घी डालने पर अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है। इसी प्रकार मैं वेदों की ध्वनि के कम्पन में प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण वैदिक ज्ञान का परम गुह्य अर्थ बतलाते हैं। वेद सर्वप्रथम सामान्य भौतिक कर्म को नियमित करते हैं और उनके फल को अनुष्ठानिक यज्ञों की दिशा में मोड़ कर कर्ता को भावी लाभ दिलाते हैं। किन्तु इन यज्ञों का असली उद्देश्य भौतिकतावादी कर्मी द्वारा अपने कर्मफल को

श्रेष्ठ वैदिक सत्ता को अर्पित करने का अभ्यास कराना है। कुशल कर्मी धीरे-धीरे भौतिक भोग में रुचि लेना छोड़ कर स्वभावत: अपने पद पर दार्शनिक चिन्तन की उच्च अवस्था की ओर बढ़ता है। वर्धित ज्ञान से वह परम पुरुष की असीम महिमा से परिचित होता है और धीरे-धीरे दिव्य परम सत्य की भक्ति करने लगता है। भगवान् कृष्ण वैदिक ज्ञान के लक्ष्य हैं, जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* भगवान् धीरे धीरे वैदिक अनुष्ठान की सरणि में उसी तरह प्रकट होते हैं, जिस तरह काष्ठों को रगड़ने से धीरे धीरे अग्नि प्रकट होती है। *हविषा समेधते* द्वारा यह सूचित होता है कि वैदिक यज्ञ में लगातार प्रगति से धीरे धीरे आध्यात्मिक ज्ञानरूपी अग्नि जल उठती है, और हर एक को प्रकाशित करके सकाम कर्मपाश को नष्ट करती है।

भगवान् कृष्ण ने उद्धव को यह विस्तृत दिव्य ज्ञान सुनने के लिए सर्वाधिक योग्य व्यक्ति माना है, इसीलिए भगवान् कृपा करके उद्धव को उपदेश देते हैं, जिससे वे बदरिकाश्रम के मुनियों को प्रकाशित कर सकें और उनके जीवन-उद्देश्य को पूरा कर सकें।

एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक्स्पर्शः श्रुतिश्च ।
सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गदिः—वाणी; कर्म—हाथों का कर्म; गतिः—पाँवों का कार्य; विसर्गः—जननेन्द्रिय तथा गुदा के कार्य; घ्राणः—गन्ध; रसः—स्वाद; दृक्—दृष्टि; स्पर्शः—स्पर्श; श्रुतिः—सुनना; च—भी; सङ्कल्प—मन का कार्य; विज्ञानम्—बुद्धि तथा चेतन का कार्य; अथ—साथ ही; अभिमानः—मिथ्या अहंकार का कार्य; सूत्रम्—प्रधान का कार्य; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; तमः—तथा तमोगुण; विकारः—रूपान्तर।

कर्मेन्द्रियों के कार्य यथा वाक्, हाथ, पैर, उपस्थ एवं नाक, जीभ, आँख, त्वचा तथा कान ज्ञानेन्द्रियों के कार्य के साथ ही मन, बुद्धि, चेतना तथा अहंकार जैसी सूक्ष्म इन्द्रियों के कार्य एवं सूक्ष्म प्रधान के कार्य तथा तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया—इन सबों को मेरा भौतिक व्यक्त रूप समझना चाहिए।

तात्पर्य : *गदि* शब्द द्वारा भगवान् वैदिक ध्वनि के रूप में अपनी अभिव्यक्ति के विषय में विवेचना समाप्त करते हैं और अन्य कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के कार्यों, चेतना के सूक्ष्म कार्यों, प्रधान तथा प्रकृति के तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया का वर्णन करते हैं। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति समूचे जगत को

भगवान् की शक्तियों की अभिव्यक्ति के रूप में देखता है। इसलिए भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई उचित स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु भगवान् का अंश है और उन्हीं की है। जो व्यक्ति सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक अभिव्यक्तियों में भगवान् के अंश को समझ सकता है, वह इस जगत में रहने की इच्छा त्याग देता है। आध्यात्मिक जगत में हर वस्तु नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है। इस भौतिक जगत की एकमात्र विशेषता है कि यहाँ पर जीव अपने को स्वामी मानता है। किन्तु विवेकी व्यक्ति इस व्यामोह को त्याग कर माया के राज्य में कोई आकर्षण नहीं पाता, इसलिए वह भगवद्धाम वापस जाता है।

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिर्
अव्यक्त एको वयसा स आद्यः ।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; हि—निश्चय ही; जीवः—परम व्यक्ति जो अन्यों को जीवन देता है; त्रि-वृत्—तीन गुणों वाला; अब्ज—ब्रह्माण्ड रूपी कमल के फूल का; योनिः—स्रोत; अव्यक्तः—अप्रकट; एकः—अकेला; वयसा—कालक्रम से; सः—वह; आद्यः—नित्य; विश्लिष्ट—विभक्त; शक्तिः—शक्तियाँ; बहुधा—अनेक विभागों में; इव—सदृश; भाति—प्रकट होता है; बीजानि—बीज; योनिम्—खेत में; प्रतिपद्य—गिर कर; यत्-वत्—जिस तरह।

जब खेत में कई बीज डाले जाते हैं, तो एक ही स्रोत मिट्टी से असंख्य वृक्ष, झाड़ियाँ, वनस्पतियाँ निकल आती हैं। इसी तरह सबों के जीवनदाता तथा नित्य भगवान् आदि रूप में विराट जगत के क्षेत्र के बाहर स्थित रहते हैं। किन्तु कालक्रम से तीनों गुणों के आश्रय तथा ब्रह्माण्ड रूप कमल-फूल के स्रोत भगवान् अपनी भौतिक शक्तियों को विभाजित करते हैं और असंख्य रूपों में प्रकट प्रतीत होते हैं, यद्यपि वे एक हैं।

तात्पर्य : श्रील वीरराघवाचार्य की टीका है कि कोई यह प्रश्न कर सकता है कि देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, पौधों, ग्रहों इत्यादि से युक्त यह विराट ब्रह्माण्ड वास्तव में किसका है? अब भगवान् कृष्ण विराट ब्रह्माण्ड के स्रोत के विषय में किसी भी संशय का उच्छेदन करते हैं। *त्रि-वृत्* शब्द बतलाता है कि प्रकृति के तीनों गुण स्वतंत्र नहीं हैं, अपितु परम नियन्ता के अधीन हैं। *वृत्* प्रत्यय का अर्थ है *वर्तनम्,* अर्थात् भगवान् के भीतर तीनों गुणों का "अस्तित्व," *अब्ज-योनि* शब्द में *अब्* "जल" का सूचक है और *ज* "जन्म" का। इस प्रकार *अब्ज* का अर्थ हुआ यह जटिल ब्रह्माण्ड जो गर्भोदक सागर

में शयन कर रहे गर्भोदकशायी विष्णु से फूटता है। *योनि* अर्थात् "स्रोत" सूचक है भगवान् का, अतः *अब्ज-योनि* का अर्थ यह है कि भगवान् समस्त ब्रह्माण्ड के स्रोत हैं, निस्सन्देह भगवान् के भीतर ही सारी सृष्टि का जन्म होता है। चूँकि तीनों गुण भगवान् के अधीन हैं, अतएव भगवान् की इच्छानुसार इस ब्रह्माण्ड-आवरण के भीतर भौतिक वस्तुओं का सृजन तथा संहार होता रहता है। *अव्यक्त* शब्द भगवान् के सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप को बतलाने वाला है, जो भौतिक सृष्टि के पूर्व अकेले विद्यमान रहता है। दिव्य होने के कारण भगवान् के आदि रूप का न तो जन्म होता है, न रूपान्तर, न मृत्यु होती है। यह शाश्वत है। कालक्रम से भगवान् की भौतिक शक्तियाँ विभक्त हो जाती हैं और शरीर, शारीरिक साज-सामग्री, इन्द्रिय-विषय, शारीरिक विस्तार, अहंकार तथा मिथ्या स्वामित्व के रूप में प्रकट होती हैं। इस तरह भगवान् अपनी *जीव शक्ति* का विस्तार करते हैं, जो मनुष्यों, देवताओं, पशुओं इत्यादि के असंख्य रूपों में प्रकट होती है। खेत में बोये गये बीजों के उदाहरण से हम यह जान सकते हैं कि एक ही स्रोत से असंख्य अभिव्यक्तियाँ होती हैं। इसी तरह यद्यपि भगवान् एक हैं, किन्तु अपनी विविध शक्तियों के माध्यम से, वे असंख्य रूपों में प्रकट होते हैं।

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ।
य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; **इदम्**—यह ब्रह्माण्ड; **प्रोतम्**—चौड़ाई में बुना हुआ, बाना; **अशेषम्**—सम्पूर्ण; **ओतम्**—तथा लम्बाई में, ताना; **पटः**—वस्त्र; **यथा**—जिस तरह; **तन्तु**—धागों का; **वितान**—विस्तार; **संस्थः**—स्थित; **यः**—जो; **एषः**—यह; **संसार**—भौतिक जगत रूपी; **तरुः**—वृक्ष; **पुराणः**—सनातन से विद्यमान; **कर्म**—सकाम कर्मों की ओर; **आत्मकः**—सहज भाव से उन्मुख; **पुष्प**—पहला परिणाम, फूल; **फले**—तथा फल; **प्रसूते**—उत्पन्न होने पर।

जिस प्रकार बुना हुआ वस्त्र ताने-बाने पर आधारित रहता है, उसी तरह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड लम्बाई तथा चौड़ाई में भगवान् की शक्ति पर फैला हुआ है और उन्हीं के भीतर स्थित है। बद्धजीव पुरातन काल से भौतिक शरीर स्वीकार करता आया है और ये शरीर विशाल वृक्षों की भाँति हैं, जो अपना पालन कर रहे हैं। जिस प्रकार एक वृक्ष पहले फूलता है और तब फलता है, उसी तरह भौतिक शरीर रूपी वृक्ष विविध फल देता है।

तात्पर्य : वृक्ष में फल आने के पूर्व फूल प्रकट होते हैं। इसी तरह *पुष्प-फले* शब्द, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, संसार के सुख-दुख को सूचित करने वाला है। भले ही मनुष्य का जीवन पुष्पित होता प्रतीत हो, किन्तु अन्ततः उसमें जरा, मृत्यु इत्यादि विपदाओं के कटु फल प्रकट होते हैं। भौतिक शरीर के प्रति अनुरक्ति, जिसकी प्रवृत्ति सदा इन्द्रियतृप्ति होती है, यही जगत का मूल कारण है, इसलिए यह *संसार-तरु* कहलाता है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति का दोहन सनातन काल से चला आ रहा है, जैसाकि *पुराणः कर्मात्मकः* शब्दों से व्यक्त हुआ है। यह ब्रह्माण्ड भगवान् की मायाशक्ति का विस्तार है और यह सदैव उन्हीं पर आश्रित है, तथा उनसे अभिन्न है। इस सीधे-से ज्ञान से बद्धजीव माया के दुखी संसार में अन्तहीन भ्रमण करने से बच सकता है।

पुष्प-फले का अर्थ इन्द्रियतृप्ति तथा मोक्ष भी लगाया जा सकता है। संसार-तरु की अधिक व्याख्या अगले श्लोकों में की जायेगी।

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः
पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्
त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥ २२ ॥
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै-
र्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

द्वे—दो; अस्य—इस वृक्ष के; बीजे—बीज; शत—सैकड़ों; मूलः—जड़ों के; त्रि—तीन; नालः—डंठल; पञ्च—पाँच; स्कन्धः—ऊपरी तना; पञ्च—पाँच; रस—रस; प्रसूतिः—उत्पन्न करते हुए; दश—दस; एक—तथा एक; शाखः—शाखाएँ; द्वि—दो; सुपर्ण—पक्षियों के; नीडः—घोंसला; त्रि—तीन; वल्कलः—छाल; द्वि—दो; फलः—फल; अर्कम्—सूर्य; प्रविष्टः—तक फैला हुआ; अदन्ति—खाते हैं; च—भी; एकम्—एक; फलम्—फल; अस्य—इस वृक्ष का; गृध्राः—भौतिक भोग के लिए कामुक; ग्रामे—गृहस्थ-जीवन में; चराः—सजीव; एकम्—दूसरा; अरण्य—जंगल में; वासाः—वास करने वाले; हंसाः—हंस जैसे व्यक्ति, साधु-पुरुष; यः—जो; एकम्—एक, परमात्मा; बहु-रूपम्—अनेक रूपों में प्रकट होकर; इज्यैः—पूज्य गुरुओं की सहायता से; माया-मयम्—भगवान् की शक्ति से उत्पन्न; वेद—जानता है; सः—ऐसा व्यक्ति; वेद—जानता है; वेदम्—वैदिक वाङ्मय के असली अर्थ को।

इस संसार रूपी वृक्ष के दो बीज, सैकड़ों जड़ें, तीन निचले तने तथा पाँच ऊपरी तने हैं। यह पाँच प्रकार के रस उत्पन्न करता है। इसमें ग्यारह शाखाएँ हैं और दो पक्षियों ने एक घोंसला बना रखा है। यह वृक्ष तीन प्रकार की छालों से ढका है। यह दो फल उत्पन्न करता है और सूर्य तक

फैला हुआ है। जो लोग कामुक हैं और गृहस्थ-जीवन में लगे हैं, वे वृक्ष के एक फल का भोग करते हैं और दूसरे फल का भोग संन्यास आश्रम के हंस सदृश व्यक्ति करते हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु की सहायता से इस वृक्ष का एक परब्रह्म की शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में अनेक रूपों में प्रकट हुआ समझ लेता है, वही वैदिक वाङ्मय के असली अर्थ को जानता है।

तात्पर्य : इस वृक्ष के दो बीज—पापमय तथा पुण्य कर्म हैं और सैकड़ों जड़ें जीवों की असंख्य भौतिक इच्छाएँ हैं, जो उन्हें भवसागर में जकड़े रखती हैं। तीन निचले तने तीन गुणों को बताते हैं और पाँच ऊपरी तने पाँच स्थूल तत्त्वों को बताते हैं। यह वृक्ष पाँच रस उत्पन्न करता है—ये हैं ध्वनि, रूप, स्पर्श, स्वाद तथा सुगंध। इसमें ग्यारह शाखाएँ हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन। दो पक्षियों ने, अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा ने, इस वृक्ष में अपना घोंसला बना रखा है। तीन प्रकार की छालें हैं वात, पित्त, तथा कफ, जो शरीर के अवयव हैं। इस वृक्ष के दो फल हैं, सुख तथा दुख।

जो लोग सुन्दर स्त्रियों, धन तथा माया के विलासी पक्षों का भोग करने का प्रयास करते हैं, उन्हें दुख रूपी फल प्राप्त होता है। यह जान लेना चाहिए कि स्वर्गलोक में भी चिन्ता तथा मृत्यु हैं। जिन लोगों ने भौतिक लक्ष्यों का परित्याग कर दिया है और आध्यात्मिक प्रकाश के मार्ग पर हैं, वे सुख रूपी फल भोगते हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु की सहायता लेता है, वह यह समझ सकता है कि यह विशाल वृक्ष अद्वितीय भगवान् की बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति मात्र है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् को समस्त वस्तुओं के कारण रूप में देख सकता है, तो उसका ज्ञान पूर्ण होता है। अन्यथा यदि वह वैदिक अनुष्ठानों में या भगवान् के ज्ञान के बिना वैदिक चिन्तन में फँस जाता है, तो उसे जीवन-सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती।

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार (मेरे द्वारा प्रदत्त ज्ञान से); गुरु—गुरु की; उपासनया—उपासना या पूजा से; एक—शुद्ध; भक्त्या—भक्ति से; विद्या—ज्ञान की; कुठारेण—कुल्हाड़ी से; शितेन—तेज; धीरः—ज्ञान के द्वारा स्थिर रहने वाला; विवृश्च्य—काट कर; जीव—जीव का; आशयम्—सूक्ष्म शरीर (तीन गुणों से उत्पन्न उपाधियों से पूर्ण); अप्रमत्तः—आध्यात्मिक जीवन में अत्यन्त

सतर्क; सम्पद्य—प्राप्त करके; च—तथा; आत्मानम्—परमात्मा को; अथ—तब; त्यज—त्याग दो; अस्त्रम्—सिद्धि प्राप्त करने के साधन को।

तुम्हें चाहिए कि तुम धीर बुद्धि से गुरु की सावधानी पूर्वक पूजा द्वारा शुद्ध भक्ति उत्पन्न करो तथा दिव्य ज्ञान रूपी तेज कुल्हाड़ी से आत्मा के सूक्ष्म भौतिक आवरण को काट दो। भगवान् का साक्षात्कार होने पर तुम उस तार्किक बुद्धि रूपी कुल्हाड़े को त्याग दो।

तात्पर्य : चूँकि उद्धव को भगवान् कृष्ण का साक्षात् सान्निध्य प्राप्त था, अतएव उन्हें बद्धजीव जैसी मनोवृत्ति बनाये रखने की आवश्यकता नहीं थीं। इस तरह जैसाकि यहाँ पर *सम्पद्य चात्मानम्* शब्दों द्वारा बताया गया है, उद्धव स्वयं वैकुण्ठ में भगवान् के चरणकमलों की सेवा कर सके। उद्धव ने इस विस्तृत वार्ता के प्रारम्भ में ही इस सुअवसर के लिए प्रार्थना की थी। जैसाकि *गुरुपासनयैकभक्त्या* द्वारा बतलाया गया है, प्रामाणिक गुरु की पूजा करके शुद्ध भक्ति प्राप्त की जा सकती है। यहाँ यह नहीं कहा गया है कि कोई शुद्ध भक्ति या अपने गुरु का परित्याग कर दे। प्रत्युत *विद्याकुठारेण* द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य को इस अध्याय में कृष्ण द्वारा वर्णित भौतिक जगत का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि भौतिक सृष्टि का हर पक्ष भगवान् की मायाशक्ति का विस्तार है। ऐसा ज्ञान जगत रूपी वृक्ष की जड़ों को काटने के लिए तेज कुल्हाड़ी का काम करता है। इस तरह तीन गुणों से उत्पन्न कठोर सूक्ष्म शरीर भी खण्ड खण्ड किया जा सकता है और मनुष्य *अप्रमत्त,* अर्थात् कृष्णभावनामृत में विवेकी और सतर्क बन जाता है।

इस अध्याय में कृष्ण ने स्पष्ट बतलाया है कि वृन्दावन की गोपिकाएँ जीवन के प्रति वैश्लेषिक दृष्टिकोण में रुचि नहीं रखती थीं। वे तो केवल कृष्ण से प्रेम करती थीं और उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं सोच सकती थीं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने यह शिक्षा दी है कि उनके सारे भक्त उच्च कोटि का निष्काम भगवत्प्रेम उत्पन्न करने के लिए व्रज-बालाओं के पदचिह्नों का अनुसरण करें। भगवान् कृष्ण ने भौतिक जगत के स्वभाव की विस्तृत व्याख्या इसीलिए की है, जिससे इस जगत का भोग करने का प्रयास कर रहे बद्धजीव इस ज्ञान रूपी कुल्हाड़े से संसार रूपी वृक्ष को काट सकें। *सम्पद्य चात्मानम्* से यह सूचित होता है कि ऐसे ज्ञान से युक्त व्यक्ति को फिर शरीर नहीं मिलता, क्योंकि उसने पहले से भगवान् को प्राप्त कर रखा है। ऐसे व्यक्ति को इस माया-सृष्टि के अपने ज्ञान को लगातार परिष्कृत करते हुए माया के राज्य में इधर-उधर विचरण नहीं करना चाहिए। जिसने कृष्ण को सर्वस्व मान लिया

है, वह भगवान् की सेवा का नित्य आनन्द भोग सकता है। इस जगत में रहते हुए भी, उसका इससे कोई नाता नहीं रहता और इसका निषेध करने की वैश्लेषिक विधियों को वह त्याग देता है। इसीलिए उद्धव से भगवान् कहते हैं, *त्यजास्त्रम्* ''तुम वैश्लेषिक ज्ञान रूपी कुल्हाड़ी को त्याग दो, जिससे तुमने अपने स्वामित्व भाव तथा भौतिक जगत में निवास को काट डाला है।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत ''वैराग्य तथा ज्ञान से आगे'' नामक बारहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

श्री श्रीगुरु–गौराङ्गौ जयत:
कृष्णद्वैपायन व्यास
कृत
श्रीमद्भागवतम्
भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृति:।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥३७॥

श्रीमद्भागवतम्
(भगवत्–सन्देश)
एकादश स्कन्ध
''सामान्य इतिहास''
(भाग एक—अध्याय १—१२)
मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ,
अनुवाद तथा विस्तृत तात्पर्य सहित
कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ
के शिष्यों द्वारा
भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

विषय–सूची

श्रीमद्भागवतम्
विषय–सूची

परिशिष्ट

लेखक परिचय